भारतीय संस्कृति और साधना

प्रथम खण्ड

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्
पटना

भारतीय संस्कृति और साधना

प्रथम खण्ड

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

वक्तव्य

तृतीय संस्करण

पुण्यश्लोक डॉ० गोपीनाथ कविराज का बहुचर्चित ग्रंथ 'भारतीय संस्कृति और साधना के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन केवल परिषद् के लिए ही नहीं, हिन्दी के उन पाठकों के हेतु भी प्रसन्नता का विषय है जो भारतीय संस्कृति और साधक-परम्परा में निष्ठा रखते हैं। महामहोपाध्याय कविराज जी आगम-निगम के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने प्राच्य विद्या का जैसा विश्लेषण अपने ग्रंथों में किया है, वह अभूतपूर्व है। मनीषी-परम्परा के इस विश्व-प्रसिद्ध विद्वान ने अपने इस ग्रंथ के प्रथम भाग में काश्मीरीय शैव-दर्शन, तांत्रिक दृष्टि, शांकर वेदान्त, गुरु-परम्परा, कुडलिनी– तत्व, मंत्र-विज्ञान, सूर्य-विज्ञान, योग-साधना, मृत्यु-विज्ञान, भागवत्-विग्रह, इष्ट-रहस्य, लिंग-रहस्य, तांत्रिक बौद्ध-साधना, जैन दर्शन आदि चालीस निबंध संगृहीत किये हैं।

इस ग्रंथ में संगृहीत निबंध प्रथम संस्करण के प्रकाशन वर्ष रिवष्टाब्द १९६३ में तो विशिष्ट तथा विलक्षण थे ही, आज भी अतुलनीय हैं। कविराज जी ने भारतीय संस्कृति और साधना के विभिन्न गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या अपने इन निबंधों में केवल विद्वान की तरह नहीं एक सिद्ध साधक की तरह भी की है। इन्हें पढ़ते समय अनायास अनुभव होता है कि हम आधुनिक कपिल-कणाद की शाब्दिक साधना-गंगा में स्नान कर रहे हैं। जप-साधना हो या अजपा-रहस्य, आरोप-साधन हो या परम– पथ का क्रम, गुरु-तत्त्व हो या सद्‌गुरु रहस्य— कविराज जी ने भारतीय आध्यात्मिक साधना की गूढ़ता को अपने इन निबंधों में सहज, सरल तथा सबके लिए बोधगम्य बना दिया है। इन्हें पढ़ते समय पाठक कविराज जी के रूप में कभी आदि शंकराचार्य के सान्निध्य का अनुभव करते हैं तो कभी अपने सामने माधवाचार्य को उपस्थित पाते हैं। वस्तुतः यह ग्रंथ भारतीय संस्कृति-साधना के विपुल तत्वों का सत्वाशय है।

कविराज जी ने भारतीय संस्कृति और साधना के विभिन्न विषयों के विश्लेषण के क्रम में अपनी इस पुस्तक में वस्तुतः विश्व मानव के साधना-उपक्रम का ही उद्‌घाटन किया है। हिन्दी में ऐसा कोई दूसरा ग्रंथ नहीं है, जो किसी भी अर्थ में इसकी तुलना में प्रस्तुत हो सके। यही कारण है कि इसके प्रथम संस्करण का जितना स्वागत हुआ, द्वितीय संस्करण की भी उतनी ही उपादेयता है।

कविराज जी अब हमारे बीच नहीं रहे। अतः उनकी अक्षरात्मकता को सुरक्षित रखने के लिए भी बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् ने उनके दुर्लभ ग्रंथों के पुनः प्रकाशन का क्रम प्रारम्भ किया है। उनके 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' तथा 'तांत्रिक साधना और सिद्धान्त' नामक ग्रंथ के नये संस्करण का प्रकाशन परिषद् द्वारा हो चुका है। 'भारतीय संस्कृति और साधना' नामक ग्रंथ के दोनों भागों के तृतीय संस्करण का प्रकाशन करने में भी परिषद् आनन्द का अनुभव कर रही है। आशा है, हिन्दी के पाठक पूर्व की तरह इस संस्करण का भी स्वागत करेंगे। मैं परिषद् की ओर से दिवंगत कविराज जी की आत्मा के प्रति श्रद्धा निवेदित करता हूँ।

वसन्त पंचमी
शक, ५ माघ, १९१७
२५ जनवरी, १९९६

महेन्द्र प्रसाद यादव
निदेशक

वक्तव्य

(द्वितीय संस्करण

परम हर्ष का विषय है कि महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजी की पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और साधना' का द्वितीय संस्करण पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। संस्कृति और साधना के अधीती जिज्ञासुओं एवं अनुग्राही पाठकों के अनुग्रह का ही यह परिणाम है कि इस पुस्तक का प्रथम संस्करण बहुत पहले ही समाप्त हो गया था, और इसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इस द्वितीय संस्करण को कुछ वर्ष पूर्व ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था, लेकिन हमें इसके लिए खेद है कि अनेक अन्तःपाती विघ्नों के कारण इसके प्रकाशन में अविचारित विलम्ब हो गया। तदर्थ हम परिषद् की ओर से क्षमाप्रार्थी हैं।

महनीयकीर्त्ति कविराजजी की दूसरी पुस्तक 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' का भी द्वितीय संस्करण शीघ्र प्रकाशित हो सकेगा, ऐसी हमारी आशा है।

मननशील विद्वानों को यह सूचना देते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि मान्यवर कविराजजी के 'तान्त्रिक सिद्धान्त और साधना' जैसे दूसरे कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन भी हम अविलम्ब करने जा रहे हैं। इस प्रकार कविराजजी के सम्पूर्ण साहित्य का प्रकाशन हिन्दी-वाङ्मय के भाण्डार को परिपूर्ण करने की दिशा में हमारा एक वांछनीय पग माना जायगा।

हमें विश्वास है कि भारतीय संस्कृति और साधना के पक्षधर मनीषी एवं सुधी पाठक महर्षिकल्प कविराजजी की कृतियों को पूर्ववत् अपनाकर हमारा उत्साह-वर्द्धन करेंगे।

आपकी निष्पक्ष और निरपेक्ष स्वीकृति ही हमारा संबल है।

हंसकुमार तिवारी
निदेशक

रथयात्रा
सं० २०३४ वि०

वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ 'भारतीय संस्कृति और साधना' का प्रथम खण्ड प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक गौरव का बोध हो रहा है। परिषद् अपने प्रारम्भिक काल से अबतक प्रकाशन की दिशा में जो थोड़ी-बहुत सेवा कर सकी है, उससे पूज्यचरण कविराजजी का इस संस्था के प्रति ममत्व-बोध रहा है, यह हमारे लिए परम सौभाग्य का विषय है। यही कारण है कि परिषद् ने जब उन्हें भाषणमाला के लिए आमन्त्रित किया, तब उन्होंने उस आमन्त्रण को सहर्ष स्वीकार कर परिषद् को गौरवान्वित किया। साथ ही उन्होंने अपने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित और अप्रकाशित लेखों का समस्त संकलन देकर हमें विस्मय-विमुग्ध कर अपने आन्तरिक हृदय की शुभेच्छा प्रकट की। हम उनकी इस अहैतुकी कृपा के लिए चिर ऋणी हैं। परिषद् के आमन्त्रण पर उन्होंने जो भाषणमाला, रेकर्ड कराकर, भेजी थी, वह 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' के नाम से पुस्तकाकार छप रही है, जो यथाशीघ्र प्रकाशित होगी।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, प्रस्तुत ग्रन्थ उनके प्रकाशित-अप्रकाशित लेखों का संकलन है। संकलन की विशालता के कारण इसे दो खण्डों में प्रकाशित करना सुकर जान पड़ा। इसका द्वितीय खण्ड भी इसी क्रम में प्रकाशित हो रहा है। इस तरह दो खण्डों में उनकी अबतक प्रकाशित और अप्रकाशित कतिपय रचनाएँ 'भारतीय संस्कृति और साधना' के नाम से पाठकों के सम्मुख रखी जा रही है। उनमें उनका गम्भीर पाण्डित्य दार्शनिक अनुभूतियों की छटा से प्रोज्ज्वल है। पूज्य श्रीकविराजजी के इतस्ततः बिखरे हुए साहित्य को प्रकाशित कर परिषद् अपने को परम गौरवान्वित एवं कृतकृत्य मानती है। प्रभु की कृपा से ही यह महान् मंगलमय अनुष्ठान आनन्द के साथ यथाविधि सम्पन्न हो सका।

महामहोपाध्याय पूज्यपाद श्रीकविराजजी के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व के सम्बन्ध में हम क्या कहें। वे स्वयं विश्वविश्रुत मनीषी हैं। उनकी गणना उन मनीषियों में है, जिनकी शृंखला कपिल-कणाद के युग से चली आ रही है। हम उनके उपकृत हैं कि उन्होंने हमें सेवा करने का सुअवसर प्रदान कर कृतार्थ किया। उनका साहित्य निरवधि काल तक अक्षुण्ण रहेगा, यह हमारा विश्वास है।

आशा है, सुधी पाठक इस ग्रन्थ को पाकर आनन्दित होंगे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पौष, शुक्ल एकादशी, २०१९ वि०

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

परमाराध्य पूज्यपाद

योगिराजाधिराज विज्ञानसम्राट्

गुरुदेव श्रीश्रीविशुद्धानन्द परमहंसदेव

की

पावन स्मृति में

हृदय की गम्भीर भक्ति तथा कृतज्ञता के निदर्शन-रूप से

उत्सृष्ट

—दीन ग्रन्थकार

प्रातरुद्यत्सहस्रांशुकोटिकूटस्फुरत्त्विषे ।
विशुद्धानन्दनाथाय गुरवे सततं नमः ॥ १ ॥
सूर्यविज्ञानसम्भारविहिताद्भुतकर्मणे ।
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै विशुद्धानन्दवेधसे ॥ २ ॥
सर्वाङ्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसङ्गीतसंस्तुतम् ।
विशुद्धानन्दकमलममलं वितनोतु माम् ॥ ३ ॥
विद्युद्दामस्फुरद्धामनयनाम्भोजमञ्जुलम् ।
वर्षन्तमिव कारुण्यं विशुद्धानन्दमाश्रये ॥ ४ ॥
योगप्रभावसम्पन्नसिद्धिवृन्दसमेधितम् ।
नराकारं शिवं वन्दे विशुद्धानन्दसद्गुरुम् ॥ ५ ॥

श्रीयुक्त महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डी-लिट्०,
भूतपूर्व प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, वाराणसी

भूमिका

इस ग्रन्थ में संगृहीत प्रबन्ध विगत ४० वर्षों के भीतर विभिन्न समयों में प्रकाशित हुए थे—इनमें से अधिकांश प्रबन्ध पत्रिकाओं में प्रदत्त स्वतन्त्र निबन्ध के रूप में और कतिपय लेख ग्रन्थ-विशेषों की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुए थे। इन प्रबन्धों के चयन में कालक्रम, विषयगत अथवा भावगत किसी प्रकार का क्रम नहीं रखा गया है। आलोच्य विषय भी सब प्रबन्धों का एक ही है, या एकजातीय ही है, यह भी नहीं कहा जा सकता; फिर भी यह सत्य है कि इस वैचित्र्य के अन्तराल में एक ही लक्ष्य की ओर इंगित विद्यमान है। यह वैसा ही है, जैसी कि विभिन्न रंगों के पुष्पों से गुँथी गई माला होती है। विभिन्न पुष्पों के भीतर पिरोया हुआ जो सूत्र है, वह भारतीय संस्कृति के प्रधान अङ्ग-स्वरूप आध्यात्मिक साधना के मर्म को समझने का प्रयत्न है। इस साधना की दो दिशाएँ हैं—एक है क्रिया की दिशा और दूसरी है भाव की दिशा। इनमें भाव अन्तरंग है और क्रिया बहिरंग। अन्तर्निहित भाव को न समझने पर क्रिया व्यर्थ मालूम पड़ती है। उसी प्रकार क्रिया का त्याग करने से भाव में प्रवेश पाना असंभव हो जाता है। दोनों ही सत्य हैं और दोनों ही आवश्यक। अतएव प्रत्येक साधना की पृष्ठभूमि में उसका सम्यक् उपपादन करने के लिए उसके तत्त्व के दर्शन की आवश्यकता होती है। यह दर्शन खण्ड दृष्टि में सम्यक् दर्शन का रूप नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि विना अखण्ड या सामूहिक दृष्टि के खण्ड या अंश का तात्पर्य परिस्फुट नहीं हो सकता। मतों का खण्डन-मण्डन केवल बुद्धि के निर्मलत्व-सम्पादन के लिए तथा प्रस्थानगत वैशिष्ट्य की रक्षा के लिए होता है। वस्तुतः, समन्वय-दृष्टि से देखा जाय, तो सभी मत सत्य हैं एवं दृष्टि और अधिकार के भेद से सभी उपादेय भी हैं। इसलिए, सर्वत्र सहानुभूति के साथ समीक्षण आवश्यक है। ऐसा यदि न किया जाय, तो रहस्य का उद्‌घाटन ही नहीं हो सकेगा। जो पुरुष श्रद्धा के साथ सत्य के निकट उपस्थित नहीं होता, उसके समक्ष सत्य अपना स्वरूप प्रकट ही नहीं करता। यही भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के ऐक्य का निगूढ तत्त्व है। **'अविभक्तं विभक्तेषु'** यह गीता का वचन भी इसी अर्थ का परिचायक है।

अतएव, विभिन्न दृष्टिकोणों से विचारना चाहिए, परन्तु परमार्थ रूप में जो सत्ता दृष्टिगोचर होती है, वह एक ही है। इस दृष्टि से देखने पर बौद्ध, जैन आदि प्रस्थानों का, न्याय आदि षड्दर्शनों का तथा वैष्णव, शैव, शाक्त प्रभृति दृष्टियों का वैशिष्ट्य अखण्ड सत्ता की पृष्ठभूमि में परिस्फुट रूपसे प्रकट होगा।

आध्यात्मिक साधना का रहस्य समझने के लिए साधक को अपनी व्यक्तिगत प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए, जिसका बोधिचित्तविवरणकार ने 'सत्त्वाशय' के नाम से निर्देश किया है। साथ ही उस साधना की परम्परागत धारा और वह महाभाव के जिस दिग्विशेष की निर्देशक है, उसकी स्वरूपगत विलक्षणता और अखण्ड सत्ता में उसका निर्दिष्ट स्थान क्या है, यह जानना आवश्यक है। इसमें साधक की बुद्धिगत सूक्ष्मता और स्वच्छता के मूल में परमात्मा की जाग्रत् करुणा अवश्य ही होनी चाहिए।

भारतीय साधना 'भारतीय' नाम से आख्यात होने पर भी विश्व-मानव की साधना है। भारतवर्ष में प्राचीन युग से वर्तमान काल तक असंख्य साधन-धाराएँ प्रवर्त्तित हो चुकी हैं और हो रही हैं। यदि कभी भारतीय साधन-धाराओं के क्रम-विकास और उनके अन्तर्निहित वैचित्र्य के विवरण का निरूपण करते हुए किसी इतिहास-ग्रन्थ का निर्माण हो, तो इन सब पृथक्-पृथक् साधन-धाराओं के मूल का निरूपण करना सहज होगा। उस समय यह स्पष्टतः प्रतीत होगा कि अन्यान्य देशों में प्रचलित प्रायः सभी धाराओं की एक झलक किसी-न-किसी आकार में भारतीय साधना-विशेष में विद्यमान है। तब समझ में आयेगा कि भारतीय अध्यात्मविद्या के विशाल क्षेत्र में सभी धर्मों का वैशिष्ट्य न्यूनाधिक मात्रा में संरक्षित है।

पूर्ण ग्रन्थ में प्रकाशनीय प्रबन्ध-राशि में से ४० प्रबन्ध लेकर ग्रन्थ का यह प्रथम खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इन लेखों का विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं। शीर्षक से ही विषय स्पष्ट हो जायगा। आशा है, ग्रन्थ का द्वितीय भाग भी यथासंभव शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

इतस्ततः बिखरे हुए इन प्रबन्धों को ग्रन्थ के रूप में एकत्र सुसज्जित कर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषत्-ग्रन्थावली में प्रकाशित करने का पूर्ण श्रेय उक्त परिषद् के उत्साही तथा सुयोग्य संचालक मेरे चिरस्नेहभाजन डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' जी को है। मैं उन्हीं की निरन्तर प्रेरणाओं से अपनी अस्वस्थावस्था में भी इन्हें एकत्र कर सका। इन्हें प्रेस में देकर मैं अस्वस्थ होने के कारण चिकित्सार्थ बम्बई चला गया। मेरी अनुपस्थिति में उन्होंने प्रकाशन की सारी सुव्यवस्था की। इसलिए, मैं उनके प्रति अपना सस्नेह धन्यवाद व्यक्त न करूँ, यह कैसे सम्भव है। उनके साथ ही बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-परिवार के अन्यान्य सज्जन, जिन्होंने इसके सम्पादन आदि में श्रम किया है, सभी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं।

वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक पं० श्रीजगन्नाथ उपाध्यायजी ने मेरी अस्वस्थतावश अनुपस्थिति में ग्रन्थ के प्रूफ-संशोधन आदि द्वारा मेरी जो प्रचुर सहायता की, इसके लिए उनके प्रति मैं हार्दिक साधुवाद व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के मुद्रणकाल में मैं अस्वस्थ रहने के कारण प्रायः काशी से बाहर ही रहा, इसलिए इसके मुद्रण में अशुद्धियाँ रह गई हैं। जो अशुद्धियाँ अर्थावधारण में बाधक प्रतीत हुई उनका प्रायः शुद्धि-पत्र बना कर ग्रन्थ के अन्त में सन्निविष्ट कर दिया गया है। कृपया पाठक सुधार लें।

अन्त में, मैं काशी-विश्वनाथ-पुस्तकालयाध्यक्ष पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तजी को, जिन्होंने उपाध्यायजी के कार्यान्तर-व्यापृत होने पर आनुषङ्गिक प्रूफ-संशोधन, परिश्रमपूर्वक सम्पूर्ण पुस्तक पढ़कर शब्द-सूची तथा शुद्धिपत्र निर्माण में मुझे अत्यधिक सहयोग प्रदान किया, सस्नेह आशीर्वाद प्रदान कर यह संक्षिप्त वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

२ ए, सिगरा
वाराणसी

गोपीनाथ कविराज

विषय-सूची

●

भारतीय संस्कृति और साधना

प्रथम खण्ड

काश्मीरीय शैव-दर्शन

१ सूचना—काश्मीरीय शैव-दर्शन प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। पाठक 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' नाम सुनकर ऐसा न समझें कि मैं किसी नई दर्शन-प्रणाली का सूत्रपात कर रहा हूँ। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन नई वस्तु नहीं है। यह भारतीय विचार-साम्राज्य की एक अति प्राचीन दुर्लभ सम्पदा है। काल की विचित्र गति से आज यह अपरिचित-प्राय हो गई है, तथापि यह बात माननी ही पड़ेगी कि एक दिन इसका प्रभाव भारतीय साधना-क्षेत्र में सर्वत्र परिव्याप्त था। जो लोग हमारी सभ्यता की विशिष्ट धारा की ऐतिहासिक दृष्टि से सूक्ष्म भाव से पर्यालोचना करने की चेष्टा करते हैं, वे प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के महत्त्व को सहज ही समझ सकते हैं। निगम और आगम, अर्थात् वेद और तन्त्र क्या हैं और इनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, यहाँ इसके विचार करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु, यह ध्रुव सत्य है कि इस निगम और आगम के अन्दर ही भारतवर्ष की सनातन साधना का बीज निहित है। श्रीमद्भागवत को 'निगम-कल्पतरु का गलित फल' कहा गया है। मेरे विचार से इसमें आंशिक ही सत्य है; क्योंकि श्रीमद्भागवत जिस प्रकार निगम का, उसी प्रकार 'आगमकल्पतरु' का भी 'गलित फल' है। पाञ्चरात्र आगम में जो कुसुमित होता है, वही श्रीमद्भागवत में परिपक्व रस से भरपूर फल के रूप में परिणत है। इसी प्रकार, प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त भी आगम का—शैवागम का सारभूत रस-स्वरूप है। जैसे, श्रीमद्भागवत का अवलम्बन कर गौडीय वैष्णवों ने 'अचिन्त्यभेदाभेद' रूप अपूर्व दार्शनिक सिद्धान्त की अवतारणा की है, उसी प्रकार स्वच्छन्द, मालिनीविजय प्रभृति आगम एवं तैत्तिरीय संहिता प्रभृति निगम-समुद्र का मन्थन करके काश्मीरीय शैवों ने 'ईश्वराद्वयवाद'-रूप जाज्वल्यमान रत्नमाला का आविष्कार किया है। दोनों ही भारतीय साधना के गौरव-स्तम्भ हैं।

२ नामकरण—'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' नाम बहुत पुराना है, ऐसा नहीं प्रतीत होता। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में इस नाम का प्रयोग किया है और हम लोगों ने भी उन्हीं का अनुसरण कर इसी नाम को ग्रहण किया है। अवश्य ही प्रत्यभिज्ञा-हृदय, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों के नामकरण में प्रत्यभिज्ञा शब्द का व्यवहार किया गया था, किन्तु हमारा विश्वास है कि यह न्याय, वैशेषिक प्रभृति के समान दार्शनिक सिद्धान्तविशेष का वाचक नहीं है। सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकार ने कहा है कि काश्मीरीय शैवागम दो भागों में विभक्त है—प्रथम स्पन्द-शास्त्र और द्वितीय प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। स्पन्द-शास्त्र के प्रचारक वसुगुप्त हैं और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के प्रवर्त्तक सोमानन्द हैं। यह विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ अंश में सत्य होने पर भी विचार करने पर भ्रान्तिमूलक जान पड़ता है; क्योंकि स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा-प्रतिपादक ग्रन्थों में अवान्तर विषयों में किञ्चित् मतभेद का आभास होने पर भी दोनों शास्त्रों के मूल सिद्धान्त और आलोचना-प्रणाली में कुछ भी भेद नहीं है। सुतरां

'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' शब्द से स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा दोनों ही मतों का निर्देश होता है। प्राचीन साहित्य में 'त्रिकदर्शन', 'माहेश्वरदर्शन' प्रभृति नाम विशेष प्रचलित थे, किन्तु माधवाचार्य का अनुकरण होने से अब प्रत्यभिज्ञा नाम का ही अधिकतः प्रचार है।

३ प्रत्यभिज्ञासम्मत अद्वैतवाद—यद्यपि आगम और उपनिषदों में द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत प्रभृति सभी प्रकार के दार्शनिक वादों के मूल सूत्र देखे जाते हैं, तथापि अधिकार-भेद एवं रुचि-वैचित्र्य के कारण कोई-कोई प्रस्थान किसी एक विशेष सिद्धान्त की प्रधानता स्वीकार करके प्रवर्त्तित होते हैं। शंकर, रामानुज, मध्व प्रभृति आचार्यों के उपनिषद् और गीता पर किये हुए भाष्यों की तुलनात्मक आलोचना करने से यह बात भली भाँति समझ में आ सकती है। यह अवश्य स्वभावतः ही होता है। सभी देशों के आध्यात्मिक शास्त्रों के इतिहास में इसके दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार, आगम की व्याख्या के प्रसंग में काश्मीरीय शैवाचार्यों ने अद्वैतवाद को ही ग्रहण किया तथा इस वाद का माहात्म्य दिखलाने के लिए वे एक अभिनव दर्शन-शास्त्र का निर्माण कर गये। भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में यह अद्वैत-सिद्धान्त ईश्वरवाद के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य अभिनवगुप्त इस सिद्धान्त के सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता हैं।

४ अद्वैतवाद के प्रकार-भेद—आचार्य गौडपाद ने माण्डूक्य-कारिका में एवं आचार्य शंकर ने शारीरक सूत्र और उपनिषदादि के भाष्य में ब्रह्माद्वैतवाद की जो व्याख्या की है, आजकल साधारणतः अद्वैतवाद शब्द के एकमात्र अर्थरूप में उसी को लिया जाता है। कहना न होगा कि यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है। अद्वैत-प्रस्थान के अनेक प्रकार हैं। ब्रह्मवाद उन्हीं के अन्तर्गत एक मतविशेष-मात्र है। श्रीकण्ठ, रामानुज, वल्लभ प्रभृति के सिद्धान्त शुद्ध अद्वैतमत नहीं हैं, यह बात ठीक है; परन्तु शुद्ध अद्वैत-वाद का भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में कभी अभाव नहीं था।

बौद्ध अद्वैतवादी थे। बुद्धदेव का 'अद्वयवादी' भी एक नाम था, इसका उल्लेख अमरकोष में पाया जाता है। यद्यपि 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ में अनेक प्रकार के, विशेषतः अष्टादश भाग में विभक्त बौद्ध-सम्प्रदाय के, दर्शन और धर्म-सम्बन्धी मतों का वर्णन है और यह सभी परस्पर-विरोधी मत आगे चलकर सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगा-चार और माध्यमिक—इन चार प्रधान श्रेणियों में अन्तर्निहित हो जाते हैं, तथापि इन सभी मतों का तात्पर्य माध्यमिक-प्रदर्शित शून्यवाद में है, इस बात को बोधिचित्त-विवरणकार ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

'भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा।'

यह शून्यवाद कठोर अद्वयवाद है। सत्, असत् प्रभृति कोटिचतुष्टय से विनि-र्मुक्त कर तीक्ष्ण युक्तियों की सहायता से नागार्जुनादि आचार्यगण इस शून्य तत्त्व को द्वैत-विकल्प से सब प्रकार बचाने का प्रयास करते हैं। बहुतों का विश्वास है कि स्वयं शंकराचार्य अपने ब्रह्माद्वैतवाद के लिए विज्ञानाद्वैत अथवा शून्याद्वैत सिद्धान्त के सामने ऋणी हैं। बौद्धागम की 'संवृति' शंकर के दर्शन में 'माया' रूप में स्थान पाती है। दार्शनिक दृष्टि से शंकर की 'माया' प्राचीन आर्ष माया से कुछ अंश में विलक्षण है, इसे स्वीकार करना होगा। फ्रांस देश के सुविख्यात अध्यापक पूसें (Poussin) ने

वेदान्त और बौद्धमत की तुलनात्मक आलोचना के प्रसंग में गौडपादकारिका में बौद्ध-भाव का प्रभाव प्रदर्शित किया है। पण्डितप्रवर विधुशेखर शास्त्री महाशय ने इसे और भी स्पष्ट करके दिखलाया है। यद्यपि शंकर योगाचार और माध्यमिक मत का खण्डन करते हैं, तथापि अनेक स्थलों पर वे स्वयं उनकी उद्भावित युक्ति, यहाँतक कि भाषा भी, ग्रहण करने में नहीं हिचकते। बौद्धमत और शंकर मत के बीच में केवल एक ही पद का व्यवधान है। परन्तु, इस विषय में एक बात याद रखनी होगी। भारतवर्ष में बौद्धमत भी कोई नवीन मत नहीं है। जो यह समझते हैं कि शून्यवाद नागार्जुन द्वारा प्रवर्त्तित हुआ है, पहले ऐसा मत नहीं था, वे महासंघिक मत और उपनिषदादि की आलोचना करने पर एवं आगम की प्राचीनता के सम्बन्ध में विचार करने पर यह समझ सकते हैं कि नागार्जुन ने किसी नये सिद्धान्त का प्रवर्त्तन नहीं किया है। पहले जो अस्पष्ट एवं आभासरूप में था, उसी को उन्होंने केवल स्पष्ट और प्रणालीबद्ध कर दिया।

वैयाकरण भी अद्वैतवादी थे। 'वाक्यपदीयकार' ने मुक्त कण्ठ से कहा है कि व्याकरण का सिद्धान्त अद्वैतवाद है। व्याकरण के मत से अखण्ड चिन्मय शब्द-तत्त्व ही जगत् का मूल कारण है, यह एक और अभिन्न है। त्रिपुरा-सम्प्रदाय भी अत्यन्त कट्टर अद्वैतवादी है। इनके मत से मूलतत्त्व महाशक्ति एक एवं अद्वितीय है। इन सब अद्वैतवादों की विशेषता तथा इनके पारस्परिक सम्बन्ध की आलोचना करने का यहाँ स्थान नहीं है। परन्तु, इन सब सिद्धान्तों से यह स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि प्राचीन काल में अद्वैतवाद के अनेक प्रकार के प्रस्थान थे। ब्रह्माद्वैत के साथ-साथ शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत, शाक्ताद्वैत, ईश्वराद्वैत प्रभृति विभिन्न प्रकार के अद्वैत-सिद्धान्त उस समय प्रचलित थे।

निगम और आगम—वेद और तन्त्र दोनों में अद्वैतवाद था, द्वैतवाद भी था, इस विषय में कोई सन्देह का कारण नहीं है। वैदिक सिद्धान्त का मूलस्थान प्रधानतः उपनिषद् एवं तदवलम्बी दार्शनिक सूत्रग्रन्थ—विशेषतः ब्रह्मसूत्र है। तान्त्रिक सिद्धान्त के आकर-ग्रन्थ प्राचीन आगमराशि तथा शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, परशुरामकल्पसूत्र प्रभृति सूत्रमाला हैं। शैव, वैष्णव, शाक्तादि भेद से आगम नाना प्रकार के थे। पाञ्चरात्र और भागवतमत वैष्णवागम-मूलक हैं। प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द-शास्त्र, अर्थात् काश्मीरीय त्रिकदर्शन, दक्षिणदेश के सिद्धान्त-शास्त्र प्रभृति तथा व्याकरण शैवागम से उद्भूत होते हैं। त्रिपुरादि सिद्धान्त शाक्तागममूलक है। अवश्य ही प्रत्येक सम्प्रदाय के आगमों में भी अनेक प्रकार के विभाग हैं।

५ **ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद में भेद**—आचार्य गौडपाद और शंकर के द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा श्रीमदभिनवगुप्तादि द्वारा व्याख्यात परमेश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार के नहीं हैं। ब्रह्मवाद माया को सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण तथा अनिर्वचनीय मानता है। किन्तु, शैवाचार्य कहते हैं कि इससे द्वैत भंग नहीं होता। अवश्य ही परमार्थ दृष्टि से माया जब तुच्छ होती है, तब व्यवहार-भूमि की सत्यता तथा विचार-भूमि की अनिर्वचनीयता वस्तुतः ब्रह्म के अद्वैत-तत्त्व का स्पर्श नहीं करती। यह

बात ठीक है; किन्तु इससे अद्वैत-तत्व में जो संकीर्णता आती है, उस संकीर्णता के हेतु का पता ढूँढ़ने पर भी नहीं लगाया जा सकता। इस जीव-जडात्मक विश्व-वैचित्र्य का हेतु क्या है? मूल में जब एक ही अद्वय ज्ञान-तत्त्व है, तब यह द्वैत की स्फुरणा क्यों होती है, तथा किसके निकट होती है? अज्ञान का आश्रय कौन है, द्रष्टा कौन है? ईश्वरादि षट्पदार्थों को अनादि और परम्परासिद्ध बतलाने का व्यवहार भी अनादि है। शुद्ध ब्रह्म विवर्त्तात्मक अनादि प्रवर्त्तमान व्यवहार का अधिष्ठान वा अधिकरण-मात्र है। उसका कर्तृत्व और स्वातन्त्र्य कल्पित है, वास्तव में नहीं है। परन्तु, कल्पना कौन करता है? जीव अथवा ईश्वर—पर ब्रह्म नहीं करते हैं। स्वरूप-दृष्टि से स्रष्टृत्वादि सभी धर्म उसी में आरोपित और अध्यस्त होते हैं। परन्तु, वस्तुतः ब्रह्म से जीवभाव या ईश्वर-भाव किस प्रकार होता है, यह समझ में नहीं आता। बस, यह प्रवाह-रूप से अनादि है, यह कहकर ही चुप हो जाना पड़ता है। अज्ञान की प्रवृत्ति कहाँ से और क्यों होती है, इसका कोई उत्तर नहीं है। स्वप्रकाश चिरभास्वर ज्ञान-सूर्य को अकस्मात् अज्ञानान्धकार कहाँ से आकर ढक लेता है। ज्ञान यों ही अवशभाव से उसके अधीन होकर जीव बनता है, अथवा अधीश्वर होकर ईश्वर बनता है। किन्तु, अज्ञान का प्रथमाविर्भाव ही जब समझ में नहीं आता, तब जीवत्व अथवा ईश्वरत्व के बीज काल के मध्य में अन्वेषण करके आविष्कार करने की चेष्टा तो केवल पागलपन है।

ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है, माया है, किन्तु उसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक, अर्थात् स्वेच्छा-परिगृहीत रूप है। नट जिस प्रकार जान-बूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार अपनी इच्छामात्र से नाना प्रकार की भूमि का ग्रहण करते हैं। वह स्वतन्त्र हैं, अपने स्वरूप को ढकने में भी समर्थ हैं, और प्रकट करने में भी समर्थ हैं। पर, जब वह अपने स्वरूप को ढकते हैं, तब भी उनका अनावृत रूप च्युत नहीं होता। अज्ञान उनकी स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भण-मात्र है। जिस प्रकार सवितृदेव अपने ही द्वारा सर्जन किये हुए मेघ से अपने को आच्छादित करते हैं, यह भी उसी प्रकार होता है। परन्तु, सूर्य आच्छादित होकर भी जैसे अनाच्छादित रहते हैं; क्योंकि वैसा न होने से मेघ को प्रकाशित कौन करता? विश्व-वैचित्र्य भी इसी प्रकार अपने स्वरूप का ही विमर्श-मूलक है। क्रीडा-परायण महेश्वर की लीला ही इस प्रकार के अभिनय का कारण है। आत्माराम में स्पृहा ही कैसी? यही स्वभाववाद है। ब्रह्मवादी स्वभाव को बिलकुल ही नहीं मानते हों, सो बात नहीं है। अज्ञान आत्मा की ही शक्ति है, इस बात को उन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु, ईश्वरवादी कहते हैं कि यह स्वातन्त्र्यमूलक, स्वातन्त्र्यात्मक, कर्तृत्वस्वरूप है, और ब्रह्मवादी कहते हैं कि यह शुद्ध साक्षी अथवा अधिष्ठान-चैतन्यात्मक है, यहीं दोनों में प्रधान भेद है। अर्थात्, शाङ्कर वेदान्त में आत्मा विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, निर्मल, निरहङ्कार, अनादि, अनन्त, शान्त, सृष्टि-स्थिति और संहार का हेतु, भावाभावविहीन, स्वप्रकाश, नित्यमुक्त है, किन्तु उसमें कर्तृत्व नहीं है। परन्तु, आगम-सम्मत अद्वैत-मत से विमर्श ही आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और क्रिया उसके लिए एक-से हैं। उसकी क्रिया ही ज्ञान है; क्योंकि वह ज्ञाता

का धर्म है तथा उसके कर्तृ-स्वभाव होने के कारण उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस ज्ञान और क्रिया की उन्मुखता का नाम इच्छा है। इसी कारण वह इच्छामय है अथवा इच्छादि शक्तित्रय से युक्त, स्वातन्त्र्यमय है। ऐश्वर्य, विमर्श, पूर्णाहन्ता प्रभृति इसी स्वातन्त्र्य के नामान्तर हैं।

आगमसम्मत आत्मा सर्वदा ही पंचकृत्यकारी है। यह उसका असाधारण स्वभाव है।[1] सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय को ही पंचकृत्य के नाम से पुकारते हैं। शाङ्कर मत से ब्रह्म इस प्रकार के स्वभाववाला नहीं है। इसलिए, ब्रह्मवाद में आत्मा का स्व-स्फुरण वैसा न होने के कारण वह सत्य होते हुए भी असत्कल्प है। महेश्वरानन्द कहते हैं—

'तत्र हि अद्वैतमाग्रहेणोपपाद्यमानमपि द्वैतकक्ष्यामेवाधिरोहति, यदत्र सत्यासत्यव्यवस्थया हेयोपादेयकल्पनायां तेनैवाकारेण द्वैतमर्यादापर्यवसायित्वमनिवार्यम्।'

त्रिकदर्शन अत्यन्त कट्टर अद्वैतवादी है, उस अद्वैतवाद के सामने ब्रह्माद्वैत-सिद्धान्त मानों म्लान-सा जान पड़ता है। जान पड़ता है कि मानों शाङ्कर मत में द्वैताभास वस्तुतः वर्जित नहीं है। संविदुल्लास में लिखा है—

द्वैतादन्यदसत्यकल्पमपरैरद्वैतमाख्यायते
तद् द्वैते बत पर्यवस्यति कृतं वाचाटदुर्विद्यया।
एते ते वयमेवमभ्युदयिनोः कस्यापि कस्याश्चिद्-
प्यालस्योज्झितमैकरस्यमुभयोरद्वैतमाचक्ष्महे॥

जान पड़ता है, मानों शाङ्कर वेदान्त द्वैत से भीत और त्रस्त है, इसी कारण उनके मत में अद्वैत द्वैत से विलक्षण है, अतएव यह असत्कल्प है। वह विचार से द्वैत-कोटि में आ जाता है। आगम के मत में अद्वैत शब्द का अर्थ है—दो का नित्य सामरस्य। शंकर ब्रह्म को सत्य और माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिए, वाक्य द्वारा जितना ही अद्वैतभाव का उत्कर्ष दिखाने की चेष्टा की गई है, उतना ही पूर्णभाव के प्रकाश में बाधा पड़ी है। वे माया को सत्य नहीं मान सकते, इसी से उनका अद्वैतभाव व्यावृत्तिमूलक (exclusive), संन्यासमूलक (based on renunciation or elimination) है, अनुवृत्ति किंवा ग्रहणमूलक (all-embracing) नहीं। माया ब्रह्मशक्ति, ब्रह्माश्रित है, पर ब्रह्म सत्य है, परन्तु विचार-दृष्टि से माया सदसद्विलक्षण है। किन्तु, माया को स्वीकार कर उसको ब्रह्ममयी, नित्या और सत्यस्वरूपा मानने से ब्रह्म और माया की एकरसता हो जाती है। यह एकरसता माया को त्यागकर या तुच्छ समझकर नहीं, बल्कि उसको अपनी ही शक्ति समझने में है। बादल के द्वारा दृष्टि-शक्ति के ढकी जाने पर हम कहते हैं कि मेघ ने सूर्य को ढक लिया है, किन्तु यह मेघ क्या स्वयमेव सूर्य से ही उत्पन्न नहीं है? क्या मेघ सूर्य की ही महिमा नहीं है? सुतरां जो सूर्य है, वही मेघ है; क्योंकि यह उसी की शक्ति है। मायामेघ भी इसी प्रकार ब्रह्म से आविर्भूत होता है, उसी के आश्रय में आत्मप्रकाश

---

१. महेश्वरानन्द-कृत महार्थमञ्जरी-टीका परिमल, पृ० ५२; प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र १०, पृ० २२, २३ देखिए।

करता है और उसी में विश्राम-लाभ करता है। जो माया है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म स्वयं ही मानों अपने को अपने द्वारा अर्थात् अपनी शक्ति—माया के द्वारा ढक लेता है, परन्तु ढकने पर भी पूर्णतः ढक नहीं जाता; क्योंकि वह अनावृत-रूप है। अतः कहना पड़ता है कि वही अपना आवरक (ढकनेवाला) है और वही अपना उन्मीलक (खोलनेवाला) है। उसके सिवा और है ही क्या? ब्रह्म और माया एक ही वस्तु है। ब्रह्म सत्य, माया मिथ्या है, ऐसा कहने पर प्रकारान्तर से द्वैताभास आ ही जाता है। जिस अवस्था में माया मिथ्या है, उस अवस्था में ब्रह्म भी मिथ्या है; क्योंकि माया को मिथ्या अनुभव करते ही माया की सत्ता का स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है, और माया को स्वीकार करने से ही उस अवस्था में जो ब्रह्मबोध होता है, वह मायाकल्पित वस्तु है। यह बात वेदान्ती को भी किसी-न-किसी प्रकार स्वीकार करनी ही पड़ती है। इधर माया को सत्य समझने में ब्रह्म भी सत्य हो जाता है। माया की विचित्रता के अनुसार यह ब्रह्मबोध भी विचित्र ही होगा और वह सभी बोध समानरूप से सत्य होंगे। उस समय जगत् के यावत् पदार्थ ब्रह्मरूप में प्रतिभात होंगे। सभी सत्य हैं, सभी विस्मय और आनन्दमय हैं, इस तत्त्व की उपलब्धि होगी। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', यह उपनिषद्-वाक्य उस समय सार्थक हो जायगा। माया अथवा तत्प्रसूत जगत् का त्याग करके नहीं, वरन् उसको साक्षात् ब्रह्मशक्ति और उसके विकास-रूप में अनुभव करने से, आलिंगन करने से ही जीवन की सार्थकता सम्भव है। शक्ति सत्य है, सुतरां जीव और जगत् भी सत्य है—मिथ्या नहीं है, इसलिए सभी वस्तुतः शिवमय हैं। यह वैचित्र्य एक का ही विलास है, भेद अभेद का ही आत्मप्रकाश है, शक्ति-रूप किरण-राशि शिव-रूप सूर्य का अपना ही स्फुरण-मात्र है, अन्य कुछ भी नहीं। भगवान् शंकराचार्य के 'तमःप्रकाशवद्विरुद्धयोः' पद की यथार्थता स्वीकार करके भी यह बात कही जा सकती है कि प्रकाश से ही घर्षण के द्वारा अन्धकार का आविर्भाव होता है और अन्धकार ही घर्षण के द्वारा प्रकाश में पर्यवसित होता है। दोनों ही नित्य संयुक्त हैं, स्वरूप में समरस-भावापन्न हैं। घर्षण से प्राधान्य का विकास होता है। इस प्राधान्य के अनुसार व्यपदेश होता है। आगम-शास्त्र का यही सिद्धान्त है। पुरुष से प्रकृति, किंवा प्रकृति से पुरुष एकान्ततः पृथक् नहीं है, हो भी नहीं सकते। जो ऐसा करते हैं, वह केवल विचार (logical abstraction) के द्वारा तत्त्वविश्लेषण-मात्र करते हैं। वस्तुतः सांख्य के प्रकृति-पुरुष-विवेक का अर्थ भी पृथक्करण नहीं है, इसके प्रमाण सांख्यकारिका और योगभाष्य में स्पष्ट पाये जाते हैं। इसकी आलोचना किसी दूसरे समय की जा सकती है। स्पन्दशास्त्रकार कहते हैं—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥

इसका तात्पर्य यही है कि जीवन्मुक्त जगत् भर को ही आत्मक्रीडा, अर्थात् आत्मशक्ति के विलास-रूप में देखते हैं, उनकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती। भेद और अभेद, व्युत्थान और निरोध दोनों के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई

आशंका नहीं रह जाती; क्योंकि दोनों एक के ही दो प्रकार हैं। इसी को शिवशक्ति का सामरस्य या चिदानन्द की प्राप्ति कहते हैं। यही ईश्वराद्वयवाद की विशिष्टता है।

६ प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य—इस अद्वयवाद में एक और विशेषता यह है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही, इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामंजस्य है। शंकर द्वारा प्रवर्त्तित अद्वैतवाद की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शंकर के मत से भक्ति द्वैतमूलक है, इसी कारण अद्वैतावस्था में ज्ञानाविर्भाव में इसकी सत्ता नहीं रहती। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह साधनरूपा अज्ञान-मूलक भक्ति है। परन्तु, जो अद्वैत-भक्तिरूप पदार्थ है, वह शास्त्र और महात्माओं के अनुभव से जाना जा सकता है। यह नित्य-पदार्थ है। साधारणतः जिसे हम मोक्ष कहते हैं, वह वस्तुतः इस नित्यसिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही आवरणभंग-जनित समुन्मेष-मात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को चिदानन्दलाभ अथवा पूर्णाहन्ता चमत्कार रूप में अभिहित किया गया है। चिदंश ज्ञानभाव है और आनन्दांश भक्ति है। परम तत्त्व स्वातन्त्र्यमय है; स्वतन्त्रता ही पूर्ण शक्ति है; इसी कारण इस मत में चरमावस्था में भी शिवशक्ति का सामरस्य ही माना गया है। शक्ति के अभाव की अथवा उसके अवास्तवत्व की कल्पना कभी नहीं की गई। वस्तुतः, शिव और शक्ति अभिन्न हैं, दोनों में भेद नहीं है और हो भी नहीं सकता। परन्तु, विश्वदृष्टि से सृष्टि और संहार की, किंवा उन्मेष और निमेष की ओर लक्ष्य देने से शक्ति-प्रधान अथवा शिवप्रधान रूप से केवल एक ही परम तत्त्व का निर्देश किया जाता है। परन्तु शक्तिप्रधान अवस्था में भी शिवभाव रहता है; क्योंकि प्रकाशमय शिवभाव में ही विमर्शात्मक शक्ति का विकास-स्वरूप विश्व प्रतिबिम्बित होता है, और शिवप्रधान अवस्था में भी शक्तिभाव रहता है, विश्वबीज-शक्ति उस समय प्रकाश में विलीन रहती है और इन दोनों की सामरस्य अवस्था को, जहाँ शिव और शक्ति दोनों साम्य को प्राप्त हैं, न शिव कहा जाता है और न शक्ति ही कहा जाता है; परन्तु दोनों ही भाव वहाँ एकाकार में विद्यमान रहते हैं। यही परम भाव है। हमारे दर्शनों में इसको सर्वभाव की प्रतिष्ठा के रूप में वर्णन किया गया है। यहाँ चिदंश शिवभाव और आनन्दांश शक्तिभाव परस्पर मिले हुए हैं, इसी कारण यह ज्ञान-भक्ति की सामंजस्य-अवस्था है। यह याद रखना चाहिए कि पूर्वोक्त शिव और शक्ति तथा यह सामरस्य दोनों ही नित्य हैं, केवल एक ही पदार्थ की दो दिशाएँ हैं।

कहा जाता है कि षट्पंजरिकास्तोत्र श्रीशंकराचार्य का रचा हुआ है। उसमें है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

यदि यह श्लोक वस्तुतः शंकर का ही है, तो यह कहना पड़ेगा कि वह अद्वैत-भक्ति का प्रचार करते हैं। 'सत्यपि भेदापगमे' इस वाक्यांश की योजना के द्वारा समझा जा सकता है कि उनका अभिप्राय, भेद दूर हो जाने पर भी 'मैं तुम्हारा हूँ', यह कहने का है। सुतरां अभेद-अवस्था में भी 'मैं तुम्हारा हूँ', यह भाव रह सकता है। कहने

की आवश्यकता नहीं कि यह दास्यात्मक भक्तिभाव ही है। यद्यपि ज्ञान के द्वारा 'तुम और मैं' का वास्तविक भेद मिट जाता है, तथापि पराभक्ति के प्रभाव से उस अद्वैत-समुद्र में भी कल्पित भाव-द्वैत की लहरी उठती है। यह द्वैत वस्तुतः द्वैत नहीं है, इसलिए इस अवस्था की भक्ति को अद्वैत-भक्ति कहना असंगत नहीं है। यही नित्यभाव है।

बोधसार में (पृ० २००-२०१) नरहरि कहते हैं—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।
मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥

अद्वैत-भक्ति क्या है तथा उसके स्वरूप की प्राप्ति कैसे होती है, यह विवरण यहाँ प्रयोजनीय नहीं है। नारायणतीर्थ अपनी भक्तिचन्द्रिका नामक शाण्डिल्य-सूत्र के भाष्य में इस भक्ति की विस्तारपूर्वक व्याख्या करते हैं तथा अन्य भी अनेक स्थलों में इसका प्रसंग मिलता है। त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड (२०वाँ अध्याय, श्लोक ३३-३४) में है—प्रकाशसार परम तत्त्व को अपरोक्ष रूप में आत्माभिन्न-भाव में साक्षात्कार करने पर भी कोई-कोई परम भक्त प्रेमपूर्वक उसकी सेवा किया करते हैं। सेवा करने के लिए सेव्य-सेवकभाव होना आवश्यक है, अद्वयावस्था में यह भाव किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसीलिए कहा गया है कि भेदभाव अवलम्बन करके सेवा की जाती है। निश्चय ही यह आहार्य-भेद है, वास्तविक भेद नहीं है। जहाँ परम तत्त्व साम्य-स्वरूप है वहाँ तो भेद है ही नहीं, वह तो सब अवस्थाओं का सन्धि-स्थल है। परन्तु, इस भेद के आहरण करने का प्रयोजन क्या है? प्रयोजन और कुछ भी नहीं है, है केवल रुचिभेद, 'स्वभाव का स्वरस'—

यत् (अर्थात् परं पदं प्रतिभात्मकम्) सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्॥३३॥
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वाऽपि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥३४॥

इससे ज्ञात होता है कि ज्ञान के अनन्तर भी भक्ति रह सकती है। यह कैतव-हीन होने के कारण सुभक्ति है। अज्ञानमूलक द्वैत या साधनभक्ति के समान स्वार्थानु-सन्धानात्मिका नहीं है। अद्वैत-भक्ति के पक्ष में भी एक भेद आवश्यक है, यह कल्पित और ज्ञानपूर्वक होती है। परन्तु, एक बात है, ज्ञान के बाद यह अद्वैतभक्ति सभी के होती हो, ऐसी बात नहीं है। जिसका हृदय स्वभावतः भक्ति-प्रवण है, उसी के अद्वैत-भक्ति का उदय होता है, ज्ञानार्थी को ऐसा नहीं होता।

किन्तु, उदित हो या न हो, अन्त में ज्ञान और भक्ति एकाकार हो ही जाते हैं। जिसे पूर्णाहन्ता या स्वात्म-चमत्कार कहा जाता है, वही ज्ञान की सीमा और वही प्रेम की भी पराकाष्ठा है। इसीलिए, यह समन्वय-भूमि है। यहीं से दोनों स्रोत प्रवाहित होते हैं।

त्रिकदर्शन में दास्यात्मक भक्ति ही स्वीकार की गई है। भगवान् प्रभु, पिता

अथवा गुरु हैं, भक्त दास, पुत्र अथवा शिष्य। केवल त्रिकदर्शन में ही नहीं, शैवागम मात्र में ही इसी भाव की प्रधानता दीख पड़ती है। वीर शैवादि मत में भी यही सिद्धान्त स्वीकृत देखा जाता है।[१] शाक्तागम में भी मूलतः इस विषय में कोई भेद नहीं दिखाई देता। हाँ, पितृभाव की जगह उसमें मातृभाव की कल्पना की जाती है, यही विशेषता है। परन्तु, इस भावत्रयी में दास्यभाव ही मूलभूत है, अतः इसी का प्राधान्य बतलाया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति का मूलतत्त्व ही दास्यभावाश्रित है, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। शान्त-भक्ति भक्ति की एक स्फुरण-अवस्था-मात्र है। किंचित् विकसित होते ही उस पर दास्य-भाव का रंग चढ़ जाता है। अद्वैत से द्वैत की तरंग इसी भाव में उठती है। फिर, चाहे कितना ही विकास हो, यह रंग नहीं छूटता। यद्यपि गौडीय वैष्णव प्रभृति सम्प्रदायों में सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव भी माने गये हैं, तथापि यह सत्य है कि सभी भावों के मूल में यह दास्यभाव अनुस्यूत है। भूत-सृष्टि में जिस प्रकार वेदान्त के अनुसार आकाश से वायु, वायु से अग्नि इत्यादि क्रम से पृथ्वी का आविर्भाव होता है, रस-विकास में भी इसी प्रकार शान्त से दास्य, दास्य से सख्य इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर रसपुष्टि होती है। आकाश का अपना गुण शब्द है; वायु के उत्पन्न होने पर शब्द-गुण की तो प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त उसका अपना गुण स्पर्श भी विकसित हो उठता है। इस प्रकार, क्रमशः एक-एक गुण बढ़ते रहते हैं और पूर्व गुण क्रमशः अनुवृत्त होते जाते हैं। इसीलिए, पृथिवी में पाँचों भूतों के गुण हैं; इनमें शब्दादि चार उसके समागत सामान्य गुण हैं, गन्ध उसका विशेष गुण है। इसी प्रकार भाव के क्रम-विकास के विषय में भी समझना चाहिए। शान्त भाव का विशेष गुण निष्ठा दास्यभाव में अनुवृत्त होती है और उसका अपना गुण सेवा भी उस समय विकसित हो उठता है। सख्य में शान्त और दास्य दोनों के गुण अनुवृत्त होते हैं तथा अपने गुण असंकोच का भी विकास होता है। इसी प्रकार, माधुर्य में सभी रसों के गुण अर्थात् निष्ठा, सेवा, असंकोच, लालन वर्त्तमान रहते हैं और इनके अतिरिक्त उसका विशेष गुण आत्म-समर्पण भी स्फूर्त्त हो उठता है।

त्रिकदर्शन दास्यात्मक भक्ति को मानकर भक्ति के मूल-तत्त्व को ही मान लेता है। पर, केवल मूल को ही मानता हो, सो बात नहीं, भक्ति के चरम फल माधुर्य-प्रेम को भी उ[illegible]ास रूप में स्वीकार करता है। परन्तु याद रखना चाहिए कि यह भक्ति अज्ञानमूलक द्वैतभाव से उत्पन्न नहीं है। यह परिस्फुटित अद्वैत की अवस्था है और एक हिसाब से यह परिस्फुटित द्वैत-अवस्था भी है—परन्तु यह अलौकिक 'द्वैत' है, यही विशेषता है। इसीलिए, यहाँ एक ही साथ ज्ञान और भक्ति का, चित् और आनन्द का समावेश दिखलाई पड़ता है। इसी का नाम शिवशक्ति का सामरस्य है। यह रसतत्त्व ही ऐक्य और वैचित्र्य का पूर्ण सामञ्जस्य है। यह रस 'ब्रह्मानन्द' से विलक्षण एवं विशिष्ट है। ब्रह्मानन्द में आस्वादन नहीं, चर्वण नहीं, अहं-भाव नहीं, त्रिपुटी नहीं, परन्तु रस में सभी कुछ है, पर अलौकिक है। पूर्णाहन्ता का चमत्कार ही रसबोध है—इसमें अभेद में भी अलौकिक भेद है, नहीं तो आस्वादन ही

१. मायिदेवकृत 'अनुभवसूत्र' देखिए।

नहीं हो सकता। परन्तु, यह भेद लौकिक भेद के समान नहीं है, यह वैकल्पिकमात्र है। अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती नामक टीका में रसतत्त्व की जो प्रत्यभिज्ञा-दर्शनानुसार आलोचना की है, उसमें रस का स्वरूप बहुत कुछ परिष्कृत हो गया है।

प्रश्न हो सकता है कि यह रस केवल शान्तरस है अथवा दास्य भी है। इस प्रश्न का समाधान, पहले जो कुछ कहा जा चुका है, उससे हो जा सकता है। भक्ति के मूल में दास्यभाव रहेगा ही। शान्तभाव को भक्ति का बीजभाव कहा जा सकता है सही, किन्तु वह परिस्फुट भक्ति नहीं है। दास्यबोध जबतक नहीं हो जाता, अपने को एक अनन्त वस्तु के साथ अभिन्न जानकर भी जबतक तदाश्रित रूप से बोध नहीं हो जाता, तबतक भक्ति-राज्य का आरम्भ ही नहीं होता। शान्तभाव इसी का सूत्रपात करता है। किन्तु, यह अनन्त वस्तु अपने आत्मा से भिन्न और कुछ नहीं है। इसी से जिस ब्रह्मभाव से शान्तरस और तदनन्तर दास्यादि का आविर्भाव होता है, शान्त दास्यादि में वही ब्रह्मभाव अनुवृत्त रहता है; परन्तु उसी के ऊपर शुद्ध अप्राकृत सत्त्व की लहर क्रीड़ा करती है।

अन्धकार दबा रहता है, आलोक के वक्षःस्थल पर आलोक की ही तरंगें नाचा करती हैं। यह तरंग ही 'उल्लास' या रस है। इसका वैचित्र्य ही लीला-विस्तार है। यह तरंग शुद्ध स्वरूप में सदा वर्त्तमान रहती है, इसीलिए वैष्णवों के समान शैव भी नित्य-लीला मानते हैं। इसीलिए, क्षेमराज ने अपनी स्तवचिन्तामणि-टीका पृ० ६०-६१ में शिव को—

'कैलासादिषु नित्यप्रवर्त्तमानप्रमोदनिर्भरक्रीडामयं लोकोत्तरप्रभावं विस्तारयित्रे'

—कहा है। परन्तु कोई-कोई पुरुष, विशेषतः आलंकारिकगण भक्ति को रस-स्वरूप नहीं मानते। काव्यप्रकाशकार मम्मट, रसगंगाधर के कर्त्ता पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति आलङ्कारिकों ने भक्ति को भावकोटि में ही डाल दिया है। परन्तु, इससे कोई विरोध नहीं आता। साहित्यसार-कर्त्ता अच्युतराय ने दिखलाया है कि गीता के 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' से 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' पर्यन्त के वाक्यों से जाना जाता है कि मुख्य भक्ति जीवन्मुक्ति का ही नामान्तर है। जीवन्मुक्ति विवेक में विद्यारण्यस्वामी भी यही बात कहते हैं—

'जीवन्मुक्तः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते।'

इस दृष्टि से भक्ति कुछ-कुछ शान्तरस के अन्तर्गत हो जाती है। इसीलिए आलंकारिक भक्ति को स्वतन्त्र रस नहीं मानना चाहते। अर्थात्, मुख्य भक्ति को रस मानने में आलंकारिक असम्मत नहीं हैं, किन्तु वे उसे शान्तरस से पृथक् मानने का कोई कारण नहीं देखते। दूसरी ओर भक्तगण जो कुछ कहते हैं, वह भी सत्य है। वे कहते हैं कि भक्ति जब अद्वैत-आत्मतत्त्व-विषयक वृत्ति-विशेष है, तब उसके रसत्व का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साहित्यसार के टीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भक्ति मुख्य और गौण, अथवा परा और अपरा-भेद से दो प्रकार की है।

अलंकारशास्त्र में मुख्य भक्ति शान्तरस के अन्तर्गत है और गौणभक्ति भावमात्र है। भक्तिशास्त्र में शान्तरस स्वयं ही भक्तिविशेष है और मुख्यभक्ति तो रसस्वरूपा है।

शांडिल्य और नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में, मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति-रसायन में और श्रीरूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृत-सिन्धु में भक्ति के रसत्व का उपपादन किया है। यहाँ उन सब की आलोचना आवश्यक नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के आचार्यों ने भक्ति को रस के रूप में स्वीकार कर अध्यात्म-राज्य के एक गम्भीर तत्त्व को प्रकट कर दिया है। उत्पलाचार्य अपनी शिव-स्तोत्रावली के प्रथम स्तोत्र में कहते हैं—

जयन्ति भक्तिपीयूषरसासववरोन्मदाः।
अद्वितीया अपि सदा त्वद्द्वितीया अपि प्रभो॥

परा भक्ति की यही विशेषता है कि इस अवस्था में दूसरे के न होते हुए भी दूसरा रहता है। नदिया के श्रीगौरांग महाप्रभु ने इसीलिए अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व का प्रचार किया। जो समझते हैं कि दो होने से ही मिथ्या हो जायगा, उन्होंने पूर्ण सत्य के केवल एकदेश-मात्रको देखा है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी, ऐक्य-स्फुरण होने पर भी, उस ऐक्य की गोद में दो रह सकते हैं, यद्यपि वे दोनों ही एक का ही शुद्ध भाव में आत्मप्रसारण है—

नाथ वेद्यक्षये केन न दृश्योऽस्येककः स्थितः।
वेद्यवेदकसंक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शनः॥

अन्तर्मुखावस्था में कुछ भी जानने योग्य न रह जाने पर भी एक के रूप में जिसका स्फुरण होता है, ज्ञेय और ज्ञाता के इस संक्षोभ में—इस वैचित्र्य में भी भक्तगण समावेश की अधिकता के कारण उसी को देखते हैं। जो विश्वातीत हैं, वही तो विश्वात्मक भी हैं और दोनों समकाल में ही हैं। इसीलिए ज्ञान और भक्ति जहाँ समरस हैं, वहाँ विश्वातीत और विश्वात्मक समभाव में ही प्रकाशमान हैं। यहीं द्वैताद्वैत का सामञ्जस्य होता है। यही ईश्वराद्वयवाद की विशिष्टता है।

७ शंकर और आगम-सम्प्रदाय—शंकर द्वारा प्रचारित ब्रह्मवाद के साथ ईश्वरा-द्वयवाद का जो भेद दिखलाया गया है, उससे कोई यह न समझे कि शंकराचार्य ईश्वरा-द्वयवाद को नहीं मानते थे। वस्तुतः, शंकराचार्य प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त को मानते थे तथा अनेक स्थलों पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात को घोषित किया है। इसकी आलोचना पीछे की जायगी। साधारण संन्यासी-सम्प्रदाय में जो मत प्रचलित है तथा जिसका अवलम्बन कर अद्वैत-प्रस्थान के ग्रन्थ आदि रचे गये हैं, आजकल एकमात्र उसी को शंकर का मत समझा जाता है। किन्तु, उसके साथ अन्यान्य मतों का भी सम्बन्ध था, इसे एकबारगी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हमारा खयाल है कि आगम और निगम दोनों मार्गों के ही सम्प्रदायप्रवर्त्तक बनकर शंकराचार्य ने जगद्गुरु-पद की सार्थकता सम्पादित की थी। ज्ञान और उपासना—संन्यास और गार्हस्थ्य—दोनों दिशाओं में ही उनकी प्रचार-शक्ति अव्याहत थी। महापुरुषों के उपदेश देने की यही

सनातन पद्धति है। बुद्धदेव, महावीर प्रभृति धर्मप्रचारकगण सभी, न्यूनाधिकरूप में इसी पद्धति का अनुसरण कर गये हैं।

उपलब्ध ग्रन्थावली से कई शंकराचार्यों के विषय में पता लगता है, परन्तु इस विषय की आलोचना यहाँ अप्रासंगिक है। तन्त्रशास्त्र में भी एकाधिक शंकराचार्य का परिचय प्राप्त होता है या नहीं, यह एक स्वतन्त्र विषय है, तथापि अनेक प्रकार की ऐतिहासिक आलोचना से यही अनुमान होता है कि ब्रह्मवादी शंकर आगम-शास्त्र के ज्ञाता थे। केवल यही बात नहीं, बल्कि उन्होंने अनेक आगम-ग्रन्थों की रचना और व्याख्या की थी। इसी प्रकार की जनश्रुति भी है।

प्रत्यभिज्ञा-मत के साथ त्रिपुरा-सिद्धान्त का अथवा श्रीविद्या का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। शंकर इस श्रीविद्या के एकनिष्ठ साधक थे। शृंगेरीमठ में आज भी उनका श्रीचक्र स्थापित है, आज भी वहाँ उसकी उपासना होती है। शंकराचार्य के परम गुरु गौडपादाचार्य ने श्रीविद्या का प्रतिपादन करने के लिए सुभगोदय नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसके ऊपर शंकर की टीका है।[1] और सम्भवतः इसी के अनुकरण में उन्होंने अत्यन्त गम्भीर रहस्यपूर्ण सौन्दर्यलहरी नामक स्तोत्र रचा था।[2]

इस ग्रन्थ के ऊपर सुरेश्वराचार्यकृत टीका है, शृंगेरीमठ में इसी टीका की एक अति प्राचीन हस्तलिखित प्रति वर्त्तमान है।[3] प्रपंचसार-ग्रन्थ शंकरकृत माना जाता है।

---

१. सुभगोदय के ऊपर माधवाचार्य की भी व्याख्या है। टीका भी दो प्रकार की पाई जाती है। लक्ष्मीधर सौन्दर्यलहरी की व्याख्या में केवल शांकरी टीका का ही उल्लेख करते हैं, सम्भवतः द्वितीय टीका उनके हस्तगत नहीं हुई थी। पण्डित महादेव शास्त्री लक्ष्मीधर का समय चतुर्दश शताब्दी के प्रथमांश में निर्णीत करते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त निर्विवाद नहीं है। परन्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि लक्ष्मीधर भास्करराज के बहुत ही पूर्व हो गये हैं। हमारी समझ में उन्हें माधवाचार्य से परवर्त्ती मानना चाहिए।

२. कोई-कोई सौन्दर्यलहरी के शंकर की रचना होने पर विश्वास नहीं करते। परन्तु, हमारी समझ में यह शंकराचार्य की ही अपनी रचना है। पण्डित महादेव शास्त्री ने इस विषय में जो कुछ कहा है, वह ध्यान देने योग्य है—

'The fact that Sri Sankaracharya was a reformer in his days of the Shakta Cult as of various others, the very important part still played by Sakti Worship in all the Advait Mutts, the identity of the soul and the Goddess spoken of in verse 22, the reference to Vedanta in verse 84, the peculiar style of the hymn, and an impartial reference to, and an attempt to unify the peculiar doctrines of, the mutually opposed sects of Samaya Marga and Koula Marga, and lastly, the unanimous testimony of such writers as Lakshmidhara and Bhaskararaj—all these incline me to believe that the hymn is a genuine work of Sri Sankaracharya.'

—Preface to Soundarya-Lahari (Mysore Oriental Series) p. vii.

३. काशीवासी पण्डित श्रीयुत सीताराम शास्त्री दीर्घकाल तक शृंगेरीमठ में रहे थे। उन्होंने वहाँ रहने के समय सुरेश्वर की टीका को देखा था। उनके द्वारा इस टीका के विषय में हमने सुना था।—ले०

इसके ऊपर पद्मपादाचार्य की टीका है। उत्तर और दक्षिण भारत में विभिन्न समय में लिखित इस टीका की दो हस्तलिखित प्रतियाँ हमारे दृष्टिगोचर हुई हैं। सूतसंहिता और पराशरसंहिता की टीका में माधवाचार्य ने प्रपंचसार को जगद्गुरु शंकराचार्य-कृत माना है। शारदातिलक की टीका में राघवभट्ट भी यही कहते हैं। सम्मोहन-तन्त्र में शंकर और उनके चार शिष्यों का वर्णन है। यह सब देखकर शंकर को शाक्तागम के, विशेषतः त्रिपुरागम के, एक अति प्रधान आचार्य मानना ही होगा।

उनका दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र और सुरेश्वराचार्य-कृत उस पर वार्त्तिक देखकर यह बात और भी स्पष्टरूपेण समझी जा सकती है। यहाँ संक्षेप में इस बात को दिखलाया जाता है। 'दक्षिणामूर्त्ति' त्रिपुरा-सम्प्रदाय का शब्द है। 'दक्षिणामूर्त्ति-संहिता,' 'दक्षिणा-मूर्त्ति-उपनिषद्' प्रभृति उक्त सम्प्रदाय के मत का प्रतिपादन करनेवाले प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। सुतरां, गुरुतत्त्व किंवा स्वात्मदेवता का दक्षिणामूर्त्ति के आकार में वर्णन करने से शंकर का आगमानुराग प्रमाणित होता है। इस स्तोत्र के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि ज्ञानी की दृष्टि में विश्व स्वात्मगत तथा दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरवत् है। अर्थात्, वस्तुतः यह विश्व अपने अन्तर्गत है, परन्तु माया से बहिर्वत् जान पड़ता है। प्रबोध-काल में, माया के नष्ट होने पर, पुनः यह अपने अद्वय आत्मस्वरूप में ही साक्षात्कृत होता है। यहाँ विश्व स्वीकृत होता है; परन्तु वह चिन्मय है, अपने स्वातन्त्र्य के विलास एवं आत्मभित्तिस्थ चित्ररूप में अंगीकृत है, जड-रूप में नहीं। द्वितीय श्लोक में कहा है कि यह विश्व आविर्भाव के पूर्व निर्विकल्पावस्था में वर्त्तमान रहता है, यह स्वगतादि भेद-कल्पना-विहीन शक्तिमात्र है। जिस प्रकार अंकुर उद्गम से पूर्व बीज-रूप में रहता है, इसकी भी ठीक वही अवस्था है। पीछे माया के द्वारा देश और काल के कल्पित होने पर वह नाना प्रकार के विचित्र आकारों में प्रतिभात होता है। जो मायावी के समान, महायोगी के समान, केवल स्वेच्छा से इस वैचित्र्यमय विश्व का विजृम्भण करते हैं, वही आत्मदेव हैं, गुरुदेव हैं। यहाँ यह जो मायावी और योगी के दृष्टान्त दिये गये हैं, प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरा-दर्शन में भी ठीक यही दोनों दृष्टान्त हैं तथा जगत् की सृष्टि इच्छाशक्तिमूलक—उपादाननिरपेक्ष—है, इसका विचार किया गया है।

प्रत्यभिज्ञा-कारिका में उत्पलदेव कहते हैं—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥

अर्थात्, सृष्टि-शब्द का अभिप्राय है अन्तःस्थित पदार्थ का बहिःप्रकाश। सभी पदार्थ चिदात्मा के अन्तःस्थित हैं, केवल इच्छावश कभी-कभी कुछ-कुछ बहिःप्रकाशित होते हैं। यह बहिःप्रकाशन ही सृष्टिशब्द का अर्थ है। सुतरां, कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की सृष्टि में उपादान की अपेक्षा नहीं है। इच्छा-शक्ति के अवलम्बन से जब वस्तु-निर्माण होता है, तब पूर्वसिद्ध परमाणु का प्रयोजन नहीं रहता। जिन्होंने

योगी के सृष्टि-व्यापार को प्रत्यक्ष किया है, वे इस दृष्टान्त की सार्थकता सहज ही जान सकते हैं। कोई-कोई यहाँ कह सकते हैं कि योगी की सृष्टि भी परमाणुसापेक्ष है—योगी जब इच्छाशक्ति का प्रयोग करते हैं, तब उनकी प्रेरणा से समस्त परमाणु स्वयमेव आकर एकत्र हो जाते हैं। परन्तु, अभिनवगुप्त उक्त कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार की कल्पना का कोई मूल नहीं—

नहि एवं वक्तुं शक्यम्—परमाणवो योगीच्छया झटिति सङ्घटिताः कार्यमारप्स्यन्ते इति। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ० १३८)

इसका कारण यही है कि परमाणुवादी साक्षात् रूप से परमाणुओं द्वारा स्थूल वस्तु की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि बीच में अवान्तर अवयवों का व्यवधान होता है। घट-निर्माण करते समय केवल परमाणुसमूह को विशिष्ट संस्थान में, अर्थात् घटाकार में सन्निवेशित करना साक्षात् रूप से सम्भव नहीं। परमाणु से द्व्यणुक, द्व्यणुक के सम्मिलन से त्रसरेणु—इस प्रकार क्रमशः स्थूलतर कार्य की उत्पत्ति होती है। फिर, कपाल निर्मित होने के बाद दो कपालों के परस्पर संयोग से घट की सृष्टि होती है। केवल यही बात नहीं। लौकिक सृष्टि में अथवा उपादानसापेक्ष सृष्टि में निर्दिष्ट सहकारी का आश्रय आवश्यक है, शिक्षा और अभ्यास का प्रकर्ष आवश्यक है। नहीं तो वस्तु-निर्माण नहीं होता है। परन्तु, योगी की सृष्टि में इन सबकी कुछ भी अपेक्षा नहीं होती। सुतरां, यह कल्पना व्यर्थ है कि योगी भी पूर्वसिद्ध परमाणु का अवलम्बन करके सृष्टि करता है।[1] योगिज्ञान की ही ऐसी महिमा है कि आभास-वैचित्र्यमय पदार्थसमूह इच्छामात्र से ही प्रकाशित होते हैं। असल बात यह है कि संवित् स्वातन्त्र्यमयी (free) है, जब उसमें इच्छा का उदय होता है, तब अप्रतिघातरूप इच्छा के कारण अन्तःस्थित, अर्थात् ज्ञानरूप में अथवा आत्मा के साथ अभिन्न रूप में स्थित पदार्थसमूह ज्ञेय रूप में अवभासित होते हैं। जो 'अहं' रूप में द्रष्टा के साथ एकाकार था, वही 'इदं' के रूप में पृथक् भाव में परिस्फुट हो उठता है। कल्पित प्रमाता, अर्थात् देहादि में तादात्म्यबोधयुक्त द्रष्टा के समीप—परिच्छिन्न संवित् के सामने—यह पदार्थ बाह्य प्रतीत होता है।

अतएव, इस विश्वरूप आभास-वैचित्र्य का मूल चिदात्मा की स्वातन्त्र्य-शक्ति है। सुरेश्वराचार्य उक्त द्वितीय श्लोक के वार्तिक में भी इसी प्रकार इच्छाशक्ति के उपादान-निरपेक्ष सृष्टि-सामर्थ्य का वर्णन करते हैं। वे दिखलाते हैं कि विश्वामित्र प्रभृति परिपक्व-समाधि ऋषियों ने उपादान, उपकरण और प्रयोजन के बिना भी केवल स्वेच्छा-मात्र से सब प्रकार की भोग-सामग्री से परिपूर्ण स्वर्गलोक की सृष्टि की थी। यही योगिसृष्टि का दृष्टान्त है। ईश्वर-सृष्टि भी इसी प्रकार की है; क्योंकि वे स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान्

---

१. माधवाचार्य सर्वदर्शनसंग्रह में 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' शीर्षक प्रस्ताव में (आनन्दाश्रम-संस्करण, पृ० ७८) 'ये तु वर्णयन्ति नोपादानं विना' इत्यादि वाक्य द्वारा इस मत का उल्लेख करते हुए खण्डन करते हैं, अर्थात् जो लोग कहते हैं कि योगी की इच्छा से परमाणुओं के आकृष्ट होने से स्थूल वस्तु निर्मित होती है, उनके सिद्धान्त को वे असंगत प्रतिपादन करते हैं।

(वार्त्तिक ४८) हैं।[१] वे और भी कहते हैं कि ईश्वर कारक-व्यापार के बिना कर्त्ता, तथा प्रमाण-व्यापार के बिना सर्वज्ञ हैं; क्योंकि वे स्वप्रकाश हैं। उनके ज्ञातृत्व, कर्तृत्व प्रभृति उनकी स्वातन्त्र्य-शक्ति के ही नामान्तर हैं। उनकी इच्छाशक्ति स्वच्छन्दकारिता-स्वरूप है, वह अत्यनिरपेक्ष तथा अप्रतिहत है। इसी इच्छाशक्ति के बल से वे 'कर्त्तुम्', 'अकर्त्तुम्' और 'अन्यथा कर्त्तुम्' अर्थात् प्रवर्त्तन, निवर्त्तन और परिवर्त्तन करने में समर्थ हैं, यही स्वतन्त्रता है। योगी लोग इस इच्छाशक्ति के स्फुरण को ही 'साम्राज्य' कहते हैं—(दशम श्लोक की २१वीं कारिका देखिए)। 'साम्राज्य' सर्वत्र आत्मभाव का विकास है, जिनकी समाधि परिपक्व हो गई है, वही इसे प्राप्त करते हैं। यही परमैश्वर्य है—अन्यान्य विभूतियाँ इसकी तुलना में कुछ भी नहीं हैं। आत्मा महेश्वर है, इसीलिए वार्त्तिक (१०।६) में सुरेश्वर कहते हैं—

यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिर्ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।
ऐश्वर्यवन्तो भासन्ते स एवात्मा सदाशिवः ॥

आगे की कारिका में है कि पूर्णाहंता-लाभ होने पर यह ऐश्वर्य स्वयं विकसित होता है, इसके लिए स्वतन्त्र चेष्टा नहीं करनी पड़ती। अग्नि के साथ-साथ ताप की प्राप्ति के समान पृथक् रूप से कोई यत्न नहीं करना पड़ता। स्तोत्र के दशम श्लोक में शंकर स्वयं भी इस सर्वात्मता अथवा पूर्णाहंता का 'महाविभूति' के नाम से वर्णन करते हैं। यही अव्याहत ऐश्वर्य है, अणिमादि अष्टसिद्धियाँ इसका परिणाम-मात्र हैं। यह 'अहं' निर्विकल्प है, सुतरां अपरिच्छिन्न और पूर्ण है। यह न तो शुद्ध है और न मलिन है (४।३१)। नवम और दशम उल्लास के वार्त्तिक (९।२, ९।४, १०।१०) में परमेश्वर की मूर्त्ति को छत्तीस तत्त्वात्मक, अर्थात् विश्वात्मक बतलाया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये छत्तीस तत्त्व प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरा-दर्शन का सुपरिचित सिद्धान्त है। इन सब पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शंकर और सुरेश्वर इस ग्रन्थ में साक्षात् रूप से आगम का ही अनुसरण करके चलते हैं।[२]

पहले जो सृष्टि में उपादाननिरपेक्षता की बात कही गई है, शांकर वेदान्त में यही अभिन्ननिमित्तोपादानवाद के नाम से परिचित है। अवश्य ही अद्वैतवाद मानने पर निमित्त और उपादान के भेद को अस्वीकार करना ही पड़ता है। परन्तु, बात यह है कि शारीरक भाष्य में ब्रह्म के मुख्य कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया गया है। शंकर स्पष्ट कहते हैं कि ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व वास्तविक नहीं है, वह अविद्या-रूप उपाधि का परिच्छेद-निबन्धन है, अतः कल्पित है—

तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वञ्च

---

१. ईश्वरोऽनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्षातः।
स्वेच्छामात्रेण सकलं सृजत्यवति हन्ति च॥

२. स्वयंप्रकाश, रामतीर्थ प्रभृति टीकाकारों ने प्रत्यभिज्ञा और त्रिपुरा-सिद्धान्त में अनेक स्थलों पर श्लोक और वार्त्तिक की व्याख्या में भूलें की हैं। मूल में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, टीका में उसका आभास भी नहीं है।

न परमार्थतो विद्ययापास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते। (वेदान्तसूत्र भाष्य २।१।१४)

इस भाष्यांश से स्पष्ट समझा जा सकता है कि चिदात्मा का ईश्वरत्व अविद्या-मूलक है, स्वतःसिद्ध नहीं। सुतरां, मुक्तावस्था में जब विद्या के आलोक से अविद्या-न्धकार तिरोहित हो जाता है, तब ईश्वरत्व नहीं रहता। परन्तु, दक्षिणामूर्त्ति-स्तोत्र के दशम श्लोक में शंकर स्पष्ट लिखते हैं कि ईश्वरत्व रहता है, सर्वात्मतास्वरूप महाविभूति रहती है, पूर्णाहंता रहती है। क्योंकि, यह आत्मस्वरूप से विलक्षण नहीं है, यह आत्मदेव का स्वभावभूत है, अविद्या-निमित्तक नहीं। सुरेश्वराचार्य भी यही बात कहते हैं—

ऐश्वर्यमीश्वरत्वं हि तस्य नास्ति पृथक् स्थितिः।
पुरुषे धावमानेऽपि छाया तमनुधावति॥

ईश्वरभाव और शुद्ध चैतन्यभाव पृथक् नहीं हैं। सुतरां, आत्मज्ञान होने पर ऐश्वर्य-लाभ अपने-आप ही हो जाता है।

८ त्रिपुरा और प्रत्यभिज्ञा-मत का पारस्परिक सम्बन्ध—प्रसंगतः हमने प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के साथ त्रिपुरा और स्पन्द-मत के घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में कहा है। जो आगम एक का आकर-ग्रन्थ है, दूसरे का भी वही है। उपासना की पृथक्ता को बचाये रखने के लिए अवश्य ही पृथक् प्रस्थान रचे गये हैं, परन्तु वे एक ही मूल के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। पद्धति के भेद को छोड़कर तात्त्विक दृष्टि से दोनों के फल में कोई भेद नहीं दीख पड़ता। इसीलिए, हम देखते हैं कि प्राचीन आचार्यों ने त्रिपुरा-सिद्धान्त के सम्बन्ध में लिखते समय शिवसूत्र, प्रत्यभिज्ञा-हृदय, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, तन्त्रालोक प्रभृति सुप्रसिद्ध शैवग्रन्थों से प्रमाण संगृहीत किये हैं। इसी प्रकार, दूसरी ओर उत्पलदेव, क्षेमराज, अभिनवगुप्त, महेश्वरानन्द प्रभृति शैवाचार्यों ने प्रयोजनानुसार योगिनीहृदय, कामकला-विलास, त्रिपुरसुन्दरी-मन्दिर प्रभृति ग्रन्थों का प्रामाण्य स्वीकार किया है। जिस प्रकार सांख्य और योग में निकट सम्बन्ध है, उसी प्रकार त्रिक-मत और त्रिपुरा-मत में भी है। परशुराम-कल्पसूत्र, बिन्दुसूत्र, तन्त्रराज, त्रिपुरारहस्य, नित्याहृदय, वाम-केश्वर-तन्त्र, परमानन्द-तन्त्र सौभाग्यरत्नाकर प्रभृति त्रिपुरा-मत के श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। भास्करराय, कवि रामेश्वर, लक्ष्मीधर, उमानन्दनाथ, अमृतानन्द प्रभृति इस मत के उत्कृष्ट व्याख्याता हैं। इस प्रकार, पर्यालोचना करने से अच्छी तरह समझा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के साथ त्रिपुरा-सिद्धान्त के दार्शनिक अंश की, अर्थात् ज्ञानकाण्ड की ऐसी कोई पृथक्ता नहीं है।

परन्तु, एक बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिए। दोनों ही मतों में छत्तीस तत्त्व माने गये हैं। इनके परे जो है, वह तत्त्वातीत है। संसार इन्हीं छत्तीस तत्त्वों की समष्टि है। तत्त्वातीत से ही तत्त्वों का उद्भव होता है, इसलिए दोनों मूल में एक ही हैं। इसीलिए, वह परम वस्तु साथ-ही-साथ तत्त्वातीत, अर्थात् विश्वोत्तीर्ण भी है और सर्वज्ञत्व-मय, अतः विश्वात्मक भी है। इस विश्व में पैंतीस और छत्तीस संख्यक तत्त्व हैं, जिनका पारिभाषिक नाम शक्ति और शिव है, वह नित्य है। यहाँतक कि इसका आविर्भाव

और तिरोभाव नहीं है, यह सदा उदित है। इसलिए, वास्तव में पृथिवी से सदा-शिव-तत्त्व तक ३४ ही तत्त्व विश्वनाम से अभिहित होने योग्य हैं। अतः, सृष्टि-शब्द से सदाशिव प्रभृति तत्त्वमाला का क्रमशः आविर्भाव समझना चाहिए। इस आविर्भाव का बीज, जिसका क्रम-विकास ही विश्व है, 'शक्ति' कहलाता है। इस शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति। अन्तर्मुख और बहिर्मुख, दोनों भाव सनातन हैं; क्योंकि परमेश्वर नित्य ही 'पंचकृत्यकारी' हैं। शिवतत्त्व में शक्तिभाव गौण और शिवभाव प्रधान है—शक्तितत्त्व में शिवभाव गौण और शक्तिभाव प्रधान है। परन्तु, जहाँ शिव और शक्ति दोनों एकरस हैं, वहाँ न शिव का प्राधान्य है और न शक्ति का। वह साम्यावस्था है। यही नित्य अवस्था है। यही तत्त्वातीत है। कोई-कोई इसे सैंतीसवाँ तत्त्व कहते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि इसके सम्बन्ध में न तो कुछ कहा ही जा सकता है और न कुछ सोचा ही जा सकता है। यही सबके चरम लक्ष्य हैं। शैवों के ये परमशिव, शाक्तों की पराशक्ति और वैष्णवों के श्रीभगवान् हैं। परन्तु, यह याद रखना होगा कि ये सब नाम भी केवल नाममात्र हैं। व्यवहार की सुगमता के लिए इनका कल्पित व्यपदेश है।

९ आगम और सूफी मत—त्रिपुरा-मत के साथ प्रत्यभिज्ञा-मत का मौलिक अभेद स्थापित किया गया। इन दोनों मतों के साथ गौडीय-वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्त का ऐतिहासिक सम्बन्ध जान पड़ता है। गौडीय सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन करने के समय कभी इस विषय की आलोचना की जायगी। किन्तु, केवल यही नहीं; हमारे विश्वास से सूफी मत के साथ भी त्रिपुरादि-सिद्धान्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अबतक इस विषय की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया है। इसलिए, इस सम्बन्ध में दो-चार बातें कहकर अभी इस लेख का उपसंहार किया जायगा।

क्रेमर (Von Kremer), डोजी (Dozy), साचि (Sylvestre de Sacy) प्रभृति आचार्यों का मत है कि सूफी लोग अपने सिद्धान्त के लिए वेदान्त-दर्शन के अत्यन्त ऋणी हैं। जर्मनी के सुप्रसिद्ध कवि गेटे का भी यही विश्वास था। उसके 'West Ostlicher Divan' नामक ग्रन्थ में इसका प्रमाण पाया जाता है। दूसरे पक्ष में निकल्सन (Nicholson), गिब (Gibbe) प्रभृति विद्वान् समझते हैं कि नव-प्लेटोनिक (Neo-platonic) मत के साथ सूफी मत का सादृश्य अधिक है। इस विरुद्ध सिद्धान्त का सामंजस्य हो सकता है कि नहीं; अथवा इनमें कौन-सा सिद्धान्त समीचीन है, किंवा दोनों समान-रूप से अग्राह्य हैं, इन बातों की आलोचना यहाँ आवश्यक नहीं है। हमें केवल यही कहना है कि सूफी सम्प्रदाय के सिद्धान्त और आचार-विशेष के साथ प्रत्यभिज्ञा, त्रिपुरा और गौडीय वैष्णव मत का सादृश्य परिदृष्ट होता है।

सूफी मत के दर्शनों में स्थूलतः तीन सिद्धान्तों का परिचय मिलता है—

१—पहला यह है कि परमार्थ-तत्त्व चिन्मयी इच्छा-शक्ति (Self-conscious will) स्वरूप है, जगत् उसी का परिच्छिन्न विकास है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि भगवत्प्राप्ति के लिए कर्म ही प्रधान है तथा किसी-किसी के मत से

तो यही एकमात्र उपाय है—ज्ञान नहीं। कर्म से निष्ठा, सदाचार तथा अशुभ के सम्पर्क से उद्धार पाने के लिए भगवत्संसर्ग की तीव्र आकांक्षा समझनी चाहिए।

२—दूसरा यह है कि परमार्थ-तत्त्व एक और नित्य सौन्दर्य-स्वरूप है। चिर-सुन्दर का यह स्वभाव है कि वह अपने भाव में विभोर होकर विश्व-दर्पण में अपने 'मुख' को—आत्मस्वरूप को निरन्तर ही देखता रहता है, अतएव जगत् प्रतिबिम्ब-मात्र है, परिणाम नहीं है। सौन्दर्य का आत्मप्रकाश ही सृष्टि का कारण है—यह बात मीर सय्यद शरीफ ने स्पष्ट शब्दों में कही है। सूफी कवियों में इस प्रकार का एक हदीश प्रचलित है।[१]

कहा जाता है कि जब दायद ने भगवान् से जीव-सृष्टि के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब भगवान् ने उसे उत्तर दिया—

'I was a Hidden Treasure, therefore was I fain to be known, and so I created creation in order that I should be known.'

अर्थात्, 'गोपन-स्थिति में अकेले न रह सकने के कारण भगवान् ने आत्म-प्रकाश के लिए सृष्टि की।' परन्तु विरोध के बिना आत्मप्रकाश सम्भव नहीं है। भगवान् अखण्ड सत्य, सौन्दर्य और मंगलस्वरूप हैं, वे भावमय हैं। उन्होंने अपने स्वातन्त्र्य-बल से एक विराट् अभाव, एक महाशून्य (Not-being) का आविर्भाव किया। इस अभाव-रूप दर्पण में भावमय का प्रतिबिम्ब पड़ा। वह अभाव-प्रतिबिम्बित भाव ही विश्व है। इसी कारण विश्व उभयात्मक और परिवर्त्तनशील है। इसमें भाव और अभाव, दोनों के स्वभाव परिलक्षित होते हैं। मनुष्य इस विश्वात्मक-प्रतिबिम्ब का चक्षुस्वरूप है। प्रतिबिम्बस्थ चक्षु की पुतली में जिस प्रकार द्रष्टा (बिम्ब) की पूर्ण प्रतिच्छवि देखी जाती है, उसी प्रकार इस अनन्त विश्व में एकमात्र मनुष्य में ही भगवान् की पूर्ण प्रतिच्छवि वर्त्तमान है। मनुष्य भी विश्व का ही अंश है, इसीलिए मनुष्य में भी भाव और अभाव, दोनों का एक साथ समावेश है। इस अभावांश को दूर कर पूर्ण भावस्वरूप भगवत्स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही मनुष्य-जीवन का उद्देश्य है। परन्तु इस अभावांश को दूर करने के लिये हमें 'अहं' भाव का दमन करना होगा। यह 'अहं' भाव ही समस्त अनर्थों का मूल है। सूफी लोग कहते हैं कि भगवान् ही जब एकमात्र सत्य वस्तु हैं और जब सभी मिथ्या है, तो हमें अभिमान करने का कोई वास्तविक कारण नहीं है। इस अभिमान-निवृत्ति का एकमात्र उपाय है प्रेम। एक बार हृदय में भगवत्प्रेम के उदित होने पर सारा अभिमान गल जाता है, सारे अभाव मिट जाते हैं, माया का राज्य निमेषमात्र में कहाँ-का-कहाँ विलीन हो जाता है, चित्त अद्वैत प्रेम-

---

१. महम्मद में प्रकटित देववाणी को इस्लाम धर्म-ग्रन्थों में 'हदीश' कहा जाता है। इस वाणी के वक्ता साक्षात् भगवान् हो सकते हैं, महम्मद केवल आधारमात्र है। अर्थात्, महम्मद के कण्ठ को अवलम्बित कर, आविष्ट कर भगवान् स्वयं ही इस प्रकार की वाणी के वक्ता हो सकते हैं। वहाँ इसे 'हदीश-ए-कुद्सि' कहा गया है। यदि इस वाणी के यथार्थ वक्ता और यन्त्र स्वयं महम्मद हों, तो इस प्रकार के हदीश को 'हदीश-ए-शरीफ' कहते हैं।

स्वरूप में, पूर्ण सौन्दर्य में विश्राम पा जाता है। यह सौन्दर्य और प्रेम अनन्त और मुक्त है, इसमें न आदि है और न अन्त। इसमें ऊँच-नीच, दक्षिण-वाम का भेद नहीं है। यहाँ शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न हैं (नसफी-कृत 'मकसदी अकसा' देखिए)। नसफी कहते हैं कि मनुष्य—जीव पूर्ण का ही अंश है, परन्तु भ्रमवश वह अपनी पृथक् सत्ता कल्पित कर कष्ट पाता है। जन्म से ही वह पूर्ण की ही गोद में स्थित है, तो भी मिथ्या विरह की चिन्ता में मर रहा है। विरहबोध, भेदबोध अज्ञानजनित है; वास्तविक भेद आभासमात्र है, यथार्थ नहीं।

उमर खैयाम, इब्न तैमिया, वाहिद मामूद प्रभृति अद्वैतवाद के विरुद्ध खड़े हुए थे। मामूद ने एक सम्प्रदाय प्रवर्त्तित किया था, महाकवि हाफिज उसी सम्प्रदाय के थे। ये लोग विश्व को नित्यसिद्ध अणुसमष्टि मानते थे। किन्तु, इनके मत से ये अणु (आफ्राद) जड नहीं, चैतन्यमय हैं—अवश्य ही चैतन्य के विकास का तारतम्य होता है।

३—तीसरा यह है कि परमार्थवस्तु विज्ञान या ज्योतिःस्वरूप है। वह एक ओर अभिन्न है, परन्तु इसमें वैचित्र्य-सम्पादक भेद-प्रतिनिधिभाव की सत्ता है। यह स्वरूप-ज्योतिः नित्य-स्वप्रकाश है। इसके सिवा जो कुछ है, सब इसी के आश्रित है, अधीन है, इसी का शक्तिस्वरूप है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। ज्योति भाव है, तम अभाव है—ज्योति का अभाव या अन्धकार है। इसको प्रकाशित करना ही ज्योति का स्वभाव है। ज्योति सब क्रियाओं का मूल है। स्थान-परिच्युति स्थूल क्रिया है। प्रकृत क्रिया स्पन्दात्मक है। इसी स्पन्दन के बल से अनन्त रश्मिमाला केन्द्र से निकलकर चारों ओर बिखरती है। रश्मि से पुनः रश्मि का उदय होता है। परन्तु, क्रमशः रश्मि क्षीण होती जाती है। तब फिर इस क्षीणावस्था में पड़ी हुई रश्मि से नवीन रश्मि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ये रश्मियाँ ही देवता हैं। इन देवताओं के मध्य से ही समग्र जगत् मूल ज्योति से प्रकाश और अमृत (चिदानन्द) प्राप्त करता है। ऊपर जो तम, अन्धकार—अप्रकाश की बात कही गई है, वह प्रकाश की ही एक और दिशा है। सांख्यशास्त्र और अरिष्ट-दल ने जिस प्रकार इसके स्वातन्त्र्य की कल्पना की है, ये लोग वैसा नहीं करते।

जो हो, अब इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में जो कहा गया है, इसी से हमारा वक्तव्य स्पष्ट हो जाता है। ऊपर जो तीन सिद्धान्त लिखे गये हैं, उनका स्वरूप आगम-शास्त्रों में विस्तारपूर्वक वर्णित है। तीन मार्ग ही त्रिविध उपायस्वरूप हैं। क्रमशः आणवोपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय के साथ इनका कुछ अंश में सादृश्य जान पड़ता है। दूसरा सिद्धान्त भारतवर्ष में बहुत दिनों का परिचित मत है। इस मत से भगवान् सौन्दर्य-स्वरूप और चिरसुन्दर हैं, आनन्दरूप और आनन्दमय हैं। सूफी लोग नर-रूप में इसकी पराकाष्ठा देख पाते हैं। जिन लोगों ने सूफी कवियों की काव्य-ग्रन्थमाला का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि सूफी लोग सुन्दर नर-मूर्त्ति की उपासना, ध्यान और सेवा करना ही परमानन्द-प्राप्ति का साधन मानते हैं। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि मूर्त्ति किशोरावस्था की हो तो रस-स्फूर्त्ति में सहायक होती है। किसी के मत से पुरुषमूर्त्ति श्रेष्ठ है, तो किसी के मत से

रमणीमूर्त्ति श्रेष्ठ है। परन्तु, सूफी लोग कहते हैं कि उस वस्तु में प्रकृति-पुरुष-भेद नहीं है, वह अभेद-तत्त्व है। यही क्यों, उनके गजल, रुबाइयात, मसनवी आदि में जो वर्णन मिलता है, उससे किशोरवयस्क पुरुष किंवा किशोरवयस्का स्त्री के प्रसंग का निर्णय नहीं किया जा सकता।[1] टीकाकारों में से रुचि-वैचित्र्य के अनुसार कोई पुरुष-भाव में व्याख्या करते हैं और कोई रमणी-भाव में। बाह्य साधना में भी यह भेद लक्षित होता है। यह केवल संस्कार है, परन्तु मूलवस्तु न पुरुष है, न प्रकृति है, बल्कि वह दोनों का अभेदात्मक सामरस्य है, इसमें किसी को सन्देह नहीं। जगत् में जितना सौन्दर्य है, वह सब उस पूर्ण सौन्दर्य के कणमात्र विकास के कारण ही है, वह उसी की विभूतिमात्र है, उसकी छायामात्र है। वह एक पूर्ण सौन्दर्य ही मानों अकेला न रह सकने के कारण काल के ऊपर महाकाल के ऊर्ध्व देश में प्रस्फुटित हो पड़ा है—वही जगत्-रूप में खण्ड-सौन्दर्यमय होकर विकसित होता है। अथवा वह मानों अपने में ही अपने स्वरूप के प्रतिबिम्ब को अपने आप ही देखता है, यह प्रतिबिम्ब ही विश्व है। आगम भी क्या ठीक यही बात नहीं कहते? नटनानन्दनाथ चिद्वल्ली या कामकला की टीका में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुन्दर राजा अपने सामने के दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को देख उस प्रतिबिम्ब को 'मैं' समझता है, परमेश्वर भी उसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'मैं पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णाहंता है। इसी प्रकार, परम शिव के स्वाङ्ग से पराशक्ति का स्वान्तःस्थ प्रपञ्च उनसे निर्गत होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं—सौन्दर्य का स्वभाव ही यही है। श्रीचैतन्यचरितामृत में है—

रूप हेरि आपनार कृष्णेर लागे चमत्कार
आलिङ्गिते मने उठे काम।

यह चमत्कार ही पूर्णाहंता-चमत्कार है, काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। यही शिव-शक्ति-सम्मिलन का प्रयोजक और कार्यस्वरूप है—आदि रस अथवा शृंगार रस है। विश्वसृष्टि के मूल में ही यह रस-तत्त्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जो ३५ और ३६ तत्त्व अथवा शक्ति और शिव हैं, त्रिपुरा-सिद्धान्त में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं, और गौडीय वैष्णव दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिव-शक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण-राधा एक और अभिन्न हैं, यह सुप्रसिद्ध है। सूफी लोग भी यही बात कहते हैं। यही चरम वस्तु त्रिपुरा-मत में 'सुन्दरी' अथवा 'त्रिपुर-सुन्दरी' है। शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी में इसी के स्वरूप का वर्णन है। सौन्दर्यलहरी के १२वें श्लोक में कहा है कि, 'पूर्ण सौन्दर्य अनन्त है, उसकी तुलना नहीं है। कवि उसका वर्णन नहीं कर सकते, अप्सराओं का सौन्दर्य उसके लेशमात्र के बराबर भी नहीं है। देवांगनाएँ ही उसके दर्शन के लिए उत्सुक रहती हैं, सो नहीं; समग्र जगत् उसके लिए आकुल है। इसी सौन्दर्य के कणमात्र को प्राप्त कर विष्णु ने मोहिनी मूर्त्ति से साक्षात् शंकर को भी

---

१. E. J. W. Gibbe का A History of Ottoman Poetry, Vol, I, p. 65 देखिए।

मोहित कर दिया था। इसी की कृपा से मदन मुनिजनों के मन को मोहित करते हैं।' सौन्दर्यलहरी के पञ्चम श्लोक और वामकेश्वर महातन्त्र की चतुःशती में भी यही बात कही गई है।

इस सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्र-रूप में करते हैं। चन्द्र की सोलह कलाएँ हैं, सभी कलाएँ नित्य हैं। इसलिए, सम्मिलित भाव से इनका नित्य षोडशिका के नाम से वर्णन किया गया है। परन्तु पहली १५ कलाओं का उदय-अस्त होता है, ह्रास-वृद्धि होती है; पर सोलहवीं की नहीं होती। वही अमृता नाम की चन्द्रकला है। वैयाकरण इसी को 'पश्यन्ती' वाणी कहा करते हैं। दर्शन-शास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आत्मा है, मन्त्रशास्त्र में इसी को मन्त्र या देवता का स्वरूप कहा गया है। हम जिसे पूर्णचन्द्र कहते हैं, वस्तुतः वह पूर्णचन्द्र नहीं है; क्योंकि उसका क्षय और उदय होता है। जो वास्तविक पूर्ण है, उसमें न्यूनाधिक भाव नहीं रह सकता। इस प्रकार, की पूर्णता षोडशी कला में ही है, वह नित्योदित, अमृतस्वरूप और अखण्ड है। वही महात्रिपुरसुन्दरी ललिता हैं, सौन्दर्य और आनन्द का परमधाम हैं। यही परा कला चिदेकरसा—श्रीविद्या है। पहली १५ कलाओं का कालचक्र के साथ सम्बन्ध है, जो सूर्य और चन्द्र के व्यवधान और संयोग के फलस्वरूप प्रतिपदा आदि तिथिरूप हैं। सुतरां, नित्य होने पर भी इनका आविर्भाव और तिरोभाव है; किन्तु षोडशी कला नित्य ज्योत्स्नामय सहस्रदलकमलस्थ नित्यकलायुक्त श्रीचक्रात्मक चन्द्रबिम्ब है। इसीलिए सुभगोदय में कहा है—

षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।

इसी कारण उपासक के निकट सुन्दरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौडीय सम्प्रदाय में भी ठीक यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडश-वर्षीय हैं, नित्य किशोर हैं—

नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तकः।

प्रभुपाद श्रीरूपगोस्वामी अपने भक्तिरसामृत-सिन्धु (दक्षिण, प्रथम लहरी, श्लोक १५८) में कहते हैं—

आषोडशाच्च कैशोरम्।

तत्पश्चात्, जैसे सुन्दरी या ललिता कभी पुरुष है, कभी रमणी है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी हैं। तन्त्रराज में है—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वंशीनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत्॥

यहाँ ललिता पुरुष-रूप में कृष्ण-भाव में प्रकटित है। एक और भी रहस्य की बात है। उपासना की पद्धति के अनुसार जप-समर्पण का यही साधारण नियम है कि स्त्री-देवता के वाम कर में और पुं-देवता के दक्षिण कर में जप-फल समर्पित किया जाता है। परन्तु, ललिता के दक्षिण कर में ही जप-फल देने की व्यवस्था है। दूसरे पक्ष में श्रीकृष्ण का रमणी-मूर्त्ति ग्रहण करना, मोहिनी मूर्त्ति में प्रकट होना भी सुप्रसिद्ध है।

त्रिपुरा एवं गौडीय मत और आचार के साथ सूफियों का सादृश्य अनेक विषयों में देखा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञा-मतावलम्बी काश्मीरीय शैवाचार्य भी परम शिव का इसी भाव से ध्यान किया करते हैं।

तत्पश्चात् तीसरा सिद्धान्त अथवा इशराकी-मत भी आगम में पाया जाता है। यह मूल ज्योति ही चिदात्मा, चन्द्रबिम्ब (अथवा वैदिक मतविशेष में सूर्यबिम्ब) है। सभी देवता उसी की रश्मि हैं। इन्हें मातृका, वर्ण, कला, शक्ति प्रभृति नामों से पुकारते हैं। इस रश्मिमाला, अर्थात् वर्णमाला या मातृका-चक्र का बहिर्विकास ही सृष्टि तथा अन्तःसंकोच ही प्रलय है।

अध्यापक गिब (Gibbe) भारतीय अद्वैत-प्रस्थान में रस और प्रेमतत्त्व का सन्धान न पाकर (Ottoman Poetry, vol. 1, p. 64) सूफी मत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का आविष्कार करते समय नव-प्लेटोनिक (Neo-platonic) मत का आश्रय ग्रहण करते हैं। किन्तु, भारतवर्ष के आगममूलक सिद्धान्त और आचार की गवेषणा करने पर जान पड़ता है कि सूफी-सम्प्रदाय के मतामत के साथ भारतवर्ष का जितना सम्बन्ध है, उतना अलेक्जेण्ड्रिया का नहीं है।

१० उपसंहार—हमने अतिसंक्षेप में प्रत्यभिज्ञा-मत का साधारण परिचय दिया। प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की ग्रन्थावली तथा काश्मीर और दक्षिणापथ में इसके प्रचार का इतिहास यहाँ नहीं दिये गये। आशा है कि पाठकवृन्द भारतीय दर्शन के इस विस्मृत अध्याय का पुनरुद्धार देखकर प्राचीन गौरव की स्मृति में आनन्द लाभ करेंगे।

तान्त्रिक दृष्टि

किसी साधना के विषय में आलोचना करने के लिए सबसे पहले उसकी आनुषंगिक दृष्टि के साथ परिचय कर लेना आवश्यक है। दृष्टि से ही लक्ष्य का निर्देश होता है। लक्ष्य निर्दिष्ट न होने तक साधना की चेष्टा उन्मत्त-प्रलाप के समान अर्थहीन होती है; क्योंकि लक्ष्य तथा उसकी प्राप्ति के उपाय को जानकर उसका यथाविधि अनुशीलन करना ही साधना है। अतः, तान्त्रिक साधना को समझने के लिए तान्त्रिक दृष्टि के साथ परिचित होने की उपयोगिता माननी पड़ती है। पूर्ण और अपूर्ण भेद से दृष्टि दो प्रकार की है। अपूर्ण दृष्टि से जो लक्ष्य जान पड़ता है, पूर्ण दृष्टि होने पर यह साध्य नहीं गिना जाता—वह प्रकृत लक्ष्य का एक अंश ही जान पड़ता है। परन्तु, आलोचना के लिए इन दोनों ही दृष्टियों की मर्यादा रखनी आवश्यक है। साधना की परिपक्वता से अपूर्ण दृष्टि का पर्यवसान पूर्ण दृष्टि में ही होता है।

(२)

जिस प्रकार बौद्ध बुद्ध, धर्म तथा संघ-त्रिरत्न (तीन रत्न) स्वीकार करते हैं, वैसे ही भेदवादी तान्त्रिक आचार्यगण भी शिव, शक्ति और बिन्दु—ये तीन रत्न मानते हैं।[१] ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता एवं उपादानरूप से प्रकाशमान हैं। शुद्धतत्त्वमय कार्यात्मक शुद्ध जगत् का उपादान बिन्दु है तथा कर्त्ता शिव है और करण शक्ति है। अशुद्ध तत्त्वमय जगत् में भी परम्परा से शिव और शक्ति ही कर्त्ता एवं करण हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओं के द्वारा बिन्दु आधार है। बिन्दु का ही दूसरा नाम महामाया है। शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति, अनाहत और व्योम—इन विचित्र सुखमय भुवन और भोग्यादि के रूप में परिणत होकर यही शुद्ध जगत् उत्पन्न करता है। भोगार्थी साधक भौतिक दीक्षा के प्रभाव से इस आनन्दमय राज्य में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करता है। किन्तु, जो पहले ही इस महामाया के राज्य के सुखभोग की इच्छा नहीं रखते, वे नैष्ठिक दीक्षा प्राप्त करके शक्ति के साथ नित्य मिले हुए शिव-स्वरूप साक्षात् परमेश्वर को उपलब्ध करते हैं।

बिन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवन के रूप में परिणत होता है, जिसे कि 'शुद्ध अध्वा' कहते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर

---

१. कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, मृगेन्द्र आदि आगमों में तथा अघोरशिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकण्ठ आदि आचार्यों के ग्रन्थों में इसका विशेष विवरण मिलता है। इसके मूल में भेददृष्टि रहती है। अभेदवादी आगम और आचार्यों के ग्रन्थों में न्यूनाधिकरूप से दूसरी तरह का विवरण भी है। इसका मूल कारण दृष्टिभेद ही है। शाक्तगण प्रधानतः अद्वैतवादी हैं। शैव सम्प्रदाय में द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकार की दृष्टियाँ है। प्रसिद्धि ऐसी है कि शिव के ईशानादि पाँच मुखों से ही समस्त मूल तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। उसमें भेद-प्रधान शिवतन्त्र दस हैं, भेदाभेदप्रधान रुद्रतन्त्र अठारह हैं एवं अभेदप्रधान भैरवतन्त्र चौसठ हैं।

यही शब्द की भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर बिन्दु और वर्णभेद से तीन प्रकार का है। सूक्ष्म नाद अभिधेय बुद्धि का कारण एवं बिन्दु का प्रथम प्रसार है। यह चिन्तनशून्य है। अक्षर बिन्दु सूक्ष्म नाद का कार्य और परामर्श ज्ञान-स्वरूप है। यह मयूराण्डरस[1] की तरह अनिवर्चनीय है। आकाश और वायु से श्रोत्रग्राह्य वर्णात्मक स्थूल शब्द उत्पन्न होता है। कालोत्तर तन्त्र में लिखा है—

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत्।
चिन्तया रहितं यत्तु तत्परं परिकीर्त्तितम्॥

बिन्दु[2] जड़ होने पर भी शुद्ध है। पाञ्चरात्र अथवा भागवतसम्प्रदायान्तर्गत वैष्णव आगम में 'विशुद्ध सत्त्व' शब्द से जो कुछ समझा जाता है, वही बिन्दु है। परमेश्वर के साथ बिन्दु अथवा महामाया के सम्बन्ध के विषय में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं—

(क) एक प्रसिद्ध मत तो यह है कि शिव की दो शक्तियाँ हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा और स्वाभाविकी है। यही शक्ति-तत्त्व है। यह शिव में नित्य समवेत रहती है। शिवशक्ति इन दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशीला है। इसका नाम बिन्दु है। बिन्दु के शुद्ध और अशुद्ध दो रूप हैं। साधारणतः शुद्ध रूप को ही बिन्दु और महामाया कहा जाता है। अशुद्ध रूप का नाम माया है। दोनों ही नित्य हैं। अशुद्ध अध्वा का उपादानकारण माया है और शुद्ध अध्वा का उपादान महामाया है। यही इन दोनों का अन्तर है। सांख्य-सम्मत तत्त्व एवं कलादि-कञ्चुक अशुद्ध अध्वा के ही अन्तर्गत हैं। यह सब माया का ही कार्य है। अवश्य पुरुष या आत्मा नित्य है तथा इनसे विलक्षण है, परन्तु उसमें भी पुंस्त्व नामक आवरण रहता है। माया से ऊपर के तत्त्व शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं।

ईशान, तत्पुरुष एवं सद्योजात—इन तीनों मुखों में से प्रत्येक की उद्भूत और उद्भवोन्मुख—ये दो अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार, अलग-अलग तीन मुखों से छह तन्त्रों का आविर्भाव हुआ है। इसके पश्चात् दो-दो मुखों के मिलने से। अर्थात्, ईशान + तत्पुरुष, ईशान + सद्योजात एवं सद्योजात + तत्पुरुष से। तीन तन्त्र होते हैं। फिर, तीनों के मिलने से एक तन्त्र और होता है। इस प्रकार कुल तन्त्र दस हैं। ये भेदप्रधान हैं। इसी तरह अठारह भेदाभेदतन्त्र भी समझने चाहिए। वे पूर्वोक्त तीन मुखों के साथ वामदेव और अघोर नाम के दो मुखों के व्यष्टि और समष्टिभाव से मिलने से अथवा केवल वामदेव और अघोर इन दो मुखों से ही उत्पन्न होते हैं। इस जगह इसकी विशेष प्रक्रिया नहीं दिखाई जाती है। यह जो शिवज्ञान और रुद्रज्ञान नामक दो ज्ञानों की बात कही गई है, वह ऊर्ध्वस्रोत के अन्तर्गत है। अभेदज्ञान या भैरवागम शिव के दक्षिण मुख अथवा योगिनी-वक्त्र से अभिव्यक्त होता है—यह शिवशक्तिसंयोगरूप तथा अद्वयस्वभावविशिष्ट है।

१. जिस प्रकार मयूर के अण्डे के रस में उसके पंखों के तरह-तरह के रंग अभिन्नभाव से अव्यक्तरूप से रहते हैं, उसी प्रकार अक्षर बिन्दु में स्थूल वाणी का सम्पूर्ण वैचित्र्य अव्यक्तरूप से अभिन्न होकर रहता है। यही मयूराण्डरस-न्याय है।

२. स्थूल बिन्दु शब्द कहा गया है, सूक्ष्म चिन्तामय है और जो चिन्तन से भी रहित है, वह 'पर बिन्दु' कहा गया है।

(ख) दूसरा मत यह है कि एकमात्र बिन्दु ही शुद्ध और अशुद्ध अध्वा का उपादान है। इस मत में माया नित्य नहीं है, किन्तु कार्यरूपा है। महामाया या बिन्दु की तीन अवस्थाएँ हैं—परा, सूक्ष्मा और स्थूला। परा अवस्था को महामाया, परामाया, कुण्डलिनी आदि नामों से कहा जाता है। यही परम कारण और नित्य है। सूक्ष्म और स्थूल—ये दोनों अवस्थाएँ कार्य होने के कारण अनित्य हैं। महामाया के विक्षुब्ध होने पर ही उससे शुद्ध धामों तथा उनमें रहनेवाले मन्त्रों (विद्याओं) एवं मन्त्रेश्वरों (विद्येश्वरों) के शरीर और इन्द्रियादि रचे जाते हैं। अर्थात्, शुद्ध लोकों के संस्थान और देहादि सब साक्षात् महामाया के कार्य हैं। ये शुद्ध मायातीत और उज्ज्वल हैं। महामाया की सूक्ष्म या दूसरी अवस्था का नाम माया है। कलादि तत्त्व-समूह का अविभक्त स्वरूप ही माया है। कलादि के सम्बन्ध के कारण ही द्रष्टा आत्मा भोक्ता पुरुष-रूप में परिणत होता है। माया से तत्त्व एवं भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् या परम्परा-रूप से उत्पन्न होते हैं। सारे अशुद्ध अध्वा का मूल कारण यह माया ही है। आगम में जिस प्रकार इसे 'जननी' कहा है, वैसे ही 'मोहिनी' भी कहा गया है। महामाया की स्थूल या तीसरी अवस्था का नाम प्रकृति है। यह त्रिगुणमयी है। प्रकृति साक्षात् या परम्परा-क्रम से भोक्ता पुरुष के बुद्धि आदि भोग-साधनों को तथा समस्त भोग्य विषयों को उत्पन्न करती है। कलादि के सम्बन्ध से पुरुष भोक्ता हो गया है। इससे उसके भोग्य तथा भोग-साधनों की सृष्टि के लिए महामाया ने प्रकृति-रूप स्थूल अवस्था ग्रहण की है।

बिन्दु शिव में समवेत नहीं है—यह पहले कहा जा चुका है। यही प्रचलित मत है। इस मत में बिन्दु परिणामी होने के कारण जड है। इसी से चिदात्मक परमेश्वर के रूप से इसका समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जाता। शिव के साथ बिन्दु का समवाय स्वीकार करने पर उनके अचेतन तत्त्व का प्रसंग अनिवार्य हो जायगा। श्रीकण्ठाचार्य कहते हैं—

स हि तादात्म्यसम्बन्धो जडेन जडिमावहः।
शिवस्यानुपमाखण्डचिद्घनैकस्वरूपिणः ॥[१]

किन्तु, तान्त्रिक भेदवादियों में कोई-कोई बिन्दुसमवायवादी भी थे। उनके मतानुसार शिव की समवायिनी शक्ति दो प्रकार की है—एक तो दृक्शक्ति या ज्ञान-शक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति या कुण्डलिनी। क्रियाशक्ति का ही दूसरा नाम बिन्दु है। माया अवश्य ही इससे सर्वथा भिन्न है। माया शिव में समवेत नहीं होती। अपने में समवेत ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगद्विषयक ज्ञान और क्रियाशक्ति के द्वारा उनकी जगद्-रचना उत्पन्न होती है। ज्ञानशक्ति भिन्न-भिन्न पदार्थों को विषय करने से ही चरितार्थ होती है। किन्तु, क्रियाशक्ति के विना वस्तुनिर्माण-रूप फल नहीं हो सकता। ये ज्ञान और क्रियारूपा दो शक्तियाँ परमेश्वर में अविनाभूतरूप से प्रतिष्ठित हैं।

जिस प्रकार बिन्दु का क्षोभ होने से शुद्ध जगत् उत्पन्न होता है, वैसे ही माया

१. अर्थात्, जड के साथ यह तादात्म्य सम्बन्ध अनुपम और अखण्ड चिद्घन-स्वरूप शिव के जडत्व का कारण होगा।

का क्षोभ होने पर अशुद्ध जगत् का आविर्भाव होता है। अपने में समवेत शक्ति द्वारा परमेश्वर के बिन्दु का स्पर्श करने से बिन्दु में क्षोभ होकर वैषम्य होता है और किसी प्रकार नहीं। अतः, एकमात्र साक्षात् परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु, माया का क्षोभ इस प्रकार साक्षात् रूप से परमेश्वर की शक्ति द्वारा नहीं होता।

तन्त्र-मत में सृष्टि, पालन, संहार, निग्रह और अनुग्रह—इन पाँच कार्यों का मुख्यकर्त्ता एकमात्र परमेश्वर ही है, ब्रह्मादि तो केवल द्वारमात्र है। इसी से सर्वत्र उसे 'पञ्चकृत्यकारी' कहकर वर्णन किया है। इन्हीं कृत्यों का सम्पादन करने के लिए शुद्ध अध्वा की आवश्यकता होती है। इसीलिए, बिन्दु के क्षोभ की भी अपेक्षा है। यद्यपि वस्तुतः परमेश्वर एक और अद्वितीय है तथा उसकी शक्ति भी वैसी ही है, तथापि उपाधि-भेद के कारण उसमें आरोपित किया हुआ भेद भी अवश्य है। जिस समय उसकी शक्ति अव्यक्त रहती है, उस समय वह निष्क्रिय, शुद्ध और संविद्-रूपा होती है। उस समय बिन्दु भी स्थिर और अक्षुब्ध रहता है; क्योंकि शक्ति की सक्रिय अवस्था हुए विना बिन्दु क्षुब्ध नहीं हो सकता। पर, बिन्दु के स्वरूप के अधिष्ठाता परमेश्वर की यह लयावस्था है। यहाँ प्रसंगवश एक बात कहना उचित जान पड़ता है। प्रचलित मत में शक्ति एक होने के कारण उसमें ज्ञान और क्रिया का कोई भेद नहीं है। जो भेद प्रतीत होता है, वह औपाधिक है। अतः, ज्ञान भी सदा क्रियारूप ही है। इसी से क्रिया शब्द से प्रायः शक्ति ही समझी जाती है। जिस समय यह शक्ति सारे व्यापारों को समाप्त करके स्वरूप मात्र में स्थित होती है, उस समय शिव को शक्तिमान् कहा जाता है। क्रियारूपा शक्ति उस समय मुकुलिता-सी होकर शिव में स्थित रहती है। यही शिव की पूर्वोक्त लयावस्था है। जब यह शक्ति उन्मेष को प्राप्त होकर उद्योगपूर्वक बिन्दु को कार्योत्पादन के अभिमुख करती है और कार्योत्पादन करके शिव के ज्ञान और क्रिया की समृद्धि करती है, तब शिव की भोगावस्था होती है। परमेश्वर का भोग या परमानन्द सुख-संवेदनरूप नहीं है; क्योंकि मलहीन चित्सत्ता में उपाधिभूत आनन्द और भोग की सम्भावना नहीं है। इस अवस्था में शक्ति सक्रिय रहती है। इसी से उसके साथ शिव को भी सक्रिय कहा जाता है।

स तया रमते नित्यं समुद्युक्तः सदाशिवः।
पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् देवः सकलनिष्कलः॥[१]

लयावस्था में शिव को निष्कल एवं भोगावस्था में सकल-निष्कल कहा जाता है। किन्तु, इन दोनों के अतिरिक्त उनकी अधिकारावस्था नाम की एक और भी अवस्था है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। इस अवस्था में वे सकल रहते हैं। किन्तु, उनका यह अवस्थाभेद वास्तविक नहीं है, औपचारिक मात्र है। शक्ति या कला की अविकास दशा, विकासोन्मुख दशा एवं पूर्णविकास दशा के अनुसार ही शिव के इस अवस्थाभेद की कल्पना की जाती है।

---

१. अर्थात्, वे पञ्चमन्त्रतनु सकल-निष्कल भगवान् सदाशिव उद्युक्त होकर सर्वदा उस शक्ति के साथ क्रीडा करते हैं।

शिव और शक्ति के इस अवस्था-भेद के मूल में बिन्दु का अवस्था-भेद रहता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत—ये कलाएँ बिन्दु की ही पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ हैं। उनमें शान्त्यतीत कला बिन्दु का स्वरूप मानी जा सकती है। वह अक्षुब्ध बिन्दु या लयावस्था है। शुद्ध और अशुद्ध जितने भी भोगाधिष्ठान हैं, वे सब शान्ति आदि चार कलाओं के ही परिणामस्वरूप हैं। वस्तुतः, भोगाधिष्ठान कहने पर शान्ति आदि चार कलाओं के भुवन ही समझे जायँगे। शान्त्यतीत-रूप या परबिन्दु समस्त कलाओं की कारणावस्था या लयावस्था है। अतः, शान्त्यतीत भुवन ठीक-ठीक भोगस्थान नहीं है। किन्तु, सृष्टि के आरम्भ में ही उत्पन्न होने के कारण किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने इसकी भी भोग-स्थानों में गणना की है। यह भोग की बीजावस्था है।

कलात्मक शक्ति ही शिव के देह-रूप में अध्यस्त होती है। अतएव, लयावस्था में बिन्दु का विक्षोभ न रहने से कला का उद्भव न होने के कारण निष्कल शिव को अशरीर कहा जाता है। भोगावस्था में शिव सकल-निष्कल रहते हैं—तब उनका देह पञ्चमन्त्रात्मक रहता है। तन्त्र-मत में शक्ति ही मन्त्र है, अतः वह पञ्चशक्तिमय होता है—

मननात्सर्वभावानां त्राणात्संसारसागरात्।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी ॥[1]

यह मन्त्ररूपा शक्ति मूल में एक ही है। किन्तु, उपाधिवशतः नाना हो गई है। अधिष्ठान होने के कारण कार्यभेद से एक ही शक्ति पाँच रूप से प्रतीत होती है। तदनुसार बिन्दु भुवन की या शान्त्यतीत कला भुवन की अधिष्ठात्री शक्ति की ईशान मन्त्र एवं शान्ति आदि चार भुवनों की अधिष्ठात्री शक्तियों को क्रमशः तत्पुरुष, सद्यो-जात, वामदेव एवं अघोर मन्त्र कहा जाता है। ये भुवन भोगस्थान हैं। ईशानादि पञ्चमन्त्रात्मिका शक्ति देह का कार्य करती है। इसलिए, उसे 'शिवतनु' कहते हैं। वस्तुतः, यह पारमार्थिक देह नहीं है। यह पञ्चमूर्त्ति परमेश्वर के पञ्चकृत्यों में उपयोगी है। बिन्दु की समस्त कलाएँ कारणावस्था में लीन रहने पर, अर्थात् परबिन्दु अवस्था में, उनका कोई विभाग नहीं रहता। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की परामूर्त्ति है। यह लयावस्था की बात है। जिस समय शिव को अशरीर कहा जाता है, उस समय इसी अवस्था की ओर लक्ष्य किया जाता है। उस समय शक्ति लीन रहती है तथा बिन्दु अक्षुब्ध एवं असत्कल्प रहता है। एकमात्र शिव ही उस समय अपनी महिमा में विराज-मान रहते हैं। जिस समय बिन्दु की कलाएँ कार्यावस्था में रहती हैं, उस समय उनकी अधिष्ठात्री शक्ति को शिव की अपरामूर्त्ति कहते हैं। भोगस्थान-रूप से जिन कला और भुवनों का उल्लेख किया है—उनमें निवृत्ति-भुवन सबकी अपेक्षा निम्न कोटि का है। इस निवृत्ति-भुवन के अधोवर्त्ती भुवन का नाम सदाशिव-भुवन है। इसकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की अपरामूर्त्ति अथवा सदाशिवतनु है। 'सदाशिवतनु' नाम औपचारिक है—सदाशिव भुवन के अधिष्ठान के कारण इसका उद्भव हुआ है। दीक्षादि के द्वारा

१. अर्थात्, समस्त भावों के मनन और सम्पूर्ण संसार से त्राण के कारण वह मनन-त्राणरूपिणी शक्ति मन्त्ररूपा है।

जो-जो जीव तत्तद् भुवन में जाते हैं, उनका भेद सत्य है, किन्तु शिव और शक्ति का भेद कार्य-भेद के कारण औपाधिक है—'अधिकारी स भोगी च लयी स्यादुपचारतः ।'—अर्थात्, शिव की शक्ति से शोभित महामाया जो-जो कार्य उत्पन्न करती है, उससे उसके अधिष्ठाता शिव और शक्ति में कार्य-भेद और स्थान-भेद के कारण उपचार से तत्तत् संज्ञा का व्यपदेश होता है। दृष्टान्त-रूप से कह सकते हैं कि जैसे शान्ति भुवन के अधिष्ठान और उत्पादन के कारण शक्ति और शिव क्रमशः 'शान्ता' और 'शान्त' संज्ञा प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। मृगेन्द्रागम में लिखा है—

किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् स शास्त्रे शक्तिभेदवत् ।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदस्थानभेदतः ॥

अधिकार-अवस्थापन्न शिव सकल है। वे बिन्दु से अवतीर्ण और अणु-सदाशिवों से आवृत है। ये सब सदाशिव वस्तुतः पशु-आत्मा हैं, शिवात्मा नहीं हैं। इनमें कुछ 'आणव मल' शेष रहता है। इससे उस समय इनकी ज्ञान-क्रियारूपा शक्ति का कुछ संकोच रहता है। ये शिव के समान पूर्णरूप से अनावृत शक्ति-सम्पन्न नहीं होते। यद्यपि ये भी मुक्तपुरुष हैं, तथापि सर्वथा मलहीन न होने के कारण अभी तक इन्हें परामुक्ति या शिवसाम्य प्राप्त नहीं हुआ है। सदाशिव-भुवन के अधिष्ठाता होने के कारण परमेश्वर को भी सदाशिव कहा जाता है। वे स्वयं शिव हैं और पूर्वोक्त अणु-सदाशिवों को अपने-अपने भुवन के भोग में नियोजित करते हैं। तथा विद्येश्वर एवं मन्त्रेश्वरों को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार अशुद्ध अध्वा के अधिकार में नियुक्त करते हैं। यह दो प्रकार का नियोजन व्यापार ही अधिकारावस्था में शिव या सकल शिव का कार्य है। यही उनका प्रेरकत्व और प्रभुत्व है। ये सदाशिवरूपी शिव ही समस्त जगत् के प्रभु-रूप से शुद्ध एवं अशुद्ध समस्त अध्वाओं के मूर्द्धदेश में विराजमान हैं। योगिजन इसी भाव से उनका ध्यान करते हैं। माया के ऊपर शुद्ध अध्वा में अनेक भुवन हैं। प्रत्येक भुवन में तदनुरूप देह एवं करण आदि तथा भोग्यादि हैं। ये विशुद्ध बैन्दव उपादान से रचे हुए हैं। इनमें भी भुवन के ऊर्ध्व एवं अधोभाव से क्रमिक उत्कर्षापकर्ष है। दृष्टान्त-रूप से कह सकते हैं कि विद्या में जो वामा एवं ज्येष्ठादि भुवन हैं, उनमें वामा के भुवन की अपेक्षा ज्येष्ठा का भुवन उत्कृष्ट माना जाता है। इसी प्रकार ज्येष्ठा के भुवन की अपेक्षा रौद्रीका भुवन उत्कृष्ट है इत्यादि। इस विद्या-तत्त्व में सात करोड़ मन्त्र तथा उनकी अधीश्वरी सात विद्याराज्ञी स्थित हैं। ईश्वर-तत्त्व में आठ विद्येश्वर अपने-अपने पुर में विराजते हैं। इनमें शिखण्डी सबसे नीचे हैं और अनन्त सबसे ऊपर। इनमें भी पूर्ववत् क्रमोत्कर्ष है। सदाशिव-तत्त्व में भी ठीक ऐसा ही है।

यहाँ प्रसंगतः पशु-आत्मा के सम्बन्ध में दो-चार बातें बतलाना आवश्यक है। ये सब आत्मा स्वरूपतः नित्य, विभु, चैतन्य एवं अन्यान्य शिवधर्ममय होने पर भी संसारावस्था में इन सब धर्मों के विकास का अनुभव नहीं कर पाते। सर्वज्ञानक्रियारूपा चैतन्यशक्ति जिस प्रकार शिव की है, वैसी ही जीव या पशु-आत्मा मात्र की भी है। किन्तु, भेद यह है कि शिव के स्वरूप में यह सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्वरूपा शक्ति सर्वदा अनावृत

रहती है। पशु में भी यह है तो सर्वदा ही, तथापि अनादिकाल से पाशसमूह के द्वारा अवरुद्ध रहती है। मल, कर्म और माया—इन तीन पाशों में कोई आत्मा एक पाश से बँधा हुआ है, कोई दो से और कोई तीनों से आबद्ध है। जिन आत्माओं में इन तीनों पाशों का बन्धन है, वे 'सकल' कहलाते हैं। जिनकी मायिक कलादि प्रलयादि अवस्थाओं में उपसंहृत हो गये हैं तथा मल और कर्म क्षीण नहीं हुए हैं, उनका शास्त्रीय नाम 'प्रलयाकल' है। विज्ञानादि उपायों के अवलम्बन से कर्मक्षय हो जाने पर जब केवल 'मल' नामक एक ही पाश रह जाता है, तब इस अवस्था में आत्मा-को 'विज्ञानाकल' कहते हैं। ये विज्ञानाकल अथवा विज्ञानकेवली आत्मा भी मल के परिपाकगत तारतम्य के कारण तीन प्रकार के हैं। वे सभी मायातीत हैं, सभी की कर्मवासनाएँ कट गई हैं। किन्तु, किंचित् अधिकार-मल रह जाने के कारण उन्हें शिवसाम्यरूप पूर्णत्व प्राप्त नहीं हुआ है।

उत्तीर्णमायाम्बुधयो भग्नकर्ममहार्गलाः।
अप्राप्तशिवधामानः त्रिधा विज्ञानकेवलाः॥[1]

इन तीन प्रकार के विज्ञानाकल आत्माओं के नाम और परिचय के सम्बन्ध में संक्षेप से कुछ कहा जाता है—

(क) विद्यातत्त्वनिवासी मन्त्र और विद्या—ये संख्या में सात करोड़ हैं तथा विद्येश्वरवर्ग की आज्ञा के अधीन रहते हैं। इनका वासस्थान या भुवन विद्या-तत्त्व में है। विद्येश्वरगण पाशबद्ध 'सकल' जीवों के उद्धार के समय इन मन्त्र और विद्यासंज्ञक विज्ञानाकल आत्मा या देवताओं का अपने अनुग्रह-कार्य के करण-रूप से व्यवहार करते हैं। पञ्चकृत्यकारी होने के कारण विद्येश्वरगण में भी अनुग्राहकत्व है। वामादि विद्याभुवन उत्तरोत्तर रूप से स्थित हैं। देह, भोग, इन्द्रिय आदि का उत्कर्ष इन भुवनों में क्रमशः अधिक है। ज्ञान, योग एवं संन्यासादि उपायों से अथवा भोग के द्वारा कर्मराशि का क्षय होने पर कर्मों के फलभोग के साधनभूत मायिक सूक्ष्म एवं स्थूल देह का आत्यन्तिक विश्लेष हो जाता है। उस समय आत्मा कैवल्य को प्राप्त होकर माया के ऊपर शुद्ध विद्या-तत्त्व को आश्रित करके अणुरूप में स्थित होता है। तब कर्म और माया कट जाने पर भी मल शेष रह जाता है। इस मल के निवृत्त हुए विना आत्मा का पशुत्व नष्ट न होने के कारण उसके शिवत्व-लाभ की सम्भावना नहीं होती। मल परिपक्व न होने तक पशुत्व की निवृत्ति असम्भव है। अतः, ये आत्मा मायातीत एवं केवलीभाव को प्राप्त होने पर भी अपरामुक्ति तक प्राप्त नहीं कर पाते—परामुक्ति की तो बात ही क्या है। सृष्टि के आरम्भ में इन अणु या आत्माओं में से जिनका मल न्यूनाधिक रूप से परिपक्व हो जाता है, उनपर भगवान् स्वयं ही कृपा करते हैं। अर्थात्, उनके अपने-अपने मलपाक के अनुरूप उनमें ज्ञानक्रियाशक्ति उन्मीलित कर देते हैं तथा मन्त्र एवं मन्त्रेश्वर आदि पद पर शुद्ध अध्वा में भोग तथा अधिकार-कार्य में नियोजित कर देते हैं। इनमें जो अत्यन्त शुद्ध होते हैं, वे एक साथ परतत्त्व या

१. अर्थात्, जिन्होंने मायारूप समुद्र को पार कर लिया है, कर्ममय महान् बन्धन को काट डाला है, किन्तु शिव के परम धाम को प्राप्त नहीं किया, वे विज्ञानाकल तीन प्रकार के है।

शिवतत्त्व में नियोजित हो जाते हैं। शेष आत्माओं का मलपाक न होने के कारण उनका आवरण बहुत सघन रहता है। ये विज्ञान कैवल्य अवस्था में ही विद्यमान रहते हैं। आत्मा की स्वाभाविकी चैतन्यरूपा सर्वज्ञानक्रियाशक्ति इस अवस्था में सुप्त रहती है। इसलिए, कैवल्य में भी उनका पशुत्व निवृत्त होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। ये केवली आत्मा कर्महीन होने के कारण जहाँ एक ओर माया के कार्य या मायिक जगत् को पार कर लेते हैं, वहाँ दूसरी ओर महामाया या बिन्दु के कार्यरूप विशुद्ध अध्वा या जगत् में अभी तक प्रवेश भी नहीं कर पाते हैं—ये बीच ही में रहते हैं। आत्मा स्वरूपतः विभु होने के कारण विज्ञान-केवलियों की यह मध्यस्थता औपचारिक मात्र होती है। इसमें सन्देह नहीं कि कैवल्य तन्त्रसम्मत मुक्ति नहीं है।

(ख) ईश्वरतत्त्ववासी विद्येश्वर—ये संख्या में आठ हैं। उनमें 'अनन्त' प्रधान हैं। ईश्वरतत्त्व में इनके आठ भुवन हैं। इनमें भी उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता पाई जाती है। अर्थात्, शिखण्डी से श्रीकण्ठ में विशेष गुण हैं। इनके भुवन भोग, देह और करण आदि भी उनसे श्रेष्ठ हैं। इसी प्रकार, श्रीकण्ठ से त्रिमूर्त्ति अधिक शक्तिशाली हैं। इन विद्येश्वरों में अनन्त ही सबसे श्रेष्ठ और परम ईश्वर (समर्थ) हैं। इनका मल सर्वथा शान्त हो गया है, केवल अधिकार-मात्र की थोड़ी-सी वासना रह गई है। ये सभी शिव द्वारा अनुगृहीत होते हैं। प्रशान्तमलत्व, अधिकारमलसम्बद्धत्व और शिवानुगृहीतत्व मन्त्रगण में भी रहते हैं। किन्तु, ये पंचकृत्यकारी होने के कारण जीवोद्धार-रूप व्यापार में अनुग्रह के कर्त्ता होते हैं और मन्त्रगण अनुग्रह के करण हैं—यही इनका भेद है। इन विद्येश्वरगण के विषय में रौरवागम में लिखा है—

सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः ।[१]

'शिवार्ककरसम्पर्कविकासात्मीयशक्तयः' इस वाक्य के अनुसार इनकी आत्म-शक्तियाँ शिव के अनुग्रहात्मक संस्पर्श से विकसित हो गई हैं।

(ग) सदाशिवतत्त्वस्थ भुवनवासी पशु अथवा संस्कार्य सदाशिव—ये सदाशिव अथवा अधिकरावस्थ शिव के समान पंचकृत्यकारी हैं—सदाशिव-तत्त्व में आश्रित होने के कारण ये सभी सदाशिव नाम से ही परिचित हैं। ये परमेश्वर की कृपा से शुद्ध अध्वा के ऊपर स्थित हैं।

अध्वा में विद्या, ईश्वर और सदाशिव—इन तीन तत्वों के आश्रय से भोक्तृवर्ग के सहित अठारह मुख्य भुवन हैं। प्रत्येक भुवन में उस भुवन के अधीश्वर तो रहते ही हैं। इन आत्माओं में से किन्हीं-किन्हीं ने तत्तद् भुवन के अधिष्ठाता की आराधना करके और किन्हीं ने दीक्षा के प्रभाव से उन भुवनों में स्थान प्राप्त किया है। सूक्ष्म स्वायम्भुव आगम में कहा है—

यो यत्राभिलषेद्भोगान् स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात् ।[२]

---

१. अर्थात्, ये सृष्टि, संरक्षण, संहार, निग्रह (तिरोधान) और अनुग्रह करनेवाले हैं।

२. अर्थात्, जो जिस भुवन के भोगों की इच्छा करता है वह गुरु के द्वारा उसी में नियोजित होकर मन्त्र की शक्ति से सिद्धि प्राप्त करता है।

इस विषय में स्वच्छन्द तन्त्र में भी बहुत आलोचना की गई है।

अब प्रलयाकल और सकल नामक पशु-आत्माओं के सम्बन्ध में संक्षेप से कुछ कहा जाता है। प्रलय के समय ईश्वर समस्त मायिक कार्य का उपसंहार करके स्थित रहते हैं—यह प्रसिद्ध ही है। प्रलय का उद्देश्य दीर्घकाल तक संसार मे परिभ्रमण करने कारण थकी हुई आत्माओं को विश्राम देना, उनके कर्मों का परिपाक करना तथा असंख्य कार्य-परम्परा की उत्पत्ति के कारण जिसकी शक्ति का क्षय हुआ है, उस माया की शक्तिवृद्धि करना है। जिन कला आदि भोगसाधनों के द्वारा आत्मा विषय-भोग करने में समर्थ होते हैं, वे प्रलय-काल में विलीन हो जाते हैं, इसलिए उस समय आत्मा कर्म और मल—इन दोनों पाशों में बँधकर नवीन सृष्टि का आरम्भ होने तक माया के भीतर रहते हैं। इन्हें 'प्रलयाकल या प्रलय-केवल जीव' कहकर वर्णन किया जाता है। यद्यपि तबतक इनका कर्मक्षय नहीं हो पाता, तथापि ये प्रलय के प्रभाव से कलादि-हीन होकर एक प्रकार की कैवल्यावस्था में ही रहते हैं। इनमें से जिनके कर्म और मल सम्यक् प्रकार से परिपक्व हो जाते हैं, उन्हें अधिकार प्रदान करने का अवसर नहीं रहता। मलपाक एवं कर्मपाक के विषय में बहुत-सी जानने योग्य बातें हैं। मलपाक प्रधानतः श्रीभगवान् की शक्ति के सम्बन्ध से ही होता है। कर्मपाक भी किसी अंश में तो मलपाक के ही सदृश है। कर्मों में बहुत भेद रहता है। जो कर्म क्रमशः पक्व होनेवाले हैं, उनका क्षय जीव का देह से सम्बन्ध होने पर भोग के द्वारा ही होता है, और जो एक साथ पक्व होते हैं, उनका क्षय श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही होता है। उन्हें भोग द्वारा क्षय नहीं करना पड़ता।

जिन जीवों के मल, कर्म एवं माया परिपक्व नहीं हो पाते, वे प्रलय-काल में नवीन सृष्टि का आरम्भ होने तक मुग्ध हुए-से विश्राम करते रहते हैं। पीछे जब उन्हें भोग-योग्य अवस्था प्राप्त होती है, तब परमेश्वर अनन्त नामक विद्येश्वर में अपनी शक्ति का सन्निवेश करके उसके द्वारा माया-तत्त्व को क्षोभित करते हैं तथा अशुद्ध जगत् की रचना करते हैं। इस सृष्टि में वे अपक्वपाश जीवकलादि समस्त भोगसाधनों का प्राप्त कर सकल पशुरूप से आविर्भूत होते हैं। इनमें तीनों ही प्रकार के पाश रहते हैं।

इन सकल पशुओं के सिवा एक प्रकार के सकल जीव भी हैं। इनके मल और कर्म परिपक्व हो जाने पर ये सृष्टि के आरम्भ में साक्षात् परमेश्वर का अनुग्रह पाकर उसी के द्वारा माया के गर्भ में स्थित जगत् का अधिकार पाने के लिए अपर मन्त्रेश्वर के पद पर प्रतिष्ठित होते हैं तथा अनन्त की कृपा से आतिवाहिक देह ग्रहण कर 'सकल' नाम से परिचित होते हैं। यह विश्व के व्यापार को सम्पन्न करनेवाला माया के गर्भ में स्थित आधिकारिक मण्डल है। आतिवाहिक देह भी मायिक देह ही है, इसमें सन्देह नहीं। पहले शुद्ध जगत् में माया से ऊपर जिन अधिकारियों के विषय में चर्चा की गई है उनके देह बैन्दव (बिन्दु-जनित) अर्थात्, महामाया रूप उपादान से गठित हैं। किन्तु, परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति के समय उत्पन्न होनेवाला बैन्दव देह इन सकल आधिकारिकगण को भी प्राप्त होता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है, इसलिए भीतर वर्त्तमान रहने पर भी उसके द्वारा सकल पशु के अधिकार या शासन का कार्य नहीं हो

सकता। इसलिए, इस बैन्दव देह के अधिकरण-रूप से एक मायिक देह की आवश्यकता होती है। यह मायिक देह और पूर्वोक्त बैन्दव देह अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं। बैन्दव देह शुद्ध और स्वच्छ होने के कारण बोधमय है और मायिक देह आतिवाहिक होने पर भी वस्तुतः मोहमय होता है। तो भी यह बैन्दव देह के सम्बन्ध से अपनी स्वाभाविक मोहमयता को छोड़कर बोधमय रूप से भासमान होता है। मन्त्रवर्ग के विषय में भी यही नियम है। इसके सिवा ऐसे भी जीव होते हैं, जिनके मल का पाक न होने पर भी पाप का क्षय और पुण्य का उत्कर्ष होने के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न भुवनों में आधिपत्य लाभ के योग्य शरीर मिल जाता है। ये भुवन अंगुष्ठ से कालानलपर्यन्त विभिन्न स्तरों में विभक्त हैं।

अब पशु-आत्मा के निरूपण के पश्चात् पाश के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है; क्योंकि पाश से सम्बन्ध होने के कारण ही आत्मा को पशु-भाव की प्राप्ति और संसार का अनुभव होता है। पाश अचेतन है और चेतन के अधीन, परिणामशाली एवं चैतन्य का प्रतिबन्धक है। मल, कर्म और माया—साधारणतः इन तीन प्रकार के पाशों का ही वर्णन पाया जाता है। इनमें मल ही प्रधान है। शुद्ध आत्मचैतन्यरूपा संवित्शक्ति मलहीना होने के कारण स्वरूप को प्रकाशित करनेवाली है—यह सर्वदा अभिन्नरूपा और परिणामहीना है। तन्त्र-मत में घटपटादि बाह्यभेद भी असत्य नहीं, सत्य ही हैं। इन बाह्य पदार्थों की सन्निधि के कारण बौद्ध ज्ञान में तत्तत् प्रकार के विभिन्न आकारों की उत्पत्ति होती है और उनका आत्मा के बोध में आरोप होता है। किन्तु, अर्थभेद की सन्निधि के कारण बौद्ध ज्ञान में भेद होने पर भी उस ज्ञान की आश्रयभूता आत्मशक्ति अथवा ग्राहक चैतन्य सर्वदा एक रूप में ही भासमान होता है। वह नित्य और निर्विकार है। इस आत्मसंवित् को ही पौरुष ज्ञान कहते हैं। पौरुष ज्ञान से बौद्ध ज्ञान के पार्थक्य का भान न रहने के कारण ही ज्ञान में नानात्व-भ्रम का आविर्भाव होता है। इसका मूल कारण पशुत्व का हेतुभूत मल है।

सा तु संविदविज्ञाता तैस्तैर्भावैर्विवर्त्तते।
मलोपरुद्धदृक्छक्तेर्नरस्येवोडुराट् पशोः॥[१]

जबतक मल की निवृत्ति नहीं होगी, तबतक पशुत्व दूर नहीं होगा और शिवत्व की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। केवल ज्ञान के ही द्वारा मल का नाश होना सम्भव नहीं है। द्वैतमत में मल द्रव्यात्मक है। अतः, जिस प्रकार आँखों की जाली चिकित्सक की अस्त्रोपचाररूपा क्रिया के द्वारा निवृत्त होती है, उसी प्रकार ईश्वर के दीक्षासंज्ञक व्यापार के द्वारा इस मल की निवृत्ति हो सकती है। मल की निवृत्ति का इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। स्वायम्भुव आगम में कहा है—'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि', अर्थात् दीक्षा ही मल को छुड़ाती है और फिर ऊपर की ओर शिवलोक में भी ले जाती है। चित् और अचित् का अविवेक मल[२] से उत्पन्न होता है, अतः उस

---

१. अर्थात्, विशेषरूप से ज्ञात न होने के कारण वह संवित् मलाच्छन्न दृष्टिवाले पुरुष को द्विचन्द्र-ज्ञान के समान विभिन्न भावों से विवर्त्तित (प्रतीत) होती है।

२. नीहार, अंजन, मृत्यु, अविद्या और आवरण आदि 'मल' के ही शास्त्रोक्त अन्य नाम हैं।

मल की निवृत्ति न होने तक पूर्ण विवेक की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस अविवेक से विवर्त्त (अध्यास) का उदय होता है।

मल ही आणव पाश है। यदि आत्मा की नित्य और व्यापक चित्शक्ति का इस आणव पाश से अवरोध न होता, तो संसारावस्था में भोग-निष्पत्ति के लिए कलादि द्वारा अपने सामर्थ्य की उत्तेजना की आवश्यकता न होती तथा मोक्ष के लिए भी परमेश्वर की कृपा या बल का कोई प्रयोजन न होता। मल एक होने पर भी उसकी शक्तियाँ अनेक हैं। उनमें से एक-एक शक्ति के द्वारा एक-एक आत्मा की चित्क्रिया का निरोध होता है। इसी से मल एक होने पर भी एक पुरुष की मल-निवृत्ति के साथ सभी की मल-निवृत्ति का प्रसंग प्राप्त नहीं होता तथा एक पुरुष के मोक्षलाभ से सभी के मोक्ष की आशंका भी नहीं होती। ये मल की शक्तियाँ अपने-अपने रोध और अपसरण-व्यापार में स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु भगवान् की शक्ति के अधीन हैं।

इसीसे भगवत्-शक्ति भी उपचार से अनेक रूप में व्यवहृत होती है। मल-शक्तियाँ अपने-अपने अधिकार के समय चैतन्य का रोध किये रहती हैं। उस समय भगवत्-शक्ति उन शक्तियों का परिणाम करते हुए उनके निग्रह-व्यापार का अनुसरण करती है और 'रोधशक्ति' नाम से कही जाती है। किन्तु, जिस समय वह सर्वानुग्रहशील नित्योद्योगमय सदाशिव के ईशानसंज्ञक मस्तक से निकलती हुई मोक्षप्रकाशिका ज्ञानप्रभा द्वारा अणुवर्ग के हृदय-कमलों को उन्मीलित करती है, उस समय उसी को 'अनुग्रह-शक्ति कहा जाता है। मलाधिकार की समाप्ति न होने तक मुक्ति नहीं हो सकती। मल की यह अधिकार-समाप्ति अपने परिणाम की अपेक्षा से होती है। मल में परिणत होने की योग्यता रहने पर भी वह अपने-आप परिणत होने में समर्थ नहीं है; क्योंकि अचेतन होने के कारण यह सर्वदा सब प्रकार से चित्शक्ति द्वारा प्रयुक्त होनेवाला है। अतः, परमेश्वर की शक्ति के प्रभाव से ही मल का परिणाम होता है—यही युक्तिपूर्ण सिद्धान्त है।

कर्मसंज्ञक पाश के विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वह धर्माधर्मात्मक होता है तथा अदृष्ट एवं बीज आदि नामों से प्रसिद्ध है। कर्म-सन्तान प्रवाह-रूप से अनादि है तथा सूक्ष्म देह के मध्य अवयवभूत बुद्धि-तत्त्व में आश्रित है।

माया नाम से जिस पाश की बात कही गई है, वह माया-तत्त्व से भिन्न है। सृष्टि के आरम्भ में जिस समय मन्त्रेश्वर के द्वारा माया-तत्त्व क्षोभित होता है, उस समय वह कला एवं विद्या आदि तत्त्व-रूप से साक्षात् एवं परम्परा-क्रम से परिणाम को प्राप्त होता है। कला से पृथिवी-पर्यन्त तीस तत्त्वों की समष्टि ही माया का स्वरूप है। पुर्यष्टक एवं सूक्ष्म देह आदि इस माया के ही नामान्तर हैं।[१] यह प्रत्येक आत्मा के लिए अलग-अलग होता है तथा मोक्षकाल-पर्यन्त उसके भोगसाधन-रूप से कर्मानुसार सम्पूर्ण निम्नवर्ती भुवनों में पर्यटन करता रहता है। माया-तत्त्व या मायासंज्ञक पाश एक नहीं है।

---

१. सांख्य और वेदान्तसम्मत सूक्ष्म या लिंग शरीर से तान्त्रिकों का सूक्ष्मशरीर किस अंश में भिन्न है—यह बात सुगमता से समझी जा सकती है। तन्त्र-प्रतिपादित कलादि तत्त्वों का स्थान सांख्य या वेदान्त में न रहने के कारण सूक्ष्म शरीर के लक्षणों में भेद आ गया है। किन्तु, यह शरीर जीवन के भोग-साधनों में प्रधान है—यह बात तो सभी ने स्वीकार की है।

कलादि तत्त्वों की समष्टिरूपा माया साधारण और असाधारण भेद से दो प्रकार की है। साधारण माया अत्यन्त विस्तृत एवं समस्त आत्माओं की भोग्यरूपा भुवनावली की आधारभूता है। बिन्दु की विद्या प्रतिष्ठा और निवृत्ति नाम की कलाओं में यह निश्चल-सी स्थित रहती है। विद्या-कला में माया, कला, काल, नियति, विद्या (अविद्या), राग और प्रकृति—ये सात भुवनाधार हैं, जिनमें अंगुष्ठमात्र भुवन से वामदेव नामक भुवन-पर्यन्त सत्ताईस भुवन अवस्थित हैं। प्रतिष्ठा-कला में गुणों से जल-पर्यन्त तेईस तत्त्वमय भुवनाधार है। इनमें श्रीकण्ठ भुवन से अमरेशभुवन-पर्यन्त छप्पन भुवनों का सन्निवेश है। निवृत्ति-कला में केवल पृथ्वी-तत्त्व है। यह भद्रकालीपुर से कालाग्निभुवन-पर्यन्त एक सौ आठ भुवनों का आधार है। इस साधारण माया के विशाल राज्य में प्रत्येक आत्मा के भोगसाधनभूत संकोच-विकासशील सूक्ष्मदेहमय असंख्य तत्त्वों की समष्टि इधर-उधर संचार करती रहती है। इन्हें असाधारण माया या पुर्यष्टक कहते हैं। तत्तत् भुवन से उत्पन्न हुए स्थूल देहों के साथ जब इन सूक्ष्म देहों का सम्बन्ध होता है, तब उनमें अपने-अपने कर्मों को भोगने की योग्यता उत्पन्न होती है।

माया-तत्त्व नित्य, विभु और एक है। किन्तु, इसमें विचित्र शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में यह ईश्वर-शक्ति के द्वारा क्षुब्ध होकर कला, काल और नियति इन तत्त्वों को उत्पन्न करता है। इनमें कला-तत्त्व मल शक्ति को किञ्चित् अभिभूत करके आत्मा की चैतन्य-शक्ति का किञ्चित् उद्बोध करता है। इसके परिणाम में आत्मा का स्वरूप उसके द्वारा अनुविद्ध होने के कारण उसमें अपने व्यापार के लिए स्वल्प मात्रा में कर्त्तृत्व-भाव का विकास होता है। मल आत्मा का पराभव न करने पर भी उसकी शक्ति का रोध तो करता ही है। शक्ति ही करण है, अतः कला-तत्त्व आत्मशक्ति के मल-रूप आवरण को थोड़ा-सा हटाकर तथा आत्मा के कर्त्तृत्व को किञ्चित् मात्रा में उद्बुद्ध करके आत्मा की अपने कर्मफल-भोग में सहायता करता है। बुद्धि-तत्त्व का विषय से उपरञ्जित होना ही आत्मा का भोग है। यह एक प्रकार का संवेदन है, जिसका स्वरूप प्रवृत्तियों में अभिन्न रूप से भासित होता है।

अनन्त नामक विद्येश्वर के द्वारा ही माया का क्षोभ होता है—यह बात पहले कही जा चुकी है। तान्त्रिक आचार्यगण माया के क्षोभ में परमेश्वर का साक्षात्-कर्त्तृत्व स्वीकार नहीं करते। उनका प्रयोजकत्व तो अवश्य मानते हैं; क्योंकि उनसे अधिष्ठित हुए विना अनन्तादि का कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है। किरणागम में लिखा है—

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्त्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः।[१]

माया जो इस प्रकार विचित्र भुवनादि एवं नाना प्रकार के देह और इन्द्रिय-रूप से, अर्थात् कर्मफल-भोग के साधन-रूप से परिणत होती है, वह विविध बन्धनयुक्त सकल-संज्ञक पशु के लिए ही है। इन पशुओं में आत्मा में आत्माभिमान-रूप मायामय बन्धन, सुख-दुःख एवं मोह का हेतुभूत विपर्यय तथा अशक्ति प्रभृति भावप्रत्ययात्मक कर्ममय बन्धन और पशुत्व की प्राप्ति करनेवाला अनादि आवरणमय आणव बन्धन

१. अर्थात्, शुद्ध अध्वा में 'शिव' कर्त्ता है तथा अशुद्ध में 'अनन्त' कर्त्ता कहा गया है।

रहते हैं। तन्त्रमत से शरीरी और अशरीरी आत्मा के कर्त्तृत्व में कुछ भेद है, इसलिए परमेश्वर का अपनी शक्ति द्वारा किया हुआ बिन्दु या महामाया का विक्षोभ और अपनी शक्ति द्वारा अनन्त का किया हुआ माया का विक्षोभ ये दोनों सर्वथा एक प्रकार के व्यापार नहीं हैं। शिव की अपनी शक्ति शुद्धा संवित् अर्थात्, विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान है। किन्तु, अनन्त की अपनी शक्ति सविकल्पक ज्ञान, अर्थात् विकल्प-विज्ञान है। शरीर एवं इन्द्रिय आदि के साथ सम्बन्ध न रहने पर कर्त्तृत्व नहीं हो सकता—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अशरीर आत्मा का भी अपने देह के स्पन्दनादि में कर्त्तृत्व देखा जाता है। आत्मा के साथ मल आदि का सम्बन्ध होने पर ही शरीरादि की आवश्यकता होती है। शिव मलहीन हैं, अतः उनके कर्त्तृत्व में शरीरादि की अपेक्षा नहीं है। मायापति अनन्त सर्वथा निर्मल नहीं हैं; क्योंकि उनमें अधिकार-मल रहता है। उनका शरीर बैन्दव या महामाया के उपादान से रचा हुआ है—यह बात पहले कही जा चुकी है। अनन्तादि को यह सविकल्पक ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है—यह बात जानने योग्य है। तन्त्र का मत तो ऐसा है कि 'यह घट है', इस प्रकार परामर्श स्वरूप शब्दोल्लेख होने पर आत्मा को सविकल्पक ज्ञान होता है—'सविकल्पक-विज्ञानं चितेः शब्दानुवेधतः।'[१] अर्थात्, चेतन को शब्दानुवेध से सविकल्पक ज्ञान होता है। अतः, अनन्त के विकल्प-विज्ञान में भी शब्दोल्लेख अवश्य रहता है—यह बात स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु, यह शब्दोल्लेख किस प्रकार सम्भव है? हम जिस समय की आलोचना कर रहे हैं, उस समय अशुद्ध जगत् की तो उत्पत्ति ही नहीं हुई थी; क्योंकि माया का क्षोभ होने पर ही उसके परिणाम में इस जगत् की उत्पति होती है। इसी से तान्त्रिक लोग स्थूल आकाश को इस शब्द के अभिव्यञ्जक रूप से स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि परमेश्वर-जनित महामाया या बिन्दु का क्षोभ होने पर ही शब्द की उत्पत्ति होती है। महामाया ही कुण्डलिनी या परव्योम-स्वरूपा है। इसका ही परिणाम शब्द है। पंचभूतों में आदिभूत आकाश जैसे अवकाश-दान तथा स्थूल शब्द के अभिव्यंजन से सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मण्डल का भोग एवं अधिकार सम्पादन करता है, उसी प्रकार बिन्दु-रूप परमाकाश भी अवकाश-दान तथा शब्द-व्यंजन के द्वारा शुद्ध जगत्-निवासी शिवों को, अर्थात् सर्वज्ञत्व एवं कर्मकर्त्तृत्वसम्पन्न विद्येश्वरों के भोग तथा अधिकार का कारण बनता है।

बिन्दु परा-पश्यन्ती प्रभृति अपनी शब्दात्मिका वृत्तियों के सम्बन्ध से 'यह घट लाल है', इस प्रकार के परामर्श-रूप विकल्प का उल्लेख करते हुए सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है। जात्यादिविशेषणविशिष्ट सविकल्पक ज्ञान शब्दानुविद्ध (Conceptual) होकर ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षानुभव है। इसको पूर्वानुभूत वासनात्मक संस्कार अथवा भावना-रूप में ग्रहण करने का कोई कारण नहीं है।

---

१. चिन्तना thinking के साथ भाषा language का सम्बन्ध सभी ने स्वीकार किया है। शब्दोल्लेख का अतिक्रमण किये बिना चिन्ता-राज्य thought या विकल्प-भूमिका-भेद नहीं किया जा सकता। इसी से योगी 'स्मृतिपरिशुद्धि' का अनुशीलन करते हैं। बौद्ध भी शब्दात्मक ज्ञान को 'कल्पना' कहते हैं। उसे प्रत्यक्ष नहीं मानते।

अध्यवसाय बुद्धि का कार्य है। इसलिए, कोई-कोई इस सविकल्पक अनुभव को भी बुद्धि का ही कार्य समझते हैं। परन्तु, तान्त्रिक दृष्टि में अध्यवसाय बुद्धि का परिणाम होने पर भी विकल्प-ज्ञान का उद्भव बिन्दु के कार्य शब्द की सहकारिता से ही होता है। माया के ऊपर बुद्धि नहीं है—यह बात सत्य है, परन्तु विद्येश्वर प्रभृति शुद्ध जगत्-वासियों का विकल्पानुभव बुद्धिजनित नहीं है, उसका एकमात्र निमित्त वाक्-शक्ति ही है। अनन्त किस प्रकार विकल्प-ज्ञान के द्वारा माया को क्षुब्ध करके जगत् की सृष्टि करते हैं—यह बात पूर्वोक्त वर्णन से हृदयंगम हो सकती है।

इस सविकल्पक ज्ञान से अनन्त के कर्त्तृत्व का एक दूसरी प्रक्रिया से भी उप-पादन किया जाता है। परन्तु, उस प्रक्रिया का सर्वत्र समादर न होने के कारण यहाँ उसका वर्णन नहीं किया जाता।

बिन्दु की शब्दात्मिका वृत्ति वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा भेद से चार प्रकार की है।[१] अणु, अर्थात् जीवमात्र में ही इस वृत्तियों की सत्ता रहती है। इन वृत्तियों के भेद से किसी का ज्ञान उत्कृष्ट, किसी का मध्यम और किसी का अपकृष्ट माना जाता है। इनका अतिक्रमण करने से पुरुष को शिवत्व-लाभ अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इससे पहले नहीं।

शैव तथा शाक्ताद्वैत-सिद्धान्तों का बहुत अंशों में सादृश्य है। पहले हमने जिस द्वैतदृष्टि की आलोचना की है, उससे अद्वैत दृष्टि का किसी-किसी अंश में मतभेद है, किन्तु यहाँ उनका विशेष विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। इस मत के अनुसार

---

१. ये चार वृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. वैखरी—यह श्रोत्रग्राह्य अर्थवाचक स्थूल शब्द है। कण्ठप्रभृति स्थानों से आघात होनेपर वायु वर्ण का आकार धारण करता है। साधारणतः यह शब्द प्राण की वृत्ति को आश्रय करके प्रयुक्त होता है, इसलिए इसका उद्भव आकाश तथा वायु दोनों से माना जाता है।

२. मध्यमा—यह प्राणवृत्ति के अतीत श्रोत्र का अविषय तथा अन्तः संकल्प-रूप, अर्थात् चिन्तन के रूप में भीतर-ही-भीतर चलनेवाला है। परामर्शज्ञान इसी का नामान्तर है। यह शुद्ध बुद्धि का परिणाम है और क्रमविशिष्ट है। यही स्थूल शब्द का कारण है।

३. पश्यन्ती—इसका नामान्तर अक्षर बिन्दु है, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। यह स्वयंप्रकाश और वर्णों के अविभाग के कारण क्रमहीन है।

४. परा अथवा सूक्ष्मा—इसका कहीं-कहीं 'नाद' के नाम से भी वर्णन किया जाता है। यह अभिधेयबुद्धि का बीज है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय एवं प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न है। सुषुप्ति-अवस्था में भी इनकी निवृत्ति नहीं होती। परा वाक् के स्वरूप से पुरुष के स्वरूप का पृथक् रूप से साक्षात्कार करने पर ही पुरुष का भोगाधिकार निवृत्त होता है। यही मुख्य विवेक ज्ञान है। जबतक इसका उदय नहीं होता, तबतक शब्दानुविद्ध ज्ञान से अतीत विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। सांख्यसम्मत सत्वपुरुषान्यताख्याति अथवा विवेकख्याति से तन्त्रप्रसिद्ध आत्मा की स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती। इसलिए, सांख्योक्त कैवल्य को आगम में कहीं मोक्ष-रूप में ग्रहण नहीं किया गया। वस्तुतः, इस अवस्था में न तो आत्मा का पशुत्व ही निवृत्त होता है और न उसमें शिवत्व की अभिव्यक्ति ही होती है। इस प्रकार के केवली पुरुष में परा वाक् का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। दीक्षा के प्रभाव से मल निवृत्त न होने पर पुरुष और परा वाक् का स्वरूपगत अविवेक दूर नहीं होता।

आत्मा चित्, अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। उसकी विमर्शरूपा शक्ति उससे अभिन्न है। यह शक्ति वाक्-रूपा है।[१] इसकी परावस्था का 'पूर्णाहन्ता' नाम से वर्णन किया जाता है। इसका स्वरूप सर्वदा प्रकाशमय महामन्त्रात्मक है, जिसके गर्भ में अकार से क्षकारपर्यन्त समस्त शक्तिचक्र निहित हैं। परा वाक् पश्यन्ती आदि क्रम से उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न भूमियों को प्रकाशित करती है। वस्तुतः; आत्मा अपनी शक्ति से ही विमोहित होकर अपने पञ्चकृत्यकारित्व को मानों भूला रहता है।[२] इसका मूल उसकी अपनी इच्छा या स्वातन्त्र्य है। फिर, जब स्वेच्छा से, अर्थात् शक्तिपात के प्रभाव से उसका बल उन्मीलित होता है, तब वह पूर्ण सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वादि रूप अपने पारमेश्वरिक स्वभाव में सदा के लिए स्थित हो जाता है।

आणवादि तीन प्रकार का मल संकुचितज्ञानात्मक ही है। इसके द्वारा जिस परिच्छिन्न ज्ञेय पदार्थ का भान होता है, वह भी वस्तुतः ज्ञान से भिन्न नहीं है। अ से क्ष तक मातृका या वर्णों से ये सब ज्ञान अधिष्ठित हैं। वर्णों से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है, इसलिए तन्त्रों में इन्हें विश्वजननी मातृका रूप से वर्णन किया गया है। अज्ञात रहने पर ये सब बन्धन का कारण होती हैं, परन्तु सम्यक् प्रकार से ज्ञान का विषय होने पर इन्हीं से परा सिद्धि की प्राप्ति होती है। मलात्मक ज्ञानत्रय चाहे निर्विकल्प हो, चाहे सविकल्प, दोनों ही अवस्थाओं में शब्दानुविद्ध रहता है। मातृकाओं के प्रभाव से तत्तत् ज्ञान तत्तत् शब्दों के अनुवेध द्वारा हर्ष-शोक-प्रभृति विभिन्न भावों का आकार धारण करते हुए अष्टवर्ग, निवृत्त्यादि पञ्च कला तथा कलादि छह अध्वाओं की अधिष्ठात्री ब्राह्मी प्रभृति शक्ति-कोटि में भासमान होते हैं। अम्बिकादि शक्तिमण्डल का प्रभाव भी इन पर पड़ता है। मातृकाओं के अधिष्ठान से ही ज्ञान में, अर्थात् पूर्णाहन्ता में अभेदानुसन्धान का लोप होता है और ज्ञानसमूह प्रत्येक क्षण में बहिर्मुख होकर बन्धन के हेतु होते हैं।

अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा—ये चार शक्तियाँ सब शक्तियों की कारण हैं। अकारादि मातृका ही कला देवी रश्मि आदि विभिन्न नामों से कही जाती है। ये सब स्थूल वर्णरूप में तथा पद और वाक्यों की योजना से अनेक प्रकार के लौकिक एवं अलौकिक शब्द-रूप में परिणत हो जाती हैं। इन कलाओं के प्रभाव से पशुओं का ज्ञान शब्दानुविद्ध होने के कारण कहा जाता है कि पशु कलाओं के अधीन अथवा उनका भोग्य है। इन्हीं के प्रभाव से जो ज्ञानाभास अथवा आणव, मायीय एवं कार्म

---

१. द्वैतमत में परावाक् बिन्दु की वृत्तिविशेष है। इसका अतिक्रम करने पर मोक्ष प्राप्त होता है। बिन्दु शुद्ध होने पर भी जड है। परन्तु, अद्वैतमत में परावाक् परमेश्वर की स्वतन्त्र शक्ति का ही नामान्तर है और वह चिद्रूपा है। यह पूर्णावस्था में आत्मा या परमेश्वर में अभिन्न रूप से रहती है।

२. वस्तुतः, मायिक दशा में भी आत्मा का पञ्चकृत्यकारित्व सर्वथा आवृत नहीं होता। जो पुरुष भक्तिपूर्वक अपने पञ्चकृत्यकारित्व-रूप स्वभाव का दृढ भावना के साथ सर्वदा परिशीलन कर सकता है, उसका परमेश्वर-भाव खुल जाता है। वह जगत् को अपने स्वरूप का विकास समझकर जीवन्मुक्त पद में आरोहण कर सकता है। उस समय सभी जागतिक पदार्थ उसे अपनी आत्मा के साथ अभिन्न रूप में प्रतीत होने लगते हैं और उसके सब बन्धन कट जाते हैं।

मल उत्पन्न होता है, उसके द्वारा पशु का अपना विभव, अर्थात् ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। 'मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ' यह ज्ञानाभास 'मायामल' है तथा 'मैं यज्ञादि करता हूँ', इस प्रकार का ज्ञानाभास 'कर्ममल' कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब अनावृत प्रकाश ही जगत् का स्वभाव है, तब बन्धन का आविर्भाव कहाँ से होता है; क्योंकि अद्वैतमत में चित्प्रकाश को छोड़कर तो दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। इस प्रश्न के समाधान में आचार्यों का कथन है कि परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से सबसे पहले अपने स्वरूप को आच्छादित करनेवाली महामाया शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। उसके कारण आकाशवत् स्वच्छ आत्मा में संकोच का आविर्भाव होता है, जो अनाश्रित अथवा शिव-तत्त्व से मायाप्रमाता तक सर्वत्र व्यापक है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की हानि ही इस संकोच का स्वरूप है। वस्तुतः, यह अभिन्न परमेश्वर-भाव का अस्फुरण है। इसीका नाम अपूर्णमन्यता या आणव मल है। इसी को अज्ञान[1] भी कहा जाता है। आगम की परिभाषा में इसे अख्याति भी कहते हैं, जिसका स्वरूप आत्मा में अनात्मभाव का अभिमान है। यह अज्ञानात्मक ज्ञान तो बन्धन है ही, परन्तु अनात्मा में आत्माभिमान-रूप अज्ञानमूलक ज्ञान भी बन्धन ही है। इसीलिए आणव मल दो प्रकार का है—

१. चिदात्मा में स्वातन्त्र्य का अप्रकाश, अर्थात् अपूर्णम्मन्यता। यह मल विज्ञानाकल पशु में रहता है।

२. स्वातन्त्र्य रहते हुए भी देहादि अनात्माओं में अबोधात्मक आत्माभिमान।

विश्व का कारण माया है, जिसका नामान्तर योनि है। उससे होनेवाले कला से पृथिवी-पर्यन्त तत्त्वसमूह, जिनसे कि विभिन्न भुवन देह एवं इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति होती है, मायामल है। इसको आश्रित करके जो शुभाशुभ कर्मों का अनुष्ठान होता है, वह कर्म-मल है। कलादि तत्त्व आणव मल की भित्ति से सम्बद्ध होकर ही पुरुष का आच्छादन करते हैं, इसलिए मलपदवाच्य हैं।

मलत्रय और कलासमूह की अधिष्ठात्री मातृकाशक्ति है—यह बात पहले कही जा चुकी है। इसमें अभेदज्ञान की अधिष्ठात्री अघोराशक्ति है, जिसके प्रभाव से भीतर-बाहर आत्मभाव की स्फूर्त्ति होती है तथा भेदज्ञान की अधिष्ठात्री घोरा शक्ति है, जिससे बहिरुन्मुखभाव और स्वरूप का आवरण होता है।

परावाक् प्रसृत होकर पहले इच्छा, ज्ञान क्रियारूप को प्राप्त होता है, उसके पश्चात् मातृका-रूप में परिणाम होता है। इनमें स्वरवर्णों में बीज अथवा शिवांश तथा व्यञ्जनों में योनि अथवा शक्त्यंश प्रबल रहते हैं। ये वर्ण तत्तत् प्रमाता में सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों ही अवस्थाओं अन्तःपरामर्श के द्वारा स्थूल एवं सूक्ष्म शब्दोंका उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार, वर्गादि के देवताओं के अधिष्ठान से राग-द्वेष, सुख-दुःख, भय आदि की स्फूर्त्ति होती है और संकोचहीन स्वतन्त्र चिद्घन आत्मा का स्वरूप आच्छन्न होकर परिच्छिन्न एवं परतन्त्र देहादिमय-भाव का आविर्भाव होता है।

१. इस प्रसंग में पौरुष अज्ञान तथा बौद्ध अज्ञान भेद से दो प्रकार के अज्ञान की आलोचना करनी चाहिए।

ये सब महाघोरा पशुमातृका-शक्तियाँ भेदज्ञान उत्पन्न करती है, और ब्रह्मग्रन्थि के आश्रय से विद्यमान रहती हैं। पशुओं के अधःपतन का मूल कारण ये ही हैं। तत्त्वलाभ करने पर भी जबतक पुरुष सम्यक्तया प्रमादहीन नहीं होता, तबतक इन सब शक्तियों से शब्दानुवेधपूर्वक मोह-गर्त्त में गिराये जाने की आशंका रहती ही है।[1]

प्रकाश तथा विमर्श के विषय में संक्षेप में और भी दो-एक बात कहना उचित जान पड़ता है। सृष्टि आदि समस्त व्यापारों के मूल मे प्रकाश तथा विमर्श दोनों ही की सत्ता रहती है, यह प्रसिद्ध है। पराशक्ति स्वातन्त्र्य के उन्मेष से जिस समय अंतर्लीन अवस्था में छोड़कर अभिव्यक्त होती है, उसी समय विश्वरूप चक्र का आवर्त्तन होता है। वस्तुतः, अभिव्यक्ति शक्ति या विमर्श की ही होती है, प्रकाश में तो उसका उपचार-मात्र होता है। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि तत्त्व-मात्र ही शक्ति के स्वातन्त्र्योल्लास की अवस्थाविशेष है। इसलिए, शिव-तत्त्व भी तत्त्व होने के कारण शक्तिकोटि में गिना जाता है। अतः प्रकाश और विमर्श एक प्रकार से परम-विमर्श के ही रूप-भेद मात्र हैं। शुद्ध उसमें अन्तर्लीन रहता है। इसलिए तत्त्वों का विचार करने के प्रसंग में प्रकाश एवं विमर्श दोनों ही विमर्शात्मक अथवा शक्त्यात्मक होने के कारण उनमें अंश-कल्पना की जाती है।

वामकेश्वरतन्त्र के मत से प्रकाश के चार अंश हैं और उससे अविनाभूत विमर्श के भी चार ही अंश हैं। प्रकाशांशों के नाम अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री हैं तथा विमर्शांशों के नाम शान्ता, इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। अम्बिका तथा शान्ता की सामरस्यावस्था में शान्ताभावापन्ना पराशक्ति परावाक् नाम से प्रसिद्ध है। यह आत्म-स्फुरण की अवस्था है।

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला।
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ॥[2]

इस आत्मस्फुरण की अवस्था में समग्र विश्व बीजरूप में, अर्थात् अस्फुट रूप में आत्मसत्ता में वर्त्तमान रहता है। इसके बाद शान्ता से इच्छा का उदय होने पर वह अव्यक्त विश्वशक्ति के गर्भ से निकलता है। इच्छा-शक्ति उस समय वामाशक्ति से तादात्म्य-लाभ करती है और पश्यन्ती वाक् नाम से परिचित होती है। इसके पश्चात् ज्ञान-शक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति ज्येष्ठा के साथ अभिन्न है और मध्यमा वाक् नाम से परिचित है। यह शक्ति सृष्ट विश्व की स्थिति का कारण है। ज्ञान के

---

१. ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥

अर्थात्, वह देवी भगवती महामाया ज्ञानियों के चित्तों को भी बलात् खींचकर मोह में डाल देती है। यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि माहेश्वरी प्रभृति पूर्वोक्त शक्तियों को भी मोह हो जाता है।

२. जिस समय वह पराशक्ति अपने स्फुरण को देखती है, उस समय वह अम्बिका-रूप को प्राप्त हुई 'परावाक्' कही जाती है।

अनन्तर क्रियाशक्ति रौद्री के साथ एक होकर वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। प्रपञ्चात्मक वाग्वैचित्र्य वैखरी का ही स्वरूप है।

यह चार प्रकार की वाक् परस्पर मिलकर मूलत्रिकोण अथवा महायोनि के रूप में परिणत होती है। शान्ता और अम्बिका का सामरस्य, अर्थात् परावाक् ही इस त्रिकोण का बिन्दु या केन्द्र है। यह नित्य स्पन्दमय है। पश्यन्ती इसकी वाम रेखा है, वैखरी दक्षिण रेखा है और मध्यमा सरल अग्ररेखा (Base) है। मध्यस्थ महाबिन्दु ही अभिन्न विग्रह शिव और शक्ति का आसन है। यह त्रिकोणमण्डल चित्कला के प्रभाव से उज्ज्वल है। इसके बाहर क्रमविन्यस्त रूप से शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति—इन पाँच कलाओं का आभामय स्तर विद्यमान है। इन स्तरों की समष्टि ही जगत् का रूप है। अतएव, भूपुर से महाबिन्दु-पर्यन्त[1] विस्तृत समस्त विश्वचक्र ही उस महाशक्ति का विकास है। मध्यत्रिकोण बिन्दुविसर्गमय है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसकी प्रत्येक रेखा ही पंचस्वरमय है। पंचदशस्वरात्मक इस त्रिकोणमण्डल का बिन्दुस्थान विसर्ग (अः) कलाओं से आक्रान्त है। इस त्रिकोण के स्पन्दनों से अष्टकोण कल्पित होते हैं। यह रौद्री शक्ति का रूप है और शान्त्यतीत कला से उज्ज्वल रहता है। इसका प्रत्येक स्तर ही प्रकाश तथा विमर्शमय, अर्थात् शब्द और अर्थमय है। तत्तत् वर्ण (वाचक) और तत्तत् तत्त्व (वाच्य) का तादात्म्य तत्तत् चक्रांश में प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। समस्त चक्र में 'अ' कार से 'क्ष' कार-पर्यन्त वर्णमाला तथा शिव से पृथिवी-पर्यन्त तत्त्वसमूह अभिव्यक्त होते हैं। साधक जिस समय कुण्डलिनी के जागरण के बाद उत्तरोत्तर ऊपर की ओर उठने लगते हैं, अथवा इष्ट देवता के स्वरूपभूत चक्र के भीतर प्रवेश करने लगते हैं, उस समय वस्तुतः इस विश्वचक्र में ही उनकी यात्रा चलती है। अकुल से महाबिन्दु-पर्यन्त विस्तृत महामार्ग के भीतर जितने अवान्तर चक्र हैं, उनकी समष्टि ही विश्वचक्र है। इसमें अकुल से आज्ञा-चक्र-पर्यन्त अंश सकल और आज्ञाचक्र से ऊपर बिन्दु से उन्मना-पर्यन्त अंश सकल-निष्कल एवं उन्मना के बाद महाबिन्दु अंश निष्कल है।[2] वस्तुतः यह महाबिन्दु ही

---

१. तान्त्रिक साहित्य में देवतामात्र का यान्त्रिक रूप वासना-भेद से जगत् का ही रूप है। प्रत्येक यन्त्र में सब से बाहर जो चतुष्कोण अंकित किया जाता है, उसका नाम 'भूपुर' है। वही विश्वनगर का प्राकार-स्वरूप है। पूर्वादि किसी भी मार्ग से उसमें प्रविष्ट होकर क्रमशः भीतर की ओर अग्रसर होना ही साधन-मार्ग का उत्कर्ष है। इन यन्त्रों में सर्वत्र ही मध्य, अर्थात् केन्द्र में जो बिन्दु रहता है, वही अन्तिम भूमि का सूचक होता है। इस भूमि में सर्वशक्ति-समन्वित परमेश्वर का अपरोक्षतया अनुभव, अर्थात् साक्षात्कार होता है।

२. योग-मार्ग के सकलांशों में सबसे पहले अकुल अथवा विषुवत् स्थान है। इसके अनन्तर अष्टदल के बाद षड्दलविशिष्ट कुलपद्म की स्थिति है। यहाँ से आगे का सारा मार्ग ही 'कुलमार्ग' नाम से प्रसिद्ध है। षड्दल कमल के ऊपर मूलाधार और उसके ऊपर शक्ति या हल्लेखा का स्थान है। यह अनंगादि देवताओं से परिवेष्टित है और आधार-कमल से ढाई अंगुल ऊपर नील-वर्ण की कर्णिका के भीतर प्रतिष्ठित है। हल्लेखा से दो अंगुल ऊपर स्वाधिष्ठान कमल का स्थान है। इसके बाद क्रमशः मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र (अष्टदलकमल) और अन्त में आज्ञाचक्र है। अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र के बिम्ब भी इस सकल मार्ग में

विश्व का हृदय है—यही विश्वातीत परमेश्वर अथवा शिव-शक्ति का आविर्भाव-स्थान या आसन है।

वस्तुतः, महाबिन्दु ही सदाशिव है, जिसके ऊपर चित्कला अथवा चिच्छक्ति स्वातन्त्र्यमयी होकर खेलती है। यह खेल परावाक् या परामात्रा का विलास है। शुक्ल तथा रक्त बिन्दुरूप प्रकाश-विमर्शात्मक काम-कलाक्षर के परस्पर संघट्ट से चित्कला की अभिव्यक्ति होती है।[1] महाबिन्दु के स्पन्दन से तीनों विलीन बिन्दु अलग-अलग होकर रेखा रूप में परिणत हो महात्रिकोण का आकार धारण

दृष्टिगोचर होते हैं। मूलाधार में अग्निबिम्ब, अनाहत में सूर्यबिम्ब और विशुद्ध चक्र में चन्द्र-बिम्ब का दर्शन होता है। आज्ञाचक्र के ऊपर बिन्दु से उन्मना-पर्यन्त भूमियों के नाम ये हैं—बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका या व्यापिनी, समना और उन्मना। इतना मार्ग सकल-निष्कल है। अर्धचन्द्रादि कलाएँ बिन्दु का भेद करने के बाद ही क्रमशः मिलती हैं। उन्मना तक पहुँचने पर काल की कलाएँ, तत्त्व, देवता और मन सर्वथा निरुद्ध हो जाते हैं। ये ही तन्त्रशास्त्र में निर्वाणात्मक 'रुद्रवक्त्र' नाम से कहे गये हैं। यह अन्तिम भूमि सर्वथा निराकार, उच्चारहीन, शून्यमय एवं विश्वातीत है। इसके बाद महाबिन्दु ही निष्कल भूमिस्वरूप है। इसका दूसरा नाम सादाख्य अथवा सदाशिव रूपी आसन है। इसी पर तत्त्वातीत शिव और शक्ति का खेल होता है। यह सब योगमार्ग चक्रवेध के क्रम से दिखाया गया है। उपासना के क्रम से भी इसका भेद दिखाया जा सकता है। श्रीचक्र में प्रविष्ट होकर क्रमशः तत्त्वातीत अवस्था में चलने के मार्ग में तीन विभाग दिखाई देते हैं—(१) चतुष्कोण से त्रिकोण तक, (२) बिन्दु से उन्मना तक और (३) महाबिन्दु। इनमें दूसरा और तीसरा विभाग पूर्वोक्त सकल-निष्कल तथा निष्कल मार्गों से सर्वथा अभिन्न है और पहला विभाग पूर्वोक्त सकल मार्ग का ही नामान्तर है। किन्तु, दोनों में वासना-भेद रहने के कारण उनके स्थान एवं उपाधियों में भेद हो गया है। अतएव भूपुर, षोडशदल, अष्टदल, चतुर्दश-कोण, बाह्य दशकोण, आन्तर दशकोण, अष्टकोण और त्रिकोण इतना अंश सुषुम्णा-मार्ग में निम्नतम अकुल से आज्ञाचक्र-पर्यन्त अवस्थित हैं। इसके बाद बिन्दु में प्रतिष्ठित होने पर भिन्न वासना न रहने के कारण आगे की भूमियों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

१. तत्त्वातीत अवस्था में शिव और शक्ति का सामरस्य रहता है। उस समय विश्व शक्ति के गर्भ में अन्तःसंहृत भाव से, अर्थात् शक्ति के साथ अभिन्न रूप से, विद्यमान रहता है। परन्तु, जब पराशक्ति स्वेच्छा से अपने स्फुरण को स्वयं ही देखती है, तभी विश्व की सृष्टि होती है। वस्तुतः, इस स्फुरण का दर्शन ही विश्व-दर्शन है और विश्व-दर्शन ही विश्व की सृष्टि है। इस अवस्था में दृष्टि ही सृष्टि है। अनुत्तर दशा में स्वरूप में अभिन्नतया रहने पर भी विश्व देखा नहीं जाता। इसी से वह अवस्था सृष्टि-व्यापार नहीं है। इस दृष्टि या सृष्टि-व्यापार में शिव तटस्थ रहते हैं। उनकी स्वरूपभूता स्वातन्त्र्य-शक्ति ही सब कुछ करती है। शिव अग्निस्वरूप हैं, संवर्त्तानल अथवा प्रलयानल स्वरूप। शक्ति सोमस्वरूप है, विवर्त्तचन्द्रस्वरूपा। दोनों का साम्य ही तान्त्रिक भाषा में बिन्दु नाम से कहा जाता है। इस बिन्दु का ही दूसरा नाम रवि अथवा काम है। इसका क्षोभ, अर्थात् साम्य का भंग होने पर ही सृष्टि का प्रारम्भ होता है। साम्यावस्था में अग्नि और चन्द्ररूपी रक्त एवं शुक्ल बिन्दु (अ-ह) सूर्य रूप में अभिन्न रहता है। क्षुब्ध होने से ही चित्कला का आविर्भाव होता है। अग्नि के ताप से जैसे घृत पिघलकर बहने लगता है, उसी प्रकार प्रकाश-स्वरूप अग्नि के सम्बन्ध से विमर्शरूपा शक्ति का स्राव होता है। इस प्रकार, श्वेत और रक्त बिन्दुओं के बीच से चित्कला का निःसरण होता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति का यही रहस्य है।

करते हैं। इसीसे शिव से पृथिवी-पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों से बने हुए समस्त विश्व का आविर्भाव होता है।

इस महात्रिकोण में चार पीठ हैं। प्रत्येक पीठ में ही विश्व का रूप भासमान होता है। स्वरूप से उसका भान बीजरूप से होता है। और बाहर सृष्टिरूप से। 'पीठ' शब्द से प्रकाश और विमर्श की मात्राओं का साम्यभाव समझना चाहिए। जैसे, अम्बिका और शान्ता शक्तियों का सामरस्य कामरूप पीठ है, उसी प्रकार अन्यान्य पीठ भी समझने चाहिए। कामरूप पीठ पीतवर्ण चतुष्कोण आकार में आधार-स्थान में दीख पड़ता है। इसका दूसरा नाम मन है। इसमें जब बिन्दु-चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब उसे स्वयम्भूलिंग कहते हैं। वस्तुतः, यह पीठ महात्रिकोण का अग्रकोण-स्वरूप है, इसी प्रकार त्रिकोण के अन्य दो कोण पूर्णगिरि एवं जालन्धर पीठ नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें प्रतिफलित होनेवाला चैतन्य इतरलिंग और बाणलिंग कहलाता है। ये दोनों बुद्धि और अहंकार के ही नामान्तर हैं। देह में इनके स्थान हृदय और भ्रूमध्य हैं। मध्य बिन्दु उड्डीयान या श्रीपीठ है। यह चित्तस्वरूप है। इसमें जो ज्योति प्रतिबिम्बित है, उसका नाम परलिंग है। इनमेंसे प्रत्येक लिंग निर्दिष्ट संख्यावाले वर्णों से घिरा हुआ है, परन्तु परलिंग सभी वर्णों से वेष्टित है। यह परलिंग ही परमपद से प्रथम स्पन्द रूप में उदित होता है।

शिव-शक्ति यामल का अहं-परामर्श पूर्ण और स्वाभाविक है, इसलिए इसे 'पूर्णाहन्ता' कहते हैं। यह निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप है। स्वातन्त्र्य से इसमें विभाग का आविर्भाव होता है। पूर्णाहन्ता या परावाक विभाग-दशा में ही पश्यन्त्यादि तीन रूप धारण करती है, जिसके प्रत्येक रूप में स्थूल, सूक्ष्म तथा पर भेद से तीन-तीन अवस्थाएँ हैं। परमतत्त्व निरंश प्रकाशस्वरूप होनेपर भी उसका मुख्य तीन शक्तियों के भेद के कारण ऐसा विभाग हो जाता है। मुख्य तीन शक्तियाँ ये हैं—

(१) परा अथवा अनुत्तरा—इसी का नाम चित्-शक्ति है।

(२) परापरा—इसी का नाम इच्छा-शक्ति है।

(३) अपरा—इसी का नाम उन्मेषरूपा ज्ञान-शक्ति है।

इन तीनों का अभिन्न स्वरूप ही परमेश्वर की पूर्णाशक्ति है। इसमें अनुत्तर अथवा चित् 'अ' है, इच्छा 'ई' है और उन्मेष अथवा ज्ञान 'उ' है। यह शक्तित्रय ही अ इ उ नामक त्रिकोण है। इनके क्षुब्ध रूप लेकर शक्तियों की संख्या छह होती है। अ के क्षोभ से आ, इ के क्षोभ से ई और उ के क्षोभ से ऊ होता है। आ आनन्द का, ई ईशान का और ऊ ऊनत्व का वाचक है। आनन्दादि शक्ति-निचय क्षुब्ध होने पर भी अपने स्वरूप से स्खलित नहीं होते, इसलिए ये मलिन नहीं होते। इसी कारण से ये सब शक्तियाँ पारस्परिक संघट्ट से अन्यान्य शक्तियों को प्रकट कर सकती हैं। ये छह स्वर ही वर्ण-सन्तति के मूल हैं। ये षड्देवता और सूर्य की मुख्य षड्रश्मि नामों से प्रसिद्ध हैं। इन छह शक्तियों का पारस्परिक संघर्ष ही क्रियाशक्ति है, जिससे बारह शक्तियों का विकास होता है। ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार स्वर नपुंसक हैं। इनसे सृष्टि नहीं होती। सम्पूर्ण शक्तियाँ उक्त बारह शक्तियों के ही अन्तर्गत हैं। यही प्रधान शक्ति-चक्र है,

जिससे समन्वित रहने के कारण शिव को पूर्णशक्ति कहा जाता है।[१] ये सब शक्तियाँ प्रक्षीणमल शुद्ध और उद्रिक्त चैतन्य हैं। इनके ज्ञान-क्रियात्मक सामर्थ्य में किसी प्रकार का आवरण नहीं है। चौसठ योगिनियाँ इन बारह शक्तियों से ही उत्पन्न हुई हैं। इनकी समष्टि अघोराशक्ति है। घोरा और घोरतरा शक्तियाँ इसी से प्रादुर्भूत होती हैं। सृष्ट्यादि क्रम में इन बारह शक्तियों के पृथक्-पृथक् रूप हैं। अनाख्या-क्रम में भी इनके पृथक्-पृथक् रूपों का पता लगता है। जिस क्रम में सृष्टि आदि उपाधि नहीं है, उसी का नाम अनाख्या है। इसका तात्पर्य यह है कि निरुपाधिक स्वरूप-सृष्टि में भी यह विभाग विद्यमान है।

यह जो स्वरूपगत उपाधिहीनता की बात कही गई है, वह दो प्रकार से सम्भव है—(१) उपाधियों के अनुल्लास के कारण और (२) उपाधियों के उपशम के कारण। उपाधियों का उपशम पाक से ही होता है। तान्त्रिक आचार्य मधुरपाक और हठपाक भेद से दो प्रकार के पाक स्वीकार करते हैं। जो लोग गुरु आदि की आराधना करके समयी एवं पुत्रकादि दीक्षा सम्पादन करने के बाद नित्य-नैमित्तिक प्रभृति कर्मों में निष्ठा रखते हैं, वे देहपात होने पर सृष्टि प्रभृति उपाधियों से मुक्त हो सकते हैं, इन उपाधियों का प्रशमन स्वाभाविक नहीं होता, उसे शास्त्रोपदेशादि की अपेक्षा रहती है। यह उपाय धीरे-धीरे देहपात के अनन्तर उपाधि का नाश करने में समर्थ होता है। परमेश्वर का शक्तिपात तीव्र न होने से ऐसा ही होता है। और, जिनके ऊपर भगवत्कृपा की मात्रा अधिक होती है, अर्थात् जिनमें तीव्र शक्तिपात होता है वे केवल एक बार ही उपदेश प्राप्त करके उपाधि से मुक्त हो जाते हैं। इस क्रम से सृष्टि आदि तीनों उपाधियाँ सर्वथा चिदग्नि में भस्म हो जाती हैं, अर्थात् वे अचिद्भाव को छोड़कर आत्मशक्ति के स्फुरण-रूप में प्रतिभाग होने लगती है। इसका क्रम इस प्रकार है—'ज्ञानाग्नि के उद्दीपन के अनन्तर इस प्रकार के पाक से सृष्टि आदि पदार्थगत भेद छूट जाता है। उस समय विश्व अमृतमय हो जाता है, अर्थात् उसे बोध के साथ तादात्म्य प्राप्त होता है। इस अमृतरूप विश्व को पूर्व वर्णित (अ, आ इत्यादि) बारह शक्तियाँ अथवा करणेश्वरी भोग करती हैं, अर्थात् वे परबोध, अर्थात् परमेश्वर के साथ अभिन्न रूप में परामर्शन करती है; क्योंकि ये शक्तियाँ अघोरा शक्ति की ही प्रकाशस्वरूपा हैं। इस भोग से उन शक्तियों (देवियों) की तृप्ति होती है। उस समय उनकी दूसरे के प्रति अपेक्षा या आकांक्षा नहीं रहती और वे हृदयस्थ द्योतनमात्र-स्वरूप परप्रकाश या परमतत्त्व के साथ अभेद रूप से स्फुरित होने लगती है। ये समस्त शक्तियाँ परमेश्वर के रूप में विद्यमान हैं—उससे अभिन्न हैं। परन्तु, इस प्रकार अभेद रहने पर भी कृत्य, क्रियावेश, नाम तथा उपासना के भेद से वे भिन्न-भिन्न रूप से भासित होती हैं। इन शक्तियों के संकोच-विकास दोनों ही होते हैं, इसलिए ये संख्या में बारह होने पर भी एक ओर जिस प्रकार सब मिलकर एक हो सकती हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर करोड़ों विभिन्न रूपों में भी आविर्भूत हो सकती हैं।

●

---

१. इन बारह को कहीं-कहीं 'कालिका' नाम से कहा गया है। श्रीसारशास्त्र में इनका नाम द्वादश योगिनी रखा गया है।

मैं कौन हूँ

[१]

विचारशील मनुष्यों के जीवन में अन्तर्दृष्टि के उन्मेष की पृष्ठभूमिका रूप में अपने को जानने के लिए आकांक्षा जागरित होती है। मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, इस दृश्यमान प्रपञ्च के साथ मेरा सम्बन्ध क्या है, ये सब प्रश्न उस मूल आकांक्षा के ही अन्तर्गत हैं। यहीं आत्मजिज्ञासा है। एवं इसी के समाधान के ऊपर मनुष्य के जीवन की सार्थकता है। स्त्री, पुरुष, धनी, दरिद्र, बुद्धिमान् और अज्ञान सब के मन में समान रूप से, सरल होने पर भी गंभीर इस प्रश्न का उदय होता है : मैं कौन हूँ—'कोऽहम्'। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि मैं नहीं हूँ, यह विश्वास अनेक को है। किन्तु, मैं वास्तव में क्या हूँ, यह धारणा अनेक को नहीं है। इसीलिए, देह आदि से पृथक् रूप में अपने को जानने पर भी उसी को अपना यथार्थ परिचय मान लेना नहीं बनता।

गुणी ज्ञानी के मुख से सुना जाता है कि 'मैं वह ही हूँ'—'सोहम्', । यही मेरा यथार्थ परिचय है। किन्तु, फिर प्रश्न उठता है, वह कौन है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसे पहचानने का क्या उपाय है ? उसको पहचानना क्या है ? उसको पाना ही क्या अपने को पाना है ? क्या पराया कभी निज होता है ?

तब क्या समझना होगा कि स्वयं दूसरा हुआ है, इसीलिए फिर उसे निज कर लेना होगा ? वास्तव में जो निज है, वह पर क्यों होता है ? इसके मूल में क्या भ्रम है ? यह लीलामात्र है अथवा स्वभाव की प्रेरणा है ? अथवा इसका ऐसा कोई हेतु है, जिसे जानने का उपाय नहीं है, जिसे वास्तव में 'हेतु' भी नहीं कहा जा सकता ?

किन्तु, मूल में निज पर ही कहाँ है ? वहाँ बहु नहीं हैं, दो नहीं हैं, युगल नहीं हैं, एकमात्र स्वयं या आत्मस्वरूप नित्य विद्यमान है। वह रूप होकर भी अरूप एवं अरूप होकर भी रूप है। वही 'एकमेवाद्वितीयम्'—एकमात्र है। किन्तु 'एक' ऐसा बोध वहाँ नहीं है। वही चरम और परम सत्य है। वहाँ द्वैत नहीं है, अद्वैत भी नहीं है, सत्, असत् आदि कोई भी विकल्प नहीं है। वह विश्वातीत, अथच विश्वात्मक, एक साथ दोनों अथच दोनों से रहित है। वही सब है, उसी में सब है, अथच उसमें कुछ नहीं है। फिर, कुछ न रहने पर भी सभी हैं। यह निगूढ़तम अव्यक्त स्थिति योगियों के समाज में परम साम्यरूप में, ज्ञानियों के समाज में पूर्ण ब्रह्मरूप में तथा रसिक-मण्डल में रसरूप में वर्णित है। यही सच्चिदानन्द की स्वरूप-स्थिति और स्वरूप-लीला दोनों ही हैं।

[२]

इस महासत्ता में सहसा एक स्पन्द-सा उठता है। किन्तु, इस स्पन्दन का उदय होने पर भी महासत्ता की निःस्पन्दता ज्यों-की-त्यों ही रहती है। यह स्पन्दन केवल एक ही बार उठता है, अथवा निरन्तर उठता है, यह मनुष्यों की सीमाबद्ध भाषा द्वारा निर्देश करना कठिन है। वास्तव में यह एक बार ही उठता है, यह जैसे सत्य है, यह निरन्तर उठता है, यह भी वैसे ही सत्य है। क्योंकि, सामान्यरूप से जो एक है, विशेषरूप से वह अनेक। काल की तरङ्गों में विविध प्रकार का दर्शन होना स्वाभाविक है, किन्तु काल के ऊपर महाकाल के वक्षःस्थल में नाना स्पन्दन दिखाई नहीं देते—महाकाल का एक ही स्पन्दन काल के राज्य में अनन्त स्पन्दनों के रूप में फूट उठता है। यह निःस्पन्द-स्पन्दरूप युगल अवस्था ही विश्वातीत स्थिति है। इसकी भी जो अतीत अवस्था है, वही चरम परम अवस्था है। यह अतीत की अतीत सत्ता यद्यपि निर्विकल्प अद्वैतस्थिति-रूप से स्वीकृत है, फिर भी इसका उस रूप से निर्देश करना नहीं बनता। कुछ लोग इसका पूर्णब्रह्म की स्वरूप-स्थिति अथवा आनन्दमयी निष्ठा के रूप में उल्लेख करते हैं। यह स्पन्द का उदय वास्तव में प्रणव का ही उल्लास है, अर्थात् परब्रह्म-सत्ता में शब्दब्रह्म का आविर्भाव है। वस्तुतः, यह विशुद्ध सत्त्वमय महामाया का उन्मेष है, जिसके प्रभाव से परब्रह्म के स्वरूप का सन्धान, ज्ञान और साक्षात्कार होता है। एक तरह से यह नित्य-सिद्ध अवस्था है, पर बुद्धिक्षेत्र में यह चरम-परम दशा के परक्षणवर्त्ती के रूप में प्रतिभासमान होती है। चरम स्थिति स्वयंप्रकाश बोधरूप है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसमें अन्तर्विश्लेषण-रूपी स्व-स्वरूप का अवधान या अनवधान कुछ भी नहीं रहता। वह इतर-निरपेक्ष स्व-स्वरूप में स्वतन्त्र स्थिति है। वह 'केवल' ब्रह्मभावमात्र है। किन्तु, महामाया की दशा या माया की दशा 'शबल' ब्रह्मभाव के रूप में वर्णनीय है।

पूर्णानन्दमयी निष्ठा या स्वरूप में स्थिति चित् और सत् की अविभक्त प्रतिष्ठा है। किन्तु महामाया और माया की स्थिति में चित् से सत् का और सत् से चित् का विभाग-सा होता है। सच्चिदानन्दमय पूर्ण अद्वय स्थिति के ऊपर स्पन्दन के उदय या प्रणव के प्रकाश से एक ओर चित् और दूसरी ओर सत् दोनों मानों अनादि सिद्धरूप से ही फूट उठते हैं। यही विरुद्ध भाव के पहले-पहल स्फुरण की पृष्ठभूमि है। चित् की ओर सदा जाग्रद्भाव और सत् की ओर एक तरह की सदा सुषुप्ति का भाव विद्यमान रहता है। अविभक्त स्वरूप भावातीत, गुणातीत और निःस्पन्द है। किन्तु, विभक्त सत्-चित् स्वरूप की एक ओर (चित् की ओर) बाहरी भाग में विशुद्ध सत्त्वमय शुद्धा प्रकृति और दूसरी ओर (सत् की ओर) त्रिगुणमयी मलिन प्रकृति या माया स्थित है, यह जानना होगा। भावातीत के ऊपर भाव एक प्रकार का आवरण-सा है। चाहे वह स्वच्छ ज्ञानमय आलोक का आवरण हो अथवा चाहे गाढ अज्ञान-रूप अन्धकार का आवरण हो, दोनों ही भावातीत नग्न-स्वरूप की स्वेच्छा से गृहीत आवरण हैं, यह मानना ही होगा। इसके मूल में रहता है प्रणव का उन्मेष। अवधूत-मत में महामाया प्रणव स्वरूप की अर्द्धमात्रा है और माया उसकी तृतीय मात्रा या

'मकार' है। जल जमकर हिम-शिला बन जाता है एवं वह हिमशिला जल पर ही भासती है और जल को आवृत करती है। वस्तुतः, जल का स्वरूप आवृत नहीं होता, हो भी नहीं सकता। अथच, आवरण का तथा आवरण-भङ्ग का एक अभिनय भी हो जाता है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिनय जो करते हैं, वे ही फिर साक्षी बनकर निर्लिप्त रूप से अभिनय देखते हैं। अथच, अभिनय करते भी नहीं और देखते भी नहीं। दूसरे पक्ष में वह अभिनय देखकर साक्षिभाव को खो डालते हैं और आत्मविस्मृत-से और मुग्ध-से होकर तथा कर्त्ता का स्वांग बनाकर सुखदुःख-स्वरूप सांसारिकता का वहन करते हैं। सब कुछ एक साथ।

यह जो विशुद्ध सत्त्व की बात हमने कही है, वह परब्रह्म की स्वाभिन्न पराशक्ति के प्रथम उन्मेष का एक परिणाम है, जो परब्रह्म के महाकारण या महामाया-शरीर के उपादान और उनके स्वरूप के ज्ञानरूप से प्रसिद्ध स्वरूप का नित्यसिद्ध प्रकाश होकर भी उसका आवरणमात्र है। वस्तुतः स्वयंप्रकाश स्वरूप इसकी भी अपेक्षा नहीं करता। महामाया-शरीर प्रणव के बीजपदवाच्य और पर नाद द्वारा अभिव्यक्त होता है। यह नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त और नित्यशुद्ध अवस्था की दिशा है। और, एक दूसरी दिशा की बात भी कही गई है, जहाँ स्व-स्वरूप का बोध ही नहीं रहता, यह भी साथ-ही-साथ है। किन्तु, बुद्धिक्षेत्र में इसे शुद्ध सत्त्व की परवर्त्ती मानकर क्रम में गणना की जाती है। वास्तव में दोनों ही स्थितियाँ एक साथ सिद्ध और क्रमहीन हैं। परब्रह्म अपने को स्वयं जानते हैं, यह अनादिसिद्ध है, अपने को नहीं जानते हैं यह भी अनादिसिद्ध है। पर, बुद्धि के प्रतिभास से दोनों में एक कल्पित क्रम मान लिया जाता है। ज्ञान और अज्ञान से अतीत सत्ता के ऊपर ज्ञान और अज्ञान की ये दोनों अवस्थाएँ आरोपित हैं, यह भी सत्य है।

'अहं ब्रह्मास्मि' या 'ब्रह्मैवाहम्' यह ज्ञान ही परमेश्वर का अपने स्वरूप का ज्ञान या महामाया है। जिस स्थिति में इस ज्ञान का तिरोधान होता है, उसमें स्वप्रकाश अद्वय ज्ञानमात्र का प्रकाश रहता है, जो तत्त्वातीत परमतत्त्व है। जिस स्थिति में इस ज्ञान का भी तिरोधान होता है और स्वप्रकाश अद्वय ज्ञानमात्र भी भासता नहीं, वह अज्ञान अथवा माया है। वह प्रलय-रूप स्थिति है।

शरीर रहने पर ही अभिमान रहता है। चरम-परम अवस्था के सिवा सभी अवस्थाओं में शरीर रहता है तथा उसका अभिमानी पुरुष भी रहता है। महाकारण और महामाया शरीर के अभिमानी परब्रह्म की ईश्वर या सदाशिव मूर्त्ति है। उसी प्रकार उनके कारण-रूप मायाशरीर की अभिमानी उनकी रुद्रमूर्त्ति है।

[३]

प्रश्न हो सकता है कि भावातीत स्थिति से आदि-भावमय और महाभावस्वरूप-भूत महामाया का या विशुद्ध सत्त्व का आविर्भाव किस तरह होता है? यह अत्यन्त गंभीर प्रश्न है। मानव-बुद्धि इसका युक्तियुक्त उत्तर नहीं दे सकती, इसलिए परब्रह्म की नित्य ज्ञानमय बुद्ध-अवस्था और नित्य अज्ञानमय जड-अवस्था, अर्थात् उनका

अनादि जागरण और अनादि निद्रा दोनों को नित्यरूप मान लेना पड़ता है। महामाया और माया के क्षोभ के परे प्रवाह-नित्य-अवस्था भी नित्य मानी गई है, यद्यपि इन दोनों नित्यताओं में अन्तर दिखलाई देता है। चरम-परम स्थिति क्षोभ से अतीत स्पन्दातीत होने से नित्य और अनित्य दोनों से अतीत है। किन्तु, वास्तव में रहस्यज्ञाता योगी जानते हैं कि पर्दे के भीतर महाशक्ति की निर्माण-शाला में स्पन्दन का खेल नित्य चलने के कारण रचना का कार्य सदा गुप्त रूप से चल रहा है। वस्तुतः, प्रणव की अर्द्धमात्रा ही कहाँ से आई? श्रुति और महात्माओं के वचनों से ज्ञात होता है कि प्रणव का ऐसा एक स्वरूप है, जिसमें मात्रा न रहने पर भी ('अमात्र' होने पर भी) अनन्त मात्राएँ हैं और अनन्त मात्रा ('अनन्तमात्र') होने पर भी मात्रा नहीं है। दोनों ही पूर्ववर्णित भावातीत के अन्तर्गत हैं। किन्तु, सृष्टि-संकल्प के समय जिस परम-पुरुष का उत्थान होता है, उसमें 'एक'-भाव की स्फूर्त्ति होकर उसी से नाना भावों का विस्तार होता है। इस 'एक' भाव के स्फुरण की पृष्ठभूमि में शुद्ध मनोमय सत्ता में खण्ड-खण्ड अनन्त भावों का आभास जग जाता है। यह योगमाया-राज्य का व्यापार है। अवयवों की समष्टि से जैसे अवयवी सिद्ध होता है, वैसे ही अवयवी का स्वरूप स्वतः-सिद्धरूप में भी स्वीकार करना चाहिए। द्रव्य गुणों की समष्टिमात्र है अथवा गुणों से अतिरिक्त है, शिव शक्ति का संघातरूप है अथवा शक्ति से भिन्न है, प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था-मात्र है अथवा उनसे विलक्षण है; इन सब विषयों में विभिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार सत्य के विभिन्न रूप समान रूप से प्रामाणिक हैं, इसमें सन्देह नहीं है। प्रस्थान-भेद से सभी मत उपादेय हैं।

अतीत अवस्था से जब 'एक' का आविर्भाव होता है, तब क्षणमात्र में ही होता है और अखण्डभाव से ही होता है, उसमें क्रम नहीं रहता। सब समष्टियाँ एक साथ प्रकट होती हैं। यह नित्यसिद्ध परमात्मा की अवस्था है। किन्तु, बीच का रहस्य-जाल काट सकने पर जो दिखाई देता है, उससे वैज्ञानिक स्तब्ध हो पड़ते हैं। इसीलिए 'आश्चर्यवत् पश्यति' कहकर विस्मय प्रकट किया गया है। एक में जो अनन्त का खेल चल रहा है, वह यदि दिखाई दे, तो चकित हुए विना रहने का कोई उपाय नहीं है। एकमात्रा ही एकाग्र मन की मात्रा है, जिसके ऊपर सृष्टि का सामूहिक ज्ञान अथवा विश्व प्रतिष्ठित है। एक का भंग हो जाने पर ही सर्वप्रथम दो भागों का पता चलता है। ये दो भाग ही गुण-प्रधानभाव से रहित साम्य में स्थित होकर अद्वय रूप में या एकरूप में अपने को प्रकट करते हैं। भंग होने के समय 'एक' पहले दो रूपों में विभक्त होता है। इसलिए, एकमात्रा से अर्धमात्रा में उन्नयन होता है। एक में दो अर्द्धमात्राएँ प्रकट होती है। उनमें एक मात्रा 'एक' की ओर सम्बद्ध होकर 'एक' में प्रतिष्ठित समूची सृष्टि के साथ शक्तिराज्यी का सम्बन्ध अक्षुण्ण रखती है, दूसरी क्रमशः पहले के तरह अर्धमात्रा के क्रम से विभक्त होते-होते अनन्त की ओर दौड़ता है। अर्थात्, अर्द्धमात्रा के दो भागों में विभक्त होने पर उससे भी फिर अर्द्धमात्रा उत्पन्न होती है। यहाँ भी उसकी एक अर्द्धमात्रा पहली अर्द्धमात्रा की ओर सम्बद्ध होती है और दूसरी अर्द्धमात्रा, अर्थात् आदि दृष्टि-सम्मत एक चतुर्थांश मात्रा अनन्त की ओर

धावित होती है। ये सब मात्राएँ मन की ही मात्राएँ हैं। अतएव, एकमात्र मन से अर्द्धमात्र मन सूक्ष्म है। उससे एक चतुर्थांश मन और भी सूक्ष्म है। इस तरह मन क्रमशः पिसकर चूर्णाकार धारण करता है, यह ज्ञात होता है। इस विभाग या विश्लेषण-क्रम में कहीं भी विश्राम का स्थान नहीं है। व्यवहार के अनुरोध से विश्रान्ति माननी पड़ती है।[१] योगी लोगों ने भी उसी तरह मन के विश्लेषण का व्यवहार-सम्मत एक अभाव-स्थान माना है। वह $\frac{१}{८१९२}$ मात्रा है। युक्ति द्वारा इसका भी विभाग किया जा सकता है। किन्तु, परिमित शक्तिवाले योगियों को भी, चाहे वे कितने ही ऐश्वर्यबल-सम्पन्न क्यों न हों, कहीं-न-कहीं विश्राम लेना पड़ता है। अमित शक्ति के अधिकार में स्थिति होने पर वह अवधि होगी १/ अनन्त मात्रा। यही परब्रह्म से अभिन्न महाशक्ति की मात्रा है। महायोगी इसीको ब्रह्म का अणु कहकर परमाणु के रूप में निर्देश करते हैं।

विज्ञान-दृष्टि से जो एकाग्रचित्त से बोध की ओर अभिमुख गति का विश्लेषण कर सकते हैं, वे पूर्वोक्त आलोचना की सारवत्ता समझ सकेंगे। अनन्त मात्राओं को इकट्ठा कर एक मात्रा में परिणत करना जीव के लिए सम्भव नहीं है। महामाया के अनुग्रह के बिना यह साधक अथवा योगी के व्यक्तिगत पुरुषार्थ से साध्य कार्य नहीं है। एक को प्राप्त करना ही होगा। अथवा अर्धमात्रा को तोड़कर शून्य में परिणत करना ही होगा। किन्तु, यह मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसलिए, महाकरुणा का आश्रय अवश्य करना चाहिए। अतः $\frac{१}{८१९२}$ मात्रा जो शेष रहती है, उसे नष्ट करने का व्यर्थ प्रयास न कर पूर्णतः कृत्स्नभाव में अर्पण करना चाहिए। उसी से समना-अवस्था से उन्मना-भूमि में प्रवेश हो सकता है, अन्यथा नहीं। मन के द्वारा ही मन से अतीत भूमि-लाभ सम्भव है।

जिसका हम पूर्व में महामाया के नाम से उल्लेख कर आये हैं, उसीका एक दूसरा पहलू योगमाया है। इस योगमाया का राज्य ही अर्द्धमात्रा का लीलागृह है। एक अर्द्धमात्रा से अनन्त विभज्यमान अर्द्धमात्राएँ इसके अन्तर्गत जाननी चाहिए। यही विज्ञान-राज्य है, बैन्दव जगत् है, अप्राकृत विशुद्ध सत्त्वमय है, ज्ञानानन्दमय लीलाभूमि है। अर्द्धमात्रा ही योगमाया है। माया कारण-समुद्र है। कार्यरूप मायिक जगत् की उत्पत्ति उस कारणसमुद्र से होती है। निष्कल स्थिति से स्पन्द के सहयोग से कलामयी प्रकृति का उन्मेष होने पर उसकी कुछ कलाएँ उस कारण-जल में गिरती हैं। इन्हीं कलाओं के कारण-जल में गिरने के बाद योगमाया का आविर्भाव होता है। महामाया का जगत् शुद्ध विश्व का रूप है, माया का जगत् मलिन विश्व का रूप है

---

१. वैशेषिक आचार्य अनित्य द्रव्यों की विभाग-कल्पना कर उसकी एक अवधि स्वीकार कर उसे परमाणु कहते हैं। किन्तु, बौद्ध आदि दार्शनिक इस प्रकार की अवधि स्वीकार नहीं करते। वस्तुतः, वैशेषिकसम्मत परमाणु भी संघातमात्र है, यह योगभाष्यकार व्यासदेव ने भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अयुतसिद्ध अवयव-संघात ही परमाणु हैं, यही उनका मत है। वस्तुतः, इस अवयव की भी विभाज्यता है। वास्तविक परमाणु वही है, जो सचमुच अविभाज्य है। वही महाणु या आगमशास्त्र की कला है।

एवं योगमाया विश्व में भगवत्-लीला की संयोजनकारिणी आदि शक्ति अर्धमात्रा है। कारण-सलिल से ही काल का आविर्भाव होता है। किन्तु, इस विषय में विशेष विचार इस प्रसंग में अनावश्यक है।

[४]

स्वातन्त्र्यवश जब स्पन्दन का उदय हुआ; तब एक ओर जैसे सर्वज्ञ नित्य जाग्रत् अवस्था का आविर्भाव हुआ, दूसरी ओर वैसे ही ज्ञानहीन अनादि निद्रामग्न एक अवस्था का आविर्भाव हुआ। पहला महान् और दूसरा अणु है, अर्थात् अनन्त अणुओं का सामूहिक स्वरूप है। जो महान् हैं, वे नित्यबुद्ध परमात्मा और एक हैं तथा जो अणु हैं, वे अनन्त अणुओं के संघातरूप सुषुप्त महासत्ता, अर्थात् अनेक हैं। यद्यपि बुद्धि की दृष्टि से दिखलाई देता है कि संकोचवश अणुभाव का उदय होता है एवं साथ-ही-साथ वे सब अणु माया-कवलित होते हैं, तथापि यह सत्य है कि इस स्थिति में कालगत क्रम नहीं रहता, इसलिए क्रमिक व्यापार दिखलाई नहीं देता।

अणुत्व महामाया द्वारा किया गया संकोच है, जिससे स्वरूपगत अहंनिष्ठ पूर्णता का अभाव होता है एवं अहं का अवलम्बन कर इदं रूप का या द्वितीय भाव का उदय होता है। निर्विकल्प अद्वय सत्ता ही मूल है। बुद्धि की दृष्टि से उन्मेष-काल में पहले होता है अभेद-दर्शन एवं उसके बाद यह (अभेद-दर्शन) माया में लुप्त हो जाता है। इसके पश्चात् माया से उठने पर भेद-दर्शन का आरम्भ होता है। शिवावस्था में अभेद-दर्शन के मूल में आत्मा में आत्मभाव बना रहता है। यही नित्य जाग्रत् अवस्था है। इस जगह एक धारा है। वही महामाया का जगत् है, जहाँ दो तरह के चेतन-सत्त्व दिखाई देते हैं। एक में अहन्ता का लोप नहीं हुआ, अथच उसी के ऊपर इदंता के आभासन से विशुद्ध अध्वा का विकास हुआ है। किन्तु दूसरे में अहन्ता का लोप हुआ था एवं उसके बाद उसके अङ्गरूप से इदन्ता का आश्रय कर अहंता का पुनः उदय हुआ था। इसी अवस्था में सांसारिक जीव के रूप में कर्म करके और उनका फल भोगकर जन्म-जन्मान्तर कट गये। अन्त में विवेक-ज्ञान के उदय से इदंभाव में आश्रित अहंबोध निवृत्त हुआ। अनन्तर आत्मस्वरूप में अहंबोध का पुनः उदय हुआ। इसमें प्रथम प्रकार का चेतन सत्त्व दिव्य सृष्टि के अन्तर्गत है। यह नित्य-सिद्ध है। यद्यपि इस सृष्टि में भी इदंता का आभास स्तर के अनुसार क्रमिक रूप में विद्यमान रहता है, फिर भी इस भूमि में मलिन माया का संपर्क बिलकुल नहीं रहता। दूसरे प्रकार के चेतन सत्त्व मायिक जगत् में पड़कर पुनः माया से निकले हैं, पर शिवत्व की प्राप्ति अब भी उसे नहीं हुई। इन दूसरे प्रकार के सत्त्वों को यथासमय शिवत्व की प्राप्ति होगी। किन्तु, पहले प्रकार के सत्त्वों को शिवत्व की प्राप्ति कभी नहीं होगी; क्योंकि वे जगत्-व्यापार के लिए आवश्यक सृष्टि के अन्तर्गत हैं।

माया के गर्भ में अनन्त जीवाणु प्रसुप्त हैं। यह प्रसुप्ति-काल के अन्तर्गत निद्रावस्था से बिलकुल भिन्न है। यह अनादि सुषुप्ति है। ये सब जीव यद्यपि अणुरूपी हैं, फिर भी प्रत्येक में अपना-अपना भाव विद्यमान रहता है। यही उनका स्वभाव है।

सृष्टिकाल में जो वैचित्र्य घटता है, यही उसका कारण है। यह वैचित्र्य कर्मजनित नहीं है। जो अनादि काल से निद्रामग्न हैं, उनका कर्म कहाँ? निद्रा से उत्थित होने पर यथासमय कर्म का आरंभ होगा—मनुष्य-देह में। जबतक नरदेह-प्राप्ति नहीं होती तबतक कर्म का सूत्रपात नहीं होता। चौरासी लाख योनियों में जो विचित्रता है, वह योनिगत विचित्रता है, कर्मगत नहीं।

मायागर्भ में लीन अनन्त जीव परमात्मा के ही अंश (भिन्नांश) हैं, किन्तु प्रत्येक में भेद है। यह भेद सदा ही विद्यमान रहता है। यहाँतक कि मुक्ति में भी वह हटता नहीं। अवश्य ही यह द्वैतदृष्टि का अवलम्बन कर कहा गया है। अद्वैतदृष्टि में तो सभी शिवरूपी हैं, अर्थात् सभी परस्पर भिन्न होकर भी शिव रूप से अभिन्न हैं। आत्मगत विशेष एवं मूल का पृथक्त्व प्रयोजनानुसार मानना ही पड़ता है, किन्तु परमार्थ दृष्टि से सभी वही भावातीत अद्वयसत्ता हैं, जो एक होकर भी अनेक हैं एवं अनेक होकर भी एक और अव्यक्त हैं।

व्यक्ति-जीवन की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब इस स्वभाव का पूर्ण विकास होता है। 'शिवोऽहं' रूप में अपने शिवत्व की अनुभूति के साथ-साथ अपने व्यक्तिगत विशेष भाव की भी अनुभूति जाग्रत् होने पर भावातीत में प्रतिष्ठा सार्थक कही जाती है। 'मैं कौन हूँ' यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। इस प्रश्न के उदय और समाधान के लिए ही इस विराट् जागतिक लीला का सूत्रपात हुआ है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के नाना सूत्रों से युक्त होकर, अद्वैत महादर्शन में स्थिति-ग्रहणपूर्वक, व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के अनुसार योगमाया की लीलाभूमि में अभिनय की प्रक्रिया के अवलम्बन से निज रस के आस्वादन में ही इस प्रश्न का समाधान दिखाई देता है।

[५]

अनादि निद्रा टूटने के समय जीव माया के गर्भ से काल-राज्य में क्रम-विकास की धारा में पड़ता है। निद्रा टूटने के कारण नित्य जाग्रत् परमात्मा का चैतन्यमय उल्लास माया को मुग्ध करता है और उसके गर्भ में स्थित जीवों के शरीर को मायिक कला द्वारा रचकर काल-राज्य में प्रेरित करता है। माया योनिरूप है—'योनेः शरीरम्', शरीर योनि से ही उत्पन्न होता है। प्रचलित भाषा में कहा जाता है कि जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर अन्त में मनुष्य-योनि में प्रविष्ट होता है, यह सर्वथा सत्य है।

परमात्मा अपने अंश जीव को निजसत्ता से विभक्त-सा कर माया-गर्भ में संचालित करते हैं। यही उनका निग्रह है। यह परमात्मा की ईश्वर-भूमि का अभिनय है। वस्तुतः परमात्मा स्वयं ही अंशात्मक अणु बनकर अपने से पृथक् न होकर भी पृथग्वत् होकर माया में पड़ते हैं, अर्थात् सदा जाग्रत् पुरुष तिरोधान-शक्ति के प्रभाव से निद्रित होते हैं। फिर, वे अनुग्रह-शक्ति की प्रेरणा से सदाशिव या गुरुदयाल के रूप में माया-स्थित जीव की ओर चिन्मयी दृष्टि डालते हैं, जिससे सोया हुआ जीव जग पड़ता है। माया के गर्भ में जीवाणु शरीर, इन्द्रियादि-रहित होकर मूर्च्छित से पड़े

रहते हैं, किन्तु जगते ही वे अपने अनुरूप शरीर आदि प्राप्त करते हैं एवं क्रम-विकास के मार्ग में अग्रसर होते हैं।

एक बात इस प्रसंग में ध्यान में रखने योग्य है। जैसे नित्य जाग्रत् पुरुष से चिदंश चित्कण के रूप में सुषुप्तिमय माया में प्रक्षिप्त होते हैं, वैसे ही सुषुप्ति का आवरण भी अल्पाधिक नित्य जाग्रत् पुरुष में संचारित होता है। दोनों ही व्यापार एक ही समय में होते हैं। माया के सम्बन्ध के विना महान् की अणुरूपता-प्राप्ति और स्खलन नहीं हो सकता। पक्षान्तर में चित् के सम्बन्धविशेष के विना माया भी क्षुब्ध नहीं हो सकती। जो लोग जीव को परमात्मा का भिन्नांश अथच सनातन अंश कहते हैं, उनकी दृष्टि इसी ओर क्रिया करती है।

सुषुप्ति टूटने के बाद काल के स्रोत में आने के समय जीव चिदचित् मिश्रभाव धारण करता है। प्रधानतः चिदंश आत्मरूप में और अचिदंश उसके आवरण और व्यञ्जक देह के रूप में प्रकट होता है। असली बात यह है कि देहावच्छिन्न क्षीणतम ज्ञान तमोविकास के मार्ग में अवतीर्ण होता है और देह की क्रमिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ पुष्ट होकर क्रमिक पूर्णता प्राप्त करता है। इसी का नाम आत्मा का चौरासी लाख योनियों में भ्रमण है। यह होता है प्रकट भाव में। किन्तु ज्ञान में जो अज्ञान का प्रवेश होता है, वह गुप्त भाव से होता है। ज्ञान की पृष्ठभूमि में अज्ञान के संचारित होने पर अणुत्व की उत्पत्ति और ज्ञान का क्रम-संकोच अवश्य होता है। तदनन्तर, ये दोनों धाराएँ मनुष्य में आ मिलती हैं। देह के क्रम-विकास की सीमा चौरासी लाख योनियों के बाद मनुष्य-देहप्राप्ति में है एवं ज्ञान के क्रम-संकोच की सीमा असंख्य क्रम-निम्न चित्-ज्ञान के परे मानवीय ज्ञान में है। यह मानवीय ज्ञान ही अहंज्ञान है। अहंज्ञान इदंभावापन्न सम्यक् अभिव्यक्त मानव-शरीर का अवलम्बन कर अध्यास-रूप में परिस्फुरित होता है।

[६]

यदि विकास और संकोच के मार्ग में सात विभागों की कल्पना की जाय, तो ज्ञात होगा कि जैसे परमात्मा से मनुष्य का स्थान सातवाँ है, वैसे ही मनुष्य से भी परमात्मा का स्थान सातवाँ है। अवश्य ही समझने और समझाने की सुविधा के लिए इस तरह की कल्पना की गई है। एक ओर निद्रित आत्मा महानिद्रा में मग्न है, तो दूसरी ओर सदा जाग्रत् आत्मा अनादि ज्ञान के साथ परमपुरुष-रूप में विराजमान है—मानों एक ही आत्मा के दो पृष्ठ हों। शक्ति के उल्लास के कारण सुषुप्ति की ओर से स्वप्न के भीतर से गति होती है जागरण की ओर। साथ-ही-साथ परम जाग्रत् पुरुष की ओर से स्वप्न के भीतर से सुषुप्ति की ओर गति होती है। मानव में आकर बिन्दुगर्भ में ये दोनों धाराएँ मिलकर एक हो जाती हैं। इसलिए, मनुष्य के शरीर में चौरासी लाख योनियों में व्यापक प्राकृतिक रचना का चरम विकास दिखाई देता है। इस विकास के साथ सुषुप्ति से उठी चेतना क्रमशः व्यक्त होते-होते जाग्रत् चेतना में परिणत हो जाती है। यही मानव-देह में अभिव्यक्त चेतना है।

इस चेतना में वास्तविक अहंभाव की स्फूर्ति होती है। यह अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु है। इस अहंभाव को व्यक्त करने के लिए ही परमात्मा की नींद टूटती है और स्वप्नावस्था का अवसान होता है। क्रम से विन्यस्त विभिन्न योनियों में चेतना के क्रम-विकास का पथ प्रशस्त होता है। वस्तुतः, शरीर का क्रमिक विकास ही स्फुट अहं के रूप में रचना की अभिव्यक्ति-प्राप्ति का क्रम है। नर-देह की चेतना में इस विपुल प्राकृतिक धारा की परिसमाप्ति होती है। इसके पश्चात् कर्तृत्वाभिमानवाले मनुष्य में कर्म का उदय दिखाई देने से उसके फलभोग के लिए अनुरूप भोगायतन या देहप्राप्ति के प्रसंग में संसार-जीवन का आरम्भ होता है। नरदेह की रचना के पूर्व चेतनाहीन पत्थर और धातु के रूप में, अन्दर चेतनावाले (अन्तःसंज्ञ) उद्भिद् के रूप में, बाहर चेतनावाले (बहिःसंज्ञ) कीड़े-मकोड़े के रूप में और तदुपरान्त अधिक चेतनावाले पक्षी और पशुदेह के रूप में आविर्भाव होता है। यही योनिकम है। जिस क्रम का अवलम्बन कर देह का आवर्त्तन होता है, उसमें सस्कार संचित होते हैं। धीरे-धीरे सूक्ष्मदेह और कारणदेह की रचना होती है एवं अहंज्ञान का उदय और विकास होता है। चेतना का उदय होने पर इदंभाव अथवा अनात्मभाव देह के रूप में घनीभूत होता है। अन्नमय शरीर और प्राणमय शरीर इसी प्रकार के शरीर हैं। मनोमय देह में यह इदंभाव विशेष रूप से पुष्ट होता है। तब अहंभाव के आविर्भाव की भूमिका की रचना होती है। अहंभाव विज्ञान का आभास लेकर मनुष्य-देह में फूट उठता है। अन्नमय कोष से विज्ञानमय कोष-पर्यन्त इस आभास का विकास ही क्रम-विकास का इतिहास है। तत्त्व-विचार में पृथ्वी से महत्तत्त्व की सीमा तक इस विकास का अधिकार जानना होगा। इसीलिए, मनुष्य-देह समूचे विश्व का प्रतीक है; क्योंकि पिण्ड में समग्र ब्रह्मांड का समावेश रहता है। यह मनुष्य-देह ही क्षेत्र है एवं इसको जो यथार्थ रूप में जानता है, वही वास्तविक क्षेत्रज्ञ है।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान देह-रूप इस अनात्म वस्तु की रचना के साथ-साथ अभिन्न रूप से ओत-प्रोत होकर रहता है। यही अहंभाव की अभिव्यक्ति की प्रणाली है। यह प्रणाली बड़ी ही अद्भुत है। यहाँ सब जगह सब तत्त्व हैं। वह जो मूल अज्ञान सत्ता है, वही प्रकृति है और जो मूल ज्ञानसत्ता है, वही पुरुष है। प्रकृति में अहं नहीं है, यह सत्य है। उसी तरह पुरुष में भी अहं नहीं है। अथवा दोनों में ही अव्यक्त रूप में अहंता है। किन्तु, इस तरह रहना विचार-दृष्टि से न रहने के ही समान है। दोनों के मिलन से अहंभाव जग उठता है। योगशास्त्र में जहाँ अस्मिता के उदय का वर्णन आया है, ठीक उसके पीछे गुप्त रूप से पुरुष और प्रकृति का योग है। यह अहं का पूर्णत्व ही समान रूप से पुरुष और परमा प्रकृति का मिश्रित रूप या श्रीभगवान् हैं।

भगवान् से ही सृष्टि होती है—पुरुष और प्रकृति के योग से होती है एवं साक्षात् रूप से भी होती है। पहली योनिज सृष्टि है, जिसका विकास और विस्तार चौरासी लाख योनियों के रूप से प्रसिद्ध है। दूसरी अतिमानस अयोनिज सृष्टि दिव्य आत्माओं का संघ है। दिव्य सूरि, नित्य आत्मा आदि विभिन्न नामों से इनका विवरण प्राप्त होता है। इसाइयों के धर्मशास्त्र में जो Arch-angel Throne आदि दिव्य चेतन वर्ग का

पता लगता है, वे इस दिव्य आत्मा की किसी-न-किसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये सब चेतन-वर्ग श्रीभगवान् के साक्षात् शक्ति-स्वरूप हैं। ये उनकी सत्ता से अव्यवहित रूप से विसृष्ट हुए हैं। ये सब आत्माएँ काल के प्रवाह में अथवा प्रवृत्ति के राज्य में कभी उतरती नहीं। ये स्वभावतः किङ्करभावापन्न हैं। भगवदिच्छा को कार्य-रूप में परिणत करना ही इनका स्वभाव है। भगवदाज्ञा का पालन ही इनका एकमात्र काम है। इन्हें व्यक्तिगत कोई आवश्यकता नहीं। इसीलिए, ये नित्य आनन्दमय और नित्य निर्मल हैं। ये स्वातन्त्र्यहीन हैं। इन्हें कभी भगवत्साक्षात्कार नहीं होता। ये रक्तहीन, ज्योतिर्मय, अजर और अमर हैं। ये भगवान् की महिमा और विभूति-स्वरूप हैं। इन्हें अहङ्कार नहीं है, कभी था भी नहीं और होगा भी नहीं। इसीलिए, इन्हें स्वतन्त्रता-प्राप्ति की सम्भावना नहीं हैं। और, ये उसे चाहते भी नहीं।

'अहम्' का आविर्भाव बड़ा ही रहस्यमय है। महात्मा लोग कहते हैं कि अज्ञान की निवृत्ति होने पर अनादि सुप्ति से जो जागरण होता है, वही अणुभाव या परिच्छिन्न मलिन जीवभाव की प्रथम उत्पत्ति है। साथ-ही-साथ संस्कार का उदय होता है तथा देह के क्रम-विकास से मनुष्य आकार पाने के बाद यह संशय जिज्ञासा का आकार धारण करता है कि 'मैं कौन हूँ'—अर्थात् यह प्रश्न हृदय में उदित होता है। इसके पूर्ण समाधान या मीमांसा के लिए ही इस विराट् विश्व की सृष्टि का उपक्रम जानना चाहिए। 'कोऽहम्' रूप में संशय जगता है एवं 'सोऽहम्' रूप में निश्चयात्मक अपरोक्ष ज्ञान का उदय होने पर उस संशय की समाप्ति होती है। यह साक्षात्कार का फल है। भाव की प्राप्ति के लिए 'कोऽहम्' और 'सोऽहम्' समूची मानव-सृष्टि में दो भागों में विभक्त होकर विराजमान हुए हैं। सबसे पहले विश्व की रचना और विश्व के सार के निष्कर्ष के रूप में मनुष्य-शरीर का अभ्युदय होता है। मनुष्य-देह का निर्माण ही प्रकृति का विशाल विज्ञानागार का मधुरतम फल है। क्योंकि, मनुष्य-देह का निर्माण न होने तक प्रकृति के क्रम-विकास की सार्थकता पाई नहीं जाती। नित्य जाग्रत् परम पुरुष की उपलब्धि के लिए ही प्रकृति का यह विराट् आयोजन है। क्योंकि, यह मनुष्य-रूप आधार के सिवा अन्य किसी आधार में परम पुरुष की छाया नहीं पड़ती। अर्थात्, अहंभाव की भली भाँति स्फूर्त्ति नहीं होती। इसलिए, मनुष्य-देह के सिवा पूर्ववर्त्ती अन्य किसी देह में भगवद्दर्शन तथा अपने भगवद्भाव की अनुभूति नहीं हो सकती। समूचे ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त सार होने से ही नरपिण्ड का इतना महत्त्व है। प्रथम खण्ड कर्म का आवर्त्तन और कर्ममय मनुष्य का संसार-भ्रमण माना जा सकता है। मनुष्य-शरीर की सृष्टि के बाद उस देह में 'अहम्' अभिमान का उदय होने पर ही कर्त्तृत्व भाव का आविर्भाव होता है। तब कर्म की सृष्टि होती है एवं कर्म के तारतम्य के अनुसार उसके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोग होता है। इस तरह, फल की व्याप्ति के हिसाब से करोड़ों जन्म भिन्न-भिन्न शरीरों के अवलम्बन से कट जाते हैं एवं देश की व्याप्ति की दृष्टि से लोकलोकान्तर में भ्रमण होता है। भोग करते-करते ऐसा एक समय आता है, जब फिर कोई भोगेच्छा नहीं रहती। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्दमय बाह्य जगत् में भोग की आकांक्षा निवृत्त हो जाने पर चित्त स्वभावतः बाह्य जगत् से विमुख हो जाता है। इसके बाद अन्तर्मुखी

गति आरम्भ होती है। द्वितीय खण्ड में इस अन्तर्मुखी गति का अर्थात् विषय-जगत् से आत्मा के प्रत्यावर्त्तन का इतिहास विद्यमान है। इस द्वितीय खण्ड में ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि देहों से और जगत् से अहंभाव को हटाकर चरम स्थिति में, पूर्ण आत्म-स्वरूप में, विश्राम लेने का अवसर प्राप्त होता है। यहीं पर स्थूल सत्ता से परमात्मा तक एक सरल मार्ग दिखाई देता है। स्थूल देह अथवा स्थूल जगत् का अतिक्रम किये विना उक्त मार्ग में प्रवेश नहीं किया जा सकता एवं इस मार्ग में प्रविष्ट हुए विना स्थूल जगत् और स्थूल देह के अभिमान से छुटकारा पाने का कोई उपाय दिखाई नहीं देता। सत्यस्वरूप परमात्मा इस मार्ग के लक्ष्य हैं। वे मार्ग के अन्तर्गत नहीं हैं।

परिपूर्ण ज्ञान की जो अवस्था है, वही शिवावस्था है। जीवावस्था से शिवा-वस्था में जाना व्यक्त जीवन का खेल है तथा शिवावस्था से जीवावस्था में आगमन अव्यक्त जीवन का रहस्य है। सृष्टि के प्रादुर्भाव के साथ आत्मा में संकोच का भाव आता है एवं अहं के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में इदंभाव का उदय होता है। इस अहं-भाव में इदंता की क्षीण रेखा दृष्टिगोचर होती है। क्रमशः इदंभाव दृढ होता है और अहंभाव क्षीण होता है। अन्त में मातृगर्भ में प्रविष्ट होने के साथ-साथ शुद्ध अहन्ता एकदम लुप्त हो जाती है। माया-गर्भ और मातृ-गर्भ वस्तुतः एक ही सत्ता हैं।

इस गर्भ में आकस्मिक रूप से अवतरण हो सकता है एवं क्रम द्वारा भी हो सकता है। चिदणु माया में प्रविष्ट होकर सो जाता है। यह निद्रा ही चिद्वस्तु की अचिद्भाव-प्राप्ति है। यह निद्रा ही कुण्डलिनी का कुण्डलित भाव है, निद्रा है, अथवा महामाया का भेद न कर उसमें पतन है। वास्तव में यह अनादि जाग्रत् से अनादि स्वप्न द्वारा सुषुप्ति में निमज्जन-मात्र है। यह मायासुप्त जीव वस्तुतः मनुष्य का ही बीज है—मायागर्भ ही मातृगर्भ है। जीव विश्व-पिता से विसृष्ट होकर गिर पड़ा है। इधर प्रकृति की धारा से एक वस्तु आई एवं पुरुष की धारा से भी दूसरी एक वस्तु आई—ये दोनों कारण-बिन्दु रक्त और शुक्ल बिन्दु के नाम से प्रसिद्ध हैं। हम आदि-पिता-माता की बात कह रहे हैं; क्योंकि तब स्थूलदेहधारी पिता-माता नहीं थे। उपादान अवश्य था, इसी लिए ईश्वर की इच्छा से दोनों के योग से सृष्टि हुई। रजः पृथिवी का सार है और वीर्य आकाश का सार है। पृथिवी माता और आकाश पिता है। चौरासी लाख योनियों का सारसत्तामय और षट्कंचुकवेष्टित चिदणु एक होकर क्रमशः बढ़ने लगा। सद्गुरु अथवा नरदेही भगवान् के महाकारण-शरीर तथा महामन के सिवा स्थूल-शरीर का रहस्य-भेदन करने की क्षमता किसी में नहीं है।

[७]

मार्ग में प्रवेश कब होता है? मानवशरीर-लाभ और उस शरीर में अहंज्ञान का उदय अवश्य हुआ। किन्तु, यह ज्ञान स्थूल सत्ता के साथ मिला है। इनके परिपक्व हुए विना इसे पृथक् कर मार्ग में प्रवेश करने के योग्य नहीं बनाया जा सकता। आणव मल के परिपक्व हुए विना भगवदनुग्रह का संचार अनुभूत नहीं होता, इसका यही कारण है। मल के परिपक्व होने पर ही ज्ञान अन्तर्मुख होता है और स्थूल

संस्कार घनीभाव का परित्याग करता है। तब सूक्ष्मभाव में प्राबल्य आता है। यह जो परिपक्वता या स्थूल अनुभूति का परिपाक है, उसे प्राप्त करने में ही जन्म-जन्मान्तर कट जाते हैं। अन्तिम अवस्था में क्रमशः स्थूल संस्कार सूक्ष्म में परिणत होता है एवं सूक्ष्म संस्कार कारण-संस्कार का रूप धारण करता है। उसके बाद फिर संस्कार नहीं रहता। स्थूल संस्कार अत्यन्त प्रबल है; क्योंकि मानवदेह-रचना के बहुत पहले से ही साकार भाव के साथ यह संयुक्त है; इसीलिए, उसका क्षय होने में बहुत समय लगता है। क्रमशः क्षय के सिवा एकाएक इसका शमन प्रायः देखने में नहीं आता। सब संस्कारों की निवृत्ति और परमात्मा का साक्षात्कार एक साथ ही होता है। परमात्मा के अनुग्रह से यह साक्षात्कार होता है। तब एक क्षण में सब संस्कार निवृत्त हो जाते हैं। इसीलिए, कहा जाता है कि परमात्मा का दर्शन मेघमुक्त सूर्य के समान एकाएक संघटित होता है। हठपाक सद्योमुक्ति का उपाय है एवं क्रमिक पाक क्रम-मुक्ति की सीढ़ी है। यह कहना अनावश्यक है कि सद्योमुक्ति बहुत ही दुर्लभ है। सब संस्कारों का शमन होने पर ही लोकोत्तर अवस्था का उदय होता है।

ज्ञानी-योगी समझाने की सुविधा के लिए इस मार्ग में क्रमशः सजाई गई छह भूमियाँ स्वीकार करते हैं। इन सब भूमियों में पहली तीन भूमियाँ सूक्ष्म जगत् में स्थित हैं, चौथी सूक्ष्म और कारण-जगत् की सन्धि में है एवं पाँचवीं और छठी कारण-जगत् के अन्तर्गत हैं। छह भूमियों का अतिक्रमण कर सकने पर फिर कोई भूमि प्राप्त नहीं होती, सब आत्मा परमात्मा के साथ एक होकर विराजमान होता है।

इससे समझ में आ जायगा कि एक ओर स्थूल जगत् और स्थूलदेहाभिमानी मानवरूपी जीवात्मा है,तो दूसरी ओर नित्य जगत् और परमात्मा है, ये दोनों छोर मार्ग की सीमा के बाहर हैं। मार्ग मानों एक सम्बन्ध-सूत्र है, जो स्थूल को परमात्मा से एवं परमात्मा को स्थूल से युक्त करता है। स्थूल देह में आत्मभाव की निवृत्ति हुए बिना मार्ग में प्रवेश प्राप्त नहीं होता अथवा मार्ग में प्रवेश प्राप्त किये बिना स्थूल का अहंकार नहीं हटता। मार्ग में प्रवेश के साथ-ही-साथ स्थूल-ज्ञान एकदम लुप्त हो जाता है, सो बात नहीं। चित्त के अन्तर्मुखभाव का उदय और परिपुष्टि यही मार्ग में प्रवेश का प्रधान लक्षण है। तब निवृत्त्युन्मुख स्थूल ज्ञानी को विकसित सूक्ष्मदेह के द्वारा सूक्ष्म स्तर का अनुभव प्राप्त होता है। यह अनुभव सूक्ष्म जगत् के प्रथम स्तर का अनुभव है। इसे प्राप्त करते समय स्थूल जगत् का ज्ञान रहता है। इस अनुभव का जो कारण है, वह केवल स्थूल देह नहीं है और केवल सूक्ष्म देह भी नहीं है, वह एक साथ दोनों ही है। वस्तुतः, वह स्थूल और सूक्ष्म की सन्धि है। उस समय प्रतीत होता है कि मानों स्थूल दृष्टि द्वारा ही दिव्यरूप दिख रहा है, स्थूल कानों द्वारा ही मानों दिव्य संगीत सुना जा रहा है इत्यादि। सन्धिस्थान की यही विशेषता है। सन्धिस्थान का भेदन होने पर फिर स्थूल भाव नहीं रहता। उस समय सूक्ष्म जगत् के दूसरे स्तर के दर्शन होते हैं। यह स्तर प्राणमय जगत् है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ इसी स्तर में स्वच्छन्द रूप से क्रीडा करती हैं। साधक को जब इस स्तर का ज्ञान प्राप्त होता है, तब एक ओर उसको स्थूलता का बोध नहीं रहता। किन्तु, सिद्ध लोग कहते हैं कि

बोध न रहने पर भी साधक उस सूक्ष्म स्तर में स्थूल और मनोमय करणों की सत्ता द्वारा कर्म करता है। अर्थात्, सूक्ष्म ज्ञानी साधक स्थूल और कारण-शरीर में चेतन न रहने के कारण स्थूल और कारण-जगत् देख नहीं पाता, यह सही है; किन्तु वह स्थूल-देह का व्यवहार कर सकता है और करता भी है। इन्द्रियों के कार्य (दर्शन, निद्रा, खाना, पीना आदि) उस समय भी जारी रहते हैं। उसी प्रकार वह मानस-शरीर का व्यवहार भी करता है; क्योंकि वासना, कामना, चिन्ता, भाव आदि मानसिक व्यापार उस समय भी पहले की तरह विद्यमान रहते हैं।

दूसरी भूमिका की आत्माएँ सूक्ष्म देह तथा सूक्ष्म करणों के द्वारा सूक्ष्म जगत् का अनुभव करती हैं। स्थूल का अनुभव उन्हें बिलकुल ही नहीं होता, पर बाह्य दृष्टि से वे साधारण व्यक्तियों की तरह स्थूलाभिमानी प्रतीत होता है। सारांश यह है कि उनकी चेतना आंशिक रूप से अन्तःसंज्ञ होने के कारण सूक्ष्म जगत् का भी अनुभव करती है। इस अनुभव से उसमें दर्शन, स्पर्श आदि विषयों में नये संस्कार पैदा होते हैं।

प्रत्यावर्त्तन-मार्ग में और अधिक आगे बढ़ने पर तीसरी भूमि में प्रवेश-लाभ होता है। यह भी सूक्ष्म जगत् में स्थित है। यह कहना अनावश्यक है कि यहाँ शक्ति की प्राप्ति और अधिक मात्रा में होती है। फिर भी, यह परिमित शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं। इस स्तर पर आरूढ होने से सूक्ष्म जगत् के अन्तर्गत लोक-लोकान्तरों में भ्रमण किया जा सकता है।

तीसरी भूमिका पार करने के अनन्तर चौथी भूमिका में पदार्पण कर साधक शक्ति के अभिमुख हो जाता है। यह सन्धिभूमि है अथवा मनोजगत् का प्रवेश-द्वार है। मार्ग में स्थित यह भूमि सूक्ष्म और कारण के बीच में स्थित है। इस भूमि में शक्ति का विकास पूर्व स्तरों की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाता है। तब साधक नूतन सृष्टि करने की क्षमता तक अर्जित कर लेता है। यह कारण-जगत् का द्वार है, अतः सब शक्तियों का नियन्त्रण यहाँ से होता है। यहाँ भाव और वासना की तीव्रता अधिक रहती है, शक्ति के प्रयोग का प्रलोभन भी अधिक रहता है एवं अहंकार का प्रकोप भी बहुत उग्र रहता है। वस्तुतः, यह योगी की परीक्षा का स्थान है।

इन सब अलौकिक शक्तियों का सदुपयोग करने अथवा किसी भी शक्ति का बिलकुल व्यवहार न करने पर योगी निरापद पञ्चम भूमिका में पदार्पण करने में समर्थ होता है। चतुर्थ भूमिका में पतन की आशंका खूब अधिक रहती है[1], पञ्चम भूमिका में पतन की सम्भावना बिलकुल नहीं रहती। चतुर्थ भूमिका में रहकर योगी यदि स्वोपार्जित शक्ति का सदुपयोग करें, तो वे अपने-आप छठी भूमिका में पहुँच जाते हैं, उन्हें स्वयं कोई विशेष यत्न नहीं करना पड़ता। किन्तु, उस उद्धार-कार्य में

---

१. पातञ्जलयोग-सम्प्रदाय में प्रथम कल्पिक अवस्था के अनन्तर तथा भूतेन्द्रिय-जय के पूर्व मधुमती भूमि में इसी तरह की कई आशंकाएँ विद्यमान रहती हैं। उस समय विशेष रूप से आसक्ति और अहङ्कार की ही परीक्षा होती है। हाँ, भय, लज्जा आदि अन्य भावों की परीक्षा भी न हो, सो बात नहीं है।

जो सहायक होते हैं, वे ही सद्‌गुरु हैं। वे केवल जीवन्मुक्त पुरुष ही नहीं, वरन् महाज्ञानी और विज्ञान-भूमिका में प्रतिष्ठित आत्मा हैं।

चौथी भूमिका में रहकर जो परोपकार किया जाता है, वह स्थूल जगत् में जन-कल्याण से भी बढ़कर है, यह साधक का आध्यात्मिक उपकार है। कोई भगवान् की ओर चला हुआ साधक यदि अत्यन्त संकट में पड़ जाय, तो चतुर्थ भूमिका में स्थित आत्मा, अर्थात् योगी उसे अपनी शक्ति के बल से उस संकट से उबार लेते हैं। उत्कट रोग से छुटकारा, मरुभूमि में श्रांत-क्लांत पर्यटक को जल-प्रदान, भीत मन की भीति का शमन, हताश के प्राणों में आशा का संचार—विविध प्रकारों से साधारणतः गुप्त रूप से इस परोपकार का व्रत अनुष्ठित होता है। बौद्ध सम्प्रदाय के बोधिसत्त्व यह कार्य करते हैं। पृथ्वी के सभी क्षेत्रों में इस प्रकार के सेवा-धर्मी पुरुष विद्यमान हैं। ये ही Invisible Helpers के नाम से पुकारे जाते हैं। फिर भी, स्मरण रखना होगा कि शक्ति के सदुपयोग से भी कभी-कभी बन्धन की आशङ्का हो जाती है। भगवान् पतञ्जलि ने इस आशंका के एक कारण का 'स्मय' अथवा अहङ्कार के नाम से निर्देश किया है। अहङ्कार के अनेक भेद हैं। दीन सेवक-भाव ग्रहण कर प्राण-पण से सेवा करके भी यदि उस सेवा से उत्पन्न अहंकार मन में आता है, तो वह भी पतन का हेतु होता है। अहङ्कार चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो, रिपु के रूप में ही गिना जाता है। चतुर्थ भूमिका की कठिनाई का प्रधान कारण यह है कि इस भूमिका में साधक को अपरिमित शक्ति प्राप्त होती है और उस शक्ति के धारण के उपयोगी चित्त संयम उस समय प्राप्त नहीं रहता। मन का पूर्णरूप से जय न कर सकने पर शक्ति के स्वायत्त होने से साधक का पतन कुछ आश्चर्यकर बात नहीं है। हाँ, यदि सद्‌गुरु के ऊपर पूर्ण रूप से निर्भर रहा जाय एवं उन्हें अपनी रक्षा का भार सौंप दिया जाय, तो उनके मंगलमय विधान से शक्ति का स्फूर्त्ति-द्वार बन्द रहता है। इसलिए, साधक के अहङ्कार करने का कोई कारण नहीं रहता। केवल यही नहीं, बहुधा सद्‌गुरु स्वतःप्रेरित होकर साधक का वास्तविक कल्याण करने के लिए उसे अनेक बार भाँति-भाँति की विषम परिस्थितियों तथा विपत्तियों में जकड़े रहते हैं। अन्तर्जगत् में शान्ति तथा आनन्द की स्वच्छ धारा बहने नहीं देते। इस प्रकार की अवस्था में साधक के हृदय में गम्भीर निराशा और निराश्रयता का आविर्भाव होता है। वस्तुतः, यह परीक्षा की अवस्था है। इसीलिए, साधक जितना अपने को निराश्रय और असहाय समझता है, जीवन का लक्ष्य स्थिर रहने पर उतनी ही अधिक मात्रा में चित्त की सर्वतोमुखी गति एकाग्र होकर उस लक्ष्य की ओर स्थिर रहती है। अर्थात्, विपत्ति में गिरकर भी भगवत्स्मृति और परम लक्ष्य से भ्रष्ट न होने पर गुरुकृपावश स्वोपार्जित शक्ति का आवरण हट जाता है और साधक अकस्मात् अतर्कित रूप से पञ्चम भूमिका में उन्नीत होता है। पहले ही कहा जा चुका है कि इस भूमिका में मन में चञ्चलता न रहने के कारण साधक के पतन की आशंका एक प्रकार से नहीं रहती।

'पतन' से किसकी प्रतीति होती है, इसका स्पष्ट ज्ञान संभवतः बहुतों को नहीं है। युग-युगान्तर और जन्म-जन्मान्तरों के प्रयत्नों से धीरे-धीरे विपुल प्रयास द्वारा

सामग्री का संचय होने से ज्ञान का जो महल तैयार हुआ, उसका एकाएक ढह जाना ही 'पतन' है। इस प्रकार का पतन होने पर एकदम बिजली के वेग से उस आदिम पाषाण-खण्ड की तरह स्थावर-अवस्था लौट सकती है। अवश्य ही यह बात कदाचित् होती है; क्योंकि भगवान् द्वारा नियुक्त विविध मङ्गलमय शक्तियाँ जीवों की रक्षा में तत्पर रहती हैं। जीवों के अनजान में वे उनकी असमय में रक्षा करती हैं। किन्तु, विनय की मात्रा लाँघने पर इस प्रकार की शक्तियों की कार्यकारिता क्षुण्ण हो जाती है। उस अवस्था में पश्चात्ताप द्वारा इष्टसिद्धि अथवा प्रायश्चित्त नहीं होता। उस समय भग्न वस्तु के पुनर्निर्माण की आवश्यकता होती है। साधारणतः जो पतन होता है, वह इतना भयावह नहीं होता; क्योंकि उस समय पश्चात्ताप और आत्मशोधन की प्रणाली द्वारा व्यवहार-योग्यता लौट आती है, इस कारण पुनः पूर्वावस्था प्राप्त हो जाती है। चेतनात्मा के पतित होकर शिलाखण्ड के रूप में परिणत होने पर आरोहण के समय फिर भी काल के क्रम-विकास से पर-पर भूमिजय आवश्यक होता है। चतुर्थ भूमि में ही इस प्रकार घोर पतन की सम्भावना है, जो शक्ति के अनुचित प्रयोग से होता है। शक्ति का विकास अवरुद्ध होने अथवा उसका विकास रहने पर भी असत् उपयोग न करने एवं वासना द्वारा मन के संचालित न होने पर तो पतन का प्रश्न ही नहीं उठता। शक्ति के सदुपयोग से योगी चतुर्थ भूमिका से एकदम षष्ठ-भूमिका में पहुँच जाते हैं। शक्ति के प्रयोग की सम्भावना न होने पर साधक चतुर्थ भूमिका में आरूढ होकर वहाँ से यथासमय षष्ठ में स्थान-लाभ करता है। पंचम और षष्ठ ये दोनों भूमिकाएँ मनोमय कारण-जगत् में स्थित हैं।

अन्तर्मुखता के बढ़ने पर सूक्ष्म चेतनात्मक कारण-जगत् में मन के साथ तादात्म्य की प्राप्ति होती है। योगी कहते हैं कि कारण-जगत् के बाहरी भाग में चिन्ता-राज्य और भीतरी भाग में भाव-राज्य है। पंचम भूमिका के योगी स्थूल और सूक्ष्म चेतना-वर्ग की चिन्ता का नियन्त्रण करने में समर्थ होकर भी भाव का नियन्त्रण नहीं कर सकते। सूक्ष्म और कारण-जगत् की चेतना न रहने से विभूति का प्रकाश नहीं होता, इसलिए अखण्ड मन के ऊपर उनका आधिपत्य नहीं रहता। अन्तर्मुखता का आत्यन्तिक विकास होने और षष्ठ भूमि में स्थान-लाभ करने पर योगी निर्विकल्पक स्थिति में आरूढ होते हैं। यह स्थिति कारण-जगत् के बाहरी भाग से चित्त को हटाकर आन्तरिक अवस्था में प्रवेश करने पर स्वभावतः प्रकट होती है। कारण पहले ही बतलाया जा चुका है। कारण-जगत् के बाहर की ओर चिन्ता-राज्य है और भीतर की ओर विकल्प-रहित बोधमय अवस्था है। यही षष्ठ भूमिका का परिचय है। तब योगी सदा बोध में निमग्न रहते हैं, इसलिए उन्हें साक्षात् विश्व-मन का अनुभव होता है। उस समय विश्व के सम्पूर्ण मनों का भाव उनके निजभाव या स्वभाव में परिणत हो जाता है। इस अवस्था में उन्हें सर्वदा सर्वत्र भगवान् के साक्षात् दर्शन प्राप्त होते हैं। किन्तु, ऐसा होने पर भी वे कभी अपनेको भगवान् के साथ अभिन्न रूप में नहीं देखते। दर्शन न करने का यही कारण है कि भगवद्दर्शन भी मन का ही व्यापार है। वे इस समय भी अपनेको, मन के अतीत होने के कारण, पहचान नहीं सकते। इसी

लिए भगवान् का भी मनोमय रूप में ही दर्शन करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। यह मन का ही व्यापार है—यह शुद्ध मन, व्यापक मन का खेल है। किन्तु यह भी चरम स्थिति नहीं है; क्योंकि मन का अतिक्रमण किये बिना भगवान् का साक्षात्कार और दर्शन पाकर भी उनके साथ अपना अभिन्नता-ज्ञान जाग्रत् नहीं होता। भगवान् के साथ मिलने की तीव्र आकांक्षा होती है। साधक सदा सब जगह, भीतर-बाहर भगवान् के दर्शनों के लिए सजग रहता है, यह सब सत्य है, फिर भी व्याकुलतापूर्ण विरह का भाव नहीं रहता; क्योंकि भगवद्दर्शन भगवत्प्राप्ति नहीं है। उन्हें न पाने तक, अर्थात् अपनी भगवद्रूप में उपलब्धि न होने तक यह विरह दूर नही हो सकता; क्योंकि जगत् के अन्दर केन्द्र अथवा बिन्दु के रूप में यह नित्य भगवद्-विरह जाग्रत् है। बहिर्मुख अवस्था में यहीं से सृष्टि होती है, किन्तु तब विरह-ज्ञान नहीं रहता। पर, अन्तरतम अवस्था में विरह-ज्ञान जग उठता है, उसका दर्शन भी स्फुट हो जाता है एवं विरह की तीव्रता से मन का पर्दा हट जाता है। तब अद्वैत स्थिति या अभेद-भाव का प्रकाश अपने-आप हो जाता है। कारण-जगत् का यह भीतरी भाग में ही भावराज्य का व्यापार है, जिसका प्रस्फुटित रूप भगवत्-प्रेम है एवं जिसका परिणाम भगवत्सायुज्य वा महामिलन है। इस महाभावमय प्रेमराज्य में चिन्ता का कोई स्थान नहीं है। अत एव योगी का, षष्ठ भूमिका, भगवत्प्रेम और भगवान् के साथ मिलन की आकांक्षा के पूर्ण विकास का स्थान है। इस आकांक्षा का एक पहलू विरह-ज्ञान है, यह अतिमूल्यवान् सम्पत्ति है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद कर्तृत्व-सम्पन्न मनुष्य-शरीर में अभिमान होता है। करोड़ों जन्मों में परिभ्रमण के बाद एवं मार्ग में प्रवेश पाकर अन्तर्मुख गति के क्रमिक विकास के चरम बिन्दु में इस तीव्र विरह का बोध होता है। भगवद्दर्शन से यह विरह निवृत्त नहीं होता; क्योंकि भगवद्दर्शन ही इसका उद्दीपक है। षष्ठ भूमिका का भेद करने पर समूचा मनोराज्य ध्वस्त हो जाता है—कल्पना-राज्य दूर हट जाता है; क्योंकि तब जगत् का अतिक्रमण हो जाता है, माया और महामाया का खेल निवृत्त हो जाता है। तब अपने साथ अभिन्न रूप से भगवत्साक्षात्कार एवं भगवान् के साथ अभिन्न रूप से आत्मसाक्षात्कार संपन्न होता है। षष्ठ भूमिका के भगवद्दर्शन से यह अत्यन्त भिन्न है; क्योंकि षष्ठ भूमिका के दर्शन में द्वैतभाव रहता है। इसलिए, यह मिलन होकर भी वास्तविक मिलन नहीं है; क्योंकि बीच में व्यवधान रहता है। यही विरह है। इसलिए, द्वैतभूमि में मनोराज्य में पूर्णतम मिलन भी विरह का ही नामान्तर है। षष्ठ भूमिका के भेदन के पश्चात् जिस आत्मज्ञान का उदय होता है, वही यथार्थ अपरोक्ष ज्ञान है।

षष्ठ भूमिका तक मनोराज्य है। यहाँ का चैतन्य कितना ही उज्ज्वल और विशुद्ध क्यों न हो, फिर भी वह मनोमय है। सप्तम भूमिका वास्तव में कोई भूमिका नहीं है, वह परमात्मा की स्वरूप-स्थिति है। सप्तम भूमिका मन के परे है, इसलिए षष्ठ से सप्तम भूमिका में कोई अपने प्रयत्न से नहीं जा सकता। सद्गुरु की करुणा के बिना मानस-ज्ञान से अनन्त-स्वरूप ज्ञान और असीम आनन्द का चेतन-रूप में आस्वादन कोई नहीं कर सकता। इस अवस्था में स्पष्ट प्रतीत होता है और दीख पड़ता है कि आत्मा नित्य

ही आनन्दमय, चैतन्यमय और अनन्त है। शक्ति और मन की आविर्भाव-प्रणाली को योगी उस समय प्रत्यक्ष देखते हैं। वे जान सकते हैं कि यह उनकी अनन्त शक्ति और अनन्त ज्ञान का शान्त स्फुरणमात्र है। इस अवस्था में दो व्यापार उल्लेखनीय हैं। यह परमात्मप्रतिष्ठ भगवद्भावापन्न आत्मा केवल स्वयं ही अनन्त शक्ति और आनन्द का अनुभव करता है, सो बात नहीं; वह साथ-ही-साथ दूसरों में उनका वितरण करता है एवं कभी-कभी साक्षात् रूप से और संज्ञान में इसका प्रयोग भी करता है। यह प्रयोग वास्तव में अन्य आत्माओं को प्रवञ्चना से मुक्त करने के लिए होता है। जबतक आत्मा परमात्मा में अपनी अभिन्न स्थिति प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक वह अज्ञान अवस्था में क्रमशः नाना प्रकार के संस्कारों का अर्जन करता है। पीछे वे सब संस्कार क्रमशः क्षीण हो जाते हैं। अन्त में संस्कार-शून्य अवस्था का उदय होता है। तब ज्ञात होता है कि यह सुदीर्घ संसार-भ्रमण माया-निर्मित एक स्वप्न-मात्र है।

यह आत्मा ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न भगवत्स्वरूप में नित्य जाग्रत् है। यह समान रूप से ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान है—समान रूप से प्रेमिक, प्रेमभाजन और प्रेम है। आश्रय और विषय अभिन्न हैं। षष्ठ और सप्तम भूमिका के बीच में मानों गम्भीर समुद्र है। एक ओर प्राकृत जगत् और दूसरी ओर अप्राकृत भगवत्सत्ता—बीच में यह विरजा नदी का दिगन्तव्यापी व्यवधान है। षष्ठ भूमिका तक साकार संस्कारयुक्त सगुण कल्पना है—सप्तम भूमिका में आकार नहीं, संस्कार नहीं, गुण नहीं और कल्पना नहीं। यहीं पर सृष्टि के उन्मेष के समय के 'कोऽहम्' संशय का—जो मनुष्य-मन में अहंभाव के विकास के साथ-साथ जगा था—विध्वंस होता है। आत्मा 'सोऽहम्' ज्ञान के समाधान से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। यही आत्मविज्ञान-भूमि है।

[८]

यहाँ पर एक विषय विशेषरूप से अन्वेषणीय है। प्रस्तुत प्रसंग में एक विशेष धारा के अवलम्बन द्वारा सात भूमिकाओं का विवरण देने का यत्न किया गया है। किन्तु, यह स्मरण रखना चाहिए कि इस विशेष धारा के सिवा और भी भिन्न प्रकार की धाराएँ हैं। यहाँ उनके विषय में आलोचना अनावश्यक है। सात भूमिकाओं में प्रथम छह भूमिकाएँ साधन की अवस्थाएँ और द्वैतभाव की द्योतक हैं। किन्तु, सातवीं भूमिका सिद्ध अवस्था और अद्वैत स्थिति की अभिव्यञ्जक है। यह स्थिति साक्षात् परमात्मा के साथ अभेद-प्राप्ति की अवस्था है। इस अवस्था का भगवत्स्वरूप के रूप में ही वर्णन करना उचित है। वस्तुतः, यह सातवीं भूमियों में गणना-योग्य नहीं है; तथापि प्रथम छह भूमिकाओं के साथ सम्बन्ध होने से इसका भी भूमिका के रूप में निर्देश किया गया है। छह भूमिमय पथ क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् से होकर षष्ठ भूमि के अन्त में परम लक्ष्य की ओर आया है। पथ-पर्याय-क्रम से संकोच और विकासमय, एक और अनेक प्रतीतिमय, समाधि-व्युत्थानमय क्रमोच्च एक आवर्त्त-संकुल धारा है। इस पथ पर चलना शुरू होने से पहले ही यह विचित्रतामय प्रतिभास, जो स्थूल ज्ञान के सामने अनन्त विश्वों के रूप में अपने को प्रकट करता है, छूट जाता है।

वस्तुतः, इस छुटकारे के बाद ही, सन्धि-अवस्था में ही महाप्रस्थान के पथ की सूचना मिलती है। यह छुटकारा बाह्योन्मुख वृत्ति के अन्तर्मुख आकुंचन (सिकुड़ने) का परिणाम है। यह एक बिन्दु-अवस्था है, किन्तु यह स्थायी नहीं है। छुटकारे के अन्त में तब विचित्रतामय जगत् का चित्र भासित हो उठता है। किन्तु, वह ठीक-ठीक पूर्व का जगत् नहीं है, दूसरे स्तर का जगत् है, किन्तु यह भी स्थायी नहीं रहता। इसके पश्चात् फिर अन्तराकर्षण के प्रभाव से छुटकारा होता है। तब दूसरी बार एक बिन्दु-स्वरूप में स्थिति होती है। उसके बाद फिर बाह्यभाव का उन्मेष होता है। इस प्रकार की गति से साधक क्रमशः उन्नत होता है। पहाड़ पर चढ़ते समय जैसे एक बार पहाड़ पर चढ़कर पुनः उपत्यका में उतरना पड़ता है, तदनन्तर फिर उच्चतर पर्वत पर चढ़ने के बाद उच्चतर उपत्यका में उतरना पड़ता है, इस प्रकार धीरे-धीरे आरोहण के द्वारा उच्चतम शिखर तक पहुँचा जाता है, ठीक उसी तरह महाप्रयाण के मार्ग में पारापारी से चढ़ना-उतरना अथवा संकोच और प्रसार विद्यमान रहता है। दिन के बाद रात्रि, फिर रात्रि के बाद दिन, इस तरह चलते-चलते ऐसा एक स्थान आता है, जहाँ दिन और रात्रि का द्वन्द्व सदा के लिए निवृत्त हो जाता है, जहाँ एकमात्र दिन ही सदा स्थायी रूप से विराजमान रहता है। जिसका श्रुति ने 'सकृद् दिवा' कहकर इंगित किया है। इस पथ के ऊपर आकर्षण का पथ है। बिन्दुओं का एक के बाद एक यों नीचे-ऊपर विन्यास रहने पर भी वे सब पथ के भीतर हैं। निम्न बिन्दु से ऊपर के बिन्दु में गति आकर्षण के बल से होती है। किन्तु, बिन्दु-अवस्था में प्रसारण नहीं रहता, इसलिए दृश्य या सृष्टि नहीं होती। पर, यह अवस्था स्थायी नहीं है; क्योंकि प्रसार होने पर सृष्टि का विस्तार होता है। हृदय में स्थित वासना-बीजों के उन्मूलित न होने पर वह सृष्टिराज्य होता है, भोगकर पार होना पड़ता है, अन्यथा जलाकर अथवा गलाकर समाप्त करना पड़ता है।

साधक वास्तविक दीक्षा प्राप्त होने पर क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण का दर्शन और अनुभव करता है। तदुपरान्त कारण का अतिक्रमण होने पर सत्य स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त होता है। पहली से छठी तक छहों भूमिकाएँ कल्पनामय हैं। कल्पना का त्याग होता है, मनोनाश के साथ-साथ यथार्थ सत्य-दर्शन से सप्तम भूमिका में। इसीलिए, छह भूमिकाओं तक जो आध्यात्मिक उन्नति कही गई है, वह वास्तविक उन्नति नहीं है। पर, यह सत्य है कि कल्पना होने पर भी इन सब भूमिकाओं का अनुभव आवश्यक है। क्योंकि, इनके क्षीण हुए बिना सत्य-दर्शन असंभव न होने पर भी अत्यन्त कठिन अवश्य है। निरपेक्ष गुरुकृपा के बिना सत्य-दर्शन नहीं हो सकता। तब वासना-क्षय आदि अपने-आप ही हो जाते हैं। पर, कृपा को रखने के लिए आधार-शुद्धि का प्रयत्न आवश्यक है। गुरु यदि हों, तो वे शिष्य को छहों भूमिकाओं में संचालित करते हैं। इस संचालन-व्यापार में कभी साधक की आँखें बाँध दी जाती है और कभी आँखें खुली भी रहती हैं, यह साधक की आभ्यन्तरीण अवस्था तथा गुरु की व्यवस्था पर निर्भर करता है। आँखें बाँध देने पर चित्त में स्थित वासना साधारणतः छठी भूमि तक रहती है। किन्तु, जिस साधक की आँखें खुली

रहती हैं, उसकी वासना पाँचवीं भूमि के बाद फिर नहीं रहती। बद्ध आँखवाली अवस्था में क्रिया अच्छी तरह होती है, यह कहना ही पड़ेगा। छठी भूमिका से सप्तम भूमिका में सद्‌गुरु की कृपा के बिना प्रवेश करना अत्यन्त ही असंभव है।

द्वितीय भूमि से विभूति का उदय होता है। तीसरी में विभूति की अभिवृद्धि होती है एवं चौथी में विभूति की सीमा नहीं रहती; क्योंकि उस समय सूक्ष्म और कारण-सत्ता का योग होता है। किन्तु, मन उस समय भी स्वायत्त नहीं होता। दुर्दमनीय वासना उस समय भी सर्वथा क्षीण नहीं होती। इसीलिए, किसी-किसी के पतन की आशङ्का रहती है। हाँ, साधक यदि संयमी और विवेकवान् हो, तो ऊर्ध्व-गति की सम्भावना भी रहती है। पंचम भूमि में मन पर विजय प्राप्त होती है, तब तो सचेतन रूप में इन्द्रियों के न रहने से उनका काम केवल मन से ही किया जाना सम्भव है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् में इच्छामात्र से अभीष्ट स्थान में प्रकट हुआ जा सकता है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता', एवं 'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्य-कर्णः', यह श्रुतिवचन कई अंशों में इस अवस्था में सार्थक होता है। इस भूमि में ही क्रमशः भगवान् के साथ योग होता है भाव के मार्ग में। कोई-कोई भाव में डूबकर महाभाव तक पहुँच जाते हैं। तब व्युत्थित होने पर मालूम होता है कि अतिसूक्ष्म रूप से निहित वासनाएँ न मालूम कहाँ चली गईं। मन उस समय भी रहता है सही, किन्तु उसमें वासना नहीं रहती। यह अति स्वच्छ, विशुद्ध मन है। सभी अन्तराय और विघ्न कट चुके। परन्तु, छोटा अहं उस समय भी रहता है। छठी भूमिका की समाप्ति तक यह अहं विद्यमान रहता है। उस समय सर्वत्र और सर्वदा अनन्त निराकार ब्रह्मस्वरूप के दर्शन होते हैं एवं इस ब्रह्मदर्शन से ही मन की समाप्ति होती है। तीर्थयात्री के सुदीर्घ तीर्थ-भ्रमण की समाप्ति होती है। भगवत्साक्षात्कार से वह छोटा अहं विलीन हो जाता है। एक अनन्त ब्रह्मदर्शन विराट् 'अहम्' का अवलम्बन कर विद्यमान रहता है। इस तरह जबतक इच्छा हो, रहा जा सकता है। काल, कर्म, नियति और संस्कार कोई भी योगी के मार्ग में बाधक नहीं हो सकते। इसी अवस्था से व्युत्थान-प्राप्ति हो सकती है। यदि किसी का भी व्युत्थान हो, तो भी ब्रह्मदर्शन या अद्वैतदर्शन पूर्ववत् अक्षुण्ण ही रहते हैं। व्युत्थान-काल में द्वैत-दर्शन केवल अभिव्यक्त होता है। तब सर्वदा सब वस्तुओं में एकत्व का भान होता है। यह पूर्ण ब्रह्म-साक्षात्कार है, यह षष्ठ भूमिका की जाग्रत् अवस्था है। इस प्रकार के सिद्ध योगी छठी भूमिका तक जिज्ञासु साधकों को सहायता कर सकते हैं। पूर्ण चैतन्य के साथ सर्वत्र उपस्थित रह सकते हैं। यहीं पर मन का आभास रहता है। इसके बाद मन नहीं रहता। छोटा 'अहम्' भी नहीं रहता। सदा के लिए वह विदा हो जाता है। तब एकमात्र पूर्ण 'अहम्' ही रहता है। यही यथार्थ भगवत्सायुज्य है। यह मन के परे महाव्याप्ति की अवस्था है। यही अद्वैत स्थिति है। पूर्णब्रह्म ज्ञान के अनन्तर यही पूर्णब्रह्म-प्राप्ति है।

पहली भूमिका से षष्ठ भूमिका तक जो स्तर हैं, उनसे सप्तम भूमिका का व्यवधान रहा। द्वैत से अद्वैत का जो व्यवधान है, यह भी वही है। दो के बीच

मात्रा का भेद तो है ही, उसके अतिरिक्त स्वरूप-भेद भी है। स्वरूप भिन्न है, अतः यह व्यवधान अनन्त है। द्वैत सत्ता परिमित सत्ता और अणु सत्ता है। किन्तु, अद्वैत सत्ता अपरिमित, अखण्ड और अनन्त भगवत्सत्ता है, इसीलिए दोनों के मध्य असीम व्यवधान है। महाकृपा अथवा परम पुरुषार्थ के सिवा यह व्यवधान हटाया नहीं जा सकता। पहली छह भूमियों में परस्पर भेद है और व्यवधान भी। पर, यह सान्त व्यवधान है,—दोनों भूमिकाओं में पार्थक्य रहने पर भी दोनों में साधर्म्य है; क्योंकि दोनों ही द्वैत या खण्ड सत्ता है। किन्तु, षष्ठ से सप्तम का व्यवधान अनन्त व्यवधान है। प्रथम भूमिका से सप्तम भूमिका बहुत ऊपर होने पर भी सप्तम भूमिका की तुलना में दोनों ही समान रूप से असीम व्यवधान से व्यवहित हैं। प्रथम भूमिका से षष्ठ भूमिका सप्तम भूमिका से अधिक निकटवर्त्ती है, यह कहना नहीं बनता। फिर भी, साधक को आत्मविकास के लिए इन सब भूमिकाओं को पारकर आगे बढ़ना चाहिए; क्योंकि आधार का विकास भी पूर्णत्व के पथ में अत्यन्त आवश्यक है।

ईश्वर में विश्वास

कल्याण-सम्पादक ने व्यक्तिगत भाव से चार प्रश्न उत्तर के लिए मेरे पास भेजे हैं। परन्तु, मैं इसे व्यक्तिगत रूप में न लेकर कुछ अंशों में व्यापक रूप में ही ग्रहण करता हूँ। यद्यपि ये प्रश्न सम्पादक महाशय की ओर से ही आये हैं, तथापि वस्तुतः ये किसी आध्यात्मिक तत्त्वजिज्ञासु के ही स्वाभाविक प्रश्न हैं। अतः, इनका उत्तर व्यक्तिगत रूप से देना समीचीन नहीं मालूम होता। इसके दो विशेष कारण भी हैं—

(क) यदि ये प्रश्न केवल व्यक्ति-विशेष के प्रश्न होते, अर्थात् यदि वे जिज्ञासु होकर प्रतिनिधि-रूप से प्रश्न न उठाते, तो मेरा उत्तर भी ठीक-ठीक व्यक्तिगत होता; क्योंकि इन प्रश्नों के किसी-किसी अंश का उत्तर देते समय अपने जीवन की कुछ ऐसी आभ्यन्तरीय और बाह्य घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है, जो अन्तरंग रूप से व्यक्तिविशेष के प्रति किया जा सकता है। पर, जिसका प्रकाश्य रूप में कोई भी अनुभवी व्यक्ति उल्लेख करना नहीं चाहेगा।

(ख) साधन-जगत् का जो निगूढ रहस्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक सत्य स्वरूप सद्गुरु की कृपा का अवलम्बन कर तीव्र पुरुषार्थ का प्रयोग करना पड़ता है, तार्किक-प्रकृति-विशिष्ट तथा साधनहीन पुरुष के सामने उस रहस्य की आलोचना करना उचित नहीं है। वहाँ इस आलोचना का यथार्थ फल उत्पन्न नहीं हो सकता।

इन्हीं दो बातों को सामने रख यथासम्भव संक्षेप में अथच विशद रूप में इन प्रश्नों की आलोचना करने में प्रवृत्त होता हूँ।

[१]

पहला प्रश्न यह है कि—'हम ईश्वर में विश्वास क्यों करें?' इसका उत्तर देने के पूर्व मेरा कहना है कि जिन सब वस्तुओं की सत्ता तथा क्रिया को हम अनेक कारणों से लौकिक दृष्टि से स्वीकार करने के लिए बाध्य होते हैं, उनके विषय में हमारे हृदय में विश्वास की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? यहाँ 'विश्वास' शब्द से प्रश्नकर्त्ता का क्या उद्देश्य है, यह वही जानें। परन्तु, यह निश्चित है कि जिसे विश्वास कहा जाता है, उसकी दो विशेष अवस्थाएँ हैं। इन्हीं दोनों अवस्थाओं का विश्लेषण करने से ही विश्वास के कारण के सम्बन्ध की धारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगी। आप्त पुरुषों के मुख से कोई बात सुनकर एवं उसके विचार करने की शक्ति न रहने पर, अथवा उसके सम्बन्ध में कोई प्रवृत्ति न होने पर, वह आप्त-वाक्य सत्य है, ऐसी धारणा स्वभावतः ही मन में उत्पन्न होती है। बाल्य-काल में जब बूढ़ी दादी या दादाजी के मुख से अनोखी-अनोखी कहानियाँ सुनता था, जब हृदय सरल था तथा सांसारिक संस्कार विशेष रूप से चित्त में सञ्चित नहीं हुए थे, उस समय कल्पना के

बल से मनश्चक्षु के सामने उन सारी कहानियों में वर्णन किये हुए दृश्य मानों जीवित-रूप में आँखों के सामने आ जाते थे। उस समय लौकिक ज्ञान तथा युक्ति का विकास वैसा न होने के कारण सम्भव या असम्भव का निर्णय नहीं कर पाता था। फलतः, कोई भी बात मन में असम्भव नहीं जान पड़ती थी। जब दादी कहती कि अमुक वृक्ष पर भूत रहता है, उसे सुनकर सचमुच ही सन्ध्या के समय अथवा शून्य रात्रि में उस स्थान के पास होकर जाने में शरीर काँप उठता था। भूत है, इस बात को सुनते ही सचमुच ही भूत की सत्ता में विश्वास उत्पन्न हो जाता, युक्ति की आवश्यकता अपेक्षित न होती और न मन में वैसी प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती। बहुतेरे इसे अन्ध-विश्वास के नाम से पुकारेंगे; परन्तु मेरा कथन यह है कि उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तों से यही बात समझ में आती है कि मनुष्य की ऐसी एक अवस्था है, जब शब्द-श्रवण करते ही अर्थबोध के साथ-साथ शब्द के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में मन में दृढ विश्वास उत्पन्न हो जाता है। यह विषय बहुत ही जटिल है; यहाँतक कि अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न मन-स्तत्त्ववेत्ताओं को भी यह सहज ही हृदयङ्गम होने का नहीं। तथापि, सभी इस बात को भली भाँति जानते हैं कि इसको समझने में किसी को कोई कष्ट नहीं होता। यह जो सरल और स्वच्छ हृदय की बात कही गई है, इसका उत्कर्ष किसी व्यक्तिविशेष में इतना अधिक रह सकता है कि किसी विषय में वाक्य-उच्चारण के साथ-ही-साथ उसके चित्त में उसी विषय का दृश्य-रूप में तत्काल ही आविर्भाव हो जाता है। कृत्रिम नख-दर्पणादि प्रक्रिया में, बालक की दृष्टि के सामने शुद्ध शब्द उच्चारण करके इच्छानुसार दृश्य या वस्तु प्रकाशित की जा सकती है; इसका भी मूल कारण यही है। वेदान्त के ग्रन्थों की आलोचना करने पर देखा जाता है कि शास्त्रों में वाक्य या शब्द से अपरोक्ष ज्ञान किस प्रकार उद्‌भूत हो सकता है। इसके विषय में अनेक प्रकार से विचार किया गया है। शब्द-माहात्म्य से मनश्चक्षु के सामने शब्द-बोध्य अर्थ का किस प्रकार आविर्भाव होता है, यहाँ उस पर आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने उस पर यथेष्ट आलोचना की है, एवं हमारे शास्त्रों में भी उसकी अनेक रहस्यमयी बातों का वर्णन हुआ है। सम्मोहन-क्रिया में चालक के शब्द के इशारे से सम्मोहित व्यक्ति कैसे-कैसे अपूर्व दृश्य देखता है, इस बात को बहुत लोग जानते होंगे।

इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि चित्त के कोमल तथा अपेक्षाकृत स्वच्छ होने पर विश्वास का बीज सहज ही अंकुरित हो जाता है। इसी कारण बालक या स्त्रियाँ जितनी आसानी से विश्वास कर सकती हैं, तर्ककुशल पुरुष उतनी आसानी से नहीं कर सकता। यह अन्धविश्वास होने पर भी इस प्रकार की एक अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं।

बाल्यावस्था में गृह में या समाज में, आचार में, उपदेश में अथवा आलोचना में एवं सज्जनों के संसर्गवश कोमल हृदय में इस प्रकार के ईश्वर-विश्वास का बीज वपन हो सकता है। दूसरे देशों के सम्बन्ध में आलोचना करने की आवश्यकता नहीं, परन्तु हमारे देश में प्राचीन काल में शैशव काल से ही इस प्रकार चित्त में साधारणतः

ईश्वर का विश्वास बद्धमूल हो जाता था। पिता, माता एवं गुरुजनों के हृदय की वृत्तियों का प्रभाव शिशु के चित्त पर कम नहीं पड़ता है।

यदि कोई पूछे कि 'विश्वास का कारण क्या है', तो इसका उत्तर यही है कि चित्त की बालकोचित कोमलता एवं स्वच्छता के ऊपर आप्त वाक्य का प्रभाव ही इस विश्वास का कारण है। यह अन्धविश्वास होता है, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि इस विश्वास के मूल में स्व-ज्ञान की उज्ज्वल दीप्ति नहीं होती। केवल यही बात नहीं, यह अज्ञान के प्रदोषालोक में ही वृद्धि एवं पुष्टि प्राप्त करता है। ज्ञान के सम्यक् उदय होने पर इस प्रकार का विश्वास यथार्थ सत्य के उपर प्रतिष्ठित न होने से सदा के लिए समूल उखड़ जाता है। बेजड़ विश्वास युक्ति और तर्क की भयानकता को देखकर भीत हो उठता है और सांसारिक द्वन्द्व के प्रभाव से निस्तेज होकर अव्यक्त (प्रकृति) के गर्भ में विलीन हो जाता है। जीवन के क्रम-विकास की प्रथमावस्था में इसका उदय होने पर भी यह पीछे वर्त्तमान नहीं रह सकता। परन्तु सभी अन्धविश्वास बेजड़ नहीं होते,—यदि किसी ज्ञानी महापुरुष के वचनों से शिशु के हृदय में विश्वास का बीज अंकुरित हो, तो वह क्रमशः पुष्ट होकर पूर्ण बोधरूप परिणाम को प्राप्त हो जाता है। यह विश्वास तत्काल शिशु के निजज्ञान द्वारा प्रदीप्त न होने पर भी वस्तुतः अज्ञानमूलक नहीं होता।

इस प्रकार, शैशवसुलभ विश्वास का उत्कर्ष तथा उसकी महत्ता आप्तरूप में विवेचित पुरुष के वाक्य की यथार्थता पर ही निर्भर करती है। यदि किसी समय यह मालूम हो जाय कि जिसको आप्त समझा गया था, वह आप्त नहीं है तथा उसके वाक्य भी सत्य नहीं हैं;—यदि किसी समय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि की सहायता से इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न हो, तो इससे यह पूर्वकालीन विश्वास उखड़ जाता है। मनुष्य के शैशव के सम्बन्ध में जो बात है, मानव-जाति अथवा समाज की प्रारंभिक अवस्था के सम्बन्ध में भी वही बात होती है।

सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित विश्वास में अनेक गुण हैं। युक्ति या तर्क किये विना ही इसकी प्रेरणा से कर्म में सहज ही प्रवृत्ति हो जाती है। पश्चात्, यथाविधि कर्म के द्वारा फल की प्राप्ति होने पर यह विश्वास दृढ और अचल रूप धारण करता है। अर्थात्, सरल विश्वास के द्वारा उस समय संशयादिविहीन निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होता है। तब कुतर्क अथवा नास्तिकों के कठोर युक्ति-जाल से इसकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसी प्रकार के विश्वास के ऊपर मानव-जीवन की अथवा मानव-समाज की यथार्थ उन्नति निर्भर करती है। किन्तु, विश्वास के मूल में यदि किसी मिथ्या का संस्रव हो, तो इससे उसके द्वारा सत्य फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा इससे यथार्थ कर्म का भी विकास नहीं होता। इस प्रकार का विश्वास कुसंस्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह युक्ति, विचार और सत्य-दर्शन के प्रखर आलोक में, सूर्य की किरणों का स्पर्श करने पर मेघमालाओं के समान विलीन हो जाता है। जीवन-पथ में दीर्घकाल तक यह मनुष्य के चित्त में स्थान प्राप्त नहीं करता या नहीं कर सकता।

विश्वास के स्वरूप एवं उसकी अवस्था का संक्षेप में वर्णन किया गया। 'हम ईश्वर में क्यों विश्वास करें ?' यह प्रश्न प्राथमिक विश्वास के सम्बन्ध में उठ सकता है

और उस चरम विश्वास के सम्बन्ध में भी उठ सकता है, जो कर्म करते-करते प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय होने पर हृदय में प्रतिष्ठित होता है।

प्राथमिक विश्वास-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर यही है कि शास्त्र, गुरुजन, अनुभूति-सम्पन्न महापुरुष सभी ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है, तथा जगत् के कल्याण के लिए पुनः-पुनः वे उसका प्रचार भी कर गये हैं। उनके प्रामाण्य-सिद्धान्त जबतक प्रबल और प्रतिकूल प्रमाणों के द्वारा खण्डित नहीं हो जाते, तबतक चित्त की प्रकृति के अनुसार उनके ऊपर विश्वास करना बहुतों के लिए स्वाभाविक है। साधक अपनी आध्यात्मिक साधना में यथार्थ उन्नति कर लेने पर किसी समय उसने जिस सरल विश्वास को सत्य समझकर ग्रहण किया था, वह वास्तविक ही सत्य है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उसे पद-पद पर मिलता रहता है। अन्तर्जीवन के मार्ग पर अग्रसर होते-होते ऐसी-ऐसी अलौकिक घटनाएँ घटती हैं, एवं ऐसी-ऐसी असाधारण विभूतियों के निदर्शन जीवन में अभ्रान्त-भाव से पुनः-पुनः प्रत्यक्ष होते हैं, जिनसे विचारशील पुरुष अतीन्द्रिय-जगत् एवं समस्त जगत् के अधिष्ठाता, किसी महाशक्ति-सम्पन्न सत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य होता है। साधारण मनुष्य का जीवन प्रायः साधारण पथ में ही प्रवाहित होता है, और उसमें उल्लेखनीय घटना अथवा वैचित्र्य बहुत ही कम होता है। किन्तु, किसी महाशक्तिशाली पुरुष के सहवास में आने पर उसके जीवन में ऐसी-ऐसी अद्भुत घटनाएँ घटने लगती हैं, जो साधारण मनुष्य के ज्ञान और अनुभूति के राज्य से सर्वथा बाहर की बात है। ये घटनाएँ विविध प्रकार की होती हैं। कुछ तो केवल भाव के विकास के रूप में होती हैं, कुछ भाव के साथ बाह्य जगत् से विशिष्ट सम्बन्ध रखती हुई और कुछ पूर्णतया वास्तविक जगत् के ऊपर प्रतिष्ठित होती हैं। मैं अपने वक्तव्य को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करके समझाने की चेष्टा करता हूँ।

कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य गम्भीर रात्रि के समय अत्यन्त दूर अज्ञात देश के जनशून्य प्रान्त में अथवा वनभूमि के बीच होकर दीर्घकाल तक चलते-चलते क्लान्त एवं हताश होकर जीवन का भरोसा छोड़कर किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। उस एकाकी पथिक का कोई साक्षी सहायक नहीं, कोई सहारा नहीं, यहाँतक कि, कुछ पाथेय भी नहीं है, स्थान अपरिचित है, मार्ग अज्ञात है, गन्तव्य स्थान बहुत ही दूर है और दूर तक देखने पर कहीं कोई घर-द्वार अथवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं दिखलाई पड़ता, जिसे देखकर प्राण में उत्साह का संचार हो, वह दिन-भर भटकता-भटकता क्लान्त हो रहा है, एक प्रकार से उसे चलने की शक्ति भी नहीं रही है, चारों ओर रात्रि का अन्धकार फैला हुआ है, हिंस्र पशुओं के आक्रमण का भी भय बना हुआ है और साथ ही भूख से शरीर शिथिल हो रहा है। अबतक केवल स्थूल देह और स्थूल जगत् की दृष्टि से ही मैंने अवस्थाओं का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मानसिक तथा अन्यान्य प्रकार की अशान्ति भी हो सकती है। इस प्रकार की अवस्था में पड़कर उस मनुष्य को कैसी अनुभूति होती होगी, इसका सभी अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार की घोर विपत्ति के समय में, जब उसे आसन्न मृत्यु की कराल छाया सामने दृष्टिगोचर हो रही है; यदि वह पलक मारते ही यह देखता है कि एक दिव्यज्योतिर्मय

मूर्त्ति स्निग्ध करुणामय एवं प्रशान्त मुखश्री से युक्त उसके दृष्टि-पथ में शून्य स्थान में आविर्भूत होकर उसके समस्त भय का हरण कर लेती है, उसे आश्वासन देती हुई कहती है—'वत्स ! तुम भयभीत क्यों हो रहे हो; देखो, सामने दीपक जल रहा है, वहाँ जाओ, तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायेंगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ, भय का कोई कारण नहीं है।' इस आश्वासन को सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्णकुटी में दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानों उसी की प्रतीक्षा में बैठा हुआ है। यदि वह वहाँ आश्रय पाता है, क्षुधा-निवृत्ति के लिए मनमाना भोजन लाभ करता है, भय से त्राण पाता है, गन्तव्य स्थान का मार्ग पाता है, तथा राह का साथी पाता है, तो बताइए, इससे उसके हृदय में किस प्रकार के भावों का उदय होगा ? वह कितना ही नास्तिक अथवा संशयाक्रान्तचित्त क्यों न हो, उसे मस्तक नत करके यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मनुष्य की विचार-सीमा के परे कोई लोकोत्तर शक्ति अवश्य ही है, जो असीम और मंगलमय है, जो सदा ही मनुष्य की अवस्थाएँ देखती रहती है तथा जो घोर विपत्ति में परम स्नेही मित्र के समान आविर्भूत होकर उसकी रक्षा करती है। इस शक्ति को चाहे कोई ईश्वर कहें या किसी दूसरे ही नाम से पुकारें, उससे मुझे यहाँ कोई मतलब नहीं। परन्तु, यह एक अलौकिक शक्ति-विशेष है, वह चैतन्यमय, प्रेममय एवं सब प्रकार से असाधारण है, इस बात को स्वीकार करना ही होगा। ऐसा होने पर वस्तुतः नामान्तर से ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली गई। हाँ, कोई स्पष्ट भाव से ईश्वर के भीतर प्रविष्ट हो सकते हैं और कोई न भी हो सकते हैं। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ मनुष्य के जीवन में कभी-कभी घटती हैं, जो लौकिक कार्य-कारण के सम्बन्ध द्वारा समझाई नहीं जा सकतीं एवं जिनका एकमात्र लक्ष्य मनुष्य का मंगल-साधन होता है।

मैं इस प्रसंग में साधक के साधन-जीवन की बात नहीं कहूँगा; क्योंकि जो यथार्थ साधक हैं, साधन-राज्य में प्रवेश कर अध्यात्म-पथ में चलते-चलते उनको तो भगवत्-शक्ति एवं भगवत्-सत्ता के दर्शन सैकड़ों-हजारों बार हुआ ही करते हैं। जो सच्चे साधक हैं, वे सरल विश्वास से प्रवृत्त होने पर भी क्रमशः ऐसी-ऐसी अभिज्ञता और शक्तियों का संचय करते रहते हैं, जिससे उनका भगवान् में विश्वास केवल प्रारम्भिक अन्धविश्वास में ही आबद्ध नहीं रहता; बल्कि इन अभिज्ञता और शक्तियों के द्वारा वह विश्वास विशेष रूप से दृढ़ता को प्राप्त होता है।

सुतराम्, वर्त्तमान जीवन की साधना के फल से अथवा प्राक्तन सुकृतियों के कारण मनुष्य भगवान् की नाना विभूतियों और करुणा के प्रत्यक्ष दर्शन कर भगवान् की कल्याणमयी सत्ता में अविचल विश्वास करने में समर्थ होता है। प्राथमिक सरल विश्वास का मूल क्या है, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। यथार्थ विश्वास क्यों और कैसे होता है, इसका उत्तर भी दिया जा चुका। प्रथम विश्वास के मूल में हृदय की सरलता और द्वितीय विश्वास के मूल में जीवन की विचित्र अभिज्ञता तथा भगवत्तत्त्व-सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रत्यक्ष दर्शन की अधिकता होती है।

परन्तु, संसार में सभी लोग भगवान् में विश्वास कर सकेंगे, ऐसी आशा नहीं की

जा सकती। वास्तव जगत् का चित्र देखने पर समझा जा सकता है कि मनुष्य-मात्र में ही भगवद्विश्वास बीज रूप से निहित होने पर भी सर्वत्र समभाव से उसकी स्फूर्त्ति नहीं प्राप्त होती। इसका भी एक समय होता है। मैं पहले यह बतला चुका हूँ कि शिक्षा, संस्कार, आचार, उपदेश, शास्त्र और महापुरुषों के वाक्य आदि शुद्ध चित्त में ही विश्वासोत्पत्ति के कारण हैं। परन्तु, यहाँ भी काल का विचार अवश्य ही करना होगा। जीव जबतक स्थूल तथा अचिरस्थायी वस्तु की प्राप्ति में तृप्त होता है, अथवा अभाव होने पर सहायता के लिए स्थूल जगत् की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखता है, तबतक अतीन्द्रिय सत्ता की ओर उसका लक्ष्य नहीं जा सकता। हमारी आकांक्षाएँ यदि दृश्य-मान जगत् से ही पूर्ण हो सकती है, तो फिर उन आकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए अतीन्द्रिय सत्ता की ओर हमारी दृष्टि क्यों जायगी? किन्तु, संसार-चक्र में घूमते-घूमते, नाना प्रकार के भोग एवं अभिज्ञताओं का संचय करते-करते और नाना प्रकार की तीव्र साधनाएँ करने पर भी निरन्तर बाधा और प्रतिकूल घटनाओं से मनोरथ-सिद्धि न होने के कारण जीव जैसे एक ओर क्रमशः अपनी शक्ति की क्षुद्रता का अनुभव करता है, दूसरी ओर वैसे ही सांसारिक शक्ति की अकिंचित्करता को भी उपलक्ष्य करता रहता है। आकांक्षा की मात्रा बढ़ते-बढ़ते अन्त में ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, जब उसे ज्ञात होने लगता है कि आकांक्षा की पूर्णता जगत् की किसी भी वस्तु के द्वारा नहीं हो सकती। कहने की आवश्यकता नहीं कि दीर्घकाल के अनुभव के विना ऐसी अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। परन्तु, जब ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, तब सचमुच ही जीव अपने को निराश्रय अनुभव करता है। मनुष्य के जीवन में इस निराश्रय भाव का उदय ही एक परम पवित्र शुभ मुहूर्त्त है; क्योंकि इसी समय से जगत् की ओर से उसकी दृष्टि हट जाती है और वह जगत् के ऊपर किसी अज्ञात और अचिन्त्य शक्ति की ओर देखता है। इसके बाद आकांक्षा की मात्रा जिस परिमाण में घनीभूत होती है, स्वाभाविक नियमानुसार ठीक उसी परिमाण में मनुष्य का लक्ष्य लौकिक-जगत् को छोड़कर एक अनन्त सत्ता के केन्द्र का स्पर्श करता है। अवश्य ही यह विधि और बोधपूर्वक नहीं होता। जबतक मनुष्य के अहंभाव की प्रधानता तरह-तरह से पुष्ट होती रहती है, तबतक उसके लिए अपने को एक विराट् सत्ता के आश्रित समझना तथा उस सत्ता से अपने को सत्तावान् समझना असम्भव है। संसार के घात-प्रतिघात से जब अहंभाव क्रमशः भग्न हो जाता है, एवं जगत् की असारता हृदयङ्गम होती है, तब जगत् के परे तथा जगत् के आत्मभूत ईश्वरीय शक्ति की क्रिया तथा उसका भाव स्वयमेव प्रकट हो जाता है। इसीलिए जबतक मनुष्य का समय पूरा नहीं होता, अर्थात् जबतक भोगाभिमुखी प्रवृत्ति निवृत्त होकर शान्तभाव को धारण करना आरम्भ नहीं करती, तबतक यथार्थ रूप से उसे भागवत सत्ता में विश्वास नहीं हो सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकार के मनुष्य भगवान् की भक्ति करते हैं, किन्तु इतना ही मात्र कहने से काम नहीं चल सकता; क्योंकि संसार में ऐसे कितने ही आर्त्त मनुष्य देखे जाते हैं, जो घोर विपत्ति के समय भी भगवान् की ओर नहीं ताकते।

इधर जिनको ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा है, अर्थात् जो जिज्ञासु हैं, वे सभी भगवान् की भक्ति ही करते हैं, यह भी जगत् का इतिहास देखकर कोई स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार अर्थाकांक्षी लोग भी सांसारिक अर्थी, अर्थात् धनी की उपासना ही किया करते हैं, अर्थलाभ की आशा में भूलकर भी वे कभी जगदीश्वर की शरण ग्रहण नहीं करते। और, शुष्क ज्ञानी भी ज्ञाननिष्ठ होने पर भी सर्वज्ञानाधार श्रीभगवान् के श्रीचरणों में आत्मसमर्पण करने में समर्थ नहीं होते। पूर्व-जन्म के सौभाग्य अथवा भगवान् की विशेष कृपा का सञ्चार हुए विना भगवान् की ओर चित्त के लग जाने की आशा दुराशामात्र है। श्रीभगवान् ने गीता में भी 'सुकृतिनः' इस विशेषण के द्वारा समझा दिया है कि सुकृति हुए विना केवल आर्त्ति, जिज्ञासा, अर्थ की आकांक्षा अथवा ज्ञान-सम्पत्ति द्वारा ही चित्त भगवान् की ओर आकृष्ट नहीं होता।

अतएव, जो भगवान् में आस्था स्थापन नहीं कर सकते, उनका अभी समय पूरा नहीं हुआ है, यही समझना होगा, और जिनके चित्त में भगवद्विश्वास उत्पन्न हो गया है, उनका समय पूरा हो जाने के कारण ही आप्त वाक्य, शिक्षा, संसर्ग प्रभृति निमित्तों के अवलम्बन से विश्वास जग उठा है। कर्मपथ में अग्रसर होते-होते प्रत्यक्ष-ज्ञान के आविर्भाव में यह विश्वास घनीभूत हो जायगा।

[२]

दूसरा प्रश्न यह है कि 'भगवान्में विश्वास नहीं करने से हानि क्या है?' इस प्रश्न के उत्तर में मेरा कहना यही है कि 'यदि भगवान् में विश्वास करने का कोई आध्यात्मिक मूल्य है, तो यह मानना होगा कि विश्वास नहीं करने से अवश्य ही हानि होगी। परन्तु, बात यह है कि विश्वास जिस प्रकार बलात् उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अविश्वास भी युक्ति या तर्क के बल से दूर नहीं होता। पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य जब अपने अहंभाव की सीमा को देखता है और समझता है कि किसी अचिन्त्य शक्ति के प्रतिघात से उसका पुरुषार्थ पद-पद में क्षुण्ण होता रहता है और जब वह यह अनुभव कर सकता है कि जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं, उसकी शक्ति भी परिमित और ससीम है, तब स्वभावतः उसका व्याकुल चित्त विश्व-ब्रह्माण्ड को लाँघकर एक असीम तत्त्व की ओर दौड़ता है। किन्तु, जबतक प्राकृतिक क्रम-विकास के नियमानुसार इस प्रकार की अवस्था आविर्भूत नहीं होती, तबतक बलपूर्वक भगवान् में विश्वास करने की चेष्टा निष्फल प्रयासमात्र है। यद्यपि भगवान् में विश्वास कर सकने पर मंगल-सोपान में पदार्पण कर धीरे-धीरे परम मंगल के पथ पर अग्रसर होने का उपाय सहज ही हो जाता है, तथापि जबतक यह स्वभावतः ही हृदय में उदित नहीं होता, तबतक अविश्वास से हानि होने पर भी उसे स्वाभाविक रूप से नतमस्तक होकर ग्रहण करना ही पड़ता है। कोई भगवान् में विश्वास करता है और कोई नहीं करता—इन दोनों क्षेत्रों से विचार कर देखने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही भगवान् के मंगलमय विधान के अन्तर्गत हैं। उनमें विश्वास न करना भी उनके नियम के बाहर की बात नहीं है। आज जो भाग्यवश विश्वास के सोपान पर पैर रखने के अधिकारी हो रहे हैं,

यदि उनके सुदीर्घ अतीत जीवन के इतिहास का अन्वेषण किया जाय, तो ज्ञात होगा कि वे भी एक समय अविश्वासी थे। सब मनुष्य सृष्टि के आदि से ही भगवान् में विश्वासी होकर संसार-क्षेत्र में नहीं आते ? पहले उदासीनता रहती है, वही उदासीनता आगे चलकर अविश्वास में परिणत हो जाती है और अन्त में वही अविश्वास विश्वास के स्वर्णालोक में देदीप्यमान हो उठता है। जिनमें अन्तर्दृष्टि होती है, वे मनुष्य के बाह्य आचार एवं स्थूल आचरण देखकर उसके चित्त की शुद्धता की मात्रा का निर्देश नहीं करते, वे जानते हैं कि आज जो अविश्वासी है, वही कल अपने भोगों के पूर्ण होने पर तथा निवृत्तिमुखी गति का पूर्वाभास प्राप्त होने पर—अनन्य भक्त के रूप में उन्नत हो उठता है। प्राचीन ईसाई-संघ के इतिहास की आलोचना करने पर ज्ञात होता है कि 'पाल' (Paul) एक समय ईसाइयों के घोर विद्वेषी समझे जाते थे, कालान्तर में वे ही ईसा के अन्तरंग भक्तों में गिने जाने लगे। समस्त धर्मों के इतिहास में बारम्बार इस प्रकार के वृत्तान्त मिलते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, इससे कोई यह न समझे कि मैं अविश्वास का समर्थन कर रहा हूँ। मेरा कथन केवल यही है कि मनुष्य के जीवन में अविश्वास का भी एक समय निर्दिष्ट रहता है। अविश्वास भी परिणाम में विश्वास का रूप धारण करता है, अतः वस्तुतः वह हानिकारक नहीं है। किन्तु, जो अदूरदर्शी हैं, वे वर्त्तमान अवस्था को ही एकमात्र अवस्था समझते हैं, इसीलिए वे कहते हैं कि भगवान् में विश्वास नहीं करने से क्षति होने की सम्भावना है।

सुतराम्, व्यापकदृष्टि-सम्पन्न ज्ञानी के दिव्य नेत्रों के सामने अविश्वास की भी एक मर्यादा होती है। अवश्य ही लौकिक अपूर्ण दृष्टि से अविश्वास के दोष एवं अपकार स्पष्ट ही देखने में आते हैं।

'ईश्वर में विश्वास न करने से क्या हानि होती है;' इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि परमार्थ-दृष्टि से हानि होने पर भी इस अविश्वास के भविष्यत् में उन्नति के लिए आवश्यक होने के कारण इस हानि को वस्तुतः हानि नहीं समझना चाहिए। भगवान् को न मानना यदि उनके मानने का ही पूर्वाङ्ग हो, तो वह हानि सामयिक मात्र है, किन्तु परिणाम की दृष्टि से वह अवश्य ही स्वीकार करने योग्य है। परन्तु, व्यावहारिक दृष्टि से भगवान् में अविश्वास करना घोर अनर्थ का कारण है। ईसा कहते हैं—

'He that believeth and is baptised shall be saved; but he that believeth not shall be condemned.'
(Aristion's Appendix-Mark 16-16)

अर्थात्, जिसके चित्त में विश्वास उत्पन्न हो गया है तथा जो भगवत्-शक्ति द्वारा अभिषिक्त हो गया है, वह संसार से उत्तीर्ण हो जायगा; परन्तु जो अविश्वासी है, उसे भयंकर दुर्गति भोगनी पड़ती है। गीता में लिखा है—'संशयात्मा विनश्यति।' इस प्रकार, सभी धर्मों में विश्वास की प्रशंसा और अविश्वास की निन्दा पाई जाती है। जिनको अन्तर्जगत् के सूक्ष्म तत्त्व अवगत हैं, वे जानते हैं कि भाव और विषय के भेद से

चित्त की अवस्था में परिवर्त्तन होता है। जिसका चित्त जिस प्रकार के भाववाला होता है, वह उसी प्रकार का फल प्राप्त कर सकता है। जिस किसी विषय में विश्वास किया जाय, उसके साथ चित्त सम्बद्ध होता है और चित्त उसी भाव से भावित हो उठता है। ईश्वर यदि सत्य है और चित्त यदि इस पर विश्वास करके तद्भाव से भावित हो सके, चाहे वह विश्वास ज्ञानमूलक न हो—तो इसी विश्वास के बल से भगवान् के साथ मनुष्य के चित्त का एक सम्बन्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप उस चित्त में अज्ञात रूप से भगवत्-शक्ति नाना प्रकार से कार्य करती रहती है। सत्य में प्रतिष्ठित विश्वास के द्वारा इसी प्रकार धीरे-धीरे पूर्ण सत्य का बोध उत्पन्न होता रहता है। भगवान् में विश्वास कर सकने पर मनुष्य उनकी आकर्षण-सीमा में पड़ जाने के कारण क्रमशः उनके निकटवर्त्ती होता जाता है, फिर सांसारिक वासनाएँ उसे बाँध नहीं सकतीं। सत्य विश्वास के प्रताप से सैकड़ों दोष दूर हो जाते हैं। इसी से अविश्वास से होनेवाली हानि का अनुमान किया जा सकता है। नित्य और आनन्दमयी वस्तु में विश्वास हुए बिना अमरत्व और आनन्दमय सत्ता में स्थित होने की आशा दुराशामात्र है। नित्य वस्तु के साथ सम्बन्ध न होने से जीव को निरन्तर संसार-चक्र में घूमना पड़ता है, भला इससे अधिक हानि और क्या हो सकती है? विश्वास का फल अमरत्व है और अविश्वास का फल मृत्यु-राज्य की मलिनता और अन्धकार है, तथापि यह बात याद रखनी चाहिए कि यह लौकिक दृष्टि का ही समाधान है। दिव्य दृष्टि से मृत्यु भी अमृत की छाया होने के कारण अमंगल का कहीं लेशमात्र भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

[३]

प्रश्नकर्त्ता का तीसरा प्रश्न है कि 'ईश्वर के अस्तित्व में कौन-कौन-से प्रमाण हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि सांसारिक विचार-दृष्टि से ईश्वर की सिद्धि अथवा खण्डन में जो कुछ युक्तियाँ दी जायेंगी, उनमें से कोई भी ऐकान्तिकरूपेण सर्वत्र गृहीत नहीं हो सकती? उदयनाचार्य ने अपनी 'कुसुमाञ्जलि' में नैयायिक पक्ष का अवलम्बन करते हुए ईश्वर-बाधक प्रमाणों का खण्डन कर ईश्वर-साधक प्रमाणों को सुचारुरूपेण प्रदर्शित किया है। उनके परवर्त्ती अनेक विद्वानों ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए इस विषय की आलोचना की है। उत्पलदेव ने 'सिद्धित्रयी' नामक ग्रन्थ के 'ईश्वरसिद्धि' नामक अंश में, तथा अभिनवगुप्ताचार्य ने 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' नामक ग्रन्थ में काश्मीर-शैव-आगम के प्रतिनिधिरूप होकर ईश्वर-तत्त्व की आलोचना की है। यामुनाचार्य 'सिद्धित्रय' नामक ग्रन्थ में, लोकाचार्य 'तत्त्वत्रय' नामक ग्रन्थ में, तथा वेदान्तदेशिकाचार्य, श्रीनिवासाचार्य प्रभृति ने अनेक स्थलों में श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के पक्ष को लेकर ईश्वरवाद की आलोचना की है। इस प्रकार, प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने-अपने ग्रन्थों में अपने साम्प्रदायिक दृष्टि-कोण से ईश्वर-तत्त्व की समालोचना के प्रसंग में साधक और बाधक युक्तियों का तात्त्विक विचार किया है। पाश्चात्य देश में भी अनेक स्थलों में इस विषय की बारम्बार

आलोचना हुई है। प्राचीन ईसाई तथा अन्यान्य धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों में, विशेष कर मध्ययुगीय Schoolmen आदि के दार्शनिक विचारपूर्ण शास्त्रीय व्याख्यात्मक ग्रन्थों, में इस आलोचना के नैतिक, यौक्तिक और आगमिक उपपत्ति के अनुकूल बहुतेरी बातें लिखी गई हैं। वर्त्तमान समय में भी जो मनीषी पुरुष विज्ञानवेत्ता होते हुए भी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, वे भी युक्तितर्कपूर्वक अपनी-अपनी धारणा के अनुसार इस विषय में ग्रन्थ रच गये हैं।

परन्तु, इन सब आलोचनाओं को पढ़कर बुद्धि के परिमार्जित होने पर भी किसी को ईश्वर में तनिक-सा भी विश्वास बढ़ता है या नहीं, यह सन्देह का विषय है। मैंने प्रथम और द्वितीय प्रश्न के उत्तर में जो कुछ कहा है, उससे स्पष्टतः समझा जा सकता है कि केवल युक्ति-बल से कोई कभी ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता। युक्ति के सुप्रतिष्ठित होने से उसके द्वारा ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में एक आनुमानिक ज्ञान होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु युक्ति का प्रतिष्ठित होना ही कठिन है। नैयायिक जिस युक्ति द्वारा ईश्वर की सिद्धि करते हैं, मीमांसक लोग उस युक्ति को युक्ति का आभासमात्र समझते हैं। कार्य देखकर चेतन कर्त्ता का अनुमान करना अथवा केवल कारणमात्र का अनुमान करना, एक विवादग्रस्त विषय है। इसी प्रकार, सर्वत्र देखा जाता है।

वस्तुतः, प्रयोग-कुशल शक्तिशाली पुरुष के हाथ से अस्त्रविशेष जिस प्रकार कार्यकारी होता है, उसी प्रकार सिद्धिसम्पन्न शक्तिशाली पुरुष-विशेष द्वारा प्रदर्शित युक्ति ही सार्थक होती है; जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति की है, तथा जो दूसरों को, प्रयोजन होने पर, अवस्था-विशेष में सन्दिग्ध विषय को प्रत्यक्षरूप से दिखला देने की क्षमता रखते हैं, उनकी दी हुई युक्ति युक्त होने पर भी दूसरों को समझाने के लिए अधिक उपयोगी होती है। यदि ऐसा न होता, तो बहुत दिन पूर्व ही विचार के द्वारा ईश्वर का अथवा अन्य किसी अतीन्द्रिय सत्ता का रहस्य मीमांसित हो जाता। सुतराम्, मैं ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में जो युक्तियाँ उपस्थित करूँगा, उन सबको आपेक्षिक ही समझना होगा; क्योंकि अवस्था-विशेष में वे युक्तियाँ प्रयुक्त न हो सकेंगी तथा प्रयुक्त होने पर भी उनकी सारवत्ता न रहेगी।

'ईश्वर' शब्द से मेरा अभिप्राय 'संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार के कर्त्ता एवं अनुग्रह और निग्रह के हेतुभूत (कारणस्वरूप) सच्चिदानन्दमय अनन्तशक्ति-समन्वित सत्ता-विशेष' से है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सत्ता में जो शक्तियाँ निहित रहती हैं, उन शक्तियों की साम्यावस्था को ही ईश्वर का 'ब्रह्मभाव' कहते हैं। वैषम्य-काल में कोई भी शक्ति प्रधान होकर इतर शक्ति को अभिभूत कर प्रकाशित हो उठती है, इससे केवल उसी शक्ति की क्रिया दिखाई देती है। इस प्रकार, पृथक्-पृथक् रूप से सृष्टि में अनन्त शक्तियों की क्रिया दृष्टिगोचर होती है। सृष्टि के अन्त में किसी भी शक्ति की उपलब्धि नहीं होती, तथा शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न भाव से एकरस हो प्रकाशित रहते हैं। संसार में जो कुछ है, अथवा होगा, सब ईश्वर से उद्भूत है, ईश्वर में स्थित है एवं ईश्वर में ही विलीन होता है। इसलिए, जबतक जगत् है, तबतक

जगत् के आश्रयरूप—जिस प्रकार जलाशय तरंगों का आश्रय होता है उसी प्रकार—ईश्वरसत्ता को अनुसन्धानपूर्वक प्रत्यक्ष करना होगा। केवल यही नहीं, सांसारिक सत्ता भी मूलतः ईश्वरीय सत्ता से अभिन्न है, इसकी भी उपलब्धि करनी होगी। प्रलयकाल में जगत् जिनमें विलीन हो जाता है, तथा उस समय जो अवशिष्ट रहता है, उस विशुद्ध ईश्वरीय सत्ता को भी समझना होगा। जगत् की स्थिति के समय इसके संरक्षक, नियामक, दर्शक और यहाँतक कि भोक्ता रूप में भी ईश्वर की सत्ता अनुसन्धान-योग्य है। जो कला और विद्यारूपा शक्तियाँ प्रवाह-रूप में प्रवर्त्तित हो व्यावहारिक जगत् का कार्य-साधन कर रही हैं, उनकी मूल प्रवृत्ति जहाँ से होती है, वही ईश्वर है। इस प्रकार से भी सर्वशक्ति के अधिष्ठाता के रूप में भी ईश्वर के अस्तित्व की धारणा करनी होगी।

इस परिदृश्यमान जगत् की पर्यालोचना करने से पता लगता है कि लौकिक प्रत्यक्षगोचर स्थूल सत्ता के अन्तराल में एक शक्तिमयी सूक्ष्म सत्ता वर्त्तमान रहती है। शक्ति के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। जिस किसी वस्तु में क्रिया हो, उसके मूल में शक्ति की प्रेरणा रहती है, इस बात को मानना ही होगा। किसी कौशल से शक्ति का निरोध कर सकने से उसके फलस्वरूप क्रिया भी निवृत्त हो जाती है। मनुष्य के शरीर में दर्शन, श्रवण प्रभृति क्रियाएँ अथवा ग्रहण, गमन, उत्सर्ग आदि क्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं। इन सब क्रियाओं के मूल में एक शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार बाह्य जगत् में वायु का सञ्चलन, मेघ का गर्जन, विद्युत् की दीप्ति इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाएँ दीख पड़ती हैं। जब क्रिया के द्वारा ही शक्ति का अनुमान होता है, तब विभिन्न क्रियाओं के पार्थक्य से शक्ति के पार्थक्य को भी स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु, जिन लोगों ने जड-विज्ञान की दृष्टि से शक्ति-तत्त्व की आलोचना की है, वे जानते हैं कि एकजातीय शक्ति से अन्यजातीय शक्ति का आविर्भाव होता है। शक्तियाँ केवल परस्पर सम्बद्ध हैं, ऐसी बात नहीं है, उनके मूल में एक के सिवा दूसरी शक्ति का पता नहीं लगता। एक ही महाशक्ति आधार-भेद से भिन्न-भिन्न शक्ति-रूप में प्रकाशित हो भिन्न-भिन्न कार्य करती है—

एकैव सा महाशक्तिः तया सर्वमिदं ततम्।

चण्डी का यह महावचन बीसवीं शताब्दी के विज्ञान को भी सिर झुकाकर स्वीकार करना पड़ा है।

किन्तु इस शक्ति का स्वरूप क्या है? कहना नहीं होगा कि इस सम्बन्ध में विज्ञान अबतक कुछ भी समाधान नहीं कर सका है। शक्ति के अखण्ड रूप के विज्ञान के दृष्टिगत होने में अभी देर है। किन्तु, उसके परिच्छिन्न रूप के सम्बन्ध में वैज्ञानिक जगत् में यथेष्ट गवेषणा हो चुकी है। सिद्धान्त यह कि शक्ति ही घनीभूत होकर भौतिक सत्ता के रूप में आविर्भूत होती है, तब उससे ऐसे अनेक धर्मों का विकास होता है, जिनका अस्तित्व विशुद्ध शक्ति की अवस्था में खोजने पर भी नहीं मिलता। वस्तुतः, भौतिक रूप नियन्त्रित अथवा बद्ध अवस्थामात्र है; क्योंकि शक्ति को यन्त्र

द्वारा बद्ध न कर सकने पर उससे स्थूल भाव का विकास सम्भव नहीं है। दूसरे प्रकार से इस बन्धन को मुक्त कर देने पर, अर्थात् स्थूल भाव से स्थूलत्व को हटा लेने पर सत्ता विशुद्ध शक्ति के रूप में ही पर्यवसित हो जाती है। अतएव, शक्ति और भौतिक सत्ता, अवस्थागत भेद रहने पर भी वास्तव में अद्वैत है। शक्ति की इस नियन्त्रित अवस्था को सृष्टि में हम निरन्तर सर्वत्र देख रहे हैं। विशुद्ध शक्ति के स्वरूप को साधारणतः कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, तथा कोई शक्तिशाली पुरुष यदि उसे दिखला भी दे, तो साधारण जीव उसके तेज का सहन नहीं कर सकता। सांसारिक क्रिया, परिणाम, विपाक प्रभृति व्यापारों से साधारण मनुष्य केवल शक्ति का अनुमान कर सकते हैं। इससे अधिक अग्रसर होने का अधिकार साधारण मनुष्यों को तो है ही नहीं, जड-विज्ञान-वादी वैज्ञानिकों को भी नहीं होता। जो लोग विचारशील एवं कर्मी हैं, अर्थात् जो लोग केवल प्रवाह के साथ न बहकर अपने विवेक और विचार के आश्रय से दृश्यमान वस्तु के सूक्ष्म तत्त्व को ढूँढ़ निकालने के लिए उद्यमशील हैं, उन्हें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस स्थूल सांसारिक अवस्था के अन्तराल में एक विराट् शक्तिमय अवस्था है। आस्तिक और नास्तिक, ईश्वर के विश्वासी और अविश्वासी सभी को यह स्वीकार करना होगा, किन्तु प्रश्न यह है कि इस शक्ति का स्वरूप क्या है? यह शक्ति चैतन्य है या जड़, इसका विवेचन करने के पहले यह देखना होगा कि इसके साथ मानवीय इच्छा-शक्ति का कोई सम्बन्ध है या नहीं। क्योंकि, इच्छा को मध्यभूमि में न रख सकने से एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर क्रिया का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। क्रिया से केवल शक्ति का अनुमान किया जा सकता है। किन्तु, वह शक्ति यदि इच्छारूपा न हो, तो उससे ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। (अपूर्ण)

शाङ्करवेदान्त और अद्वैत प्रस्थान

बादरायण का ब्रह्मसूत्र

यद्यपि ब्रह्मसूत्रकार बादरायण के विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, तथापि शाङ्करवेदान्त की आलोचना के प्रसंग से कुछ कहना पड़ता है। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि बादरायण व्यास का नामान्तर है। परन्तु, आजकल पाश्चात्य तथा भारतीय अनेक अन्वेषणकर्त्ता विद्वान् यह मानने के लिए तैयार नही हैं। किसी-किसी का यह मत है कि बादरायण को व्यास मान लेने पर भी वे कृष्णद्वैपायन व्यास हैं, इनमें कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु, इस विषय में यह विचारणीय है कि पाणिनि के सूत्र में जिन भिक्षुसूत्रकार पाराशर्य का उल्लेख है, वे कौन पाराशर्य हैं। भिक्षुशब्द संन्यासी का नामान्तर है। अतएव, यह अनुमान किया जा सकता है कि भिक्षुसूत्र संन्यासियों के पठन-योग्य उपनिषदों के आधार पर लिखा गया कोई ग्रन्थ होगा। यदि यह कल्पना सत्य हो, तो वह भिक्षुसूत्र वेदान्तसूत्र या ब्रह्मसूत्र से भिन्न नहीं होगा। पाराशर्य पराशर-पुत्र का नामान्तर है। अतएव पराशरपुत्र व्यास द्वारा निर्मित एक भिक्षुसूत्र अति प्राचीन समय में भी प्रसिद्ध था। भगवान् पाणिनि के सूत्र में इस ग्रन्थ का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि पाणिनी को उक्त ग्रन्थ का परिचय था। वर्त्तमान समय में जो ब्रह्म-सूत्र प्रचलित है, वह भी बादरायण व्यास के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थ से अभिन्न है अथवा उस सम्प्रदाय का कोई अर्वाचीन ग्रन्थ है, इसका निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि जबतक कोई प्रबल विरुद्ध प्रमाण आविष्कृत न हो, तबतक कल्पनागौरव करके एक से अधिक वेदान्तसूत्रकार व्यास की सत्ता का अंगीकार करने की आवश्यकता नहीं है। अध्यापक जैकोबी तथा अन्यान्य पाश्चात्य विद्वानों का विश्वास है कि प्रचलित वेदान्तसूत्र अन्यान्य दर्शनसूत्रों के रचना-काल से परवर्त्ती काल में निर्मित हुआ था। इसका कारण यही है कि वेदान्त-दर्शन में खण्डन करने के लिए जितने दार्शनिक पूर्वपक्ष उपस्थित हुए हैं, वे सब अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। सांख्य, सांख्यानुगत योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, आर्हत, पांचरात्र और पाशुपत—ये सब मत प्रवाह-रूप से प्राचीन होने पर भी दार्शनिक साहित्य के इतिहास से अत्यन्त प्राचीन नहीं है; क्योंकि अतिप्राचीन सांख्य मत का वेदान्तसूत्र में निराकरण किया गया है, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका में सांख्यदर्शन का जैसा स्वरूप दिखलाया गया है, उसी का खण्डन वेदान्तसूत्र में है। आसुरि, पंचशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य, जनक और पराशर इन सब प्राचीन आचार्यों ने सांख्यज्ञान में निष्ठा प्राप्त करके जगत् में उसी का प्रचार किया था। वोढु, सनन्दन आदि आचार्यों के विषय में भी यही बात प्रचलित है। प्राचीन षष्टितन्त्र ग्रन्थ का प्रतिपाद्य ज्ञान ईश्वरकृष्णकृत कारिकोपदिष्ट ज्ञान से सर्वथा अभिन्न नहीं है।

महाभारत के शान्तिपर्व में तथा चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में भी किसी-किसी अंश में विभिन्न प्रकार से सांख्य-सिद्धान्त के विषय में वर्णन मिलता है।

वर्त्तमान पण्डितों की यह कल्पना समीचीन प्रतीत नहीं होती; क्योंकि ब्रह्मसूत्र में अति प्राचीन ऋषियों को छोड़कर अर्वाचीन किसी सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता अथवा किसी दार्शनिक सिद्धान्त के स्थापयिता किसी आचार्य के नाम का निर्देश नहीं है। ब्रह्मसूत्र में यदि सांख्यमत का निराकरण हुआ हो, तो उसे अति प्राचीन काल का ही सांख्यमत समझना चाहिए। न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त भी, जिनका ब्रह्मसूत्र में खण्डन किया गया है, प्रचलित गौतमसूत्र अथवा कणादसूत्र-प्रतिपादित नहीं हैं। सर्वास्तिवाद, विज्ञान-वाद तथा शून्यवाद का खण्डन ब्रह्मसूत्र में अवश्य दीखता है, किन्तु वह भी अत्यन्त अर्वाचीन ऐतिहासिक बौद्धमतविशेष है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिकों का सर्वास्तिवाद सिद्धान्त बीजरूप में कथावत्थु प्रभृति प्राचीन ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। योगाचार-सम्प्रदाय के स्थापयिता बोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ तथा योगाचार्य असंग से पहले भी विज्ञानवाद विद्यमान था। लङ्कावतारसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में तो स्पष्ट है ही, परन्तु पालि-साहित्य में भी उसका स्पष्ट निर्देश मिलता है। माध्यमिक मत नागार्जुन के समय में नागार्जुन के ग्रन्थों में तथा आर्यदेव, धर्मत्रात, भव्य प्रभृति के ग्रन्थों में वर्णित है, यह बात सत्य है; परन्तु शून्यवाद नागार्जुन के पहले अश्वघोष के ग्रन्थ में ही नहीं, अतिप्राचीन पालि-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। प्राचीन उपनिषद् आदि में भी सूक्ष्म रूप में इन सब सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। अतएव, यद्यपि यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि वर्त्तमान ब्रह्मसूत्र ही पाणिनि द्वारा कथित अति-प्राचीन भिक्षुसूत्र का अभिनव संस्करण है या नहीं, तथापि यह निश्चित है कि इस ग्रन्थ को पाश्चात्य विद्वान् जितना नवीन समझते हैं, उतना नवीन यह नहीं है। पांचरात्र तथा पाशुपत ग्रन्थों से भी यही बात सिद्ध होती है; क्योंकि ये दो अवैदिक मत महाभारत के समय में भी प्रचलित थे। महाभारत के शान्तिपर्व के आलोचन से यह विषय स्पष्टतया प्रतीत हो जायगा। आर्हत मत को भी अत्यन्त नवीन कहना उचित नहीं है; क्योंकि प्राचीन वैदिक, बौद्ध तथा जैनशास्त्रों के समालोचन से मालूम होता है कि इस प्रकार के दार्शनिक विकल्प प्रवाह रूप में प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध थे। परवर्त्ती समय में ये सब मत संगृहीत करके दृष्टिभेद के अनुसार लिखे गये थे और प्रत्येक संग्रह एक-एक दर्शन के नाम से विख्यात हुआ। जो लोग दर्शनशास्त्र के तत्त्वांश का विशेषरूप से अध्ययन करते हैं, वे यह बात समझ सकेंगे। केवल सादृश्य-मात्र से किसी मत को किसी सम्प्रदाय का खास मत समझ लेना ठीक नहीं है; क्योंकि तत्-तत् सम्प्रदाय के पहले भी वह मत रहा, वस्तुतः उस प्राचीन मत का आशय लेकर ही तत्-तत् सम्प्रदायों ने अपने सिद्धान्त का प्रचार किया था। किसीका मत-विशेष लौकिक उपाय से न जानने पर भी वैयक्तिक साधनजन्य दृष्टि के प्रभाव से अनुभव-गोचर किया जा सकता है, परन्तु इसमें भाषागत वैशिष्ट्य विशेष रूप से विचारणीय है।

वेदान्त तथा प्राचीन आर्षसम्प्रदाय

बादरायण के ग्रन्थ में बहुत से प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख है। ये

लोग प्राचीन आर्षवेदान्त के आचार्य थे। इन लोगों के दार्शनिक मत में सर्वथा एकत नहीं है। आचार्य बादरि का नाम ब्रह्मसूत्र में चार स्थानों में आया है (ब्र० सू० १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०)। जैमिनि के मीमांसा-सूत्र में भी आचार्य बादरि का नाम (३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, ९।२।३०) मिलता है, अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्होंने कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा पर सूत्रग्रन्थ बनाये थे। इनके मत में वैदिक कर्म में सबका अधिकार है। जैमिनि ने इस मत का खण्डन करते हुए शूद्र के अधिकार का खण्डन किया है। उपनिषदों में कहीं-कहीं सर्वव्यापक ईश्वर का प्रादेशमात्र रूप से वर्णन किया गया है। इसमें क्या उपपत्ति है? इस विषय में आचार्य आश्मरथ्य तथा आचार्य जैमिनि के सदृश आचार्य बादरि के मत का ब्रह्मसूत्र में उद्धार करके खण्डन किया गया है। बादरि का कथन यह है कि मन प्रादेशमात्र हृदय में रहने के कारण शास्त्रों में प्रादेशमात्र कहा जाता है। तादृश मन से परमेश्वर का स्मरण होता है, इसलिए वह प्रादेशमात्र रूप से वर्णित होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में (५।१०।७) 'तद्य इह रमणीयचरणाः' इत्यादि वाक्यों में चरण शब्द का प्रयोग है। इस प्रकरण में चरण शब्द के क्या अर्थ हैं, इस विषय में भी आचार्यों में मतभेद है। बादरि के मत में सुकृत और दुष्कृत ही चरण-शब्द के वाच्य हैं। अनुष्ठानवाचक चरण शब्द का प्रयोग उन्होंने कर्मार्थ में किया है। छान्दोग्य उपनिषद् में (४।१५।५) 'स एनान् ब्रह्म गमयति' इस प्रकार वर्णन मिलता है। यहाँ ब्रह्मशब्द से परब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए अथवा कार्यब्रह्म का, इस प्रकार का संशय उठता है। जैमिनि के मत में वह परब्रह्म है, परन्तु बादरि कहते हैं कि यह परब्रह्म नहीं हो सकता—परब्रह्म सर्वगत है और गन्ता का प्रत्यगात्मस्वरूप है, इसलिए उसमें गन्ता, गन्तव्य और गति इस तरह भेद नहीं हो सकता; परन्तु कार्य-ब्रह्म प्रदेशवान् है, इसलिए उनका गन्तव्य रूप से वर्णन किया जाता है। अतएव, छान्दोग्य के वचन में जो ब्रह्मशब्द है, वह कार्यब्रह्म का वाचक है। छान्दोग्य के अष्टम प्रपाठक में (८।२।१) मुक्त पुरुष के वर्णन-प्रसंग में कहा गया है—'सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति'। यहाँ प्रश्न होता है कि ईश्वरभावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता रहती है या नहीं? बादरि कहते हैं—'नहीं रहती।' इसीलिए, छान्दोग्य में (८।१२।१५) कहा गया है कि 'मनसा एतान् कायान् पश्यन्'।

बादरायण ने आश्मरथ्य का उल्लेख दो सूत्रों (ब्र० सू० १।२।२९, १।४।२०) में किया है। पूर्वोक्त प्रकरण में प्रादेशमात्र शब्द का व्याख्यान विलक्षण-सा है। वे कहते हैं कि परमेश्वर वस्तुतः अनन्त होने पर भी उपासक के ऊपर अनुग्रह करने के लिए प्रादेशमात्र में आविर्भूत होता है; क्योंकि सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि कोई नहीं कर सकता। हृदयादि उपलब्धि-स्थानों में, अर्थात् प्रदेशों में परमेश्वर की उपलब्धि विशेष रूप से होती है। इसलिए भी परमेश्वर प्रादेशमात्र कहा जा सकता है, यह आश्मरथ्य का वैकल्पिक व्याख्यान है। उनके मत में विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में परस्पर भेदाभेद-सम्बन्ध है। 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इत्यादि वाक्यों में जो एक विज्ञान से सर्वविज्ञानवाद की प्रतिज्ञा की गई है, उससे भी भेदाभेदवाद सिद्ध होता है।

आश्मरथ्यका भेदाभेदवाद परवर्त्ती काल में यादव प्रकाश द्वारा परिपुष्ट हुआ था, यह श्रुतिप्रकाशिकाकार सुदर्शनाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है ।[1] मीमांसा-दर्शन में (६।५।१६) भी आश्मरथ्य का नाम आया है ।

आत्रेय के नाम का केवल एक ही स्थान में (ब्र० सू० ३।४।४४) उल्लेख किया गया है । अङ्गाश्रित उपासना यजमान-कर्त्तृक तथा ऋत्विक्-कर्त्तृक दोनों प्रकार से कही जा सकती है । इसी से संशय होता है कि उनका फल किसको प्राप्त होगा । इस विषय में आत्रेय का सिद्धान्त यह है कि कर्म का फल स्वामी अथवा यजमान को ही प्राप्त होगा, ऋत्विक् को नहीं हो सकता । महाभारत में (१३।१३७।३) निर्गुण ब्रह्मविद्या के उपदेष्टृ-रूप में एक आत्रेय ऋषि का नाम मिलता है, किन्तु यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि ब्रह्मसूत्रोक्त आत्रेय उनसे भिन्न हैं या अभिन्न । मीमांसा-दर्शन में भी (४।३।१८, ६।१।२६) आत्रेय का उल्लेख मिलता है ।

आचार्य काशकृत्स्न (ब्र० सू० १।४।२२) कहते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक से प्रतीत होता है कि परमात्मा ही जीवलोक में अवस्थित है । जीव परमात्मा का विकार नहीं है । आचार्य शङ्कर कहते हैं—'काशकृत्स्नस्य आचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवः नान्य इति मतम्' । उन्होंने श्रुत्यनुसारी कहकर स्वयं इस मत को मान लिया है ।

औडुलोमिका नाम ब्रह्मसूत्र में तीन जगह (१।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६) आया है । उनके मत में भेदाभेद अवस्थान्तर के अनुसार है, अर्थात् सत्य संसार-दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है । मुक्ति होने पर अभेद है । वाचस्पतिमिश्र ने भामती में इनके मत का इस प्रकार प्रदर्शन किया है—

'जीवो हि परमात्मनोऽत्यन्तं भिन्न एव सन् देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपधानसम्पर्कात् सर्वदा कलुषः, तस्य च ज्ञानध्यानादिसाधनानुष्ठानात् सम्प्रसन्नस्य देहेन्द्रियादि-सङ्घातात् उत्क्रमिष्यतः परमात्मना ऐक्योपपत्तेः इदमभेदेनोपक्रमणम् । एतदुक्तं भवति—भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽपि अभेद उक्तः । यथाऽहुः पाञ्चरात्रिकाः—

आमुक्तेर्भेद एव स्यात् जीवस्य च परस्य च ।
मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावतः ॥

आचार्य कार्ष्णाजिनि का नाम केवल एक सूत्र में उल्लिखित है (ब्र० सू० ३।१।९) । मीमांसा-सूत्र में भी (४।३।१७, ६।७।३५) कार्ष्णाजिनि का नामोल्लेख है । बादरायण के ब्रह्मसूत्र में (१।२।२८, १।२।३१, १।३।३१, १।४।१८, ३।२।४०, ३।४।२-७, ३।४।१८, ३।४।४०, ४।३।१२, ४।४।५, ४।४।११) जैमिनि का नाम सबसे अधिक लिया गया है ।

---

१. शङ्कर ने (ब्र० सू० १।४।२२) आचार्य आश्मरथ्य के मत का इस प्रकार उपन्यास किया है—'आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभि-द्योतनात् कार्यकारणभावः कियानपि अभिप्रेत इति गम्यते ।'

प्राचीन काल में काश्यप[1] का भी सूत्रग्रन्थ था, ऐसा प्रतीत होता है। भक्ति-सूत्रकार शाण्डिल्य ने अपने सूत्रग्रन्थ में काश्यप तथा बादरायण के मत का उल्लेखपूर्वक अपने सिद्धान्त का स्थापन किया है। उनके मत में[2] काश्यप भेदवादी तथा बादरायण

---

१. महाभारत (१३।३१९।५९) में जिन आचार्यों ने गन्धर्व विभावसु को पञ्चविंशति तत्त्वों के अथवा पुरुष के रूप के विषय में उपदेश दिया था, उनमें काश्यप का नाम भी आता है। प्राचीन साहित्य का अनुसन्धान करने से ग्रन्थकार रूप में और भी २।३ काश्यपों का पता चलता है। इनमें एक आचार्य, संगीत तथा अलङ्कारशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थकार थे। अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की टीका में इनके मत का प्रसङ्गतः उल्लेख किया है। हृदयङ्गमा नामक ग्रन्थ में काश्यप, वररुचि प्रभृति के लक्षणशास्त्र का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी के मत में काश्यप ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र का अवलम्बन करके ही ये ग्रन्थ बनाये थे, जिनमें संगीत और अलङ्कार दोनों विषयों का वर्णन है। राजा नान्यदेव ने स्वनिर्मित सरस्वतीहृदयालङ्कार नामक नाट्यशास्त्रटीका में स्थल-स्थल पर काश्यप का उल्लेख किया है। और भी, एक काश्यप का उल्लेख नान्यदेव के उक्त ग्रन्थ में ही मिलता है। प्रथम काश्यप से इनमें पार्थक्य या भेद-ज्ञापन के लिए बृहत्काश्यप नाम से इनका उल्लेख किया गया है। एक और तीसरे काश्यप का पता चलता है, जिन्होंने चित्रविद्या के ऊपर एक ग्रन्थ बनाया था। शाण्डिल्यसूत्र में जिस काश्यप का नाम आता है, वह महाभारतोक्त काश्यप तथा इन तीन काश्यपों में से किसी से अभिन्न है या नहीं, इसका निश्चय करना कठिन है।

२. बादरायण के विषय में शाण्डिल्य का यह मत भी विचारणीय है। शाण्डिल्य के वचन से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में बादरायण अद्वैतवादी थे। शाङ्कर सम्प्रदाय ने भी इसी विश्वास के ऊपर अद्वैत पक्ष में उनके सूत्रों का व्याख्यान किया है। प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित थीबो ने शङ्कराचार्य-कृत भाष्य के स्वरचित अनुवाद की भूमिका में शङ्कराचार्य की व्याख्या के ऊपर कटाक्ष किया है। उनका कहना यह है कि 'बादरायण का दार्शनिक सिद्धान्त शङ्कराचार्य के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न था, किन्तु शङ्कराचार्य ने अपने शुष्क निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए बादरायण के ऊपर अपने मत का आरोप किया है। इसीलिए, ब्रह्मसूत्र के शाङ्करभाष्य को पढ़ने से सूत्रकार का वास्तविक सिद्धान्त मालूम नहीं हो सकता है।' इनकी समालोचना के भाव को ग्रहण करते हुए परवर्त्ती बहुत समालोचकों ने शङ्कराचार्य की व्याख्या के विषय में ऐसा ही मत प्रकट किया है। प्राचीन काल में रामानुज आदि आचार्यों ने भी ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में शङ्कराचार्य के व्याख्यान के ऊपर विभिन्न स्थलों पर दोष दिखलाये हैं। रामानुजाचार्य के पूर्ववर्त्ती आचार्य भास्कर ने अपने भाष्य के आरम्भ में स्पष्ट वाक्यों में कहा है कि शङ्कराचार्य ने सूत्रकार के अभिप्राय को गुप्त करके अपना सिद्धान्त ब्रह्मसूत्र के भाष्य के बहाने प्रकट किया है। उनका कहना है कि इस अपव्याख्यान का प्रदर्शन करके यथातथ रूप में भाष्य का आशय प्रकट करना ही उनके भाष्य का उद्देश्य है—

सूत्राभिप्रायसंवृत्या स्वाभिप्रायप्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये ॥

पूर्वोक्त आलोचना से इतना सिद्ध होता है कि डॉ० थीबो तथा उनके अनुयायियों की प्रतिकूल आलोचनाएँ सर्वथा अभिनव नहीं हैं; क्योंकि पूर्वकाल में भी ऐसी समालोचनाएँ होती थीं। परन्तु, शाण्डिल्य के वचन में यह भी स्पष्टतः प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में बादरायण के सूत्रों का अभिप्राय अद्वैतपरक भी माना जाता था। इस प्रकार का मत केवल भाष्यकारों का ही नहीं था, किन्तु सूत्रकारों का भी था।

अभेदवादी थे, उनके जिन सूत्रों में काश्यपसिद्धान्त, बादरायणसिद्धान्त तथा अपने सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है, वे ये हैं—

१. तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्। (२९)

२. आत्मैकपरां बादरायणः। (३०)

३. उभयपरां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम्। (३१)

इनके सिवा और भी अनेक ऋषियों का वर्णन मिलता है, जिन्होंने विभिन्न दार्शनिक ज्ञान का प्रचार किया था। असित, देवल, गर्ग, जैगीषव्य, पराशर, भृगु इत्यादि ऋषियों के नाम इस प्रसङ्ग में विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन वेदान्तमत

प्राचीन दर्शनशास्त्र के अध्ययन से भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मनन्दी, टङ्क, गुहदेव, भारुचि, कपर्दी, उपवर्ष, बोधायन, भर्तृहरि, सुन्दरपाण्ड्य, द्रमिलाचार्य, ब्रह्मदत्त आदि वेदान्ताचार्यों के नाम ज्ञात होते हैं। यह कहना कठिन है कि इन सभी ने ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य-रचना की थी या नहीं। इनमें से किसी ने गीता के ऊपर भाष्य-रचना की थी और किसी ने ब्रह्मसूत्र और गीता दोनों पर ही। उपनिषदों पर भी किसी-किसी का व्याख्यान प्रचलित था। परन्तु, इन सबका ठीक-ठीक निर्देश करने के लिए इस समय कोई उपाय नहीं है। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि भर्तृप्रपञ्च ने कठोपनिषद् और बृहदारण्यक पर भाष्य-रचना की थी। सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि के समय में भी भर्तृप्रपञ्च का ग्रन्थ उपलब्ध होता था; क्योंकि इन लोगों ने जिस प्रकार उनके मत का उपन्यास तथा प्रपञ्चन किया है, वैसा ग्रन्थ के साक्षात् समालोचन के बिना हो नहीं सकता। भर्तृप्रपञ्च का सिद्धान्त ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद रहा। यद्यपि शङ्कराचार्य ने बृहदारण्यक-भाष्य में कहीं-कहीं पर 'औपनिषदम्मन्य' कहकर उनका परिहास किया है, तथापि यह बात अवश्य ही माननी होगी कि उस समय दार्शनिक क्षेत्र में उनका पाण्डित्य तथा प्रभाव कुछ कम नहीं था। इसी कारण शङ्कर के साक्षात् शिष्य अपने वार्त्तिक में 'सम्प्रदायवित्' तथा 'ब्रह्मवादी' कहकर उनकी प्रशंसा करने के लिए बाध्य हुए थे। दार्शनिक दृष्टि से इनका मत द्वैताद्वैत, भेदाभेद, अनेकान्त आदि अनेक नाम से प्रसिद्ध था।[१] उनका मत है कि परमार्थ एक भी है और अनेक भी—ब्रह्मरूप में एक है और जगद्रूप में अनेक है। इसीलिए, एकान्ततः कर्म अथवा ज्ञान का स्वीकार न कर दोनों की ही सार्थकता मान ली गई है।

---

१. शङ्कराचार्य ने शारीरक भाष्य में (ब्र० सू० २।१।१४) भर्तृप्रपञ्च के भेदाभेदमत का उपन्यास इस प्रकार किया है—'(ननु) अनेकात्मकं ब्रह्म, यथाऽनेकशाखो वृक्षः, एवमनेकशक्तिप्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म। अत एकत्वं नानात्वञ्चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वम्, शाखा इति नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वम्, फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वम्। यथा च मृदात्मनैकत्वम् घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। तत्रैकत्वेनांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति। एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति।'

ज्ञान और कर्म का समुच्चय मानने का यही मुख्य उद्देश्य है। भर्तृप्रपंच की दृष्टि से जीव अनेक और परमात्मा का एकदेशमात्र है—जैसे, ऊषर देश पृथ्वी के एक देश में आश्रित है, वैसे ही यह भी है। विद्या, कर्म तथा पूर्वकर्म-संस्कार जीव में विद्यमान रहते हैं, अविद्या परमात्मा से अभिव्यक्त होकर जीव में विकार उत्पन्न करती हुई अनात्मस्वरूप अन्तः-करण में धर्मभाव से वर्त्तमान रहती है। वे कहते हैं कि जीव परममोक्ष लाभ करने के पहले हिरण्यगर्भ-भाव को प्राप्त होते हैं। हिरण्यगर्भत्व मुक्तावस्था नहीं है; किन्तु मोक्ष की पूर्वकालीन अन्तराल अवस्थामात्र है। इस अवस्था में परमात्मा का आभिमुख्य सर्वदा के लिए वर्त्तमान रहता है। काम, वासना आदि जीव के धर्म हैं। जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, परन्तु धर्म तथा दृष्टि के भेद से है। ब्रह्म एक होने पर भी समुद्र-तरङ्ग के समान द्वैताद्वैत है। जैसे अद्वैत भाव सत्य है, वैसे ही द्वैतभाव भी सत्य है। द्वैतभाव की सत्ता से कर्मकाण्ड का प्रामाण्य स्वीकार करना आवश्यक होता है। कार्य-कारणभाव कल्पित नहीं है, किन्तु सत्य है। मुमुक्षु तथा मुक्त पुरुष का आत्मदर्शन ठीक एक प्रकार का नहीं है। भर्तृप्रपंच ने प्रथम दर्शन को परिच्छिन्नकर्मात्मदर्शन तथा द्वितीय प्रकार के दर्शन को अपरिच्छिन्न परमात्मदर्शन कहा है। परिच्छेदक विज्ञान ही अविद्या है। 'अहमेव इदं सर्वम्' इत्याकारक अर्थबोध परमात्मा में नित्य ही है, परन्तु तिरस्कृतविज्ञान सांसारिक आत्मा में इस प्रकार के बोध का अस्तित्व अनित्य है। अविद्या के सम्बन्ध से परब्रह्म ही हिरण्यगर्भपद-वाच्य होता है। हिरण्यगर्भ सर्वत्र व्यापक है, यह निखिल सत्त्वों का आत्मा अथवा जगदात्मा है। हिरण्यगर्भ के साथ आसक्ति के सम्बन्ध से जीवभाव का विकास होता है। आसङ्ग या वासना अन्तःकरण का धर्म है, यह जीव में सङ्क्रान्त होकर जीव-धर्म बन जाता है। जीव ही कर्त्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता है। भर्तृप्रपंच की दृष्टि से जीव ब्रह्म का परिणामस्वरूप है। इनके मत में इन्द्रिय भौतिक है, आहङ्कारिक नहीं है। मोक्ष दो प्रकार का है—(१) अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग, (२) परामुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति। इसी देह में ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर प्रथम प्रकार का मोक्ष आविर्भूत होता है। यह जीवन्मुक्ति के अनुरूप है, इसका नाम अपवर्ग है। वस्तुतः, यह आसङ्ग-त्यागनिमित्तक संसारनिवृत्तिमात्र है। देहपात न होने से ब्रह्म में लय नहीं हो सकता, परन्तु देहपात के अनन्तर दूसरे प्रकार के मोक्ष का, परममोक्ष का, उदय होता है। यह ब्रह्म में जीव का लय अथवा जीव की ब्रह्मभावापत्ति है। इस अवस्था का आविर्भाव अविद्यानिवृत्ति का फलस्वरूप है। इससे सिद्ध होता है कि भर्तृप्रपंच के मत से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी, अर्थात् अपरामुक्ति या अपवर्ग-दशा में भी, अविद्या पूर्णतया निवृत्त नहीं होती। अविद्या-निवृत्ति के साथ-साथ जीव के ब्रह्मभाव की उपलब्धि का प्रतिबन्धक शरीर छूट जाता है और परामुक्ति का अधिगम होता है। परमात्मा अथवा परब्रह्म नित्य पदार्थ है। इस अवस्था में सम्पूर्ण विशेष अव्यक्त रहते हैं—जैसे समुद्र में ऊर्मियों का एकत्व है, वैसे ही अविशेष अव्यक्त परमात्मावस्था में निखिल विशेषों का एकत्व है। ब्रह्म का परिणाम तीन प्रकार का है—(१) अन्तर्यामी तथा जीवरूप में; (२) अव्याकृत, सूत्र, विराट् तथा देवतारूप में; (३) जाति तथा पिण्ड रूप में। ये आठ अवस्थाएँ ब्रह्म की ही हैं। इसी प्रकार, जगत् आठ प्रकार से विभक्त है।

प्रकारान्तर से ये तीन भागों में विभक्त किये गये हैं—(१) परमात्मराशि, (२) जीवराशि और (३) मूर्त्तमूर्त्तराशि। भर्तृप्रपंच प्रमाणसमुच्चयवादी थे। लौकिक प्रमाण और वेद दोनों ही सत्य हैं। इसीलिए, उन्होंने लौकिक-प्रमाणगम्य भेद को और वेदगम्य अभेद को सत्यरूप में माना है। इसी कारण इनके मत में जैसे केवल कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है, वैसे ही केवल ज्ञान भी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञान-कर्मसमुच्चय ही प्रकृष्ट साधन है।

भर्तृमित्र का प्रसङ्ग जयन्त-कृत न्यायमञ्जरी (पृ० २१३, २२६) में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय (पृ० ४-५) में आया है। इससे प्रतीत होता है कि ये भी वैदान्तिक आचार्य ही रहे होंगे। भर्तृमित्र ने मीमांसा के विषय में भी रचना की थी। भट्टपाद कुमारिल ने अपने श्लोकवार्त्तिक (१।१।१।१०; १।१।६।१३०–१३१) में इनका उल्लेख किया है;—टीकाकार पार्थसारथिमिश्र ने न्यायरत्नाकर नामक टीका में ऐसा ही आशय प्रकट किया है। कुमारिल कहते हैं कि भर्तृमित्र प्रभृति आचार्यों के अपसिद्धान्तों के प्रभाव से मीमांसा-शास्त्र लोकायतीकृत हुआ था। विशिष्टाद्वैतग्रन्थों में उल्लिखित भर्तृमित्र और श्लोकवार्त्तिकोक्त मीमांसक भर्तृमित्र एक व्यक्ति थे या भिन्न थे, इसका निश्चय करना कठिन है। परन्तु, कुमारिल के समालोचन से मालूम होता है कि ये दो पृथक् व्यक्ति थे। मुकुलभट्ट ने अपने अभिधावृत्तिमातृका ग्रन्थ में पृथक् भर्तृमित्र का भी (पृ० १७ निर्णयसागर) नाम-निर्देश किया है।

भर्तृहरि—भर्तृहरि का नाम भी यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित हुआ है। इनको वाक्यपदीयकार से अभिन्न मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं प्रतीत होती। परन्तु, इनका कोई वेदान्त-ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। वाक्यपदीय व्याकरणविषयक ग्रन्थ होने पर भी प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। अद्वैतसिद्धान्त ही इसका उपजीव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किसी-किसी आचार्य का मत है क भर्तृहरि के शब्दब्रह्म वाद का प्रधानतया अवलम्बन करके आचार्य मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसके ऊपर वाचस्पतिमिश्र की ब्रह्मतत्त्व-समीक्षा नामक एक टीका थी। उत्पलाचार्य के गुरु काश्मीरीय शिवाद्वैत के प्रधानतम आचार्य सोमानन्दपाद ने स्वरचित शिवदृष्टि नामक ग्रन्थ में भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद की विशेष रूप से समालोचना की है। शान्तरक्षित-कृत तत्त्वसंग्रह, अविमुक्तात्म-कृत इष्टसिद्धि तथा जयन्त-कृत न्यायमञ्जरी में भी शब्दाद्वैतवाद का उल्लेख मिलता है। उत्पल तथा सोमानन्द के वचनों से ज्ञात होता है कि भर्तृहरि तथा तदनुसारी शब्द-ब्रह्मवादी दार्शनिक 'पश्यन्ती' वाक् को ही शब्दब्रह्म-रूप मानते थे। यह भी प्रतीत होता है कि इस मत में पश्यन्ती ही परावाक् रूप में व्यवहृत होती थी। यह वाक् विश्व-जगत् का नियामक तथा अन्तर्यामी चित्-तत्त्व से अभिन्न है।

उपवर्ष—आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहीं-कहीं उपवर्ष नामक एक प्राचीन वृत्तिकार के मत का उल्लेख किया है। इस वृत्तिकार ने दोनों ही मीमांसा-शास्त्रों पर वृत्तिग्रन्थ बनाये थे, ऐसा प्रतीत होता है। पण्डित लोग अनुमान करते हैं कि ये 'भगवान् उपवर्ष' वे ही हैं, जिनका उल्लेख शाबरभाष्य (मी० सू० १।१।५) में

स्पष्टतः किया गया है। शङ्कर (ब्र० सू० ३।३।५३) कहते हैं कि उपवर्ष ने अपनी मीमांसा-वृत्ति में कहीं-कहीं पर शारीरकसूत्र पर लिखी गई वृत्ति की बातों का उल्लेख किया है। ये उपवर्षाचार्य शबरस्वामी से पहले थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु कृष्णदेव-निर्मित तन्त्रचूडामणि नामक ग्रन्थ में लिखा है कि शाबरभाष्य के ऊपर उपवर्ष की एक वृत्ति थी (द्रष्टव्य—Fitz Edward Hall का बनाया हुआ 'Index to Sanskrit Philosophy,' p. 167)। कृष्णदेव के वचन का कोई मूल है या नहीं, यह कहना कठिन है। यदि उनका वचन प्रामाणिक माना जाय, तो इस उपवर्ष से भिन्न मानना पड़ेगा।

बोधायन—प्रसिद्ध है कि ब्रह्मसूत्र पर बोधायन की एक वृत्ति थी, जिससे आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में वचनों का उद्धार किया है (द्रष्टव्य—Sacred Books of the East ग्रन्थमाला में थीबो-लिखित वेदान्तशाङ्करभाष्यानुवाद-भूमिका, पृ० २१)।

प्रसिद्ध जर्मन पण्डित Hermann Jacobi का मत है कि बोधायन ने मीमांसासूत्र पर भी वृत्ति लिखी थी (द्रष्टव्य—Journal of the American Oriental Society, 1911, p. 17)। प्रपञ्चहृदयनामक ग्रन्थ से भी यह बात सिद्ध होती है और प्रतीत होता है कि बोधायन-निर्मित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था (द्रष्टव्य—Trivandram से प्रकाशित 'प्रपञ्चहृदय', पृ० ३९)।

ब्रह्मनन्दी—प्राचीन काल में एक वेदान्ताचार्य 'ब्रह्मनन्दी' नाम से भी आविर्भूत हुए थे। इनका मत मधुसूदनसरस्वती ने संक्षेपशारीरक की टीका (३—२१७) में उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि शायद ये भी अद्वैतवेदान्त के आचार्य रहे होंगे। प्राचीन वेदान्त-साहित्य में 'ब्रह्मनन्दी' छान्दोग्यवाक्यकार के अथवा केवल वाक्यकार के नाम से प्रसिद्ध थे।

टङ्क—श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय के साहित्य में भी एक वाक्यकार का पता लगता है। उनका नाम 'टङ्क' है। विशिष्टाद्वैती ब्रह्मनन्दी और टङ्क को अभिन्न समझते हैं, परन्तु यह कहाँ तक सत्य है, यह कहना कठिन है।

ब्रह्मदत्त—शङ्कराचार्यजी के पूर्व समय में एक और अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे, उनका नाम ब्रह्मदत्त था।[1] सम्भव है, वे भी वेदान्तसूत्र के भाष्यकार रहे हों।[2] परन्तु, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मदत्त के मत से जीव अनित्य है, एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। 'एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिभाग् इत्यायातम्, तेन जीवोऽपि अन्विदिव जनिमान्'—यह मत ब्रह्मदत्त का है। इसे वेदान्तदेशिकाचार्य ने अपने तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका सर्वार्थसिद्धि में (२-१६) उद्धृत किया है। ब्रह्मदत्त कहते हैं—जीव तथा जगत् दोनों ही ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में

१. माध्वसम्प्रदाय के मणिमञ्जरी नामक ग्रन्थ में (६।२-३) लिखा है—शङ्कराचार्य ब्रह्मदत्त से मिलने गये थे, परन्तु यह बात प्रामाणिक मालूम नहीं होती।

२. सिद्धित्रय (प्रारम्भ)।

नहीं है, किन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोग-वाक्यों में है। इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्मदत्त के मत से साधक की किसी अवस्था में भी, कर्मों का त्याग नहीं हो सकता। प्राचीन आचार्यों में आश्मरथ्य का सिद्धान्त था कि ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते हैं और मुक्ति में ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति और विनाश मानते थे। परन्तु, आश्मरथ्य भेदाभेद-पक्ष के अनुकूल थे। ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी (नैष्कर्म्यसिद्धि १-६८) थे। शंकराचार्य के मत में महावाक्यजन्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है। उनके मत में ज्ञान से उपासना भिन्न है। शङ्कर उपासना के विषय में विधि मानने पर भी (ब्र० सू० १।१।४) ज्ञान के विषय में विधि नहीं मानते हैं। अविद्या की निवृत्ति करनेवाला यथार्थ ज्ञान वस्तुतन्त्र या पुरुषतन्त्र है। इसलिए आत्मज्ञान के लिए विधि की कोई आवश्यकता नहीं है। और वेदान्ती ज्ञान और उपासना में इस प्रकार का भेद नहीं मानते हैं। वे लोग किसी-न-किसी प्रकार से आत्मज्ञान में भी विधि मानते ही हैं। मीमांसक कहते हैं कि वेद का मुख्य तात्पर्य सिद्ध वस्तु के निर्देशमात्र में नहीं है, परन्तु शङ्करेतर वेदान्ती भी कर्म का उपदेश प्रायः ऐसा ही मानते हैं। इन वेदान्तियों की दृष्टि से पूर्व और उत्तरमीमांसा में यही भेद है कि पूर्वकाण्ड में कर्मविधि है और उत्तरकाण्ड में भावनाविधि। इसीलिए, उपनिषद् में 'आत्मा वा अरे' इत्यादि विधि-वाक्यों की ही प्रधानता माननी चाहिए; 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों का प्राधान्य नहीं है। वस्तु के स्वरूप-ज्ञान के बिना भावना नहीं हो सकती। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य वस्तु के स्वरूपमात्र के बोधक हैं, अतएव आत्मा उपासना-विधि का शेष है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों ही साध्यविषयक हैं, सिद्धविषयक नहीं। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि (१-६७) में कहा है—"केचित् स्वसम्प्रदायबलावष्टम्भात् आहुः यदेतत् वेदान्तवाक्यादहं ब्रह्मेति विज्ञानं समुत्पद्यते, तन्नैव स्वोत्पत्तिमात्रेण अज्ञानं निरस्यति किं तर्हि अहन्यहनि द्राघीयसा कालेन उपासीनस्य सतः भावनोपचयात् निःशेषमज्ञानमपगच्छति, 'देवो भूत्वा देवानप्येति' इति श्रुतेः।" ज्ञानामृतविद्यासुरभि-नाम की नैष्कर्म्यसिद्धि टीका में यह मत ब्रह्मदत्त का है, ऐसा निर्णय किया गया है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यक के भाष्य (१।४।७) में ब्रह्मदत्त के मत का उल्लेख किया है। इस मत में अज्ञान की निवृत्ति भावनाजन्य ज्ञान से ही होती है—औपनिषद ज्ञान मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार के ज्ञान का लाभ करने पर भी जीवन-पर्यन्त भावना आवश्यक है। ब्रह्मदत्त कहते हैं—यद्यपि देह के अवस्थिति-काल में भी उपाय से देवता का साक्षात्कार हो सकता है, तथापि उनके साथ मिलन तभी हो सकता है, जब देह न रहे। प्रारब्धकर्मलब्ध देह उपास्य के साथ उपासक के मिलन में प्रतिबन्धक है (द्रष्टव्य—बृ० उ० वार्तिक, पृ० १३५७; नैष्कर्म्यसिद्धिटीका चन्द्रिका १-६७)। जिस प्रकार मृत्यु के अनन्तर ही स्वर्ग-लाभ हो सकता है, उसी प्रकार मोक्ष भी देह छूट जाने के पश्चात् ही होता है। दोनों ही वैदिक विधि के पालन के फल हैं। ब्रह्मदत्त ध्याननियोगवादी थे। वे जीवन्मुक्ति नहीं मानते थे। शङ्कराचार्य के मत से मोक्ष दृष्ट फल है, परन्तु ब्रह्मदत्त के मत से यह अदृष्ट फल है। शङ्कर-मत में कर्म से

जिज्ञासा उत्पन्न होती है, मोक्ष नहीं होता। जीवन्मुक्त को कर्मों की आवश्यकता नहीं है। इस अवस्था में कर्मसंन्यास स्वतः प्राप्त है। सत्त्वशुद्धि अथवा वैराग्य होने पर शङ्कर मत में कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। इस अवस्था में कर्मसंन्यास-विधि-प्राप्त है (द्र०—ऐतरेय भाष्य, उपोद्घात)। इस प्रकार की द्वितीयावस्था में साधक को केवल ज्ञान के अर्जन में प्रयत्नशील होना चाहिए। ब्रह्मदत्त की दृष्टि से साधनक्रम इस प्रकार है—पहले उपनिषद् से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान लाभ करना चाहिए। तदनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक भावना का अभ्यास करना चाहिए। इस अवस्था में कर्म आवश्यक है; जीवन-पर्यन्त कर्म का त्याग नहीं होता। इसलिए, ब्रह्मदत्त का मत भी ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद ही है। सुरेश्वराचार्य ने भी उनका उल्लेख समुच्चयवादी के रूप में ही किया है। ज्ञानोत्तम ने नैष्कर्म्यसिद्धि की टीका में उन्हें ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी कहा है—"वाक्यजन्यज्ञानोत्तरकालीनभावनोत्कर्षात् भावनाजन्यसाक्षात्कारलक्षणज्ञानान्तरेणैव अज्ञानस्य निवृत्तेः ज्ञानाभ्यासदशायां ज्ञानस्य कर्मणा समुच्चयोपपत्तिः।" ब्रह्मदत्त कहते हैं कि मुमुक्षु को 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक अहंग्रहोपासना करनी चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।७।१०) में भी 'आत्मेत्येव उपासीत' इत्याकारक उपदेश मिलता है। प्रश्न यह है कि जीव परमात्मा से परमार्थतः भिन्न है या अभिन्न। शङ्कर ने अभेदपक्ष माना है। परन्तु, किसी-किसी वेदान्ताचार्य का यह मत है कि जीव के ब्रह्म से अभिन्न न होने पर भी अभेद-भावना की आवश्यकता है (द्रष्टव्य—सम्बन्धवार्त्तिकश्लोक, ७०२,८४५; ब्र० सू० भा०, ४।१३; संक्षेपशारीरक १।३०७—३११; पञ्चपादिका, पृ० २५२-२५३)। ब्रह्मदत्त के मत में जीव और ब्रह्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है, यह ज्ञात नहीं होता। यदि भेद हो, तो ऐक्यभावना के बल से मोक्ष में जीव का लय हो जायगा। यदि जीव ब्रह्म का अंश मान लिया जाय या दोनों में अभेद हो, तो भावना से भेदभाव की निवृत्ति, अभेद का स्फुरण या साक्षात्कार तथा अन्त में मोक्ष होगा। ब्रह्मदत्त की दृष्टि से 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के श्रवण से आत्मस्वरूपविषयक अखण्डवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि उन शब्दों में तादृश शक्ति नहीं है; परन्तु निदिध्यासन अथवा प्रसंख्यान में ऐसा सामर्थ्य है। यदि प्रसंख्यान पूर्णतया सम्पन्न हो, तो इससे आत्मा का अखण्डज्ञान आविर्भूत होता है (द्रष्टव्य—ब्र० सू० भा० नि० सा०, १२८ से १३० और १५३)। शङ्कर के मत से इस मत का विरोध स्पष्ट ही प्रतीत होता है। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि (१—६७) में तथा पद्मपाद ने पञ्चपादिका (पृ० ९९) में स्पष्ट ही कहा है कि महावाक्य से साक्षात्-अपरोक्ष ही ज्ञान उत्पन्न होता है।[१]

भारुचि—रामानुज-कृत वेदार्थसंग्रह (पृ० १५४) में प्राचीन काल के छह वेदान्ताचार्यों के नाम का उल्लेख मिलता है। उन लोगों ने रामानुज से पहले वेदान्त-शास्त्रज्ञान के प्रचार के लिए ग्रन्थ-निर्माण किया था। आचार्य रामानुज के सत्कार-पूर्वक उल्लेख से प्रतीत होता है कि ये निर्विशेष ब्रह्मवादी नहीं थे। इन आचार्यों

१. परन्तु, मण्डनमिश्र का मत (द्रष्टव्य—बृ० भा० टीका ४।४, श्लोक ७९६) यह है कि शब्द से अपरोक्षज्ञान हो ही नहीं सकता।

के नाम हैं—भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव, कपर्द्दिक और द्रमिलाचार्य (द्रविडाचार्य)। श्रीनिवासदास ने यतीन्द्रमतदीपिका में (पूना-सं०, पृ० २) व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मनन्दी, द्रमिलाचार्य, श्रीपरांकुश, नाथमुनि, ज्योतिरीश्वर प्रभृति के नामों का इसी प्रसङ्ग में उल्लेख किया है। इनमें टङ्क और ब्रह्मनन्दी वैष्णवों के मत से अभिन्न हैं। इनका नाम तथा विवरण पहले दिया जा चुका है।

भारुचि के विषय में विशेष परिज्ञान नहीं है। विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा (१।१८ और २।१२४), माधवाचार्यकृत पराशरसंहिता की टीका (२।३, पृ० ५१०) एवं सरस्वतीविलास (अनुच्छेद १३३) प्रभृति ग्रन्थों में एक धर्मशास्त्रकार भारुचि का नाम उपलब्ध होता है। प्रतीत होता है कि इन्होंने विष्णुकृत धर्मसूत्र के ऊपर एक टीका लिखी थी। श्रीवैष्णव-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध भारुचि और धर्मशास्त्रकार भारुचि यदि एक माने जायें, तो इनका समय खीष्टीय नवम शती के प्रथमार्द्ध में माना जा सकता है (द्रष्टव्य—P. V. Kane कृत 'धर्मशास्त्र का इतिहास', पृ० २६५)।

द्रविड़ाचार्य—द्रविडाचार्य भी प्राचीन वैदान्तिक थे। इन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अतिबृहत् भाष्य लिखा था। बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी इनका भाष्य था, ऐसा प्रमाण मिलता है। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य (२।३२; २।२०) में शङ्कर ने उनका 'आगमवित्' कहकर उल्लेख किया है और बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में (पृ० २९७, पूना-सं०) उनका उल्लेख 'सम्प्रदायवित्' कहकर किया गया है। जहाँ द्रविडाचार्य का उल्लेख करना आवश्यक था, वहाँ सम्मान के साथ ही किया गया है। कहीं भी उनके मत का खण्डन नहीं किया गया। इससे प्रतीत होता है कि द्रविडाचार्य का सिद्धान्त शङ्कर के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं था। छान्दोग्य उपनिषद् में जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य का प्रसङ्ग आया है, उसकी व्याख्या में द्रविडाचार्य ने व्याध-संवर्धित राजपुत्र की आख्यायिका का वर्णन किया है। आनन्दगिरि कहते हैं कि 'तत्त्वमस्यादिवाक्यमैक्यपरम् , तच्छेषः सृष्ट्यादिवाक्यम्' यह मत आचार्य द्रविड का अङ्गीकृत है।

पहले कहा गया है कि रामानुज-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविडाचार्य नाम के एक प्राचीन आचार्य का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी का मत यह है कि वे द्रविडाचार्य शङ्करोक्त द्रविड से भिन्न थे। उन्होंने पंचरात्रसिद्धान्त का अवलम्बन करके द्रविड भाषा में ग्रन्थ-रचना की थी। यामुनाचार्य ने सिद्धित्रय में इन्हीं आचार्य के विषय में कहा है—"भगवता बादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमितगम्भीरभाष्यकृता।" यहाँ पर 'भाष्यकृत्' शब्द से द्रविडाचार्य लिये गये हैं। किसी-किसी का मत है कि द्रविडसंहिताकार अलवर, शठकोप अथवा वकुलाभरण ही वैष्णवग्रन्थों में द्रविडाचार्य नाम से प्रसिद्ध हैं।

इन दोनों द्रविडों की परस्पर भिन्नता अथवा अभिन्नता में अबतक कोई स्थिर सिद्धान्त तक नहीं पहुँचा। सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशारीरक (३।२२१) में ब्रह्मनन्दि-ग्रन्थ का द्रविडभाष्य से जिन वचनों का उद्धार किया है, वे रामानुज से उद्धृत द्रविड भाष्य-वचनों से अभिन्न दीख पड़ते हैं। इसीलिए, किसी-किसी के मत से शङ्कर-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध द्रविड और रामानुज-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध द्रविड एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं हैं।

सुन्दरपाण्ड्य—भगवान् शङ्कर के पहले सुन्दरपाण्ड्य नामक आचार्य ने एक कारिकाबद्ध वार्त्तिक की रचना की थी। यह वार्त्तिक ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य या वृत्ति का अवलंबन करके बनाया गया था। परन्तु, इस वृत्ति या भाष्य का ठीक-ठीक पता नहीं लगता। इस वृत्ति के निर्माता बोधायन थे, या उपवर्ष थे, अथवा और कोई प्राचीन आचार्य, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु, समन्वयाधिकरण के भाष्य के अन्त (१।१।४) में इस वार्त्तिक-ग्रन्थ से शङ्कराचार्य ने स्वयं 'अपि चाऽऽहुः' कहकर तीन श्लोक उद्धृत किये हैं—

"अपि चाऽऽहुः—

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात् ।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवंबोधे कार्यं कथं भवेत् ॥
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः ।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः ॥
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः ।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वाऽऽत्मनिश्चयात् ॥ इति ।

इसका तात्पर्य यह है कि जबतक 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ब्रह्मज्ञान का उदय नहीं होता, तबतक सब प्रकार की विधियाँ और प्रमाण सार्थक हैं। आत्मवस्तु हेय भी नहीं है और उपादेय भी नहीं। यह अद्वैत है, इस प्रकार आत्मा के बोध में प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं है; क्योंकि उस समय प्रमाता भी नहीं रहता और विषय भी नहीं रहता। वाचस्पतिमिश्र ने भामती में इन श्लोकों का 'ब्रह्मविदां गाथा' कहकर वर्णन किया है। परन्तु, पद्मपाद-कृत पञ्चपादिका के ऊपर 'प्रबोधपरिशोधिनी' नाम की एक टीका है, जिसका रचयिता नरसिंहस्वरूप का शिष्य आत्मस्वरूप है। इस टीका से पता चलता है कि ये तीनों श्लोक सुन्दरपाड्य-कृत हैं। सूतसंहिता की माधवमन्त्रिकृत तात्पर्यदीपिका नाम की टीका में भी कहा गया है कि इन श्लोकों के अन्तर्गत तृतीय श्लोक—अर्थात् 'देहात्मप्रत्ययो यद्वत्'—सुन्दरपाण्ड्य-कृत वार्त्तिक से लिया गया है। अमलानन्द-कृत कल्पतरु (३।३।२५) में सुन्दरपाण्ड्य के 'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' प्रभृति और तीन वचन तथा तन्त्रवार्त्तिक में (बनारस-सं०, पृ० ८५२-८५३) ये तीन और 'तेन यद्यपि सामर्थ्यम्' प्रभृति दो कुल पाँच वचन उद्धृत हुए हैं। न्यायसुधा (पृ० १२२८) में ये पाँच श्लोक 'वृद्धानाम्' के नाम से उद्धृत किये गये हैं। किसी-किसी आचार्य के मत से सुन्दरपाण्ड्य का समय ६५० खीष्टाब्द है। सुन्दर पाण्ड्य शैव वेदान्ती थे, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है। किसी पण्डित के मत में यह राजा नेडूमारण नायनर का नामान्तर है।[१] भट्ट कुमारिल ने तन्त्रवार्त्तिक के दूसरे स्थान में (पृ० २८०-२८१

१. इस विषय का विशेष विवरण म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री के द्वारा लिखित 'Some Problems of Identity in the Cultural History of Ancient India' नामक लेख में देखना चाहिए। यह लेख Journal of Oriental Research Madras नामक पत्रिका के प्रथम खण्ड (पृ० १-१५) में प्रकाशित हुआ था। प्रसङ्गतः उक्त लेखक का दूसरा लेख भी देखना चाहिए (Proceedings of Third Oriental Conference,

तथा ३५७) में 'आह च' कहकर दो श्लोक उद्धृत किये हैं। न्यायसुधा के मत से ये भी वृद्धवचन हैं। ये वृद्ध सुन्दरपाण्ड्य ही हैं, दूसरा कोई नहीं। प्रतीत होता है कि सुन्दरपाण्ड्य ने पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा पर एक वार्त्तिक की रचना की थी।

शङ्कराचार्य-कृत ब्रह्मसूत्रभाष्य—ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य हैं। परन्तु, उनमें से भगवान् शङ्कराचार्य के भाष्य ने ही विशेष ख्याति प्राप्त की है। शङ्कराचार्य से प्राचीन आचार्यों की भाँति शङ्कराचार्य से अर्वाचीन विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न पक्षों का अवलम्बन करके वेदान्तसूत्र के ऊपर अपने-अपने मत के अनुकूल भाष्य बनाये थे। प्राचीन समय में उपवर्ष, बोधायन, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, भर्तृहरि, द्रमिलाचार्य प्रभृति वेदान्ताचार्यों के नाम और सिद्धान्त अर्वाचीन ग्रन्थों में संगृहीत दीख पड़ते हैं। सम्भव है, इनमें से कोई-कोई भाष्यकार भी रहे हों। अर्वाचीन समय में भास्कराचार्य, यादवप्रकाश, रामानुज, श्रीकण्ठ, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ के नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं।

शङ्कराचार्य ने बादरायण के सूत्रों पर क्यों भाष्य-निर्माण किया, यह ज्ञातव्य विषय है। मालूम होता है कि बौद्ध आदि सम्प्रदायों के विस्तार से वेदान्त के ये प्राचीन ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय प्रायः विच्छिन्न हो गये थे। इसलिए, भाष्य-निर्माण का मुख्य प्रयोजन वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवन ही प्रतीत होता है। तर्कपाद में जिन सम्प्रदायों का खण्डन हुआ है, वे सम्पूर्णतः या किसी अंश में अवैदिक हैं। उन सब प्राचीन मतों का विशेष प्रादुर्भाव उसी समय में हुआ था, इसमें सन्देह नहीं। तात्कालिक वैदिक सम्प्रदाय ने बौद्ध, जैन, पाशुपत, पाञ्चरात्र, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक आदि सब मतों का वैदिक सिद्धान्त-रूप में ग्रहण नहीं किया था। इनके अभ्युदय से वैदिक मत धीरे-धीरे म्लान हो रहा था। इसलिए, उस समय यथायथभाव से वैदिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना आवश्यक प्रतीत हुआ था।

शङ्कर की गुरु-परम्परा—भगवान् शङ्कराचार्यजी के गुरु का नाम गोविन्दपाद तथा उनके गुरु का नाम गौडपादाचार्य था। गौडपादाचार्य तक गुरु-परम्परा को ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत मानने में कोई मतभेद नहीं है। परन्तु, गौडपाद के गुरु शुकदेव तथा उनके गुरु व्यास, इसी क्रम से प्राचीन गुरु-परम्परा वर्त्तमान ऐतिहासिक विचार के बहिर्भूत है। यदि इस सम्प्रदाय को, जिसका वर्णन साम्प्रदायिक ग्रन्थों में मिलता है, सत्य मान लिया जाय, तो यह भी मानना होगा कि व्यासपुत्र शुक ने सिद्ध शरीर में अथवा निर्माण-शरीर में आविर्भूत होकर गौडपादाचार्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। जिस प्रकार परमर्षि भगवान् कपिल ने निर्माणकाय अवलम्बन करके जिज्ञासु शिष्य आसुरि को षष्टितन्त्र का उपदेश दिया था, उसी रीति से भगवान् शुक ने भी गौड-

पृ० ४६५—४६८)। ये पाण्ड्यराज कुब्जवर्द्धन अथवा कुलपाण्ड्य नाम से भी परिचित थे। किसी-किसी के मत में अरिकेसरी इनकी उपाधि थी। प्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुज्ञान सम्बन्धर इनके समकालीन थे। इन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर सुन्दरपाण्ड्य ने जैनधर्म को छोड़कर शैव-धर्म का ग्रहण किया था और अपनी साधन-सम्पत्ति के प्रभाव से ६३ शैवाचार्यों के मध्य में स्थान प्राप्त किया था। इन्होंने चोल-राजकुमारी से विवाह किया था।

पादाचार्य को विद्योपदेश दिया होगा। गोविन्दभगवत्पाद ने किसी वेदान्त-ग्रन्थ की रचना की थी, ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। रसहृदय नामक एक ग्रन्थ गोविन्दभगवत्पाद का बनाया हुआ अवश्य मिलता है, परन्तु वह रसायनशास्त्र का है। माधवाचार्य-कृत सर्व-दर्शनसंग्रह के रसेश्वरदर्शन प्रकरण में इस ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। गोविन्दपाद नर्मदातट पर रहते थे। वे महायोगी थे और उनका देह रसप्रक्रिया से सिद्ध था, ऐसी किंवदन्ती अबतक साधक-मण्डल में सुनी जाती है। यह भी प्रसिद्ध है कि उनका देह वस्तुतः एक हजार वर्ष से स्थूल जगत् में रहने पर भी ऐसा मालूम होता था कि उसमें किञ्चिन्मात्र भी जरा का आविर्भाव नहीं हुआ। वे नित्य ही षोडश-वर्षीय प्रतीत होते थे। वस्तुतः, गोविन्दपाद कौन थे, इसका ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करना असम्भव है।[1]

विद्यारण्यके मतसे गोविन्दपाद महाभाष्यकार पतञ्जलि के रूपान्तर हैं।[2] आचार्य गौडपाद माण्डूक्यकारिकाओं के प्रणेता थे। माण्डूक्योपनिषद् दस उपनिषदों के अन्तर्गत है। यह ग्रन्थ परिमाण से क्षुद्र होनेपर भी अत्यन्त सारवान् है। मुक्तिकोपनिषद् में इसकी अत्यधिक प्रशंसा मिलती है (१-२६—२९)। इसमें लिखा है कि एकमात्र माण्डूक्य-उपनिषद् ही मुमुक्षुओं को मुक्ति देने में समर्थ है। इस उपनिषद् में केवल १२ वाक्य हैं। इनमें से प्रथम ७ वाक्य नृसिंहपूर्वोत्तरतापिनी और रामोत्तरतापिनी में भी उपलब्ध होते हैं। इस उपनिषद् पर आचार्य गौडपाद ने परिशिष्ट रूप से एक अच्छे कारिका-ग्रन्थ का निर्माण किया है। उन्होंने कारिकाओं को ४ प्रकरणों में विभक्त किया है—(१) आगम प्रकरण का० सं० २९, (२) वैतथ्य प्रकरण का० सं० ३८, (३) अद्वैत प्रकरण का० सं० ४८, (४) अलातशान्ति प्रकरण का० सं० १००। सब मिलाकर २१५ कारिकाएँ हैं। इनमें अन्तिम ३ प्रकरणों की कारिकाएँ क्रमबद्ध हैं। परन्तु, प्रथम प्रकरण की कारिकाएँ माण्डूक्योपनिषद् के वाक्यों के साथ मिली हुई हैं, षष्ठ वाक्य के बाद

---

१. राजवाड़ेकथा नामक ग्रन्थ में लिखा है कि जिनसेन, गुणभद्र और शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपाद समकालीन थे। इस ग्रन्थ के अनुसार जिनसेन का छात्र गुणभद्र था और उसका छात्र गोविन्दपाद। भट्टारक गोविन्दपुत्र हस्तिमल्ल ने स्वरचित विक्रान्तकौरव नामक नाटक के अन्त में कवि-प्रशस्ति में लिखा है कि गुणभद्र जिनसेन का शिष्य था और गोविन्द गुणभद्र की शिष्य-परम्परा में अन्यतम था। यह गोविन्द पृथक् आचार्य का नाम था। इसमें सन्देह नहीं कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द में, अर्थात् ७८३ सन् में हरिवंश बनाया था। इस ग्रन्थ में लिखा है कि ये तीनों आचार्य धारापति भोज के सभा-पण्डित थे। परन्तु, यह लेख प्रामाणिक नहीं हो सकता; क्योंकि प्रसिद्ध राजा भोज का काल ११वीं शताब्दी है। कोई-कोई समझते हैं कि ये भोज धारापति प्रसिद्ध भोज नहीं हैं, परन्तु कान्यकुब्ज के गुप्तवंशीय कोई राजा हैं, इत्यादि (द्रष्टव्य—Proceedings of Third Oriental Conference, p. 224)। प्रभावकचरित में लिखा है कि बप्पभट्टि, गोविन्द प्रभृति समकालीन थे। ८३९ खीष्टाब्द में बप्पभट्टि के मरण के अनन्तर गोविन्द को राजा भोज ने अपनी सभा में बुलाया था। बप्पभट्टि का जन्मकाल ७४४ खी० है। ये गोविन्द लोकोत्तर पण्डित थे, यह बप्पभट्टि के वचन से भी प्रतीत होता है। बप्पभट्टि ने वाक्पति के पाण्डित्य की प्रशंसा विशेष रूप से की है।

२. द्रष्टव्य—शङ्करदिग्विजय, ५।९४।

९ कारिकाएँ हैं, सप्तम के बाद ९, एकादश के बाद ५, तथा द्वादश के बाद ६। आगम प्रकरण की २९ कारिकाओं का ऐसा ही सन्निवेश है।

अद्वैतमत में माण्डूक्य-उपनिषद् के वाक्य श्रुति-रूप माने जाते हैं और कारिकांश गौडपाद-कृत है, परन्तु मध्व अथवा द्वैत-सम्प्रदाय के मत से प्रथम प्रकरण की कारिकाएँ माण्डूक्य-उपनिषद् के अंश और श्रुति-रूप हैं—ये कारिकाएँ गौडपाद-कृत नहीं हैं। अन्तिम तीन प्रकरणों की कारिकाएँ गौडपाद-कृत हैं।[१]

उत्तरगीता तथा सांख्यकारिका के टीकाकार भी गौडपाद हैं। परन्तु, ये माण्डूक्य-कारिकाकार से अभिन्न नहीं प्रतीत होते हैं। रामभद्रदीक्षित के पतञ्जलिचरित नामक ग्रन्थ में लिखा है—आचार्य गौड़पाद भाष्यकार पतञ्जलि के शिष्य थे। प्रसिद्ध है कि पतञ्जलि पर्दे की आड़ से बहुत-से शिष्यों को महाभाष्य पढ़ाते थे। किसी समय शिष्यों ने उत्सुक होकर पर्दे के छिद्र से देखा कि स्वयं आदि शेष सहस्र मस्तक और सहस्र जिह्वाएँ धारण किये वहाँ विराजमान हैं। शिष्यों के ऐसे व्यवहार से शेष-रूपी पतञ्जलि की क्रोधाग्नि प्रदीप्त हुई और उससे सब शिष्य दग्ध हो गये। परन्तु, शिष्य-मण्डली में से एक शिष्य पहले ही बाहर चला गया था। उसने इस समय आकर क्षमा-प्रार्थना की। इस शिष्य का नाम

---

१. किसी-किसी पण्डित के मत से ये दोनों ही मत भ्रान्त हैं। इस मत में गौडपाद केवल २१५ कारिकाओं के ही निर्माता नहीं हैं, बल्कि मां० उ० के १२ गद्य-वाक्यों के निर्माता भी गौडपाद ही हैं। यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह प्रचलित मत के अनुसार कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु, पण्डित लोग गौडपाद के विषय में एक मत नहीं हैं। डॉ० वालेसर (Walleser) कहते हैं (Der Aeltere Vedanta, pp. 5, etc.) कि माण्डूक्य-कारिका खी० षष्ठ शताब्दी के बीच में बनी हुई है। इनके मत में गौडपाद किसी व्यक्ति का नाम नहीं, प्रत्युत एक सम्प्रदाय का नाम है। सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है (४।४१ आदि) कि ये सब कारिकाएँ गौडपाद के अभिमत हैं, द्रविड-सम्प्रदाय के अभिमत नहीं हैं। इसको देखकर डॉ० बेलवलकर और डॉ० रानाडे ने अपने ग्रन्थ में विशेष रूप से सन्देह किया है कि गौडपाद किसी व्यक्ति का नाम है या नहीं। वेंकटसुब्बय्य नामक पण्डित ने यह दिखाने की कोशिश की है कि (Indian Antiquary, October, 1933, pp. 192-3) उक्त सन्देह अमूलक है। नैष्कर्म्यसिद्धि में (४।४१-४४ तक) लिखा है—

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिद्धयतः॥
अन्यथा गृह्णतःस्वप्नं निद्रातत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते॥

तथा भगवत्पादीयमुदाहरणम्—

सुषुप्ताख्यं तमोज्ञानं बीजं स्वप्नप्रबोधयोः।
आत्मबोधं प्रदग्धं स्याद् बीजं दग्धं यथाभवम्॥
एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रकाशितः।

यहाँ 'कार्यकारण' प्रभृति दो श्लोक गौडपादकारिका के प्रथम प्रकरण के ११वें और १५वें श्लोक हैं।

'सुषुप्ताख्यं तमोज्ञानम्' यह श्लोक शङ्कराचार्य-कृत उपदेशसाहस्री के १७वें प्रकरण का २६वाँ श्लोक है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि सुरेश्वराचार्य ने 'गौडैः' पद से गौडपादाचार्य और 'द्राविडैः' से शङ्कराचार्य को लक्ष्य किया है। अतएव, प्रकट है कि ये दोनों पद सम्प्रदाय-विशेष के वाचक नहीं हैं।

गौडपाद था। पतञ्जलि ने उसे ब्रह्मराक्षस होने का शाप दिया, परन्तु साथ ही यह भी कहा कि यदि किसी समय अच्छा शिष्य मिल जायगा, तो तुम्हारी शाप-निवृत्ति हो जायगी। इसके बाद यह शिष्य ब्रह्मराक्षस होकर लोगोंसे पूछता था—'पच्' धातु का निष्ठा में रूप क्या है? प्रायः सभी लोग उत्तर देते थे—'पचितम्' होता है; किसीके मुँह से शुद्ध रूप 'पक्वम्' निकला ही नहीं। जिसका उत्तर अशुद्ध होता था, उसको वह ब्रह्मराक्षस उसी समय खा जाता था। बहुत दिनोंके बाद एक शिष्य से ठीक उत्तर मिला, यह उज्जैन का एक ब्राह्मण था; इसका नाम चन्द्र था।[1]

गौडपाद ने इन्हें महाभाष्य की पूर्ण विद्या दी। चन्द्र ने क्षिप्रता के साथ सारा महाभाष्य लिख लिया। इसको लेकर चन्द्र उज्जैन को लौट गया। प्रसिद्ध है कि चन्द्राचार्य के—ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र जाति की कन्या के साथ—चार विवाह हुए थे। चारों स्त्रियों के चार पुत्र भी हुए थे। वे वररुचि, विक्रम, भट्टि और भर्तृहरि थे। भर्तृहरि अत्यन्त बुद्धिमान् थे। चन्द्राचार्य ने उन्हें महाभाष्य पढ़ाया था। भर्तृहरि महावैयाकरण हुए, परन्तु अहंकार के आधिक्य से उनका, एक लाख २५ हजार कारिकात्मक, ग्रन्थ नष्ट हो गया। अब गौडपाद ने शापमुक्त होकर भाग्यवश व्यासपुत्र शुक के दर्शन पाये और प्रार्थनापूर्वक उनसे यथाविधि संन्यास ग्रहण किया। अन्त में उन्होंने हिमालय में जाकर योगाभ्यास किया—ऐसी प्रसिद्धि है। तक्षशिला के शाक्य-वंशीय राजा प्रावृती और अयकुल्य, दामिश प्रभृति अपरान्तदेशीय योगी उनका बहुत सम्मान करते थे। उन्होंने हिमालय के बौद्ध राजा अयाचार्य को दीक्षा दी थी। ये सब विषय आत्मबोध के गौडपादोल्लास ग्रन्थ में लिखित हैं।[2] गौडपाद ने चन्द्राचार्य को संन्यास देकर उनका नाम गोविन्द रखा। यही गोविन्द शङ्कराचार्य भगवान् के गुरु हैं। गोविन्द संन्यास लेकर नर्मदा-तट पर पुत्र भर्तृहरि के साथ वास करते थे और गोविन्द नाम का जप करते थे। शङ्कराचार्यजी, संन्यास लेने के लिए, इन्हीं के पास आये थे।

भगवान् शङ्कराचार्य का आविर्भाव-काल—भगवान् शङ्कराचार्य का आविर्भाव और तिरोभाव कब हुआ था, इस विषय में अनेक मतमतान्तर हैं। खीष्ट के पूर्व षष्ठ शताब्दी से खीष्ट के बाद नवम शताब्दी तक किसी समय में इनका आविर्भाव हुआ था, यह सब लोग मानते हैं; किन्तु किस वर्ष में उनकी उत्पत्ति हुई थी, इसका अभी तक पक्का निश्चय नहीं हो सका है।

पहला मत यह है कि शङ्कराचार्य ने खी० पू० ५०८ वर्ष में जन्म-ग्रहण किया था तथा खी० पू० ४७६ वर्ष में (२६२५ कलि-वर्ष में), ३२ वर्ष की अवस्था में, देह-त्याग किया था। जो लोग इस मत को मानते हैं, उनकी दृष्टि में प्रचलित शङ्कर-दिग्विजय आदि ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वज्ञ सदाशिवबोध-कृत पुण्यश्लोकमञ्जरी, आत्मबोध-रचित उसका परिशिष्ट, सदाशिवब्रह्मेन्द्र-कृत गुरुरत्नमाला तथा आत्मबोध-कृत गुरुरत्न-

१. राजतरङ्गिणी (१७६) में लिखा है कि चन्द्राचार्य ने काश्मीरराज अभिमन्यु के समय में काश्मीर जाकर वहाँ महाभाष्य का प्रचार किया था। क्या ये दोनों चन्द्र एक ही व्यक्ति थे?

२. द्रष्टव्य—एन्० वेंकटरमण-कृत श्रीशङ्कराचार्य, पृ० २५।

मालाटीका सुषमा—इन ग्रन्थों का प्रामाण्य अधिक है। इन सभी ग्रन्थकारों का काञ्चीवर्त्ती कामकोटिपीठ से सम्बन्ध है। इस मत में ५ विभिन्न शङ्करों के नाम-साम्य से कुछ गड़बड़ होने के कारण आदिशङ्कर के समय-निरूपण में कठिनाई पड़ रही है। पहले जो समय बतलाया है, वह आदिशङ्कर का है। इसके पश्चात् कृपाशङ्कर (ति० का० ६९ खी०), उज्ज्वलशङ्कर (ति० का० ३६७ खी०), मूकशङ्कर (ति० का ४३७ खी०) और अभिनवशङ्कर (ति० का० ८४० खी०) आविर्भूत हुए थे। ये काञ्ची के पीठाधीश सर्वज्ञात्मा से यथाक्रम सप्तम, चतुर्दश, अष्टादश और षट्त्रिंश स्थानापन्न काञ्चीमठ के अधीश थे।

काञ्चीमठ तथा द्वारकामठ में जो गुरु-परम्परा-काल[1] प्रसिद्ध है, उसके अनुसार शङ्कर खी० पू० पंचम शताब्दी के प्रतीत होते हैं। परन्तु एक मत में शङ्कर का जन्मकाल ४७६ खी० पू० और दूसरे मत में उनका निर्वाण-काल ४७५ खी० पू० है, इतना ही काञ्ची और द्वारका के मत में भेद है।

किसी-किसी के मत से खी० पू० ४४ में शङ्कर का आविर्भाव-काल माना जाता है।

केरलोत्पत्ति के मतानुसार शङ्कर का आविर्भाव-काल खी० चतुर्थ शतक है। इस मत में शङ्कर का जीवन-काल ३२ वर्ष के स्थान में ३८ वर्ष माना जाता है।[2]

षष्ठ शताब्दी के अन्त में शङ्कराचार्य आविर्भूत हुए थे, यह भी एक मत है।

वर्नेल ने अपने 'South Indian Palaeography' नामक ग्रन्थ में (पृ० ३७—१११) तथा सिवेल ने 'List of antiquities in Madras' नामक ग्रन्थ में (पृ० १७७) कहा है कि शङ्कराचार्य का आविर्भाव-काल खी० सप्तम शताब्दी है। वर्त्तमान समय में श्रीयुत राजेन्द्रनाथ घोष महाशय ने विभिन्न प्रकार के प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शङ्कराचार्य ६०८ शकाब्द अथवा ६८६ खीष्टाब्द में आविर्भूत हुए थे।[3] वे कहते हैं कि शङ्कराचार्य ने ३४ वर्ष की अवस्था में देहत्याग किया था। उनके कथन का मूल महानुभाव-सम्प्रदाय के दर्शनप्रकाश नामक ग्रन्थ में उद्धृत शङ्कर-पद्धति का वचन है। इस ग्रन्थ में शङ्कर का तिरोभाव-काल 'युग्मपयोधि-रसामित' शाक में कहा गया है। इससे उनका जन्मकाल ६४२ शाके संवत्सर में प्राप्त होता है। 'रसा' पद एक अथवा रसातल समझकर छह माना जा सकता है। घोष महाशय कहते हैं कि छह मानना ही युक्तिसङ्गत है। एक मानने में असम्भव दोष आ जाता है। इसके अनुसार ६४२ + ७८, अर्थात् ७२० खीष्टाब्द में शङ्कर का मृत्यु-काल प्राप्त होता है।

---

१. काञ्ची की गुरु-परम्परा एन्० वेंकटरमण-कृत 'Sankaracharya the Great and his successors in Kanchi' नामक ग्रन्थ में (१९२३) और द्वारका की गुरु-परम्परामूलक काल Theosophist पत्र के सोलहवें खण्ड का तृतीय तथा पंचम संख्या में बाबू गोविन्ददास के लेख में देखना चाहिए।

२. द्रष्टव्य—Indian Antiquary, p.282.

३. द्रष्टव्य—आचार्य शङ्कर और रामानुज (बँगला), पृ० ७८७-८०७।

शङ्कर अष्टम शताब्दी में थे, यह भी एक मत है। अध्यापक वेवर ने प्राचीन समय में इस मत का समर्थन किया था।[१] Lewis Rice ने शृङ्गेरी मठ के गुरु-परम्परा-काल को एक-एक करके जोड़कर अनुमान किया था कि शङ्कर ७४० से ७६७ के बीच में जीवित थे।[२]

एक मत यह भी है कि शङ्कराचार्य ७८८ खी० में आविर्भूत होकर ३२ वर्ष की अवस्था में, अर्थात् ८२० खीष्टाब्द में तिरोहित हुए थे।[३] आजकल अधिकांश प्रत्नतत्त्ववित् पण्डित इसी मत को मानते हैं। शङ्कर के मुख्य शिष्य देवेश्वर, अर्थात् सुरेश्वर आचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्मा ने संक्षेपशारीरक नामक एक अति उत्कृष्ट वेदान्त-ग्रन्थ की रचना की थी। जिस समय मनुकुलादित्य राज्य-शासन करते थे, उसी समय उक्त ग्रन्थ का निर्माण हुआ था, ऐसा उसमें लिखा है—

श्रीमत्यक्षतशासने मनुकुलादित्ये भुवं शासति।

डॉक्टर भण्डारकर ने अपने Early History of the Deccan नामक ग्रन्थ में लिखा है कि यह मानव-वंश का राजा आदित्य चालुक्य था—ऐसा अनुमान किया जा सकता है। परन्तु, वस्तुतः चोलराजगण ही मनु से सम्भूत हुए थे, ऐसी प्राचीनकाल से प्रसिद्धि है। मनु चोल प्रसिद्ध ही हैं; शिलालेख आदि में भी मनुवंशीय चोल कहे गये हैं। इस वंश में तीन राजे आदित्य नाम से प्रसिद्ध थे, उनमें सबसे

१. द्रष्टव्य—History of Indian Literature, p. 51, note.

२. द्रष्टव्य—Proceedings of Third Oriental Conference, p. 225.

३. नीलकण्ठभट्ट-कृत शङ्करमन्दारसौरभ में भी यही मत गृहीत हुआ है (द्रष्टव्य—आर्यविद्या सुधाकर)। अध्यापक टीले ने अपने Outline of the History of Ancient Religions नामक ग्रन्थ (पृ० १४१) में इसी मत का ग्रहण किया है। स्वर्गत के० बी० पाठक को, बेलगाँव में, तीन पत्रों की एक पुस्तक मिली थी। उसके अन्त में ऐसा लिखा था—

"दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः॥

निधिनागेभवह्नयब्दे (३८८९ कल्यब्द = शकाब्द ७१० = खीष्टाब्द ७८८) विभवे शङ्करोदयः।

अष्टवर्षे चतुर्वेदान् द्वादशे सर्वशास्त्रकृत्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥
कल्यब्दे चन्द्रनेत्राङ्कवह्नयब्दे (३९३१) गुहाप्रवेशः।
वैशाखे पूर्णिमायान्तु शङ्करः शिवतामियात्॥"

द्रष्टव्य—के० बी० पाठक-कृत 'The Date of Sankaracharya' (Indian Antiquary, 1882, pp. 173—75). कृष्णब्रह्मानन्दकृत शङ्करविजय में भी शङ्कर का जन्मकाल इस प्रकार दिया गया है। यथा—

"निधि नागेभवह्नयब्दे विभवे शङ्करोदयः।
कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दुशतसप्तके॥ (७१०)
कल्यब्दे भूहगङ्काग्निसम्मिते शाङ्करो गुरुः।
शालिवाहशके त्वक्षिसिन्धुसप्तमितेऽभ्यगात्॥"

अतएव, शङ्कर का आविर्भाव-काल कल्यब्द ३८८९ अथवा शकाब्द ७१० और तिरोभाव-काल कल्यब्द ३९२१ अथवा शकाब्द ७४२।

प्राचीन आदित्य प्रथम परान्तक के पिता थे, जिनका काल प्रायः दशम शताब्दी के प्रथमार्ध में माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शङ्कराचार्य नवम शताब्दी के प्रथमांश में ही जीवित थे।

भगवान् शङ्कराचार्य वस्तुतः किस समय प्रादुर्भूत हुए थे, कबतक जीवित रहे, कौन-कौन ग्रन्थ उन्होंने रचे और कौन-कौन कार्य किये, इसका इस समय यथार्थ निश्चय करना अत्यन्त कठिन है। शङ्कर के चरित-ग्रन्थों में कहीं इन सब विषयों में अल्पाधिक आलोचना की गई है।[1] परन्तु, इन सब ग्रन्थों में वर्णित बातों में परस्पर संवाद नहीं है। किसी-किसी अंश में वर्णित विषय की प्रामाणिकता के विषय में ऐतिहासिक लोग सन्देह प्रकट करते हैं। शङ्कर के आविर्भाव-काल आदि के विषय में पहले जो विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है, उससे प्रतीत होगा कि इस विषय में भी पण्डितों का मतवैषम्य है। शङ्कर के काल-निरूपण के विषय में आलोचना करने के समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(क) शङ्कर के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपने ग्रन्थ में बौद्ध पण्डित धर्मकीर्त्ति का उल्लेख किया है। ये धर्मकीर्त्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्त्ति से अभिन्न थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[2] (ख) शङ्कराचार्य ने स्वयं शारीरक-

---

१. शङ्कर के चरित्र के विषय में ये सब ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। १—माधवाचार्य-कृत शङ्करदिग्विजय। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक गौरव अधिक नहीं है; क्योंकि इसमें बाण, मयूर, दण्डी, अभिनवगुप्त तथा श्रीहर्ष, शङ्कराचार्य के समकालीन माने गये हैं। कई एक विद्वान् इस माधव को भागवतचम्पूकार माधव से (जिसको 'नवकालिदास' की उपाधि दी गई थी) अभिन्न समझते हैं। यह ग्रन्थ विद्यारण्य का नहीं है। इसमें मङ्गल-श्लोक ही केवल विद्यारण्य का है। २—शङ्करविजय-आनन्दगिरि-कृत। प्रसिद्धि है कि ये आनन्दगिरि शङ्कर के प्रशिष्य तथा त्रोटक के शिष्य थे। परन्तु, यह प्रामाणिक नहीं है; क्योंकि इस ग्रन्थ में उत्तर काल में आविर्भूत आचार्यों का भी उल्लेख है। ३—राजचूडामणि-कृत शङ्कराभ्युदय। ४—चिद्विलासेन्द्र-कृत शंकरविजय। ५—सदानन्द-रचित शंकरजय। ६—सर्वज्ञ सदाशिवबोधकृत पुण्यश्लोकमञ्जरी। ये ग्रन्थकार काञ्ची के शंकर-मठ के अध्यक्ष थे। इस ग्रन्थ में १०९ श्लोक हैं। ७—पुण्यश्लोकमञ्जरीपरिशिष्ट—महादेवेन्द्रसरस्वतीशिष्य आत्मबोध-कृत। ८—गुरुरत्नमाला—काञ्चीमठाध्यक्ष परमशिवेन्द्रसरस्वतीशिष्य सदाशिवब्रह्मेन्द्र-कृत। यह ग्रन्थ ८६ आर्या छन्दों में निबद्ध है। इस ग्रन्थ पर आत्मबोधकृत टीका भी है। इसका निर्माण १६४२ शकाब्द में हुआ था। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त स्कन्द-पुराण के नवमांश में, मार्कण्डेय-संहिता में, शिवरहस्यपुराण में, गुरुमतमालिका में तथा गुरुपरम्परा-चरित में भी शङ्कर का चरित वर्णित है। विद्यारण्य-कृत श्रीविद्यार्णव तथा शक्तिसङ्गम-तन्त्र में भी प्रसङ्गतः शङ्कर तथा शङ्कर-सम्प्रदाय का वर्णन है। मलयालम भाषा में भी शंकर का एक चरित-ग्रन्थ है।

२. धर्मकीर्त्ति का समय प्रायः ६३५ से ६५० माना जा सकता है। ये धर्मकीर्त्ति नालन्दा-विश्वविद्यालय के अध्यक्ष आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे और धर्मपाल के परवर्त्ती नालन्दा के अध्यक्ष आचार्य शीलभद्र के सहाध्यायी थे। ये धर्मकीर्त्ति प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन के भी शिष्य थे। इन्होंने प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिन्दु प्रभृति ग्रन्थों का निर्माण कर बौद्ध न्यायशास्त्र को विशेष रूप से गौरवान्वित किया था। श्लोकवार्त्तिक, तन्त्रवार्त्तिक, प्रभृति मीमांसा-ग्रन्थों के रचयिता भट्ट कुमारिल इनके समकालीन थे, ऐसी प्रसिद्धि है। तिब्बतीय लामा तारानाथ-कृत बौद्धधर्म के इतिहास से कुमारिल तथा धर्मकीर्त्ति का परस्पर कैसा सम्बन्ध था, इस विषय में बहुत-सी बातें प्रतीत होती हैं। धर्मकीर्त्ति के

भाष्य के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के २८वें सूत्र के भाष्य में धर्मकीर्त्ति की एक कारिका का कुछ अंश, योगाचार की समालोचना के प्रसङ्ग में, उद्धृत किया है। धर्मकीर्त्ति की कारिका यह है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

इस कारिका के 'सहोपलम्भनियमादभेदः' इतने अंश का उल्लेख शङ्कराचार्य ने किया है।[१] (ग) दिङ्नाग की आलम्बन-परीक्षा से भी शङ्कर ने 'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तत्' इस वचन का उद्धार (२।२।२८) किया है। (घ) ब्रह्मसूत्र (२।२।२२ तथा २।२।२४) के भाष्य में शङ्कराचार्य ने जिन दो बौद्धाचार्यों के वचनों का उद्धार किया है, उनमें से पहला वचन गुणमति-कृत (६३०-६४० खी०) अभिधर्मकोशव्याख्या में मिलता है। (ङ) जैनमतखण्डन-प्रसङ्ग में शङ्कर ने जिस मत का उद्धार किया है, वह दिगम्बराचार्य अकलङ्क के गुरु समन्तभद्र का प्रतीत होता है। भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने इस प्रसङ्ग में समन्तभद्र-रचित आप्तमीमांसा का वचन भी उद्धृत किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधेः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकृत् ॥ (२।२।३३)

अकलङ्क साहसतुङ्ग राजा के सभासद थे। यह राजा साहसतुङ्ग राष्ट्रकूटराज दन्तिदुर्ग का नामान्तर है। इनका शासन-काल ६७५ शकाब्द अथवा ७५३ खीष्टाब्द है। वे अकलङ्क अष्टसाहस्रीकार विद्यानन्द के गुरु थे।[२]

आदिशङ्कराचार्य ने कौन-कौन ग्रन्थ बनाये थे—आदिशङ्कराचार्य ने कौन-कौन

प्रत्यक्ष लक्षण—'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' (द्रष्टव्य—न्यायबिन्दु, ११ बनारस)—का श्लोकवार्त्तिक में खण्डन किया गया है। यह लक्षण धर्मकीर्त्ति का ही है, दिङ्नाग का नहीं; क्योंकि दिङ्नाग के प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रान्त' यह विशेषण नहीं था। दिङ्नागाचार्य के प्रमाणसमुच्चय नामक ग्रन्थ में प्रत्यक्ष-लक्षणकारिका इस प्रकार दी गई है--

नापि पुनः प्रत्यभिज्ञाऽनवस्था स्यात् स्मृतादिवत्।
प्रत्यक्ष कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ॥ ३ ॥

(द्रष्टव्य—दिङ्नाग-कृत प्रमाणसमुच्चय, मैसूर-संस्करण, पृ० ८)

१. इस श्लोक की प्रथम पङ्क्ति धर्मकीर्त्ति के प्रमाणविनिश्चय तथा दूसरी पङ्क्ति उनके प्रमाण-वार्त्तिक में मिलती है।

२. महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण का मत है कि अकलङ्क राष्ट्रकूटराज शुभतुङ्ग अथवा प्रथम कृष्णराज के (७५३—७७५) समकालीन थे। प्रसिद्ध है कि मान्यखेट के राजा शुभतुङ्ग के दो पुत्र थे। प्रथम का नाम अकलङ्क और दूसरे का निष्कलङ्क था। अकलङ्क तीव्र वैराग्यवान् थे। उन्होंने राज्य-सम्पत्ति का परिहार करके त्यागी का जीवन ग्रहण किया था। सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर उन्होंने अष्टशती नाम की एक टीका लिखी थी। (१) न्यायविनिश्चय, (२) तत्त्वार्थवार्त्तिकव्याख्यानालङ्कार प्रभृति अनेक ग्रन्थ उन्होंने बनाये थे। समन्तभद्र ने उमास्वाति-कृत तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के ऊपर एक बृहद् भाष्य बनाया था, जिसका नाम गन्धहस्तिमहाभाष्य रखा था। यह पुस्तक इस समय लुप्त हो गई है। इसीका उपोद्घातांश देवागमस्तोत्र अथवा आप्तमीमांसा नाम से प्रसिद्ध है।

ग्रन्थ रचे, यह ठीक-ठीक कहना कठिन है, शङ्कराचार्य की कृति-रूप से प्रायः २०० ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनके प्रकरण-ग्रन्थ, भाष्य, स्तोत्र प्रभृति नाना प्रकार के लेख और रचना इन्हीं २०० के अन्तर्गत हैं। शङ्कराचार्य-नामधारी अनेक व्यक्ति हो गये हैं। आदि शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित मठों में जो आचार्य-पद पर अभिषिक्त होते थे, वे सभी शङ्कराचार्य नाम से प्रसिद्ध होते थे। वर्त्तमान समय में भी यही प्रणाली प्रचलित है। अतएव, शङ्कराचार्य नामधारी बहुत व्यक्तियों की रचनाएँ एकत्र हो गई हैं। उनमें से आदि शङ्कर की रचनाओं को पृथक् कर लेना अत्यन्त कठिन है। यहाँ पर यही ज्ञातव्य है कि ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्य का निर्माण करनेवाले शङ्कराचार्य ने कौन-कौन ग्रन्थ बनाये थे। प्रसिद्धि है कि प्रस्थानत्रयी पर ही उनके भाष्य हैं। ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता[1] तथा प्रधान कुछ उपनिषदों[2] पर ही उनके भाष्य हैं। गौडपाद-कृत माण्डूक्य-कारिका पर भी उनका भाष्य है। विष्णुसहस्रनाम-भाष्य और सनत्सुजात-भाष्य भी प्राचीन काल से

---

१. गीताभाष्य के विषय में भी विभिन्न प्रकार के मत हैं। अधिकांश पण्डितों का मत है कि यह आदि शङ्कर का ही ग्रन्थ है, किन्तु इस प्रसङ्ग में विशेष विवरण जानने के लिए B. N. Krishnamurti का लेख देखना चाहिए (Anuals of Bhandarkar Institute, Vol. 14. 1933, pp. 39—60).

२. केनोपनिषद् पर पदभाष्य तथा वाक्यभाष्य शङ्कराचार्य द्वारा निर्मित हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। परन्तु, वाक्यभाष्य शंकर की रचना नहीं है, पण्डितों की ऐसी शंका है। किसी-किसी का कहना है कि वाक्यभाष्य विद्याशंकर-कृत है। एक व्यक्ति द्वारा उनका बनाया जाना सम्भव नहीं है; क्योंकि किसी-किसी स्थल में दोनों भाष्यों में मूल की व्याख्या परस्पर भिन्न और विरुद्ध प्रतीत होती है (द्रष्टव्य—४।७।३२ और २।१।२)। मूल २।२ का पाठ पदभाष्य-मत में 'नाहम्', किन्तु वाक्यभाष्य-मत में 'नाह' है। श्वेताश्वतर-उपनिषद् का भाष्य भी आदि शंकर-कृत नहीं है; क्योंकि उसमें एक स्थान पर गौडपाद की एक कारिका (३।३५) का, 'तथा च शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः' कहकर उद्धार किया गया है। शंकर जैसे महापण्डित, शिष्यों के आचार के विरुद्ध, अपने परमगुरु का नाम इस प्रकार लेंगे, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में (१।४।१५; २।१।९) 'सम्प्रदायविदः' तथा 'वेदान्तार्थसम्प्रदाय-विदः' कहकर गौडपाद का उल्लेख किया है। पण्डित लोग कहते हैं कि माण्डूक्य-उपनिषद् का भाष्य भी आदि शंकर का नहीं है (द्रष्टव्य—Sir Asutosha Mukerji's Silver Jubilee Commemoration Volume, III-Orientalia, Part 2, pp. 103—110)। इसके दो मङ्गल-श्लोक रचना की दृष्टि से भाषा में अत्यन्त अपकृष्ट हैं। द्वितीय श्लोक में छन्दोभङ्ग भी है। प्रथम तीन पङ्क्तियाँ मन्दाक्रान्ता छन्द में हैं तथा चतुर्थ पङ्क्ति स्रग्धरा छन्द में। अन्त में जो तीन श्लोक दिये गये हैं, उनमें व्याकरण की अशुद्धि भी है। शंकर ने अपने ग्रन्थों में प्रायः कहीं मङ्गलाचरण किया ही नहीं है। तैत्तिरीयभाष्य का मङ्गलाचरण भी प्रक्षिप्त ही है। नृसिंहतापिनी-उपनिषद् के भाष्यकार भी एक शंकर हैं। वही प्रपञ्चसार के भी रचयिता हैं। इस भाष्य में प्रपञ्चसार के छह वचन उद्धृत हुए हैं। नृसिंहतापिनी उपनिषद् के भाष्य में भी व्याकरण की अशुद्धियाँ बहुत हैं। माण्डूक्यकारिका की टीका में व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं, किन्तु अपेक्षाकृत कम है। प्रपञ्चसार भी व्याकरण तथा छन्द की अशुद्धियों से परिपूर्ण है, इस विषय में विशेष लिखना अनावश्यक है। ईश, कठ, प्रश्न, मुण्डक, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक पर जो शंकर-भाष्य है, वह सबको विदित ही है।

ही आदिशङ्कर की कृति के रूप में प्रसिद्ध हैं। हस्तामलक के ऊपर जो शङ्कर-कृत भाष्य मिलता है, वह वस्तुतः शङ्कर-कृत है या उनके शिष्य का बनाया हुआ है अथवा किसी अन्य शङ्कर का बनाया हुआ है, इसका निर्णय करना कठिन है। संन्यासिसम्प्रदाय में यह शङ्कराचार्य की ही रचना मानी जाती है। शङ्कराचार्य का गायत्री-भाष्य प्रसिद्ध है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद्‌के ऊपर राजयोगभाष्य नामक एक व्याख्यान मिलता है। यह भी आदिशङ्कर-कृत ही है, ऐसा ग्रन्थ देखने से प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ मैसूर से प्रकाशित हो गया है। सांख्यकारिका के ऊपर जयमङ्गलानामक जो टीका प्रकाशित हुई है, किसी-किसी के मत से वह भी शङ्कर-कृत ही है। परन्तु, इन पंक्तियों के लेखक ने उस ग्रन्थ की भूमिका में यह प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है कि वह टीका उन शङ्कराचार्य नामक पण्डित की रचना है, जिन्होंने और-और ग्रन्थों पर भी जयमङ्गला नाम की टीकाएँ बनाई हैं। विश्वास ही नहीं होता कि यह टीका आदिशङ्कर-कृत है। इनके अतिरिक्त विवेकचूडामणि, सर्ववेदान्त-सिद्धान्त-संग्रह, उपदेशसाहस्री शङ्कराचार्य की बनाई है।[1] प्रपञ्चसार, सौन्दर्यलहरी प्रभृति ग्रन्थों के साथ शङ्कर का नाम संसृष्ट है, किन्तु ये सब ग्रन्थ आदिशङ्कर-रचित हैं या नहीं, इस विषय में विविध कारणों से ऐतिहासिक विशेष रूप से सन्देह करते हैं।[2] ग्रन्थ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि

---

१. उपदेशसाहस्री से सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में (अ० ४) अनेक वचनों का उद्धार किया है। (इस ग्रन्थ के ऊपर शुद्धानन्द के शिष्य आनन्दज्ञान की, कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ की और विद्याधाम के शिष्य बोधनिधि की टीकाएँ हैं।)

२. परन्तु अमलानन्द ने वेदान्तकल्पतरु नामक भामती की टीका में (१।३।३३) प्रपञ्चसार को शङ्कराचार्य-कृत माना है। यथा—"तथाचावोचन्नाचार्याः प्रपञ्चसारे—अवनिजलानलमारुत-विहायसां शक्तिभिश्च तद्बिम्बैः। सारूप्यमात्मनश्च प्रतिनीत्वा तत्तदाशु जयति सुधीः॥" यहाँ पर बिम्ब शब्द से भूतमण्डल (अर्थात्, चतुरस्र धनुषाकार, त्रिकोण षट्कोण और बिन्दु), शक्तिशब्द से निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीत ये पाँच प्रकार की पृथिव्यादि शक्तियाँ समझनी चाहिए (अप्पय्यदीक्षित-कृत 'परिमल' द्रष्टव्य)। प्रपञ्चसारविवरण में लिखा है कि स्वयं शिव ने ही शङ्कराचार्य रूप में अवतीर्ण होकर प्रपञ्चसार नामक ग्रन्थ लिखा था। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट, षट्चक्रनिरूपण के टीकाकार कालीचरण प्रभृति तत्त्वविद् पण्डितों का भी यही मत है कि प्रपञ्चसार आदि शङ्कर का ही बनाया हुआ है। विद्वद्वर Arthur Avallon ने भी किसी-किसी अंश में इस मत का समर्थन किया है। अमरप्रकाश-शिष्य उत्तमबोधाचार्य ने प्रपञ्चसार-सम्बन्धदीपिका नाम की टीका में लिखा है कि प्रपञ्चसार प्रपञ्चागमनामक किसी प्राचीन ग्रन्थ का सारसंग्रह है (द्रष्टव्य—मंद्रास की सूची, सं० ५२९९)। यह वस्तुतः शङ्कर-रचित कोई अभिनव ग्रन्थ नहीं है। प्रपंचसार के ऊपर पद्मपादाचार्य की टीका है। यदि इन पद्मपादाचार्य को आदि शंकर के मुख्य शिष्य पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य से अभिन्न माना जाय, तो प्रपंचसार को आदि शङ्कर की रचना मानना ही अधिक सङ्गत होगा, किन्तु भाषा तथा रचना-शैली से आधुनिक समालोचकों की दृष्टि में यह ग्रन्थ शारीरकभाष्यकर्त्ता का प्रतीत नहीं होता। गीर्वाणेन्द्रसरस्वती-कृत प्रपञ्चसार का एक सारसंग्रह ग्रन्थ प्रसिद्ध है। ललितात्रिशती के ऊपर भी शंकराचार्य के नाम से एक भाष्यग्रन्थ प्रसिद्ध है। यह भी त्रिपुरा-सम्प्रदाय का ही है। दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र के आदिशंकर-कृत होने में कोई सन्देह नहीं है। उसके ऊपर सुरेश्वराचार्य-कृत मानसोल्लासवार्त्तिक है। परन्तु, उसके पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि यह षटत्रिंशत्तत्त्ववादी आगम के मतानुसार ही लिखा गया था। शैवागम के कुछ

सर्वसिद्धान्तसंग्रहनामक एक ग्रन्थ शङ्कराचार्य-कृत है। किन्तु, यह ग्रन्थ भी आदिशङ्कर का नहीं है; क्योंकि इस ग्रन्थकार के मत में पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा तथा देवताकाण्ड (सङ्कर्षणकाण्ड)—ये तीनों ग्रन्थ एक शास्त्र के अन्तर्गत हैं। परन्तु, शारीरक-भाष्य के शङ्कराचार्य ने दिखाया है कि (ब्र० सू० १।१।१) पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा अभिन्न शास्त्र नहीं हैं।

शङ्कराचार्य ने बहुसंख्य छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें वेदान्ताधिकार के साधन, वैराग्य आदि सम्पत्तियों का वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों के कर्त्तृत्व तथा प्रामाण्य के विषय में ठीक-ठीक विचार करना कठिन है। परन्तु, प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न लिपियों में लिखे गये जितने ग्रन्थ गोविन्द-भगवत्पादशिष्य शङ्कर-रचित कहे गये हैं, यथासम्भव उनकी एक सूची नीचे देने का प्रयत्न करता हूँ। यह सूची सर्वथा अपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। विभिन्न ग्रन्थागारों की हस्तलिखित पुस्तकों का अन्वेषण करने पर सम्भव है कि इस प्रकार के और भी ग्रन्थ मिल सकें। परन्तु, जहाँतक प्रसिद्ध क्षुद्र ग्रन्थों का नाम-संग्रह हो सका है, उतना ही यहाँ लिखने का प्रयत्न किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस संग्रह पर विचार करने का अवसर नहीं है। शुद्ध शङ्कर के नाम से ये ग्रन्थ संसृष्ट हैं, इसीलिए इनके नाम यहाँ दिये गये हैं।

१—एकश्लोकी। इस नाम से पृथक्-पृथक् दो श्लोक वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। उनमें एक के ऊपर गोपालयोगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश यति का 'स्वात्मदीपन' नामक व्याख्यान है।

पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी मूलस्तोत्र तथा वार्त्तिक में मिलता है। सौन्दर्यलहरी के विषय में यह मत है कि यह आदि शङ्कर-कृत स्तोत्र है। प्राचीन समय से लेकर विभिन्न टीकाकारों ने इसी मत का समर्थन किया है। श्रीविद्यार्णवनामक तन्त्र-ग्रन्थ में शंकर तान्त्रिक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कहे गये हैं और उसमें तान्त्रिक गुरु-परम्परा का भी उल्लेख किया गया है। शक्तिसङ्गम आदि तन्त्र-ग्रन्थों में भी शंकर का सम्बन्ध विशेष रूप से दिखलाया गया है। शङ्कर के परम गुरु गौडपाद की सुभगोदय नामक तान्त्रिक स्तुति प्रसिद्ध है। गौडपाद-कृत श्रीविद्यारत्नसूत्र भी तान्त्रिक ग्रन्थ है। परन्तु, यह स्थान इस विषय की विशेष आलोचना का नहीं है; अतएव इस विषय का अधिक विस्तार यहाँ पर नहीं किया है। तन्त्रशास्त्र में और शङ्कराचार्यों का भी पता लगता है—तारारहस्यवृत्ति (वासनातत्त्वबोधिनी) कर्त्ता शंकराचार्य का नाम तन्त्र के इतिहास में मिलता है। किन्तु, इन्होंने उक्त ग्रन्थ की पुष्पिका में अपना परिचय कमलाकरपुत्र और लम्बोदर-पौत्र कहकर दिया है। सम्भव है, इन्हीं शङ्कर ने शिवार्चनमहारत्न, कुलमूलावतार-क्रमस्तव आदि ग्रन्थ बनाये हों। षट्चक्रभेद-टिप्पणी भी इन्होंने बनाई होगी। ये बंगाली थे। इन्होंने अपना परिचय 'गौडदेश-निवासी महामहोपाध्याय श्रीशङ्करागमाचार्य' कहकर दिया है। ये कौल थे। इन्होंने कहा है—कुलागम अथवा कुलतन्त्र का आश्रय लिये बिना किसी को सायुज्यमुक्ति नहीं मिल सकती। इनका मत है कि वामाचार, दक्षिणाचार तथा सिद्धान्ताचार से केवल सालोक्यमुक्ति होती है। इस ग्रन्थ की एक प्रति नेपाल-दरबार के ग्रन्थागार में है, इसमें प्रतिलिपि करने का समय ल० सन् ५११, अर्थात् १६३० सन् लिखा है। तारारहस्य-वृत्ति में तारापञ्झटिकास्तोत्र नाम से एक शङ्कर-कृत स्तोत्र का उल्लेख है; किन्तु ये कौन शङ्कर हैं, इसका पता नहीं चलता।

२—कौपीनपञ्चक । इसका नामान्तर 'यतिपञ्चक' है ।

३—अद्वैतपञ्चरत्न । कहीं-कहीं पर यह पुस्तक 'आत्मपञ्चक' अथवा 'अद्वैत-पञ्चक' नाम से भी कही गई है । पञ्चक नाम होने पर भी किसी-किसी स्थान में एक श्लोक अधिक दीख पड़ता है ।

४—आत्मबोध । गीर्वाणेन्द्र के शिष्य बोधेन्द्र ने इसके ऊपर 'भावप्रकाशिका' नामक एक टीका लिखी थी । ये गीर्वाणेन्द्र किसी अद्वैत पीठ के अध्यक्ष थे, ऐसा प्रतीत होता है । टीकाकार बोधेन्द्र त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे । इन्होंने अपनी टीका में लिखा है—

श्रीचक्रमध्यनिलया समस्तगुणसेविता ।
सा देवी त्रिपुरा तुष्टा वीक्षतां मत्कृतिं वराम् ॥ १॥

(द्रष्टव्य—तञ्जौर-कैटलाग, पु० सं० ७१७४)

५—अद्वैतानुभूति ।

६—अद्वैतरसमञ्जरी । सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने भी इस नाम से एक पुस्तक रची थी ।

७—अपरोक्षानुभूति । 'अपरोक्षानुभवामृत' नाम से भी एक शङ्कर-रचित प्रकरण का पता चलता है ।

८—निर्वाणषट्क । इसका नामान्तर 'आत्मषट्क' और 'चिदानन्दषट्क' भी है ।

९—पञ्चरत्न । इस ग्रन्थ का नामान्तर 'उपदेशपञ्चक', 'पञ्चरत्नमालिका' अथवा 'साधकपञ्चक' है ।

१०—निरञ्जनाष्टक ।

११—स्वात्मप्रकाशिका ।

१२—आर्यापंचक । इस पर सच्चिदानन्द सरस्वती की एक टीका है ।

१३—विज्ञाननौका अथवा स्वरूपानुसन्धान ।

१४—अनात्मश्रीविगर्हणप्रकरण ।

१५—जीवन्मुक्तानन्दलहरी ।

१६—गुर्वष्टक ।

१७—केवलोऽहम् ।

१८—परापूजा । इसका दूसरा नाम 'आत्मपूजा' है ।

१९—चर्पटपञ्जरिका । कहीं-कहीं पर 'द्वादशमञ्जरी' अथवा 'द्वादशपञ्जरिका' नाम से भी यह ग्रन्थ प्रसिद्ध है । यह कहीं 'मोहमुद्गर' भी कहा गया है । किसी-किसी स्थान में इन श्लोकों के बदले दूसरे प्रकार के श्लोक 'मोहमुद्गर' में प्रसिद्ध हैं ।

२०—निर्गुणमानसपूजा ।

२१—प्रौढानुभूति ।

२२—तत्त्वोपदेश ।

२३—प्रश्नोत्तररत्नमालिका ।

२४—ब्रह्मनामावलीमाला (अथवा ब्रह्मज्ञानावलीमाला)

२५—निर्वाणमञ्जरी ।

२६—प्रातःस्मरणस्तोत्र ।

२७—धन्याष्टक ।

२८—मणिरत्नमाला ।

२९—मठाम्नाय । इसमें कुल ६५ श्लोक हैं ।

३०—ब्रह्मानुचिन्तन अथवा आत्मानुचिन्तन ।

३१—मनीषापञ्चक । इसमें चण्डाल-रूपी शिव का (शङ्कराचार्य के सहित संवाद-रूप में) तत्त्वोपदेश है । इसके ऊपर सदाशिवेन्द्र की एक टीका है । 'मधुमञ्जरी' नाम से गोपालबाल यति-कृत एक और भी टीका है, जिसके निर्माता ने अपना परिचय जगन्नाथ मुनि का शिष्य कहकर दिया है । यदि ये जगन्नाथ मुनि काशी के प्रसिद्ध जगन्नाथाश्रम से अभिन्न हों, तो वे टीकाकार नृसिंहाश्रम के सतीर्थ ही होंगे । इस 'मनीषापञ्चक' से विलक्षण एक और भी 'मनीषापञ्चक' कहीं-कहीं पर दीख पड़ता है । 'मनीषापञ्चक' के ऊपर हस्तामलक की टीका भी किसी-किसी संग्रह में उपलब्ध होती है ।

३२—सदाचार ।

३३—सहजाष्टक ।

३४—स्वात्मनिरूपण । इसका नामान्तर 'वेदान्तार्या', 'बोधार्या', 'आत्मबोध' या 'अनुभूतिरत्नमाला' है ।

३५—दशश्लोकी अथवा निर्वाणदशक । इसके ऊपर प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' नामक व्याख्या लिखी है ।

३६—सारतत्त्वोपदेश ।

३७—वेदवेदान्ततत्त्वसार ।

३८—वाक्यवृत्ति । इसके ऊपर महायोगी माधवप्राज्ञ के शिष्य विश्वेश्वर पण्डित की 'प्रकाशिका' नामक टीका है । रामानन्द यति की भी टीका है ।

३९—योगतारावली । इससे भिन्न भी एक 'योगतारावली' है, जिसका रचयिता नन्दिकेश्वर है ।

४०—लघुवाक्यवृत्ति । इस पर 'पुष्पाञ्जलि' नाम की एक टीका है । इस टीकाकार का समय ज्ञात नहीं है, परन्तु इन्होंने विद्यारण्य का निर्देश किया है, अतः उनके ये परवर्त्ती होंगे ।

४१—ज्ञानसंन्यास ।

४२—बालबोधिनी ।

४३—चिदानन्दात्मकस्तोत्र ।

४४—महावाक्यमन्त्र ।

४५—महावाक्यविवरण अथवा महावाक्यदर्पण ।

४६—महावाक्यविवेक ।

४७—अष्टश्लोकी ।

४८—द्वादशमहावाक्यविवरण ।

४९—पञ्चीकरणप्रकरण । इसके ऊपर गोपालयोगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश ने 'विवरण' नाम से एक टीका लिखी है । स्वयंप्रकाश ने शिवराम, पूर्णानन्द तथा पुरुषोत्तम नामक आचार्यों को अपना गुरु माना है । शङ्कर के शिष्य सुरेश्वर ने इसके ऊपर एक वार्त्तिक की रचना की है । इस वार्त्तिक के ऊपर 'विवरण' नाम की एक टीका शिवरामतीर्थ की बनाई हुई है । उस टीका के ऊपर 'आभरण' नाम की एक और भी टीका मिलती है ।

५०—आत्मानात्मविवेक ।

५१—प्रबोधसुधाकर ।

५२—दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र । इस स्तोत्र के ऊपर सुरेश्वराचार्य ने 'मानसोल्लास' नाम से वार्त्तिक तथा कैवल्यानन्द के शिष्य स्वयंप्रकाश यति ने 'तत्त्वसुधा' नामक एक टीका बनाई है ।

५३—वाक्यसुधा । वस्तुतः, यह ग्रन्थ शङ्कर का नहीं है । यद्यपि इसके टीकाकार मुनिदास भूपाल ने—वाक्यसुधा के रचयिता शङ्कर हैं—ऐसा स्वीकार किया है (तञ्जौर-कैटलाग, पु० सं० ७३७४), तथापि यह कथन प्रामाणिक नहीं है । टीकाकार ब्रह्मानन्द भारती का मत है कि भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य ने मिलकर इस ग्रन्थ की रचना की थी (द्रष्टव्य—तञ्जौर-कैटलाग, पु० सं० ७३६८), परन्तु स्वयंप्रकाश के प्रशिष्य तथा हयग्रीव के शिष्य विश्वेश्वर मुनि ने स्वरचित वाक्यसुधा टीका में लिखा है कि वाक्यसुधा का रचयिता अकेला विद्यारण्य ही है ।

५४—परमहंससन्ध्योपासन ।

५५—गायत्रीपद्धति । इसमें विश्वामित्रसंहिता का उल्लेख है ।

५६—अज्ञानबोधिनी (आत्मबोधटीका) । यह पुस्तक चतुर्थ संख्या में उक्त पुस्तक से भिन्न प्रतीत होती है ।

५७—त्रिपुटीप्रकरण । इसपर आनन्दज्ञान की टीका है ।

५८—दक्षनामाभिधान । इसका किसी-किसी अंश में मठाम्नाय से काफी सम्बन्ध है, ऐसा ज्ञात होता है ।

५९—सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह ।

६०—केरलाचारसंग्रह ।

६१—सामवेदमन्त्रभाष्य ।

६२—वज्रसूच्युपनिषत्सार ।

६३—हरितत्त्वमुक्तावली ।

६४—जीवब्रह्मैक्यस्तोत्र ।

६५—मायापञ्चक ।

६६—ज्ञानगङ्गाशतक ।

६७—शतश्लोकी।
६८—संन्यासपद्धति।
६९—सर्वसिद्धान्तसंग्रह।
७०—नवरत्नमाला।
७१—सर्वप्रत्ययमाला।
७२—मन्त्रार्णवस्तुति।
७३—मन्त्रमातृकापुष्पमाला।
७४—अवधूतषट्क।
७५—ज्ञानगीता।
७६—सिद्धान्तपञ्जर।

प्रसिद्धि है कि शङ्कराचार्य ने बहुत-से स्तोत्र-ग्रन्थों की रचना की थी। ये परमार्थतः अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहार-भूमि में देवताओं की उपासना तथा सार्थकता खूब मानते थे और स्वयं भी लोकशिक्षा के लिए वैसा ही आचरण करते थे। उनके विशाल हृदय में साम्प्रदायिकता के क्षुद्रभाव के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए शिव, विष्णु, शक्ति प्रभृति नाना देवताओं के और उनके विभिन्न रूपों के स्तोत्र उनकी रचनावली में दीख पड़ते हैं। अवश्य ही इनमें से बहुत-से स्तोत्र परवर्त्ती शङ्करों के द्वारा रचे गये होंगे। परन्तु, ये सब आदिशङ्कर में ही आरोपित किये गये हैं। जो लोग इस विषय का विशेष रूप से अनुसन्धान करेंगे, वे प्रतिस्तोत्र का प्रामाण्य विचारपूर्वक काल-निर्णय तथा कर्त्ता का निश्चय करने के लिए प्रयत्न करेंगे। केवल शङ्कराचार्य के नाम के साथ सम्बन्ध है, इसीलिए इन स्तोत्रों का यहाँ उल्लेख किया गया है। इनमें से दो-एक स्तोत्रों के नाम पूर्व सूची में भी आये हैं, इसीलिए उनकी पुनरुक्ति नहीं की गई है।

१. शिवस्तोत्र

१—शिवभुजङ्गप्रयातस्तोत्र
२—शिवाष्टक
३—द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्तोत्र
४—दक्षिणामूर्त्यष्टक (?)
५—शिवपञ्चाक्षरस्तोत्र
६—मृत्युञ्जयमानसपूजा
७—कालभैरवाष्टक
८—शिवपादादिकेशान्तस्तोत्र
९—शिवकेशादिपादान्तस्तोत्र
१०—दक्षिणामूर्त्तिवर्णमाला
११—वेदसारशिवस्तोत्र
१२—शिवज्ञानदकारिका

२. शक्तिस्तोत्र

१—अम्बाष्टक
२—त्रिपुरसुन्दर्यष्टक
३—ललितापञ्चरत्न
४—राजराजेश्वरीस्तोत्र
५—मीनाक्षीस्तोत्र
६—मीनाक्षीपञ्चरत्न
७—बालापञ्चरत्न
८—त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा
९—त्रिपुरसुन्दरीवेदपाद
१०—अन्नपूर्णास्तोत्र

११—मातङ्गीस्तोत्र
१२—देवीभुजङ्गप्रयात
१३—देवीपञ्चरत्न
१४—देवीस्तुति
१५—गौरीदशक
१६—भवान्यष्टक
१७—भवानीभुजङ्गप्रयात
१८—दुर्गापराधभञ्जनस्तोत्र
१९—तारापञ्झटिका
२०—गिरिजादशक
२१—कालिकास्तोत्र
२२—काल्यपराधभञ्जनस्तोत्र
२३—देवीचतुःषष्ट्युपचारपूजास्तोत्र
२४—शारदाभुजङ्गप्रयात
२५—कामाक्षीस्तोत्र
२६—श्यामामानसार्चन
२७—भ्रमराम्बाष्टक

३. विष्णुस्तोत्र

१—कृष्णाष्टक (दो प्रकार का)
२—बालकृष्णाष्टक
३—कृष्णदिव्यस्तोत्र
४—अच्युताष्टक
५—चक्रपाणिस्तोत्र
६—विष्णुषट्पदी
७—नारायणस्तोत्र
८—गोविन्दाष्टक
९—आर्त्तत्राणनारायणाष्टादश
१०—विष्णुपादादिकेशान्तस्तोत्र
११—हरिमीडेस्तोत्र
१२—जगन्नाथाष्टक
१३—जगन्नाथस्तोत्र
१४—भगवन्मानसपूजा
१५—पाण्डुरङ्गाष्टक
१६—मुकुन्दचतुर्दश
१७—हरिनामावलीस्तोत्र
१८—संकटहरणस्तोत्र
१९—रामाष्टक
२०—राघवाष्टक
२१—रामभुजङ्गप्रयात
२२—रामतत्त्वरत्न

४. गणेशस्तोत्र

१—गणेशभुजङ्गप्रयात
२—वरदगणेशस्तोत्र
३—गणेशाष्टक
४—गणेशपञ्चरत्न

५. युगलदेवतास्तोत्र

१—अर्धनारीश्वरस्तोत्र
२—उमामहेश्वरस्तोत्र
३—लक्ष्मीनृसिंहपञ्चरत्न
४—हरिहरस्तोत्र
५—हरगौर्यष्टक
६—सङ्कटनाशनलक्ष्मीनृसिंहस्तोत्र

६. नदी-तीर्थविषयकस्तोत्र

१—गङ्गाष्टक
२—गङ्गास्तोत्र
३—यमुनाष्टक (दो प्रकारका)
४—नर्मदाष्टक
५—काशीस्तोत्र (विश्वनाथनगरीस्तोत्र)
६—काशीपञ्चक
७—पुष्कराष्टक
८—त्रिवेणीस्तोत्र
९—मणिकर्णिकास्तोत्र

७. साधारणस्तोत्र

१–सुब्रह्मण्यभुजङ्गप्रयात
२–दत्तभुजङ्गप्रयात
३–दत्तमहिम्नस्तोत्र
४–कनकधारास्तोत्र
५–कल्याणवृष्टिस्तोत्र
६–सुवर्णमालास्तोत्र
७–महापुरुषस्तोत्र
८–ब्रह्मानन्दस्तोत्र
९–हनुमत्पञ्चक
१०–अञ्जनिस्तोत्र

श्रीशङ्कराचार्य का शिष्यवर्ग—शङ्कराचार्य जैसे अलौकिक बुद्धि-सम्पन्न थे, उनके शिष्यों में सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादाचार्य भी किसी अंश में वैसे ही बुद्धि-सम्पन्न थे। हस्तामलक तथा त्रोटकाचार्य के विषय में विशेष ज्ञातव्य बातों को जानने का कोई उपाय नहीं है।

सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक, दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिक अथवा मानसोल्लास, पञ्चीकरणवार्त्तिक, काशीमृतिमोक्ष-विचार आदि ग्रन्थों का निर्माण किया था। वेदान्तशास्त्र के इतिहास में वार्त्तिककार पद से केवल सुरेश्वराचार्य का ही बोध होता है। सुरेश्वर केवल वेदान्तज्ञ ही नहीं थे, किन्तु धर्मशास्त्र में भी उनका अगाध पाडित्य था। याज्ञवल्क्यस्मृति पर 'बालक्रीडा' टीका, जो विश्वरूपाचार्य की कृति-रूप से प्रसिद्ध है, सुरेश्वराचार्य की ही कृति है, ऐसा प्रत्नतत्त्ववित् विद्वानों का मत है। उक्त मत के अनुसार विश्वरूप सुरेश्वराचार्य का ही नामान्तर है।[१] बालक्रीडा टीका के अतिरिक्त धर्मशास्त्र में उनके और भी दो ग्रन्थों का परिचय मिलता है। उनमें एक श्राद्धकलिका है, जिसमें श्राद्ध का विशेष रूप से वर्णन है। दूसरा एक गद्यपद्यात्मक निबन्ध है, जिसमें आचार आदि का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया है। श्रीरघुनन्दन भट्टाचार्य के उद्वाह-तत्त्व में जो विश्वरूपसमुच्चय नामक एक संग्रह-ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, सम्भव है कि यह निबन्ध वही हो।

वेदान्तशास्त्र के इतिहास में प्रसिद्ध है कि सुरेश्वर का गृहस्थाश्रमावस्था का नाम

१. पण्डितवर P. V. Kane ने History of Dharmashastra नामक ग्रन्थ में अनेक प्रमाणों से विश्वरूप और सुरेश्वर की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है। माधवाचार्य ने पराशरस्मृति की टीका में सुरेश्वर के बृहदारण्यकभाष्य-वार्त्तिक से एक वचन इस प्रकार उद्धृत किया है—"वार्त्तिके विश्वरूपाचार्य उदाजहार—

'आम्रे फलार्थे' इत्यादि ह्यापस्तम्बस्मृतेर्वचः।
फलभावत्वं समाचष्टे नित्यानामपि कर्मणाम्॥"

विवरण प्रमेयसंग्रह में भी बृहदारण्यकभाष्य-वार्त्तिक का एक वचन उद्धृत हुआ है। ब्रह्मानन्दभारती ने अपने पुरुषार्थप्रबोध नामक ग्रन्थ में सुरेश्वर-कृत नैष्कर्म्यसिद्धि को विश्वरूप की कृति कहा है—

"इत्येवं नैष्कर्म्यसिद्धौ ब्रह्मांशैर्ब्रह्मवित्तमैः।
श्रीमद्भिर्विश्वरूपाख्यैराचार्यैः करुणार्णवैः॥" इत्यादि।

रामतीर्थ के मानसोल्लास, वृत्तान्तविलास और गुरुवंशकाव्य में भी ऐसा ही देखा जाता है।

मण्डनमिश्र था। यह भी प्रसिद्धि है कि सुरेश्वर पहले कुमारिल के शिष्य और कर्मवादी मीमांसक थे। श्रीशङ्कराचार्य के संसर्ग में आकर और बाद में पराजित होकर श्रीशङ्कराचार्य के शिष्य बन गये। उनका संन्यासाश्रम का नाम सुरेश्वर पड़ा। इस मत के अनुसार मण्डन के नाम से जितने ग्रन्थों का प्रचार है, वे सभी सुरेश्वर द्वारा गृहस्थाश्रमावस्था में रचे गये हैं। मण्डन और सुरेश्वर का यह अभेदवाद शङ्करदिग्विजय के आधार पर है। इसी कारण इतने दिनों तक पण्डित-समाज में यह बात प्रामाणिक मानी जाती थी, परन्तु आजकल नवीन पण्डितों ने विशेष रूप से पर्यालोचन कर यह प्रायः सिद्ध कर दिया है कि मण्डन और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति नहीं हैं। ये दो पृथक् व्यक्ति थे और इनका समय भी एक नहीं है। मण्डन प्राचीन थे और सुरेश्वर अर्वाचीन। अतएव, दोनों के विषय में अभेदोक्ति सर्वथा निर्मूल है।

मण्डन ने ब्रह्मसिद्धि[1] नामक एक उच्चकोटि का वेदान्त-ग्रन्थ बनाया था। यद्यपि यह ग्रन्थ अद्वैत-सिद्धान्त का ही प्रतिपादक है, तथापि यह अद्वैतवाद नैष्कर्म्यसिद्धि तथा उपनिषद्भाष्यवार्त्तिकों में सुरेश्वराचार्य से प्रतिपादित अद्वैतवाद से सर्वथा भिन्न है। माध्व-सम्प्रदाय के मणिमञ्जरी नामक ग्रन्थ के अनुसार भी मण्डन और सुरेश्वर पृथक् प्रतीत होते हैं। मण्डन सुरेश्वर से प्राचीन थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु, वे शङ्कर के समकालीन थे अथवा शङ्कर से भी प्राचीन थे, इसका निर्णय करना कठिन है। यह प्रसिद्धि है कि मण्डन कुमारिल के शिष्य थे[2], परन्तु सुरेश्वर साक्षात् अथवा परम्परा से कुमारिल के शिष्य थे, यह प्रतीत नहीं होता। उन्होंने तैत्तिरीयवार्त्तिक (१—९, १०) में कुमारिल के श्लोकवार्त्तिक की 'मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत'—इत्यादि कारिका को (सम्बन्धाक्षेपपरिहार १०) उद्धृत कर कुमारिल को 'मीमांसकम्मन्य' कहा है। शिष्य की गुरु के विषय में इस प्रकार आक्षेपपूर्ण उक्ति सम्भव नहीं है। विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक, मीमांसानुक्रमणी और स्फोटसिद्धि ये सब

१. ब्रह्मसिद्धि के ऊपर वाचस्पतिमिश्र ने ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा नामक एक टीका लिखी थी। परन्तु, यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। भामती में इसका उल्लेख है। ब्रह्मसिद्धि उपलब्ध हो गई है और प्रकाशित भी हो गई है। मण्डनमिश्र का अद्वैतवाद भर्तृहरि के अद्वैतवाद के अनुरूप है। यह एक प्रकार से शब्दब्रह्माद्वयवाद का ही भेद है। मण्डन स्फोटवादी थे और स्फोट को सिद्ध करने के लिए स्फोटसिद्धि नामक एक ग्रन्थ भी उन्होंने बनाया था। परन्तु, शङ्कराचार्य ने शारीरकभाष्य में स्फोट का विशेष रूप से खण्डन किया है।

२. आनन्दगिरि के मत से मण्डनमिश्र कुमारिल के भगिनीपति (बहनोई) थे, परन्तु यह कथन विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः, मण्डन कुमारिल के शिष्य थे या नहीं, यह भी विश्वास-योग्य नहीं है। श्लोकवार्त्तिक के टीकाकार उम्बेकाचार्य ने, जो स्वयं कुमारिल के शिष्य थे, अपने सतीर्थ मण्डनमिश्र के ग्रन्थ—**भावना**विवेक पर कुमारिल के मत का खण्डन भी किया है। कुमारिल ने श्लोकवार्त्तिक में जिस स्फोटवाद का खण्डन किया है, मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि नामक अपने ग्रन्थ में उसी का विशेष रूप से मण्डन किया है।

ग्रन्थ मण्डनमिश्र-कृत हैं। इनमें विधिविवेक के ऊपर वाचस्पतिमिश्र[1] ने न्यायकणिका नाम की टीका लिखी है। भावनाविवेक पर उम्बेकाचार्य[2] की टीका मिलती है। स्फोटसिद्धि पर गोपालिका टीका प्रकाशित हुई है। मीमांसानुक्रमणिका पर म० म० गङ्गानाथ झा की नवीन टीका प्रकाशित हुई है।

सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में तीन प्रकार के समुच्चयवाद का उल्लेख करके

---

१. वाचस्पतिमिश्र ने मण्डन के एक मीमांसा-ग्रन्थ पर और एक वेदान्त-ग्रन्थ पर टीका लिखी थी। वाचस्पतिमिश्र मण्डनमिश्र के भक्त थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किसी-किसी पण्डित का यह विश्वास है कि वाचस्पतिमिश्र ने भामती पर बहुत स्थलों में मण्डनमिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए व्याख्या की है। उनकी व्याख्या सर्वत्र ठीक-ठीक शङ्कर के मत के अनुकूल भी नहीं है। शङ्करवेदान्त का भामती प्रस्थान कितने अंशों में मण्डनमिश्र के मत के अनुकूल है, इसकी आलोचना का यह अवसर नहीं है। परन्तु, प्रतिद्वंद्वी विवरण-प्रस्थान की सत्ता से प्रतीत होता है कि पद्मपादाचार्य की धारा से अथवा वार्त्तिक की सरणि से भिन्न रूप में चलने का कोई कारण होना चाहिए। मण्डन के सिद्धान्त के प्रति विशेष अनुराग ही इसका कारण प्रतीत होता है।

२. उम्बेकाचार्य-कृत टीका-समेत भावनाविवेक बनारस संस्कृत-कॉलेज, सरस्वती भवन, संस्कृत-ग्रन्थ-माला से प्रकाशित हो चुका है। प्रसिद्धि है कि उम्बेक कुमारिल के शिष्य थे। उन्होंने श्लोक-वार्त्तिक पर एक टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख शास्त्रदीपिका की रामकृष्ण-कृत युक्तिस्नेह-प्रपूरणी व्याख्या में है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में श्लोकवार्त्तिकटीकाकार रूप से जिस उवेयक का उल्लेख किया है, वे वस्तुतः ये ही उम्बेकाचार्य हैं। इनका नाम विभिन्न ग्रन्थों में कहीं उवेक, उवेयक, उम्बेक इस तरह नाना प्रकार का उपलब्ध होता है। कमलशील ने भी अपनी पञ्जिका में उम्बेक का वचन उद्धृत किया है। सम्पूर्ण श्लोकवार्त्तिक की टीका उम्बेक ने अकेले ही बनाई थी या जयमिश्र की सहायता से बनाई थी, इसका निर्णय करना कठिन है, किन्तु अधिकांश स्थलों में यह उम्बेक के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। चित्सुखाचार्य-कृत तत्त्व-प्रदीपिका की नयनप्रसादिनी टीका (पृ० २६५) में टीकाकार प्रत्यक्स्वरूपाचार्य ने, उम्बेक भवभूति का नामान्तर है, ऐसा निर्देश किया है। भवभूति कुमारिल के शिष्य थे, यह भी किसी-किसी का मत है। मालतीमाधव की एक हस्तलिखित प्रति से ज्ञात हुआ है कि यह नाटक कुमारिल-शिष्य उम्बेकाचार्य से रचा गया था—"इति श्रीकुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभव-श्रीमदुम्बेकाचार्यविरचितमालतीमाधवे षष्ठोऽयमङ्कः।" (द्रष्टव्य—Introduction to Gaudavaho, note No. 4, P. 206). उम्बेक-कृत श्लोकवार्त्तिक टीका के आरम्भ में मालतीमाधव का—'ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्', यह श्लोक दीख पड़ता है। पं० V. A. Ramaswami Shastri ने स्वसम्पादित तत्त्वबिन्दु की भूमिका में उम्बेक और भवभूति की अभिन्नता के विषय में कुछ सन्देह प्रकट किया है। वे कहते हैं कि भवभूति ने अपने नाटक में ज्ञाननिधि को अपना गुरु बतलाया है। वह कुमारिल का ही नामान्तर है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। पक्षान्तर में उम्बेक भी सत्य ही कुमारिल के शिष्य थे या नहीं, यह भी निश्चित नहीं है; क्योंकि उन्होंने श्लोकवार्त्तिक की टीका में वार्त्तिक तथा भाष्य दोनों में दोष दिखलाया है और प्राचीन आर्षवचन की प्रतिध्वनिरूप में कहा है—'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥' कुमारिल उनके गुरु थे, इससे यह सिद्ध नहीं होता, इससे इतना ही प्रकाशित होता है कि वे उम्बेक के गुरुस्थानीय थे। तथापि उनके मत में दोष देखकर बिना संकोच उन्होंने उसका खंडन करने का प्रयत्न किया था।

खण्डन किया है। इनमें से प्रथम मत ब्रह्मदत्त का है (यह बात नैष्कर्म्यसिद्धि की विद्यासुरभिटीका में, १।६७, कही गई है। आनन्दज्ञान ने सम्बन्धवार्त्तिक में, ७९७, इसका समर्थन किया है), द्वितीय मत मण्डनमिश्र का है (सुरेश्वर ने वार्त्तिक में, ४।४।७८६--९०, इस मत का खण्डन किया है। आनन्दज्ञान की टीका से ज्ञात होता है कि यह मण्डन का मत है) और तृतीय मत भर्तृप्रपञ्च का है। ब्रह्मदत्त कहते हैं कि अज्ञाननिवृत्ति भावनाजन्य साक्षात्कारात्मक ज्ञान से होती है, वेदान्तवाक्य-जन्य ज्ञान से नहीं होती। वेदान्तवाक्य-श्रवण करने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् दीर्घकाल तक उपासना करनी पड़ती है। इस प्रकार भावना के उत्कर्ष से अपरोक्ष ज्ञान आविर्भूत होता है, जिससे अज्ञान पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। ब्रह्मदत्त का कथन है कि इसी कारण ज्ञानाभ्यास के समय कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय असंगत नहीं है। 'देवो भूत्वा देवानप्येति' यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है। इसका आशय यह है कि भावना के उपचय से देवभाव का साक्षात्कार होता है, उसके पश्चात् देहपात के अनन्तर उपास्य देवभाव की प्राप्ति होती है। ब्रह्मदत्त के मत में कर्मकाण्ड के सदृश उपनिषद् भी विधिप्रधान है, परन्तु यह विधि कर्मविधि नहीं है, उपासना-विधि है। उपासना का नामान्तर भावना अथवा प्रसंख्यान है। 'आत्मेत्युपासीत' इत्याकारक उपासना-विधि में ही उपनिषद् वाक्यों का तात्पर्य है। 'तत्त्वमसि' इत्याकारक वाक्य मुख्य नहीं हैं; क्योंकि इनसे उपासना का विषय-निर्देशमात्र होता है। इसीलिए, वेदान्तवाक्य-जनित ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, किन्तु प्रसंख्यान की आवश्यकता होती है। जबतक अविद्या-निवृत्ति अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार न हो जाय, तबतक कर्म आवश्यक है—यह ब्रह्मदत्त और शङ्कर दोनों ही मानते हैं; परन्तु शङ्कर कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्तवाक्य-जन्य ज्ञान से उत्तम अधिकारी पुरुष अविलम्ब ब्रह्म-साक्षात्कार कर सकते हैं, किन्तु ब्रह्मदत्त के मत में उस ज्ञान के पश्चात् उपासना अथवा ध्यान की आवश्यकता होती है। अतएव, औपनिषदिक ज्ञान और मुक्तिप्राप्ति के मध्य में वैदिक कर्मों का अनुष्ठान अपेक्षित है। इसीलिए, वे ज्ञान के साथ कर्म का समुच्चय मानते हैं।

मण्डन के मत में भी क्रिया अथवा उपासना में ही उपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य विधिवाक्य के अधीन हैं। उनका भी यही कहना है कि श्रावण ज्ञान के अनन्तर उपासना अथवा ध्यान आवश्यक है; क्योंकि वेदान्त-वाक्य से जो 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह संसर्गात्मक है, अतः उससे आत्मा के स्वरूप की ठीक-ठीक प्रतिपत्ति नहीं होती। निरन्तर इसका अभ्यास करने से एक पृथक् ज्ञान उत्पन्न होता है, जो वाक्यार्थरूप नहीं है; उसी से अज्ञान की निवृत्ति होती है। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है। इसका अभिप्राय यह है—विज्ञान के अनन्तर, अर्थात् संसृष्ट रूप ब्रह्म को जानकर, प्रज्ञा का साधन करना चाहिए, अर्थात् साक्षात्कारात्मक अथवा असंसर्गात्मक ज्ञान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। इसीलिए, समुच्चय की आवश्यकता होती है। मण्डन के मत से लौकिक अथवा वैदिक सब प्रकार के वाक्यों से ही संसर्गात्मक वाक्यार्थ-बोध होता है।

अतः तत्त्वमस्यादि वाक्यों से 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक संसर्गात्मक ज्ञान पहले उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर प्रत्यगात्मविषयक 'अहं ब्रह्म' इत्याकारक अवाक्यार्थरूप ज्ञान जबतक आविर्भूत न हो, तबतक निदिध्यासन का अभ्यास करना चाहिए। इस ज्ञान से ही कैवल्य का आविर्भाव होता है। मण्डन का कहना है कि जब संसर्ग-बुद्धि को उत्पन्न करना ही शब्द का स्वभाव है, तब उससे अवाक्यार्थ-प्रतिपत्ति की क्या आशा हो सकती है। इसीलिए, शब्दज्ञान का अभ्यास अपेक्षित है। इसी से तृतीय ज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे अवाक्यार्थ-प्रतिपत्ति हो सकती है।

भर्तृप्रपञ्च के मत में भी समुच्चय आवश्यक है। ये भेदाभेदवादी या अनेकान्त-वादी थे। इनके मत में भेद और अभेद दोनों ही सत्य हैं। भेद के सत्य होने के कारण कर्म सदा अपेक्षित है और अभेद के सत्य होने के कारण उसकी उपलब्धि के लिए ज्ञान की अपेक्षा है। मुक्त तथा मुमुक्षु सबको ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय की आवश्यकता होती है। अभेद न मानने से 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान उपपन्न नहीं हो सकता। इसीलिए, ब्रह्म उनके मत में भिन्नाभिन्नात्मक है।

सुरेश्वर ने तीनों मतों का खण्डन करके शङ्कर का मत-स्थापन किया है। उन्होंने दिखलाया है कि प्रसंख्यान, उपासना अथवा ध्यान की आवश्यकता शङ्कर भी मानते हैं। लेकिन शङ्कर का कथन यह है कि एकमात्र उपनिषद्-वाक्य से ही साक्षात् रूप में ब्रह्मस्वरूप का परिज्ञान होता है, उसके लिए ध्यान की अपेक्षा नहीं है। वाक्य से संसृष्ट का ज्ञान होता है या असंसृष्ट का? परोक्ष ज्ञान होता है या अपरोक्ष? इसका निश्चय प्रमेय के अधीन है। असंसृष्ट ब्रह्म वस्तुतः प्रत्यगात्मा से अभिन्न होने के कारण 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से अपरोक्ष ज्ञान होने में कोई बाधक नहीं है। अतएव, वेदान्त-ज्ञान के लिए प्रसंख्यान की सहकारिता अपेक्षित नहीं है। किन्तु, निम्न अधिकारी के लिए प्रसंख्यान के द्वारा अधिकार-रूप बल की वृद्धि होती है, जिससे महावाक्यों के यथार्थ अर्थ को जानने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। प्रसंख्यान से प्रतिबन्ध की निवृत्ति होती है। प्रतिबन्ध के अभाव में इन्द्रिय अथवा शब्दात्मक प्रमाण निरपेक्ष होकर ही प्रमेय को प्रकाशित करता है। जिसमें यह शक्ति नहीं है, वह वस्तुतः प्रमाण ही नहीं है। अतएव, प्रसंख्यान अथवा निदिध्यासन आत्मज्ञान का परवर्त्ती नहीं है, किन्तु पूर्ववर्त्ती है।

पूर्वोक्त संक्षिप्त आलोचना से प्रतीत होगा कि मण्डन और सुरेश्वर अभिन्न व्यक्ति नहीं हैं और इन लोगों का सिद्धान्त भी परस्पर विभिन्न है। आनुषङ्गिक भाव से मण्डन की दृष्टि से शङ्कर-सम्प्रदाय की दृष्टि का वैलक्षण्य भी इससे ज्ञात होगा।

मठाम्नाय के अनुसार सुरेश्वराचार्य द्वारका-मठ के प्रथम अधिष्ठाता थे, परन्तु इस विषय में बहुत अधिक मतभेद है।

पद्मपादाचार्य का यथार्थ नाम सनन्दन था। उन्होंने शारीरक-भाष्य के प्रथमांश की पञ्चपादिका नाम से प्रसिद्ध व्याख्या करके उसका प्रचार किया था। प्रकाशात्म-यति ने उस पर पञ्चपादिका-विवरण नामक व्याख्या लिखी थी। पञ्चपादिका-विवरण पर माधवाचार्य का विरणप्रमेय-संग्रह तथा अखण्डानन्द का तत्त्वदीपन प्रसिद्ध व्याख्यान-

ग्रन्थ हैं। वेदान्त के विवरण-प्रस्थान का मूल आधार पञ्चपादिका ही है। मठाम्नाय के अनुसार पद्मपादाचार्य पुरीस्थ गोवर्द्धन-मठ के प्रथम अधिष्ठाता थे।[१]

त्रोटकाचार्य अथवा तोटकाचार्य का प्रसिद्ध नाम आनन्दगिरि था।[२] परन्तु यह कहाँतक विश्वसनीय है, कहना कठिन है। लेकिन, इतना निश्चित है कि टीकाकार आनन्दगिरि तोटकाचार्य से बहुत अर्वाचीन थे। तोटक ने कौन-कौन ग्रन्थ बनाये, इसका ठीक-ठीक पता नहीं है। प्रतीत होता है कि उन्होंने कोई बृहद् ग्रन्थ नहीं बनाया था।[३]

हस्तामलक का दूसरा नाम पृथ्वीधराचार्य था। हस्तामलक के नाम से सम्बद्ध हस्तामलकस्तोत्र नाम का एक द्वादशश्लोकात्मक स्तोत्र प्रसिद्ध है। उसके ऊपर आचार्य शङ्कर का भाष्य मिलता है।[४] किन्तु, इसकी प्रामाणिकता में सन्देह होता है। यह भी हो सकता है कि स्तोत्र शङ्कराचार्य का बनाया हो और उस पर हस्तामलक ने भाष्य रचा हो अथवा दोनों ही शङ्कर के ही हों।[५] इस पर वेदान्तसिद्धान्तदीपिका नाम से प्रसिद्ध एक टीका है (द्रष्टव्य Cat. Cat., Vol. 1, p. 765)। मठाम्नाय के अनुसार हस्तामलकाचार्य शृङ्गेरीमठ के प्रथम मठाधीश थे, किन्तु यह मत भी निर्विवाद नहीं है।

श्रीशङ्कराचार्य का मत-स्थापन और धर्म-प्रचार

प्राचीन समय से ही ऐसी प्रसिद्धि है कि बौद्ध आदि अवैदिक धर्म के प्रचार तथा तदनुसारी दर्शनों के प्राबल्य से जिस समय भारतीय वर्णाश्रमधर्म में विप्लव

---

१. पद्मपादाचार्य काश्यपगोत्रीय ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। मठाम्नाय में लिखा है—

गोवर्द्धनमठे रम्ये विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत्काश्यपगोत्रजः॥
माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाशब्रह्मचारी च ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्॥
श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत।

श्रीपद्मपादाचार्य ने विज्ञानदीपिका नामक एक ग्रन्थ और बनाया था, ऐसा किसी-किसी विद्वान् का मत है। यह ग्रन्थ नेपाल-राज्य के ग्रन्थागार में सुरक्षित है। इसमें विशेष रूप से कर्म का विचार तथा कर्मनिवृत्ति के उपाय का आलोचन किया गया है। इस ग्रन्थ के आधार पर म० म० डॉ० उमेश मिश्र ने The Annihilation of Karman नाम से एक लेख लिखा था, जो सप्तम वर्ष के Oriental Conference नामक अधिवेशन में पढ़ा गया था। (द्रष्टव्य—Proceedings of Seventh Oriental Conference, pp. 457–480.)

२. मठाम्नाय में लिखा है—'तोटकं चानन्दगिरिं प्रणमामि जगद्गुरुम्।'

३. Aufrecht के Catalogus Catalogorum में तोटक के नाम के साथ काल-निर्णय, तोटक-व्याख्या, तोटक-श्लोक, श्रुतिसार-समुद्धरण आदि का उल्लेख मिलता है।

४. जीवानन्द विद्यासागर ने १८७५ ई० में सुबोधिनी टीका-सहित वेदान्तसार के परिशिष्ट रूप में (पृ० ४९-६०) इसको प्रकाशित किया था।

५. यह भी असम्भव नहीं है कि इस स्तोत्र का 'हस्तामलक' यह नाम शङ्कराचार्य के शिष्य से सम्बद्ध ही न हो।

उपस्थित हो रहा था, उस समय भट्टकुमारिल, मण्डनमिश्र, शङ्कराचार्य आदि महापुरुषों ने विरुद्ध मत का निरसन करते हुए वैदिक मत की पुनः स्थापना की थी। किसी-किसी का मत है कि इन्हीं के पराक्रम से बौद्धधर्म भारत से निर्वासित होकर लुप्तप्राय हो गया।[1] इस मत के सम्पूर्णतया तथ्य न होने पर भी इसमें सन्देह नहीं है

१. बौद्धधर्म भारतवर्ष से निकाला नहीं गया था, किन्तु रूपान्तर में परिणत होकर यहीं विद्यमान रहा। यवनों के अत्याचार से बौद्ध भिक्षु विभिन्न विहारों से शास्त्रीय ग्रन्थ आदि लेकर नेपाल, तिब्बत आदि देशों में चले गये थे—यह दूसरी बात है। म० म० हरप्रसाद शास्त्री, प्राच्यविद्यामहार्णव नगेन्द्रनाथ वसु आदि पण्डितों ने इस विषय में बहुत आलोचना की है (द्रष्टव्य—H. P. Shastri, Discovery of Living Buddhism in Bengal, N. Basu, Modern Buddhism in Orissa)। परन्तु, कुमारिल, शङ्कर, उदयन प्रभृति आचार्यों के ग्रन्थ-निर्माण के प्रभाव से बौद्ध पण्डित-समाज बहुत अंशों में कमजोर हो गया था। बौद्धधर्म की अवनति के वास्तविक कारण ये हैं—

(१) बौद्धसंघ का संगठन और प्रबन्ध खराब हो गया था।

(२) भिन्न-भिन्न समय में बहुत अयोग्य लोग बौद्धधर्म में प्रविष्ट हो गये थे। इन लोगों को न बुद्ध में श्रद्धा थी और न धर्म में आस्था। बहुत-से लोग केवल अपनी वृत्ति के लिए या रोग से मुक्त होने के लिए अथवा कठिन कर्त्तव्यों के भार से छुटकारा पाने के लिए बौद्धधर्म की शरण लेते थे। इस प्रकार के कृत्रिम लिङ्गधारी लोगों के संसर्ग से बौद्ध विहार का नैतिक उच्च आदर्श नष्ट हो गया था। नैतिक बल का ह्रास होने से जनता के ऊपर उनका प्रभाव अपने-आप कम होता गया।

(३) कालक्रम से योग्य पुरुषों की न्यूनता होने के कारण बौद्धधर्म का आध्यात्मिक उद्देश्य और महत्त्व लोग भूल गये थे। क्रमशः भिन्न-भिन्न संघ परस्पर सम्बन्धहीन होकर विश्लिष्ट हो गये थे। ठीक-ठीक अनुष्ठान न होने के कारण, बुद्ध के उपदेश का तात्पर्य क्या है, इसमें भी लोगों को सन्देह होने लगा था; क्योंकि उक्त उपदेश का पालन करनेवाले बहुत कम लोग रह गये थे।

(४) यद्यपि विदेशीय राजा बौद्धधर्म को उत्साहित करते थे, तथापि वे लोग स्वयं उसमें पूर्णरूप से विश्वास नहीं रख सकते थे; क्योंकि ये सब राजा बौद्धधर्म ग्रहण करने पर भी अपने पूर्व धर्म का पालन करने का पूर्ण प्रयत्न करते थे। इससे भी बौद्धधर्म की हानि हुई थी। जैसे कि ग्रीक Menander (मिलिन्द), कुशनराज कनिष्क आदि के उद्यम से यद्यपि भारतीय यवन अथवा कुशन लोग बौद्धधर्म ग्रहण करते थे, तथापि उनकी ग्रीक प्रकृति नहीं छूटती थी। धीरे-धीरे इस प्रकृति की प्रबलता से बौद्ध समाज के ऊपर भी विदेशीय भाव का कुछ-कुछ प्रभाव पड़ा था। यद्यपि कनिष्क बौद्ध हुए थे, तथापि वे इरानी धर्म का पालन भी साथ-साथ करते थे। वे ग्रीक, भारतीय और बौद्ध देवताओं पर समान आदर रखते थे।

(५) बौद्धधर्म में ईश्वर का अभाव। ईश्वर की सत्ता न मानने के कारण जनता में उसका आकर्षण धीरे-धीरे कम हो गया था।

(६) तान्त्रिक उपासना के बहाने से तान्त्रिक बौद्ध इतना अनाचार करते थे और इतने दुर्नीतिपरायण हो गये थे कि जन-समाज में उन लोगों की बहुत बदनामी हो गई थी। यद्यपि ये सब अनाचार वैयक्तिक दोष के भीतर ही परिगणनीय हैं, तथापि साधारण लोग इन सबका बौद्धधर्म के ऊपर आरोप करते थे। बौद्धधर्म से समाज की श्रद्धा के शिथिल हो जाने का यह भी एक कारण है।

कि आचार्य शङ्कर के ही प्रभाव तथा प्रयत्न से वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई थी। उनके ब्रह्मचर्य, विद्या, धी, प्रतिभा तथा तपश्चर्या का बल समस्त देश को अवनत मस्तक से मानना पड़ा था। यद्यपि वैष्णव, शैव, शाक्त, तान्त्रिक आदि सभी सम्प्रदाय उनके द्वारा प्रचारित अद्वैत-सिद्धान्त के विरोध में सैकड़ों वर्षों से घोरतर विरोध करते आ रहे हैं, तथापि यह निश्चित है कि इससे उनका प्रताप तथा प्रभाव क्षुण्ण नहीं हुआ। शङ्कराचार्य जिस समय प्रादुर्भूत हुए थे, उस समय की देश की अवस्था का यथार्थ ज्ञान न होने से उनके कार्यों तथा महत्ता का अनुभव नहीं किया जा सकता।

शङ्कराचार्य ने शास्त्रीय विचार से विभिन्नमतावलम्बी सब विपक्षियों को पराजित किया था। जो सब पुण्यक्षेत्र उस समय विधर्मियोंके अधीन हुए थे, उन्होंने यथाशक्ति उनका उद्धार किया था। स्वयं ग्रन्थ आदि की रचना कर तथा शिष्यों द्वारा ग्रन्थों की रचना कराकर शास्त्रों के सिद्धान्त की यथार्थ व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर ने वैदिक धर्म तथा उपनिषदादि के निगूढ रहस्य को समझने के लिए मार्ग परिष्कृत कर दिया था। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर दिया था, जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म ग्रहण कर सके। यदि श्रीविद्यार्णव का मत सत्य मान लिया जाय, तो मानना होगा कि उन्होंने जैसा एक ओर गृहत्यागी संन्यासियों के लिए शुद्ध ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया था, वैसे ही पक्षान्तर में गृहस्थों के लिए उपासना-मार्ग भी प्रकाशित किया था। प्राचीन समय में बौद्ध समाज में भी प्रायः ऐसी ही व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने भी बौद्धों के समान संन्यासियों को संघबद्ध करने की चेष्टा की थी और भारत के चार कोनों में चार धामों की स्थापना की थी। इनमें ज्योतिर्मठ—जोशीमठ बदरिकाश्रम के सन्निकट है, शारदामठ द्वारकाधाम में, शृङ्गेरीमठ रामेश्वर-

---

इन सब आभ्यन्तर कारणों से धर्म का मूल सर्वथा शिथिल हो गया था। पक्षान्तर में शङ्कर, और कुमारिल जैसे महापुरुषों के पवित्र जीवन और उन्नत आध्यात्मिक उपदेश से लोगों का चित्त सहज में ही उन लोगों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गया था। यदि बौद्धों का प्राचीन आदर्श नष्ट न होता, तो केवल धर्मप्रचारकों के ग्रन्थ-निर्माण अथवा उपदेश-प्रचार का उनपर उतना प्रभाव न पड़ता। क्योंकि, यदि भीतर दोष-सञ्चय न होता, तो इस प्रकार के आगन्तुक कारणों से सैकड़ों वर्षों से बद्धमूल धर्म का ऐसा परिणाम न होता।

शङ्करदिग्विजय में लिखा है कि बौद्धों के ऊपर ब्राह्मण-सम्प्रदाय ने अत्याचार किया था। राजा सुधन्वा के अत्याचार की बात प्रसिद्ध ही है। इसका कुछ ऐतिहासिक मूल है या नहीं, यह कहना कठिन है। यह सत्य हो या न हो, कोई राजा अत्याचारी रहा, इसमें कोई संशय नहीं है। हिन्दू राजा पुष्यमित्र के अत्याचार का विवरण दिव्यावदान में है। हूण राजा मिहिरगुल ब्राह्मणों के पक्षपाती थे। ये शैव थे। श्रीनगर में मिहिरेश्वर नामक शिवजी की इन्होंने स्थापना की थी (राजतरङ्गिणी)। प्रसिद्धि है कि इन्होंने भी बौद्धों के ऊपर घोर अत्याचार किया था। कर्णसुवर्ण के राजा शशाङ्क का वर्णन भी प्रायः ऐसा ही मिलता है। ये हर्षवर्द्धन के समकालीन और विरोधी थे। सम्भवतः ये शैव थे—यह सब सच हो सकता है अथवा नहीं भी हो सकता, परन्तु यह विश्वास-योग्य नहीं है कि २-४ व्यक्तियों के अत्याचार के कारण किसी दृढमूल धर्म का देश से उच्छेद हो जाय। अतएव, बौद्धधर्म की भीतरी अवनति ही इस परिणाम का प्रधान कारण है।

क्षेत्र में और गोवर्द्धनमठ पुरुषोत्तमक्षेत्र में विद्यमान है। आचार्य ने इन सब मठों में त्रोटकाचार्य, हस्तामलकाचार्य, सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादाचार्य इन चार शिष्यों को अपने प्रतिनिधि-रूप में स्थापित किया था। कुरु, काश्मीर, कम्बोज, पाञ्चाल आदि देश, अर्थात् भारतवर्ष के उत्तर तथा पश्चिम का अधिकांश भू-भाग बदरीधामस्थ ज्योतिर्मठ के शासनाधीन हुआ, उसी प्रकार सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र प्रभृति देश, अर्थात् भारतवर्ष का पश्चिम भू-भाग शारदामठके शासनाधीन हुआ; आन्ध्र, द्राविड, कर्णाट, केरल प्रभृति देश, अर्थात् भारत का दक्षिण भू-भाग शृङ्गेरीमठ के शासनाधीन हुआ एवं अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, उत्कल तथा बर्बर देश, अर्थात् भारतवर्ष का पूर्व भू-भाग गोवर्द्धनमठ के शासनाधीन हुआ। इस प्रकार की व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि आचार्य शङ्कर के निर्वाण के अनन्तर भी समग्र देश में वर्णाश्रमधर्म वेदान्त के दृढ आश्रय में सुरक्षित रहकर तत्-तत् मठ के अनुकूल स्थिर रहे। प्रत्येक मठ का कार्यक्षेत्र पृथक्-पृथक् था। प्रत्येक मठाधिकारी का यह मुख्य कर्त्तव्य था कि अपने मठ के अधीन देशों के वर्णाश्रमधर्मियों को धर्मोपदेश करना तथा स्वधर्म में प्रतिष्ठित रखना। इन मठों के अध्यक्ष शङ्कराचार्य के प्रतिनिधि होने के कारण शङ्कराचार्य कहलाते हैं।

इसी प्रकार मठ-स्थापन के विषय में भी सर्वत्र ऐकमत्य नहीं दीख पड़ता। पुरीस्थ गोवर्द्धनमठ से प्रकाशित मठाम्नाय में चार मठों का जैसा परिचय मिलता है, उसके अनुसार यहाँ पर मठों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। किन्तु, व्यासाचलीय तथा केरलीय शङ्करविजय आदि में लिखा है कि आचार्य शङ्कर ने अन्यान्य स्थलों में मठ-स्थापन करने के पहले निम्बुदेरी (नम्बूदरी) ब्राह्मणों के संस्कार के लिए अपने जन्मदेश में मठ-स्थापना की थी। उसके पश्चात् शृङ्गेरी आदि चार स्थानों में तथा काशीधाम में शङ्कराचार्य ने मठों की स्थापना की। काशी-स्थित मठ में आचार्य शङ्कर ने महेश्वर नामक अपने शिष्य को मठाधीश नियुक्त किया था। अपने रहने के लिए आचार्य शङ्कर ने काञ्ची-कामकोटि-पीठ में ही स्थान बनाया था। प्रसिद्ध है कि काञ्ची में कामाक्षी देवी के मन्दिर में जहाँ पर आचार्य शङ्करजी की पाषाणमयी मूर्त्ति है, उसी स्थान में उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी।[१]

आदि शङ्कराचार्य से दिया गया पचीस श्लोकों का एक महानुशासन सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। उक्त महानुशासन में मठ से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उपदेश हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मठ के आचार्य को चाहिए कि सर्वदा पर्यटन करते हुए अपनी अधिकार-सीमा के अन्दर आवश्यकतानुसार तत्-तत् देश में धर्मानुशासन करे। मठाध्यक्षोंको सर्वदा मठ में ही नहीं रहना चाहिए। वर्णाश्रमधर्म की रक्षा करने के लिए जिस स्थान में जिस प्रकार के उपाय का अवलम्बन करना उचित हो, उसका उन्हें अवलम्बन करना चाहिए। एक आचार्य को दूसरे आचार्य के विभागों में प्रवेश नहीं करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर—सन्देहास्पद विषयों के उपस्थित होने पर—परस्पर मिलकर व्यवस्था करनी चाहिए। इसका विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि किसी समय किसी की मर्यादा नष्ट न हो; क्योंकि मर्यादा का नाश होने पर शुभ विषयों के लुप्त होने की आशङ्का होती है। पीठाधीश के लिए वेद, वेदान्त आदि सब

[११३वें पृष्ठ की टिप्पणी]

१. पाठकों के सौकर्य के लिए मठाम्नाय के आधार पर एक तालिका दी जा रही है, जिससे सभी विषय स्पष्टरूप से प्रतीत हो जायेंगे।

क्रम-संख्या	मठ	आम्नाय	सम्प्रदाय	पद	क्षेत्र	देव	देवी	आचार्य	तीर्थ	ब्रह्मचारी	वेद	महावाक्य	गोत्र	शासनाधीन(आयत्त) देशों के नाम
(१)	गोवर्द्धन	पूर्व	भोगवार	अरण्य, वन	पुरुषोत्तम	जगन्नाथ	विमला	पद्मपाद	महोदधि	प्रकाश	ऋक्	प्रज्ञानं ब्रह्म	काश्यप	अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, उत्कल, बर्बर आदि
(२)	श्रृङ्गेरी	दक्षिण	भूरिवार	सरस्वती, भारती, पुरी	रामेश्वर	आदि वराह	कामाक्षी	पृथ्वीधर (हस्तामलक)	तुङ्गभद्रा	चैतन्य	यजुः	अहं ब्रह्मास्मि	भूर्भुवः	आन्ध्र, द्रविड़, केरल, कर्णाट आदि
(३)	शारदा	पश्चिम	कीटवार	तीर्थ, आश्रम	द्वारका	सिद्धेश्वर	भद्रकाली	विश्वरूप	गोमती	स्वरूप	साम	तत्त्वमसि	अविगत	सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि
(४)	ज्योतिः (श्रीमठ)	उत्तर	आनन्दवार	गिरि, पर्वत, सागर	बदरिकाश्रम	नारायण	पूर्णगिरि	त्रोटक	अलकनन्दा	आनन्द	अथर्व	अयमात्मा ब्रह्म आदि	भृगु	कुरु, काश्मीर, पाञ्चाल, कम्बोज

मतान्तर में गोवर्द्धनमठ में हस्तामलक को, श्रृङ्गेरीमठ में पृथ्वीधर को, द्वारकामठ में पद्मपाद को तथा ज्योतिर्मठ में त्रोटक को शङ्कर ने मठाधिपति बनाया था और काशीस्थ सुमेरुमठ में, जो ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत है, महेश्वर को मठाधिपति नियुक्त किया था।

शास्त्रों में योग्यता प्राप्त करना, योग से अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना, संयम, सदाचार, नीतिपरायणता, ये सभी सद्गुण आवश्यक थे। जिनमें इन गुणों का अस्तित्व नहीं देखा जाता था, उन्हें पीठच्युत करने का जनता को अधिकार था। आदि शङ्कर ने विशेष रूप से जनता का ध्यान आकृष्ट किया था कि पीठाधीश वस्तुतः उन्हीं का प्रतिनिधि है। मठ का उच्छेद न हो, इस पर भी दृष्टि रखना पीठाधीश का मुख्य कर्त्तव्य था।

श्रीविद्यार्णवनामक ग्रन्थ के अनुसार शङ्कर-सम्प्रदाय का विवरण

शाक्तागम-साहित्य में श्रीविद्यार्णव[१] नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें श्रीविद्या की उपासना के श्रम का अवलम्बन करके तन्त्र-शास्त्र के सम्पूर्ण सिद्धान्तों का भली भाँति प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में श्रीशङ्कराचार्य की गुरु-परम्परा तथा शिष्य-परम्परा का भी कुछ वर्णन किया गया है। यह अभी तक सर्वत्र प्रसिद्धि में नहीं आया, इसलिए संक्षेपतः इस विषय में यहाँ पर कुछ लिखना उचित प्रतीत होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस विवरण का कितना गौरव है, इसका निर्णय ऐतिहासिक विद्वान् करेंगे। किन्तु, तान्त्रिक समाज में शङ्कराचार्य और उनके सम्प्रदाय की जो प्रसिद्धि है, उसका कुछ परिचय पाठक-समाज को प्राप्त होना चाहिए। श्रीविद्या की उपासना के साथ शङ्कराचार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस विषय में तान्त्रिक ग्रन्थों में सर्वत्र ही प्रमाण मिलता है। शङ्कर के मठविशेष में जो श्रीयन्त्र है, उसका तो सबको परिज्ञान है ही। सौन्दर्यलहरी आदि जिन-जिन तान्त्रिक ग्रन्थ से शङ्कर का नाम संसृष्ट है, वे प्रायः सभी त्रिपुरातन्त्र के ग्रन्थ हैं। ललितात्रिशती आदि भी इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इसलिए, त्रिपुरा-सम्प्रदाय के ग्रन्थ में निबद्ध शङ्करविषयक ऐतिहासिक जनश्रुति का प्रकाशित होना उचित ज्ञात होता है।

इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कराचार्य गौडपाद के प्रशिष्य नहीं थे। गौडपाद से शङ्कराचार्य तक सात गुरुओं के नाम मिलते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—गौडपाद, पावक, पराचार्य, सत्यनिधि, रामचन्द्र, गोविन्द और आचार्य। इससे प्रतीत होता है कि शङ्कर के गोविन्द-शिष्य होने में कोई संदेह नहीं है, किन्तु वे गौडपाद के प्रशिष्य नहीं थे। प्रचलित ग्रन्थों में गौडपाद, व्यासशिष्य शुकदेव के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। परन्तु, शुकदेव और गौडपाद के बीच में दीर्घकाल का व्यवधान होने से ऐतिहासिक लोग शुक के साथ गौडपाद का साक्षात् गुरुशिष्य-सम्बन्ध मानने में संकोच करते हैं। बहुत लोग कल्पना करते हैं कि शुकदेव के बाद अद्वैतज्ञान की धारा एक प्रकार उच्छिन्न हो गई थी। गौडपाद ने सम्भवतः किसी अलौकिक उपाय से आविर्भूत शुकदेव की ही दिव्यमूर्त्ति से इस ज्ञान का पुनरुद्धार किया था। इसी प्रकार शुक के साथ उनका गुरुशिष्य-सम्बन्ध भी स्थिर होता है। परन्तु, साधारण ऐतिहाहिक लोग इसको प्रमाण-रूप में ग्रहण नहीं कर सकते। इस ग्रन्थ में गौडपाद के पूर्ववर्त्ती गुरुओं की भी

१. यह ग्रन्थ काश्मीर से मुद्रित न हुआ, इसकी एक सम्पूर्ण हस्तलिखित प्रति काश्मीर में विद्यमान है (द्रष्टव्य Stein साहब का बनाया हुआ जम्मू-रघुनाथ-मन्दिरस्थ पुस्तकालय का सूचीपत्र)। यह अति बृहद् ग्रन्थ है। इसका फुटकर कोई-कोई अंश भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध होता है।

नामावली दी गई है, जिसको देखने से शुकदेव और गौडपाद के मध्य में बहुत-से पुरुषों का व्यवधान दीख पड़ता है। आदि विद्वान् कपिल से ही शङ्कर-सम्प्रदाय की प्रवृत्ति हुई है, यह इस ग्रन्थकार का मत है। कपिल से गौडपाद तक गुरुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—कपिल, अत्रि, वसिष्ठ, सनक, सनन्दन, भृगु, सनत्सुजात, वामदेव, नारद, गौतम, शौनक, शक्ति, मार्कण्डेय, कौशिक, पराशर, शुक, अङ्गिरा, कण्व, जाबालि, भरद्वाज, वेदव्यास, ईशान, रमण, कपर्दी, भूधर, सुभट, जलज, भूतेश, परम, विजय, मरण, पद्मेश, सुभग, विशुद्ध, समर, वैकल्य, गणेश्वर, सपाद, विबुध, योग, विज्ञान, अनंग, विभ्रम, दामोदर, चिदाभास, चिन्मय, कलाधर, वीरेश्वर, मन्दार, त्रिदश, सागर, मृड, हर्ष, सिंह, गौड, वीर, घोर, ध्रुव, दिवाकर, चक्रधर, प्रथमेश, चतुर्भुज, आनन्दभैरव, धीर, गौडपाद।[१]

इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कराचार्य के १४ शिष्य थे। ये सब देवी के उपासक और निग्रहानुग्रह करने में समर्थ अलौकिकशक्ति-सम्पन्न थे, ऐसा वर्णन है। १४ शिष्यों में ५ शिष्य संन्यासी थे और ९ गृहस्थ थे। ५-संन्यासी शिष्यों में एक शिष्य का नाम शङ्कर भी था, अवशिष्ट चारों के नाम—पद्मपाद, बोध, गीर्वाण और आनन्दतीर्थ हैं। गृहस्थ शिष्यों के नाम थे—सुन्दर, विष्णुशर्मा, लक्ष्मण, मल्लिकार्जुन, त्रिविक्रम, श्रीधर, कपर्दी, केशव और दामोदर।

पद्मपाद के छह शिष्य थे, उनके नाम यों हैं—माण्डल, परपावक, निर्वाण, गीर्वाण, चिदानन्द और शिवोत्तम। ये सब संन्यासी थे। बोधाचार्य के बहुत शिष्य थे। लिखा है कि सब देशों में उनके दो प्रकार के शिष्य थे—संन्यासी और गृही। गीर्वाणेन्द्र के मुख्य शिष्य का नाम विद्वद्गीर्वाण था। विद्वद्गीर्वाण के शिष्य का नाम विबुधेन्द्र, विबुधेन्द्र के शिष्य का नाम सुधीन्द्र और सुधीन्द्र के शिष्य का नाम मन्त्रीगीर्वाण था। मन्त्रीगीर्वाण के गृही और संन्यासी दोनों प्रकार के शिष्य थे। आनन्दतीर्थ के सभी शिष्य गृही थे। वे लोग पादुकापीठ की आराधना करते थे। सुन्दराचार्य के तीन प्रकार के शिष्य थे—पीठनायक, संन्यासी और गृही। विष्णुशर्मा के शिष्य का नाम प्रगल्भाचार्य था। विद्यार्णवग्रन्थकार प्रगल्भाचार्य के शिष्य थे। ग्रन्थ में लिखा है कि इस ग्रन्थ के पूर्ण होने पर जगद्धात्री महामाया उनके सामने प्रकट होकर बोली—'वत्स! वर माँगो।' जगद्धात्री को सामने खड़ी देखकर उन्होंने कहा—'हे माता, यदि कोई साधक केवल हमारे ग्रन्थ के आधार पर गुरुक्रम और मन्त्रादि देखकर मुझे गुरु मानते हुए भक्तिपूर्वक जप करे, तो दीक्षित न होने पर भी उसको सिद्धि प्राप्त हो।' देवी ने 'तथास्तु' कहकर उनका अनुमोदन किया।

लक्ष्मणाचार्य की तपस्या, विद्या और श्री असाधारण थी। चौथी अवस्था में वीतराग

---

१. इस नामावली के किसी-किसी अंश में विचित्रता देख पड़ती है। १—शक्ति और पराशर में आनन्तर्य नहीं है, बीच में दो पुरुषों का व्यवधान है। २—पराशर और शुक के बीच वेदव्यास का नाम नहीं है, परन्तु शुक के पिता वेदव्यास का नामोल्लेख शुक के चार शिष्यों के बाद किया गया है।

होकर वे इधर-उधर देशाटन करते थे। इसी समय में घूमते-घुमते वे एक दिन प्रौढदेव नामक किसी राजा की राजधानी में पहुँचे। प्रौढदेव ने उनके लिए रहने का स्थान, अन्न, भूषण और परिचारकों का प्रबन्ध कर दिया। एक दिन राजा की सभा में जिस समय लक्ष्मण उपस्थित थे, उस समय वणिकों ने द्वीपान्तर से प्राप्त हुई वस्त्रादि बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ राजा को भेंट कीं। राजा ने उन लोगों के द्वारा दिये गये मूल्यवान् वस्त्र आचार्य लक्ष्मण को दे दिये। आचार्य लक्ष्मण उन्हें लेकर अपने वासस्थान पर चले आये। कुण्ड में अग्नि की स्थापना करके उन्होंने अग्नि में वस्त्रों की आहुति दे दी। प्रौढदेव के पास जब यह खबर पहुँची, तब उन्होंने वस्त्र लौटाने अथवा उनका मूल्य भेज देने की प्रार्थना करते हुए उनके पास दूत द्वारा सन्देश भेजा। यह सुनकर लक्ष्मण को क्रोध आया, उन्होंने 'ब्रह्मस्वापहारक' कहकर राजा को शाप दिया कि तुम निर्वंश हो जाओ। इसके बाद लक्ष्मण ने अपने इष्ट देवता से प्रार्थना करके वस्त्र लौटा दिये। इसके पश्चात् लक्ष्मण प्रौढदेव के नगर को छोड़कर दक्षिण की ओर चले गये। लक्ष्मण की अलौकिक शक्ति की बात सुनकर प्रौढदेव का चित्त उद्विग्न हुआ और उनके पास जाकर उनके क्रोध की शान्ति के लिए उसने विनयपूर्वक बहुत प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना से सन्तुष्ट होकर लक्ष्मण ने उससे कहा कि तुम्हें पुत्र होगा, परन्तु उससे तुम सुखी नहीं होगे। तदनन्तर, समय पाकर सिद्ध महात्मा के वर के अनुसार राजा के एक कुमार उत्पन्न हुआ। लेकिन, पुत्र होते ही राजा का देहावसान हो गया। प्रसिद्धि है कि उस समय इस ग्रन्थ के रचयिता प्रजा के अनुरोध से राजकुमार के प्रतिनिधि-रूप में राज्य-भार लेकर उनका शासन करने लगे और उन्होंने श्रीचक्र के आकार में नगर स्थापित कर उनका श्रीविद्यानगर नाम रखा। उसके बाद राजकुमार के वयःस्थ होने पर अम्बदेव नाम से उसे राजगद्दी पर बैठाया और उसी के आदेश से उसकी सभा की विद्वन्मण्डली की प्रार्थना से आदेश लेकर प्राचीन आगम-ग्रन्थ[1] यामल-ग्रन्थ प्रभृति का विशेष रूप से आलोचन करते हुए तथा कादि मत और हादि मत दोनों के सूक्ष्म रहस्य का अनुसरण करते हुए उन्होंने इस विशिष्ट ग्रन्थ का निर्माण किया।

मल्लिकार्जुन के अधिकांश शिष्य विन्ध्यदेश में रहते थे। इसी प्रकार, त्रिविक्रम के शिष्य जगन्नाथ-क्षेत्र में, श्रीधर के शिष्य गौड, मिथिला तथा वंगदेश में और कपर्दी के शिष्य काशी, अयोध्या प्रभृति देश में रहते थे।

केशव और दामोदर के विषय में ग्रन्थ में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता।[2]

---

१. तन्त्रराज, मातृकार्णव, त्रिपुरार्णव, योगिनीहृदय इत्यादि।

२. गद्यवल्लरी नाम से श्रीविद्या का एक पद्धतिग्रन्थ उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम श्रीनिजात्मप्रकाशानन्दनाथ मल्लिकार्जुन योगीन्द्र है। यह ग्रन्थ १४३५ शकाब्द में, अर्थात् १५१३ ख्रीष्टाब्द में (शके बाणत्रिवेदशशिसम्मिते) लिखा गया था, ऐसा ग्रन्थ से ही पता चलता है। यह श्रीशङ्कराचार्य के सम्प्रदाय का तान्त्रिक ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ में शङ्कर की गुरु-परम्परा तथा शिष्य-परम्परा का कुल वर्णन मिलता है। पाठकों की औत्सुक्य-निवृत्ति के लिए उसका सारांश यहाँ पर दिया जा रहा है। इस मत में शङ्कर-सम्प्रदाय के

शङ्कर का तिरोधान—शङ्कराचार्य के जीवन-वृत्त के विषय में यहाँ लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यह प्रायः सबको विदित ही है। सभी भाषाओं में लिखित प्राचीन विभिन्न शङ्करचरित में इनके जीवन के विषय में जिस प्रकार का विवरण मिलता है, उसकी प्रामाणिकता के विषय में बहुत अंशों में ऐतिहासिकों का गहरा मत-भेद है। इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र ग्रन्थ, लेख प्रभृति विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं और हो भी रहे हैं। जिनको इस विषय की जिज्ञासा है, उनके लिए वे सब लेख तथा ग्रन्थ अवश्य दर्शनीय हैं। स्वयंप्रकाश मुनि ने एकश्लोकी के व्याख्यान में एक श्लोक में शङ्कर के जीवन का कथन किया है। वह श्लोक यह है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

इससे यह सिद्ध होता है कि शङ्कर दीर्घजीवी नहीं रहे। थोड़ी ही अवस्था में विद्या का संग्रह कर उन्होंने ग्रन्थों का निर्माण तथा धर्म प्रचार किया था।

जिस प्रकार शङ्कर के जीवन-वृत्त के विषय में सर्वांश में सर्वत्र मतैक्य नहीं है, उसी प्रकार उनके देहान्त के विषय में भी प्राचीन काल से ही मतभेद दीख पड़ता है। अध्यापक वेंकटेशन् इस सम्बन्ध में प्रचलित मतों की समालोचना करके जिस सिद्धान्त को पहुँचे हैं, उसका सारांश नीचे दिया जा रहा है। परन्तु, यह भी सर्ववादिसिद्ध मालूम नहीं पड़ता। किसी-किसी के मत से इसमें पीठविशेष के प्रति पक्षपात अवश्य दीख पड़ता है।

माधवाचार्य[1] ने शङ्करविजय में कहा है कि शङ्कराचार्य ने काश्मीर में सर्वज्ञ पीठ पर आरूढ होकर वहाँ से अपने शिष्यों को विभिन्न मठों में मठकार्य-निरीक्षण के लिए भेज दिया था और स्वयं वहाँ से बदरीनारायण की ओर रवाना हो गये। यह भी प्रसिद्ध है कि वे बदरीनारायण से कैलास-धाम में जाकर तिरोहित हो गये। चिद्विलासेन्द्र ने अपने शङ्करविजय में कहा है कि शङ्कराचार्य ने कांची में सर्वज्ञपीठ पर आरोहण किया था, काश्मीर में नहीं। उसके बाद उन्होंने अनेक तीर्थों का दर्शन करके बदरी-

---

प्रवर्तक शिव हैं। इसके बाद गुरुओं का नाम यों है—विष्णु, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपाद, गोविन्द और शङ्कराचार्य। शङ्कर की शिष्य-परम्परा ऐसी है—विश्वरूप, बोधघन, ज्ञानघन, ज्ञानोत्तम, शिव, ज्ञानगिरि, सिंहगिरि, ईश्वरतीर्थ, नृसिंहतीर्थ, विद्यातीर्थ, शिव, भारतीतीर्थ, विद्यारण्य, मलयानन्द, देवतीर्थसरस्वती, यादवेन्द्रसरस्वती, नृसिंह-सरस्वती, माधवेन्द्रसरस्वती, मल्लिकार्जुन योगीन्द्र, रामदेव, दायदेवयति, गगनानन्द, चिद्घनानन्द, महेश्वरानन्द, चिदानन्द और आनन्दचित्प्रतिबिम्ब।

१. प्रसिद्ध माधवाचार्य इस ग्रन्थ के कर्त्ता नहीं हैं। केवल प्रथम मंगलश्लोक ही उनका है। इस ग्रन्थ का यथार्थ रचयिता माधव नाम से प्रसिद्ध कोई दूसरा था। उसने भारतचम्पू की भी रचना की थी। दोनों ही ग्रन्थों में ग्रन्थकार ने 'नव-कालिदास' के नाम से अपना उल्लेख किया है। इससे भी दोनों ग्रन्थकारों की अभिन्नता सिद्ध होती है। और भी एक बात है—शङ्करविजय के २४ श्लोक (१२ सर्ग १–२४) राजचूडामणि दीक्षित के शङ्कराभ्युदय ग्रन्थ (४।१।२।६। ७।१४–२३) से लिये गये हैं। ये राजचूडामणि नायक राजाओं के सभाकवि थे।

नारायण और कैलास की यात्रा की थी। माधवाचार्य ने जिन दो श्लोकों में (१६। ५१-५२) शङ्कर के काश्मीर में सर्वज्ञपीठारोहण के विषय में वर्णन किया है, वे दोनों श्लोक राजचूडामणि के शङ्कराभ्युदय (८। ६८-६९) के ही हैं, परन्तु शङ्कराभ्युदय में लिखा है कि यह घटना काञ्ची में हुई थी, काश्मीर में नहीं—यही भेद है। शङ्कर-सम्प्रदाय के मतानुसार शङ्कर अन्तिम समय तक काञ्ची में ही थे। कम्पासरोवर-तीरवासिनी भगवती कामेश्वरी अथवा कामकोटिदेवी की निरन्तर अर्चना करते हुए, अन्त में ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुए थे। काञ्ची के कामकोटिपीठ के ३८वें शङ्कराचार्य, जिनका नाम धीरशङ्कर था, समग्र भारत में पर्यटन करके काश्मीर में सर्वज्ञ पीठ पर आरूढ हुए थे और अन्त में हिमालय की दत्तात्रेय-गुहा में तिरोहित हो गये थे। अनुमान किया जा सकता है कि धीरशङ्कर की घटनाएँ आदिशङ्कर में किसी तरह आरोपित हो गई हैं। मलयालम-अक्षर में एक शङ्कराचार्यचरित प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखा है कि शङ्कर ने वृषाचल अथवा गजाचल में पीठारोहण करके वहीं पर सिद्धि प्राप्त की थी। श्रीवरदराजस्वामी के स्थान का नाम हस्तिगिरि—वृषाचल है। हस्तिगिरि का ही नामान्तर गजाचल है। यह स्थान काञ्ची में है। सम्भव है कि शङ्कर ने इसी स्थान में सर्वज्ञ पीठ पर आरोहण किया हो और अन्त तक यहीं रहे हों। सदाशिवब्रह्मेन्द्र-कृत गुरुरत्नमालिका टीका तथा गुरुपरम्परा-स्तोत्र में लिखा है कि भगवान् शङ्कर अपने जीवन के अन्तिम समय तक काञ्ची में ही विराजमान थे और उनका देहान्त भी वहीं पर हुआ था। एक हस्तलिखित पुस्तक में लिखा है—

तत्र संस्थाप्य कामाक्षीं जगाम परमं पदम्।
विश्वरूपयतिं स्थाप्य स्वाश्रमस्य प्रचारणे॥

विश्वरूप सुरेश्वर का नामान्तर है।

प्रसिद्धि है कि शङ्कराचार्य कैलास से ५ स्फटिक-लिङ्ग लाये थे। उनमें से ४ लिङ्गों की स्थापना उन्होंने क्रमशः बदरीनारायण, नीलकण्ठक्षेत्र (नेपाल में), शृङ्गेरी और चिदम्बरम् में की थी। सर्वश्रेष्ठ पञ्चम लिङ्ग अपने पास रख छोड़ा था। वह योगलिङ्ग नाम से प्रसिद्ध था। काञ्ची में शङ्कर हमेशा उसी की पूजा किया करते थे। देहत्याग के समय शङ्कर ने उस लिङ्ग को सुरेश्वर के हाथ में समर्पित कर काञ्चीपीठ और वहाँ के शारदामठ का भार भी उन्हीं को दे दिया था। (यह शारदामठ शृङ्गेरी के शारदापीठ से भिन्न है)। शिवरहस्य (९।१६) में भी लिखा है कि योगलिङ्ग की स्थापना काञ्ची में ही हुई थी। मार्कण्डेयसंहिता (काण्ड ७२, परिस्पन्द ७) में लिखा है कि शङ्कर ने कामकोटिपीठ में योगलिङ्ग की प्रतिष्ठा की थी और उसके अर्चन के लिए सुरेश्वराचार्य की नियुक्ति की थी। रामभद्रदीक्षित-कृत पतञ्जलिचरित (८।७१) से भी प्रतीत होता है कि शङ्कर का देहावसान काञ्ची में ही हुआ था। वेंकटेशन् के मत से नैषधचरित के १२वें सर्ग में जिस काञ्चीस्थ स्फटिक-लिङ्ग का वर्णन है, वह शङ्कर-स्थापित योगेश्वर-लिङ्ग ही है। इस लिङ्ग के नाम के विषय में कहीं यागेश्वर और कहीं योगेश्वर इस प्रकार पाठभेद मिलता है। पूर्वापर का अच्छी तरह समन्वय करके उन्होंने निश्चय किया है कि 'योगेश्वर' पाठ ही ठीक है।

शङ्कराचार्य के समय की और उनसे पूर्व की दार्शनिक परिस्थिति—बादरायण के ब्रह्मसूत्र तथा उसके शाङ्कर भाष्य की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि बादरायण के समय से शङ्कर के समय तक देश में विभिन्न प्रकार के धर्म तथा तत्सम्बन्धी दार्शनिक मतवादों का प्रचार हुआ था। उनमें कतिपय सिद्धान्तों को छोड़कर शेष सभी सम्पूर्णतः या अंशतः अवैदिक थे।[1] ये सभी अवैदिक सम्प्रदाय कहीं-कहीं वैदिक सम्प्रदाय के विरोधी थे और कहीं-कहीं वैदिक सम्प्रदाय से पृथक् रहने पर भी अपने को वैदिक सम्प्रदाय का अंग मानते थे। कट्टर वैदिक उन्हें वैदिक नहीं मानते थे। शङ्कर ने वैशेषिक, सांख्य और योगदर्शन को भी एक प्रकार से वेदबाह्य ही माना है। इनके अतिरिक्त जैन, बौद्ध, पाञ्चरात्र और पाशुपत दर्शन तो उनकी दृष्टि में स्पष्टतया अवैदिक थे ही। इसीलिए, तर्कपाद में उन्होंने इन सब मतों का विशेष रूप से खण्डन किया है। वैशेषिक मत एक समय में पाशुपत मत में मिल गया था। संभव है, इसीलिए वह भी अवैदिक दर्शनों में गिना जाने लगा हो। लेकिन इसका यथार्थ कारण ज्ञात नहीं है। बादरायण ने वैशेषिक मत का खण्डन किया है, परन्तु न्याय का खण्डन नहीं किया। भाष्य में न्यायदर्शन का[2] प्रायः किसी जगह उल्लेख भी नहीं है। इसी प्रकार प्राचीन बौद्ध तर्कग्रन्थों में भी वैशेषिक का ही उल्लेख है, न्याय का उल्लेख क्वचित् ही मिलता है। ऐसी अवस्था में, क्या उस समय गौतम-प्रणीत न्यायसूत्र विद्यमान नहीं थे, ऐसी जिज्ञासा का उदय होना स्वाभाविक ही है। विचार करने से प्रतीत होता कि न्यायसूत्र प्राचीन ग्रन्थ है; क्योंकि आर्यदेव ने शत-शास्त्र में न्यायदर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक के २ सूत्रों (३९,४१) का और तृतीयाध्याय के प्रथम आह्निक के पाँच सूत्रों (१, ७, १२, १४, १८) का प्रसंगतः उल्लेख किया है। किन्तु, टीकाकार ने वैशेषिक सूत्र कहकर इन सूत्रों का परिचय दिया है। टीकाकार के कथन को देखकर किसी पण्डित ने कल्पना की है कि आर्यदेव के समय में न्याय-दर्शन नाम से पृथक् दर्शन नहीं था। उस समय इसके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय वैशेषिकग्रन्थविशेष के अङ्ग माने जाते थे।[3]

तर्कपाद में सर्वास्तिवाद[4] तथा विज्ञानवादका भी खण्डन है। राजा कनिष्क के

---

१. सप्तम शताब्दी में जो धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे, उनका कुछ उल्लेख हर्षचरित (पृ० ६३२, जीवानन्द) में मिलता है। वे हैं—भागवत, कापिल, जैन, लौकायतिक, काणाद, पौराणिक, ऐश्वरकारणिक, कारन्धमिन् (धातुवादी), सप्ततान्तव (मीमांसक ?), शाब्दिक, बौद्ध, पाञ्चरात्रिक और औपनिषद। इनमें से औपनिषदों को छोड़कर शेष प्रायः सभी एक प्रकार से अवैदिक ही हैं। इसी ग्रन्थ के दूसरे प्रकरण (पृ० ३९९) में औपनिषदों के विषय में कहा गया है—

'संसारासारत्वकथनकुशला ब्रह्मवादिनः।'

२. 'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः', यह न्यायसूत्र (१।१।१८) ब्रह्मसूत्रभाष्य में (२।२।३७) उद्धृत हुआ है।

३ द्रष्टव्य—Pre-Dinnaga Buddhist Text on Logic from Chinese sources, G. Tucci (1929), Introduction, p 27.

४. प्राचीन समय में १८ बौद्ध सम्प्रदाय थे। यथा—सर्वास्तिवाद, काश्यपीय, महीशासक, धर्मगुप्तीय, बहुश्रुतीय, ताम्रशाटीय, विभज्यवादी, कुरुकुल्लक, आवन्तिक, वात्सीपुत्रीय, पूर्वशैल, अपरशैल, हैमवत, लोकोत्तरवादी, प्रज्ञप्तिवादी, महाविहार, जेतवनीय, अभयगिरिवासीय। इन अठारह

समय में काश्मीर में जो बौद्ध संगीति हुई थी, उसमें सूत्र, विनय तथा अभिधर्म के ऊपर विभाषा (भाष्य अथवा टीका) बनाई गई थी। उसका नाम उपदेशशास्त्र, विनय-विभाषाशास्त्र और अभिधर्मविभाषाशास्त्र रखा गया था। इस संगीति के अध्यक्ष सर्वास्तिवादी वसुमित्र थे। विभाषाशास्त्र ही सर्वास्तिवादियों का मुख्य शास्त्र है। विभाषा का अनुसरण करनेके कारण सर्वास्तिवादियों का वैभाषिक नाम पड़ा। सभा के अध्यक्ष वसुमित्र ने स्वयं अभिधर्म, प्रकरणपाद और अभिधर्मधातुवाद की रचना की थी। सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म का मूल ग्रन्थ कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थानसूत्र है। इस ग्रन्थ में ये वाद थे—१. संगीतिपर्याय, इसके निर्माता महाकौष्ठिल थे। २. धातुवाद, इसके निर्माता वसुमित्र थे, (यशोमित्र के मत से धातुकाय वसुमित्र का ग्रन्थ नहीं है, किन्तु पूर्वकाय उनका ग्रन्थ है)। ३. प्रज्ञप्तिसार, इसके निर्माता मौद्गल्यायन थे। ४. धर्मस्कन्ध, इसके निर्माता सारिपुत्र थे। ५. विज्ञानकाय, इसके निर्माता देवशर्मा थे और ६. प्रकरणपाद, इसके निर्माता वसुमित्र थे।

वसुबन्धु का अभिधर्मकोष वैभाषिक सम्प्रदाय का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उसके ऊपर गुणमति, वसुमित्र (नवीन), और यशोमित्र की ('स्फुटार्था') टीकाएँ हैं। इनमें दो टीकाएँ अधिक प्राचीन हैं। इस पर स्थिरमति के भी एक व्याख्यान का पता चलता है। वसुबन्धु के ही समय में संघभद्र भी इस सम्प्रदाय के एक बड़े दार्शनिक थे। इन्होंने लगातार १२ वर्ष तक वसुबन्धु के अभिधर्मकोष की विशेष रूप से आलोचना करके न्यायानुसार नामक एक ग्रन्थ बनाया था। इसमें बहुत स्थलों पर वसुबन्धु के ऊपर कटाक्ष किया गया है। कहीं-कहीं वसुबन्धु के मत का खण्डन भी किया गया है, परन्तु इससे भी वसुबन्धु के अभिधर्मकोष का गौरव नष्ट नहीं हुआ। शङ्कराचार्य वसुबन्धु के, तथा सम्भव है कि यशोमित्र के भी, ग्रन्थों से परिचित थे, ऐसा प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र (२।२।२४) के भाष्य में 'सौगते हि समये' इत्यादि कहकर जिन वचनों का उद्धार किया गया है, वे यशोमित्र की स्फुटार्था में 'उक्तं हि भगवता पृथिवीभोग......कुत्र प्रतिष्ठितः' इत्यादि रूप में उपलब्ध होते हैं।[१]

शङ्कराचार्य के पहले सर्वास्तिवाद के समान विज्ञानवाद भी विशेष रूप से प्रसिद्ध था। यह योगाचार-सम्प्रदाय का सिद्धान्त है। यद्यपि लङ्कावतार-

---

सम्प्रदायों का वर्णन वसुमित्र के अष्टादशनिकायशास्त्र नामक एक ग्रन्थ में है। ये वसुमित्र आचार्य धर्मत्रात के भागिनेय थे।

१. वैभाषिक लोग आकाश को अवस्तु अथवा आवरणाभावमात्र मानते थे, ऐसा शङ्कराचार्य का विश्वास था। इसीलिए, वे आकाश के भावत्व का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त हुए थे। परन्तु, वस्तुतः अभिधर्मकोष अथवा उसकी टीका में आकाश भाव पदार्थ ही माना गया है, अभाव पदार्थ नहीं माना गया। यशोमित्र ने कहा है—'तद् अनावरणस्वरूपभावम् आकाशम् तद् अप्रत्यक्विषयत्वादस्य धर्मानावृत्या अनुमीयते, न तु आवरणाभावमात्रम्। अतएव च व्याख्यायते यत्र रूपस्य गतिरिति' (अभिधर्मकोषव्याख्या—१।५५।५, Professor Wogihara का संस्करण, टोकियो, १९३२)। इससे सिद्ध होता है कि वैभाषिक मत में आवरणाभाव आकाश का लिङ्ग है, आकाश का स्वरूप नहीं है। वैभाषिक लोग भावरूप आकाश मानते हैं, इसीलिए कमलशील तत्त्वसंग्रहपञ्जिका में वैभाषिकों को बौद्ध कहने में हिचके हैं।

सूत्र आदि ग्रन्थों में किसी-न-किसी प्रकार विज्ञानवाद का स्वरूप उपलब्ध था, तथापि दार्शनिक क्षेत्र में इसकी प्रतिष्ठा मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु और इन लोगों के अनुयायियों के प्रयत्न से हुई थी। मैत्रेयनाथ तथा असङ्ग के अनन्तर वसुबन्धु ने ही विज्ञानवाद के इतिहास में उच्च स्थान प्राप्त किया था। अपने बड़े भाई असङ्ग के प्रभाव से वसुबन्धु पूर्व मत को छोड़कर विज्ञानवादी हो गये थे और इसी सिद्धान्त का अवलम्बन करके उन्होंने बहुत-से ग्रन्थों का निर्माण किया था। वसुबन्धु के प्रधान शिष्य-मण्डल में आचार्य स्थिरमति, आचार्य विमुक्तसेन, आचार्य गुणप्रभ तथा आचार्य दिङ्नाग ने अति ख्याति प्राप्त की थी। वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (विंशिका तथा त्रिंशिका) विज्ञानवाद का प्रधान ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त वसुबन्धु-रचित[1] मध्यान्तविभागसूत्र का भाष्य एवं असङ्गकृत महायानसूत्रालङ्कार की वृत्ति भी इस मत को जानने के लिए श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। स्थिरमति ने अपने गुरु द्वारा रचित त्रिंशिका, महायानसूत्रालङ्कारवृत्ति और मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य के ऊपर तथा काश्यपपरिवर्त्त एवं पञ्चस्कन्ध-प्रकरण पर भी टीका लिखी थी। ये अष्टादश निकायों में निष्णात थे। आर्य विमुक्तसेन प्रज्ञापारमिता के विशेषज्ञ थे और गुणप्रभ ने विनय में प्राधान्य प्राप्त किया था। किन्तु, वसुबन्धु के सर्वश्रेष्ठ शिष्य दिङ्नाग थे। दिङ्नाग के समान शास्त्रार्थ में कुशल पण्डित भारतवर्ष में विरले ही हुए हैं। दिङ्नाग ने प्रमाण की विशेष रूप से आलोचना की। कहीं-कहीं पर अपने गुरु से उनका मतभेद भी दीख पड़ता है। उनका प्रमाणसमुच्चय और उसकी वृत्ति, आलम्बन-परीक्षा और उसकी वृत्ति त्रिकाल-परीक्षा, नयद्वार अथवा नयमुख आदि ग्रन्थ शङ्कराचार्य के समय में प्रतिष्ठित ग्रन्थों में गिने जाते थे।[2] प्रमाणसमुच्चय में प्रत्यक्ष तथा अनुमान की आलोचना की गई है। स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण इन दो प्रकार के प्रमेयों का ग्रहण करने के लिए प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दो प्रमाण माने गये हैं। अर्थक्रियासमर्थ वस्तु ही उनके मत में स्वलक्षण है। जो इससे भिन्न हैं, वे सामान्यलक्षण हैं। दिङ्नाग के मत में कल्पना-संसृष्ट ज्ञान, अर्थात् नामजात्यादिसंयुत ज्ञान परोक्ष है और जो ज्ञान कल्पनाहीन, अर्थात् नामजात्यादि से संयुत नहीं है, वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष अभ्रान्त होना चाहिए। ऐसा दिङ्नाग के ग्रन्थों में नहीं देखा जाता। दिङ्नाग का शिष्य ईश्वरसेन था, किन्तु उसकी अधिक प्रसिद्धि नहीं हुई। ईश्वरसेन के शिष्य धर्मकीर्त्ति ने केवल बौद्ध न्याय-शास्त्र में ही नहीं, अपि तु भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में अति उच्च स्थान प्राप्त किया था। धर्मकीर्त्ति के प्रधान ग्रन्थ प्रमाणवार्त्तिक (अ० १—४), प्रमाणविनिश्चय

---

१. यह ग्रन्थ मैत्रेयनाथ का बनाया हुआ है, ऐसी प्रसिद्धि है। अध्यापक H. Ui ने प्रमाणित किया है कि महायानसूत्रालङ्कार-कारिका भी वस्तुतः असङ्गरचित नहीं है, किन्तु मैत्रेयनाथरचित ही है। इसी प्रकार योगाचारभूमि-शास्त्र, जो योगाचारमत का आकर ग्रन्थ है, असङ्गरचित ही है, ऐसी प्रसिद्धि है। किसी के मत में यह भी मैत्रेयनाथ की कृति है। बोधिसत्त्वभूमि इस ग्रन्थ का ही एक अंश है।

२. दिङ्नाग ने अपने गुरु के अभिधर्मकोष पर 'मर्मप्रदीप' नाम की टीका बनाई थी, ऐसी तिब्बत में प्रसिद्धि है। नयप्रवेशसूत्र के विषय में मतभेद है।

(यह ग्रन्थ प्रमाणवार्त्तिक का संक्षेप है), न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा (ग्रन्थकार-रचित वृत्ति-सहित), सन्तानान्तर-सिद्धि, चोदनाप्रकरण आदि हैं। प्रमाणवार्त्तिक के चार अध्यायों का विषयक्रम इस प्रकार है—प्रथम अध्यायों में स्वार्थानुमान, द्वितीय अध्याय में प्रामाण्य-विचार, तृतीय में प्रत्यक्ष, चतुर्थ में परार्थ अनुमान। प्रथम अध्याय अथवा स्वार्थानुमानाध्याय की टीका धर्मकीर्त्ति ने स्वयं ही बनाई थी, परन्तु और तीन अध्यायों की टीका बनाने का भार उन्होंने अपने शिष्य देवेन्द्रबुद्धि को दिया था। देवेन्द्रबुद्धि ने दो बार टीका बनाई, किन्तु धर्मकीर्त्ति उससे सन्तुष्ट नहीं हुए। तृतीय बार देवेन्द्रबुद्धि ने जब टीका बनाई, तब उसमें उन्होंने अर्द्धसम्मति दी।[१]

सर्वदर्शनसंग्रह में माधवाचार्य ने संक्षेप में पाशुपत मत की आलोचना की है। उदयनाचार्य ने भी न्यायकुसुमाञ्जलि में पाशुपत मत का उल्लेख किया है। न्यायसार और भूषण के रचयिता काश्मीर-निवासी नैयायिक भासर्वज्ञ ने पाशुपत मत का व्याख्यान करते हुए गणकारिका नामक ग्रन्थ बनाया था। न्यायवार्त्तिककार उद्योतकराचार्य ने पाशुपताचार्य कहकर अपना परिचय दिया है। पुराणों में तथा महाभारत में अनेक स्थलों में पाशुपत दर्शन का वर्णन मिलता है। अतएव, अति प्राचीनकाल में भी यह सम्प्रदाय विद्यमान रहा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वेद में रुद्रवाचक पशुपति शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है, परन्तु उस समय पशुपति शब्द का कोई पारिभाषिक अर्थ था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वामनपुराण (६।८६—९१) में शिवलिङ्ग की चार प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है—शैव, पाशुपत अथवा महापाशुपत, कालदमन और कापालिक। इन सब

---

१. धर्मकीर्त्ति के ग्रन्थों के ऊपर जो टीकाएँ बनी थीं उनमें तीन सम्प्रदाय दीख पड़ते हैं—प्रथम सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकों में देवेन्द्रबुद्धि और उनके शिष्य शाक्यबुद्धि का नाम उल्लेख-योग्य है। प्रभाबुद्धि का नाम भी मिलता है, किन्तु उनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। उन्होंने सिर्फ प्रमाणवार्त्तिक के ऊपर टीका बनाई थी। विनीतदेव भी इसी सम्प्रदाय के थे, परन्तु उन्होंने प्रमाणविनिश्चय तथा न्यायबिन्दु के ऊपर भी टीका बनाई थी। द्वितीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक काश्मीरी ब्राह्मण धर्मोत्तर थे। ये धर्मकीर्त्ति के साक्षात् शिष्य नहीं थे, इन्होंने न्यायबिन्दु के ऊपर बृहत् टीका और प्रामाणविनिश्चय के ऊपर लघु टीका बनाई थी, एवं प्रमाणपरीक्षा, अपोह-प्रकरण, क्षणभंगसिद्धि तथा परलोकसिद्धि उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। वाचस्पतिमिश्र ने तात्पर्यटीका में बहुत जगह धर्मोत्तर का उल्लेख किया है। तृतीय सम्प्रदाय के नेता प्रज्ञाकर गुप्त थे, ये वङ्गदेश के आचार्य थे। इनके मत में प्रमाणवार्त्तिक दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की केवल टीका ही नहीं है, जैसा दूसरे सम्प्रदाय के लोग कहते हैं, किन्तु समग्र महायान धर्म का प्रतिपादन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। तृतीय सम्प्रदाय के प्रायः सभी आचार्य गृही तथा तान्त्रिक थे। प्रज्ञाकर के ग्रन्थ का नाम वार्त्तिकालङ्कार है। इन्होंने प्रमाणवार्त्तिक के प्रथम अध्याय को छोड़कर शेष तीनों अध्यायों के ऊपर टीका लिखी थी। प्रथम अध्याय पर टीका न लिखने का कारण यह है कि उस पर ग्रन्थकार की स्वरचित टीका विद्यमान थी। प्रज्ञाकरगुप्त ग्रन्थ अतिबृहत् है। इसकी इतनी प्रसिद्धि हुई थी कि इसके कारण ग्रन्थकार 'अलङ्कारोपाध्याय' नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उदयनाचार्य ने तात्पर्यपरिशुद्धि में इनका उल्लेख किया है। बौद्ध न्यायशास्त्र के इतिहास का विशेष विवरण जानने के लिए रूस-देशीय पण्डित Stcherbatsky का Buddhist Logic नामक ग्रन्थ देखना चाहिए।

सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक ब्रह्मा थे।[१] महर्षि भारद्वाज और उनके शिष्य राजा सोमकेश्वर पाशुपत धर्म के व्याख्याता थे।[२] शिवपुराण में लिखा है कि (वायवीय संहिता, अ० २) वासुदेव कृष्ण ने धौम्य के ज्येष्ठ भ्राता उपमन्यु के निकट पाशुपत धर्म की शिक्षा पाई थी। रुरु, दधीचि, अगस्त्य और उपमन्यु ने पृथक्-पृथक् संहिताओं का निर्माण कर पाशुपत योग-शिक्षा का मार्ग सुगम बनाया था (शिवपुराण, वायवीय संहिता (क) २८।१५।१६)। पाशुपतों का सूत्रात्मक एक दार्शनिक ग्रन्थ था—इसका नाम पाशुपतशास्त्रपञ्चार्थ दर्शन था। यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त था, अतएव यह पञ्चाध्यायी नाम से भी प्रख्यात है। प्रसिद्धि है कि शङ्करजी ने स्वयं ही इन सूत्रों का प्रकाशन किया था। इस ग्रन्थ के ऊपर शिवजी के अट्ठाईसवें अवतार राशीकर ने एक भाष्य रचा था, जिसका उल्लेख माधवाचार्य, केशव काश्मीरी आदि के ग्रन्थों में मिलता है। भासर्वज्ञ की गणकारिका की बात पहले ही कही गई है। इसके ऊपर रत्नटीका नाम से प्रसिद्ध एक टीका भी है। इस टीका के रचयिता ने सत्कार्य-विचार नामक पाशुपत शास्त्र का एक और ग्रन्थ बनाया था। इस सम्प्रदाय के क्रियाकलापों का विवरण संस्कार-कारिका नामक ग्रन्थ में है। शिवानन्द-कृत योगचिन्तामणि नामक ग्रन्थ में नकुलीशयोगपारायण नामक एक पाशुपत ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

यद्यपि अन्यान्य शैव सम्प्रदायों के सदृश इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक भी भगवान् शङ्कर ही हैं और ऋषि लोग ही इसके भी प्रचारक थे, तथापि ऐतिहासिक समय में भृगुकच्छ के निकट करबन[३] नामक स्थान-निवासी नकुलीश नामक किसी एक व्यक्ति ने इस उच्छिन्नप्राय सम्प्रदाय का पुनरुद्धार किया था, ऐसी प्रसिद्धि है। नकुलीश शब्द, कहीं-कहीं लकुलीश, लगुडीश आदि रूपों में भी दृष्टिगोचर होता है। इस सम्प्रदाय के उपासक अबतक भी लगुड धारण करते हैं[४]। वायुपुराण के अनुसार श्रीकृष्ण ने जिस

---

१. यामुनाचार्य ने आगमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ (पृ० २६) में एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें शैव, पाशुपत, लागुड और सौम्य इन चार प्रकार के शैव सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है—

शैवं पाशुपतं सौम्यं लागुडञ्च चतुर्विधम्।
तन्त्रभेदः समुद्दिष्टः सङ्करं न समाचरेत्॥

इस स्थल में सौम्यशब्द से सोमसिद्धान्त अथवा कापालिक मत समझना चाहिए। इसके अनुसार लागुड और पाशुपत पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय थे।

२. वसिष्ठ के पुत्र और गौपायन के गुरु शक्ति-शैव सम्प्रदाय के, कामेश्वर के गुरु आपस्तम्ब कालदमन सम्प्रदाय के और शूद्रजातीय अरुणोदर के गुरु धनद अथवा कुबेर कापालिक सम्प्रदाय के उपदेष्टा थे। महापुराणों में कुबेर महाव्रती भी कहे गये हैं।

३. इस स्थान का संस्कृत नाम कायावरोहण है। शिवजी इसी स्थान में अवतीर्ण हुए थे, इसलिए इसका इस प्रकार नाम पड़ा। प्रसिद्धि है कि शिवजी लगुडधारी नर-रूप में यहाँ अवतीर्ण हुए थे। यहाँ पर अब भी 'लकुलीश' का एक मन्दिर है। शिवपुराण के अनुसार (सनत्कुमार-संहिता ३१।१२) कायावरोहण के लकुली शिवजी की अड़सठ मूर्त्तियों में अन्यतम हैं।

४. विश्वकर्मावतार नामक वास्तुशास्त्र में लकुलीश का ध्यान इस प्रकार मिलता है—"लकुलीश-मूर्ध्वमेढ्ं पद्मासनसुसंस्थितम्। दक्षिणे मातुलिङ्गं च वामे दण्डं प्रकीर्त्तितम्॥" बहुत से शैव-मन्दिरों के द्वार में लकुलीशमूर्त्ति दिखाई देती है। उनका मस्तक केशों से ढका हुआ रहता है।

समय वासुदेव-रूप में अवतार लिया था, ठीक उसी समय शिवजी कायावरोहण नामक स्थान में नकुलीशरूप में आविर्भूत हुए थे। श्मशान-स्थित एक शव में उनका आविर्भाव हुआ था। भगवत्-शक्ति के संचार से शव चेतन होकर उठ बैठा और पाशुपत धर्म के प्रचार में तत्पर हुआ, ऐसी किंवदन्ती है। नकुलीश के चार शिष्य थे—कुशिक,[१] गार्ग्य, मित्र और कौरूष्य। ये सभी पाशुपत योग का अभ्यास करते थे और देह में धूलि और भस्म रमाये रहते थे। चित्रालेख में उक्त चारों शिष्यों का उल्लेख है, किन्तु उसमें तृतीय का नाम मित्र के बदले मैत्रेय लिखा है।

लकुलीश का आविर्भाव ऐतिहासिक दृष्टि से किस शताब्दी में हुआ था, इसका निश्चय अभी तक नहीं हुआ है। फरकूहर का मत है कि नकुलीश सत्य ही किसी समय में जीवित थे—महाभारत-काल और वायुपुराण-काल के (३०० खी० से ४०० खीष्टाब्द के) मध्यवर्त्ती काल में किसी समय उनका आविर्भाव हुआ था। फ्लीट ने प्रमाणित किया है कि कुशनराज हुविष्क की मुद्राओं में जो मुद्गरहस्त शिवजी की मूर्त्ति दीख पड़ती है, वह नकुलीश की ही मूर्त्ति है (J. R. S., 1907, p.419)।[२]

विशेष रूप से पर्यालोचन करने से प्रतीत होता है कि प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय से किसी-किसी अंश में इस (नकुलीश) सम्प्रदाय का पार्थक्य था; क्योंकि यामुनाचार्य ने आगमप्रामाण्य (पृ० २६, ४६) में दो वचन उद्धृत किये हैं। उनमें पाशुपत से लकुलीश के पार्थक्य का उल्लेख है। पहले श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वे सब तन्त्र परस्पर पृथक् हैं। इनमें से एक को दूसरे से मिलाना नहीं चाहिए—'तन्त्रभेदः समुद्दिष्टः सङ्करं न समाचरेत्'। दूसरे श्लोक में पाशुपत से कालामुख के

दाहिने हाथ में बीजपूर के फल और बायें में दण्ड। समस्त राजपूताना, गुजरात, मालव, वङ्गदेश, दक्षिणापथ आदि नाना देशों में लकुलीश की मूर्त्ति दीख पड़ती है। एकलिङ्ग, मैनाल, तिलिस्मा, बाडोणी आदि स्थानों के शिव-मन्दिर इसी सम्प्रदाय के हैं (द्रष्टव्य : गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा-कृत उदयपुर-राज्य का इतिहास, पृ० ११०४-११०५)।

१. उदयपुर से १३ मील उत्तर में एकलिंग का मठाध्यक्ष इसी सम्प्रदाय का है। बप्पारावल के गुरु नाथ हारीतराशि एकलिङ्ग मन्दिर के महन्त थे। एकलिङ्गजी के मन्दिर के दक्षिण में लकुलीश का मन्दिर संवत् १०२८, अर्थात् ९७१ खीष्टाब्द में बनाया गया था।

२. लकुलीश ऐतिहासिक पुरुष थे, यह किसी-किसी पण्डित का मत है, किन्तु आगमशास्त्र के इतिहास का पर्यालोचन करने से प्रतीत होता है कि लाकुल मत भी अति प्राचीन है। प्रसिद्धि है कि नौ करोड़ आगम ग्रन्थों का क्रमशः ह्रास हुआ था। मूल प्रवर्त्तक भैरव ने जब इस आगम का प्रवर्तन किया था, तब ग्रन्थों का उच्छेद न होने के कारण सभी—नौ करोड़ ग्रन्थ विद्यमान थे। किन्तु, भैरवी के समय में एक करोड़ ग्रन्थों का, तदनन्तर स्वच्छन्द के समय में और एक करोड़ ग्रन्थों का और लाकुल के समय में और एक करोड़ ग्रन्थों का लोप हो गया था, अर्थात् लाकुल के समय में छह करोड़ ग्रन्थ विद्यमान थे। इसके बाद अनुराट्, गहनेश, अब्जज, शक्रगुरु तक और भी ग्रन्थसंख्या का ह्रास हुआ था। तन्त्रशास्त्र के अनुसार ये सब दिव्य गुरुओं के नाम हैं। सिद्ध अथवा मनुष्य-गुरुओं के नाम नहीं हैं। अतएव, इस दृष्टि से लाकुल मत किसी ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष का मत नहीं है, यही सिद्ध होता है (द्रष्टव्य : K. C. Pandey, Abhinavagupta, p. 70)

पार्थक्य का उल्लेख है। यह कालामुख-सम्प्रदय लागुड का ही नामान्तर प्रतीत होता है; क्योंकि आगमप्रामाण्य से ही मालूम होता है कि ये लोग लगुड धारण करते थे और कपालपात्र में भोजन करते थे। कापालिक सम्प्रदाय से भी इन लोगों का कुछ सादृश्य था।[१] असली बात यह है कि कालामुख अथवा लागुड, कापालिक और पाशुपत—इन तीनों सम्प्रदायों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य ने शैव, पाशुपत, कापाल और कालामुख के भेद से चार प्रकार के शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यहाँ पर भी कालामुख शब्द से लागुड अथवा लकुलीश-सम्प्रदाय ही समझना चाहिए।

संभव है कि प्राचीन पाशुपत मत ही धीरे-धीरे दो या अधिक विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हुआ हो। कापालिक और लकुलीश-सम्प्रदाय के दार्शनिक मत में कुछ भेद था, इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है।[२]

पाशुपत मत अवैदिक था, यह एक प्रकार से निश्चित ही है। महिम्नःस्तोत्र के 'त्रयी साख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति' इत्यादि श्लोक में त्रयी पद से वैदिक मार्ग का ग्रहण होनेपर सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव मत वेदबाह्य ही मानने पड़ते हैं। तर्कपाद में भी ये मत वस्तुतः वेदबाह्य-रूप में ही प्रतिपादित हुए हैं।[३] कूर्मपुराण में पाशुपत मत को स्पष्ट रूप से वेदबाह्य कहा गया है, किन्तु अप्पयदीक्षित ने श्रीकण्ठभाष्य की शिवार्कमणिदीपिका नामक टीका (२।२।२८) में कहा है कि पाशुपत मत वैदिक और अवैदिक भेद से दो प्रकार का है। उनमें वैदिक मत प्रमाण है और अवैदिक मोहशास्त्रस्वरूप एवं अप्रमाण है—"कूर्मपुराणे प्रमाणभूतं वैदिकं पाशुपतमुक्त्वा

---

१. कूर्मपुराण में वाम, पाशुपत, सोम, लाङ्गल और भैरव इन सब वेदबाह्य सम्प्रदायों (मतों) का उल्लेख है। वहाँ भी पाशुपत से लाङ्गल या लागुड का पृथक् निर्देश है। स्कन्दपुराण की सूतसंहिता (२२।३ यज्ञवैभवखण्ड) में भी कापाल, लाकुल, पाशुपत और सोम मत का पृथक्-रूप से उल्लेख किया गया है—"कापालं लाकुलं चैव तयोर्भेदान् द्विजर्षभ।
तथा पाशुपतं सोमं भैरवप्रमुखागमान्॥"

२. अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (आ० ३७) में पाशुपत मत को अपने अद्वैत मत के अनन्तर ही उच्च स्थान दिया है। उन्होंने कहा है कि यह मोक्षप्रापक मार्ग है। उनकी दृष्टि से पाशुपत मार्ग से अपना मार्ग इसी अंश में श्रेष्ठ है कि वह भोग और मोक्ष दोनों का प्रापक है और पाशुपत मार्ग केवल मोक्षप्रापक ही है। अभिनव का अपना सिद्धान्त अद्वैतपरक है, परन्तु पाशुपत मत द्वैताद्वैत-परक है और अष्टादश आगममूलक है। अभिनवगुप्त ने द्वैतवादी सिद्धान्ती शैवों के मत का खण्डन किया है (द्रष्टव्य : K. C. Pandey, Abhinavagupta, P. 104)।

३. महिम्नःस्तोत्र में त्रयी, सांख्य, योग, पाशुपत और वैष्णव मत—इस प्रकार पाँच तरह के प्रस्थानों का निर्देश है। महाभारत के शान्तिपर्व में वैशम्पायन ने त्रयी, सांख्य, योग, पाशुपत और सात्वत (वैष्णव अथवा पाञ्चरात्र) इस तरह पाँच प्रकार के ज्ञान का उल्लेख किया है। अहिर्बुध्न्य-संहिता के १२वें अध्याय में भी ५ सम्प्रदायों का वर्णन मिलता है। अहिर्बुध्न्य-संहिता के मत से (११ अ०) अपान्तरतपा (वाच्यायन) ने तीनों वेदों का, कपिल ने सांख्य का, हिरण्यगर्भ ने योग का, शिव अथवा अहिर्बुध्न्य ने पाशुपत का तथा नारायण ने पाञ्चरात्र का उद्धार किया था।

'बामं पाशुपतं सोम' मिति मोहशास्त्ररूपमवैदिकं पाशुपतमन्यत् सङ्कीर्त्तितम् ।" प्राचीन काल में उच्च कोटि के लोग भी कहीं-कहीं वेद और आगम को समान दृष्टि से देखते थे, ऐसा प्रमाण भी मिलता है। उन लोगों का मत यह है कि वेद और शिवागम दोनों ही एककर्तृक हैं—दोनों के निर्माता एक परमेश्वर ही हैं। उन लोगों के मत में शिवागम दो प्रकार का है—१. त्रैवर्णिकविषय, इसी का नामान्तर वेद है, और २. निर्विशेष सर्ववर्णविषयक, इसका नाम आगम है। इस प्रसङ्ग में श्रीकण्ठाचार्य ने कहा है—"वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदेऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृकत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः—त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति। वेदास्त्रैवर्णिकविषयाः सर्वविषयश्चान्याः, उभयोरेक एव शिवः कर्त्ता, अतः कर्त्तृसामान्यात् उभयमप्येकार्थपरं प्रमाणमेव (२।२।३७)।"

पाशुपत लोग पाँच पदार्थ मानते हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। जो कुछ भी परतन्त्र है, वह कार्य है। कार्य तीन प्रकार के हैं १. विद्या, २. कला और ३. पशु। विद्या पशु का गुण है, विद्या परतन्त्र तथा अचेतन है। निखिल जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाला साक्षात् महेश्वर कारण है। वह वस्तुतः एक होने पर भी गुणगत तथा कर्मगत भेद से विविध रूप से कहा जाता है। चित्त द्वारा आत्मा और ईश्वर के सम्बन्ध का जो हेतु है, उसे योग कहते हैं। योग दो प्रकार का है—एक क्रियात्मक और दूसरा क्रिया का उपरम (निरोधात्मक) है। जिस व्यापार से धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है, वह विधि है। प्रधानविधि और गुणविधि के भेद से विधि भी दो प्रकार की है। भस्मस्नान, शयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा—ये व्रत ही प्रधानविधि कहे जाते हैं। क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृङ्गारण; वित्कलन और अविद्धाषण ये सब गुणविधियाँ द्वार हैं। अनुस्नान, भैक्ष्य, उच्छिष्ट अशन, निर्माल्य-धारण आदि व्यापार गुणविधि के अन्तर्गत हैं। दुःखान्त भी दो प्रकार का है—१. समस्तदुःख-निवृत्ति और २. पारमैश्वर्य-प्राप्ति। लेकिन, पाशुपत प्रथम प्रकार को उच्च कोटि का दुःखान्त नहीं मानते। वे कहते हैं कि पारमैश्वर्य-प्राप्ति ही दुःखान्त का यथार्थ स्वरूप है। किन्तु; जबतक पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती, तबतक परमेश्वर से तादात्म्य-लाभ नहीं हो सकता। इन लोगों के मत में ईश्वर निरपेक्ष निमित्तकारण है। सिद्धान्ती शैव लोग ईश्वर के निमित्तत्व को कर्माधीन मानते हैं, परन्तु पाशुपतों का मत है कि परम स्वातन्त्र्य ही ईश्वर का स्वभाव है। इसीलिए, ईश्वर में किसी प्रकार भी कर्मसापेक्ष्य नहीं माना जा सकता।

पाशुपत के सदृश पाञ्चरात्र[1] मत को भी आचार्य शङ्कर ने अवैदिक ही

---

१. ब्रह्मसूत्र के (२।२।४२।५४) अधिकरण में शङ्कराचार्य ने भागवत और पाञ्चरात्र शब्द का पर्यायवाची रूप में प्रयोग किया है। ४२वें सूत्र के भाष्य में उन्होंने 'तत्र भागवता मन्यन्ते' कहकर और परवर्त्ती सूत्र में 'वर्णयन्ति च भागवताः' कहकर भागवत सिद्धान्त का ही उपन्यास किया है। परन्तु, ४४वें सूत्र में 'न च पाञ्चरात्रसिद्धान्तिभिः' कहकर उसी सिद्धान्त का उल्लेख किया है। आगम-प्रामाण्य में यामुन मुनि ने भी पाञ्चरात्रमत का भागवत मत से अभिन्न रूप से वर्णन किया है। यथा—

माना है।[१] प्रसिद्ध है कि समग्र वेद का अध्ययन करने पर भी जब महर्षि शाण्डिल्य को परमार्थ की प्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने पाञ्चरात्रशास्त्र का अध्ययन किया। उसके

'तदिह भागवतं गतमत्सरा मतमिदं विमृशन्तु विपश्चित' इत्यादि।

परन्तु, रामकृष्णगोपाल भण्डारकर प्रभृति पण्डितों का मत है कि प्राचीन समय में भागवत सम्प्रदाय तथा पाञ्चरात्र सम्प्रदाय दोनों परस्पर भिन्न थे, लेकिन उत्तरकाल में सम्मिलित हो गये। जीवगोस्वामी आदि का मत भी प्रायः ऐसा ही प्रतीत होता है।

१. शङ्कर मत में पाञ्चरात्र-सिद्धान्त का कुछ अंश वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल माना गया है, उसको आचार्य शङ्कर उपादेय मानते हैं। जैसे (१) परमात्मा का केवल अपनी इच्छा से अनेक रूप धारण करना (जो चतुर्व्यूहवाद का मूल है) और (२) दीर्घकाल-पर्यन्त अनन्यचित्त होकर भगवान् का भजन करने से क्लेशनिवृत्तिपूर्वक भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षलाभ होता है। पाञ्चरात्रियों का अभिगमन (काय, वाक् तथा चित्त, को अवहित करके देवगृह में गमन करना), उपादान (पूजा-द्रव्य का अर्जन अथवा संग्रह करना), इज्या, स्वाध्याय (अष्टाक्षर आदि मन्त्रों का जप) और योग (ध्यान) ये पाँच व्यापार ईश्वर-आराधन के स्वरूप के ही अन्तर्गत है। ईश्वर-प्रणिधान वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। किन्तु पाञ्चरात्र सिद्धान्त का कुछ अंश वेदविरुद्ध है, अतएव शङ्कराचार्य ने उसका ग्रहण नहीं किया। जैसा कि शङ्कर ने कहा है—पाञ्चरात्र मत में वासुदेव नाम के प्रथम व्यूह से संकर्षण नामक व्यूह की उत्पत्ति होती है। वासुदेव परमात्मा का तथा संकर्षण जीवात्मा का नामान्तर है। इस कथन से सिद्ध हुआ कि पाञ्चरात्र मत में परमात्मा से जीवात्मा की उत्पत्ति होती है। परन्तु, वैदिक सिद्धान्त के अनुसार जीव नित्य है, जीव की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतएव, जीवोत्पत्तिवाद अवैदिक होने के कारण शिष्टों के ग्रहण-योग्य नहीं है। शङ्कराचार्य ने भागवत तथा पाञ्चरात्र मत का जैसा उपन्यास किया है, उससे ज्ञात होता है कि इस मत के अनुसार ईश्वर जगत् की प्रकृति तथा अधिष्ठाता, अर्थात् उपादान तथा निमित्त कारण है। ईश्वर ही निरञ्जन, ज्ञानस्वरूप परमार्थ-तत्त्व है। उनका साम्प्रदायिक नाम भगवान् वासुदेव अथवा नारायण है। ये चतुर्व्यूह रूप में अपने को विभक्त कर अवस्थित हैं। चतुर्व्यूह का नाम—(१) वासुदेव (यह भगवान् का स्वरूप ही है), (२) संकर्षण (यह जीव है), (३) प्रद्युम्न (यह मन है) और (४) अनिरुद्ध (यह अहङ्कार है)। इन चारों में परमात्मा परा प्रकृति रूप है तथा जीव आदि उनके कार्य हैं। पाञ्चरात्र सिद्धान्त का यह शङ्कर-प्रदर्शित रूप प्रसिद्ध पाञ्चरात्र संहिताओं में प्रायः नहीं मिलता; क्योंकि प्रसिद्ध पाञ्चरात्र आगम के अनुसार संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध भगवान् का ही रूपविशेष है, जीव, मन अथवा अहङ्कार का नामान्तर नहीं है। परन्तु, महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत नारायणीय उपाख्यान में शङ्कर के वर्णन का कुछ-कुछ पूर्वरूप मिलता है और लक्ष्मीतन्त्र (६।९–१४) में लिखा है कि संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध मानों क्रीडाशील वासुदेव के जीव, मन और अहङ्कार हैं। वस्तुतः, संकर्षण आदि समष्टि जीव, समष्टि मन तथा समष्टि अहङ्कार के अधिष्ठता परमात्मा के ही रूप हैं। जो लोग इस विषय में विशेष रूप से छान-बीन करना चाहें, उनको वेदान्तदेशिक आचार्य के पाञ्चरात्रविषयक ग्रन्थ तथा अहिर्बुध्न्य-संहिता, जयाख्यसंहिता आदि पाञ्चरात्र ग्रन्थ देखने चाहिए। प्रसङ्गतः Dr. Otto Schrader लिखित Introduction to Pancharatra नामक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ भी देखना चाहिए।

आचार्य रामानुज ने वेदान्तसूत्र के पाञ्चरात्राधिकरण का दूसरे प्रकार से व्याख्यान किया है। आचार्य शङ्कर का मत है कि यह अधिकरण पाञ्चरात्र अथवा भागवत मत के खण्डन के लिए वेदान्त-दर्शन में गृहीत हुआ है, किन्तु रामानुज का कथन है कि ब्रह्मसूत्रकार के

अनुसार उपासना करने पर उन्हें परम शान्ति मिली। शङ्कर स्वयं, यह वेदनिन्दा है, ऐसा समझते हैं।[1]

मत से पाञ्चरात्र सिद्धान्त खण्डनीय ही नहीं है, प्रत्युत उन्होंने पाञ्चरात्र सिद्धान्त पर अन्य लोगों द्वारा किये गये आक्षेपों का निराकरण किया है। निम्बार्क, केशवकाश्मीरी तथा मध्वाचार्य का मत यह है कि यह अधिकरण पाञ्चरात्र मत के खण्डन अथवा मण्डन के लिए नहीं लिखा गया था। इस अधिकरण से पाञ्चरात्र मत का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह अधिकरण प्राचीन शक्तिपाद के खण्डन के लिए तर्कपाद में जोड़ा गया है। शाक्त अथवा शैव सम्प्रदाय में जहाँ-जहाँ शिव और शक्ति का अभेद माना गया है, वहाँ खण्डन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई; परन्तु शाक्तों में जो लोग शक्ति का स्वातन्त्र्य मानते हैं, उनके मत का खण्डन करने के लिए इसकी प्रवृत्ति हुई है। R. D. Karmarkar ने शक्तिपक्ष का ही, संगत समझकर, ग्रहण किया है। द्रष्टव्य : A Comparison of the Bhashyas of Shankar, Ramanuj, Nimbarka, Vallabha on some crucial Sutras, p. 62.

१. आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में पाञ्चरात्र के जिस वेदनिन्दासूचक वचन का उद्धार किया है, वह यह है—'चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्' (ब्र० सू० २।२।४५)। रत्नप्रभाकार ने इस प्रकार के और वचन भी दिखलाये हैं। यथा—'एकस्यापि तन्त्राक्षरस्याध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिकः।' आनन्दगिरि ने इसी प्रसङ्ग में उपर्युक्त वचन से मिलते-जुलते एक दूसरे वचन का उद्धार किया है। यथा—'स्वाध्यायमात्राध्येतुर्विशिष्यते भागवतशास्त्राक्षरमात्राध्येता।' ये सब वचन कहाँ से उद्धृत किये गये हैं, इसका पता नहीं चलता, किन्तु पाञ्चरात्र के विभिन्न स्थलों में वेद के अपकर्ष का ख्यापन दीख पड़ता है। अहिर्बुध्न्य-संहिता में (अ० ४५।१८) लिखा है कि राजा कुशध्वज ने अपने गुरु से परा और अपरा दोनों विद्याएँ प्राप्त की थीं और साक्षात् अग्नि के सदृश परा विद्या से उसके कर्म नष्ट हुए थे। उसी ग्रन्थ के ५वें अध्याय में वेदादि अपर विद्या और पाञ्चरात्र परमज्ञानरूप कहे गये हैं। इस कथन से यही सिद्ध होता है कि इस मत में वैदिक ज्ञान से कर्म-निवृत्ति नहीं हो सकती है। कुछ लोग कहते हैं कि गीता भी एकायनशास्त्र के अन्तर्गत है, अतएव पाञ्चरात्र के सिद्धान्त से उसका सिद्धान्त भिन्न नहीं है। 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादि स्थल में जो वेद की अथवा वैदिक कर्मों की निन्दा का आभास दीख पड़ता है, उसे भी इसी प्रकार समझना चाहिए। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता के इस वचन से भी पाञ्चरात्र अथवा एकायन-शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रपत्ति अथवा शरणागति ही उपदिष्ट हुई है। किसी-किसी के मत में सर्वधर्मत्याग का अर्थ नाना प्रकार के वैदिक कर्म आदि का ही त्याग समझना चाहिए। विष्वक्सेन-संहिता में भगवान् के वचन-रूप से स्पष्ट ही लिखा है-'त्रयीमार्गेषु निष्णाताः फलवादे रमन्ति ते। देवादीनेव मन्वाना न च मां मेनिरे परम्।' यहाँ पर त्रयीशब्द से वेदान्त ही समझना चाहिए; क्योंकि उसी ग्रन्थ में 'वेदनिष्णात' तथा 'वेदान्तनिष्णात' इस प्रकार वेद और वेदान्त में परस्पर भेद दिखलाया गया है। छान्दोग्य-उपनिषद् के भूमविद्याप्रसङ्ग में नारद-सनत्कुमार-संवाद (७।१) में भी ऐसा ही प्रतीत होता है। वहाँपर सम्पूर्ण वेद और समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने के अनन्तर भी नारद ने यही कहा है कि मुझे मन्त्रज्ञान ही प्राप्त हुआ है, आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। परन्तु, आत्मज्ञान के विना दुःखनिवृत्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः, यह निन्दा नहीं है। रामानुज ने भी इसका इसी प्रकार व्याख्यान किया है। शङ्कर के इस वचन का मूल क्या है, यह कहना कठिन है। पाञ्चरात्र-संहिताओं—कपिञ्जल, विष्णु और हयशीर्ष-संहिताओं—में एवं अग्निपुराण में भी एक शाण्डिल्य-संहिता का उल्लेख है।

पाञ्चरात्र मत अत्यन्त प्राचीन है; क्योंकि महाभारत, शान्तिपर्व में इस मत का उल्लेख है। यह मत सर्वथा वैदिक रहा या नहीं, यह नहीं कह सकते; किसी-किसी प्रसंग में यह वेद का सार-रूप कहा गया है। ईश्वर-संहिता में लिखा है कि द्वापरयुग के अन्त में और कलियुग के आरम्भ में महामुनि शाण्डिल्य ने तोताद्रि-शिखर पर समाहित-चित्त होकर, कठिन तपस्या करके, साक्षात् संकर्षण से एकायन नामक वेद प्राप्त किया था और सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन और मौञ्जायन को उसकी शिक्षा दी थी। मुमुक्षु के लिए यही विद्या एकमात्र मार्ग है, इसीलिए इसका नाम एकायन पड़ा। संसारी जीवों का उपकार करने के लिए मूल वेद का अनुसरण करते हुए सात्वत, पौष्कर, जयाख्य आदि एकायन-शास्त्र बनाये गये थे। ईश्वर-संहिता के ही दूसरे प्रकरण में कहा गया है कि शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक और भरद्वाज नामक योगियों ने तोताद्रि में तपस्या करके एकायन नाम से प्रसिद्ध रहस्याम्नायसंज्ञक आदि-वेद प्राप्त किया था। पाञ्चरात्र शब्द की व्युत्पत्ति विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार से की गई है, यहाँ पर उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। पाद्म तथा ईश्वरसंहिता के अनुसार पाञ्चरात्रशास्त्र चार विभागों में विभक्त है—(१) आगम-सिद्धान्त, (२) मन्त्र-सिद्धान्त, (३) तन्त्र-सिद्धान्त और (४) तन्त्रान्तर-सिद्धान्त। पाञ्चरात्र में कितनी संहिताएँ है, यह ठीक-ठीक कहना कठिन है, कपिञ्जल-संहिता के अनुसार पाञ्चरात्र की संहिताओं की संख्या १०६ है, पाद्मसंहिता के अनुसार ११२, विष्णुतन्त्र के अनुसार १४१, हयशीर्ष-संहिता के मत से ३४ और अग्निपुराण (अध्याय ३९) के अनुसार २५ संहिताएँ होती हैं। नारद पाञ्चरात्र में केवल ७ ही संहिताओं का नामनिर्देश है। सब मिलाकर और भी कुछ नामों को उनमें जोड़कर Dr. Schrader ने एक सूची बनाई है।[1]

प्राचीन अद्वैतवाद के साथ शङ्कर के अद्वैतवाद का सम्बन्ध—अद्वैतवाद भारत-वर्ष में अति प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। उपनिषदों में यत्र-तत्र अद्वैतपरक श्रुतियाँ दीख पड़ती हैं। मन्त्रसंहिताओं में अद्वैतमत-प्रकाशन का अवसर न रहने पर भी जहाँ-तहाँ प्रसंगतः उसका स्पष्ट आभास दृष्टिगोचर होता है। महाभारत आदि ग्रन्थों में अन्यान्य मतों के सदृश अद्वैतवाद का भी परिचय मिलता है। प्राचीन वेदान्त-सूत्रकारों में कोई-कोई अद्वैतवादी थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। इसके अनन्तर बौद्धमत में माध्यमिक तथा योगाचारी अद्वैतवादी थे। इसी कारण बुद्ध का एक नाम अद्वयवादी भी पड़ा था। वैयाकरण, शाक्त, शैव—ये सभी अद्वैतवाद को मानते थे। शङ्कर के पहले वेदान्त में भी अद्वैतवाद अपरिचित नहीं था। मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में अद्वैतवाद का ही

दूसरी भी एक शाण्डिल्य-संहिता है, जो इस समय बनारस संस्कृत-कॉलेज की संस्कृत-ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई है। भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य भी पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के ही हैं। यामुनाचार्य ने आगम-प्रामाण्य में शाण्डिल्य-संहिता का एक वचन उद्धृत किया है, परन्तु वह पूर्वोक्त शाण्डिल्य-संहिता का है अथवा नहीं, यह कहना कठिन है।

१. द्रष्टव्य—Dr. O. Schrader, Introduction to the Pancharatra, pp. 5, 6–12.

समर्थन किया है। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा (श्लोक २४) में अद्वैतपक्ष का उल्लेख किया है—

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रिययोश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते॥

समन्तभद्र शङ्कर से प्राचीन हैं। इससे प्रतीत होता है कि अद्वैतवाद उनसे (शंकर से) प्राचीन था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में (३२८-३२९) प्राचीन अद्वैतमत का वर्णन किया है। कमलशील ने इन लोगों का—'अद्वैतदर्शनावलम्बिनश्चौपनिषदिकाः' कहकर उल्लेख किया है। शान्तरक्षित का वचन यह है—

नित्यज्ञानविवर्त्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकम्।
आत्मा तदात्मकश्चेति सङ्गिरन्तेऽपरे पुनः॥
ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात्सर्वः समीक्ष्यते॥[1]

कमलशील ने इन कारिकाओं की व्याख्या करते हुए कहा है कि क्षिति आदि प्रपञ्च-विज्ञान प्रतिभास-स्वरूप है। शान्तरक्षित के वचन से यह प्रतीत होता है कि उनके मत से विवर्त्त और परिणाम ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं; क्योंकि उन्होंने प्रथम श्लोक में क्षिति आदि को नित्यज्ञान का विवर्त्त कहकर दूसरे श्लोक में उन्हें विज्ञान-परिणाम कहा है। इस मत में आत्मा नित्यज्ञानरूप है और क्षिति आदि जगत् इसी का परिणाम अथवा विवर्त्त है। भवभूति भी इस प्राचीन विवर्त्तवाद को जानते थे। उत्तररामचरित में उन्होंने कहा है—'ब्रह्मणीव विवर्त्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः।' इस वचन से ज्ञात होता है कि विवर्त्त ब्रह्म में लीन होता है और ब्रह्म से ही वह आविर्भूत होता है। उनकी दृष्टि में विवर्त्त और परिणाम दोनों ही एकार्थक हैं। 'एको रसः करुण एव विवर्त्तभेदात्' इत्यादि श्लोक से भी सिद्ध होता है कि विवर्त्त शब्द का नवीनवेदान्त-सम्मत अर्थ उन्हें ज्ञात नहीं था। कुमारिलभट्ट ने भी श्लोकवार्त्तिक में वेदान्त के अद्वैतवाद का उल्लेख किया है। योगवासिष्ठ रामायण का रचनाकाल परिज्ञात नहीं है। यदि इसका रचनाकाल शङ्कर से पूर्व माना जाय (जैसा कि डॉ० भीखनलाल आत्रेय ने प्रतिपादन करने का विशेष रूप से प्रयत्न किया है), तो उसके अद्वैतवाद को भी प्राचीन अद्वैतवाद का ही प्रकारभेद मानना होगा।

परन्तु ये सब अद्वैतवाद एक ही प्रकार के नहीं हैं। माध्यमिकों का [illegible]द्वय-वाद, योगाचारों का विज्ञानाद्वयवाद, शाक्तों का शक्त्यद्वयवाद, वैय[illegible] का और मण्डन-सम्मत प्राचीन वेदान्तियों का शब्दाद्वयवाद—यद्यपि ये [illegible] अद्वैतवाद ही हैं, तथापि इनमें परस्पर कुछ-न-कुछ वैशिष्ट्य है। शङ्कर तथा श[illegible] के परमगुरु आचार्य गौडपाद द्वारा प्रचारित अद्वैत इन सब अद्वैतवादों से किसी-[illegible] अंश में विलक्षण है।

---

१. प्रज्ञाकरमति ने शान्तिदेव-कृत बोधिचर्यावतार की स्वरचित पञ्जिकाटीका में ये श्लोक उद्धृत किये हैं। परन्तु, उसमें कुछ पाठभेद है।

पूर्वोक्त मतों में से किसी मत का प्रभाव शङ्कर-मत पर पड़ा है या नहीं, यह कहना कठिन है। परन्तु, अन्य मत का प्रभाव मानने पर भी यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि शङ्कर-मत का अन्य मतों की अपेक्षा असाधारण वैशिष्ट्य है।

किसी-किसी पण्डित का विश्वास है कि शङ्कराचार्य ने बौद्धमत का अनुसरण करते हुए ही बौद्धमत का खण्डन किया है। 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च' इत्यादि पौराणिक वचन इसी मत के परिपोषक हैं। इन लोगों का कहना है कि गौडपाद की कारिका का विशेष रूप से पर्यालोचन करने से ज्ञात होता है कि यद्यपि वह ग्रन्थ वस्तुतः औपनिषद ब्रह्मवाद-स्थापन के लिए ही प्रवृत्त हुआ था, तथापि भाव तथा भाषा में यह आदि से अन्त तक माध्यमिक दर्शन के प्रभाव से भरा पड़ा है। इस ग्रन्थ में आत्मा के विषय में अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, नास्ति नास्ति, इन चार कोटियों का उल्लेख है—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष वालिशः॥
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥

इनका सारांश यह है कि आत्मा सत्, असत्, सदसदुभयात्मक तथा सदसद्विलक्षण—इन चार कोटियों में से किसी भी कोटि से स्पृष्ट नहीं है। इस प्रकार चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त आत्मा का जिन्होंने साक्षात्कार किया हो, वे ही सर्वदर्शी अथवा सर्वज्ञ कहलाने योग्य हैं। गौडपाद से बहुत पहले नागार्जुन ने भी माध्यमिककारिका में यही बात कही थी—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

गौडपाद की उक्ति नागार्जुन के इस वचन की प्रतिध्वनि-मात्र है। नागार्जुन और गौडपाद दोनों ही परमार्थतत्त्व को चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त कहते हैं। इसी का अनुसरण करते हुए नैषधकार श्रीहर्ष ने भी कहा है—

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे।
श्रद्धां दधे निषधराड् विमतौ मतानामद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः॥
(१३।३६)

अद्वैतशिरोमणि खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष ने अपने नैषधचरित (२१।८८) में बुद्ध का भी विधूतकोटिचतुष्क तथा अद्वयवादी रूप से वर्णन किया है।[१] इस वर्णन के अनुसार शून्यवादी का शून्य अथवा तत्त्व और आचार्य गौडपाद का आत्मा प्रायः

१. एकचित्ततितिरद्वयवादिन्न त्रयी परिचितोऽथ बुद्धस्त्वम्।
पाहि मां विधुतकोटिचतुष्कः पञ्चबाणविजयी षडभिज्ञः॥
(नैषध० १९।८८)

एक ही प्रकार का है। इन समालोचकों का यह भी कथन है कि गौडपाद का अजातवाद भी नागार्जुन-रचित माध्यमिककारिकामूलक ही है। नागार्जुन ने कहा है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥
(म० का० १।७)

(द्रष्टव्य—मध्यमकवृत्ति, पृ० १२, Bibliotheca Buddhica में Professer Poussin का संस्करण)। गौडपाद ने अलातशान्ति-प्रकरण में कहा है—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चद् वस्तु जायते॥

माध्यमिक मत में परमार्थतत्त्व जैसा मन, वाक्य और प्रपञ्च के अतीत है शङ्कर-मत भी इस अंश में ठीक वैसा ही है। सब वस्तुओं का मायिकत्व और स्वाप्नत्व दोनों दर्शनों में समान-रूप से माना गया है। सत्ता का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक रूप से जो विभाग शंकर-दर्शन में मिलता है, वह बौद्धदर्शन के आधार पर ही प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। परमार्थ-सत्ता तथा व्यावहारिक सत्ता, इस प्रकार बौद्धों का सत्ताभेद अति प्राचीन पालि-साहित्य में ही मिलता है। यह भेद और किसी दर्शन में नहीं है। इसके अतिरिक्त माण्डूक्यकारिका में ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिनका उल्लेख केवल बौद्धदर्शन-ग्रन्थों में ही है। इन्हीं सब विषयों का सूक्ष्म रूप से पर्यालोचन करके आधुनिक पण्डितों ने सिद्धान्त स्थिर किया है कि शङ्कर-दर्शन बौद्ध शून्यवाद का औपनिषद संस्करणमात्र है।

पक्षान्तर में किसी-किसी का यह मत है कि अतिप्राचीन शिवाद्वयवाद का अवलम्बन करके शङ्कराचार्य ने अपना मत-स्थापन किया था। प्रसिद्धि है कि उन्होंने सूतसंहिता का अष्टादश बार आलोचन करके शारीरकभाष्य की रचना की थी—

तामष्टादशधालोच्य शङ्करः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं 'सर्ववेदान्तनिर्णयम्॥

सूतसंहिता प्राचीन शिवाद्वैत-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। इसके भाष्यकार माधवमन्त्री सुप्रसिद्ध शैवाचार्य क्रियाशक्ति पण्डित के शिष्य थे। शङ्कर के दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र और सुरेश्वर-कृत उसके वार्त्तिक के अवलोकन से ज्ञात होता है कि शिवागम के साथ शङ्कर का विशेष परिचय था, अतएव शङ्कर का अद्वैत शिवागम के प्रभाव से प्रभावित होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।[1]

इन सब अद्वैत सिद्धान्तों का ज्ञान शङ्कर को अवश्य था, और यह भी सम्भव है कि इनमें से किसी-किसी के सिद्धान्त का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत उनपर पड़ा हो।

---

१. 'Is the Advaita of Shankar Buddhism in disguise' नामक लेख (Quarterly Journal of Mythic Society, Vol. 24, No. 1-2, July—October 1933) में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि शङ्कर के अद्वैतवाद का आधार बौद्धों का विज्ञानवाद या शून्यवाद नहीं है, किन्तु अति प्राचीन अद्वैतवाद है।

किन्तु, शङ्कर ने इनमें से किसी मत का अवलम्बन करके अपने अद्वैतवाद का प्रचार किया, यह मानना किसी प्रकार भी संगत नहीं हो सकता। शङ्कर के सदृश महाज्ञानी तथा महायोगी पुरुष ऐसा क्यों करने लगें? देश में जिस समय के वातावरण में जिस प्रकार के भावों तथा पारिभाषिक शब्दों की व्याप्ति रहती है, उस समय बनाये गये ग्रन्थों में तथा चिन्तनशील (विचारशील) व्यक्तियों के चित्त में उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। यह वस्तुतः ज्ञानपूर्वक आदान-प्रदान-व्यापार नहीं है।[1]

यहाँ पर हम नाना प्रकार के अद्वैत का संक्षेप में परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। इसे देखने से शङ्कर-मत के जानकार पाठक उन अनेक मतों से शङ्कर-मत का विवेचन कर सकेंगे।

बौद्धों के अन्दर शून्यवाद तथा विज्ञानवाद—माध्यमिक और योगाचार-सम्प्रदायों के सिद्धान्त हैं। अद्वैतवाद इन दोनों वादों का प्राणभूत है।[2] शून्यवाद प्राचीन मत है। नागार्जुन तथा उनके अनुगामी आर्यदेव आदि आचार्यों ने प्रज्ञा-पारमिता आदि शास्त्रों के आधार पर उसका प्रचार किया था। इन लोगों का कथन है कि सद्, असद् आदि चार कोटियों से शून्य, निर्विकल्पक, निष्प्रपञ्च, आकाश के समान निर्लेप और असंग सत्य ही शून्यपदवाच्य है। वह अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत इत्यादि विशेषणों द्वारा वर्णित होता है। वही पारमार्थिक सत्य है और बुद्धि का अगोचर है। सत्य का एक दूसरा भी स्वरूप है, वह बुद्धि अथवा संवृति नाम से परिचित है।[3] बुद्धिमात्र ही विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने से

---

१. जिन्होंने व्यासदेव के पातञ्जलभाष्य का भली भाँति अवलोकन किया है और बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों का भी अध्ययन किया है, उन लोगों की दृष्टि में दोनों में बहुत सादृश्य प्रतीत होता है। दृष्टान्त-रूप में हम भवप्रत्यय तथा उपायप्रत्यय इन दोनों स्थलों में प्रत्ययशब्द का, अनाभोगशब्द का, धर्ममेघशब्द का, भुवनज्ञानविषयक सूत्र के भाष्य में वर्णित विभिन्न प्रकार के देवताओं की संज्ञाओं का, परिणाम, ताप, संस्कार भेद से त्रिविध दुःखों के नाम का, निर्माणचित्त तथा निर्माणकाय का उल्लेख कर सकते हैं।

२. बोधिचित्तविवरण में लिखा है कि बुद्धदेव शिष्यों की योग्यता के अनुसार उन्हें उपदेश देते थे। जिसमें जैसी शक्ति देखते थे, उसे वैसा उपदेश देते थे; किन्तु उपदेशगत इस प्रकार का भेदभाव केवल आपाततः प्रतीत होता है; क्योंकि उपदेष्टा का तात्पर्य शून्याद्वयसिद्धान्तों में ही था— 'भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा।' किन्तु, बोधिचित्तविवरण माध्यमिक सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। माध्यमिक लोग जिस भाव से इसे समझते हैं, योगाचार लोग ठीक उसी अभिप्राय से इसे नहीं मानते।

३. आर्यसत्त्वावतार और पितापुत्रसमागम में, साक्षात् बुद्धदेव के वचन-रूप में पूर्वोक्त दो प्रकार के सत्य का वर्णन मिलता है। उनमें से प्रथम में लिखा है कि जो परसत्य है, वह काय, मन तथा वाक्य का अगोचर 'सर्वव्यवहारसमतिक्रान्त' तथा निर्विशेष है। उसकी उत्पत्ति और निरोध नहीं होते, अभिधेय-अभिधान सम्बन्ध तथा ज्ञेय-ज्ञान इत्यादि कारक-भेद भी उसमें नहीं है। पितापुत्र-समागम में स्पष्ट ही लिखा है कि ये दोनों सत्य ही ज्ञेय हैं। बुद्धदेव ने इन दोनों का शून्यरूप में साक्षात्कार किया था, इसीलिए वे सर्वज्ञ होने में समर्थ हुए थे। परमार्थसत्य माध्यमिक ग्रन्थों में अनभिलाप्य, अनाज्ञेय, अपरिज्ञेय, अविज्ञेय, अदेशित, अप्रकाशित तथा अक्रिया-रूप में निषेधरूप से वर्णित है।

अविद्यात्मक है। अविद्या संवृति का ही नामान्तर है। अतएव, यह निश्चित है कि बुद्धि में ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं है, जिससे वह पारमार्थिक सत्य का यथार्थ रूप में ग्रहण कर सके। यथार्थ बात यह है कि पारमार्थिक पदार्थ सांवृतिक ज्ञान का विषय ही नहीं हो सकता। जो पदार्थ सांवृतिक ज्ञान का विषय होता है, वह परमार्थ से विलक्षण है। अविद्या या संवृति का कहीं-कहीं मोह अथवा विपर्यास रूप से भी वर्णन मिलता है। आर्यशालिस्तम्ब सूत्र में यह तत्त्व से अप्रतिपत्ति, मिथ्याप्रतिपत्ति तथा अज्ञान शब्द से कही गई है। माध्यमिक लोग इस अविद्या के दो कार्य मानते हैं—१ स्वभावदर्शन का आवरण, २ असत्पदार्थ स्वरूप का आरोपण।

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्त्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातङ्कवृत्तिवत्॥

यही अविद्या का वर्णन है।[१] संवृति दो प्रकार की है: १ तथ्यसंवृति—प्रतीत्यसमुत्पन्न घट, पट आदि वस्तुओं का स्वरूप जिस समय अदुष्ट इन्द्रियों से उपलब्ध होता है, उस समय लौकिक दृष्टि से वह सत्य माना जाता है, यही तथ्य-संवृति है। २ मिथ्यासंवृति—मायामरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि प्रतीत्यजात होनेपर भी जब दुष्ट इन्द्रियों से उपलब्ध होते हैं, तब लौकिक दृष्टि से भी मिथ्या कहे जाते हैं, इसी का नाम मिथ्यासंवृति है। संवृति सत्य का स्वरूप लौकिकदृष्टि से अवितथ, अर्थात् सत्य ही है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से वह सत्य नहीं है। इसीलिए, यद्यपि वह किसी प्रकार सत्य कहा गया है, तथापि परमार्थ सत्य तथा तत्त्व में उसका परिगणन नहीं होता। पारमार्थिक सत्य आर्यगण तथा योगियों के लिए विसंवादशून्य सत्य है। इन दोनों सत्यों के आधार पर ही बुद्ध लोग जीवों को धर्मोपदेश देते हैं।[२] बाह्य अथवा आध्यात्मिक सभी पदार्थों के दो स्वभाव हैं—१ सांवृतिक और २ परमार्थिक।[३] इनमें से एक की सत्ता पृथग्जनों के मिथ्यादर्शन के विषयरूप में प्रकाशित होती है। ये सब पृथग्जन अभूतार्थदर्शी हैं; क्योंकि उन लोगों का बुद्धिनेत्र अविद्यारूपी अन्धकार से आच्छन्न रहता है। दूसरे की सत्ता तत्त्ववित् आर्यों के सम्यग्दर्शन के विषयरूप में आविर्भूत होती है। इन लोगों का सम्यग्ज्ञान-रूप नेत्र अविद्या-पटल के प्रविचय (विवेकज्ञान) रूप अञ्जन-शलाका से छिन्न होने के कारण उन्मीलित रहता है।

दुःख, समुदय (दुःख का कारण), निरोध (दुःख-निवृत्ति) और मार्ग (दुःख-निवृत्ति का उपाय)—ये चार आर्यसत्य भी वास्तव में दो ही हैं; क्योंकि दुःख, समुदय और मार्ग ये तीन संवृतिस्वभाव होने के कारण संवृतिसत्य के अन्तर्भूत हैं। एकमात्र निरोध परमार्थ सत्य है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि ये

---

१. द्रष्टव्य—प्रज्ञाकरमति-कृत बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ३५२।

२. द्रष्टव्य—मध्यमकमूल, २४।८।

३. सम्यङ्मृषालब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः।
सम्यग्दृशां यो विषयः स सत्यं मृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम्॥ (मध्यमकावतार ६।२३)
(संसारप्रवर्त्तक अविद्या अथवा तृष्णा प्रकृति कही जाती है।)

दो सत्य भी वास्तविक नहीं हैं; क्योंकि संवृति लौकिक प्रतीति के अनुरोध से ही सत्य कही गई है, वस्तुतः परमार्थ ही एकमात्र सत्य है—**'वस्तुतस्तु परमार्थ एव एकं सत्यम्, अतो न काचित् क्षतिः। यथोक्तं भगवता—एकमेव भिक्षवः! परमं सत्यं यदुताप्रमोषधर्मनिर्वाणं सर्वसंस्काराश्च मृषामोषधर्माणः।'**

अतएव, सिद्ध होता है कि माध्यमिक-मत में वस्तुतः अद्वय ही तत्त्व है। वह यद्यपि अवाच्य है, तथापि दृष्टान्त द्वारा उसका वर्णन किया जाता है—

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः॥

व्यवहार के आधार पर परमार्थ का उपदेश किया जाता है। परमार्थ की उपलब्धि होनेपर निर्वाण-प्राप्ति होती है। परमार्थ सत्य आर्यों के लिए संविदित स्वभाव है, इसी लिए वह प्रत्यात्मबोध कहा जाता है। एकमात्र योगी ही उसके ज्ञाता हैं। परन्तु, सांवृतिक सत्य के ज्ञाता प्राकृत जन हैं।[१] सर्वधर्मानुपलम्भ-रूप समाधि ही 'योग' पद से कही जाती है। उक्त समाधि से सम्पन्न पुरुष ही माध्यमिक शास्त्र में योगी कहा गया है। प्राकृतजनों का अनुभव योगियों के अनुभव से बाधित होता है। निर्मल होने के कारण योगी का ज्ञानचक्षु अनास्रव ज्ञानमय है। परन्तु, यह स्मरण रखने योग्य बात है कि यद्यपि शुद्ध होने के कारण योगी का ज्ञान प्राकृत जनों के ज्ञान को बाधित कर देता है, तथापि योगियों में भी परस्पर तारतम्य है। इसमें हेतु यह है कि सब योगियों में प्रज्ञा अथवा समाधि सम्पत्ति का प्रकर्ष समान रूप से नहीं रहता। जिनके ज्ञान-नेत्र से जितना अधिक आवरण उन्मुक्त हुआ रहता है, उनमें उतना ही अधिक उत्कर्ष होता है, जैसे प्रमुदिता भूमि (प्रथम भूमिका) के ज्ञान आदि से विमला भूमि के ज्ञान आदि अधिक उत्कृष्ट हैं। यही बात ध्यान में भी समझनी चाहिए।

यह अद्वय परमार्थसत्य ही शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में तथागत-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। जितने स्वहित और परहित हैं, उन सबका यही एकमात्र आधार है; क्योंकि जबतक इसका अवलम्बन नहीं मिलता, तबतक न अपना कल्याण-लाभ होता है और न दूसरे के कल्याण-साधन में सामर्थ्य ही होता है। अविद्या से अस्पृष्ट होने के कारण वह सब प्रकार के मलों से उन्मुक्त है। एक ओर क्लेश-रूप आवरण से और दूसरी ओर ज्ञेय-रूप आवरण से वह मुक्त है। पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य—इन दो प्रकार के नैरात्म्यों की प्राप्ति ही उसका स्वभाव है।

सम्यक् संबोधि के विना इस अद्वय-तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् संबोधि को प्राप्त करने के लिए प्रज्ञा की आवश्यकता है। बौद्ध लोग कहते हैं कि शुष्क प्रज्ञा से कोई लाभ नहीं हो सकता। पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार से ही प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है। दान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकालीन अभ्यास के प्रभाव से पुण्यसंभार का उदय होता है। वीर्य और समाधि के अभ्यास के प्रभाव से ज्ञानसंभार उत्पन्न होता है। इन दोनों से विशुद्ध प्रज्ञा का उन्मेष होता है। धीरे-धीरे प्रज्ञा की निर्मलता का

सम्पादन करना पड़ता है। प्राथमिक प्रज्ञा हेतु अथवा साधन स्वरूप है, उसके फल-स्वरूप यथार्थ प्रज्ञा का विकास होता है। साधन-प्रज्ञा भी पहले श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था में साधक अधिमुक्तचरित कहा जाता है। इसके बाद अपरोक्ष ज्ञान के आविर्भाव के साथ-साथ प्रज्ञा बोधिसत्त्वभूमि में प्रविष्ट होकर क्रमशः निम्नवर्त्ती भूमियों का परिहार करती हुई ऊर्ध्व भूमि को प्राप्त कर प्रकृष्टता लाभ करती है। पर्यवसान में, अर्थात् अन्तिम भूमि में राग आदि पञ्चक्लेश-रूप क्लेशावरण तथा पञ्चविध ज्ञेयावरण के छूट जाने पर बोधिसत्त्वभूमि अतिक्रान्त हो जाती है। इसी के साथ ही द्वैतभाव की समाप्ति होती है। एवं फलभूत बुद्धत्वरूप अद्वैत प्रज्ञा आविर्भूत होती है। साधारणतः बोधिसत्त्वभूमियाँ दस मानी जाती हैं।[१] बुद्धत्व ही प्रज्ञा का आत्यन्तिक उत्कर्ष है। आध्यात्मिक लोग

---

१. बोधिसत्त्वभूमियाँ कुल कितनी हैं, इस विषय में संदेह है। महायान-साहित्य में प्रायः दस भूमियाँ मानी गई हैं। दशभूमिसूत्र में इसका विशेष विवरण मिलता है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा—इन दस भूमियों के बाद तथागत-भाव—बुद्धत्व का विकास होता है। पहली भूमि में विशेषरूप से दानपारमिता का, दूसरी भूमि में शीलपारमिता का और तीसरी भूमि में क्षान्ति-पारमिता का अभ्यास करना पड़ता है। इस तीसरी भूमि में ही चार रूप-ध्यानों, चार आरूप्य-समापत्तियों, चार ब्रह्मविहारों और पाँच अभिज्ञाओं का लाभ होता है। कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव छूट जाते हैं। चौथी भूमि में ३७ बोधिपक्षधर्मों का और वीर्यपारमिता का अभ्यास करना पड़ता है। पाँचवीं तथा तथा छठीं भूमि में ध्यान तथा प्रज्ञापारमिता का अभ्यास आवश्यक है। छठीं भूमि में ही योगी प्रतीत्यसमुत्पाद—कार्यकारणभाव का स्वरूप समझ सकते हैं। उस अवस्था में संसार तथा निर्वाण दोनों ओर चित्त का आभिमुख्य रहता है। सातवीं भूमि में योगी को ज्ञात होता है कि सब बुद्ध ही धर्मधातु की दृष्टि से एक अद्वैत और अखण्ड तत्त्व है। बुद्ध के अनन्तगुण उन में प्रकट होने लगते हैं। असंख्य स्थानों में उन्हें अपने असंख्य शरीर दीखने लगते हैं। इस भूमि में दस पारमिताओं का अभ्यास प्रत्येक क्षण में होता है। यहाँ पर शीलाभ्यास की समाप्ति होकर मुक्ति प्राप्त होती है। बोधिसत्त्व उस समय इच्छा करने पर निर्वाण में प्रविष्ट हो सकते हैं, किन्तु समस्त जगत् का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है, अतएव वे निर्वाण नहीं ग्रहण करते, अनन्त बुद्धज्ञान में प्रविष्ट हो जाते हैं। उस समय चारों प्रकार के विपर्यास उनसे निवृत्त हो जाते हैं। उस क्षण उपायकौशल्य-पारमिता का अभ्यास होता है। आठवीं भूमि में अनुपपत्तिक धर्म-क्षान्ति की प्राप्ति होती है, जिसके प्रभाव से किसी प्रकार का कर्म उनका स्पर्श नहीं कर सकता। इस अवस्था में चारों ओर के बुद्ध आकर उन्हें अनन्त ज्ञान में दीक्षित करते हैं। उस दीक्षा के बल से ही वे परोपकार करने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। अन्यथा, निर्वाण से बचना उनके लिए असम्भव हो जाता। इस भूमि में सब प्रकार के वशित्व का लाभ होता है और प्रणिधानपारमिता का अभ्यास चलता है। नवीं भूमि में योगी और भी आगे बढ़ जाते हैं। उस समय योगी चार प्रतिसंविदों को प्राप्तकर बहुत समाधियों को स्वायत्त कर लेते हैं। धारणा से उनकी आत्मरक्षा होती है और बहुपारमिता का अभ्यास चलता है। इसके बाद दसवीं में अथवा अन्तिम भूमि में उनकी अभिषेक-क्रिया निष्पन्न होती है। उस समय दिव्य, उज्ज्वल देह उन्हें प्राप्त होता है, रत्नमण्डित दिव्य कमल के ऊपर उनका आसन होता है और उनके विशुद्ध ज्योतिर्मय देह से रश्मियाँ विकीर्ण होने लगती है, जिनके प्रभाव से जीवों की दुःख-निवृत्ति

इस प्रज्ञा का सर्वाकारोपेत, सर्वधर्मशून्यताधिगमस्वभाव और निर्विकल्पक कहते हैं। इस अवस्था के प्राप्त होने पर स्वदुःख और परदुःख सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं। समस्त धर्म स्वभावहीन हैं, यही शून्यता है। बुद्ध की अवस्था को प्राप्त हुए विना इसकी यथार्थ उपलब्धि नहीं हो सकती।

शून्यवाद के अनन्तर विज्ञानवाद ने विशिष्ट दार्शनिक प्रस्थान में स्थान प्राप्त किया। परन्तु, विज्ञानवाद का सिद्धान्त लङ्कावतारसूत्र, सन्धिनिर्मोचनसूत्र प्रभृति ग्रन्थों में पहले ही किसी-न-किसी रूप में विद्यमान था। साधारणतः मैत्रेयनाथ और आचार्य असंग विज्ञानवाद के विशिष्ट प्रचारक माने जाते हैं। उत्तर काल में असंग के भ्राता वसुबन्धु भी वैभाषिक सिद्धान्त का परिहार कर योगाचार-मत का ग्रहण करते हुए विज्ञानवाद के प्रचार में तत्पर हुए थे।

लङ्कावतार में भी परमार्थ तथा संवृति का भेद दिखाया गया है, परन्तु नागार्जुन के माध्यमिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस विषय पर जितना सूक्ष्म विचार है, लङ्कावतार में उतना सूक्ष्म विचार नहीं मिलता। संवृतिसत्य परिकल्पित तथा परतन्त्र सत्य स्वभाव के साथ संपृक्त है। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों के बाद परिनिष्पन्न ज्ञान होता है, जिससे परमार्थ सत्य का सम्बन्ध माना जाता है। परमार्थ का नामान्तर भूतकोटि—संवृति उसी का प्रतिबिम्ब-मात्र है। लङ्कावतार-मत में बुद्धि दो प्रकार की मानी गई है। १ प्रविचय बुद्धि, और २ प्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धि से पदार्थों के तत्त्व का ग्रहण होता है। सभी पदार्थ सत्, असत् आदि चारों कोटियों से मुक्त हैं। प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेदप्रपञ्च आभासित होता है और सत्‌रूप से प्रतीत होता है। यह आपेक्षिक है। यह प्रतिष्ठापन व्यापार-समारोप कहा जाता है। लक्षण, इष्ट, हेतु और भाव, इन चारों का आरोप होता है—जिसके प्रभाव से विवाद और विरोध का सूत्रपात होता है। इसीलिए, दोनों पक्षों से बाहर रहने—द्वन्द्वातीत होने—के लिए योगी को चाहिए कि प्रतिष्ठापिका बुद्धि का अतिक्रमण कर ऊपर उठ जाय। परतन्त्र स्वभाव की क्रिया बाह्यसत्यसापेक्ष है। किन्तु, परिकल्पित केवल अमूलक कल्पना-मात्र है। परतन्त्र उतना दूषणीय नहीं है, परन्तु परिकल्पित के सम्बन्ध से दोष का आविर्भाव होता है। इन दोनों का स्वभाव एक दूसरे के अधीन है। परतन्त्रलक्षण स्वयंभूत नहीं है, किन्तु हेतुप्रत्ययजन्य है। परिकल्पित लक्षण में ग्राह्यग्राहक-भाव का स्पष्ट प्रादुर्भाव होता है। विज्ञान के स्वरूप में वस्तुतः न ग्राह्यत्व है और न ग्राहकत्व। ग्राह्यभाव और ग्राहकभाव दोनों ही परिकल्पित हैं। जिस समय ग्राह्य अथवा ग्राहक-भाव निवृत्त हो जाता है, उस समय की अवस्था परिनिष्पन्नलक्षण कही जाती है। परतन्त्र की सर्वदा परिकल्पितस्वभावहीनता ही परिनिष्पन्नता है। इस प्रकार, विविध सत्ता का विवरण विशेष रूप से हृदयंगम होना चाहिए, नहीं तो लङ्कावतार के तात्पर्य का ग्रहण करना कठिन हो जायगा। त्रैधातुक, अर्थात् काम, रूप तथा अरूप

होती है। असंख्य निर्माणकायों के द्वारा वे उपदेश देते हैं और ज्ञानपारमिता का अभ्यास चलता है। दस भूमियों के अतिक्रान्त होने पर वे 'दशभूमीश्वर' कहलाते हैं। यह बुद्धत्व-लाभ है—इसी का दूसरा नाम पूर्णता है।

जगत् में विद्यमान चित्त और चैत्त ही अभूतपरिकल्प्य हैं। पहले जो परिनिष्पन्न, परतन्त्र तथा परिकल्पित इन तीन प्रकार के लक्षणों का वर्णन किया गया है, वह सब इसी का समझना चाहिए।

लङ्कावतार के मत से सम्पूर्ण भाव निस्स्वभाव हैं। समग्र प्रपञ्च मेघ, अलातचक्र अथवा गन्धर्वनगर के सदृश है। कहीं-कहीं यह अनुपम मायामरीचिका अथवा स्वप्न-रूप में भी वर्णित हुआ है। बाह्य वस्तु अनादिकाल से ही भ्रान्तिजन्य मनोविजृम्भणमात्र है। लङ्कावतार का मत है कि इस दृष्टि से बाह्य सत्ता को देखने से विकल्प का बन्धन टूट जाता है। तब समझ में आता है कि देह, मोक्ष और प्रतिष्ठा, अर्थात् समग्र जगत् आलय-विज्ञान अथवा चित्त का परिणाममात्र है। उस समय द्रष्टा और दृश्य के ज्ञान की निवृत्ति होने पर निराभास अवस्था का, जिसमें द्वैतभाव का लेश तक नहीं रहता, प्रस्फुरण होता है। तन्मयता के साथ-साथ चित्त अभेद को प्राप्त हो जाता है। जन्म, स्थिति और नाश सब अपने चित्त के ही भाव हैं, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए उस समय नाम आदि का ज्ञान नहीं रहता। इस अवस्था के उदय से संसार तथा निर्वाण में भी साम्यदृष्टि हो जाती है।

महाकरुणा, उपाय तथा अनाभोगचर्या—जिस प्रकार सूर्य सब वस्तुओं के ऊपर समान रूप से अपनी किरणों को फेंकते हैं, किसी पर पक्षपात नहीं करते, ठीक उसी प्रकार बोधिसत्त्व सब कुछ देखते हैं और जानते हैं कि यह विश्वप्रपञ्च मायिक है, छाया के सदृश अलीक है; क्योंकि यह कारण के विना उद्भूत है (अकारणक्लृप्त है)। वे जानते हैं कि चित्त के बाहर जगत् की सत्ता नहीं है। इसके अनन्तर क्रमशः उच्चतर भूमि में आरूढ होकर इस प्रकार की समाधि की प्राप्ति करते हैं, जिससे अपरोक्षतया अनुभूत होता है कि तीनों धातु ही, अर्थात् जगत् ही चित्तमात्र है। इस समाधि का नाम मायोपम समाधि है। इसके अनन्तर वज्रबिम्बोपम समाधि का आविर्भाव होता है, जिसके बल से चित्त के सब आकार निवृत्त हो जाते हैं, अर्थात् चित्त निराकार हो जाता है, ज्ञान पूर्ण हो जाता है और सब वस्तुओं में अजातत्व स्पष्टतया अनुभूत होने लगता है। बुद्धकाय-प्राप्ति का यही समय है। यह भूततथता में अवस्थिति है। इस अवस्था में योगी १० बलों, ६ अभिज्ञाओं और १० वशित्वों को स्वायत्त करते हैं और एक साथ असंख्य रूप में प्रकट होते हैं। वे उपाय के बल से सब बुद्धक्षेत्रों का दर्शन करते हैं और दार्शनिक मतवाद, चित्त के मल और विज्ञान से मुक्त होकर अपने भीतर 'परावृत्ति' का अनुभव करते हैं। इसके अनन्तर धीरे-धीरे तथागतकाय में, अर्थात् बुद्धकाय में विशुद्ध रूप से अवस्थित होते हैं। बुद्धकाय में अवस्थान होने के लिए स्कन्ध, धातु, आयतन, कारण, कार्य, नीति, जन्म, स्थिति तथा विनाश, इन सब से दूर रहते हुए चित्तमात्र में प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। संसार अनादिकाल से संचित वासनाओं के प्रभाव से चित्तमात्र से ही विकल्पवश उद्भूत हुआ है। परन्तु, बुद्धत्व निराभास, अजात तथा स्वयंवेद्य है। चित्त के पूर्ण संयम और अनाभोगचर्या के द्वारा बुद्धभाव का अधिगम होता है। लङ्कावतार में वर्णित ५ धर्मों में तथता ही श्रेष्ठ है। मन जिस समय नाम

(संकेतमात्र) और निमित्त (इन्द्रियग्राह्य विषयों का गुण, जैसे रूप) स्वरूप दो धर्मों के द्वारा स्पृष्ट न होने के कारण शान्त रहता है, उस समय इस अवस्था का उदय होता है। सम्यक्ज्ञानरूप धर्म द्वारा नाम और निमित्तमय जगत् का पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होता है कि यह सब सद् भी नहीं है और असद् भी नहीं है, यह सब समारोप और अपवाद से परे है, अर्थात् इसके विषय में न कुछ विधान ही किया जाता है और न कुछ निषेध ही किया जा सकता है। विकल्परूप धर्म भी उस समय नहीं रहता, इसीलिए वस्तु और गुण का परस्पर भेद-ग्रहण भी नहीं रहता।

निर्वाण के विषय में इस ग्रन्थ का कथन है कि यह यथाभूतार्थस्थानदर्शन से ही प्राप्त होता है। यह सब प्रकार के विकल्पों से अतीत है।

आलय-विज्ञान में अनादिकाल से असंख्य वासनाएँ विद्यमान रहती हैं। ये वासनाएँ जबतक अविद्या, मिथ्यादृष्टि, अभिनिवेश आदि से रञ्जित रहती हैं, तबतक सत्य का, अर्थात् तथता का स्वरूपदर्शन ठीक-ठीक नहीं होता, इसीलिए निर्वाण भी नहीं हो सकता। इसीसे उच्छेददृष्टि, शाश्वतदृष्टि, भवदृष्टि और अभवदृष्टि—इन सब विकल्पों का परिहार करके आलय का संशोधन करना चाहिए। यही आश्रय-परावृत्ति है। महायान-मत में वस्तुतः संसार और निर्वाण में किसी प्रकार का भेद नहीं है, इसलिए वे जागतिक सत्ता का आत्यन्तिक विनाश नहीं मानते हैं। जिस मार्ग अथवा योग से संसार से निर्वाण-प्राप्ति होती है, उसके प्रभाव से उस सत्ता का ध्वंस नहीं होता। केवल आश्रय की परावृत्तिमात्र होती है, अर्थात् वह सत्ता बुद्धकाय-घटक उपादान में परिणत हो जाती है।[१] उस समय सब पदार्थ ही शून्य, अर्थात् स्वभावरहित प्रतीत होते हैं। यही नित्य अपरोक्षदर्शन का स्वरूप है। आश्रयपरावृत्ति की सिद्धि होने पर ज्ञात होता है कि निर्वाण निर्धर्मक तथा निर्विशेष है। इसमें न लाभ है, न हानि है, न त्याग है, न ग्रहण है, न एकत्व है और न नानात्व ही है।[२]

ऊपर संक्षेप से लङ्कावतारसूत्र के दार्शनिक सिद्धान्त के विषय में कुछ आलोचना की गई है। सन्धिनिर्मोचनसूत्र में भी योगाचार-मत ही आलोचित हुआ है। इसके बाद बोधिसत्त्व मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु आदि दार्शनिकों ने योगाचार-सिद्धान्त का विशेष रूप से परिष्कार कर विभिन्न प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण किया था। मैत्रेयनाथ के पाँच ग्रन्थ विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, जिनमें

---

१. महायान-संग्रह में आश्रयपरावृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है—धातु अथवा सत्ता का जिस अंश में आवरण-संस्कार और संक्लेश विद्यमान है, यदि उस अंश का हेतुफलभाव निवृत्त हो जाय, यदि धर्म से आरोपित भाव निवृत्त हो जाय, तो सब प्रकार के आवरणों से मुक्ति होती है और सब धर्मों के ऊपर अपना प्रभाव या स्वामित्व (वशवर्त्तित्व) अधिगत होता है। और उसी के भाव से धर्म का दूसरा स्वभाव (जिससे शुद्धि अथवा 'व्यपदान' होता है) अभिव्यक्त होता है। परावृत्ति का विशेष विवरण असंग-कृत महायानसूत्रालङ्कार में देखना चाहिए।

२. हीनयानियों का निर्वाण संसार से विलक्षण है, किन्तु लङ्कावतार के मत में संसार और निर्वाण में वस्तुतः कोई भेद नहीं है

मध्यान्तविभागसूत्र अन्यतम है। महायानसूत्रालङ्कार का कारिकांश भी मैत्रेयनाथ द्वारा रचित है, यह Pandit H. Ui. ने अच्छी तरह से प्रमाणित किया है। साधारणतया यह ग्रन्थ असंग-कृत माना जाता था। योगाचार अथवा योगाचार्य भूमिशास्त्र भी मैत्रेयनाथ-रचित ही है। सुप्रसिद्ध बोधिसत्त्वभूमि नामक ग्रन्थ इसी का एक भाग है। असंग का महायान-संग्रह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। वसुबन्धु ने अपने ज्येष्ठ भ्राता के लोकोत्तर प्रभाव से प्रभावित होकर जिस समय सर्वास्ति-सम्प्रदाय से सम्बन्ध-विच्छेद किया था, उस समय उनके आदेश से वे योगाचारसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थों के निर्माण में प्रवृत्त हुए थे। विंशिका तथा त्रिंशिका नामक विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि की दो पुस्तकें, मध्यान्तविभागसूत्र का भाष्य, महायानसूत्रालङ्कारवृत्ति—ये सब ग्रन्थ वसुबन्धु के हैं। स्थिरमति ने वसुबन्धु-रचित त्रिंशिका और महायानसूत्रालङ्कारवृत्ति पर भाष्य बनाया था और मध्यान्तविभागसूत्रभाष्य पर टीका भी लिखी थी।

विज्ञानवादी योगी के मत से क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की निवृत्ति से ही परमार्थ-लाभ हो सकता है। जबतक ये दो प्रकार के आवरण रहते हैं, तबतक किसी भी उपाय से मोक्ष तथा सर्वज्ञत्व-लाभ नहीं हो सकता। क्लेश मोक्ष का अन्तराय है। क्लेशनिवृत्ति सिद्ध होने पर ही मोक्षलाभ होता है। परन्तु, सर्वज्ञत्व तबतक प्राप्त नहीं हो सकता, जबतक द्वितीय आवरण, अर्थात् ज्ञेयावरण पूर्णरूप से कट न जाय। अक्लिष्ट और क्लिष्ट भेद से अज्ञान दो प्रकार का है। क्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति क्लेश के साथ-ही-साथ हो जाती है। परन्तु, क्लेशों का उपशम होने पर भी, अर्थात् मुक्तावस्था में भी अक्लिष्ट अज्ञान रह ही जाता है। जब उसका भी निरोध हो जाता है, तभी सर्वाकारक आसक्तिहीन तथा अप्रतिहत ज्ञान की प्रवृत्ति होती है। सर्वज्ञत्व लाभ करने के लिए यह प्राथमिक अवस्था है।

आत्मदृष्टि से राग आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। जब साधक को पुद्गल-नैरात्म्य ज्ञान में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, तब सत्कायदृष्टि अथवा देहात्मबोध की निवृत्ति होकर तन्मूलक सब क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। यही मुक्तावस्था है। इसके अनन्तर धर्मनैरात्म्यज्ञान से द्वितीय प्रकार का आवरण, अर्थात् ज्ञेयावरण कट जाता है। इससे सर्वज्ञत्वभाव अधिगत हो जाता है।

आत्मा, जीव, जन्तु, मनुष्य—ये सब आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—ये सब धर्मोपचार हैं। ये दोनों प्रकार के उपचार ही वस्तुतः विज्ञान के परिणाम हैं। विज्ञान के बाहर इनकी सत्ता नहीं है, अर्थात् विज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त आत्मा या धर्म नहीं माना जा सकता। अन्यथाभाव का नाम ही परिणाम है। आत्मादि-विकल्पवासनाओं की पुष्टि होने से आलय-विज्ञान से आत्मादि का निर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रूपादिविकल्पवासना की पुष्टि से आलय-विज्ञान से ही रूपादि निर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इस रूपादि निर्भास को अथवा आत्मादि निर्भास को विज्ञान से बहिर्भूत के सदृश मानकर रूपादि उपचार—व्यपदेश—अनादिकाल से ही प्रवृत्त है। रूपादि या आत्मादि के न रहने पर भी तादृश उपचार अनादि काल से ही है। वस्तुतः, जहाँ

जो वस्तु नहीं है, वहाँ उसका उपचार होता है। विशेष रूप से यदि विचार किया जाय, तो मालूम पड़ता है कि आत्मा तथा धर्म न विज्ञान के स्वरूप में हैं, न विज्ञान के बाहर हैं—ये दोनों ही परिकल्पित हैं। इसीलिए, ये पारमार्थिक या सत्य नहीं हैं।

कोई-कोई लोग समझते हैं कि विज्ञान तथा विज्ञेय दोनों ही सत्य हैं। परन्तु, यह एकान्तवाद ठीक नहीं है; क्योंकि पहले कहा गया है आत्मा तथा धर्म, परिकल्पित होने के कारण, विज्ञान के स्वरूप में अथवा बाहर हैं ही नहीं, इसी कारण से विज्ञेय, अर्थात् आत्मा या धर्म सत्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु, उपचार निराधार नहीं होता है। इसीलिए, मानना पड़ता है कि वस्तुतः यह विज्ञान का परिणाम है, जिसमें आत्मा तथा धर्म का उपचार हो सकता है।

कोई-कोई लोग यह भी कहते हैं कि जैसे विज्ञेय सांवृतिक अथवा मिथ्या है, तद्वत् विज्ञान भी मिथ्या है। परन्तु, यह मत ठीक मालूम नहीं पड़ता; क्योंकि उपादान संवृति-रूप मानने के योग्य नहीं है, इसीलिए विज्ञानवादी आचार्यों का सिद्धान्त है—

सर्वं विज्ञेयं परिकल्पितस्वभावत्वात् वस्तुतो न विद्यते, विज्ञानं पुनः प्रतीत्य-समुत्पन्नत्वात् द्रव्यत अस्ति इत्यभ्युपेयम्।

परिणाम शब्द से मालूम पड़ता है कि विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न है। बाह्य अर्थ के व्यतिरेक से भी विज्ञान स्वयं ही अर्थ के रूप में परिणत होता है। विज्ञान के आलम्बन प्रत्यय-रूप में बाह्यार्थ माना जाता है, इसमें संशय नहीं है। परन्तु, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विज्ञान बाह्यार्थ से उत्पन्न होता है। सिद्धान्त यह है कि बाह्यार्थ स्वाभास ज्ञान का जनक है; क्योंकि कारणता आलम्बन प्रत्यय के अनुरूप समानान्तर आदि सभी प्रकार के प्रत्ययों में समरूप से ही वर्त्तमान है। विज्ञान का परिणाम विपाक, मनन तथा विषय-विज्ञप्ति रूप से तीन प्रकार का है। कुशल तथा अकुशल कर्मवासना के परिपाक से आक्षेपानुरूप फलाभिनिर्वृत्ति विपाक नाम का परिणाम है। इसी का नामान्तर आलय-विज्ञान है। जितने प्रकार के क्लिष्ट धर्म हैं, सब इसी बीज से उत्पन्न होते हैं। कारण-रूप में सब धर्म में ही इसकी उपलब्धि होती है। इस आलय-विज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है—(१) आध्यात्मिक अथवा आभ्यन्तरीय और (२) बाह्य। प्रवृत्ति-विज्ञान तथा आलय-विज्ञान में कुछ भेद है। प्रवृत्तिविज्ञान का आलम्बन तथा आकार परिच्छिन्न है। परन्तु, आलय-विज्ञान का आकार जैसा अपरिच्छिन्न है, वैसा ही इसका आलम्बन भी अपरिच्छिन्न है। विज्ञान-परिणाम का द्वितीय भेद मनन अथवा क्लिष्ट मन है। सर्वथा मनन करना ही क्लिष्ट मन का स्वभाव है, इसलिए इसको मनन कहते हैं। जैसे, चक्षुरादि विज्ञान के आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियाँ और उसके आलम्बन-रूप आदि विषय हैं, उसी प्रकार क्लिष्ट मन का भी आश्रय आलयविज्ञान है; क्योंकि आलय-विज्ञान अथवा विपाक जिस धातु में या भूमि में रहता है, उसी धातु या भूमि में क्लिष्ट मन भी रहता है। क्लिष्ट मन की वृत्ति आलय-विज्ञान में नियत सम्बद्ध है, अर्थात् आलय में आश्रित होकर ही क्लिष्ट मन अपना कार्य करता है। क्लिष्ट मन का आलम्बन आलय-विज्ञान ही है। सत्कायदृष्टि, देहाध्यास प्रभृति के सम्बन्ध से 'अहम्', 'मम' इत्यादि आकार में आलय-

विज्ञान का आलम्बन से क्लिष्ट मन काम करता है। जिस आलय या चित्त से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, उसी चित्त को उस मनोविज्ञान के लिए आलम्बन मानना चाहिए। मननाख्य विज्ञान का ही नामान्तर मन है। यह जैसे आलय से पृथक् है, वैसे ही प्रवृत्ति-विज्ञान से भी पृथक् है। मनन इसका स्वभाव है। यह विज्ञानात्मक है, इसीलिए सब प्रकार के चित्तधर्मों से इसका सम्प्रयोग होता है। चित्तधर्म दो प्रकार के हैं—(१) क्लेश, (२) क्लेशभिन्न। छह प्रकार के क्लेशों में चार प्रकार के क्लेशों के साथ मन का सम्बन्ध रहता है—(क) अविद्या अथवा आत्ममोह, यह आत्मविषयक अज्ञान का नामान्तर है, (ख) आत्मदृष्टि, यह उपादान-स्कंध में दर्शन का नामान्तर है, सत्काय दृष्टि भी इसी को कहते हैं; (ग) अस्मिमान अथवा आत्ममान, आत्मदृष्टि से चित्त की जो उन्नति होती है, वह अस्मिमान कहलाती है; (घ) तृष्णा अथवा आत्मस्नेह, पूर्वोक्त तीन क्लेशों के रहने से आत्माभिमत वस्तु में जो अभिष्वङ्ग उत्पन्न होता है, उसे तृष्णा कहते हैं। आलय-विज्ञान के स्वरूप में सम्मोह होकर उसमें आत्मदृष्टि-लाभ होता है। आत्मदृष्टि से चित्त में अस्मिमान का उदय होता है। क्लेश अकुशल और निवृताव्याकृत रूप से दो प्रकार का है।

विज्ञान-परिणाम का तृतीय भेद विषय-विज्ञप्ति है। चक्षुर्विज्ञानादि छह प्रकार के विज्ञान का अथवा विषयप्रत्यवभास का ही नाम विषय-विज्ञप्ति है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म, यह छह प्रकार की विषयोपलब्धि बौद्धग्रन्थों में तृतीय प्रकार का विज्ञान-परिणाम मानी जाती है। यह उपलब्धि कुशल या अकुशल हो सकती है या उभयभाव से भिन्न अव्याकृत भी हो सकती है। अलोभ, अद्वेष और अमोह से युक्त विषयोपलब्धि कुशल है तथा लोभ, द्वेष और मोहयुक्त उपलब्धि अकुशल है। इस तृतीय प्रकार के विज्ञान-परिणाम, अर्थात् विषय-विज्ञान में दो प्रकार के धर्म रहते हैं—(१) सर्वत्रग धर्म, जैसे कि स्पर्श, मनस्कार, वित् , संज्ञा और चेतना। ये पाँच प्रकार के धर्म आलय में, क्लिष्ट मन में तथा प्रवृत्ति-विज्ञान में सर्वत्र रहते हैं। (२) विनियत धर्म, ये धर्मविशेष विशेष विषय में नियत हैं, ये सर्वत्र नहीं रहते। जैसे कि छन्द (अभिप्रेत वस्तु के प्रति अभिलाषा), अधिमोक्ष (निश्चित वस्तु में अवधारण), स्मृति (संस्तुत वस्तु में चित्त का असंप्रमोष अथवा अभिलपनता), समाधि (उपपरीक्षणीय वस्तु में चित्त की एकाग्रता), धी, अर्थात् प्रज्ञा।[1]

---

१. दर्शन, श्रवण आदि क्रिया के विषय-रूप से जो वस्तु अभिमत है, उसे अभिप्रेत वस्तु कहते हैं। ऐसे वस्तु के विषय में दर्शन श्रवण आदि की प्रार्थना या इच्छा का नाम छन्द है। युक्ति अथवा आप्तोपदेश से जो वस्तु असंदिग्ध रूप से गृहीत होती है, उसे निश्चित वस्तु कहते हैं। जिस आकार में (जैसे अनित्य अथवा दुःखमय इत्यादि) कोई वस्तु निश्चित होती है, उसी आकार में ही उस वस्तु का चित्त में जो अभिनिवेश किया जाता है, अर्थात् यह वस्तु ऐसी ही है, दूसरे प्रकार की नहीं है, उसको अधिमोक्ष कहते हैं। साधक दीर्घकाल तक अभ्यास करके अधिमुक्ति-अवस्था के प्राप्त होने पर प्रवादिगण, अर्थात् दूसरे सिद्धान्त में आग्रह रखनेवाले लोग उसे अपने सिद्धान्त से हटा नहीं सकते। पूर्वानुभूत वस्तु को संस्तुत वस्तु कहते हैं। आलम्बन-ग्रहण के नष्ट न होने से असम्प्रमोष होता है। पूर्वगृहीत वस्तु का पुनः आलम्बन के आकार में स्मरण करना अभिलपनता है। इस अवस्था के प्रतिष्ठित होने पर चित्त दूसरे

इस प्रज्ञा या ज्ञान को विवेक कहते हैं। इसका विषय स्वलक्षण भी हो सकता है और सामान्यलक्षण भी हो सकता है। बौद्धदर्शन में इसका नामान्तर धर्मविचय है। यह सम्यक्, मिथ्या अथवा संकीर्ण हो सकता है। यह ज्ञान कदाचित् योग से उत्पन्न होता है, कदाचित् अयोग से उत्पन्न होता है और कभी-कभी इन दोनों प्रकारों से विलक्षण है। आप्तोपदेश, अनुमान और प्रत्यक्ष—इन तीनों को योग कहते हैं। इनमें आप्तवचन-जन्य बोध श्रुतमयी प्रज्ञा है, युक्ति-प्रयोग से उत्पन्न बोध को चिन्तामयी प्रज्ञा कहते हैं, और समाधिजन्य बोध भावनामयी प्रज्ञा कहलाता है अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास और मिथ्याप्रणिहित समाधि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अयोगज ज्ञान में परिगणित है। उपपत्तिप्रतिलम्भिक ज्ञान—अर्थात् सहज ज्ञान या वह ज्ञान, जो जन्म के साथ ही साथ उत्पन्न होता है—योगज नहीं है और अयोगज भी नहीं है। लौकिक-व्यवहारमूलक ज्ञान भी इसी कोटि का है। प्रज्ञा के द्वारा धर्म का प्रविचय करने से जो निश्चय प्राप्त किया जाता है, उससे संशय की निवृत्ति होती है।

ये पाँच धर्म, जिनका वर्णन किया गया है, सब परस्पर व्यावृत्त रहते हैं, अर्थात् जहाँ एक धर्म रहता है (जैसे अधिमोक्ष), वहाँ अन्यान्य धर्म नहीं रह सकते इन सर्वत्रग और विनियत धर्मों के अतिरिक्त श्रद्धादि ग्यारह कुशल धर्मों का वर्णन भी योगाचार-ग्रन्थों में मिलता है।

विज्ञानवादियों के मत से जो तीन प्रकार के विज्ञान-परिणाम की बात कही गई है, वही विकल्प है। अर्थ का आकार धारण करता हुआ विज्ञान ही समस्त विश्वरूप विकल्प बनता है। आलय-विज्ञान का, क्लिष्ट मन का और प्रवृत्ति-विज्ञान का स्वभाव के भेद से विकल्प तीन प्रकार का है। त्रैधातुक विश्व जिस प्रकार विज्ञानात्मक है, वैसे ही असंस्कृत धर्म भी विज्ञानात्मक ही है। अनधिष्ठित मूल विज्ञान में कारण के बिना विकल्पों की प्रवृत्ति कैसे होती है? इस प्रकार का प्रश्न हो सकता है। विज्ञानवादी का समाधान यह है कि आलय-विज्ञान में सर्वधर्मोत्पादन-शक्ति निहित है, अतएव यह सर्वबीजरूप है। आभ्यन्तरीय अन्योन्य संवाप से यह आलय-विज्ञान ही अनन्त आकारों को धारण कर तत्-तत् विकल्पों के रूप में परिणत होता है।

योगाचारों का निर्वाणस्वरूप धर्मधातु परमार्थ सत्य है। यह अद्वय या भेद-हीन तत्त्व है। इसमें ज्ञातृ-ज्ञेयरूप अथवा और किसी प्रकार का भेद नहीं है। योगी इस परिनिष्पन्नस्वभाव धर्मधातु का ध्यान करते-करते इसमें समाहित हो जाते हैं और इसके साथ तादात्म्य लाभ करते हैं, जल के जल में मिलने से जैसे तादात्म्य हो जाता है,

आकार में विक्षिप्त नहीं होता। वस्तु-गुण अथवा दोष का निरूपण ही उपपरीक्षण है। एकाग्रता होने पर चित्त के आलम्बन में भेद अथवा भेदाभास नहीं रह सकता। इससे, अर्थात् समाधि के ठीक-ठीक अभ्यास से यथाभूत परिज्ञान होता है, अर्थात् यथार्थ ज्ञान का उदय होता है। छन्द प्रभृति नियत धर्म का जो संक्षेप में वर्णन किया गया है, उसकी सार्थकता और प्रयोजनवत्ता कुछ दिन के अभ्यास से ही प्रतीत होने लगती है। छन्द के अभ्यास से वीर्य का उदय होता है, अधिमोक्ष से स्थिरता होती है, स्मृति से विक्षेप-निवृत्ति होती है और समाधि से ज्ञान का उदय होता है।

यह भी ठीक वैसे ही है। यही विशुद्ध अद्वैत-परिस्थिति है। परिकल्पितस्वभाव बाह्य जगत् है, जिसमें सत्त्व (द्रव्य), गुण आदि का आरोप होता है। परतन्त्रस्वभाव क्षणिक विज्ञानात्मक है।

शब्दाद्वयवाद वैयाकरणों का सिद्धान्त है। भर्तृहरि का वाक्यपदीय ही इस समय इस मत का मूल ग्रन्थ है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के दार्शनिक मत ने ही प्राचीन व्याकरणागम में स्थान प्राप्त किया था। परन्तु, इस समय उन सब आकर-ग्रन्थों की उपलब्धि नहीं होती, अतः प्राचीन सिद्धान्त के विषय में विशेष बातों को जानने का कोई उपाय नहीं है। व्याडि का बृहत्संग्रह ग्रन्थ, रावण का आगम और इसी प्रकार के अन्यान्य ग्रन्थों का पुनरुद्धार होने पर इस मत के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चलेगा। आचार्य शङ्कर से पहले ही इस मत की स्थापना हुई थी। हर्षचरित में अन्यान्य सम्प्रदायों के साथ-साथ शाब्दिकों का भी उल्लेख (पृ० ६३२, जीवानन्द-संस्करण) मिलता है। जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी (पृ० ५३१ से ५३६) में, शान्तरक्षित ने तत्त्व-संग्रह में एवं प्राचीन जैन दार्शनिकों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में शाब्दिकों के मत का उल्लेख किया है। ये लोग स्फोटवादी थे। सम्भव है कि मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में इसी के अनुरूप अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया हो। मण्डनमिश्र भी स्फोटवादी ही थे। परन्तु, शङ्कर, कुमारिल आदि ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार स्फोट-सिद्धान्त का खण्डन किया था। प्रकरण-पञ्चिका (पृ० १५४, १५५) में शालिकनाथ ने जिस अद्वैत-मत का खण्डन किया है, संभव है, वह मत मण्डनमिश्र का हो, आचार्य शङ्कर का नहीं है। भवभूति ने उत्तररामचरित में जो अद्वैतवाद का आभास दरसाया है, संभव है, वह भी मण्डन का ही अद्वैत हो, शङ्कर का नहीं है।[१]

वैयाकरण सिद्धान्त के अनुसार पश्यन्ती वाक् ही परा स्थिति रूप है। अक्षर, शब्दब्रह्म, परब्रह्म या परा वाक् इसी के नामान्तर हैं। ज्ञात होता है कि वैयाकरणों की दृष्टि में शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म में विशेष भेद नहीं है। शब्दब्रह्म में निष्णात होने पर परब्रह्म-प्राप्ति होती है, यह एक प्रकार से वैयाकरण लोग भी मानते हैं। परन्तु, अन्यत्र इसका जिस प्रकार उपपादन देख पड़ता है, व्याकरण आगम में उसका कोई स्थान नहीं है। पश्यन्ती वाक् चैतन्यस्वरूप है। वह अखण्ड, अभिन्न, अद्वय परमतत्त्व है। उसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार, देशगत तथा कालगत क्रम का आभास भी उसमें नहीं है। इसीलिए, यह किसी स्थान में अक्रमा और किसी स्थान में प्रतिसंहृतक्रमा कही गई है। नामान्तर से इसे आत्मतत्त्व भी कह सकते हैं।

१. मण्डनमिश्र और शालिकनाथ का समकालीन होना असंभव नहीं है। मण्डनमिश्र ने विधि-विवेक (पृ० १०९) में बृहती से जिन वचनों का उद्धार किया है—'कर्त्तव्यताविषयो नियोगः, न पुनः कर्त्तव्यतामाह।' वाचस्पतिमिश्र ने न्यायकणिका (पृ० १०९) में इनके व्याख्यान-प्रसङ्ग में कहा है—जरत्प्रभाकर और नवीन प्रभाकरों की व्याख्या भिन्न-भिन्न है। उन्होंने नवीनों की व्याख्या का जो उद्धरण दिया है, वह ऋजुविमला में मिलती है। अतएव, यह सिद्ध हुआ कि शालिकनाथ वाचस्पतिमिश्र के पूर्ववर्त्ती थे। उन्होंने बहुत स्थानों में कुमारिल के वचनों का उल्लेख किया है।

वैयाकरण लोग कहते हैं कि यद्यपि इसमें भेद अथवा क्रम की स्फूर्त्ति नहीं है, तथापि यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इसमें क्रमशक्ति का समावेश है—'प्रतिसंहृतक्रमापि अन्तः सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती।' व्याकरण-सिद्धान्त में पश्यन्ती चलाचल, संनिविष्टज्ञेयाकार, प्रतिलीनाकार, निराकार, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास, संसृष्टार्थप्रत्यवभास, प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभास आदि विभिन्न प्रकार के विशेषणों से विभूषित देखी जाती है।

रूप, रस आदि विषयों में अर्वाग्दर्शियों की जो विक्षिप्त बुद्धि उदित होती है, वह भी वस्तुतः वाक् से अभिन्न है। जो लोग शब्दयोग का अवलम्बन करते हुए चित्त का समाधान करनेमें समर्थ हुए हैं, उन योगियों को पश्यन्ती वाक् का स्वरूप अनावृत दीख पड़ता है, परन्तु जिनको वाग्योग में सिद्धि प्राप्त नहीं हुई, अतएव जिनकी दृष्टि में पश्यन्ती के शुद्धरूप का प्रतिभास नहीं हुआ, उन लोगों के लिए पश्यन्ती आवृतस्वरूपा ही है, अर्थात् यह अपभ्रंशों से संसृष्ट ही उन्हें प्रतीत होती है—

ते तामक्रमां वाचं वेदयन्ते
अपभ्रंशैर्विविक्तां यथा वैयाकरणाः।

ज्ञान में जैसे सर्वदा ज्ञेय का आकार अनुस्यूत रहता है; क्योंकि लौकिक ज्ञान कदापि निर्विषयक नहीं हो सकता, उसी प्रकार शब्द में भी—अर्थात् पश्यन्ती वाक् के स्वरूप में भी—सर्वदा अर्थ का आकार अनुस्यूत ही रहता है। सृष्टि-काल में यह आकार विभिन्न-सा प्रतिभासमान होता है। पश्यन्ती वाक् को सन्निविष्टज्ञेयाकार कहने का यही हेतु है। परन्तु, आकार रहने पर भी अव्यक्तता के कारण उनका निश्चय नहीं होता। इसीलिए, कहीं-कहीं पश्यन्ती प्रतिलीनाकार भी कही गई है। सूक्ष्मता के कारण जब वाक्-तत्त्व का ही अवधारण नहीं होता, तब तदाश्रित धर्मों का तो कहना ही क्या है। इसीलिए, कहीं-कहीं यह निराकार भी कही जाती है। परस्पर-विरुद्ध स्वभाववाले अर्थों का आभास इसमें होने के कारण यह परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास रूप से वर्णित होती है। पश्यन्ती के स्वरूप में शब्द और अर्थ का परस्पर पार्थक्य नहीं रहता। दोनों की ही संभिन्नरूप से प्रतीति होती है, इसीलिए यह संसृष्टार्थप्रत्यवभास कही जाती है। और, जिस समय यावतीय अर्थों की प्रतीति का उपराम हो जाता है, उस समय पश्यन्ती की अवस्था प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभास कही जाती है।

यह पश्यन्ती-रूप शब्दतत्त्व-विवक्षा से, अर्थात् अर्थ-प्रतिपादन की इच्छा से मनोविज्ञान का रूप धारण करता है। इसी का नाम मध्यमा वाक् है—यह अन्तःसङ्कल्पस्वरूपा है; क्योंकि इस अवस्था में बिन्दु और नादरूप प्राण और अपान वायु के उल्लास से क्रम का आविर्भाव होता है। इस आभासमान क्रम में क्रमहीन पश्यन्ती अथवा सुषुम्णा प्रच्छन्न रूप में अन्तराल में रहती है। मध्यमा वाक् में जो क्रम का परिग्रह होता है, वह आभासमान है; क्योंकि बुद्धि जब एक और अभिन्न है तथा शब्द जब बुद्धि से अतिरिक्त नहीं है, तब भेदमय क्रम को आभासमान ही कहना पड़ेगा, उसे वास्तविक नहीं कह सकते। परमार्थ दृष्टि से उसमें क्रम नहीं है। प्राण की सूक्ष्म वृत्ति के अनुसार इस क्रम का अविर्भाव होता है। परन्तु, जिस समय कारण-समूह के अभिघात से

प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होता है, उस समय वैखरी वाक् का आविर्भाव होता है। इसमें स्थूलत्व के कारण क्रम स्पष्ट ही मालूम पड़ता है। वस्तुतः, पश्यन्ती ही मुख में आकर कण्ठादि स्थान के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। क्रमशः बाह्यार्थ-वासना अथवा अविद्या के प्रभाव से यह घट, पट आदि अर्थ के रूप में विवृत होकर चक्षुरादि इन्द्रियों की गोचर होती है; अर्थात् शब्दब्रह्म अनादि अविद्यावासनात्मक उपप्लव के कारण भेद को प्राप्त होकर अर्थरूप में विवर्त्तित होता है। वस्तुतः, वाचक से पृथग्भूत वाच्य है ही नहीं। वाच्यवाचक-विभाग काल्पनिक है। परन्तु, काल्पनिक या अविद्याजन्य होने पर भी विद्या के उपाय-रूप में इसका ग्रहण करना पड़ता है। ज्ञान-मात्र ही वागात्मक है, इसीलिए वाक्स्वरूप ही परमार्थ सिद्धान्त है।

पूर्वोक्त पश्यन्ती वैयाकरणों का ब्रह्मतत्त्व है। यह निराकार, नियतरूप-हीन, देश, काल आदि परिच्छेद-रहित, अक्रम तथा अनवच्छिन्न है—यही अद्वैततत्त्व है। क्रम अथवा भेदाभास ही संसार का रूप है—क्रमहीन पश्यन्ती स्वरूपतः संसार से उत्तीर्ण है।[1]

प्राचीन काल में शैवागम में अद्वैतवाद का विशेष विवरण मिलता है। काश्मीर में प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्ददर्शन के नाम से शैवागम, शिवसूत्र, शिवदृष्टि आदि ग्रन्थों के आधार पर जिस दर्शनशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ था, वह अद्वैत प्रस्थान के ही अन्तर्गत है, परन्तु शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद से किसी-किसी अंश में वह विलक्षण है। शङ्कराचार्य शैवागम मानते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र तथा सुरेश्वर का मानसोल्लास देखने से यह सिद्ध होता है। परन्तु, स्वच्छन्दतन्त्र और क्षेमराज-कृत उसकी उद्योतटीका तथा इस प्रकार के और-और शैवागम के ग्रन्थों के समा-लोचन से शिवाद्वैतवाद का वैशिष्ट्य कुछ-कुछ हृदय में आता है। आगम-मत में आत्मा का परम रूप चिदानन्दघन, स्वातन्त्र्यसार तथा परमशिवात्मक है। आगम-विदों के मत से सांख्य के पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्मतत्त्व में भी आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकाशमान नहीं है; क्योंकि पुरुष बहुसंख्य हैं और ब्रह्म विमर्शहीन है। इस दृष्टि से सांख्यशास्त्र के पुरुष की अवस्था एक प्रकार विज्ञानकैवल्यावस्थामात्र है। अवश्य, यह कैवल्यावस्था है, परन्तु यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। विवेकख्याति-रूप विज्ञान से इस कैवल्य का आविर्भाव होता है, इसीलिए इसका नाम विज्ञानकैवल्य कहा जा सकता है। हाँ, इसमें भी दो मार्ग हैं—एक अधः और दूसरा ऊर्ध्व। अधो-मार्ग में—यह अवस्था सांख्य के कैवल्य से अभिन्नप्राय है—पशुत्व की निवृत्ति नहीं होती, इसलिए कैवल्य होने पर भी यह अशुद्धावस्था है। इस अवस्था में आणव मल रह ही जाता है। यह अवस्था माया के अन्तर्गत है। परन्तु, दीक्षा के प्रभाव से जिस समय

---

१. व्याकरण-सिद्धान्त के प्रधान आचार्य भर्त्तृहरि अद्वैतवादी थे, यह तो स्पष्ट ही है। उमामहेश्वरने स्वरचित तत्त्वदीपिका नाम के ग्रन्थ में लिखा है—

"महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्त्तृहरिरप्यद्वैतमेवाभ्युपगच्छति यथोक्तं शब्दकौस्तुभे स्फोटवादान्ते—तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वा स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम्। आह च—शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।"—Madras Triennial Catalogue, No. 5136.

जीव समना के ऊपर उत्थित होकर समग्र अध्वाओं का अतिक्रमण करते हैं, उस समय कार्म मल, मायामल और आणव मल इन तीनों प्रकार के मलों के समष्टि रूप निखिल बन्धन टूट जाते हैं, सब तरह की वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है। उस समय आत्मा अपने सत्तामात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह सत्ता प्रकाशात्मक है, इसके प्रतियोगी भावान्तर नहीं हैं। यह शुद्ध विज्ञान कैवल्यावस्था है और सांख्य के कैवल्य से विशिष्ट है। इस अवस्था में परम शिव के सदृश सामरस्य अवस्थितिमय ज्ञानक्रिया के न रहने पर भी आत्मा में स्वभावानुरूप ज्ञानक्रिया की ही अभिव्यक्ति रहती है। ज्ञानक्रिया ही चैतन्य है, अतएव इस प्रकार के विशुद्ध कैवल्य में चैतन्य की किञ्चित् स्फूर्त्ति रहने के कारण यह सांख्य के मलिन कैवल्य से विशिष्ट है; क्योंकि आगमविदों के मतानुसार सांख्योपदिष्ट कैवल्य में ज्ञानक्रिया नहीं रहती। यह अवस्था माया के ऊपर की है, नीचे की नहीं है। जिस ज्ञान के प्रभाव से कैवल्य की प्राप्ति होती है, वह सब अवस्थाओं का संवेदनात्मक ज्ञान है। अर्थात्, जबतक आदि से अन्त तक समस्त अध्वाओं का अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष न किया जाय, तबतक उस शुद्धकैवल्यावस्था की अनुभूति नहीं हो सकती। परन्तु, जिस ज्ञान के प्रभाव से सांख्य का कैवल्य आविर्भूत होता है, वह इससे भिन्न प्रकार का ज्ञान है। वह माया और पुरुष का विवेकात्मक ज्ञान है। इस प्रकार, कैवल्य में ज्ञेय से सम्बन्ध न रहने के कारण यह सदाशिवतत्त्वान्तर्गत मन्त्र तथा मन्त्रेश्वर की अवस्था से भी पृथक् है। अथच, इसमें स्वच्छन्द, चिदानन्दघन, परमशिवावस्था की भी अभिव्यक्ति नहीं है। आत्मा इस भूमि में बोद्धा-मात्र है। आत्मव्याप्ति के द्वारा आत्मा इस विशुद्ध कैवल्य में व्याप्त होकर उन्मना-पद में आरोपित होता है और उसके अनन्तर चिदानन्दघन शिवमय परम-तत्त्व में प्रतिष्ठित होता है। शुद्ध कैवल्य में समना-पर्यन्त सभी तरह के बन्धन उपशान्त रहते हैं। परन्तु, उपशम का संस्कार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। उस समय में उसी को अवच्छेदक मानना पड़ेगा। इसलिए, कैवल्यावस्था भी सोपाधिक कोटि में गिनी जा सकती है। परन्तु, विद्यामयी उन्मना शक्ति की व्याप्ति के प्रभाव से जब हम अवच्छेदक की निवृत्ति हो जाती है, तब अनवच्छिन्न, स्वतन्त्र, चिन्मय तथा आनन्दमय शिव-भाव का उदय होता है। यह दशा विश्वमयी होती हुई भी विश्व से उत्तीर्ण है।

शैवाचार्य सांख्य-योग के पुरुष तथा वेदान्त के ब्रह्म को आत्मा की अपरा-वस्था में मानते हैं। इनके मत में ब्रह्म आत्मा की परापरावस्था भी नहीं है, परावस्था की तो बात ही क्या है? परमशिवावस्था ही आत्मा की परावस्था है। शैव लोग कहते हैं कि तादृशावस्था वेदान्तादि शास्त्रों में वर्णित नहीं हुई है। वस्तुतः, वही अद्वय-तत्त्व है। जीव की पुर्यष्टक अथवा लिङ्गशरीर में 'अहं'-प्रतीति रहती है। जबतक जीव की आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति तथा शिवव्याप्ति पूर्णतया नहीं होती, तबतक आत्मोपासना से ज्ञान की प्राप्ति होने पर परमशिवपद में प्रतिष्ठित होने की सम्भावना नहीं है—

"तैः शैवपाशुपतलाकुलादिभिः नानात्मवादिभिः शिवत्वं कल्पितम्। आत्मनां व्यापकत्वनित्यत्वामूर्त्तत्वचिद्रूपत्वाद्यनन्तधर्मणामेव शिवैकरूपाणामपि केनचित् कल्पनामात्रेण निर्युक्तिकेन भिन्नशिवरूपत्वमुच्यते। ते सर्वे व्याख्यातव्यापिकात्मो-

पासकाः शैवेऽस्मिन् अद्वयनये परमशिवं व्याख्यातस्वरूपं न गच्छन्ति, न तन्मयीभवन्ति । सांख्ययोगवेदान्तवाद्यादयस्तु अपरदशावस्था एव, इति केन तेषामियत्पदप्राप्तिसम्भावनापि ।'' (स्वच्छन्दतन्त्र के ऊपर क्षेमराज-कृत उद्योतटीका, ४।३९१-३९२)।

शिवाद्वय-मत में परमार्थ स्वतन्त्र चिदात्मा है, इसीलिए अज्ञान का स्वरूप इस दृष्टि से शाङ्करमत से किञ्चित् भिन्नरूप से वर्णित होता है। इस मत में भी अज्ञान ही संसार का एक मात्र हेतु है और ज्ञान मोक्ष के प्रति एकमात्र कारण है। इस आगम में मूल अज्ञान आणव मल नाम से प्रसिद्ध है। बोध अथवा चिद्भाव में स्वातन्त्र्य की हानि एक प्रकार का अज्ञान है तथा स्वातन्त्र्य में बोध का अभाव अथवा जडत्व दूसरे प्रकार का अज्ञान है। अज्ञान अपूर्ण ज्ञान का नामान्तर है। एकमात्र परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से ही इसका आविर्भाव होता है। यह परमेश्वर स्वरूपगोपनात्मक है। इससे आत्मा तथा अनात्मा का अन्यथा अभिमान होता है। पहले जो अज्ञान दो प्रकार का बताया गया है, उसी को तान्त्रिक परिभाषा से पौरुष तथा बौद्ध अज्ञान कहते हैं। दीक्षा प्रभृति के द्वारा पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने से और तदनन्तर बौद्ध ज्ञान के आविर्भाव होने से जीवन्मुक्ति दशा का आविर्भाव होता है। केवल बौद्ध ज्ञान से विशेष फल नहीं होता। परन्तु, पौरुष ज्ञान निरपेक्ष होता हुआ मोक्ष का कारण होता है। दीक्षा में पुरुषगत पाश का ही शोधन होता है, बुद्धिगत पाश का शोधन नहीं होता। बौद्ध अज्ञान दुरध्यवसायात्मक है। बौद्ध अज्ञान कर्म का कारण नहीं है, परन्तु कर्म ही बौद्ध अज्ञान का कारण है। केवल बौद्ध अज्ञान के निवृत्त हो जाने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर बौद्ध ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। यद्यपि यह शुद्ध है तथापि यह विकल्पनात्मक है और विकल्पमात्र ही संसार है। बुद्धिगत अज्ञान के—अनिश्चय तथा विपरीत ज्ञान ये दो स्वभाव हैं। विकल्प अथवा सङ्कुचित ज्ञान ही पुरुषगत अज्ञान का स्वरूप है। इसीलिए, संसार के मूल कारण-रूप में इसका निर्देश किया जा सकता है। दीक्षादि से इसकी निवृत्ति हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है। परन्तु, अनध्यवसाय-रूप बौद्ध अज्ञान जबतक निवृत्त नहीं होगा, तबतक दीक्षा की सम्भावना ही कहाँ ? तत्त्वशुद्धि तथा शिवसंयोजन ही दीक्षा का स्वरूप है। हेय तथा उपादेय का पहले निश्चय होने से ही यह हो सकती है। इसीलिए, इस दृष्टि से अध्यवसायात्मक ज्ञान ही प्रधान माना जाता है। पुनः-पुनः अभ्यास के फल से बौद्ध ज्ञान पौरुष अज्ञान का भी नाश कर देता है। विकल्प ज्ञान की पुनः-पुनः आवृत्ति से पर्यवसान में अविकल्पक ज्ञान का आविर्भाव होता है। आत्मा प्रकाशस्वरूप है, इसमें विकल्पजन्य सङ्कोच के न रहने से इसे शिवस्वभाव मान सकते हैं। अतएव, सर्वथा सभी वस्तुओं में निश्चयात्मक सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है।

जिस समय पुरुष का पशुसंस्कार क्षीण हो जाता है और उसके आणव, कार्म तथा माय इन तीनों प्रकार के मलों का क्षय हो जाता है, उस समय सब तरह के बन्धनों की निवृत्ति हो जाने से पुरुष परा संवित् के साथ तादात्म्य-लाभ करता है।

उस क्षण उसमें निर्विकल्पक ज्ञान का आविर्भाव हो जाता है। 'पूर्णोऽहम्' इत्याकारक विमर्श ही इसका स्वरूप है। कृत्रिम अहंकार प्रभृति विकल्प के अन्तर्गत हैं। परन्तु, इसमें किसी प्रकार का विकल्प नहीं रहता—इसी को पौरुष ज्ञान कहते हैं। दीक्षादि से पौरुष अज्ञान की निवृत्ति होने पर तादृश अज्ञानाभावरूप आत्मज्ञान अभिव्यक्त नहीं हो सकता; क्योंकि शरीरात्मक कार्म मल आत्मज्ञान की अभिव्यक्ति में प्रतिबन्धक है। देहान्त होने पर उक्त प्रतिबन्ध के न रहने के कारण आत्मज्ञान अभिव्यक्त होता है—शिवत्व का लाभ हो जाता है।

परमेश्वर की शक्ति का संचार (शक्तिपात) दीक्षा के निमित्त है और दीक्षा मुक्ति का निमित्त है—

तस्मात् प्रथितादस्मात् परस्थानविबोधनात्।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि॥

शक्ति-संचार के तीव्रत्व में तारतम्य हो सकता है। तीव्रतम शक्ति के संचार से अनुपायादि-क्रम से दीक्षा होती है, जिससे उसी क्षण कैवल्य प्राप्त हो जाता है।

शिवाद्वयशास्त्र के श्रवण से जिस बौद्ध ज्ञान का उदय होता है, उससे अज्ञान-जृम्भित बौद्ध ज्ञान विलीन होता है और जीवन्मुक्ति का उदय होता है। परन्तु, अदीक्षित को यह बौद्ध ज्ञान हो ही नहीं सकता; क्योंकि उसे तो शास्त्र के श्रवण में ही अधिकार नहीं है। इसीलिए, उसे शास्त्रावबोधनिमित्तक बौद्ध ज्ञान नहीं हो सकता। विशेषतः जिसका पौरुष अज्ञान निवृत्त नहीं हुआ है, उसको बौद्ध ज्ञान से तादृश फल भी नहीं मिल सकता।

शक्त्यद्वयसिद्धान्त के विषय में इस समय प्रायः सभी लोग विस्मृत हो गये हैं, परन्तु प्राचीन काल में इस सिद्धान्त का प्रभाव दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य के ऊपर था। हम पहले संक्षेप में शिवाद्वयवाद के विषय में कुछ कह आये हैं। वस्तुतः शिवाद्वयसिद्धान्त से शाक्ताद्वैतमत का मूलतः कोई विशेष भेद नहीं है, जो कुछ है वह उपासना का बहिरङ्ग भेदमात्र है। इसीलिए, सोमानन्द-कृत शिवदृष्टि की टीका में उत्पलदेव ने शाक्तों का **'स्वयूथ्यानद्वयवादिनः'** कहकर वर्णन किया है, खण्डन नहीं किया। उसमें लिखा है—

यस्या निरुपाधिज्योतीरूपायाः शिवसंज्ञया।
व्यपदेशः परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे॥

शाक्त लोग शक्तिव्यतिरिक्तरूप से शक्तिमान् का स्वीकार नहीं करते। वे लोग कहते हैं कि शक्तिमान् अथवा शिव वस्तुतः शक्ति का ही उपाधिहीन परम अवस्थामात्र है।

शाक्ताद्वैत का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए पाठकों को चाहिए कि मालिनीविजय, स्वच्छन्दतन्त्र, शक्तिसूत्र, परात्रिंशिका, तन्त्रालोक, मातृकाचक्रविवेक, योगिनीहृदय, त्रिपुरारहस्य (ज्ञानखण्ड), वरिवस्यारहस्य आदि ग्रन्थ देखें। यद्यपि इनमें दो-एक ग्रन्थों के सिवा शेष सभी ग्रन्थ शङ्कर से अर्वाचीन ही हैं, तथापि इससे सम्प्रदाय के अविच्छेद के कारण शाक्त सिद्धान्त की प्राचीन धारा का परिचय मिल जायगा।

प्राचीन अद्वैतवाद की आलोचना के सिलसिले में नाथ-सम्प्रदाय के विषय में भी दो-एक बातें कह देना अप्रासङ्गिक न होगा। नाथ आचार्य कहते हैं कि इस मत के आदि गुरु नाथरूपी परमेश्वर हैं। मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, जालन्धर, चर्पटी, चतुरङ्गी, विचारनाथ प्रभृति सिद्धाचार्यों ने अपने अलौकिक जीवन तथा ज्ञान-ऐश्वर्य के प्रभाव से इस मत का बहुत प्रचार किया था। अभिनवगुप्ताचार्य ने तन्त्रालोक में जो अर्द्धत्र्यम्बकमार्ग अथवा तुरीयमार्ग का उल्लेख किया है, किसी के मत में, वह नाथ-मार्ग का ही प्राचीन रूप है। किसी-किसी स्थान में यह मत अतिमार्ग नाम से भी पुकारा जाता था। भैरव और भैरवी के अनन्तर लौकिक जगत् में मीननाथ (मच्छन्द) ही इसके आदि प्रचारक थे। ज्ञात होता है कि कामरूपक्षेत्र[1] इस मत का आदिप्रचार स्थान है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति, सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, विवेकमार्त्तण्ड, नाथसूत्र, गोरक्ष-उपनिषद्, निरञ्जनपुराण, योगबीज, अमनस्क आदि ग्रन्थ इसी सम्प्रदाय के हैं। किन्तु, ये सब ग्रन्थ शङ्कर से प्राचीन हैं या नहीं, इसमें संशय है। अवधूत-सम्प्रदाय के साथ नाथों का सम्बन्ध था। यद्यपि कहीं-कहीं कापालिकों की निन्दा भी इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में दीख पड़ती है, तथापि कुछ हेतुओं से अनुमान किया जाता है कि किसी विषय में कापालिकों के साथ नाथों का सम्बन्ध भी था। यह प्रकृष्ट अद्वैतवाद है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। आचार्य नित्यनाथ ने सिद्धसिद्धान्तपद्धति में सृष्टि के पूर्व की स्थिति का जो वर्णन किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने लिखा है कि उस समय ब्रह्मा आदि देवगण नहीं थे, पृथिवी, जल आदि पाँच भूत भी नहीं थे, देश और काल भी नहीं थे, वेद तथा प्राज्ञ, चन्द्र, सूर्य, विधि, कल्प और नियति ये सब कुछ भी नहीं थे, उस समय केवल एकमात्र स्वप्रकाश सत् वस्तु ही थी, उसी को परम पद[2] कहते हैं। उसका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। इस ग्रन्थ में कर्मखण्ड, ज्ञानखण्ड, तत्त्वखण्ड और निरञ्जनखण्ड, इस क्रम से अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्त का निर्णय किया गया है। नाथमत में परतत्त्व या परब्रह्म अव्यक्त, अनाम और अनादिनिधन कहा गया है। उसकी एक स्वरूपभूता शक्ति (निजशक्ति) है, यह उससे सर्वथा अभिन्न है। साधारणतः इसका इच्छारूप से ज्ञान किया जाता है। स्वातन्त्र्य ही उसका स्वरूप है। उससे उन्मेषफलस्वरूप पराशक्ति का आविर्भाव होता है। परा शक्ति का विकास अपरा शक्ति है। अपरा भूमि के अनन्तर अहन्ता की वृद्धि से सूक्ष्म शक्ति का उल्लास होता है और उसी से संवेदनशीला कुण्डलिनी शक्ति का उन्मेष होता है। इन

---

१. तन्त्रमार्ग के साथ-साथ कुलमार्ग भी अनादिकाल से ही प्रचलित है। यह कुलमार्ग अतिनय अथवा कालीनय भी कहीं-कहीं कहा गया है। रहस्यविद् ज्ञानियों में यह अर्द्धत्र्यम्बकमठिका नाम से प्रसिद्ध था। भैरव (दक्षिणपीठनायक)-भैरवी—सिद्धमीन या मच्छन्द, इस क्रम से यह मत जगत् में पहले प्रवृत्त हुआ था। तन्त्रालोक की टीका में मच्छन्द तुरीयनाथ नाम से कहे गये हैं; क्योंकि ये चतुर्थ मठ के अध्यक्ष थे।

२. न ब्रह्मा विष्णुरुद्रा न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो, नाग्निर्वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः। नो वेदा नैव प्राणा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पः, स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्त्ते ॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति, प्रारम्भ)

पाँच प्रकार की शक्तियों में से प्रत्येक शक्ति में पाँच-पाँच गुणों के रहने से समग्र शक्तितत्त्व में पञ्चविंशति गुण माने जाते हैं। शक्ति के स्फुरण की पूर्वावस्था में ब्रह्म निर्गुण है—शक्ति की स्फूर्त्ति तथा गुणों का आविर्भाव समार्थक है। शक्ति के सदृश अनादि पिण्ड भी स्वरूपतः निर्गुण है, परन्तु शक्तिविभाग के साथ-साथ उससे क्रमशः गुणमय परमानन्द, प्रबोध, चिद्रूप, प्रकाश तथा सोऽहं भाव का विकास होता है। यहाँ भी प्रत्येक भाव में पाँच-पाँच गुणों का आविर्भाव होता है। इसीलिए, सृष्टिमार्ग में अनादि पिण्ड भी पंचविंशतिगुणविशिष्ट हो जाते हैं। इस विषय का विस्तृत विवरण यहाँ पर देना अनावश्यक है।

शङ्कर से परवर्त्ती प्राचीन वेदान्त—शङ्कर के पश्चात् भट्टभास्कर तथा यादवप्रकाश का नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है। भट्टभास्कर ने त्रिदण्डी मत के अनुसार वेदान्त-सूत्र पर एक भाष्य की रचना की थी। इनका आविर्भाव-काल निश्चित नहीं है। परन्तु, नवम शताब्दी में ये जीवित थे, ऐसा अनुमान होता है।[1] ये भी भर्त्तृप्रपञ्च के सदृश समुच्चयवादी थे। भर्त्तृप्रपञ्च का मत समुच्चयवाद है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। भास्कर का मत यह है कि केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं हो सकता, कर्म की भी आवश्यकता है। ज्ञान की उत्पत्ति कर्म से नहीं होती, श्रवण-

---

१. कोई-कोई लोग इन्हें दशम शताब्दी का लेखक समझते हैं (द्रष्टव्य—बड़ौदा से प्रकाशित आनन्दज्ञान-कृत वेदान्त के तर्कसंग्रह की भूमिका, पृ० १६)। उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि के द्वितीय स्तवक में 'ब्रह्मपरिणतेरिति भास्करगोत्रे युज्यते' कहकर उनके नाम तथा ब्रह्म-परिणामवाद का उल्लेख किया है। उदयन ने ९०६ शकाब्द या १०८४ खीष्टाब्द में लक्षणावली की रचना की थी, अतएव दशम शताब्दी के पूर्व, अथच शङ्कर के अनन्तर इनका आविर्भाव हुआ था। परन्तु, किसी-किसी का मत है कि भास्कर शङ्कर के समकालीन थे और उसी समय उन्होंने शङ्कर मत का खण्डन किया था। इन लोगों के मत में शङ्कराचार्य ने गीताभाष्य के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में जो ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन किया है, वह भास्कर का मत है। भास्कराचार्य वाचस्पति के पूर्ववर्त्ती थे, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्र के भाष्य (३। ३। २९) में भास्कर का वचन है—'यदि पुण्यमपि निवर्त्तते किमर्थां तर्हि जातिः? इत्याशङ्क्य उच्यते' इत्यादि। वाचस्पतिमिश्र ने भामती में उसका उल्लेख किया है। यथा—'ये तु पुण्यमपि निवर्त्तते किमर्थां तर्हि जातिः, इत्याशङ्क्य सूत्रमवतारयन्ति' इत्यादि। यहाँ पर 'ये' इस पद से भास्कराचार्य ही अभिप्रेत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है; क्योंकि यह वचन भास्कर-भाष्य में मिलता है। वाचस्पति का समय ८९८ संवत् या ८४१ ई० है। इससे यह सिद्ध होता है कि भास्कर इससे पहले ही विद्यमान थे और इससे पहले ही उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की थी। गीता के ऊपर एक भास्कर-भाष्य की पुस्तक मिलती है। इसकी हस्तलिखित प्रति गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, बनारस में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त दिवाकरभट्ट के पुत्र श्रीकण्ठ के शिष्य एक और भट्टभास्कर नामक आचार्य का पता चलता है। उन्होंने शिवसूत्र पर एक वार्त्तिक बनाया था। वे काश्मीर के शैवाचार्यों में अन्यतम थे। इनका जन्मकाल अभिनवगुप्त के पूर्व है। इन्होंने भी गीता के ऊपर एक भाष्य की रचना की थी, किन्तु वह पुस्तक इस समय उपलब्ध नहीं है। गीता के अ० १८ के श्लोक २ की टीका में अभिनवगुप्ताचार्य ने एक और भास्कर का उल्लेख किया है। ये वेदान्ती भास्कर थे अथवा शैव भास्कर थे, इसका निश्चय नहीं है।

मनन-रूप साधन से ही होती है। अतएव, जैसे ज्ञान के लिए यावज्जीवन शम, दम आदि का अनुष्ठान आवश्यक है, नहीं तो अपवर्ग नहीं मिल सकता, वैसे ही उसके लिए आश्रम-कर्मानुष्ठान भी आवश्यक है। कर्मों का त्याग किसी अवस्था में उचित नहीं है। श्रुति में कहीं पर भी सभी कर्मों के त्याग का उपदेश नहीं मिलता। 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति', इस श्रौत वचन से शाङ्करसम्प्रदायवाले अनुमान करते हैं कि निखिल कर्म का त्याग ही श्रुति का सिद्धान्त है। परन्तु, भास्कर का कथन यह है कि इसमें कर्मत्याग का प्रसङ्ग ही नहीं है। इसमें पुत्रादिलिङ्गक गार्हस्थ्य आश्रम से आश्रमान्तर की प्रतिपत्ति की बात कही गई है। स्मृति में इसकी व्यवस्था भी है। उसीके अनुसार इस वचन का आशय समझना चाहिए, नहीं तो 'भिक्षाचर्य' पद से बौद्ध, जैन प्रभृति अवैदिक सम्प्रदायों का भिक्षाचरण मानना पड़ेगा। स्मृति में त्रिदण्ड, यज्ञोपवीत प्रभृति की व्यवस्था उत्तम आश्रम के लिए है। सर्वकर्मत्यागी केवल ज्ञान से ही अपवर्ग-लाभ करते हैं, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि श्वेताश्वतर का वचन वस्तुतः इसका समर्थन नहीं करता—

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥

उपनिषद् का यह वचन कर्मत्याग के अनुकूल नहीं माना जा सकता; क्योंकि आश्रमलङ्घनकारी को अत्याश्रमी कहने से भाषा का अपव्यवहार ही होता है। अपराधी प्रायश्चित्तार्ह है, उसकी योग्यता किसी दृष्टि से नहीं मानी जा सकती। और, पक्षान्तर में यदि 'अत्याश्रमी' शब्द से ज्ञानी का ग्रहण किया जाय, तो वह भी ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि उस अवस्था में 'प्रोवाच' पद का प्रयोग नहीं हो सकता। भास्कर ने युक्तियों से सिद्ध किया है कि कर्म का त्याग नहीं हो सकता, और शास्त्र का भी उस प्रकार का अभिप्राय नहीं है। वेदान्तवाक्य से केवल अर्थज्ञान होता है, उससे सांसारिक सब कुछ निवृत्त नहीं होता। जबतक उपासना अथवा निदिध्यासन आदि नहीं किये जाते, तबतक क्लेशों का बीज दग्ध नहीं होता। विद्या अथवा ज्ञान अपवर्ग के उपयुक्त साधन हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु, भास्कर के मत में विद्या का फल शङ्करमत से विलक्षण है, क्योंकि भेदज्ञान-रूप अविद्या की निवृत्ति करके विद्या मुक्ति की साधक नहीं होती है। वाक्यार्थज्ञान से निखिल द्वैतज्ञान निवृत्त नहीं होता। जबतक शरीर का सम्बन्ध रहता है, तबतक शरीर, इन्द्रिय, मन प्रभृति से रूप, रस आदि का ज्ञान अवश्य ही उत्पन्न होगा। परन्तु, देहपात के अनन्तर भेदज्ञान पूर्ण रूप से निवृत्त हो जाता है और सर्वज्ञत्व प्रभृति पारमेश्वर धर्मों का आविर्भाव होता है—लौकिक तथा अलौकिक सभी कर्म उस समय निवृत्त हो जाते हैं। अतएव, जबतक 'मेरा शरीर' इत्याकारक बोध रहेगा, तबतक आश्रमोचित कर्म करना ही पड़ेगा। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति औपाधिक हैं। जबतक उपाधि—शरीर—वर्त्तमान रहेगी, तबतक अपाय नहीं हो सकता। परन्तु, ज्ञानी को कर्त्तृत्व में अभिमान नहीं रहता और अज्ञान के लिए अभिमान स्वाभाविक है, यही दोनों में भेद है।

भास्कर के मत में जीवद्दशा में ठीक-ठीक मुक्ति नहीं होती। रागद्वेष से किसी प्रकार से छुटकारा अवश्य मिल जाता है, किन्तु आत्यन्तिक मुक्ति अथवा ब्रह्मभावापत्ति नहीं होती। उसके लिए ज्ञान और कर्म दोनों ही अपेक्षित हैं। ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, परन्तु भेदज्ञान निवृत्त नहीं होता। प्रारब्ध कर्म रह ही जाता है। पूर्व जन्मों का—वर्त्तमान जन्म के ज्ञानोदय के पूर्ववर्त्ती समय का—संचित कर्म नष्ट होता है, तथा ज्ञानोदय के उत्तरकालीन कर्म से सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु, ज्ञानशक्ति से प्रारब्ध का नाश नहीं होता है। यथा—'अग्निः अभ्रपटलं न दहति, इन्धनं तु दहति, कोऽत्र पर्यनुयुज्येत, विचित्रा हि शक्तयो भावानाम्।' प्रारब्ध का नाश न होने से देहावस्थाकाल में जीव का कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व अनुवृत्त ही रह जाता है। अतएव, कर्मसहित विद्या ही अपवर्ग की साधन है, केवल विद्या नहीं—'समुच्चिताभ्यामेव ज्ञानकर्मभ्यामविद्यानिवृत्तिद्वारेण अपवर्गो व्यज्यते नान्यतरेण।'

भास्कर कहते हैं कि श्रवण और मनन का पुनः-पुनः अभ्यास करने से 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ की व्युत्पत्ति होकर आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। यह सबको नहीं होता। जिसके चित्त में संस्कार अपटु है, वह एक ही बार में ब्रह्मात्मभाव का अनुभव नहीं कर सकता। जबतक अविद्या रहती है, तबतक कर्त्तव्य रह ही जाता है। इसके निवृत्त हो जाने पर जब ब्रह्मभाव का उदय होता है, तब किसी प्रकार का कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। भास्कर का कहना है कि साक्षात्कारात्मक ज्ञान के लिए केवल एक ही बार श्रवण अथवा मनन करना पर्याप्त नहीं है।

उनके मत में प्रपञ्च परमात्मा का अवस्था-विशेष है। यह सत्य है तथा भेद भी सत्य है। इसका आश्रयण करके ही सभी व्यवहार निष्पन्न होते हैं। जीवात्मा तथा परमात्मा में स्वभावतः, अभेद ही है, परन्तु उपाधि के कारण भेद आ जाता है। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है—यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्म-रूप में स्थिति है।

भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। ब्रह्म के शक्ति-विक्षेप से ही सृष्टि और स्थिति का व्यापार निरन्तर चल रहा है। जैसे, सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी अपनी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियों का विक्षेप करते हैं। ब्रह्म के एतादृश परिणाम-व्यापार का फल ही यह जगत् है। परिणाम ब्रह्म का स्वभाव है। निरवयव वस्तु का परिणाम नहीं हो सकता, यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि परिणाम का एकमात्र प्रयोजक स्वभाव है, सावयवत्व नहीं है। क्षीर से दधि-रूप परिणाम होता है, उसका यह कारण नहीं है कि क्षीर सावयव है, परन्तु यह उसका स्वभाव ही है। यदि सावयवत्व को परिणाम के कारण-रूप से स्वीकार किया जाय, तो जल के दधि-रूप परिणाम का प्रसंग आयगा। भास्कर कहते हैं कि वस्तुतः सूक्ष्म विचार करने से प्रतीत होता है कि सावयव वस्तु का परिणाम हो ही नहीं सकता, निरवयव का ही परिणाम होता है—

अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत्॥

जैसे, अच्युतस्वरूप तन्तु ही पटरूप में अवस्थित होता है, और जैसे अच्युतस्वभाव आकाश से ही वायु की उत्पत्ति होती है, वैसे अच्युतस्वभाव ब्रह्म से ही जगत् का आविर्भाव होता है—**चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य जगत्कारणस्य परिणामो व्यवस्थाप्यते, स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति।** साधारण मनुष्य की बुद्धि में ऐसा सामर्थ्य नहीं है, जिससे वह वस्तुशक्ति का परिच्छेद कर सके। परमेश्वर की स्वाभाविक शक्ति अचिन्त्य है। कार्यकारणभाव के विषय में भास्कर कहते हैं कि कार्य सत् है, कारण ही तत्-तत् अवस्था को प्राप्त होकर कार्य का रूप धारण करता है। अवस्था और अवस्थावान् में—धर्म और धर्मी में आत्यन्तिक भेद नहीं है, दोनों एक ही वस्तु हैं। गुणहीन द्रव्य तथा द्रव्यहीन गुण—दोनों ही सम्भव नहीं है। उपलब्धि से भेदाभेद का पता चलता है। समुद्र जलरूप में एक है, किन्तु तरङ्गादि-रूप में अनेक है। परन्तु, तरङ्गादि समुद्र के ही धर्म हैं, समुद्र तरङ्गादि का धर्म नहीं है। इसीलिए, ये समुद्र के शक्तिरूप में माने जाते हैं। शक्ति और शक्तिमान् में अनन्यत्व और अन्यत्व दोनों ही सिद्ध हैं। शक्तिमान् के एक होने पर भी शक्तिगत भेद का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। इसीलिए, भास्कर ने कहा है—'तस्मात् सर्वमेकानेकात्मकम्, नात्यन्तं भिन्नमभिन्नं वा।'

कारण की दो प्रकार की अवस्था है, एक स्वरूपावस्था और दूसरी कार्यावस्था। ईश्वर की शक्ति भोक्तृ और भोग्यरूप से दो प्रकार की है। उसकी भोक्तृशक्ति जीव-रूप में अवस्थित रहती है और भोग्यशक्ति आकाशादि अचेतन-रूप में परिणाम को प्राप्त होती है।[1]

पहले कहा गया है कि उपासना अथवा योगाभ्यास के बिना अपरोक्ष ज्ञान का लाभ नहीं होता, इसका स्वरूप क्या है, यह जानना चाहिए। भास्कर ने अपने ग्रन्थ में इसका परिचय दिया है। वाक्, मन, बुद्धि, महान् आत्मा और शान्त प्रपञ्चातीत ब्रह्मतत्त्व—भास्कर के मत में निवृत्ति-मार्ग का यही क्रम है। सबसे पहले वाक् अथवा निखिल बाह्येन्द्रियों के व्यापार का मन के अन्दर संयमन करना होगा। संकल्प, काम, स्मृति प्रभृति वृत्तियों का जो आश्रय है, वही मन है। इन्द्रिय-व्यापार के निरुद्ध हो जाने पर मन का ज्ञानात्मक बुद्धि[2] में उपसंहार करके बुद्धि का महान् आत्मा या भोक्ता में स्थापन करना चाहिए। सबके अन्त में इस महान् आत्मा को, अर्थात् जीवात्मा को शान्त प्रपञ्चातीत सर्वव्यापी अमृतरस परमात्मा के साथ संसृष्ट करना चाहिए और 'स एवाहमस्मि' इत्याकारक भावना करनी चाहिए, यही योग अथवा

---

१. भास्करमतानुसार भेदाभेद में जो विरोध है, उससे हानि नहीं है; क्योंकि प्रमाण से प्रतीतिसिद्ध होनेपर विरोध अथवा अविरोध का विचार अनावश्यक है—

"प्रमाणतश्चेत् प्रतीयेत को विरोधोऽयमुच्यते।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥"

२. भास्कर के मत में अध्यवसाय इसका स्वरूप और अहंकार इसका धर्म है। भास्कर कहते हैं—अन्तःकरण दो प्रकार का है—बुद्धि और मन।

बादरायण-कृत ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक भाष्य बनाया था।[१] पिशाच का गीताभाष्य तो प्रसिद्ध है ही।

शङ्कराचार्य से रत्नप्रभाकार-पर्यन्त अद्वैतवेदान्त का इतिहास—शङ्कराचार्य के साक्षात् शिष्यों तथा ग्रन्थों के विषय में पहले ही कुछ कहा जा चुका है। सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञात्ममुनि थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र के ऊपर सङ्क्षेपशारीरक नाम का एक सुन्दर पद्यात्मक व्याख्यान बनाया था। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अपने गुरु का देवेश्वर नाम से उल्लेख किया है। दीर्घकाल से इस ग्रन्थ का पठन-पाठन चला आ रहा है। अतएव, इस पर अर्वाचीन अनेक विशिष्ट वेदान्ताचार्यों की टीकाएँ विद्यमान हैं। उनमें से नृसिंहाश्रम की तत्त्वबोधिनी, मधुसूदनसरस्वती का सारसंग्रह, पुरुषोत्तम-दीक्षित की सुबोधिनी और रामतीर्थ की अन्वयार्थप्रकाशिका ही प्रधान हैं। राघवानन्द-सरस्वती-कृत विद्यामृतवर्षिणी तथा विश्ववेद-कृत सिद्धान्तदीप अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। पञ्चप्रक्रिया नामक एक और ग्रन्थ भी सर्वज्ञात्ममुनि-रचित है (द्रष्टव्य—Madras Triennial Catalogue, No. 3619 B), परन्तु उसका प्रामाण्य सर्वथा निश्चित नहीं है।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र वाचस्पतिमिश्र का नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्होंने वैशेषिक दर्शन को छोड़कर और सभी दर्शनों पर उत्कृष्ट व्याख्यान-ग्रन्थ बनाये थे। वेदान्तशास्त्र में वाचस्पतिमिश्र के दो ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एक मण्डनमिश्र की ब्रह्मसिद्धि के ऊपर ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा नाम की टीका और दूसरी शङ्कराचार्य के शारीरकभाष्य के ऊपर भामती।[२] ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु भामती सर्वत्र प्रसिद्ध है। न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने भी अद्वयसिद्धि नामक एक वेदान्तग्रन्थ का निर्माण किया था (द्रष्टव्य—न्यायकन्दली, पृ० ५)। अव्ययात्मा के शिष्य विमुक्तात्मा प्राचीन काल में एक प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य हो गये हैं। इनका इष्टसिद्धि नामक ग्रन्थ शाङ्करवेदान्त के मूल ग्रन्थों में परिगणना के योग्य है। मधुसूदनसरस्वती ने अपनी अद्वैतसिद्धि का सिद्धिनामान्त चतुर्थ ग्रन्थ-रूप में उल्लेख किया है। ब्रह्मसिद्धि (मण्डन-कृत), नैष्कर्म्यसिद्धि (सुरेश्वर-कृत), इष्टसिद्धि (विमुक्तात्म-कृत), इन तीन प्राचीन सिद्धिनामान्त ग्रन्थों की अपेक्षा ही उन्होंने अपने ग्रन्थ को चतुर्थ कहा है।[३] इष्टसिद्धि के ऊपर आचार्य ज्ञानोत्तम की टीका ने प्राचीन

---

१. द्रष्टव्य—B. N Krishna Murti Sharma द्वारा सम्पादित चतुःसूत्री मध्वभाष्य-भूमिका, लॉ जनल प्रेस, मैलापुर, मद्रास, १९३४ ई०।

२. भामती के ऊपर अमलानन्द अथवा व्यासाश्रम-रचित कल्पतरु प्रसिद्ध टीका है, मुद्रित भी है; परन्तु इसके अतिरिक्त भामतीतिलक नाम की एक और टीका मिलती है, जिसके रचयिता का नाम अल्लाल है। अल्लाल के पिता का नाम त्रिविक्रमाचार्य और माता का नाम नागमाम्बा था। ये किस देश और किस समय के थे, इसका अभी तक निर्णय नहीं हुआ है। नाम से प्रतीत होता है कि ये दाक्षिणात्य थे। अपने गुरु व्यासाश्रम को उन्होंने नमस्कार किया है, इससे यह प्रतीत होता है कि ये कल्पतरुकार से अर्वाचीन थे। इनके गुरु का नाम प्रज्ञानारण्ययोगी था, ऐसा प्रतीत होता है।

३. बड़ौदा से गायकवाड-ग्रन्थमाला में ज्ञानोत्तम की टीका के साथ इष्टसिद्धि का प्रकाशन हुआ है।

काल में ही अधिक ख्याति प्राप्त कर ली थी। ज्ञानोत्तम ने इस टीका के अतिरिक्त नैष्कर्म्यसिद्धि पर चन्द्रिका और ब्रह्मसूत्रशारीरकभाष्य पर विद्याश्री नाम दो टीकाएँ रची थीं। वे ज्ञानोत्तम चित्सुखाचार्य के गुरु गौडेश्वराचार्य ज्ञानोत्तम से भिन्न हैं। वे चोलदेशवासी थे। उन्होंने उसमें अपने पिता का नागेश नाम से उल्लेख किया है। अतएव, किसी-किसी का मत है कि उन्होंने यह टीका गृहस्थाश्रमावस्था में ही बनाई थी। यदि वे संन्यासावस्था में टीका लिखते, तो पिता का नाम निर्देश न कर गुरु का नाम निर्देश करते। प्रसिद्धि है कि ये ज्ञानोत्तम, सर्वज्ञात्मा और तत्त्वबोध के बाद काञ्ची सर्वज्ञपीठ के अध्यक्ष हुए थे।

शङ्कर के साक्षात् शिष्य पद्मपादाचार्य ने शारीरकभाष्य के एक भाग पर पञ्चपादिका नामक एक व्याख्यान लिखा था। उसके ऊपर परमहंसपरिव्राजकाचार्य अनन्यानुभव के शिष्य यतिवर प्रकाशात्मा ने विवरण नाम से एक उत्कृष्ट व्याख्यान-ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का महत्त्व इतना अधिक हो गया था कि वेदान्त-दर्शन के इतिहास में भामती-प्रस्थान के अनुरूप विवरण का एक पृथक् प्रस्थान ही प्रकाशित हो गया। प्रकाशात्मा ने शारीरकभाष्य के ऊपर न्यायसंग्रह नाम की एक टीका लिखी थी। शाब्दनिर्णय नाम से प्रकाशात्मा का एक और भी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होता है। न्यायसंग्रह और शाब्दनिर्णय के प्रकाशित हो जाने पर वेदान्त-शास्त्र के प्राचीन समय का बहुत-सा विवरण मालूम हो जायगा, ऐसी आशा है। उत्तमामृतयति के शिष्य ज्ञानामृतयति ने सुरेश्वर-कृत नैष्कर्म्यसिद्धि के ऊपर विद्यासुरभि नामक एक सुन्दर टीका-ग्रन्थ की रचना की थी। इस समय यह ग्रन्थ उपलब्ध तो है, परन्तु अभी तक इसका प्रकाशन नहीं हुआ।

नैषधचरित के कर्त्ता श्रीहर्ष का नाम सर्वत्र ख्यात ही है; क्योंकि अति प्राचीन काल से ही इस काव्य-ग्रन्थ के पठन-पाठन का सम्प्रदाय चला आ रहा है। श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखाद्य नाम से एक उत्कृष्ट खण्डनात्मक प्रकरण-ग्रन्थ की रचना की थी। यद्यपि अभिनव वाचस्पतिमिश्र ने खण्डनोद्धार नामक ग्रन्थ में तथा और भी कई एक नैयायिकों ने विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न प्रकार से इस ग्रन्थ के निराकरण के लिए यत्न किये थे, तथापि खण्डन की कीर्त्ति लेशमात्र भी मलिन नहीं हुई। शङ्करमिश्र जैसे नैयायिक ने खण्डन के ऊपर टीका लिखी थी, यह खण्डन के ही महत्त्व का परि-चायक है। अद्वयाश्रम के शिष्य रामाद्वय ने वेदान्तकौमुदी नाम की ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार अधिकरणों के ऊपर एक आलोचनात्मक टीका बनाई थी। सिद्धान्तलेशसंग्रह तथा अन्यान्य परवर्त्ती ग्रन्थों में कौमुदीकार के नाम से जिस आचार्य के मत का उल्लेख किया गया है, वे वेदान्तकौमुदीकार रामाद्वय ही हैं।[१]

शारीरकभाष्य के ऊपर रामानन्दतीर्थ के शिष्य अद्वैतानन्द का ब्रह्मविद्याभरण नामक उच्च कोटि का एक व्याख्यान-ग्रन्थ है (कुम्भकोणम् से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है)। आत्मवास के शिष्य आनन्दबोधभट्टारक तो एकमात्र न्यायमकरन्द के नाम से

१. यह ग्रन्थ भी उपलब्ध है, परन्तु इसका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है।

ही अमर हो गये हैं। चित्सुख आदि बड़े-बड़े आचार्यों ने इसके ऊपर टीकाएँ लिखी हैं। न्यायदीपावली, प्रमाणरत्नमाला तथा प्रकाशात्मयति के शाब्दनिर्णय पर दीपिका नाम की टीका—ये इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। चित्सुखाचार्य के गुरु गौडेश्वराचार्य ज्ञानोत्तम के किसी ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। परन्तु, ज्ञानोत्तम भी उस काल में प्रसिद्ध ग्रन्थकारों में गिने जाते थे। चित्सुख की तत्त्वप्रदीपिका से पता चलता है कि ज्ञानोत्तम ने न्यायसुधा नामक एक दर्शन-ग्रन्थ की रचना की थी। इसी प्रकार प्रत्यक्स्वरूपाचार्य-कृत नयनप्रसादिनी टीका से भी ज्ञानोत्तम-कृत ज्ञानसिद्धि नामक दूसरे ग्रन्थ का परिचय मिलता है। चित्सुखाचार्य तत्त्वदीपिका नामक एक ही ग्रन्थ से जगद्विख्यात हो गये हैं। इस समय भी वेदान्तज्ञ-समाज में इस ग्रन्थ का प्रचार तथा समादर अतुलनीय है। परन्तु, चित्सुख ने और भी बहुत-से ग्रन्थ बनाये थे। उन्होंने शारीरकभाष्य के ऊपर भाव-प्रकाशिका, मण्डन की ब्रह्मसिद्धि और सुरेश्वर की नैष्कर्म्य-सिद्धि पर क्रम से अभिप्रायप्रकाशिका नामक टीकाएँ लिखी थीं। आनन्दबोध के न्याय-मकरन्द तथा प्रमाणरत्नमाला के ऊपर उनकी एक टीका मिलती है। प्रकाशात्मा के पञ्चपादिकाविवरण पर चित्सुख की भावद्योतनी नाम की टीका है। इसके अतिरिक्त अधिकरणसङ्गति तथा अधिकरणमञ्जरी नामक[1] छोटे-छोटे और दो ग्रन्थ उनके हैं। चित्सुखाचार्य ने विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत पर सुन्दर व्याख्यान लिखे थे। इन्होंने खण्डनखण्डखाद्यके ऊपर एक उत्कृष्ट व्याख्यान लिखा था, जो काशी-संस्कृत-कॉलेज से प्रकाशित हुआ था। विज्ञानात्म भगवान् नाम से ज्ञानोत्तम के एक और दूसरे शिष्य का पता चलता है। इन्होंने श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय प्रभृति उपनिषदों पर विवरणात्मक टीकाएँ बनाई थीं। चित्सुखाचार्य के प्रधान शिष्य थे सुखप्रकाश, उन्होंने आनन्दबोधाचार्य के न्याय-मकरन्द तथा न्यायदीपावली पर टीकाएँ बनाई थीं। अपने गुरु की तत्त्वप्रदीपिका के ऊपर उन्होंने भावद्योतनिका नामक जिस व्याख्यान की रचना की थी, उसके प्रकाशित हो जाने पर चित्सुख का सिद्धान्त समझने में विशेष रूप से सहायता मिलेगी। अधिकरणरत्नमाला नामक उनका एक ग्रन्थ और भी उपलब्ध है।

अनुभवानन्द के शिष्य व्यासाश्रम अथवा अमलानन्द ने भामती के ऊपर वेदान्तकल्पतरु नामक एक टीका बनाई थी। भामती-प्रस्थान में उसकी सबसे अधिक प्रसिद्धि है।[2] संक्षेप से भाष्य के अनुसार ब्रह्मसूत्र का अभिप्राय समझने के लिए अमला-नन्द ने शास्त्रदर्पण नाम से ब्रह्मसूत्र के ऊपर एक स्वतन्त्र वृत्ति-ग्रन्थ का निर्माण किया है। ग्रन्थ के क्षुद्र होने पर भी इसका महत्त्व किसी अंश में न्यून नहीं है।

---

१. ये दो ग्रन्थ मद्रास से प्रकाशित Journal of Oriental Research के पञ्चम खण्ड में प्रकाशित हुए हैं। काशी-संस्कृत-कॉलेज में अधिकरणमञ्जरी की १५२५ संवत् में लिखी गई एक प्रति है, उसमें उसका नाम अधिकरणमणिमञ्जरी लिखा है।

२. इसके ऊपर अप्पयदीक्षित के परिमल को छोड़कर और भी कई एक टीकाएँ थीं, जिनमें से वैद्यनाथकृत कल्पतरुमञ्जरी की अधिक प्रसिद्धि है। इसकी एक प्रति का कुछ अंश गवर्नमेंट संस्कृत-कॉलेज, बनारस में है।

अनुभूतिस्वरूपाचार्य यति ने गौडपादीय माण्डूक्यकारिका के शाङ्करभाष्य पर टीका लिखी है। आनन्दबोध-रचित प्रमाणरत्नमाला पर भी उनकी एक टीका मिलती है। अनुभूतिस्वरूप के शिष्य जनार्दन-कृत तत्त्वालोक एक समय अति प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था। अब भी इस ग्रन्थ का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। इसके प्रकाशन से मध्ययुग के वेदान्त के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ेगा। नरेन्द्रनगरी के शिष्य प्रकाशानन्द ने तत्त्वालोक पर तत्त्वप्रकाशिका[1] नाम की एक उत्कृष्ट टीका की रचना की थी। आनन्दशैल या आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानन्द ने पञ्चपादिकाविवरण के ऊपर तत्त्वदीपन[2] और भामती के ऊपर ऋजुप्रकाशिका टीका लिखी थी, अर्थात् इन्होंने वेदान्त के भामती-प्रस्थान तथा विवरण-प्रस्थान पर अपना पाण्डित्य प्रकट किया था। प्रत्यक्स्वरूपाचार्य की चित्सुखी की टीका मानसनयनप्रसादिनी अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। प्रत्यक्स्वरूप का समय ज्ञात नहीं है, परन्तु उनके ग्रन्थ की १५५२ सं० में लिखी गई एक प्रति मिलती है।

जनार्दनसर्वज्ञ के पुत्र स्वामीन्द्रपूर्ण के शिष्य विष्णुभट्ट उपाध्याय ने पञ्चपादिका-विवरण के ऊपर ऋजुविवरण नामक एक टीका की रचना की थी। विद्यातीर्थ, भारती-तीर्थ, विद्यारण्यस्वामी प्रभृति का नाम वेदान्तदर्शन के चौदहवें शतक के इतिहास में विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है। विद्यातीर्थ (या विद्याशङ्कर) परमात्मतीर्थ के शिष्य थे। उनका यद्यपि कोई विशिष्ट ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, तथापि माधवाचार्य या विद्यारण्य-स्वामी और सायणाचार्य के ऊपर उनका जो असाधारण प्रभाव था, उसी से उनके महत्त्व तथा गौरव का अनुमान किया जा सकता है। भारतीतीर्थ भी एक प्रकार से माधवाचार्य के गुरुस्थानीय ही थे। कुछ ग्रन्थ भारतीतीर्थ तथा माधवाचार्य दोनों के संयुक्त नाम से प्रचलित हैं। भारतीतीर्थ के परमानन्दतीर्थ और रामानन्दतीर्थ दो शिष्य थे। परमानन्द की अवधूतगीता पर एक टीका है और रामानन्द ने विष्णु-भट्टकृत ऋजुविवरण के ऊपर त्र्यय्न्तभावदीपिका नाम की टीका बनाई थी। माधवाचार्य और उनके भ्राता सायणाचार्य के विषय में बहुत वक्तव्य होने पर भी स्थानाभाव से अधिक नहीं लिखा जा सकता।[3] माधवाचार्य संन्यास लेने के पश्चात् विद्यारण्यस्वामी नाम से प्रख्यात हुए थे। इनके रचित वेदान्तविषयक ग्रन्थ ये हैं—विवरणप्रमेयसंग्रह, बृहदारण्यकवार्त्तिकसार, अनुभूतिप्रकाश, पञ्चदशी, जीवन्मुक्तिविवेक, वैयासिकन्यायमाला तथा ब्रह्मगीताटीका। इनमें से किसी-किसी ग्रन्थ को बनाने में उन्हें भारतीतीर्थ का सहयोग प्राप्त हुआ था। विद्यारण्य के शिष्य रामकृष्ण ने पञ्चदशी पर जो टीका लिखी है, वह सबसे अधिक प्रसिद्ध है। आनन्दाश्रम के शिष्य शङ्करानन्द की कैवल्यो-

---

१. तत्त्वालोक तथा तत्त्वप्रकाशिका के विषय में बेलाङ्करकृत Bombay Royal Asiatic Society की ग्रन्थसूची, नं० ११०६, देखनी चाहिए।

२. काशी-संस्कृत-कॉलेज में तत्त्वदीपन की १५२२ शकाब्द में लिखी गई एक प्रति विद्यमान है।

३. जिनको इस विषय में विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें आर० नरसिंहाचार्य-कृत Madhavacharya and his two brothers नामक उत्कृष्ट एवं विस्तृत प्रबन्ध Indian Antiquary नामक पत्र में देखना चाहिए।

पनिषद् , कौषीतकी उपनिषद् , नृसिंहतापनीय, ब्रह्म, नारायण आदि भिन्न-भिन्न उपनिषदों पर दीपिका नामक टीका है।

माधवमन्त्री के समकालिक एक और माधव का पता लगता है। ये आङ्गिरस गोत्र के थे। इनके पिता का नाम चौण्डभट्ट और माता का नाम माचाम्बिका था। ये प्रसिद्ध शैवाचार्य काशीविलास क्रियाशक्ति पण्डित के शिष्य थे। ये प्रथम बुक्क तथा द्वितीय हरिहर के अधीन गोआ का शासन करते थे। ये साधारण योद्धा थे—'भुवनैकवीर', 'उपनिषन्मार्गप्रतिष्ठापनगुरु' ऐसी इनकी प्रसिद्धि थी। प्रसिद्ध नैयायिक उपस्कारकर्त्ता शङ्करमिश्र ने खण्डनखण्डखाद्य के ऊपर एक टीका बनाई थी। यह प्रकाशित हो चुकी है। शङ्कर ने भेदरत्नप्रकाश की रचना करके अद्वैतमत का खण्डन करने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार एक प्रसिद्ध नैयायिक का वेदान्त पर टीका लिखना उल्लेख-योग्य है। परमहंसपरिव्राजकाचार्य आनन्दपूर्ण अथवा विद्यासागर का नाम सर्वत्र परिचित है। एकमात्र खण्डन की टीका से ही इनका यश चारों ओर फैल गया। इन्होंने और भी बहुत-से अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थ बनाये थे, ब्रह्मसिद्धि की टीका—भावशुद्धि, बृहदारण्यकवार्त्तिकटीका—न्यायकल्पलतिका, पञ्चपादिकाटीका, पञ्चपादिकाविवरणटीका—टीकारत्न, ये सब इनके प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ हैं। इन्होंने न्यायचन्द्रिका नामक एक प्रकरण-ग्रन्थ भी बनाया था। इस ग्रन्थ के चार परिच्छेद हैं।[1] आनन्दपूर्ण के समय का अभी तक निश्चय नहीं हुआ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में वादीन्द्र, वासुदेवसूरि, विष्णुभट्ट, मानमनोहर, नीतितत्त्वाविर्भाव, न्यायलीलावती प्रभृति ग्रन्थकार तथा ग्रन्थों का उल्लेख किया है। शुद्धानन्द के शिष्य आनन्द के भी अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। प्रायः ये सभी ग्रन्थ टीकात्मक ही हैं। उनकी बनाई हुई शारीरकभाष्य की टीका (न्याय-निर्णय), गीताभाष्य की टीका, पञ्चीकरणविवरण, उपदेशसाहस्री टीका, न्यायरत्नदीपावली व्याख्या, वाक्यवृत्ति, त्रिपुटी आदि ग्रन्थों की टीका, मुख्य-मुख्य उपनिषदों के भाष्यों की व्याख्या विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है। इनकी उपदेशसाहस्री टीका की एक प्रति काशी-संस्कृत-कॉलेज-पुस्तकालय में विद्यमान है। उक्त प्रति का लिपिकाल शक-संवत्सर १४७३ है। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीकार प्रकाशानन्द ने दृष्टिसृष्टिवाद के ऊपर उत्कृष्ट ग्रन्थ का निर्माण कर वेदान्त के मुख्य सिद्धान्त का सर्वत्र युक्तिपूर्वक प्रचार करने का प्रयत्न किया था। उनके शिष्य नानादीक्षित ने उस ग्रन्थ के ऊपर सिद्धान्तदीपिका नामक एक व्याख्या लिखी थी। ईशवीय सोलहवीं शताब्दी में मधुसूदनसरस्वती तथा नृसिंहाश्रम अन्यान्य पण्डितों से अधिक प्रसिद्ध थे। मधुसूदनसरस्वती के संक्षेपशारीरक व्याख्यान की बात पहले कही जा चुकी है। उसे छोड़कर गीताटीका—गूढार्थदीपिका, दशश्लोकीटीका—सिद्धान्तबिन्दु, मुक्तिस्वरूपालोचनात्मक वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैतरत्नरक्षण आदि ग्रन्थ वेदान्तशास्त्र के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। अद्वैतरत्नरक्षण शङ्करमिश्र के भेदरत्न का प्रतिवाद-रूप है। परन्तु, मधुसूदन की प्रधान कीर्त्ति है—अद्वैतसिद्धि। यद्यपि यह ग्रन्थ मध्व-सम्प्रदाय के ग्रन्थविशेष के खण्डन के

---

१. व्याख्यारत्नावली नाम से प्रसिद्ध विद्यासागर की एक महाभारत टीका उपलब्ध होती है। काशिका-व्याकरण के ऊपर भी इनकी प्रक्रियामञ्जरी नामक एक टीका है।

लिए बनाया गया था, तथापि साधारणतः अद्वैत सिद्धान्त को परिष्कृत नैयायिक रीति से जानने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ वेदान्त-ग्रन्थ है। मधुसूदन के भक्तिरसायन, महिम्नः-स्तोत्र की टीका आदि की आलोचना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। मधुसूदन काशी में ही रहते थे—अपने समय में संन्यासी-सम्प्रदाय के अग्रणी थे। जगन्नाथाश्रम तथा गीर्वाणेन्द्रसरस्वती के शिष्य नृसिंहाश्रम की कीर्त्ति भी वेदान्त में सर्वत्र व्याप्त है। उनका वेदान्ततत्त्वविवेक सं० १६०४ वि० अथवा १५४७ ई० में रचा गया था। नृसिंहाश्रम ने इसपर दीपन नामक एक टीका स्वयं लिखी थी। इनकी तत्त्वबोधिनी—संक्षेपशारीरक की टीका के विषय में पहले ही कहा जा चुका है।[१] नृसिंह-रचित अन्यान्य ग्रन्थों में अद्वैतदीपिका, भेदधिक्कार, पञ्चपादिकाटीका—वेदान्तरत्नकोष, पञ्चपादिका-विवरणटीका—प्रकाशिका तथा अखण्डानन्द-कृत तत्त्वदीपन की टीका—भावप्रकाशिका विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं। इनका नृसिंहविज्ञापन नामक एक छोटा ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। ये प्रथम अवस्था में दक्षिणनिवासी थे, कुछ काल के पश्चात् काशी आये और यहीं रहने लगे। भट्टोजिदीक्षित के घर के प्रायः सभी लोग इन्हीं के शिष्य थे। प्रसिद्ध है कि विख्यात मीमांसक और शैवाचार्य अप्पयदीक्षित ने भी इन्हीं के प्रभाव से शाङ्कर मत का ग्रहण किया था। नृसिंह के शिष्य नारायणाश्रम ने भेदधिक्कार के ऊपर सत्क्रिया[२] नामक एक टीका बनाई थी। नारायण के शिष्य माधवाश्रम ने स्वानुभवादर्श ग्रन्थ बनाया था। सदानन्द का वेदान्तसार भी इसी शताब्दी के प्रारम्भ में बना था, ऐसा प्रतीत होता है।

कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ मधुसूदन सरस्वती के समकालिक थे। उन्होंने भी संक्षेप शारीरक पर एक टीका लिखी थी। उसके विषय में पहले कहा जा चुका है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम ये हैं—ब्रह्मसूत्रभाष्यटीका—शारीरकरहस्यार्थप्रकाशिका, उपदेशसाहस्री टीका—पदयोजनिका, वेदान्तसारटीका—विद्वन्मनोरञ्जिनी, दाक्षिणा-मूर्त्तिवार्त्तिकटीका इत्यादि। कृष्णानन्दसरस्वती के शिष्य नृसिंहसरस्वती ने वेदान्तसार के ऊपर १५१० शकाब्द में सुबोधिनी टीका बनाई थी। रङ्गराजाध्वरीन्द्र सुप्रसिद्ध मीमांसक अप्पयदीक्षित के पिता थे। इन्होंने अद्वैतविद्यामुकुर और पञ्चपादिका-विवरणदर्पण नामक दो वेदान्त-ग्रन्थ बनाये थे। दर्पणटीका की एक प्रति इस समय तञ्जौर में है। वीरराघव कवि ने नीलकण्ठदीक्षित के पूर्वपुरुषों का वर्णन करते हुए अच्चानदीक्षित-वंशावली नाम से एक ग्रन्थ बनाया था। उसमें भी रङ्गराज के विवरण-दर्पण का उल्लेख है। अच्चान नीलकण्ठ के पिता और अप्पयदीक्षित के भ्राता थे। इसके बाद अप्पयदीक्षित का नाम लेना उचित प्रतीत होता है। मधुसूदनसरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में अप्पयदीक्षित का, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहकर बड़े सम्मान के साथ, उल्लेख किया है। वस्तुतः, अप्पयदीक्षित के सर्वोत्तम पाण्डित्य के विषय में न किसी का मत-भेद है और न हो सकता है। उन्होंने अनेक विषयों पर बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं। इनके

१. यह ग्रन्थ काशी-संस्कृत-कॉलेज-सीरीज से प्रकाशित हो गया है।

२. भेदधिक्कार की नृसिंहभट्ट-रचित भी एक टीका मिलती है। इसकी सं० १६६० वि० की लिखी एक प्रति का पता चलता है।

मुख्य-मुख्य वेदान्त-ग्रन्थ ये हैं—न्यायरक्षामणि ब्रह्मसूत्रटीका, कल्पतरुपरिमल—वेदान्त-कल्पतरु की व्याख्या, सिद्धान्तलेशसंग्रह[1] स्वतन्त्र प्रकरण-ग्रन्थ। इन्होंने श्रीकण्ठभाष्य के ऊपर शिवार्कमणिदीपिका नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ रचा था। किन्तु, यह ग्रन्थ शाङ्करमत का नहीं है। अप्पयदीक्षित के शिष्य भट्टोजिदीक्षित वैयाकरण तथा स्मार्त्त थे, ऐसी प्रसिद्धि है। परन्तु शाङ्करवेदान्त पर भी उन्होंने ग्रन्थ बनाये थे। इनके वेदान्त ग्रन्थों के नाम हैं—वेदान्ततत्त्वकौस्तुभ और तत्त्वविवेकविवरण। तत्त्वकौस्तुभ में भट्टोजिदीक्षित ने माध्वमत-खण्डन करने का प्रयत्न किया है। यह ग्रन्थ केरलि वेंकटेन्द्र के आदेश से लिखा गया था। इसके साथ अप्पयदीक्षित का भी सम्बन्ध था, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। उनका दूसरा ग्रन्थ-विवरण उनके गुरु नृसिंहाश्रम के तत्त्वविवेक की टीका है। भट्टोजिदीक्षित के भ्राता रङ्गोजिभट्ट के अद्वैतचिन्तामणि अद्वैतशास्त्रसारोद्धार—इन दो ग्रन्थों का पता चलता है। ये भी नृसिंहाश्रम के ही शिष्य थे। महाभारत-टीकाकार नीलकण्ठ चतुर्धर का वेदान्तकतक अतिप्रसिद्ध सुरचित ग्रन्थ है। इनके नाम से आनन्दमयाधिकरणविचार नामक एक और ग्रन्थ मिलता है।

नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य तथा वेलाङ्गुलि-निवासी वेंकटनाथ के शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र की वेदान्तपरिभाषा सर्वत्र पठन-पाठन के कारण सुपरिचित है। धर्मराज प्रसिद्ध नैयायिक थे। उन्होंने तत्त्वचिन्तामणि की प्राचीन दस टीकाओं का खण्डन कर एक अभिनव टीका बनाई थी। उनके पुत्र रामकृष्ण ने अपने पिता के ग्रन्थ पर वेदान्तशिखामणि नामक एक व्याख्यान लिखा था। रामकृष्णरचित वेदान्तसारटीका भी कहीं-कहीं मिलता है।

प्रसिद्ध मराठी भागवत के रचयिता भक्तवर एकनाथजी के प्रपौत्र, प्रथम आपदेव के पौत्र तथा प्रथम अनन्तदेव के पुत्र प्रसिद्ध मीमांसक मीमांसान्यायप्रकाशकार द्वितीय आपदेव ने वेदान्तसार पर बालबोधिनी नामक एक टीका लिखी थी। ये आपदेव स्मृतिकौस्तुभकार द्वितीय अनन्तदेव के पिता थे।

नारायणतीर्थ तथा ब्रह्मानन्दसरस्वती का नाम भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। दोनों ने मधुसूदन के सिद्धान्तबिन्दु पर टीकाएँ लिखी थीं, जिनके नाम क्रमशः लघु-व्याख्या और न्यायरत्नावली हैं। ये दोनों आचार्य काशी में ही निवास करते थे। नारायण के ब्रह्मसूत्र पर विभावना टीका भी मिलती है। उन्होंने विविध विषयों पर बहुत-से ग्रन्थ बनाये। ब्रह्मानन्द वङ्गदेशीय थे, इसीलिए ये गौडब्रह्मानन्द नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका निवासस्थान भी काशी में ही था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर मुक्तावली नामक एक टीका लिखी थी। किन्तु, इनकी मुख्य कृति है अद्वैतसिद्धि की टीका—अद्वैतचन्द्रिका। इसके लघु और गुरु नाम से दो भेद उपलब्ध होते हैं। लघुचन्द्रिका सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। गुरुचन्द्रिका का प्रकाशन भी मैसूर से हुआ है। ब्रह्मानन्द-कृत अद्वैतसिद्धान्तविद्योतन नामक ग्रन्थ काशी-संस्कृत-कॉलेज से प्रकाशित हो चुका है।

---

१. इसपर अच्युत कृष्णानन्द की श्रीकृष्णालङ्कार नामक एक टीका है।

काश्मीर के सदानन्द ब्रह्मानन्द तथा नारायण के शिष्य थे। उनको अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि का नाम वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध ही है। परन्तु, इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बनाये थे। स्वरूपनिर्णय, स्वरूपप्रकाश और ईश्वरवाद ये तीन ग्रन्थ भी उन्हीं की कृतियाँ हैं।

शङ्कराचार्य के समय से रत्नप्रभाकार के निकटवर्त्ती काल तक का अद्वैतवेदान्त-शास्त्र का यही संक्षिप्त इतिहास है।

भाष्यरत्नप्रभाकार गोविन्दानन्द[1] किस समय में आविर्भूत हुए थे, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। परन्तु, इतना निश्चित है कि वे सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् हुए थे, क्योंकि उन्होंने नृसिंहाश्रम के वचन अपने ग्रन्थ में उद्धृत किये हैं। नृसिंहाश्रम १५४७ ई० में विद्यमान थे। उसी वर्ष उनका वेदान्ततत्त्वविवेक सम्पूर्ण हुआ था। अतएव, गोविन्दानन्द सत्रहवीं शताब्दी के माने जा सकते हैं। गोविन्द गोपालसरस्वती के शिष्य थे और नियम से काशी में रहते थे। रत्नप्रभा टीका की रचना भी काशी में ही हुई थी, यह बात उनके मङ्गलाचरणस्थ ढुण्ढिराज और काशिकेश आदि के नमस्कार से स्पष्ट ही प्रतीत होती है। गोविन्द के रामानन्द-सरस्वती नाम से प्रसिद्ध एक शिष्य थे, उन्होंने ब्रह्मसूत्र के ऊपर ब्रह्मामृतवर्षिणी नाम की वृत्ति तथा विवरण की विवरणोपन्यास नाम की टीका लिखी थी[2] (द्रष्टव्य—वेदान्त-दर्शन का इतिहास पृ० ७९०)। गोविन्द तथा रामानन्द दोनों ही श्रीरामचन्द्रजी के उपासक थे। गोविन्द और लघुचन्द्रिकाकार ब्रह्मानन्द इन दोनों ने ही शिवरामाचार्य से ज्ञान प्राप्त किया था। यदि ब्रह्मानन्द द्वारा उल्लिखित शिवराम गोविन्द के ज्ञानदाता शिवराम से अभिन्न माने जायँ, तो गोविन्दनन्द का समय १७वीं शताब्दी के बदले अठारहवीं शताब्दी मानना चाहिए। रत्नप्रभा पर अद्वैतानन्द के शिष्य पूर्णप्रकाशानन्द-सरस्वती की चतुःसूत्रीपर्यन्त एक टीका भी है।[3]

---

१. कुछ लोग रामानन्द को ही रत्नप्रभा का रचयिता समझते हैं (द्रष्टव्य—आनन्दज्ञानकृत-तर्कसंग्रह की भूमिका, बड़ौदा संस्करण, पृ० १९)।

२. अप्पयदीक्षित ने सिद्धान्तलेशसंग्रह में एक स्थान पर विवरणप्रमेयसंग्रह को ही विवरणोपन्यास कहा है, परन्तु रामानन्द का ग्रन्थ उससे भिन्न है।

३. चौखम्भा-संस्कृत-सीरीज द्वारा प्रकाशित।

यज्ञ का रहस्य

[१]

पुराण आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अतीत काल में भारतवर्ष में अतीन्द्रियदर्शी ऋषि मुनि लोग नाना प्रकार के यज्ञ-यागानुष्ठानों में व्यस्त रहते थे। राज्य-सिंहासनारूढ क्षत्रिय भी अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ करते थे। उस समय साधारणतः सभी लोग यज्ञ को लौकिक और अलौकिक सभी प्रकार की फल-प्राप्ति का प्रधान उपाय समझते थे। इसलिए, उस समय हमारे देश में यज्ञ की महिमा के सम्बन्ध में सभी को गाढ श्रद्धा थी।[१]

किन्तु, समय के फेर से यज्ञ का तात्पर्य और रहस्य वर्त्तमान समय में अधिकांश लोगों को ज्ञात नहीं है। एक समय जिसका प्रत्यक्ष और परीक्षित सत्य के रूप में सर्वत्र आदर था, आज वह सम्यक् ज्ञान और विधिपूर्वक अनुष्ठान के अभाव से एक निरर्थक आचार के रूप में बदल गया है। यथार्थ बात तो यह है कि जो लोग सदाचारसम्पन्न एवं प्राचीन परम्परा के पक्षपाती होने से श्रद्धालु हैं, वे भी यज्ञ के तत्त्व और प्रयोग के विषय में उत्तम जानकारी नहीं रखते। इसीलिए, आज यज्ञ का विज्ञान साधारण जनता की बुद्धि का अगम्य हो पड़ा है एवं यज्ञ के प्रति अधिकांश स्थलों में अनादर और उपेक्षाभाव दिखाई दे रहा है।

यज्ञ किसे कहते हैं, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, उसकी फलवत्ता की आधार-भित्ति कहाँ पर है, विचारशील व्यक्ति के मन में इन सब प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। इनका समाधान भी शास्त्र से हो जाता है। कात्यायन मुनि ने स्वरचित श्रौतसूत्र (१-२-२) में देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्याग को यज्ञ कहा है।[२] यह जगत् अनन्त विचित्रताओं से परिपूर्ण है। जो सब सूक्ष्म और गुप्त शक्तियाँ इसका संचालन करती हैं, ऋषियों की परिभाषा में उनका नाम देवता है—'देवाधीनं जगत् सर्वम्।' देवता साकार हैं या निराकार, इसका निर्णय[३] इस प्रसंग में अनावश्यक है, फिर भी यह सत्य है

---

१. गीता में (४।३१) कहा है कि यज्ञहीन का यह लोक भी नहीं है और परलोक भी नहीं है। ब्राह्मण लोग ब्रह्म-प्राप्ति की अभिलाषा से जिन-जिन उपायों का अवलम्बन करते थे, उनमें स्वाध्याय, दान और तपस्या के साथ यज्ञ का भी उल्लेख है—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन।' छान्दोग्योपनिषद् में जिन तीन धर्मस्कन्धों का उपदेश है, उनमें यज्ञ का विशिष्ट स्थान है।

२. भामती में वाचस्पतिमिश्र ने उन्हीं का अनुसरण करते हुए कहा है—"देवतामुद्दिश्य हविरवसृज्य च तद्विषयसत्त्वत्याग इति यागशरीरम्।"

३. याज्ञिक लोग और वेदान्त-दर्शन देवता का विग्रहवत्त्व (साकारता) स्वीकार करते हैं। इसकी पोषक युक्तियाँ वेदान्त-दर्शन के देवताधिकरण में शाङ्करभाष्य तथा भामती आदि में दी हुई हैं

कि देवता शक्ति-रूप होने से एक ओर स्वभावतः निराकार होने पर भी नित्य साकार और दूसरी ओर संकल्पवश और प्रयोजन के अनुसार प्राकृत आकारसम्पन्न-रूप से भी प्रतीत होते हैं। शक्ति जैसे मूल में एक होने पर भी उपाधि के भेद से नाना प्रकार की है एवं गुणों के वैषम्य के कारण हुआ यह नानात्व भी विचित्र है, वैसे ही यद्यपि देवता एक और अभिन्न है, तथापि बाह्य दृष्टि से उनके अवान्तर भेद असंख्य हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'[१], यह श्रुति (ऋग्वेद, सं० १।१६४।४६) का ही निर्देश है। पारमार्थिक दृष्टि से इन सब भेदों के न रहने पर भी व्यवहार-दृष्टि में ये असत्य नहीं हैं।

देवता के उद्देश्य से द्रव्य अर्पण करने का शास्त्रीय विधान है। उक्त द्रव्यार्पण एक दृष्टि से देखने पर देवता के लिए हवि आदि भक्ष्य प्रदान करने के सिवा और कुछ नहीं है। शक्ति व्यक्त और अव्यक्त भेद से दो ही प्रकार की है। अव्यक्त शक्ति द्वारा कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। कार्य-साधन के लिए शक्ति को उद्बुद्ध कर प्रयोग करना पड़ता है। जिस शक्ति से जो कार्य सम्पन्न होता है, वह शक्ति जाग्रत् होने पर एवं समुचित रूप से उसका विनियोग होने पर स्वाभाविक नियम से उस कार्य को अवश्य ही करती है। उनके लिए कोई बाहरी नियन्त्रण आवश्यक नहीं है। कार्य करने पर शक्ति का अपचय अवश्य होता है। इसलिए, यदि शक्ति को अक्षुण्ण रखना हो, तो उक्त अपचय की पूर्त्ति के लिए, अर्थात् शक्ति की पुष्टि के लिए उसमें भक्ष्य का समर्पण आवश्यक है। जिसके प्राप्त होने पर शक्ति पुष्ट होकर अपना संरक्षण करने में समर्थ हो, वह शक्ति का आहार है। शक्तियों के अनेक होने पर भी जैसे उनका मूल एक ही है, वैसे ही शक्ति का आहार स्थूल रूप से विभिन्न होने पर भी मूल में एक और अभिन्न है। सुप्त शक्ति निष्क्रिय होती है, इसलिए उसे आहार की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु, उसके द्वारा कार्य भी सिद्ध नहीं होता। यदि कार्य-साधन करना हो, तो शक्ति को जगाकर और उसे उसके अनुरूप आहार देकर समर्थ करना चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो वह कार्यक्षम नहीं हो सकती। इसी का नाम देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग है।

(ब्रह्मसूत्र १।३।२६-३३)। मीमांसक लोग देवता का मन्त्ररूप से वर्णन करते हैं। इस मत-भेद में वास्तविक कोई विरोध नहीं है। यास्क ने देवता के आकार-विचार के अवसर पर देवता पुरुष-विध (साकार) और अपुरुषविध (निराकार) है, इन दो पक्षों का समाश्रय कर देवता उभयविध है, यों स्वयं सिद्धान्त किया है (निरुक्त ७।६।१-२; ७।७।१७)।

१. निरुक्त मत में स्थानानुसार मुख्य देवता तीन हैं—पृथिवी या भूलोक का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष या भुवर्लोक का देवता वायु एवं द्युलोक का देवता सूर्य। अन्य सब देवता इन्हीं के अन्तर्गत हैं। किन्तु, निरुक्त में ही परम सत्य का शोध भी दिया गया है, एवं बृहद्देवता में उसी का समर्थन है। इस मत में मुख्य देवता एक है और अनन्त नाना रूप उसी की केवल स्तुति है। भिन्न देवता भी एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं। ऋषियों ने एक ही प्रकृति की नाना रूपों में स्तुति की है। एक अग्नि की जैसे बहुत चिनगारियाँ होती हैं, वैसे ही आत्मा की विभिन्न प्रकार की विभूतियाँ होती हैं।

शतपथब्राह्मण में यज्ञ पञ्चाङ्गसम्पन्न कहा गया है। पुराणों में इन पाँच अंगों का उल्लेख है—जैसे देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् और दक्षिणा।

१. देवता। एक आत्मा की विभिन्न विभूतियाँ ही देवता हैं। दृष्टिभेद से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—जैसे आजानज देवता, कर्म-देवता और आजान देवता। आजानज देवता और कर्म-देवता कर्मफल के भोक्ता हैं। वे दिव्य लोक में रहकर कृत कर्म का फल भोग करते रहते हैं, किन्तु आजान देवता ऐसे नहीं हैं। वे सब देवता सृष्टि के आदि काल से उद्भूत हुए हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण, इन्द्र आदि इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं। वे स्तुति और आहुति से सन्तुष्ट होते हैं एवं कर्मफल प्रदान करते हैं। वे दिव्य, साकार और ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं। यदि साधक में साधना की योग्यता हो, तो उनका प्रत्यक्ष भी हो सकता है। संस्कार, ब्रह्मचर्य-धारण, स्वाध्याय, श्रौत और स्मार्त्त कर्मों के अनुष्ठान, योगाभ्यास आदि विविध उपायों से देवताओं के दर्शन प्राप्त होते हैं। अणिमा आदि ऐश्वर्य से सम्पन्न योगी जैसे एक ही समय में अनेक शरीर धारण करने में समर्थ होता है, वैसे ही आजानसिद्ध देवता भी उस तरह की शक्ति से सम्पन्न होते हैं। इसीलिए, शङ्कराचार्य ने कहा है—"एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य बहुषु यागेषु युगपदङ्गतां गच्छतीति परैश्च न दृश्यते अन्तर्धानादिक्रियायोगात्" (ब्र० सू०, शारीरकभाष्य १।३।२७)।

२. हविर्द्रव्य। यह आजान देवताओं का उपजीव्य (जीवनाधार) यज्ञ में दिया जानेवाला आहुति-द्रव्य है। एक बार हविर्द्रव्य का जितना अंश देवतादि के अर्पण किया जाता है, उसे आहुति कहते हैं। आहुति शब्द का प्राचीन अर्थ आह्वान या आहूति है (ऐतरेय ब्राह्मण में इसी प्रकार का निर्देश है)। आहुति द्वारा यजमान देवता का आह्वान करते हैं या बुलाते हैं। आहुति फल-प्राप्ति का मार्ग है। यदि केवल एक ही हवि का विधि के साथ समर्पण किया जाय, तो देवता उसी को बहुत समझकर सन्तुष्ट होते हैं। अग्नि में हवि अर्पण करना वस्तुतः देवता के मुख में ही अर्पण करना है। हवि अग्नि में प्रविष्ट होकर अमृत रूप में परिणत होता है। यही याज्ञिक लोगों का सिद्धान्त है।

३. मन्त्र। शक्ति-सम्पन्न शब्दराशि मन्त्र है, जिसके प्रभाव से हवि देवता के समीप भोग्य-रूप से पहुँचता है।

४. ऋत्विक्। जिस विद्वान् ब्राह्मण को यज्ञ करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है, उसका नाम ऋत्विक् है।

५. दक्षिणा। यज्ञ के अन्त में ब्राह्मणों को उनके पारिश्रमिक-रूप में जो दिया जाता है, उसी द्रव्य का नाम दक्षिणा है। कर्म कराकर यदि दक्षिणा न दी जाय, तो कर्म पूर्णरूप से फल उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्रश्न उठ सकता है, द्रव्य-त्याग करने का भार किसके ऊपर है? उसके उत्तर में निम्नलिखित वक्तव्य पर्याप्त होगा—त्यागरूप कर्म के फल की जो आकांक्षा करता है, उसी के ऊपर उसका भार है अथवा फल की आकाङ्क्षा न करके भी कर्त्तव्य-बुद्धि से जो त्याग करता है, उसके ऊपर है। कर्म सकाम और निष्काम रूप दो प्रकार

के हैं, इसलिए यज्ञ भी सकाम और निष्काम भेद से दो ही प्रकार का है। स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष जैसे यज्ञ करके उसके फलस्वरूप स्वर्ग को प्राप्त होता है। वैसे ही अन्य किसी फल की कामना से कर्म करने पर भी कामनापूर्वक कर्म करनेवाले को ही उस फल की प्राप्ति होती है। यहाँ कामना से व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि की अभिलाषा समझनी चाहिए। यद्यपि निष्काम कर्म में इस तरह की व्यक्तिगत फलाकाङ्क्षा नहीं रहती, तथापि स्वयं निष्काम भाव से कर्म करने पर भी इस कर्म का फल मुझे न होकर औरों को हो और इस प्रकार की आकाङ्क्षा रहती ही है। जगत् का कल्याण, सब लोगों का हित और सुख, यह भी कर्मफल है।

इस फल की आकाङ्क्षा निष्काम कर्म करनेवाले को भी हो सकती है। ऐसी कामना रहने पर भी परार्थ-कामना होने के कारण वह कलुषित नहीं है। विष्णु-कामना तथा मोक्ष-कामना जैसे कामना-रूप से प्रतीत होने पर भी वस्तुतः कामना नहीं है, वैसे ही औरों की मङ्गल-कामना से कर्म का निष्कामत्व विनष्ट नहीं होता। साक्षात् परहित की आकाङ्क्षा न कर केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से, अर्थात् शास्त्रीय विधि के अनुशासन से अथवा भगवत्प्रेरणा से भी कर्म का अनुष्ठान हो सकता है। वह निष्काम कर्म का उच्चतम आदर्श है। किन्तु, फलाकाङ्क्षा न करने पर भी कर्म यदि किया जाय, तो समय पर अवश्य फल उत्पन्न करेगा ही। वह फल व्यक्तिगत रूप से कर्मकर्त्ता द्वारा ईप्सित न होने के कारण व्यापक रूप से सारे विश्व में विकीर्ण हो जाता है। यह दो प्रकार का निष्काम कर्म ही यज्ञ का उत्कृष्ट स्वरूप है। इस तरह के कर्म से बन्धन तो होता नहीं, बल्कि जो बन्धन पहले से रहता है, वह भी शिथिल हो जाता है। इसलिए गीता में कहा है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। (३–९), अथवा

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। (४–२३)

देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्यागरूप यज्ञ के और दीयमान द्रव्य के अग्नि में प्रक्षेप-रूप होम के अनेक अवयव हैं। जो त्याग करता है, जिसके द्वारा करता है, जिसके उद्देश्य से त्याग करता है एवं जिसमें त्याग करता है—ये सभी त्याग (और होम) क्रिया के पृथक्-पृथक् अवयव हैं। यदि अमूर्त्त क्रिया को मूर्त्त होना हो, तो इन सब अवयवों में से प्रत्येक की कार्यकारिता यथासंभव आवश्यक होती है। जो त्याग करता है और जो अग्नि में प्रक्षेप करता है, वह कर्त्ता, अर्थात् यजमान और उसका प्रतिनिधि उसके क्रीत अध्वर्यु हैं।[१] जिसका त्याग करते हैं, वह कर्म है। वह देवता की भोग्यवस्तु या हवि आदि है। जिसके द्वारा त्याग, अर्थात् अग्नि में प्रक्षेप करते हैं, वह करण है। वह दो तरह का है—हवि के प्रक्षेप में धारक रूप से साधकतम करण जुहू आदि हैं एवं प्रकाश-रूप से साधकतम करण मन्त्र आदि हैं। इस प्रकार करण दो प्रकार के हैं। जिसके उद्देश्य से, जिसकी प्रीति या तृप्ति के लिए, त्याग-क्रिया निष्पन्न होती है, वह सम्प्रदाय, अर्थात् देवता है। जिसमें, अर्थात् जिसको आधार बनाकर हवि आदि का

१. हवि-त्याग और अग्नि में प्रक्षेप इन दोनों क्रियाओं में से पहली का कर्त्ता यजमान और दूसरी का कर्त्ता अध्वर्यु है।

समर्पण किया जाता है, वह अधिकरण, अर्थात् अग्नि है। देश, काल आदि भी इसी प्रकार अधिकरण-श्रेणी में परिगणित होते हैं।

सकाम और निष्काम भेद से कर्म भिन्न है, इसलिए यज्ञ का स्वरूप भी भिन्न है। सकाम कर्म भी कामनाओं के नानात्व से अनेक प्रकार का है। तेल चाहनेवाला और मक्खन चाहनेवाला—ये दोनों यद्यपि सकाम हैं, तथापि दोनों के कर्म एक-से नहीं कहे जा सकते। तेल की चाहवाले को तेल की प्राप्ति के लिए सरसों आदि पीसना चाहिए, किन्तु मक्खन चाहनेवाले को उसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। उसके लिए आवश्यक है दूध या दही मथना। पुत्रेष्टि और कारीरी एक फल के साधक नहीं है।

नित्य कर्म में व्यक्तिगत फलानुसन्धान न रहने पर भी आनुषङ्गिक रूप से फल का उदय होता ही है, इसलिए स्वाभाविक नियम के अनुसरण का नियम है। निषिद्ध कर्म से केवल चित्त की ऊर्ध्वगति ही बन्द होती है, ऐसी बात नहीं है; किन्तु निषिद्ध कर्म के अनुष्ठान से अधोगति होती है—परिणाम में दुःख का उदय होता है। फलानुसन्धान न रहने के कारण काम्य कर्म द्वारा भी चित्त मलिन होता है। काम्य कर्म से (दुःखमिश्रित) अनित्य सुख का उदय होने पर चित्त-शुद्धि का व्याघात होता है[1] और आत्मज्ञान का मार्ग कुछ समय के लिए रुक जाता है। इसलिए शास्त्र ने कहा है—

नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।
मोक्षार्थी न प्रयतेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः॥

इसी कारण बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में कहा है कि अग्न्याधान आदि नित्य कर्म क्षेम-साधन हैं। वैध भोग भी भोग ही है। निषिद्ध भोग के समान उससे पतन न होने पर भी साक्षात् रूप से उससे कोई सहायता नहीं मिलती। निषिद्ध भोग से भोग-वासना क्रमशः बढ़ती है। वैध भोग से भोग-वासना क्रमशः शान्त हो जाती है। इसलिए, शास्त्र में बहिर्मुख चित्तवाले के लिए उसका विधान है। किन्तु, जिसका चित्त बाहर घूमते-घूमते श्रान्त हो चुका हो और विषय-भोग के दोषों को देखता हुआ वैराग्य-युक्त हो गया हो, उसके लिए साधारण वैध कर्मों की आवश्यकता नहीं है।

(२)

यज्ञ की चर्चा छेड़ने पर वैदिक युग की कर्ममय जीवन-धारा का एक सुमधुर चित्र हृत्पटल पर अङ्कित हो उठता है। इसलिए, पहले वैदिक क्रिया-कलाप का थोड़ा परिचय देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। वैदिक युग में आर्यजाति के सामाजिक

---

१. काम्य कर्म से चित्त-शुद्धि नहीं होती, यह बात नहीं है। चित्त-शुद्धि अवश्य होती है, पर वह भोग की उपयोगिनी होती है, ज्ञान की उपयोगिनी नहीं। आचार्य सुरेश्वर ने अपने वार्त्तिक में कहा है—

"काम्येऽपि चित्तशुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा।"

इसीलिए, मधुसूदनसरस्वती ने कहा है—

"यद्यपि काम्यान्यपि शुद्धिमादधति धर्मस्वाभाव्यात् तथापि सा तत्फलभोगोपयोगिन्येव न ज्ञानोपयोगिनी।" (गी० १८।६)।

जीवन में अग्नि देवता का स्थान बहुत ऊँचा था। उस समय तीनों वर्ण और तीनों आश्रमों में किसी-न-किसी रूप में अग्नि-परिचर्या और अग्नि-उपासना प्रचलित थी। ब्रह्मचर्य-अवस्था में ब्रह्मचारी को सायंकाल और प्रातःकाल शुद्ध स्थान से अग्नि लाकर पञ्चभू-संस्कार की प्रक्रिया से भूमि-संस्कार कर उस अग्नि में समिधाओं का आधान करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य-जीवन में अन्त तक, अर्थात् समावर्त्तन-काल तक इस नियम का पालन करना पड़ता था। विवाह के बाद चतुर्थी-कर्म के अन्त में[1] शुभ दिन में आधान कर स्मार्त्ताग्नि ग्रहण करनी पड़ती थी। सहोदर भाई के न रहने पर यही नियम प्रचलित था। सहोदर भाई के रहने पर पिता की मृत्यु के अनन्तर धन बाँटते समय अग्नि-ग्रहण आवश्यक होता था। वैवाहिक अग्नि का ग्रहण किये विना कोई गृहस्थ नहीं बन सकता था। कारण चाहे जो कुछ भी हो, यदि कोई अग्नि ग्रहण न कर सकता था, तो उसका अन्न, अपवित्र होने के कारण, लोग ग्रहण करना नहीं चाहते थे, उसकी 'वृथापाक' कहकर निन्दा करते थे। किसी अनिवार्य कारण से यथासमय आधान न कर सकने पर प्रायश्चित्त कर पीछे आधान करना पड़ता था। ब्राह्मण के लिए तो यह नियम अवश्य पालनीय था। अग्नि का आधान न करने पर आत्मशुद्धि नहीं होती थी, अतएव परमेश्वर की उपासना अथवा याग-कर्म में अधिकार उत्पन्न नहीं होता था। गृहस्थ-धर्म भार्या के साथ किया जाता है, इसीलिए आधान के समय भी भार्या का रहना आवश्यक था। गृहस्थ-आश्रम में अग्निसेवा ही मुख्य उपासना मानी जाती थी। इस अग्नि का अन्य नाम गृह्य या आवसथ्य अग्नि अथवा पाकाग्नि है। इसी अग्नि में सभी स्मार्त्त कर्म करने पड़ते हैं। अन्नपाक (रसोई) भी इसी अग्नि में करने का विधान है। विशिष्ट लक्षणों से युक्त वैश्य-कुल आदि से अथवा अरणि का मन्थन कर अग्नि का संग्रह करना पड़ता था।

अरणि-मन्थन की प्रणाली सर्वसाधारण को ज्ञात नहीं है, इसलिए यहाँ उसका विवरण दिया जा रहा है। शमीगर्भ (शमी के वृक्ष पर उगे हुए) पीपल के वृक्ष की पूर्वमुख या उत्तरमुख या ऊपर को फैली हुई शाखा को पीछे की ओर ताके विना काटकर उसके काठ से अधरारणि और उत्तरारणि का निर्माण किया जाता है। शमी-गर्भ पीपल वृक्ष के न मिलने पर साधारण पीपल की शाखा से भी उक्त कार्य किया जा सकता है। अरणि की लम्बाई २४ अंगुल, चौड़ाई ६ अंगुल और ऊँचाई ४ अंगुल होती है। अरणि की मनुष्य रूप में कल्पना करने पर शास्त्रानुसार उसके छह भाग होते हैं। उनमें पहला भाग ४ अंगुल—मस्तक, नेत्र, कान और मुख उसके अन्तर्गत हैं। दूसरा भाग ४ अंगुल—गरदन, छाती और हृदय उसके अन्तर्गत हैं। तीसरा भाग छह अंगुल—पेट, कमर और वस्ति उसके अन्तर्गत हैं। चौथा भाग २ अंगुल—वही गुह्य स्थान है। उक्त भाग याज्ञिक लोगों में देवयोनि के नाम से परिचित है। पाँचवाँ भाग ४ अंगुल—दोनों जाँघें उनके अन्तर्गत हैं। छठे भाग में दोनों घुटने और पैर सन्निविष्ट हैं। उस भाग का प्रमाण ४ अंगुल है। चौथे भाग के अन्तर्गत दो अंगुल के

१. चतुर्थी-कर्म के बाद ही पत्नी में भार्यात्व सिद्ध होता है, इसलिए चतुर्थी-कर्म के अन्त में आधान का विधान है।

योनि-स्थान का मन्थन कर अग्नि को उद्दीप्त करना पड़ता है। उस स्थान से उद्भूत अग्नि कल्याणकारिणी होती है। यह स्थान का नियम प्रथम मन्थन के लिए ही है। उसके बाद के मन्थनों के समय स्थानविशेष की, अर्थात् देवयोनि के विचार की कोई आवश्यकता नहीं है। अग्नि-मन्थन कार्य में प्रमन्थ, चात्र, ओविली, नेत्र आदि उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है।[१] उस अग्नि की जीवन-पर्यन्त यत्न के साथ रक्षा करना गृहस्थ का कर्त्तव्य माना गया है। इसका कुण्ड गोलाकार बनाना पड़ता है। यदि किसी को स्त्री के साथ वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना हो, या उसे इस अग्नि के साथ न जाकर एकाकी वनगमन करना हो, तो जाने के पूर्व अग्नि का विसर्जन करना पड़ता है। उस अग्नि में औपासन होम आदि आत्मसंस्कारकारी सभी पाकयज्ञों को करने का नियम है। उस अग्नि को अपने स्थान से उठाकर बाहर ले जाने का शास्त्र का आदेश नहीं है। यदि पुत्र आदि के उपनयनादि संस्कार अथवा शान्ति, पौष्टिक आदि कर्म बाह्यशाला में करने हों, तो उन्हें लौकिक अग्नि में ही करना उचित है।

औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिक श्राद्ध, श्रवणा, शूलगव—ये सब कर्म पाकयज्ञ के अन्तर्गत हैं। औपासन होम सायंकाल और प्रातःकाल किया जाता है। स्थूल दृष्टि से सायंकाल और प्रातःकाल के ये दो होम पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में दोनों के मिलने पर एक ही कर्म सिद्ध होता है; कारण कि दोनों के संयोग से एक ही फल की उत्पत्ति होती है। इसलिए, इन दो में से किसी एक का अनुष्ठान कर दूसरे का त्याग करने पर फल की उत्पत्ति नहीं होती। सायंकाल से प्रातःकाल तक इस कर्म का विस्तार है। दही में सने हुए चावल अथवा अक्षतों द्वारा हाथ से होम करने का विधान है। सायंकाल के प्रधान देवता अग्नि हैं और अङ्गदेवता प्रजापति हैं। प्रातःकाल के प्रधान देवता सूर्य हैं और अङ्गदेवता अग्नि हैं। यह कर्म जीवन-पर्यन्त सपत्नीक को करना चाहिए, न करने पर प्रत्यवाय होता है।

पक्षादि कर्म—'पक्षादि' कहने से यद्यपि प्रतिपदा का बोध होता है, तथापि 'सन्धिमभितो यजेत', अर्थात् सन्धि से पहले और बाद में यज्ञ करना चाहिए, इस नियम के अनुसार विशेषज्ञ लोगों ने पर्व के (अमावास्या-पूर्णिमा के) चतुर्थांश और प्रतिपदा के प्रथम तीन अंशों को यज्ञकाल माना है। इसीलिए, अमावास्या और पूर्णिमा के चतुर्थांश को भी यागकाल जानना चाहिए।

---

१. चात्र = जिस काष्ठ में रस्सी लपेटकर मन्थन किया जाता है, उसका नाम चात्र है। उसका परिमाण १२ अंगुल है। ओविली = चात्र के ऊपर चात्र को रोकने के लिए जो छेदवाला काष्ठ लगाया जाता है, उसका नाम ओविली है। उसकी भी माप १२ अंगुल है। नेत्र = मन्थन-रज्जु सन अथवा गोवाल से बनाई जाती है। प्रमन्थ = अग्नि-मन्थन के लिए चात्र के अधोभाग में उत्तर अरणि-काष्ठ से अलग जो आठ अंगुल की कील लगाई जाती है, उसका नाम प्रमन्थ है। अधोभाग में प्रमन्थ से जड़े हुए चात्र के ऊपर ओविली रखकर चात्र को नीचे अरणि के देवयोनि-स्थान में रखकर नेत्र द्वारा तीन बार लपेटकर प्रमन्थन करना पड़ता है। मन्थन-काल में अरणि को केवल भूमि में न रखकर संस्कृत भूमि या कृष्णसार मृग के चर्म के ऊपर रखने का नियम है।

वैश्वदेव कर्म—यह देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ और ब्रह्मयज्ञ नाम के पाँच महायज्ञों का पर्याय है। इन पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान गृहस्थ के प्रतिदिन के अवश्य कर्त्तव्य कर्मों के अन्तर्गत है। इसके प्रभाव से गृहस्थ-जीवन में होनेवाली पाँच प्रकार की अवश्यम्भाविनी हिंसाओं से उत्पन्न पाप धुल जाते हैं। चूल्हा, सिलवट्टा आदि पाँच गृहस्थ के सूना या हिंसाकारक स्थान हैं। गार्हस्थ्य जीवन के साथ लगे हुए उक्त पाप से मुक्ति पाने के लिए पंच महायज्ञों की व्यवस्था है। पंचमहायज्ञ वास्तव में समस्त विश्व के प्राणियों की सेवारूप हैं। ऊपर के देवलोक ऋषिलोक और पितृलोक, मध्य में मनुष्यलोक और नीचे अन्य प्राणी या तिर्यग्योनि जीवलोक—इस प्रकार पाँच श्रेणियों में जगत् के सकल प्राणी सन्निविष्ट हैं।[1] देवताओं के निमित्त नित्यहोम देवताओं को तृप्त करता है। यही देवयज्ञ है। मनुष्येतर जीवों के लिए जो बलिदान या आहार-प्रदान है, वही भूतयज्ञ है। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, पिपीलिका आदि एवं पृथ्वी, वायु और जल के देवता, ओषधि, वनस्पति के अभिमानी जीव, मन्यु देवता, आकाशस्थ कामदेवता आदि इस भूतयज्ञ से आप्यायित होते हैं। पितृ-पुरुषों की तृप्ति के लिए नित्य ही उनके उद्देश्य से जो बलि-प्रदान किया जाता है, वही 'पितृयज्ञ' कहलाता है। और कुछ न दे सकने पर 'पितृभ्यः स्वधा' कहकर अन्ततः जलपात्र देने की व्यवस्था है (द्रष्टव्य बौधायन)। नित्य अतिथि-सेवा और ब्राह्मण के लिए अन्न या फलमूल का दान मनुष्य-यज्ञ है। आपस्तम्ब के मत में प्रतिदिन मनुष्य के लिए यथाशक्ति दान देना भी मनुष्य-यज्ञ के अन्तर्गत है। नित्य स्वाध्याय या वेदपाठ, अधिक नहीं तो प्रत्येक वेद के प्रथम मन्त्र का पाठ, वह भी न हो सके, तो प्रणव का जप ब्रह्मयज्ञ या ऋषियज्ञ के नाम से परिचित है। इस वेदपाठ में किसी दिन किसी कारण से अनध्याय नहीं हो सकता। प्राचीन काल में यह वेदपाठ 'ब्रह्मसत्र' कहा जाता था।

पार्वण—यह छह पुरुषों के उद्देश्य से प्रति अमावास्या को किया जानेवाला नित्य कर्म है।

अष्टका-श्राद्ध—हेमन्त और शिशिर इन दो ऋतुओं के चार महीनों में प्रत्येक कृष्णाष्टमी के दिन यह किया जाता है। यह अवश्य कर्त्तव्य होने पर भी किसी-किसी शाखा में विशेष कारणों से विलुप्त हो गया है।

मासिक-श्राद्ध—यह प्रतिमास करणीय है।

---

१. समस्त विश्व के समस्त प्राणियों का स्मरण कर यथाशक्ति अन्नादि द्वारा उनकी तृप्ति या सेवा करने का भाव पञ्चमहायज्ञों का प्राण है। पारस्करगृह्यसूत्र के भाष्यकार हरिहर द्वारा उद्धृत निम्नलिखित दो पद्यों में यह भाव सुन्दर ढङ्ग से प्रकाशित हुआ है—

"देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसङ्घाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥
पिपीलिकाकीटपतङ्गकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया प्रदत्तं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥"

अनुवाद अनावश्यक है। इसमें देवता से पिपीलिका और वृक्ष तक के जीवों का नाम-निर्देश किया गया है।

श्रवणा-कर्म—श्रावण मास की पूर्णिमा से अगहन मास तक प्रतिदिन सन्ध्या समय सर्पों के लिए घृत-मिश्रित सत्तू का बलिदान करना पड़ता है। उसका नाम श्रवणा-कर्म है।

शूलगव—इस कर्म के देवता ईशान और द्रव्य गौ है। कलियुग में वह निषिद्ध है। उसके बदले में किसी-किसी शाखा में स्थालीपाक की व्यवस्था है।

ऊपर जिन सब कर्मों के नाम कहे गये हैं, वे सब गृह्यकर्म हैं और गृह्य अग्नि से किये जाते हैं।

श्रौत कर्म गृह्य कर्म से सर्वथा भिन्न हैं एवं वे सब कर्म गृह्य अग्नि से किये भी नहीं जा सकते। उनके लिए श्रौत अग्नि का आधान आवश्यक होता है। श्रौत अग्नि तीन प्रकार की है—आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि। एक ही दिन तीन अग्नियों की स्थापना होती है। प्रत्येक अग्नि का कुण्ड भिन्न आकार का होता है। आहवनीय का कुण्ड चौकोर, गार्हपत्य का गोलाकार और दक्षिणाग्नि का अर्द्धचन्द्रकार। गार्हपत्य अग्नि साधारणतः हवि के पाक के लिए व्यवहार में लाई जाती है। पत्नी-संयाजादि याग भी उसमें किये जाते हैं। दक्षिणाग्नि से साधारणतः पितृकर्म करने की व्यवस्था है। आहवनीय ही मुख्य यज्ञाग्नि है। मुख्य श्रौत (गार्हपत्य) अग्नि की स्मार्त्त अग्नि की तरह जन्म-भर रक्षा करनी पड़ती है। यदि किसी कारण से बीच में अग्नि का विच्छेद हो जाय, तो पुनः विधिपूर्वक आधान कर उसे सुलगा लेना चाहिए। पिता के जीवित रहते अग्निहोत्री होने पर ही पुत्र का आधान में अधिकार होता है। पिता के पश्चात् तो पुत्र का अधिकार स्वतः सिद्ध है। श्रौत कर्म में तीनों अग्नियों का आवश्यकता होती है। किन्तु, स्मार्त्त कर्म में एक मात्र गृह्याग्नि आवश्यक है। सभ्याग्नि इन चार अग्नियों से पृथक् पाँचवीं अग्नि है। उसका श्रौतसूत्र में ही विधान है। वह सभा-मण्डप में स्थापित कर रखनी पड़ती है। इसीलिए, उसका नाम सभ्य अग्नि है। प्रत्येक अग्नि का स्थान पृथक्-पृथक् है।

श्रौत कर्म हविःसंस्था और सोमसंस्था के भेद से दो प्रकार के हैं। अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध और दर्वीहोम (पिण्ड-पितृयज्ञ आदि) पहले के अन्तर्गत हैं। यदि दर्श और पौर्णमास की पृथक् यज्ञ रूप से गणना न की जाय, तो सौत्रामणी को संस्था के अन्तर्गत समझना चाहिए। द्वितीय संस्था के अन्तर्गत अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम हैं।

आधान-सिद्ध वैतानिक अग्नियों में अग्निहोत्रादि कर्म किये जाते हैं। अग्निहोत्र इस प्रकार के एक होम का नाम है, जो अग्नि के उद्देश्य से सायंकाल और प्रातःकाल किया जाता है। उसमें गोदुग्ध, यवागू, तण्डुल, दही, घी आदि विविध वस्तुओं का विधान है। सायंकाल में अग्नि मुख्य देवता है, किन्तु प्रातःकाल में सूर्य मुख्य देवता है। यह श्रौत कर्म ही वास्तविक अग्निहोत्र है। बहुत-से लोग स्मार्त्त औपासन होम को अग्निहोत्र समझते हैं। यह ठीक नहीं है। अग्निहोत्र अति प्रशस्त और अवश्य करणीय कर्म है, न करने पर प्रत्यवाय होता है। परम संकट-काल में भी उसका परित्याग नहीं किया जाता। दर्शपौर्णमासादि यदि न किये जायँ, तो भी कोई हानि नहीं, किन्तु

अग्निहोत्र अवश्य ही करना चाहिए। यदि हो सके, तो यजमान को स्वयं ही उसका अनुष्ठान करना चहिए। असमर्थ होने पर ऋत्विक् द्वारा प्रतिनिधि रूप में कराने की व्यवस्था है।

दर्शपौर्णमास—यह अमावास्या और पूर्णिमा को किया जाता है। आधान के पश्चात् यदि अमावास्या पड़ जाय, तो भी उसमें इष्टि न कर आनेवाली पूर्णिमा से ही इष्टि का आरंभ करना चाहिए। दर्शेष्टि उसके बाद होती है। इसमें सपत्नीक यजमान और चार ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता और अग्नीध्र। दर्शपौर्णमास के छह याग सब इष्टियों की प्रकृति या आदर्श हैं, सब इष्टियाँ विकृति हैं। प्रकृति में आवश्यक सब अङ्गों का उपदेश रहता है, किन्तु विकृति में वह नहीं रहता। यह भी यावज्जीवन करना चाहिए। असमर्थ के लिए अन्ततः ३० वर्ष तक करना उचित है। इस यज्ञ में बहुत-से पदार्थों के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है।

चातुर्मास्य—इसके चार पर्व हैं—(१) वलिवैश्वदेव—फाल्गुन की पूर्णिमा से, (२) वरुणप्रघास—आषाढ की पूर्णिमा से, (३) पाकमेध्य—कार्त्तिक की पूर्णिमा से एवं (४) शुनासीरीय—फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा से अनुष्ठेय है। चातुर्मास्य जीवन-भर करना पड़ता है। अन्यथा केवल एक वार करके उसके बाद पशुयाग, सोमयाग आदि किये जाते हैं। जिसे यावज्जीवन करने की इच्छा हो, उसको यह प्रतिवर्ष करना चाहिए। ऐष्टिक, पाशुक और सौमिक भेद से चातुर्मास्य तीन प्रकार का है। (इसका विस्तार कात्यायनश्रौतसूत्र के ५वें अध्याय में देखना चाहिए)।

निरूढपशुबन्ध—यह प्रतिवर्ष वर्षाऋतु में किया जाता है।

आग्रयणेष्टि या नवान्न-इष्टि—नवीन अन्न उत्पन्न होने के बाद यह किया जाता है। आहिताग्नि (अर्थात्, जिसने अग्नि का आधान किया हो) इस इष्टि द्वारा याग करके नवान्न ग्रहण करता है। जो आहिताग्नि नहीं है, औपासनिक है, वह गृह्यसूत्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार इसका अनुष्ठान करता है।

सौत्रामणी—यह एक पशुयाग है। स्वतन्त्र और अङ्गभूत—यों दो प्रकार के पशुयागों का विवरण मिलता है। स्वतन्त्र याग में एकमात्र ब्राह्मण का अधिकार है। वह नित्य, काम्य और नैमित्तिक भेद से तीन प्रकार का हो सकता है। इस याग में होम के लिए गोदुग्ध के साथ सुरा का भी विधान है। पयोग्रह और सुराग्रह में से सुराग्रह का देवता सूत्रामा है। इसी कारण इस याग का नाम सौत्रामणी पड़ा है। कलियुग में सुरा निषिद्ध होने से निन्दित है। किसी-किसी आचार्य ने उसके बदले पयोग्रह की व्यवस्था की है। सौत्रामणी याग यदि फलाकांक्षा-रहित होकर किया जाय, तो यह नित्यकर्म के अन्तर्गत है और हविर्यज्ञ का एक प्रकार से भेदमात्र है। वह यदि ऐश्वर्य ('ऋद्धि') की आकांक्षा से किया जाय, तो काम्य रूप में परिणत होता है। सौत्रामणी में तीन या पाँच पशुओं की बलि का विधान है। आपस्तम्ब के मतानुसार तीन पशुवाली सौत्रामणी नित्या कहलाती है तथा पाँच पशु की सौत्रामणी को कोकिल सौत्रामणी कहते हैं। कात्यायन के मत में पाँच पशुवाली सौत्रामणी को नित्या कहते हैं। चरण सौत्रामणी नामक एक और याग है, वह राजसूय के अन्तर्गत है।

सोमयाग—यहाँ पर सोमयाग के सम्बन्ध में संक्षेप से कुछ कहा जा रहा है। इसका दूसरा नाम अग्निष्टोम है। प्राचीन काल में सोमलता से रस निकालकर उससे होम किया जाता था, इसलिए इसका नाम 'सोमयाग' पड़ा, वर्त्तमान समय में उक्त लता अत्यन्त दुर्लभ है; अतः उसके बदले 'पूतिका' व्यवहार में लाई जाती है। यद्यपि यह याग एक ही दिन में सम्पन्न हो सकता है, तथापि यदि अंगों के साथ इसका अनुष्ठान करना हो, तो पाँच दिन लग जाते हैं। इस याग में १६ ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। ये अध्वर्यु (यजुर्वेदीय), ब्रह्मा (अथर्ववेदीय), होता (ऋग्वेदीय) और उद्गाता (सामवेदीय) इन चार समूहों में विभक्त रहते हैं। प्रत्येक समूह में चार ऋत्विक् रहते हैं। ये चार समूह क्रमशः यजुर्वेद, अथर्ववेद, ऋग्वेद और सामवेद के प्रतिनिधि-रूप होते हैं। सोमयाग में तीन ही वेदों का सम्बन्ध दिखाई देता है। प्रथम इस याग में चार संस्थाएँ हैं—जैसे अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। इन चारों से और तीन संस्थाओं का उद्भव है—जैसे अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम। स्मृति के मतानुसार ये चार संस्थाएँ ही नित्य हैं। पाँच दिनों में किस दिन कौन कर्म करना चाहिए, यह श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट है।

वाजपेय—केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय का इसमें अधिकार है। सप्त संस्थाओं के अन्तर्गत वाजपेय में वैश्य का भी अधिकार है। यह कर्म शरत्काल में किया जाता है। सौत्रामणी के समान वाजपेय में भी सुराहोम का विधान है। किन्तु, वह कलिकाल में वर्जित है। याज्ञिक लोग सोमसुरा के स्थान में ताम्रपात्रस्थ गोदुग्ध के साथ सोमरस का व्यवहार करते हैं; क्योंकि गोदुग्ध यदि ताम्रपात्र में रखा जाय, तो वह सुरा-तुल्य हो जाता है।

राजसूय—इसमें एकमात्र राज्यसिंहासनारूढ क्षत्रिय का ही अधिकार है। इष्टि, पशुयाग और सोमयाग ये तीनों ही इसमें समप्रधान रूप से विद्यमान रहते हैं।

अश्वमेध—यह भी एक प्रकार का सोमयाग ही है। इसमें सवनीय पशु अश्व है, इसलिए इसका नाम अश्वमेध पड़ा है। अभिषिक्त चक्रवर्त्ती राजा इसका अधिकारी है। फाल्गुन मास में शुक्लाष्टमी या नवमी तिथि को इसका आरंभ होता है। इसमें होता को पूर्व दिशा में उत्पन्न द्रव्य, ब्रह्मा को दक्षिण दिशा में उत्पन्न वस्तु, अध्वर्यु को पश्चिम दिशा की वस्तु और उद्गाता को उत्तर दिशा की वस्तु दक्षिणा के रूप में दी जाती है। किन्तु भूमि, पुरुष और ब्राह्मण-सम्पत्ति दक्षिणा में नहीं दी जा सकती।

पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध आदि यागों का उल्लेख भी आर्ष ग्रन्थों में पाया जाता है। जो 'अतिष्ठा' या सब भूमियों का अतिक्रमण करनेवाली स्थिति को प्राप्त करने की इच्छा करता है, उसके लिए पुरुषमेध यज्ञ का विधान है। यह ४० दिनों में पूर्ण होता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय इसके अधिकारी हैं। यज्ञ-दक्षिणा—ब्राह्मण के लिए सर्वस्व; क्षत्रिय के लिए प्रायः अश्वमेध के तुल्य है। तो भी इतना विशेष है कि अश्वमेध में पुरुष को दक्षिणा के अनर्ह बतलाया है, किन्तु पुरुषमेध में पुरुष भी दक्षिणा हो सकता है। जो पुरुषमेध करते हैं, वे साधारणतः आत्मा में अग्नि का समारोपण कर सूर्योपस्थानपूर्वक वन में चले जाते हैं, फिर लौटकर घर नहीं आते। ऐसा होने पर भी

यदि घर लौटने की इच्छा करें, तो अग्नि का समारोपण आत्मा में न करके दो अरणियों में करना चाहिए, कारण की आत्मा में अग्नि का समारोपण करने पर फिर गृहस्थ-जीवन नहीं चल सकता। सर्वमेधयज्ञ सब कामनाओं के लिए विहित है। पितृमेध मृत पिता की मृत्यु के वर्ष का स्मरण न रहने पर किया जाता है।

दिनों के हिसाब से यज्ञों के और भी कुछ भेद हैं। जो सब याग एक दिन में पूर्ण होते हैं, उन्हें एकाह कहते हैं। जिन्हें सम्पन्न करने के लिए दो दिन से लेकर ग्यारह दिनों की अपेक्षा होती है, उन्हें अहीन कहते हैं। तेरह दिनों से लेकर हजार वर्षों तक चलनेवाले जो याग के अनुष्ठान हैं, उनका साधारण नाम सत्र है। द्वादशाह यज्ञ अहीन और सत्र दोनों नामों से अभिहित होता है।

(३)

तान्त्रिक होम के स्वरूप की आलोचना करने पर प्रतीत होता है कि वैदिक याग में जिस प्रकार मन्त्रादिजन्य संस्कार द्वारा साधारण अग्नि को दिव्य अग्नि में परिणत किया जाता है एवं उस दिव्य अग्नि में आत्मसंस्कारसाधक और अन्यान्य यागादि कर्म किये जाते हैं, ठीक वैसे ही तान्त्रिक होम की प्रक्रिया भी जाननी चाहिए। बाह्य अग्नि-संस्कार आदि के प्रभाव से होमाग्नि और इष्टाग्नि परिणत हो किस प्रकार ब्रह्माग्नि तक के स्वरूप में प्रकाशित होती है, उसका क्रम स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। दो अरणि-काष्ठों की परस्पर रगड़ से अग्नि को उत्पन्न कर अथवा अन्य शास्त्रीय उपायों से अग्नि का संग्रह कर वह विशेष प्रकार के पात्र में रखी जाती है। यद्यपि वह केवल बाह्य अग्नि ही है, तथापि साधारण अग्नि से उत्कृष्ट है। उस अग्नि के साथ कुछ अशुद्ध क्रव्याद अग्नि मिली रहती है। उसको हटाकर निरीक्षण, प्रोक्षण, ताडन, अवगुण्ठन और अमृतीकरण इन पाँच उपायों से बाह्य अग्नि का शोधन किया जाता है। उसके पश्चात् भावना द्वारा मूलाधार से सुषुम्णा-मार्ग में गई हुई चैतन्यरूप अग्नि को तृतीय नेत्र से बाहर निकालकर, उसे शुद्ध बाह्याग्नि में मिलाकर, उस संयुक्त अग्नि का शिववीर्य-रूप से देवीगर्भ-रूप अग्नि-कुण्ड में निक्षेप किया जाता है। उस व्यापार को वागीश्वरी-गर्भ में वागीश्वर-बीज के निषेक का अनुकल्प समझना चाहिए। उसके अनन्तर इन्धन द्वारा आच्छादन कर उपस्थापन, उपासन और प्रज्वालन किया जाता है। साथ-ही-साथ भावना करनी पड़ती है कि यही वागीश्वरी-गर्भ में अग्नि का धारण और पोषण है। यहाँतक के कर्म के सिद्ध होने पर भावना द्वारा अग्निदेव के पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और जातकर्म-संस्कार कर नामकरण किया जाता है। नामकरण-संस्कार के पहले तक अग्नि को केवल 'होमाग्नि' समझना चाहिए। किन्तु, नामकरण द्वारा होमाग्नि इष्टाग्नि का रूप धारण करती है। उपास्य देवता के नाम के अनुसार अग्नि का नामकरण होता है—जैसे ललिता के उपासक की अग्नि का नाम ललिताग्नि इत्यादि। तदनन्तर, भावना द्वारा ही अग्नि के नामकरण के पश्चात् होनेवाले विवाह-पर्यन्त सब संस्कार किये जाते हैं। तदुपरान्त परिषेचन, परिस्तरण आदि कर्मों के अन्त में हवन से पहले हवन-द्रव्य के अनुसार अग्निदेव का ध्यान किया

जाता है। यदि समिधों से होम करना हो, तो अग्नि का दण्डायमान रूप में ध्यान करना चाहिए, किन्तु आज्य होम के समय अग्नि का दण्डायमान रूप में ध्यान न कर उपविष्ट रूप में ध्यान करना चाहिए। ध्यान के बाद अग्नि को मन-ही-मन अलङ्कारों से विभूषित कर स्रुवा द्वारा उनकी जिह्वाओं में आहुति दी जाती है। अग्नि की सात जिह्वाएँ हैं। उनमें से प्रत्येक में आहुति देनी चाहिए अथवा प्रयोजन के अनुसार किसी एक ही जिह्वा में देनी चाहिए। एक-एक जिह्वा एक-एक दिशा में फैलती है। तदनुसार छह जिह्वाओं का प्रसार छह दिशाओं में रहता है। एक जिह्वा बीच में रहती है। ईशान, पूर्व और अग्निकोण में तीन और विपरीत दिशाओं में नैऋत, पश्चिम और वायुकोण में तीन। इन छह जिह्वाओं के नाम क्रमशः हिरण्या, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा और अतिरक्ता हैं।[1] उत्तर-दक्षिण में स्वतन्त्र रूप से कोई जिह्वा नहीं रहती। जो मध्य में है, वही उत्तरदक्षिण तक विस्तृत है। उस मध्यजिह्वा का नाम है 'बहुरूपा'। उसमें आहुति देने से सब अर्थ सिद्ध होते हैं, ऐसा शास्त्रों में निर्देश है। उस जिह्वा में इष्टस्वरूपा जगज्जननी का आवाहन कर पूजा के अन्त में अङ्गदेवी, नित्या, ओघत्रय (अर्थात् दिव्य, सिद्ध और मानव—ये तीन प्रकार के गुरु), आवरण-देवता और यज्ञेश्वरी—सबको निष्काम भाव से आहुति दी जाती है। प्रधान देवता की आहुति उसके अनन्तर विहित है। इस प्रकार आहुति देने के बाद महाव्याहृति होम की व्यस्त-समस्त रूप से समाप्ति कर ब्रह्मार्पण-आहुति में परब्रह्म में स्थिति प्राप्त की जाती है।

पूर्वोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि चिदग्नि कर्मकर्त्ता के नेत्र से निकलकर जबतक बाह्याग्नि से संयुक्त न हो, तबतक बाह्याग्नि चाहे कितनी ही शुद्ध क्यों न हो, होमाग्नि का कार्य नहीं कर सकती। अवश्य चिदग्नि-संचार के पहले बाह्याग्नि को शुद्ध करना आवश्यक है। जैसी मूर्त्ति बनाकर उसमें यद्यपि प्राण-प्रतिष्ठा करनी पड़ती है, तथापि उस मूर्त्ति का ही अवलम्बन कर पूजा करनेवाले के पूजनादि सब व्यवहार होते हैं, वैसे ही बाह्यादि में भी भीतर से चिदग्नि का संचार किये बिना याग-क्रिया नहीं हो सकती। अवश्य, यह सब प्रक्रिया साधारण अवस्था में भावना द्वारा ही करनी पड़ती है, किन्तु भावना भी ठीक तरह करने के लिए उच्चाङ्ग का योग-कर्म में अधिकार रहना आवश्यक है।

---

१ संस्काररत्नमाला में उद्धृत वचन में भी सात नाम दिखाई देते हैं, किन्तु वहाँ यह विशेष है कि हिरण्या के स्थान में सुवर्णा शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ जिह्वाओं के सन्निवेश में भी थोड़ा अन्तर है। गृह्यसंग्रह में और मार्कण्डेयपुराण में अग्नि की सात जिह्वाओं के नाम इस प्रकार उल्लिखित है—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधर्मवर्णा स्फुलिंगिनी और शुचिस्मिता (गृ० सं०) या विश्वा (मार्कण्डेयपुराण)। पौराणिक मत से विश्वा प्राणियों की सर्वदा मङ्गलकारिणी है। भविष्यपुराण में जो सब अग्निजिह्वाओं के नाम हैं, उनमें से कितने प्रथम सात नामों से और कितने ही दूसरे सात नामों से अभिन्न है। गृह्यसंग्रह में एक दूसरी नामावली पाई जाती है। वह इस प्रकार है—कराली, धूमिनी, श्वेता, लोहिता, महालोहिता, सुवर्णा और पद्मरागा। प्रथम छह का क्रमशः भोग करते हैं राक्षस, असुर, नाग, पिशाच, गन्धर्व और यम। सातवीं या पद्मरागा दिव्य जिह्वा है। उसी में होम करना चाहिए—"तस्यां तु होमयेन्नित्यं सुसमिद्धे हुताशने।" पद्मरागा का नाम भविष्यपुराणोक्त नामावली में भी है।

होमाग्नि चेतन या प्राणमय है। पहले शरीर रचनाकर, उसके पश्चात् उसका संस्कार कर उसमें चैतन्य का संचार करना चाहिए। उसके बाद चेतन अग्नि की दिव्य भाव में स्थिति होती है, जिसके कारण उस अग्नि में ही पराशक्ति की बाह्य स्फुरण-रूप से प्रतीति होती है। उसके पश्चात् उसका ब्रह्माग्नि-रूप से अनुभव कर ब्रह्मार्पण-कार्य सम्पन्न करना चाहिए।

तान्त्रिक याग के प्रसङ्ग में छह प्रकार के कुल यागों का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है। उन छह यागों में प्रथम बाह्य स्थण्डिल आदि के अवलम्बन से सिद्ध होता है एवं षष्ठ आत्मचैतन्य रूप संवित् का अवलम्बन करके किया जाता है। जड़ से चैतन्यरूप में क्रम-विकास का मार्ग मध्यवर्त्ती चार यागों में स्पष्टतः दिखाई देता है। इन छह यागों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर पर याग श्रेष्ठ है। तदनुसार, संवित् में जो याग निष्पन्न होता है, वही सर्वश्रेष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं है। उसकी भी एक उत्तर अवस्था है; उस समय गुरु शरीर का आश्रय लेकर याग निष्पन्न होता है। उसका एक प्रकार से सप्तम याग के रूप में वर्णन करना उचित है। इन सब यागों का विस्तारपूर्वक निरूपण यहाँ अनावश्यक है।

(४)

यहाँ पर हम क्रमशः यज्ञ के अन्तरङ्ग भाव को समझने की चेष्टा करेंगे। गीता (४–२५।३०) में श्रीभगवान् ने बहुत-से यज्ञों का प्रतिपादन किया है। किन्तु, समन्वय दृष्टि से यदि देखा जाय, तो उन सब यज्ञों में से एक ही आदर्श विद्यमान है, फिर भी लक्ष्य की अपेक्षाकृत स्पष्टता अथवा अस्पष्टता-वश उनमें तारतम्य प्रतीत होता है। दूसरे प्रसङ्ग (गी० १०।२५) में भगवान् ने कहा है कि नाना प्रकार के यज्ञों में मैं 'जप-यज्ञ' स्वरूप हूँ। शास्त्र में अन्यत्र भी दिखाई पड़ता है कि सम्पूर्ण कर्मकाण्ड, दान और तपस्या—ये सब मिलकर भी जप-यज्ञ की सोलह कलाओं में से एक कला के समान भी नहीं हैं। जप, विशेषतः मानस जप, अतिश्रेष्ठ साधन है, इसमें सन्देह नहीं है।

धर्मसूत्रकार बौधायन ने कहा है, 'सर्वक्रतुयाजिनामात्मयाजी विशिष्यते।' अर्थात्, सब प्रकार के यज्ञों में आत्मयाग ही श्रेष्ठ है[1]। मानस जप यदि भली भाँति किया जाय, तो आत्मयाग में परिणत होता है। इसीलिए, उसकी इतनी बड़ी महिमा है।

'यज्ञ' शब्द से कर्म का बोध होता है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु जिस किसी

---

१. आधान के पश्चात् जब अग्नियाँ यजमान में स्थित होती हैं, तब गार्हपत्य अग्नि यजमान के प्राण-रूप में रहती है, दक्षिणाग्नि अपान रूप में रहती है, आहवनीय व्यान रूप में रहती है, सभ्य और आवसथ्य अग्नियाँ क्रमशः उदान और समान रूप में रहती हैं। ये पाँच अग्नियाँ आत्मस्थ—आत्मा में आहित रहती हैं। उस समय बाहर कोई अग्नि नहीं रहती। इसीलिए, उस समय 'आत्मन्येव जुहोति', आत्मा में ही हवन होता है। इसका नाम आत्मयाग—आत्मनिष्ठा और आत्मप्रतिष्ठा है (बौधायनपृ० २१०-२११)।

कर्म को यज्ञ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि काम्य कर्म भी यज्ञ नाम से परिचित है, तथापि वह यज्ञ का वास्तविक आदर्श नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है। जिस कर्म से शुद्धि—देहशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि, अहङ्कारशुद्धि और चित्तशुद्धि होती है, जिस कर्म का फल स्वार्थ नहीं, परार्थ है, जिस कर्म से नया आवरण नहीं बनता, बल्कि पहले का आवरण क्षीण हो जाता है, जो मार्ग जीव को क्रमशः कल्याण के मार्ग में अग्रसर होने में सहायता देता है और अन्त में महाज्ञान तक प्राप्त कराता है, वही यज्ञ है। इसीलिए, गीता में कहा है,यज्ञार्थ के अतिरिक्त अन्य कर्मों से बन्धन होता है। वास्तव में, निष्काम भाव से किया गया, फलाकाङ्क्षा-रहित योगस्थ कर्म या स्वभाव-सिद्ध कर्म ही यज्ञ है। पहले ही कहा जा चुका है कि फलाकाङ्क्षा न रहने पर भी यदि कर्म विधिपूर्वक किया जाय, तो वह स्वाभाविक नियम के अनुसार फल उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकता एवं उक्त फल निष्काम कर्मकर्त्ता में स्थित न होकर सम्पूर्ण विश्व की साधारण सम्पत्ति के रूप में व्याप्त हो जाता है एवं यज्ञेश्वर की प्रीति उत्पन्न करता है। वह प्रीति, प्रसन्नता या प्रसाद ही निष्काम कर्मकर्त्ता का योग्य पुरस्कार है। वही 'अमृत' है। पञ्चमहायज्ञों का अवशिष्ट अन्न 'यज्ञशिष्ट' और यजमान का भोग्य अन्न 'अमृत' कहलाता है। वस्तुतः, वह प्रसाद या भगवत्प्रीति का रूपान्तर-मात्र है। उसको खाने से चित्त शुद्ध होता है एवं अशुचि-स्पर्श से उत्पन्न पाप, बुद्धिपूर्वक किये गये पाप और अबुद्धिपूर्वक किये गये पाप नष्ट हो जाते हैं।

त्याग और ग्रहण—ये ही दो कर्म के अङ्ग हैं। जो असार होने से हेय है, उसका त्याग करना और जो ससार होने से उपादेय है, उसका ग्रहण करना, ये दोनों क्रियाएँ ही कर्म या यज्ञ के स्वरूप हैं। प्रकृति-राज्य में सभी पदार्थ सांकर्य दोष से युक्त हैं। यहाँ ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसमें बिलकुल मल न हो और ऐसी भी वस्तु नहीं है, जिसमें केवल मल-ही-मल हो और कुछ न हो। जगत् की सभी वस्तुओं में शुद्ध और अशुद्ध अंश सम्मिलित हैं। क्रिया-कौशल से शुद्धाशुद्ध-मिश्रित पदार्थ से क्रमशः उस अशुद्ध अंश का त्याग और शुद्ध अंश की वृद्धि होती है। उक्त क्रिया-कौशल ही यज्ञ का रहस्य है। जिसके द्वारा यह त्याग-ग्रहण-रूप सारासार-विवेचन-क्रिया निष्पन्न होती है, वही चैतन्य-शक्ति है। यज्ञीय परिभाषा में उसी का प्रतिनिधि है यथाविधि सुसंस्कृत 'अग्नि'। शक्ति के सुप्त रहने पर कर्म नहीं होता। उसे जगाकर और साधनादि द्वारा संस्कृत कर उससे कर्म किया जाता है। अग्न्याधान आदि क्रिया उसी की केवल पारिभाषिक संज्ञा है। कुण्डलिनी के जागे बिना जैसे योग-क्रिया सिद्ध नहीं होती, वैसे ही होमाग्नि के प्रज्वलित हुए बिना यज्ञ का काम भी सिद्ध नहीं होता।

मूल शक्ति के एक और अभिन्न होने पर भी व्यवहार-भूमि में वह अनेक और भिन्न है। मूल शक्ति में यद्यपि क्रम नहीं है, तो भी जागतिक शक्ति में जो क्रम है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। स्तर-भेद से ऊर्ध्वगति या विकास की क्रमिक अभि-व्यक्ति आदि उसी के ऊपर निर्भर हैं। ऊपर चढ़ने की सीढ़ी पर पदार्पण करने के पहले सर्वप्रथम शक्ति के जागरण का अनुभव होता है। उसके बाद इसी स्तर में जाग्रत् शक्ति के प्रभाव से मलिनांश दूर हो जाता है और शुद्धांश प्रकाशित होता है। उसके

अनन्तर उच्चतर भूमि की जाग्रत् शक्ति में उस शुद्धांश की आहुति दी जाती है। पहली अग्नि से दूसरी अग्नि तीव्रतर होती है। प्रथम अग्निपरीक्षा में जिसका शुद्धांश-रूप से निर्णय किया जाता है, द्वितीय अग्नि में आहुति देने के बाद उस शुद्धांश में भी सूक्ष्म मल दिखाई देता है। दूसरी अग्नि उसे जला देती है और उस शुद्धांश को शुद्धतर करके प्रकाशित करती है। यद्यपि वह शुद्ध अंश भी सर्वथा अशुद्धि-रहित नहीं है, तथापि द्वितीय अग्नि की क्रिया से वह अशुद्धि प्रतीत नहीं होती। उसके बाद तृतीय अग्नि की क्रिया चलती है। इस प्रकार, जबतक अशुद्धि रहती है, तबतक अग्नि की दाहिका शक्ति दहन-कार्य और मलापसारण-कार्य में व्यापृत रहती है। सत्त्व से मल के पूर्णतया निकल जाने पर वह विशुद्ध सत्त्व के नाम से परिचित होता है। अग्नि उस समय फिर अग्नि नहीं रहती; क्योंकि मल या विशुद्धि दाह्य है—दाह्य के न रहने पर दाहिका शक्ति भी कार्य नहीं करती। तब फिर अग्नि अग्नि नहीं कही जा सकती। तब वह विशुद्ध ज्योतिमात्र है। उसमें एक ओर विशुद्ध ज्योति और दूसरी ओर विशुद्ध सत्त्व विद्यमान रहते हैं।

विषय को और अधिक स्पष्ट कर समझाने का प्रयत्न कर रहा हूँ। मनुष्य देहात्म-बोध लेकर जिस भूमि में विद्यमान हैं, वही निम्नतम भूमि है। जैसे, विभिन्न जीव-लोकों में पृथ्वी निम्नतम है, वैसे ही ज्ञानभूमियों में से जिस भूमि में स्थूल देह में आत्म-प्रतीति होती है, वही निम्नतम भूमि है। इस कारण इस अधोभूमि में ही पहले से शक्ति का जागरण[1] आवश्यक है। जाग्रत् शक्ति का पहला ही कार्य आत्मबोध को स्थूल देह से हटाकर ऊपर के स्तर में ले जाना है। व्यष्टि मानव-देह या पिण्ड, समष्टि देह या ब्रह्माण्ड एवं महासमष्टि देह या विश्व सर्वत्र ही विश्लेषण करने पर अन्न-मय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँच प्रधान स्तरों या कोषों का पता चलता है। अन्नमय कोष स्थूल है। पहले उस कोष से अभिमान निकल-कर प्राणमय कोष में जाता है। उसके लिए सप्तधातुमय अन्नमय कोष के सार वीर्यरूप बिन्दु का दोहन कर उसके अनुरूप अनल (अग्नि) में आहुति देनी पड़ती है। ऊर्ध्व-रेतस्त्व अथवा बिन्दु की ऊर्ध्वगति का यही मूल साधन है। पञ्चाग्निमय महायज्ञ के प्रारम्भ में पहले भी अग्नि में या जठरानल में सौम्यवस्तु या आहार्य की आहुति देने से, अर्थात् प्राणाग्निहोत्र यज्ञ के प्रभाव से क्रमशः सप्तम धातु का विकास होता है। जो अभिमान स्थूल देह में अहं-भाव प्रकट करता है, वह मूलतः उसी बिन्दु का अव-लम्बन करके रहता है। साधारणतः बिन्दु की आहुति देना संभव नहीं है, इसलिए बिन्दु बहिर्मुख होता है और अवश्यंभावी मृत्यु का कारण होता है।[2] ज्ञानपूर्वक बिन्दु

---

१. यद्यपि एक प्रकार से शक्ति सर्वदा और सर्वत्र जाग्रत् ही है, तथापि जबतक उसकी अपने को प्राप्ति नहीं होती, तबतक उसकी सुप्त में ही गणना की जाती है। शक्ति को प्राप्त करना ही शक्ति का जागरण है। तभी वह व्यवहार-भूमि में अवतीर्ण होती है।

२. बिन्दु की बहिर्मुख होने की रीति यों है—मनुष्य-देह में विद्यमान असंख्य नाड़ियों या सिराओं में हृदय से संलग्न मनोवहा नाम की एक नाड़ी है। उसकी शाखा-प्रशाखाएँ सारे शरीर में व्याप्त रहती हैं। उस नाड़ी के सम्बन्ध में इस प्रकार का विवरण मिलता है—

की ऊर्ध्वगति होने पर 'जीवनं बिन्दुधारणात्' इस नियम के अनुसार नित्य जीवन अवश्यम्भावी है।[१]

बिन्दु की आहुति पड़ती है द्वितीय अग्नि में। उसका ओजोरूप सार भाग प्राणमय द्वितीय कोष की पुष्टि करता है। देह का प्रथम अमृत वीर्य है, वह अन्नमय कोष का पोषक है। द्वितीय अमृत ओज है, वह प्राणमय कोष का पोषक है। किन्तु, जबतक ओज शुद्ध नहीं होता, तबतक मनोमय कोष को पुष्ट नहीं कर सकता। उस शुद्धि के लिए तृतीय अग्नि में ओज की आहुति देनी पड़ती है। तब ओज निर्मल होकर मन के रूप में प्रस्फुटित हो उठता है। ओज का मलिन अंश निकल जाता है और शुद्ध अंश मनोमय कोष की पुष्टि करता है। मन का धर्म संकल्प और विकल्प है, अतः मनोमय सत्त्व सर्वथा निर्मल नहीं है। साधारणतः मनुष्य-मात्र ही उक्त विकल्प के अधीन है। चतुर्थ अग्नि में मन की आहुति होने पर मन से वह विकल्पांश हट जाता है

"अश्वत्थनाडीवद्व्याप्ता द्विसप्ततिशताधिका।
नाडी मनोवहेत्युक्ता योगशास्त्रविशारदैः॥"

श्रुति में कहा है—'अन्नमयं हि सौम्यं मनः।' मनोवहा नाडी अन्नरस द्वारा हृदयान्तर्वर्त्ती मन को आप्यायित करती है। यही अन्नरस की सूक्ष्मसत्ता सम्पूर्ण देह में तेज के रूप में संचित होती है, जिसके कारण देह में कान्ति, सौन्दर्य, लावण्य, धृति, स्वास्थ्य आदि गुणों का विकास होता है। किसी कारण से चित्त में कामना का उदय होने पर कामना और उसकी सहकारिणी इन्द्रियाँ मिलकर उस व्यापक तेज को मथकर स्थूल वीर्य-रूप में परिणत करती हैं। साथ-ही-साथ मनोवहा नाडी उसे सारे शरीर से खींचकर घनीभूत बिन्दु का रूप प्रदान करती है एवं अपने बहिर्मुख वेग से देह से निकाल देती है, देह में रहने नहीं देती। बिन्दु-क्षरण का यही तात्पर्य है। महर्षि अत्रि ने इसी कारण अन्नरस, कामना और मनोवहा नाडी इन तीन कारणों के सम्मिलन से अभिव्यक्त बीज को 'त्रिबीज' नाम दिया है। (द्रष्टव्य : नीलकण्ठ चतुर्धर का भारत-प्रदीप)। बिन्दु का क्षरण होता है कालाग्नि-कुण्ड में। जरा, मरण, विकार, मालिन्य आदि उसी के फल हैं।

१. ज्ञानपूर्वक न होने पर भी स्वाभाविक नियम के अनुसार बिन्दु की ऊर्ध्वगति क्षीणरूप से (मन्दगति से) होती ही है। उस गति को रोकने की शक्ति किसी में भी नहीं है। वही क्रमशः शुद्ध होकर सहस्रार के मध्य बिन्दु में—सदाख्या कला में—प्रकट होता है। योगशास्त्र में प्रसिद्ध है कि शङ्खिनी नाडी अन्न का सार लेकर मस्तक में सुधा का संग्रह करती है—

"अन्नसारं समादाय मूर्ध्नि संचिनुते सुधाम्।"

यही दैहिक प्रकृति का नियम है। किन्तु, यह सुधा या चन्द्रबिन्दु पूर्ण अक्षर-बिन्दु नहीं है, आंशिक रूप से इसका क्षरण होता है। इसीलिए, ब्राह्मी स्थिति नहीं होती और कालराज्य से छुटकारा नहीं मिलता। वस्तुतः, यह बिन्दु ही निरन्तर कालाग्नि-कुण्ड में गिर रहा है, जिसके कारण जीव-देह जरा और मृत्यु से अपना बचाव नहीं कर पाता है। ज्ञानपूर्वक बिन्दु की क्रमिक ऊर्ध्वगति सिद्ध होने पर स्थिति प्राप्त होती है। यह ऊर्ध्वगति-सिद्धि क्रम के विना भी हो सकती है। तो भी सज्ञानभाव आवश्यक है। ऐसा भी हो सकता है (अवश्य उसका कथन यहाँ पर नहीं हो रहा है) कि ऊर्ध्वगति का प्रश्न ही नहीं, किसी प्रकार की भी गति नहीं होती, सब प्रकार की गतियों के मध्य में ही गतिहीन स्वप्रकाशमय स्थिति प्राप्त हो जाती है। किन्तु, प्रकाश को स्वप्रकाश होना आवश्यक है, नहीं तो उसका रहना भी न रहने के समान है।

और विशुद्ध संकल्प-मात्र शेष रह जाता है। इसी का नाम विज्ञान है। विज्ञान के द्वारा विज्ञानमय कोष की पुष्टि होती है। यही योगभूमि अथवा ऐश्वरिक जीव की भूमि है।[1] विज्ञान में अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही हैं। अनुकूल ज्ञान सुख और प्रतिकूल ज्ञान दुःख है। प्रतिकूलता ही विज्ञान का मल है। इसलिए, विज्ञान की भी अनुरूप अग्नि में आहुति देनी पड़ती है। पञ्चम अग्नि में शुद्ध होकर विज्ञान आनन्द-रूप में परिणत होता है। यही पञ्चम अमृत है, जो आनन्दमय कोष का उपजीव्य है। उसमें मल न होने के कारण उसका शोधन नहीं होता। यह नित्य, अमृत और अक्षय है। चाहे व्यष्टिरूप हो, चाहे समष्टिरूप, यह आनन्दमय कोष ही माँ की गोद है, अर्थात् आनन्दरूपा माँ की सत्ता है। यह पञ्चम अमृत विशुद्ध सत्त्वमय परमानन्द है। इसकी फिर आहुति नहीं देनी पड़ती।

आहुति भले ही न देनी पड़े, तो भी कहना पड़ता है कि वहाँ भी एक प्रकार की आहुति है। एक प्रकार से वही अन्तिम आहुति है। यद्यपि उसका अन्य आहुतियों के समान आहुति-रूप से वर्णन करना ठीक नहीं है, फिर भी आहुति से अन्य कोई योग्य नाम भी तो उसे नहीं दिया जा सकता। वही 'ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्' है। आनन्दमय कोष भी कोषों में ही गणनीय है, इसलिए उसका भी अतिक्रम करना पड़ता है। वह एक ओर आत्मसमर्पण या अपने को रिक्त करना है और दूसरी ओर पूर्ण आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा—अपरिच्छिन्न, अनन्तस्वरूप शक्तिमय आत्मस्वातन्त्र्य में अधिष्ठान है।

जहाँतक मृत्यु का सम्बन्ध है अथवा मलिनता है, वहाँतक तो आहुति की आवश्यकता है। वहीं तक अग्नि भी है। उसके अनन्तर आत्मस्वरूप में अग्नि का समारोपण होता है। अमृतीकरण और मलापसारण पूर्ण होने पर लौकिक दृष्टि से आहुति के लिए अवकाश नहीं रहता। किन्तु, यथार्थ में पूर्णता के मार्ग में यहाँ पर भी आहुति की आवश्यकता है। उक्त प्रकार से प्राप्त आनन्द या परमानन्द का भी समर्पण करना पड़ता है। वह नित्य सत्तारूप होने पर भी द्वितीय रूप में ही आस्वादित होता है। इसलिए, वह भी एक प्रकार भोग के ही अन्तर्गत है। जबतक उसका समर्पण नहीं होता, तबतक भोक्तृ-भोग्यभाव से रहित अद्वय विशुद्ध चैतन्य में स्थिति नहीं होती है: 'चिदवसानो भोगः।' वस्तुतः, आनन्द ही तो प्रियतम को उपहार देने के लिए एकमात्र योग्य वस्तु है। पहले पाँच दिव्य अग्नियों में आनन्द के साथ मिश्रित रूप से निरानन्द का अर्पण हुआ है। उसके कारण आनन्द का उज्ज्वलतम रूप क्रमशः स्वायत्त हुआ। चरम आहुति में उस महान् आनन्द का भी या अमृत का भी समर्पण कर आनन्द से परे स्व-स्वरूप से स्थिति प्राप्त की जाती है। ऐसा होने पर मूल अविद्या की ग्रन्थि खुल जाती है और द्वन्द्वातीत परम साम्य में प्रतिष्ठा प्राप्त हो

---

१. यद्यपि यह जीव की ही भूमि है, तथापि साधारण जीव की नहीं। विज्ञान-भूमि का जीव विज्ञान-मय और सत्यसंकल्पतावश योगसिद्ध है, इसलिए वह जीव होने पर भी 'ईश्वर'-पदवाच्य है। उक्त भूमि में मनोवहा नाडी की कोई क्रिया नहीं होती।

जाती है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।' आनन्द ही वह हिरण्यमय पात्र है, जिसके द्वारा पूर्ण सत्य का स्वरूप आवृत है।

मृत्यु उन्हें देनी होगी, अमृत भी देना होगा, दुःख उन्हें देना होगा, उसके बाद आनन्द भी देना होगा। उन्हें हेय देना होगा, साथ-ही उपादेय भी देना होगा। तभी तो निर्मल प्रकाश का उदय होगा। तभी तो एक मात्र वह सर्वातीत, द्वन्द्वातीत, सत्ता ही, जो सब रूपों में अनन्त द्वन्द्वमय विचित्र विकासों के रूप में प्रकाशमान हुई है, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगी। अमृत और मृत्यु, दुःख और सुख उन्हीं के रूप हैं। लौकिक या अलौकिक किसी अग्नि का सामर्थ्य नहीं है, जो उस चरम आहुति या पूर्णाहुति का ग्रहण कर सके; क्योंकि वह निर्मल अमृत है। एकमात्र ब्रह्माग्नि या विशुद्ध चैतन्य-रूप अग्नि में ही उस परम अमृत सोम को धारण करने की क्षमता है। उसमें अग्नि और सोम एकाकार होते हैं—चैतन्य और आनन्द अथवा शिव और शक्ति सामरस्य प्राप्त करते हैं। इसी का नाम परिपूर्ण सत्य है।

योगी लोग साधारणतः पाँच स्तरों में विश्व को विभक्त कर व्याख्या करते हैं, इसलिए यहाँ पर भी पाँच स्तर लिये गये हैं। यह संख्या का निर्देश केवल समझाने की सुविधा के लिए है। पाँच स्तर-विभाग लिये गये हैं। इसीलिए, अग्नियों का भी पाँच रूपों में ग्रहण किया गया है।[1] वास्तव में स्तर अनन्त और असंख्य हैं, अथ च एक ही स्तरहीन अखण्ड सत्ता सर्वत्र विराजमान है।

दिव्य पाँच अग्नियों की क्रिया समाप्त होने पर अग्नियों का आत्मा में पूर्ण-रूप से आरोप हो जाता है। उस समय आत्मभाव अनात्मसत्ता से हटकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सृष्टि-रहस्य अत्यन्त विचित्र है। यहाँ अमृत और मृत्यु, आनन्द और दुःख, शुद्ध सत्त्व और रजस्तम, अच्छा और बुरा साथ-साथ संलग्न रहते हैं। आत्मबलि-रूप यज्ञ के द्वारा उनका विभाग कर शुद्ध सत्त्व अंश के सम्बन्ध से ऊपर उठा जाता है। अशुद्ध अंश का तत्काल के लिए परिहार करना पड़ता है। क्रमशः ऐसी अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें अमृत रहता है, मृत्यु नहीं रहती, आनन्द रहता है, दुःख नहीं रहता, सार वस्तु रहती है, असार वस्तु नहीं रहती, शुद्ध सत्त्व रहता है, रज और तम नहीं रहते। यहीं पर शोधन का एक प्रकार से अन्त कहा जा सकता है। इसके अनन्तर

---

१. याज्ञिकों की पञ्चाग्नियों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। उपनिषद् में पञ्चाग्नि-विद्या के प्रसंग में पञ्चाग्नि का वर्णन है। तपस्वी लोग वानप्रस्थ आश्रम में पञ्चतपा (भागवत, ४—२३—५; ११।१८) करते थे। वे लोग जिन सूर्यादि पाँच अग्नियों का अवलम्बन करते थे, वह दूसरा प्रकार है। प्रस्तुत निबन्ध में अग्नियों का जो विभाग दिखाया गया है, उसका सम्बन्ध कोष-भेद के साथ है। कार्य-भेद से भी अग्नि के भिन्न-भिन्न नामों का उल्लेख शास्त्रों में पाया जाता है। उदाहरणार्थ, मारुत, चान्द्रमस, शोभन, हुताशन, हव्यवाहन, वह्नि, साहस, वरद, मृड, जठराग्नि, क्रव्याद, वाडव, संवर्त्तक, पावक आदि नामों का उल्लेख किया जा सकता है। सुरेश्वराचार्य ने देहस्थित—कालाग्नि, वाडवाग्नि, वैद्युताग्नि, पार्थिवाग्नि, सूर्याग्नि प्रभृति का उल्लेख किया है (दक्षिणामूर्त्ति वार्त्तिक, ९।१०)।

महाज्ञान का उदय होने पर अमृत और मृत्यु का भेद नष्ट हो जाता है। आनन्द और दुःख का फिर पृथक् रूप से बोध नहीं होता। उस समय दिखाई देता है कि एक ही स्वप्रकाशमय चिदानन्दमय महाप्रकाश मानों भीतर और बाहर ओतप्रोत भाव से (वस्तुतः, भीतर-बाहर उस समय कहाँ है ?) अपने में विराजमान है। यही पूर्ण साक्षात्कार की अवस्था है।[1]

(५)

यज्ञ के लिए ('यज्ञो वै विष्णुः') या भगवान् के लिए जो कर्म है अथवा यज्ञरूप जो कर्म है, उसे यदि सम्पन्न करना हो, तो सर्वप्रथम देहाभिमान की शुद्धि आवश्यक होती है। एक ओर व्यष्टिदेह के अभिमान की और दूसरी ओर समष्टि या महासमष्टि देह के अभिमान की शुद्धि आवश्यक है। वस्तुतः, प्रकृति या स्वभाव के गुणों द्वारा ही एवं मूल में चित्-शक्ति की प्रेरणा से ही सब कर्म होते हैं। किन्तु, मनुष्य जबतक अहङ्कार से विमोहित रहता है, तबतक अपने में कर्तृत्व का अभिमान करता है। उक्त मिथ्याभिमान के कारण कर्मविपाक से होनेवाले सुख-दुःख-भोग से सम्बद्ध हो पड़ते हैं। यज्ञरूप कर्म की जड़ में इस प्रकार के अशुद्ध अभिमान का मोह नहीं रहता और व्यक्तिगत आकांक्षा की पूर्त्ति की कामना भी नहीं रहती, इसलिए वह विशुद्ध कर्म है।

इस कारण उसका आरम्भ करने के पूर्व ही देहस्थित आधार-कुण्ड में होमाग्नि को प्रज्वलित करने की आवश्यकता होती है। वह अग्नि यद्यपि मूल में एक ही है, तो भी उसके आकृतिगत और प्रकृतिगत अनेक भेद हैं। तदनुसार, कर्मगत और अधिकारगत भेद भी विद्यमान हैं। प्राण और अपान के संघर्ष से अथवा प्रणव और आत्मा के ध्यान-रूप मन्थन से अथवा अन्य किसी उपाय से अग्नि को प्रज्वलित करना पड़ता है। अनादि काल से जो अमूल्य रत्न उपेक्षित होकर गुप्त रूप से पड़ा हुआ है, उसका उस प्रदीप्त अग्नि के आलोक से अन्वेषण कर आविष्कार करना चाहिए। लौकिक आलोक तो क्या, दिव्य आलोक भी उस 'गुहा-निहित' पदार्थ को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है।

योगी जिसको कुण्डलिनी का उद्बोधन कहते हैं, वह इस होमाग्नि-बोधन का ही भीतरी पर्याय है। आत्मविस्मृत, संशयाच्छन्न जीव श्वास-प्रश्वास के

---

१. यहाँ पर क्रम का अवलम्बन करके ही पर-पर अवस्थाओं का उदय और उसके बाद साक्षात्कार की बात कही गई है। यह क्रम अवश्य ही अनेक प्रकारों से हो सकता है। किन्तु, यह सत्य है कि वास्तविक साक्षात्कार अक्रम है—उसमें क्रम नहीं है, अर्थात् क्रम भी वहाँ पर अक्रम में पूर्ण रूप से प्रकट होता है। साधक की योग्यता के तारतम्य अथवा शक्ति के तारतम्य से क्रमभेद होता है। आणव, शाक्त और शाम्भव इन तीन उपायों में से शाम्भव उपाय श्रेष्ठ है। अनुपाय की तो कथा ही नहीं है—अनुपाय में किसी उपाय के नियन्त्रण के बिना ही परमेश्वर का पूर्ण समावेश होता है। शाम्भव उपाय में भी क्रमिक साधना की आवश्यकता नहीं रहती। एक साथ अखण्ड सत्ता का भान होता है। प्रातिभ ज्ञान में क्रम नहीं नहीं है। उसमें एक ही क्षण में सबका पूर्ण प्रतिभास अपरोक्ष रूप से होता है।

अधीन रहकर इडा-पिंगलामय काल-राज्य में विचरण कर रहे हैं। जबतक कुण्डलिनी नहीं जगती, तबतक काल-मार्ग का त्याग कर सुषुम्णा-रूप मध्यमार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता एवं मध्यमार्ग में प्रविष्ट हुए विना योगस्थ होकर कोई कर्म करने का भी कोई उपाय नहीं है।[1] मध्य मार्ग में कुछ दूर तक प्रवेश पा सकने पर ही समझ में आयगा कि स्थूल शरीर से निष्क्रमण और सूक्ष्म देह के प्रथम स्तर में प्रवेश हुआ है। श्वास कालनाडी को छोड़ना आरम्भ कर देता है और सुषुम्णा में प्रविष्ट होकर नीचे-ऊपर संचार करता रहता है। बाह्य जगत् की स्मृति उस समय प्रायः लुप्त हो जाती है, किन्तु भीतर चैतन्य उज्ज्वल-रूप से प्रस्फुटित हो उठता है। आगे की भूमि में सुषुम्णा के अन्दर स्थित वज्रा नाडी में[2] प्रवेश होता है और सूक्ष्म देह के प्रथम स्तर से निकलकर दूसरे स्तर में स्थिति होती है। उस समय वज्रा नाडी की शाखा-प्रशाखाओं में संचार होता रहता है। इसके बाद चित्रिणी नाडी में प्रविष्ट होने पर संशय-रहित ज्ञान का उदय होता है, हृदय-ग्रन्थि कट जाती है और विकल्पमय अशुद्ध जीवभाव नष्ट हो

---

१. 'मध्य' कहने से वास्तव में शुद्ध चित् का बोध होता है, कारण कि वही सब वस्तुओं का अन्तरतम है एवं उसकी भित्ति पर खड़ा होकर ही सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है। किन्तु, मायिक अवस्था में शुद्ध चित् निजस्वरूप में रहकर भी मायिक खेल के लिए अपने स्वरूप का गोपन करती है और स्वभावतः प्राण-बुद्धि और देह-भाव धारण कर हजारों नाडियों के जाल में व्याप्त होती है और नाडी-मार्ग का अनुसरण करती है। उन सब नाडियों में मध्य नाडी प्रधान है। वह देह के ऊपर से नीचे तक फैली है। वही प्राणशक्ति का आश्रय है। सब नाडियों के उदय और विश्रान्ति का वही एकमात्र आधार है। जबतक उस नाडी का विकास नहीं होता, तवतक साधक का पशुभाव नष्ट नहीं होता। परमेश्वर के समान सृष्टि आदि पाँच कर्मों के कर्त्तृत्व की भावना, विकल्पक्षय, शक्तिसंकोच, शक्तिविकास आदि बहुत-से उपायों से उक्त विकास हो सकता है (द्रष्टव्य प्रत्यभिज्ञाहृदय)। योगकुण्डलिनी-उपनिषद् में जो शक्ति-चालन-रूप सरस्वतीचालन और प्राणरोध-रूप नाना प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख है, उसका भी एकमात्र फल यही है। विज्ञानभैरव में शाक्तक्षोभ, कुलावेश आदि और भी कितने ही विशिष्ट उपायों का विवरण दिखाई देता है। सभी का मूल लक्ष्य मध्यनाडी में प्रवेश है।

२. भूतशुद्धितन्त्र में लिखा है कि सुषुम्णा के अन्दर कुछ ऊपर वज्रा और उसके ऊपर चित्रिणी नाडी स्थित है। इसीलिए, सुषुम्णा त्रिगुणारूप में प्रतीत होती है, अर्थात् वज्रा और चित्रिणी के साथ सम्मिलित होकर त्रिसूत्र रूप में दिखाई देती है। गौतमीतन्त्र के मतानुसार सुषुम्णा सर्वतेजोमयी है। त्रिवर्णानुसार सुषुम्णा अग्निरूप और तमोगुणात्मिका है, वज्रा सूर्यरूप और रजोगुणात्मिका है तथा चित्रिणी चन्द्ररूप और सत्त्वगुणात्मिका है। ऐसी भावना करने का विधान है। ब्रह्मनाडी 'शुद्धबोधप्रबोधा' और त्रिगुणातीता अथच सर्वगुणमयी है। वह मूलाधार-स्थित स्वयंभूलिंग-छिद्र से लेकर सहस्रार में स्थित परमशिव-पर्यन्त फैली है। ब्रह्मरन्ध्र उसी के मुँह में है—सुषुम्णा का मूल भी यहीं पर है। श्रीतत्त्वचिन्तामणिकार पूर्णानन्द कहते हैं कि मेरु के मध्य में सुषुम्णा है। उसके मध्य में (कन्द से दो अंगुल ऊपर स्थित लिंगस्थान से निकली हुई) वज्रा नाडी है और वज्रा के मध्य में प्रणव-विलसित चित्रिणी नाडी विराजमान है। ब्रह्मनाडी चित्रिणी के भी अन्दर है। छुरिकोपनिषद् में सुषुम्णा के अन्तर्गत कैवल्यनाडी का प्रसंग आया है। वह सम्भवतः ब्रह्मनाडी का नामान्तर है। मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् के राजयोग-भाष्य में सुषुम्णा ही ब्रह्मनाडी कही गई है। शास्त्र में और भी बहुत-से स्थलों में इस प्रकार वर्णन आया है। स्थूल दृष्टि से सुषुम्णा को ब्रह्मनाडी कहने में कोई दोष नहीं है।

जाता है। इसी का नाम सूक्ष्म देह के तृतीय स्तर में विश्राम-लाभ है। उस समय ज्ञान-सूर्य का उदय होता है एवं हृदय-कमल उस सूर्य की निर्मल किरणों के संस्पर्श से प्रस्फुटित हो जाता है, खिल जाता है। चित्रिणी के भीतर की ब्रह्मनाडी में प्रवेश पाने पर अपना स्वरूप हृदय से द्वादशान्त[१] (ब्रह्मरन्ध्रस्थ महाशून्य) तक स्पन्दनशील दिखाई देता है। यही ब्रह्मनाल में स्थिति है, शुद्धकारण देह में या महाकारण देह में स्थिति है एवं जगज्जननी माँ की गोद में विश्राम है।[२] विशुद्ध अमृत ही मुख्य भोग है—उससे बढ़कर और कोई भोग नहीं है। उस समय चैतन्यमय स्थिति और अत्यन्त शान्ति होती है। उस समय वस्तुतः भोग और शान्ति अथवा स्थिति और क्रिया का भेद नष्ट हो जाता है, अर्थात् सब कुछ रहते हुए भी मानों कुछ भी नहीं रहता।

आगम में कहा है, यज्ञ का यथार्थ स्वरूप तभी हृदयंगम होता है, जब इन्द्रिय-गोचर और इन्द्रियातीत सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों की आहुति देने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। उस समय इन्द्रियाँ स्रुक् होती हैं (हवि के आधार होमसाधन जुहू को स्रुक् कहते हैं), स्वयं (साधक) होता है होता, अपने आत्मरूपी शिव होते हैं अग्नि और शक्तियाँ होती हैं अग्निज्वालाएँ, अर्थात् परिच्छिन्न चिदात्मा स्वयं ही होता बनकर अपरिच्छिन्न, विशुद्ध चैतन्यात्मक निजस्वरूपभूत अग्नि में इन्द्रियसंवेद्य सब विषयों की

---

१. छत्तीस अंगुल के प्राण-संचार-मार्ग के एक छोर पर हृदय है और दूसरे छोर पर द्वादशान्त या विसर्गान्त पद है (जहाँ पर महाप्रकाश का अनुभव होता है)। उस मार्ग में निरन्तर बिना किसी प्रयत्न के वर्णों का उदय होता रहता है। वह स्वाभाविक है, किन्तु पद और मन्त्र का उदय साधक के प्रयत्न के बिना नहीं होता। वर्ण के उदय में पर और सूक्ष्म भेद से तार-तम्य है। जिसका परवर्ण के रूप में उल्लेख किया गया है, उसकी भी परतर और परतम ये दो अवस्थाएँ हैं। सर्वोत्तम अथवा गम्भीरतम अवस्था ही परतम वर्ण के उदय रूप से प्रसिद्ध है। यही नाद का परम स्वरूप है। उसमें सम्पूर्ण वर्ण परस्पर के पार्थक्य का त्याग कर अविभक्त रूप से सामान्यतः निरन्तर ध्वनित होते हैं। वह नित्य उदित है, उसका तिरोभाव कभी नहीं होता। वास्तविक अनाहत नाद का यही स्वरूप है।

२. कारणदेह और महाकारण देह में भेद है। कारणदेह मायामय, अज्ञानात्मक और आनन्दप्रधान है, किन्तु महाकारण देह महामायामय, ज्ञानात्मक और आह्लादप्रधान है। दोनों देह यद्यपि अचिद् रूप हैं, तथापि प्रथम अशुद्ध और द्वितीय नित्य शुद्ध हैं। पहला त्रिगुणमय और प्राकृत है, दूसरा शुद्ध सत्त्वमय और अप्राकृत है। स्थूल और लिंगशरीर कारण से उद्भूत और संसार में संचरणशील हैं। महाकारण शरीर कारण से अतीत और स्वरूपानन्द का आस्वादन करने-वाला है। प्रथम का क्षेत्र एकपाद विभूति है और द्वितीय का क्षेत्र त्रिपाद विभूति है। तन्त्रमतानुसार महाकारण देह ही बैन्दव देह है। जाग्रत् कुण्डलिनी से उसकी उत्पत्ति होती है। वेदान्त आदि ग्रन्थों मे कोई प्रयोजन न होने के कारण महाकारण देह की आलोचना नहीं है, किन्तु नाथयोगियों ने, कबीर आदि सन्तों ने, दत्तात्रेय आदि अवधूत पुरुषों ने तथा वैष्णव, शैव और शाक्त आगम के अनुयायी सभी साधकों ने किसी-न-किसी रूप में स्पष्टतया इसे स्वीकार किया है। इस देह में चित्-शक्ति साक्षात् रूपसे स्थित है। यही खिष्टीय साधक-समाज में Pneumatic Body जो Pneuma या चित्-शक्ति द्वारा सदा प्रकाशित है। कारणदेह की एक पीठ मायामय है, वही प्रचलित कारणशरीर है, वही निर्मल महाकारण के नाम से परिचित है, वही विशुद्ध ज्ञानदेह है।

इन्द्रियों द्वारा आहुति देता है। निज बोधरूप अग्नि में सब भाव समर्पित होकर अपनी-अपनी पृथक्ता और भेद का त्याग कर एकमात्र बोधरूप में स्फुरित होते हैं। इसी का नाम अमृतीभाव है। इस प्रकार बोध के प्रदीप्त होने पर इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवियाँ इस अमृत का भोग करती हैं, अर्थात् परमबोध रूप से परामर्श करती हैं। देवियाँ तृप्त होकर परमबोध के साथ अभेद को प्राप्त होती हैं। उस समय महास्वातन्त्र्य का उदय होता है और परम प्रकाश के साथ अद्वैतभाव में स्थिति होती है। यही पूर्णता का पूर्वरूप है।

(६)

यज्ञ के रहस्य अर्थ की कुछ-कुछ आलोचना की जा चुकी है। सकाम कर्म-काण्डियों और साधारण जनता को यज्ञ के स्वरूप और उद्देश्य के सम्बन्ध में चाहे जो भी धारणा हो, निष्काम भाव से अनुष्ठित यज्ञ का तात्पर्य उससे कहीं अधिक गंभीर है।[१] पञ्चकोषभेद की दृष्टि से अथवा सुषुम्णा की अन्तर्वाहिनी ऊर्ध्वगति की दृष्टि से एक ही अद्वितीय लक्ष्य अध्यात्ममार्ग के भाग्यवान् पथिक के सामने प्रकट होता है। निष्काम कर्म-रूप यज्ञ का गूढ़तम आदर्श आत्मत्याग है। आत्मसाक्षात्कार के साथ-साथ स्व-स्वरूप में स्थिति ही आत्मयाग का चरम फल है। यज्ञ के आदर्शभूत उत्कर्ष का इस परम लाभ की ('यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः') दृष्टि से ही सुधी लोगों ने निर्णय किया है।

किन्तु, जबतक परम सौभाग्य उदित नहीं होता, तबतक किसी की भी यज्ञ के इस महान् लक्ष्य की ओर दृष्टि नहीं पड़ती। जो इस दृष्टि को प्राप्त होकर यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे कहते हैं—

यत्रेन्धनं द्वैतवनं मृत्युरेव महापशुः।
अलौकिकेन यज्ञेन तेन नित्यं यजामहे॥

(भट्ट श्रीवीरवामनक)

द्वैतवन जिसमें इन्धन है, मृत्यु ही जिसमें महापशु है, ऐसे अलौकिक यज्ञ को, जो अति उच्च आदर्श है, समझने में क्लेश नहीं होता। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि जिनका यही अन्तिम जन्म हो और जिनके ऊपर चित्-शक्ति सुप्रसन्न हों, एकमात्र ऐसे विरले महात्मा के हृदय में ही ऐसे रहस्यमय यज्ञ का स्वरूप प्रतिफलित होता है। वह जन-साधारण का बुद्धिगम्य नहीं है—

एष यागविधिः कोऽपि कस्यापि हृदि वर्त्तते।
यस्य प्रसीदेच्चिच्चक्रं द्रागपश्चिमजन्मनः॥

किन्तु, यज्ञ की एक और दृष्टि है, जो इस महान् आदर्श के साथ सम्बद्ध है।[१] इसकी सूचना पहले ही दी जा चुकी है। शास्त्रों में अनेक स्थलों में यज्ञ विश्वरक्षा

---

१. "सर्वं वेद्यं द्रव्यम्, इन्द्रियाणि स्रुचः, शक्तयो ज्वालाः, स्वात्मा शिवः पावकः, स्वयमेव होता।" (परशुरामकल्पसूत्र १।२६)। इस विश्वहोम का या सर्वत्याग का वर्णन ही आगे के पद्य में किसी एक महापुरुष ने किया है—

का श्रेष्ठतम उपाय होने से 'विष्णु' रूप में वर्णित हुआ है। श्रीभगवान् ने गीता (३-१०-१६) में कहा है कि सृष्टि के आरम्भ से ही प्रजापति ने यज्ञ के साथ मनुष्यों को सम्बद्ध कर उनकी रचना की। उन्होंने कहा है मनुष्यों का कर्त्तव्य देवताओं की भावना करना है, अर्थात् हविर्द्रव्य द्वारा देवताओं का संवर्द्धन करना है। इस प्रकार, मनुष्यों द्वारा संवर्द्धित देवताओं का कर्त्तव्य मानवों की भावना करना है, अर्थात् उनका आप्यायन करना है, सब प्रकार से उन्हें अभिलषित भोग देना है। इन सब देव-प्रदत्त सम्पत्तियों का देवताओं के उद्देश्य से अर्पण न करके भोग करने से ऋणी होना पड़ता है। इस तरह, परस्पर भावना द्वारा ही विश्वचक्र चलता है। जगत् का कल्याण करनेवाली इस महानीति को उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में प्रचलित किया। उन्होंने किसी से भी अपने लिए भावना करने को नहीं कहा। मनुष्य देवताओं के लिए भावना करें, अपने लिए नहीं। देवता भी मनुष्यों के लिए भावना करें, अपने लिए नहीं। यही परमार्थ कर्म है। जीव के साथ भगवान् के आन्तरिक सम्बन्ध की दृष्टि से भी यही नीति दीख पड़ती है। क्योंकि, जो भक्त अनन्यचित्त होकर भगवान् का ध्यान करते हैं, अपने सम्बन्ध में चिन्तन करने का जिनको अवसर नहीं, भगवान् स्वयं उनका योगक्षेम करते हैं, अर्थात् उनके लिए चिन्ता करते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति व्यक्तिगत भाव से अपनी कामना-पूर्त्ति की चेष्टा करते हैं, जो क्षुद्र अहंकार के अधीन होकर स्वयं ही अपनी सब त्रुटियों को दूर करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, उनके लिए विशेष रूप से भगवान् को चिन्ता करने का अवसर नहीं होता—भगवान् उनका सारा भार नहीं लेते। भाव यह कि जो यज्ञार्थ कर्म से विमुख है, जो स्वार्थ चिन्ता में लवलीन है, दूसरों की चिन्ता में जिसका हृदय तत्पर नहीं होता, जो भगवान्

"अन्तः प्रभास्वति निरन्तरमेधमाने मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासभूम्नि विश्वं जुहोमि वसुधादिशिवावसानम्॥"

अर्थात्, पृथ्वी तत्त्व से शिवतत्त्व-पर्यन्त ३६ तत्त्व और उनसे विरचित सम्पूर्ण विश्व को मैं संविद्-अग्नि में—विशुद्ध महाचैतन्य-रूप अग्नि में—आहुति देता हूँ। महान्धकार का विनाश करनेवाले और अलौकिक किरणों को फैलानेवाले ये अग्निदेव निरन्तर हृदय में प्रदीप्त हो रहे हैं। जो महान् अग्निदेव शिवतत्त्व को निगल सकते हैं, वे तत्त्वातीत अखण्ड प्रकाश हैं, इसमें सन्देह ही क्या है?

जिसमें किसी का भी स्वरूप कभी लुप्त नहीं होता, उस परमसाम्यमय अखण्डप्रकाश में सब देश, सब काल, स्थूल और सूक्ष्म सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी विशेषता को लेकर भी अभिन्न रूप से सदा विद्यमान हैं। योगवासिष्ठरामायण (निर्वाण, उत्तरार्द्ध, सर्ग १२५-१२-१४) में कहा है—

अतीतं वर्त्तमानं च भविष्यत् स्थूलमप्यणु।
तथा दूरमदूरं च निमेषः कल्प एव च॥
स्वरूपमजहत्येव सामान्ये भाति सर्वदा।
सर्वात्मनि स्थितान्येव..................॥

अर्थात्, अतीत, अनागत और वर्तमान, दूर और निकट, निमेष और कल्प—ये सब अव्यक्त-स्वरूप सत्तासामान्यरूपी सर्वात्मा में नित्यस्थित हैं।

द्वारा परिचालित मंगलमय यज्ञात्मक[1] 'जगत्-चक्र' का अनुवर्त्तन नहीं करता, उस इन्द्रियाराम व्यर्थजीवन व्यक्ति के लिए विश्व-संस्थान में कोई विशिष्ट स्थान नहीं है—वह कालचक्र में पीसे जाने को बाध्य होता है। काल-चक्र भी ब्रह्मचक्र के ही अन्तर्गत है, इसलिए इस निष्पेषण का फल भी परिणाम में शुभावह होता है—कारण कि उसी से यथासमय उसको सत्यदृष्टि का उन्मेष होता है और वह सत्य भाव से भावित होने में समर्थ होता है।

---

१. ज्योतिष्टोमादिकाम्य कर्मों से चिरस्थायी स्वर्गादि भोग और ऐश्वर्य के सिद्ध होने पर भी जरा, जन्म और मृत्यु की पीड़ा से छुटकारा नहीं मिलता। इसीलिए, श्रुति ने स्पष्ट रूप से सकाम यज्ञों की निन्दा की है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

आदिगुरु दत्तात्रेय और अवधूत-दर्शन

मौने मौनी गुणिनि गुणवान् पण्डिते पण्डितश्च
दीने दीनः सुखिनि सुखवान् भोगिनि प्राप्तभोगः ।
मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिनि प्रौढवाग्मी
धन्यः कोऽपि त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः ॥[1]

भारतीय अद्वैत-साधना के इतिहास में अवधूतों में श्रेष्ठ आदिगुरु, परमहंस श्रीदत्तात्रेय का नाम सुप्रसिद्ध है। 'खण्डनखण्डखाद्य' के रचयिता श्रीहर्ष ने अपने 'नैषधीयचरित' महाकाव्य (२१।९४) में उन्हें **'अद्वयमयेऽध्वनि सरन्तम्'**, अर्थात् अद्वैतमार्ग में गमनशील कहकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया है। शिशुपालवध में महाकवि माघ ने 'अविनाशी विग्रह' (१४।७९) या सिद्धदेहसंपन्न कहकर उनका वर्णन किया है। कविवर माघ ने कहा है कि गुरु-परम्परा का उच्छेद हो जाने के कारण जब सारी श्रुतियाँ लुप्तप्राय हो गई थीं, उस समय वैदिक धर्म की रक्षा और अपनी अप्रतिहत स्मरण-शक्ति द्वारा सर्वलुप्त श्रुतियों का उद्धार करने के लिए अत्रिमुनि द्वारा अनसूया के गर्भ में भगवान् ने प्रवेश किया।[2] क्षीणप्राय वैदिक धर्म में प्राण-शक्ति का संचार करना ही भगवान् श्रीविष्णु का गुरुदेव दत्तात्रेय के रूप में आंशिक अवतार लेने का मुख्य प्रयोजन रहा।[3] महाभारत, उपनिषद्, हरिवंश, भागवत आदि पुराणों एवं पाञ्चरात्र संहिता आदि प्राचीन शास्त्रग्रन्थों में सर्वत्र उनकी महिमा का उज्ज्वल रूप में वर्णन पाया जाता है।

भगवान् दत्तात्रेय केवल महायोगी या महाज्ञानी ही थे, ऐसी बात नहीं। प्रत्युत आत्मविद्या के उपदेशकों में उनका नाम सबसे आगे है। सती मदालसा के पुत्र राजा अलर्क को उन्होंने योगिचर्या, योगसिद्धि, निष्काम बुद्धि आदि के उपदेश के साथ परम योग या ब्रह्मविद्या भी प्रदान की है। कयाधु के पुत्र प्रह्लाद को उन्होंने वैराग्य और सन्तोष का महोपदेश देकर उसका ज्ञानमार्ग प्रशस्त कर दिया। ययाति के पुत्र यदु को जीवन के सभी प्रकार के उपदेश श्रीदत्त गुरु से ही प्राप्त हुए थे। सन्त एकनाथ-कृत 'महाराष्ट्रीय भागवत' में उल्लिखित यदु-अवधूत-संवाद में गुरुदेव दत्तात्रेय से यदु के दीक्षा लेने की कथा वर्णित है। यह दीक्षा योगशास्त्र में 'स्पर्शदीक्षा' नाम से

---

१. जीवन्मुक्तानन्द-लहरी : श्रीमत् शंकराचार्य।

२. अनसूया कर्दमऋषि की कन्या और कपिल भगवान् की भगिनी थी। उन्हीं के गर्भ से विष्णु के अंश-रूप में 'दत्त', शिवांश से 'दुर्वासा' और ब्रह्मा के अंश से 'सोम' उत्पन्न हुए हैं।

३. अहिर्बुध्न्य-संहिता, विष्णुधर्म, ब्रह्मपुराण, कृष्णयामलतन्त्र आदि में अन्यान्य विशिष्ट अवतारों की श्रेणी में ही भगवान् दत्तात्रेय के नाम का भी उल्लेख है।

परिचित है। वहाँ लिखा गया है कि 'सद्गुरु दत्तात्रेय ने प्रकट होकर यदु का प्रेमपूर्वक आलिंगन किया। उस आलिंगन के साथ ही क्षण-भर में यदु को प्रपञ्च की विस्मृति और स्व-स्वरूप का ज्ञान हो गया।' प्राध्यापक आर० डी० राणाडे अपनी पुस्तक Mysticism in Maharastra में राजा यदु और अवधूत गुरु दत्तात्रेय के सम्बन्ध में लिखते हैं—

Avadhut Dattatreya presented him-self to Raja Yadu and hugged him to his breast with great joy. In consequence of this embrace Yadu received first hand knowledge of himself.'

पुराणों का निरीक्षण करने से पता चलता है कि हैहयवंशी राजा कार्त्तवीर्य गर्गमुनि के उपदेश से गुरु दत्तात्रेय के आश्रम में जाकर विधिपूर्वक उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे। उनकी परिचर्या से प्रसन्न हो दत्त गुरु ने उन्हें कितने ही वरदान और धर्मोपदेश दिये। वरदानों में विशेष रूप में उल्लेख्य युद्धार्थ सहस्र भुजाएँ, सम्पूर्ण भूमण्डल का एकच्छत्र साम्राज्य एवं महापराक्रमी योद्धासे मृत्यु—ये तीन वर हैं। तन्त्रशास्त्र में कार्त्तवीर्य का नाम बहुत ही प्रसिद्ध है। उनकी इस प्रसिद्धि के मूल में गुप्त रूप से गुरु दत्तात्रेय का अनुग्रह ही काम कर रहा है, इसमें सन्देह नहीं।

दत्तात्रेय स्वयं अवतार होते हुए भी पृथ्वी पर ऐसी लीला के व्याज से उन्होंने साधक जीवन का अभिनय किया था। उन्होंने अपने पिता अत्रिमुनि के आदेश से गौतमी-वन में दीर्घकाल तक तपश्चर्या और योगिचर्या द्वारा भगवान् शिव (मंगलमय परमतत्त्व) की आराधना कर उन्हें प्रसन्न किया तथा उनकी कृपा से स्वयं ज्ञान और मुक्ति के अधिकारी बने। सिद्धि-प्राप्ति के बाद से ही उनकी तपस्या का यह स्थान 'आत्मतीर्थ' नाम से प्रसिद्ध हुआ। भागवत (११।९-११) में उनके २४ गुरुओं की कथा आती है, किन्तु यहाँ उसका वर्णन अनावश्यक है। कहीं-कहीं ऐसा मालूम पड़ता है कि वे काम-विलास में मत्त होकर भी विकार-विहीन, संसार में रहते हुए भी संसार-बाह्य और उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त-सा आचरण करनेवाले थे[1] (मार्कण्डेय-पुराण)। वे अव्यक्त लिङ्ग और अव्यक्त-आधार परमहंस थे, ऐसा 'जाबालोपनिषद्' में वर्णन आता है। संवर्त्त, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, रैवतक आदि भी इसी कोटि के अवधूत परमहस थे।[2]

---

१. अवधूत-गीता में स्त्री-भोग और मद्य की स्पष्ट निन्दा की गई है। इसलिए, वे मद्यप्रिय थे, ऐसा अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

२. जाबालोपनिषद् में परमहंसाश्रम में तुरीयातीत और अवधूत भूमिकाओं का समावेश कर दत्तात्रेय, दुर्वासा, संवर्त्त आदि अवधूतों को 'परमहंस' कहा है। अवधूतोपनिषद् में 'अवधूत' शब्द की यह व्याख्या की गई है: 'अवधूत' शब्द अ, व, धू और त इन चार अक्षरों से बना है। प्रत्येक अक्षर का अर्थ अत्यन्त गू[illegible] है। 'अ' का अर्थ है, अक्षरत्व (imperishability), यानी जिसने अविनाशी पद प्राप्त कर लिया है वह। दूसरा अक्षर 'व' का अर्थ वरेण्य (acme of perfection), यानी जो सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त करने से सभी के द्वारा पूजनीय है, वह। तीसरे 'धू' का अर्थ है, धूतसंसार-बन्धन (shattering of the trammels of Sansara),

इस प्रकार के अवधूत **'अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्ति'** (पराशर-माधव, अ० २), यानी वास्तव में उन्मत्त न होते हुए भी लोगों के समक्ष उन्मत्त-सा आचरण करते हैं।

स्वयम्भू मन्वन्तर के पूर्व सत्ययुग में दत्तात्रेय का जन्म हुआ। सांसारिक जीवों के दुःख और ताप को नष्ट करने के लिए ही वे स्वेच्छा से जगत् में प्रकट हुए। इसलिए, जबतक जगत् में दुःख और ताप विद्यमान रहेंगे, तबतक वे देह का त्याग न कर एक ही भाव और एक ही देह से बने रहेंगे। इसीलिए, महाप्रलय तक इनका अस्तित्व माना जाता है।

राम, कृष्ण आदि भू-भार-हरण के लिए अवतीर्ण होते हैं और यथासमय रावण, कंस आदि विरोधी शक्तियों के समस्त मूर्तिमान् विग्रहों का विनाश कर स्वेच्छा से शरीर त्याग देते हैं। भागवत (१।१५।३०) में कहा है कि जिस शरीर द्वारा भगवान् ने भू-भार-हरण किया था, उस शरीर का उन्होंने त्याग कर दिया था : **'तां तनुं विजहौ।'** जिस तरह काँटे से काँटा निकालने के बाद वह काँटा त्याग दिया जाता है, भगवान् का त्याग भी लगभग उसी तरह का है। श्रीदत्त शरणागत का दुःख दूर करने के लिए जगत् में आये हैं, इसलिए उन्हें कल्पान्त तक अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनी पड़ेगी। वे स्मरण करते ही भक्तों को दर्शन दे यथासम्भव उनके दुःख दूर कर देते हैं : **'स्मरणमात्रत आगमात्मनः।'** दत्तात्रेयोपनिषद् में लिखा है कि सत्यक्षेत्र में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का संशय दूर करने के लिए भगवान् नारायण ने स्वयं को दत्त[1] रूप में प्रकट कर महासायुज्य और तारक-तत्त्व के सम्बन्ध में समुचित उपदेश दिया था : **'सत्यक्षेत्रे ब्रह्मा नारायणं महासाम्राज्यं किं न तारकं तन्नो ब्रूहि भगवन्नित्युक्तः सत्यानन्दचिदात्मकं सात्त्विकं मामकं धामोपास्वेत्याह। सदा दत्तोऽहमस्मीति··· ।'**

विष्णुदत्त, राजा आयु, साध्य देवगण, पिंगलनाग, दलादन मुनि आदि अनेक प्रसिद्ध महापुरुष सद्गुरु दत्तात्रेय की कृपा प्राप्त कर धन्य हो गये हैं। विश्वविश्रुत है कि दत्तात्रेय ने महर्षि जमदग्नि की पत्नी रेणुका माता के स्नेह से जमदग्नि के और्ध्व-दैहिक कृत्य में स्वयं आचार्यत्व ग्रहण किया था। कार्त्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने जब जमदग्नि की हत्या की, तब रेणुका माता की प्रार्थना पर उन्होंने उसे समयोचित सलाह दी।

यानी जिसने सांसारिक वासनाओं को फेंक दिया है, वह। दूसरे शब्दों में जिसकी वासनाओं का बीज प्रचण्ड ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध हो गये हैं, वह। चौथे 'त' शब्द का अर्थ है, तत्त्वमस्यादि-लक्ष्यत्व (Realization of truth conveyed by 'That thou art' etc. Mahavakyas), यानी जिसका लक्ष्य तत्, त्वम्, असि आदि है। ऐसे नित्य स्व-स्वरूप में स्थित महात्माओं को ही 'अवधूत' कहा जाता है। ऐसे महात्मा अतिदुर्लभ हुआ करते हैं। वे नित्य पवित्र, ज्ञान-वैराग्य की मूर्ति और स्वयं वेद-पुरुष हैं, ऐसा ज्ञानियों का कथन है। अवधूत-उपनिषद्, अवधूत-गीता, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह आदि ग्रन्थों में 'अवधूत' शब्द की विस्तृत चर्चा की गई है।

[1] 'DA' of Dattatreya is equated with Hansamantra (from Indian Sadhus).

जमदग्नि और रेणुका के पुत्र भगवान् परशुराम ने गुरु दत्तात्रेय से भगवती त्रिपुरसुन्दरी का माहात्म्य सुनकर उनकी उपासना-विधि जानने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने विधिपूर्वक त्रिपुरसुन्दरी की साधना के लिए दत्तात्रेय से दीक्षा पाई और उसके बाद गुरु के उपदेशानुसार बारह वर्ष तक महेन्द्रपर्वत के शिखर पर आश्रम में तपस्या की थी।[1] तपस्या करते-करते परशुराम के चित्त में परम तत्त्व का रहस्य जानने की इच्छा हुई। इस विषय में सदुपदेश और यथार्थ समाधान के लिए वे आकाश-मार्ग से गुरु के समीप पहुँचे। परशुराम को पहले अवधूत संवर्त्त[2] से श्रीमाता के सम्बन्ध में कुछ उपदेश प्राप्त हुआ था। श्रीरामचन्द्र द्वारा पराजित होने के बाद यानी त्रेतायुग में परशुराम श्रीमाता के रहस्य का साक्षात् ज्ञान पाने के लिए व्याकुल हो उठे, और उन्हें समय पर वह ज्ञान दत्त गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ। (त्रिपुरारहस्य, माहात्म्य-खण्ड)

गुरु दत्तात्रेय ने परशुराम को श्रीविद्या-उपासना-सम्बन्धी रहस्य बताया था। किन्तु यह ऐतिहासिक सत्य है कि महाविद्या का यह रहस्य इससे पहले अवधूत संवर्त्त के आदिगुरु दत्तात्रेय द्वारा प्रकाशित हो चुका था। फिर भी, मालूम पड़ता है कि इस महाविद्या का विशेष प्रचार संवर्त्त द्वारा नहीं हुआ। विशेष प्रचार परशुराम द्वारा ही हुआ। यह मत भी किसी एक सम्प्रदाय का है।

कहा जाता है कि 'दत्तसंहिता' नामक दत्तात्रेय के उपदेशों से पूर्ण १८००० श्लोकों का एक ग्रन्थ था। परशुराम ने स्वयं यह ग्रन्थ पढ़ा था और ६००० सूत्रों में उन्होंने उसका सार संगृहीत किया था। वह ग्रन्थ ५० खण्डों में विभक्त है। परशुराम के शिष्य सुमेधा (हारितायन ऋषि) ने दत्तात्रेय-परशुराम-संवाद के रूप में उक्त संहिता और सूत्रों का सारांश संगृहीत किया था।

मध्ययुग में नाथ-सम्प्रदाय के नेता गोरखनाथजी ने भी दत्तात्रेय से बहुत-सा उपदेश प्राप्त किया था। नाथ-सम्प्रदाय में प्रचलित 'ज्ञानदीपबोध' नामक ग्रन्थ में इसका विवरण मिलता है। इससे पता चलता है कि दत्तात्रेय और गोरखनाथ दोनों एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा रखते थे। दत्तात्रेय नारायण-रूप थे और गोरखनाथ शिव-रूप। इसलिए दोनों हरि-हर रूप में थे, यही कहना उचित होगा। प्रतीत होता है कि इस प्रसंग में दत्तात्रेय ने सहज समाधि के सम्बन्ध में विशेष व्याख्या की थी। इसके सिवा गोरखनाथ और दत्तात्रेय-संवाद के सम्बन्ध में अधिक विवरण अनावश्यक है।

---

१. किंवदन्ती है कि यह स्थान कोंकण (बम्बई प्रान्त) के चिपलूण नामक गाँव से विश्वामित्री नदी पारकर करीब डेढ़-दो मील पहाड़ चढ़ने पर आता है, जो 'परशुराम' के नाम से प्रचलित है। इस गाँव में एक भव्य प्राचीन मन्दिर है, जहाँ काल, परशुराम और काम की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ हैं। एक फर्लांग पहाड़ चढ़ने पर गुरु-दत्त का मन्दिर है। पादुका के पास से एक बहुत ही सुन्दर पानी का झरना गाँव की ओर बहता है। इस गाँव का सन् १८५७की क्रान्ति के सरदारों के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, यह वहाँ के स्थानों से अनुमान लगाया जा सकता है।

२. संवर्त्त को उपनिषद् में 'घोर आङ्गिरस' कहा है। वे महर्षि अङ्गिरा के सुपुत्र थे। ऋग्वेदादि में भी इनके नाम का उल्लेख है।

दत्तात्रेय का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारत है। साधु-समाज में प्रसिद्ध है कि वे सह्याद्रि की तराई में रेणुकापुर या मातापुर नामक स्थान में प्रतिदिन विश्राम करते हैं। सह्याद्रि के शिखर पर उनका निवास-स्थान है।[१] यह उनका पीठस्थान है। भगवान् काशीक्षेत्र या वाराणसी में प्रतिदिन गंगास्नान करने आते हैं। कुह्वाड-क्षेत्र में अर्घ्य-दान और प्रातःसन्ध्या करते हैं। महालक्ष्मी का पीठस्थान कोल्हापुर या दक्षिण काशी में वे भिक्षा ग्रहण करते हैं और पांचालपुर में उस भिक्षान्न का भोजन करते हैं। विट्ठल-पुर में यानी चन्द्रभागा के किनारे पर बसे पंढरपुर (जिला सोलापुर) में ये तिलक धारण करते हैं। भीमा और अमरजा नदी के संगम-स्थल गाणगापुर में योग-साधना करते हैं। कुरुक्षेत्र के स्यमन्तक-तीर्थ में आचमन करते हैं। इस तरह यद्यपि भगवान् दत्तात्रेय प्रतिदिन लीला के व्याज से भिन्न-भिन्न स्थानों में संचार करते रहते हैं, फिर भी उनका स्मरण करनेवाले भक्तों के लिए वे अत्यन्त निकट हैं। इससे मालूम पड़ता है कि प्रतिदिन सूर्योदय से दूसरे दिन सूर्योदय तक किसी-न-किसी कर्म के बहाने वे सम्पूर्ण भारत की परिक्रमा करते रहते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, कारण सिद्ध देह में देश और काल का व्यवधान गति का बाधक नहीं होता।

गुरु दत्तात्रेय की स्वनिर्मित 'दत्त-संहिता' की चर्चा पीछे की जा चुकी है। आज वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। लेकिन उसका सारांश, जिसका सुमेधा ऋषि ने संकलन किया है, मिलता है। 'अवधूत-गीता' और 'जीवन्मुक्तिगीता' दत्तात्रेय द्वारा उपदिष्ट है, यह प्रसिद्ध है। ये दोनों ग्रन्थ अनेक भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। पहला ग्रन्थ आठ अध्यायों में और दूसरा तेईस श्लोकों में पूरा होता है। सिवा इसके 'काथबोध' नामक एक ग्रन्थ है, जो सजनि नामक आचार्य की रचना कही जाती है।

---

१. मध्यप्रदेश के यवतमाल जिले के अर्णी गाँव से बैलगाड़ी-मार्ग से करीब १६ मील आगे जाने पर 'मातापुर' गाँव आता है। यहाँ से दो-ढाई मील पहाड़ पर चढ़ने पर 'अत्रि-आश्रम' है, जिसे आजकल 'माहुरगढ़' कहा जाता है। किंवदन्ती है, इसी स्थान में गुरु दत्तात्रेय का प्रादुर्भाव हुआ था। माहुरगढ़ जाते हुए प्रथम शिखर 'रेणुका' नाम से प्रसिद्ध है, जहाँ माताजी का भव्य मन्दिर है। इन्हें यहाँ के लोग 'एलम्मा' कहते हैं। अन्तिम शिखर 'अनसूया' नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ अनसूया माता का बड़ा ही सुन्दर मन्दिर है। माहुर में गुरु दत्त की पादुकाएँ हैं। पर्वत-माला का यह स्थान अति रमणीय है।

गुरु दत्तात्रेय के स्थानों में सौराष्ट्र का गिरनार पर्वत, राजस्थान का आबू पहाड़, नर्मदा-तट का अनसूया-तीर्थ, मैसूर के कडूर जिले का चन्द्रद्रोणगिरि (इसे 'बाबा बुडनगिरी' कहते हैं। यहाँ का पुजारी मुसलमान है और लोग मक्का से यात्रा के लिए भी आते हैं), त्रिवेन्द्रम् का सुचीन्द्रम् (यहाँ अत्रि-आश्रम है, यहाँ के राजा की ओर से मठ का खर्च दिया जाता है), चित्रकूट (बाँदा) का अनसूया-आश्रम, महाराष्ट्र के प्रमुख तीन तीर्थ—औदुम्बर, नृसिंहवाडी (नरसोबाची वाडी) और गाणगापुर, श्री श्रीपादवल्लभ का स्थान कुरुगड्डी, नेपाल का भानग्राम (यहाँ दलादन ऋषि का आश्रम था। यहाँ एक मुख और दो हाथोंवाली दत्त की मूर्त्ति पूजी जाती है), तुंगनाथ-बदरी-मार्ग में मण्डल चट्टी के समीप अनसूया आदि प्रमुख स्थान है। इनके सिवा महाराष्ट्र, आन्ध्र और मद्रास प्रान्त एवं गुजरात तथा सौराष्ट्र के कितने ही गाँवों में दत्त-मन्दिर हैं। काशी में भी मणिकर्णिका-घाट पर एक प्राचीनतम दत्त-मन्दिर है, जहाँ केवल श्रीदत्त की पादुकाएँ हैं।

इस ग्रन्थ में दत्तात्रेय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। इसी नाम का एक और भी ग्रन्थ मिला है। वह भी दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का आधारभूत ग्रन्थ है। उसपर श्रीनीलकण्ठ चतुर्धर की 'प्रकाश' नामक टीका है। यह अभीतक अप्रकाशित ही है। इसके अतिरिक्त 'अद्वैत-श्रुतिसार' नामक एक उत्कृष्ट हस्तलिखित ग्रन्थ की जानकारी मुझे प्राप्त हुई है। वह दत्तात्रेय-सम्प्रदाय का श्रेष्ठ दार्शनिक ग्रन्थ है, ऐसा मालूम पड़ता है। उसमें १६ अध्याय हैं और अध्याय के अन्त में एक पुष्पिका (Colophon) है, जिसमें रचनाकार का नाम नहीं है, किन्तु ग्रन्थकार ने 'श्रीमद् आदिगुरु दत्तात्रेय दिगम्बर-चरणानुचर' कहकर अपना परिचय दिया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है।

भारतीय धर्म-सम्प्रदाय का इतिहास, साधना तथा सिद्धान्त का विवेचन करने के लिए जो भी प्रवृत्त होंगे, उन्हें श्रीदत्तात्रेय के सम्बन्ध में उपलब्ध संपूर्ण सामग्री को समान आदर के साथ ग्रहण करना पड़ेगा। विलसन, अक्षयकुमार दत्त, फरकुहर आदि किसी ने भी दत्तात्रेय के सम्बन्ध में आलोचना नहीं की है। मालूम पड़ता है, इसका प्रधान कारण सामग्री का अभाव ही होगा।

किंवदन्ती है कि १४वीं शताब्दी में एक ब्राह्मण-संन्यासी (स्वामी श्रीनृसिंह सरस्वती) ने दत्तात्रेय के नाम से एक सम्प्रदाय चलाया। निजाम-राज्य के गाणगापुर नामक स्थान के साथ तथा दक्षिण सतारा के नरसोवाड़ी स्थान के साथ उनका सम्बन्ध है। उनके शिष्य गंगाधरसरस्वती ने 'गुरुचरित्र' नामक ग्रन्थ रचा, जिसमें गुरु दत्तात्रेय का भी चरित्र लिखा गया है।

'मानभवगण' श्रीदत्तात्रेय को अपने संप्रदाय के आदिगुरु मानते हैं। वर्त्तमान युग में परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती सद्‌गुरु दत्तात्रेय के सिद्ध भक्त हो गये हैं।[१]

गुरु दत्तात्रेय के आदेश से उनके द्वारा रचित—'शिक्षात्रयम्' नामक संस्कृत ग्रन्थ में प्रसंगोपात्त गुरु दत्त के माहात्म्य की चर्चा आई है। यह ग्रन्थ मूल संस्कृत तथा संस्कृत-हिन्दी टीकाओं के साथ पूना से प्रकाशित हुआ है।

श्री श्रीपादवल्लभ हैदराबादके कुरुगड्डी नामक स्थान में अदृश्य हो गये तथा श्रीनृसिंहसरस्वती भीमा-अमरजा संगम (गाणागापुर) के पास कर्दली-वन में अदृश्य हो गये (गुरुचरित्र, अध्याय ५१)। ये दोनों सिद्ध महात्मा आज भी अनेक भक्तों को

१. श्रीदत्तानुगृहीतों में श्रीपाद, श्रीवल्लभ, श्रीनृसिंहसरस्वती, श्रीएकनाथ महाराज तथा उनके गुरु श्रीजनार्दन स्वामी, अघोरी बाबा कीनारामजी, अवधूत सदाशिव ब्रह्मेन्द्र स्वामी, श्रीअक्कलकोट स्वामी, श्रीसाईं बाबा, श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती आदि महात्मा तो प्रसिद्ध हैं ही। इनके सिवा नूरी बाबा, आलम बक आदि मुसलमान महात्मा भी प्रसिद्ध हैं। शिवाजी महाराज के गुरु श्रीसमर्थ रामदास स्वामी का भी दत्तात्रेय के साथ सम्बन्ध रहा। गुरु दत्तात्रेय ने दर्शन देकर अपनी पादुकाएँ और दण्ड समर्थ को दिया था। सतारा जिले के सज्जनगढ़ के मठ में आज भी ये दोनों वस्तुएँ बड़ी श्रद्धा एवं सतर्कता के साथ संगृहीत कर रखी हैं। यहाँ भी समर्थ की समाधि है।

दर्शन देकर सहायता करते हैं, जिसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। इनमें से कुछ का वर्णन 'शिक्षात्रयम्' और 'गुरुचरित्र' में मिलता है।

श्रीएकनाथ महाराज के गुरु जनार्दनस्वामी (ई० स० १५०४–१५७४) दौलताबाद (देवगिरि) के दीवान थे, फिर भी बड़े ही उच्चकोटि के महात्मा थे। कहा जाता है कि गुरु दत्तात्रेय उन्हीं के यहाँ रहते थे। उन्हीं की कृपा से एकनाथ महाराज को गुरु दत्त का दर्शन और अनुग्रह प्राप्त हुआ।

श्रीजनार्दन स्वामी के विषय में महाराष्ट्र में एक बात यह भी प्रसिद्ध है कि दक्षिण सतारा के अंकलखोप स्थान के कुछ दूर कृष्णा नदी के तीर पर एक औदुम्बर वृक्ष के नीचे उन्हें सिद्ध महात्मा श्रीनृसिंहसरस्वती का दर्शन हुआ था और उन्होंने स्वामी पर महान् अनुग्रह किया। श्रीस्वामीजी के सम्बन्ध में डॉक्टर रानाडे अपनी पुस्तक (Mysticism in Maharashtra) में लिखते हैं—

"It is said that Janardan Swami was converted by Guru Dattatreya who appeared before him and placed his hand on his head as a sign of his blessings. This was immediately followed by the revelation of his ownself to himself in the course of which the world was altogether forgotten and he began to rest in his own eternal self-consciousness."

दौलताबाद के किले पर श्रीस्वामीजी की पादुकाएँ और गुरुदत्त की पादुकाएँ हैं। (श्रीस्वामीजी यहाँ से अदृश्य हो गये हैं)।

अघोरी बाबा कीनाराम के विषय में आज भी बहुत ही कम लोगों ने जानने का प्रयत्न किया है। अघोरियों में उनका नाम सुप्रसिद्ध है। उनका जन्म वि० सं० १६८४ के आस-पास वाराणसी के रामगढ़ गाँव में हुआ था। बाबा ने सौराष्ट्र के सिद्धपीठ गिरनार में बहुत वर्षों तक कठोर तप किया, जिससे प्रसन्न हो दत्तात्रेय ने उन्हें दर्शन दिया और कहा जाता है कि उन्होंने बाबा को अघोर-मन्त्र की दीक्षा भी दी।

वि० सं० १७२४ की बात है। उन दिनों जूनागढ़ का नवाब साधुओं को बहुत ही त्रस्त करता था। वह उन्हें पकड़-पकड़कर जेलों में ठुँसवा देता और उनसे भारी-भारी चक्कियों से आटा पिसवाया करता। एक बार बाबा को जेलखाने के पास पिशाचवत् घूमता देख उन्हें जेलर ने जेल में बन्द कर दिया और एक चक्की दिखाकर आटा पीसने को कहा। बाबा ने चक्की को आदेश दिया कि 'चल।' फिर क्या था, उनकी वह चक्की और वहाँ की अन्य ९८१ चक्कियाँ भी अपने-आप एक साथ चलने लगीं ! इस आश्चर्यजनक घटना की खबर नवाब तक पहुँची और फिर उसने आकर बाबा से माफी माँगी और सभी साधुओं को मुक्त कर दिया।

इन्हीं दिनों ऐसी ही एक और आश्चर्यजनक घटना घटी। एक मुरदा गंगा के प्रवाह में बह रहा था। बाबा ने उसे आवाज देकर पुकारा, तो मृत शरीर आगे न

बढ़कर बाबा की तरफ आया। पानी से बाहर आकर जीवित हो उसने बाबा को प्रणाम किया। बाबा ने उसे घर जाने की आज्ञा दी। उनके जीवन की ऐसी कितनी ही घटनाएँ मिलती हैं, जिनको उनके नाम से प्रसिद्ध एक पुस्तक में संग्रह किया गया है। उनके द्वारा रचित 'विवेकसार' नामक ग्रन्थ में गुरु-शिष्य-संवाद-रूप में षडंग योग की सरस चर्चा की गई है।

प्रायः १४२ वर्ष की आयु में बाबा ने स्वेच्छा से अपनी देहलीला समाप्त की। यह अघोरी मठ, जिसमें बाबा की समाधि है, वाराणसी के भदैनी मुहल्ले में है।

सिद्ध महात्मा श्रीअक्कलकोट स्वामीजी का नाम महाराष्ट्र में बहुत ही सुप्रसिद्ध है। वे अवधूत-अवस्था में घूमते-घूमते ईसवी-सन् १८५७ में अक्कलकोट आये और अन्त समय तक वहीं रहे। महाराज की अवस्था ४००-५०० वर्ष की थी, ऐसी जनश्रुति है। (देखिए—महाराज का चरित्र, भाग १, पृ० ९)। महाराज का वय, जाति, जन्मस्थान आदि के विषय में अभी तक कहीं से पूरी प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। भक्तों के इस तरह के प्रश्नों पर महाराज कई बार कहते कि 'आमची जात चांमार आहे, आई महारिण, बाप महार आहे', (मेरी जाति चमार की है और माता-पिता महार हैं) यह कहकर महाराज हँसने लगते। महाराज का सम्पूर्ण जीवन चमत्कारों से भरा है।

दत्त-सम्प्रदाय के एक योगी महात्मा, जिन्हें अनन्त योगी के नाम से उनके भक्त पहचानते हैं, हिमालय में टेहरी-गढ़वाल के पास किसी एक पहाड़ के गुप्त निवास में रहते हैं। कई जगहों पर भक्तों के आन-बान के समय स्थूल देह से पधारकर उनके द्वारा सहायता करने की घटनाएँ घटी हैं। योगिदेव के विषय में बँगला के षाण्मासिक मैगजिन 'विशुद्धवाणी'[१] में गत १९५६ ई० के एक अंक में संक्षेप में लिखा गया था। बहुत वर्षों पूर्व लखनऊ से 'देव-दर्शन' नामक पुस्तक के दो भाग प्रकाशित हुए थे, जिनमें योगिदेव का चरित्र, षडंग योग और अष्टांग योग-विषयक अनुभवसिद्ध प्रयोग आदि दिये गये हैं।

योगिदेव की आयु १०० वर्ष से भी ऊपर है, ऐसा कहा जाता है। उन्होंने कठोर तप द्वारा गुरु दत्तात्रेय का अनुग्रह प्राप्त किया और उन्हीं से कौपीन भी पाया। उसके बाद गुरुदेव के आदेशानुसार उन्होंने तिब्बत के एक अतिगुप्त मठ में रहकर योगाभ्यास किया। आज वे अत्यन्त उच्च अवस्था में हैं।

महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले का शिरडी गाँव सन्त श्रीसाईं बाबा की लीला तथा समाधि-स्थल के रूप में आज बहुत बड़ा तीर्थस्थान बन गया है। दूर-दूर से असंख्य जनता प्रतिदिन इस पुनीत स्थान के दर्शनार्थ आती है। भक्तगण बाबा को गुरु दत्तात्रेय का अवतार मानते हैं। बाबा का जीवन-चरित्र और अद्भुत लीलाएँ श्रीगुणे द्वारा मराठी भाषा में लिखित 'श्री साईं बाबा' नामक ग्रन्थ में वर्णित हैं। अहमदनगर

१. यह मैगजिन महायोगी श्रीविशुद्धानन्दजी का काशी के आश्रम 'विशुद्ध-कानन' से प्रकाशित होता है।

के मेहर बाबा, साकोरी की श्रीगोदावरी माता ये दोनों श्रीबाबा के शिष्य श्रीउपासनी महाराज के शिष्य हैं।

अवधूत श्रीसदाशिव ब्रह्मेन्द्र स्वामी बड़े ही विद्वान् और सिद्ध महात्मा थे। वे दिगम्बर रहते और सदैव स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित पाये जाते। एक बार वे टीपू सुलतान के अफसरों के पड़ाव के पास से गुजरे, तो उन्हें दिगम्बर वेश में देख अफसर की स्त्री ने अपने पति से इस बारे में शिकायत की। फलस्वरूप अफसर ने क्रोधावेश में आ स्वामीजी का एक हाथ तलवार से काट डाला। फिर भी वे तो निजानन्द में ही मस्त रहे। यह देख और समझकर कि 'निःसन्देह यह कोई औलिया है', वह अफसर अपने इस दुष्कृत्य के लिए स्वामीजी के चरणों पर गिरकर महान् आक्रोश करने लगा और बार-बार माफी माँगने लगा। यवन के इस रोने-कलपने से स्वामीजी का अपनी देह की ओर ध्यान गया और उनकी दृष्टि हाथ पर पड़ते ही पहले के कटा हाथ अपनी जगह पर आकर पूर्ववत् जुट गया। यवन को पूरा विश्वास हो गया कि निःसन्देह ये बहुत बड़े औलिया हैं और आँसू-भरी आँखों से उसने, स्वामीजी से उपदेश देकर कृतार्थ करने की प्रार्थना की। स्वामीजी के उपदेश के बाद वह यवन साधु बन गया। स्वामी जी ने 'ब्रह्मसूत्र' पर सुन्दर वृत्ति लिखी है। आन्ध्र-प्रदेश के 'नेरोर' गाँव में उन्होंने जीवित समाधि ली।

स्वामी श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती भी उच्च कोटि के महात्मा थे, यह कहना अतिशयोक्ति न होगी। शास्त्रों में वर्णित दण्डी संन्यासी के सभी नियमों का उन्होंने अन्तिम अवस्था तक अक्षरशः पालन किया। 'अमुक दिन देह-विसर्जन होगा', यह बात स्वामीजी ने पहले से अपने भक्तों को बता दी थी, जिससे सभी स्वामीजी के अन्तिम दर्शनार्थ आ पहुँचे थे। अन्तिम समय में वे गुरु दत्तात्रेय के विग्रह के सामने उत्तराभिमुख हो सिद्धासन पर बैठे और उनके मुख से अति निर्मल एवं दिव्य शुभ्र ज्योति बाहर निकली और श्रीविग्रह में विलीन हो गई।

स्वामीजी की समाधि नर्मदा-तट पर स्थित 'गरुडेश्वर' नामक पवित्र स्थान पर है। स्वामीजी का अद्भुत जीवन-चरित्र उनके शिष्य श्रीरंग अवधूतजी महाराज ने, जो सम्प्रति नर्मदा-तट-स्थित 'नारेश्वर' स्थान पर रहते हैं, गुजराती में प्रकाशित किया है। पूना से मराठी में भी एक बृहद् ग्रन्थ प्रकाशित है।

गुलबर्गा (द० हैदराबाद) के श्रीमाणिक प्रभु और श्रीनारायण महाराज केडगाँवकर भी उच्च कोटि के दत्तभक्त हो गये हैं।

अब हम यहाँ 'श्रुतिसार' के आधार पर गुरुदेव दत्तात्रेय के दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण (Analysis) कर विवेचन करने का यत्न करेंगे।

दार्शनिक विवेचन—अवधूत-मत में परमेश्वर की आत्मस्वरूप में स्थिति पूर्णानन्दमयी, प्रज्ञानमयी और विकल्पहीन है। इस अवस्था का पूर्ण ब्रह्म के रूप में वर्णन किया जा सकता है। इस अवस्था में केवल शुद्ध ज्ञान का स्फुरण रहता है। वास्तव में केवल एक स्वप्रकाश आत्मा ही अपने में आप विराजमान रहते हैं। यह ब्रह्म की स्वरूपावस्था है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस तरह स्व-स्वरूप का ज्ञान इस अवस्था में नहीं

रहता। केवल इतना ही नहीं, इस अवस्था में स्व-स्वरूप का अस्फुरण या अज्ञान भी नहीं रहता। वस्तुतः, यह अवस्था ज्ञान और अज्ञान दोनों से परे है।

सृष्टि के संकल्प के साथ-साथ परमेश्वर स्वतन्त्रता से उक्त उपर्युक्त आनन्दमय निष्ठा का त्याग कर—वस्तुतः त्याग न कर, पर त्याग का स्वांग रचकर—प्रज्ञान या स्व-स्वरूपज्ञान का ग्रहण करता है। उस समय वह 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार स्वयं को जानता है। यों देखा जाय, तो यही सृष्टि की आदिम अवस्था है। यह जो 'मैं' बोध के रूप में स्व-स्वरूप का ज्ञान है, उसी का नाम 'महामाया' है। यही उसका महाकारण शरीर है। पूर्णब्रह्मस्वरूप वस्तुतः महामाया से अतीत है। उसमें देह की कल्पना नहीं है। किन्तु, महाकारण देह के साथ ही सृष्टि की सूचना मिलती है। यह सृष्टि की उन्मुखावस्था है। यह विशुद्ध ब्रह्मावस्था नहीं है, किन्तु शुद्ध माया के साथ ब्रह्म की योगावस्था या शबलावस्था है। परब्रह्म का यह निजस्वरूपज्ञान 'स्वरूप-सर्वज्ञत्व' नाम से अवधूत-समाज में प्रसिद्ध है। यही महामाया है और उसके स्वरूप के आवरण का रूप होने के कारण उसके शरीर-रूप में कल्पित है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों की उत्पत्ति के बाद यह उसके साक्षी रूप में विद्यमान रहता है।

यह महामाया-शरीर या महाकारण-शरीर, अर्थात् पूर्ण ब्रह्म का सर्वेश्वरत्व मायामय विशुद्ध सत्त्व का परिणाम है, जो केवल एकमात्र स्व-स्वरूप को प्रकाशित करता है। जब 'नाद' से इस महाकारण-शरीर की अभिव्यक्ति होती है, तब इसीसे प्रणव-पुरुष उत्पन्न होता है। इसलिए, इसे 'प्रणवपुरुष का बीज' कहा जाता है। यह विशुद्ध सत्त्व प्रणव-पुरुष का चतुर्थ पाद है, जो योगियों के समाज में 'अर्धमात्रा' के रूप में परिचित है।

इसके बाद सृष्टि के अधिक विकास के लिए परमेश्वर स्वयं अपने को तिरोहित करते हैं। अर्थात्, स्वयं चैतन्यमय रहकर भी स्वयं में स्वयं को भूल जाते हैं—मानों उस समय अपने स्वरूप की ओर उनका अवधान ही नहीं रहता। वास्तव में, स्वस्वरूपानुसन्धानावस्था पहले जैसी अकुण्ठित ही रहती है। उसका नित्य स्वरूप-ज्ञान विद्यमान रहते हुए भी उसमें अचिन्त्यरूप से स्व-स्वरूपानवधान खुल जाता है। इसी का नाम अव्यक्त या ईश्वर का माया-शरीर है। इस माया-शरीर में जब उसकी क्रमिक वृत्ति लीन हो जाती है, तब उस अवस्था को 'प्रलय' कहा जाता है। इस शरीर और इस अवस्था का जो अभिमानी तथा प्रकाशक है, वही परमेश्वर की रुद्रमूर्त्ति है। ये तीनों अप्रकाश या तमोमय हैं। यह तमोगुण प्रणव-पुरुष का तृतीय पाद है—मकार, माया-शरीर या कारण-शरीर के नाम से यह सर्वत्र परिचित है।

अवधूत-मत में भगवान् के मायाप्रधान ज्ञान को 'महत्तत्त्व' कहते हैं। वह अव्यक्त और निर्विकल्प है। वह अहंकार में परिणत हो क्रमशः कर्त्ता, करण और कार्य का रूप धारण कर तथा देवता-रूप का अवलम्बन कर स्वयं को प्रकट करता है। यह अविकल्प और व्यक्त अवस्था है। इस अवस्था में आकार, अवयव और सगुण भाव का उदय होता है। यही परमात्मा का सूक्ष्मशरीर या हिरण्यगर्भ है। परमात्मा जब प्रलयावस्था से जागरित होता है, तब इसी हिरण्यगर्भ नामक सूक्ष्म शरीर में उसकी स्थिति होती है। यह निद्रा से जागरित होने जैसी अवस्था है। हिरण्यगर्भ-देह का अभिमानी,

कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता परमेश्वर की विष्णुमूर्त्ति है। इसलिए कहा जा सकता है कि हिरण्यगर्भ-शरीर, स्थिति और विष्णु मायाप्रधान सत्त्व या स्फुरण है। यह प्रपञ्चोन्मुख अवस्था है। विशुद्ध सत्त्व जब तम द्वारा या तम का अवलम्बन कर स्वयं को प्रकट करता है, तब यह मायिक सत्त्व उत्पन्न होता है। 'प्रपञ्चज्ञान' इसका नामान्तर है। मायिक सत्त्व प्रणवपुरुष का द्वितीय पाद या 'उकार' है।

हिरण्यगर्भ का प्रपंचोन्मुख होने से ही गुण-क्रिया के स्वभाव से कर्त्ता, करण और कार्य के रूप से स्फुरण होता है तथा कार्य के अन्वय से वह पांचभौतिक शरीर धारण करता है। इस रूप तथा देह में चौदह भुवन विद्यमान हैं। यह भगवान् का विराट् रूप कहा जाता है। परमेश्वर इस अवस्था में 'विश्व' कहलाता है। इस स्थूल शरीर का अभिमानी या कर्त्ता भगवान् की ब्रह्मरूप मूर्त्ति है। विराट् शरीर, उत्पत्ति और ब्रह्मा क्रियारूप और रजोगुण है। यह प्रणव-पुरुष का प्रथम पाद या 'अकार' है। भगवान् के इस स्थूल विराट्-शरीर में चतुर्दश भुवन-रूप ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं। इस देह की नाभि से पैर के तलुए तक सात पातालों और मस्तक तक सात स्वर्गों की कल्पना की गई है। जठर-स्थान में वडवानल, दाढ़ों और पेट में सात समुद्र हैं।

भूमण्डल को चारों दिशाओं से आवेष्टित कर क्रमशः जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और महत्तत्त्व के मण्डल हैं। इनमें भीतर के मण्डलों की अपेक्षा बाहर के मण्डल क्रमशः दसगुना अधिक बड़े हैं। पृथ्वी-तत्त्व को इस प्रकार सात आवरणों से आवृत, भीतर से पोला और अण्ड के आकार का समझना चाहिए।

इस पृथ्वीतल में सूक्ष्म २५ तत्त्व अभिव्यक्त हैं। उनमें पाँच तत्त्व कर्त्ता के रूप में, पन्द्रह करण के रूप में और शेष पाँच वासनामय विषयों के रूप में काम करते हैं, जिनके गुणकल्पित कार्य स्थूल विषय या पंचमहाभूत हैं। इस अण्ड में पांचभौतिक मैल उत्पन्न होता है। वह भीतर के जल से सनकर साथ की अग्नि के ताप से सूख जाता है और बाह्य-दृष्टि से प्रतीत होता है। इसलिए, योगी लोग स्थूल शरीर को 'घट' कहते हैं। उसमें वायु अन्दर रहती है और वह भीतर से खोखला है। स्थूल विषयों के ज्ञान के लिए बाहर की ओर उसमें छेद है।

परमेश्वर का सूक्ष्म शरीर हिरण्यगर्भ है, जिसमें पूर्वोक्त पाँच कर्त्ता और करण हैं। अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये पाँच कर्त्ता हैं। ये सभी सत्त्वस्वरूप, ज्ञानमय और परम सूक्ष्म हैं। ये अण्ड में रहकर असंग होने से उससे पृथक् हैं। कान आदि पाँच ज्ञानकरण, वाणी आदि पाँच कर्मकरण तथा प्रयाणादि पंचवायु की चेष्टा के करण हैं। कुल मिलाकर १५ करण हैं। ये पूर्वोक्त पाँच कर्त्ताओं से वस्तुतः पृथक् नहीं हैं। कर्त्ता और करणरूप तत्त्व ज्ञानरूप है।

यह अव्यक्त और स्थूलांश का आश्रय होनेसे स्थूलांश से विलक्षण है। अन्तः-करण या सत्त्व के अधिष्ठाता विष्णु हैं, मन या रजस्-सत्त्व के अधिष्ठाता चन्द्रमा हैं, बुद्धि या रज का अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, चित्त या रजस्तम का अधिष्ठाता क्षेत्रज्ञ हैं और अहंकार या तम का अधिष्ठाता रुद्र हैं। पन्द्रह करणों के भी अधिष्ठाता हैं, जैसे कि श्रोत्र की दिशाएँ, त्वचा की वायु आदि।

वास्तव में स्थूल या सूक्ष्म-देह महत्तत्त्व का अभिव्यक्त रूप है। अर्थात्, भगवान् के अव्यक्त और मायाप्रधान निर्विकल्पक ज्ञान से वह प्रकट होता है। यह बात पहले कही जा चुकी है।

प्रपंच की सृष्टि के पूर्व विराट् शरीर के अभिमानी एकमात्र ब्रह्मा ही थे। उन्होंने स्थूल प्राण और मन की सहायता से तथा विराट् शरीर के स्थूल ज्ञानकरण और कर्मकरणों का अवलम्बन कर दृष्टि खोली। उस समय वे अन्तर्मुख भाव से बहिर्मुख हुए और उन्होंने बाहर की ओर दृष्टिपात किया। किन्तु दृष्टिपात करने पर भी उन्हें कुछ भी दिखाई न पड़ा; क्योंकि उस समय 'दृश्य' कुछ भी नहीं था। यही उनका दृश्य का अभावरूप 'शून्य का दर्शन' था। शून्य-दर्शन के बाद माया की प्रधानतावश उन्हें अपने पूर्व-स्वरूप का विस्मरण होने का डर लगा। जैसे, मरुभूमि में चलनेवाला पथिक—जिसका कोई संगी-साथी नहीं हो—किसी समय दूसरे की संभावना की आशंका से भयभीत हो जाता है, यह भी कुछ अंशों में ऐसा ही था। एक अद्वितीय पूर्ण पुरुष के इस भयप्रधान आत्म-अज्ञान को 'अविद्या' कहते हैं। उन्होंने स्वयं ही उस समय अपने आत्म-ज्ञान द्वारा इस अविद्या को पृथक् किया। अर्थात्, अपने स्वरूप से पृथक् रूप में अविद्या को जाना। उसके अधिष्ठानवश इस अविद्या से ही सारा विश्व स्फुरित हो जाता है। इसीलिए, अवधूत योगी कहता है कि—

मुख्यत्वेन प्रजापतिना आत्मस्फुरणेन विश्वकल्पना कृता।

अर्थात्, प्रधानतः प्रजापति के आत्मस्वरूपविषयक अज्ञान से ही विश्व की यह कल्पना उत्पन्न है। आत्मा का यह अज्ञान ही अविद्या है, उसी से जीवभाव का आविर्भाव होता है।

जीवसृष्टि उसीके संकल्प का फल है। जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब-स्वरूप है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में समान धर्म दिखाई देते हैं। ईश्वर और जीव में देहावस्था और गुणाभासरूप सादृश्य विद्यमान है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब में स्थूलरूप से परस्पर व्यवहार नहीं देखा जाता। इसलिए, यदि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब हो, तो दोनों में परस्पर व्यवहार कैसे हो सकेगा? अर्थात्, जीव ईश्वर की आराधना-रूप जो अपना कर्म करता है, वही जीव का व्यवहार है और ईश्वर शरणागत जीव पर अनुग्रह करते तथा उनके अभीष्ट की सिद्धि करते हैं, यही ईश्वर का व्यवहार है। इन दिनों व्यवहारों का मूल क्या है? किन्तु इस पर यही उत्तर पर्याप्त होगा कि एक बिम्ब से अनेक प्रतिबिम्ब जिस उपाय द्वारा बन सकते हैं, उनका उपपादन करने के लिए अविद्या में विचित्रता मानना आवश्यक होगा। अर्थात्, पुरुष के एक होने पर भी अज्ञान को अनन्तरूप मानने से व्यवहार की संगति बैठ सकती है।

यद्यपि अज्ञान अनादि माना गया है, तथापि उसके आश्रय जीवों को भिन्न-भिन्न मानना ही पड़ेगा। इस तरह सिद्ध होता है कि अविद्या के पहले भी जीवों का अस्तित्व मानना चाहिए। अतएव, इस प्रणाली में जीवों की विचित्रता की कोई युक्ति-युक्त व्याख्या नहीं की जाती। अवधूत-मत में जीव ईश्वर का कल्पित प्रतिबिम्ब है।

जिस प्रकार स्वप्न में कल्पित वस्तु द्वारा व्यवहार होता है, उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार की उपपत्ति समझाई जा सकती है। अवश्य ही यह सच है कि स्वप्न में देखे हुए सभी पुरुष पृथक् रूप से नहीं जगते, आश्रय-पुरुष या स्वप्नद्रष्टा पुरुष के जगते ही वे सभी एक साथ अन्तर्हित हो जाते हैं। किन्तु, यहाँ ब्रह्म-साक्षात्कार से मालूम पड़ता है कि सभी जीव अपने आश्रय के समान हैं, अतः जीव सत्य हैं। इसलिए ये सत्य जीव स्वप्न में देखे गये पुरुषों की तरह कल्पित प्रतिबिम्ब नहीं हो सकते। वस्तुतः, परमात्मा के सत्य-संकल्प होने से उसका कल्पित प्रतिबिम्ब भी उसी की तरह सत्य है। जीव की सत्यता उसके समान ही है। इस समान सत्यता के कारण ईश्वर और जीव दोनों में परस्पर व्यवहार हो सकता है। इस प्रकार, जैसे ब्रह्म-साक्षात्कार सत्य है, वैसे ही बन्ध-मोक्ष भी सत्य है।

इसपर कोई यह शंका कर सकते हैं कि यदि जीव सत्य है, तो उसका नाश कैसे हो सकता है? ब्रह्मसाक्षात्कार से जीव की अविद्या की निवृत्ति और जीवत्व का क्षय कैसे हो सकता है? अवधूतगण कहता है कि ईश्वर की सत्यता भी मायामात्र है। उसके संकल्प की सत्यता, जीव की सत्यता और अविद्या की सत्यता भी ऐसी ही माया-मात्र है। माया के तिरोभाव के साथ-साथ ईश्वरत्व तिरोहित हो जाता है और अविद्या के तिरोभाव के साथ-साथ जीवत्व की निवृत्ति हो जाती है। परम सत्य केवल एक ब्रह्म ही उस समय अवशिष्ट रहता है।

पाञ्चभौतिक शरीर एकमात्र है। उसका नाम विराट् है। असंख्य स्थूल जीव-शरीर उसके असंख्य अंश हैं। इस तरह एक ही हिरण्यगर्भ देह से जीवों के असंख्य लिङ्ग-शरीर निकलते हैं। अन्तःकरण ही विष्णु है। विषयों में कोई विभाग नहीं, सभी पंचभूतात्मक हैं। ईश्वर के अपने स्वरूप का अनवधान-रूप अव्यक्त या माया खण्ड-खण्ड हो अनन्त हो जाती है। वह जीवों के आत्म-अज्ञान रूप में परिणत होती है और 'कारण-देह' कही जाती है। उस समय ईश्वर का विज्ञान-रूप महाकारण-शरीर जीव के महाकारण-शरीर का रूप धारण करता है।

दत्तात्रेय-सम्प्रदाय में प्रलय पाँच प्रकार के हैं : (१) पिण्ड (शरीर) की निद्रा, (२) ब्रह्माण्ड की निद्रा (यह 'दैनन्दिन प्रलय' कहा जाता है), (३) पिण्ड का मरण, (४) ब्रह्माण्ड का मरण (इसे 'महाप्रलय' कहते हैं) और (५) आत्यन्तिक प्रलय।

निद्रा—जिस समय क्रमशः ज्ञान की करण-वृत्तियाँ, कर्म की करण-वृत्तियाँ और वासनामय विषय पूर्वोक्त कर्त्ता की पाँच वृत्तियों में पूर्णरूप से लीन हो जाते हैं, उसे निद्रा कहते हैं। उस समय कर्त्ता पाँच इन्द्रियों के साथ आत्म-अज्ञानरूप कारण-शरीर में लीन हो जाता है। इसमें जब केवल बाह्य करणों का उपसंहार होता है, तब उसे मिश्र-प्रधान स्वप्नावस्था समझना चाहिए। उस समय अंगीभूत सत्त्व-अंश मात्र के प्रभाव से कर्त्ता की वृत्ति द्वारा वासनामय विषयों का प्रकाश होता है। और, जब कर्त्ता, करण और कार्य तीनों का उपसंहार होता है, उस समय स्वप्न नहीं रहता। वस्तुतः, यही सुषुप्ति-अवस्था है। उस समय जीव का स्थूल-शरीर पंच प्राणों के साथ काष्ठवत् जब

बन जाता है। हाँ, प्राण का सम्बन्ध अवश्य रहता है, जिससे मृत्यु नहीं होती। रजोगुण का अभ्यास प्रबल रहता है, इसीलिए सुषुप्ति से पुनः उत्थान हो जाता है।

दैनन्दिन प्रलय—चार हजार महायुगों का ब्रह्मा का एक दिन होता है। उसकी रात और दिन का परिमाण समान है। दिन में वे जागरित रहते हैं, उसे सृष्टिकाल कहते हैं। रात में निद्रित रहते, उसका नामान्तर 'प्रलय' है! सन्ध्या समय, जब कि ब्रह्मा की निद्रा का आरम्भ होता है, सम्पूर्ण विषय-वासनाओं का ज्ञान के करणों (ज्ञानेन्द्रियों) में उपसंहार हो जाता है। क्रियावृत्ति कर्म के करणों (कर्मेन्द्रियों) में लीन हो जाती है। पश्चात् ये दस करण कर्त्ता में लीन होते हैं और कर्त्ता सूक्ष्म अव्यक्त में प्रसुप्त होता है। इसी का नामान्तर 'योगनिद्रा' है। उस समय अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूतनाश और देवलोक भी जलमग्न हो जाता है। देवता अव्यक्त माया-तत्त्व में आश्रय लेते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये तीनों ईश्वर-कोटि के देवता आत्माराम अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। सभी जीव अव्यक्त में सो जाते हैं। उस समय उनकी सभी वृत्तियाँ प्रत्याहृत हो जाती हैं। उसे 'परमात्मा की निमेषावस्था' कहते हैं; क्योंकि परमात्मा की निद्रावस्था नहीं होती। उस समय पाञ्चभौतिक देह का उपसंहार नहीं होता।

प्रलयकाल के अन्त में, उषःकाल में ब्रह्मदेव जागरित होते हैं। इस समय जलमध्य में वट-पत्र पर शयन करनेवाले विष्णु भी जग जाते हैं। वे आत्मपद का त्याग कर रमण आरम्भ करते हैं। पूछा जा सकता है कि वे क्यों जगते हैं! इसका उत्तर यही है कि दैनिक प्रलय 'स्थिति' के अन्तर्गत है और स्थिति के कर्त्ता विष्णु हैं। अतएव, विष्णु का ध्यान सदैव अपने कर्त्तव्य की ओर रहता है। इसीलिए, उन्हें निद्रा और विस्मृति नहीं होती। अतएव, सम्पूर्ण जगत् का विनाश हो जाने के बाद पुरुष योगनिद्रा को त्याग कर अपने कर्म में सावधान हो जाता है। इतने दिनों तक वे सुप्त रहे, पर निद्रित नहीं थे। इस समय वे सबसे पहले जागरित हुए। उनके बाद यथा समय ब्रह्मदेव ने जागरित हो देखा कि चारों ओर जल-ही-जल है और उनका अपना सारा कार्य नष्ट हो गया! तब वे भी उस अवस्था को त्याग विष्णु के नाभि-कमल से प्रकट होते हैं। इसी तरह रुद्र अपनी योगनिद्रा त्यागकर ब्रह्मदेव के नेत्र से प्रकट होते हैं। उस प्रलय में से 'धाता यथापूर्वम्' के अनुसार जगत् की उत्पत्ति करते हैं।

मृत्यु—प्रारब्ध का नाश होने के बाद प्राण स्थूल देह से पृथक् हो जाते हैं। उस समय पाँचों प्राण अपनी मूल वायु में विलीन हो जाते हैं। पाँच वासनामय विषय, पाँच सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान-करणों में लौट जाते हैं। सभी क्रियाविकार कर्म-करणों में उप-संहृत हो जाते हैं। तदुपरान्त, ज्ञान और कर्म के वे दसों कारण निष्क्रिय होकर कर्त्ता में विलीन हो जाते हैं। कर्त्ता भी मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार वृत्तियों के लीन हो जाने पर आत्म-अज्ञान में लीन हो जाता है। इस अज्ञान से एक वासना-शरीर आविर्भूत होता है। सूक्ष्म शरीर की तरह पहले के शरीर को ग्रहण कर जीव पुराने जीर्ण और रुग्ण स्थूल शरीर का त्याग करता है। इसी का नाम 'मृत्यु' है।

महाप्रलय—ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु समाप्त होने पर जब परमात्मा सो

जाते हैं, तब ब्रह्मा की मृत्यु हो जाती है। उस समय सतत सौ वर्षों तक अनावृष्टि, भूतलय और द्वादश आदित्यों का उदय होता है। पृथ्वी अत्यन्त सन्तप्त हो जाती है—अग्निमय और दग्ध हो जाती है। उसके पश्चात् संवर्त्तक मेघ जलवृष्टि करते हैं। सप्त-समुद्र मिलकर स्वयं एक महार्णव के रूप में परिणत हो जाते हैं। पृथ्वी उस जल में विलीन हो जाती है। जल तेज से सूख जाता है। तेज अपने से दसगुनी वायु द्वारा शान्त हो जाता है और वायु आकाश में लीन हो जाती है। आकाश तामस अहंकार में, तामस अहंकार राजस अहंकार में और राजस अहंकार सात्त्विक अहंकार में लीन हो जाता है। कार्य करण में, करण कर्त्ता में और कर्त्ता महत्तत्त्व में लीन हो जाते हैं। अन्त में सब का महामाया में उपसंहार हो जाता है और महामाया परमात्मा में लीन हो जाती है। परमात्मा आत्मज्ञान के स्फुरण से अलग होकर अपने स्वरूप में उस स्फुरण को लीन कर और आनन्दमय, अनन्त, अव्यय एवं स्वसंविज्ञानमय सत्ता को प्राप्त कर निर्विकल्प रूप में विराजमान होते हैं। निर्विकल्प ब्रह्म का ज्ञानमय और आनन्दमय जो प्रकाश है, वही गुणसाम्य है। उसमें तीनों गुण, गुणकृत भेद तथा सर्व-कारण, कार्य और करण एकाकार होकर उपसंहार को प्राप्त हो जाते हैं। जीव उस समय अपने-अपने अज्ञान में आ जाते हैं और माया में निद्रित हो पुनः ब्रह्म में लौट आते हैं। आत्मज्ञान के विना ब्रह्मज्ञान संभव नहीं और विना ब्रह्मज्ञान के अज्ञान का नाश भी नहीं होता। इसलिए, जीवों के इस तरह ब्रह्म में लौट आने पर भी उनकी जीवावस्था निवृत्त नहीं होती। इसलिए, सृष्टि के समय वे सभी ईश्वर में से कारणोपाधि आदि द्वारा निकलते हैं।

महाप्रलय का कर्त्ता परमात्मा रुद्र-रूप है। इस प्रलय का प्रकार इस तरह का है। विश्व के संहार के समय जो प्रलयाग्नि भभकती है, उसमें रुद्र भयंकर भैरव-रूप धारण कर अतीव आनन्द से नृत्य करते हैं। उस समय उनके तीसरे नेत्र से प्रचण्ड वेगयुक्त अग्नि भभक उठती है। उसके द्वारा वे अपने साथ के सभी देवताओं को भस्म कर अव्यक्त रूप से उस प्रलय के साक्षित्व का अनुभव करते हैं। उसके बाद उसका त्यागकर तथा आत्मस्फुरण का विलयन कर 'मैं आनन्दमय अखण्ड एकरस ब्रह्म हूँ', इस तरह स्वरूप-निष्ठा को प्राप्त करते हैं। यह प्रलय स्वरूप-सर्वज्ञत्व के मध्य मायारूप तमोगुण का कार्य है। इसलिए, उसमें मायारूप का उपसंहार नहीं होता।

इसपर यह शंका उपस्थित हो सकती है कि जब कि इस प्रलय में स्वरूप-सर्वज्ञत्व का लय हो जाता है, तब उसे तुरीय क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर यह है कि इस प्रलय के साक्षी परमात्मा प्रलय के अन्त में अपने साक्षित्व का त्याग कर स्वरूप-सर्वज्ञत्व का अनुभव कर स्वयं ही निर्विकल्पक पद में स्थित हो जाता है। वही उसकी प्रकृति है।

जिस प्रकार पुरुष का विनाश नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति का भी विनाश नहीं होता। प्रकृति के सम्बन्ध से उसका स्वरूप-सर्वज्ञत्व अक्षुण्ण रहता है। उस अवस्था में जिस आनन्दमय ज्ञान का स्फुरण होता है, उसे गुणसाम्य-रूप महामाया का स्वरूप समझना चाहिए। यह महामायायुक्त आनन्दमय ही सर्वेश्वर परमात्मा है।

उसकी निर्विकल्प निष्ठा का जो स्फुरण होता है, उसी का नाम 'स्वरूप-सर्वज्ञत्व' है। इसीलिए शुद्धसत्त्व में जो सूक्ष्मभाव है, वही गुणसाम्य या ईश्वर की उन्मत्त अवस्था है। उसके गर्भ में सब कुछ विद्यमान रहता है। यथासमय वह पहले की तरह केवल अभिव्यक्त होता है। इसी से प्रतीत होता है कि यह प्रलय स्वरूप-सर्वज्ञत्व के भीतर माया-गर्भ में है। इसलिए, उसमें से माया, अविद्या, जीव और ईश्वर का भेद नष्ट नहीं होता। यह भेद स्वरूपगत भेद होने से स्वगत भेद है। अतएव, महाप्रलय में स्वगत भेद रहता है।

आत्यन्तिक प्रलय—किन्तु जिस समय स्वगत भेद भी मिट जाता है, उस समय आत्यन्तिक प्रलय होता है। इस प्रलय का कोई निश्चित समय नहीं है। इस प्रलय में संहारकर्त्ता रुद्र नहीं रहते। ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं रहते। जीव स्वयं ही, अर्थात् परमात्मा ही इस प्रलय में संहारकारी है। उस अवस्था में माया, अविद्या और जीव, ईश्वर आदि भेद नहीं रहते। केवल रहते ही नहीं, यह बात नहीं, बल्कि पुनः कभी उदित भी नहीं होते :

तत्र भावोऽपि न भावः। सर्वभावोऽपि न चाभावः। स भावाभावयोरप्यभावः।

अर्थात्, वहाँ 'रहता है', यह भी नहीं कहा जा सकता। और 'नहीं रहता' यह भी नहीं कहा जा सकता—वहाँ रहने-न-रहने का प्रश्न ही नहीं है। भाव चार प्रकार के हैं : (१) नाम, (२) रूप, (३) गुण और (४) कर्म। अभाव पाँच प्रकार के हैं : (१) प्रागभाव, (२) प्रत्यगभाव, (३) अन्योन्याभाव, (४) प्रध्वंसाभाव और (५) अत्यन्ताभाव। इनमें पहले के चार अभावों में भाव-दोष रहता है। अत्यन्ताभाव ही वास्तविक अभाव है। आत्यन्तिक प्रलय इन भाव और अभाव दोनों से परे है।

यहाँतक के विवेचन से यह प्रतीत होता है कि जीववर्ग के विभिन्न शरीर ईश्वर के अनुरूप शरीर से उत्पन्न हो उसी में स्थित रहते हैं। ये सभी जीव-शरीर के अन्त में ईश्वर-शरीर में लीन होते हैं। इसी से सिद्ध हुआ कि जीव-शरीर ईश्वर-शरीर से अभिन्न हैं। अवधूत-गण कहते हैं कि प्रत्येक घर में विद्यमान अन्धकार सर्वव्यापी महान्धकार से भिन्न नहीं है। दीपक-रूप उपाधि के द्वारा जो पृथक्-पृथक् अन्धकारों का भान होता है, वह भान पुनः दीपक के अभाव में नहीं रहता। यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो पता चलेगा कि दीपक के रहने पर भी अन्धकार में भेद नहीं है। इसी तरह भिन्न-भिन्न प्रत्येक जीव में विद्यमान आत्म-विषयक अज्ञान माया-स्वरूप से वस्तुतः भिन्न नहीं है। अतएव प्रतीत होता है कि सर्वत्र अज्ञान-सहित एकमात्र माया-तत्त्व तमोमय रूप में रहता है। इस तरह जीववर्ग के सभी महाकारण-शरीर महामाया से अभिन्न हैं।

जब भगवान् जागरित होते हैं, तब सभी जीव जगते हैं। जब उन्हें स्वप्न-दर्शन होता है, तब सभी जीवों को भी स्वप्न-दर्शन होता है। सर्वत्र एक सर्वेश्वर भगवान् ही अभिमानी हैं। सर्वरूप उन्हीं के शरीरभेद हैं। समग्र विश्ववर्ग में वही एक ब्रह्मा हैं, समग्र तैजस वर्ग में वही एक विष्णु हैं, समग्र प्राज्ञवर्ग में वही एक रुद्र हैं

और सभी प्रत्यगात्माओं में वही एक परमात्मा है। उपाधि को लेकर अविद्या भिन्न-भिन्न है, किन्तु उसकी माया एक है, वह समष्टि-रूप है। जीव व्यष्टि-रूप हैं। जैसे वन और वृक्षों में भेद मिथ्या है, वैसे ही विश्व और विश्व-रूप में भेद भी मिथ्या है। समस्त जीव ही परमात्मा का रूप है। अतएव, आत्मज्ञान ही परमात्मज्ञान है। आत्मज्ञान के बिना देवतान्तर की दृष्टि से जीव यथार्थ परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव, जबतक आत्मज्ञान उदय न हो, तबतक उसे प्राप्त करने के लिए ईश्वर की आराधना आवश्यक है। बात यह है कि सर्वनाम, सर्वरूप, सर्वक्रियाएँ एक की ही हैं, यही जानकर साधक को यह अनुभव करना चाहिए कि परमात्मा सर्वदेवमय, सर्वभूतमय, सर्वलोकमय, सर्वसम, सर्वत्रसम या सबके साथ एक ही है। फिर, उनकी विशिष्ट-मूर्त्ति या देवभाव से उनकी उपासना करनी चाहिए।

ये मूर्त्तियाँ प्रसिद्ध पंचदेवों की (शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणेश की)हो या उनसे भिन्न हो, सब समान हैं। अवधूत-गण कहते हैं कि वेद-विरुद्ध कर्मों का आचरण करनेवाले और अपने आचार से भ्रष्ट उपासक नष्ट हो जाते हैं। सत्कर्मानुष्ठान का प्रभाव अत्यधिक है, अतएव ब्राह्मण के लिए कर्मानुष्ठान ही मुख्य कर्त्तव्य है। यदि कोई इस तरह सत्कर्म कर सके, तो समग्र देवताओं की आराधना न करने पर भी उसे दोष नहीं लगता। किन्तु, देवता की आराधना करने पर भी सत्कर्म न करने से प्रत्यवाय होता है। अतएव, केवल एक आत्मसाक्षात्कार करने से ही देह, अवस्था, गुण और धर्म का त्याग होकर कर्म का भी त्याग हो जाता है। आत्मविषयक अज्ञान के रहते यह सम्भव नहीं। इस तरह तात्त्विक भेद माननेवाला भक्त भी मूर्ख है; क्योंकि वह यह नहीं जानता कि आखिर इस भेद का तात्पर्य क्या है ? वेद-विरुद्ध ज्ञान से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। वेदानुसार सत्कर्म द्वारा आनन्दमय परमात्मा के निराकार और विश्वाकार दोनों रूपों की उपासना करनी चाहिए। देवता भी परमात्मा के ही आकार हैं, यह समझते हुए ही देवताओं की उपासना करनी चाहिए। अथवा, विहित कर्मों का त्याग न कर विभिन्न देवताओं का विभिन्न नियमों से भजन करना चाहिए। नित्य और नैमित्तिक कर्म ही विहित कर्म हैं। यह आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और कैवल्य को देनेवाला ईश्वराराधना-रूप कर्म है।

शास्त्रविहित योगादि कर्मों का यदि निष्काम भाव और असंग रूप से अनुष्ठान किया जाय, तो उनसे आत्मज्ञान की सिद्धि प्राप्त होती है। आत्मज्ञान के बिना देवता की उपासना के प्रभाव से साधक उपासित देवता की कृपा से उनके लोक में पहुँचता है और वहाँ यथासम्भव शक्ति और आनन्द प्राप्त करता है। किन्तु, उपासना के तारतम्य से कोई इष्ट देवता के साथ केवल सालोक्य प्राप्त करता है, कोई सामीप्य और कोई सारूप्य भी प्राप्त करता है। कदाचित् , कोई सायुज्य भी प्राप्त करता है। यह सब उपासना पर ही निर्भर है। जब फलभोग का समय समाप्त हो जाता है, तब साधक को नीचे उतरना पड़ता है।

कोई-कोई शंका करते हैं कि इतने सारे तत्त्वों के रहते केवल मन को जीतने से ही समाधि होती है, यह क्यों माना जाता है ? इसका उत्तर यह है कि सांख्य और

योग भिन्न हैं। मनोनिग्रह से समाधि प्राप्त होती है, यह योग का मत है। वस्तुतः दोनों ही मार्ग यथार्थ हैं। एक ही पद को पाने के ये दो साधन हैं। अर्थात्, ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का सम्पादन ही दोनों का लक्ष्य है। अतएव, दोनों में फलगत कोई भेद नहीं है, किन्तु प्रयोजन की दृष्टि से भेद अवश्य है।

(क) शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान, शुद्ध अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म में माया के संयोग का प्रकाश और उसके प्रभाव से ब्रह्म की माया संयुक्त भाव की प्राप्ति। उस शबल ब्रह्म से पंचीकृत और अपंचीकृत भूत का उदय तथा अव्यक्त, महत्तत्त्व एवं अहंकार का उदय, कारण-कार्य इन दोनों उपाधियों का विवरण तथा कारण से कार्य की उत्पत्ति, सत् और असत् का विवेक, दोनों उपाधियों का परिहार और अनात्मरचित सभी भेदों की समाप्ति—यह सब सांख्य का प्रयोजन, उद्देश्य है। उपक्रम और उपसंहार का ज्ञान और गुण का त्याग कर ब्रह्मसाक्षात्कार—इस प्रक्रिया से आत्मज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। तीनों भेद दूर हो जाने से निर्विकल्प ब्रह्मात्मसमाधि की प्राप्ति होती है।

(ख) किन्तु, योग का उद्देश्य अनित्य निष्ठाओं का त्याग कर पुरुष को समाधि में अचलत्व की प्राप्ति और उसके उपायों का वर्णन या अवलम्बन है।

सांख्य और योग मिलकर अपना-अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। जिस प्रकार नित्या-नित्यवस्तु-विचार सांख्य का उद्देश्य है और उसमें एक निष्ठा रखना योग का उद्देश्य है।

सत् और असत् का विवेक सांख्य का कार्य है, किन्तु उसमें तदाकारता-पूर्वक निष्ठाप्राप्ति योग का कार्य है। सन्मात्र ब्रह्मात्मसाक्षात्कार सांख्य का कार्य है, तो उसमें निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति योग का कार्य है। दोनों ही मार्ग परस्पर सम्बद्ध और एक दूसरे के उपकारक हैं। योग के विना चांचल्य के कारण सांख्य का अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसी तरह विवेकहीन होने के कारण सांख्य के विना योग भी निष्फल है। 'ज्ञान और निष्ठा' यही दोनों का प्रयोजन है। स्वरूप-निष्ठा का तात्पर्य गुणनिवृत्ति है। इसका उपाय निर्विकल्पक निष्ठा है। निर्विकल्पक निष्ठा का स्वरूप सर्वगुण स्वभाव का त्यागकर, निराकार, निर्विकार आत्मस्वरूप में स्थिति है। दोनों एक ही होने से एक ही समय में दोनों मतों का पालन करना अनावश्यक है। कारण इसमें व्यर्थ ही अधिक समय लग जाता है।

अतएव, अन्तःकरण सत्त्वात्मक है, वह विषयोन्मुख है। मन सत्त्व-रजात्मक है, वह संकल्प-रूप है। बुद्धि निश्चय-रूप, चित्त रजस्तमोमय और अनुसन्धानात्मक है। अहंकार तमोमय है, वह मोह-रूप है। एक ही प्रज्ञान भिन्न-भिन्न भावों की कल्पनाओं से तथा नाम, रूप, गुण, धर्म और स्वभाव के कारण अन्तःकरण, मन, बुद्धि आदि नाम प्राप्त करता है। यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है, गुणसाम्य है, चिन्मात्र और अद्वितीय भी है। चैतन्य को छोड़ अन्तःकरण की अन्य कोई वृत्ति ही नहीं है। विषयोन्मुख और गुणात्मक होने से चित्त ही मन-रूप में परिणत हो जाता है। गुणस्वभाव से मुक्त होने के बाद इसका नाम 'आत्मस्वरूप-अज्ञान' हो जाता है। प्रज्ञान से भिन्न कुछ भी नहीं है।

यही महाकारण-शरीर आदि भी है। जब यह कहा जाता है कि 'यह सारा प्रपंच मनोमय है', तब समझना चाहिए कि यहाँ मन ही प्रज्ञान है। सर्वेश्वर के चार शरीर, परमात्मा की चार अवस्थाएँ, कारण-उपाधि में चार पुरुष—सब कुछ मन ही है। 'मन ही चिदानन्द है, मन ही बन्ध, मन ही मोहन, सांख्य का ज्ञान और योगियों का योग, सब कुछ मन ही है।' मन जब बहिर्मुख होता है, तब बाह्य प्रपंच सत्य है; क्योंकि वह मनोमय है, किन्तु मन जब अन्तर्मुख हो जाता है, तब बाह्य प्रपंच मिथ्या हो जाता है; क्योंकि वह मनोमय है। मन अन्तर्वृत्तिमय रहने से प्रपंच अलग हो जाता है, स्वप्न में मनोरथ सत्य है; क्योंकि वह मनोमय है। मन के वृत्तिहीन होने पर सभी वस्तुओं का अभाव हो जाता है; क्योंकि सब कुछ मनोमय है। मन जब आत्मा के अज्ञान से युक्त रहता है, तब अज्ञानमात्र ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है—भावरूप हो या अभाव-रूप, आत्म-रूप हो या अनात्म-रूप, ब्रह्मरूप हो या अब्रह्म-रूप। इसलिए, मन ही जिज्ञासा का विषय है और निरोध का भी विषय है—यही योगमत है। इसके ऊपर अधिष्ठान-दृष्टि से सर्वविवेकवृत्ति का प्रसार और संकोच द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार सहज है। मन चैतन्यात्मक साक्षी, पंचभूत और कारणादि से पृथक् है। वह असंग तथा सर्वप्रकाशक है।

●

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

प्राचीन भूगोल के अनुसार भारतवर्ष सप्तद्वीपा वसुन्धरा के अन्तर्गत जम्बूद्वीप का एक वर्ष है। इसके उत्तर में हिमालय और दक्षिण में लवण-समुद्र है। यह भोग-भूमि होने पर भी विशेषतः कर्म-भूमि है।

पूर्वापर समुद्र-जल से भारतवर्ष ९ खण्डों में विभक्त है। ये ९ खण्ड नवद्वीप नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें कन्या-द्वीप नाम से परिचित नवम द्वीप ही कुमारिका-खण्ड है। यह हिमालय के पादमूल में अवस्थित है। ऋषभ-पुत्र राजा भरत ने यह देश अपनी कन्याकुमारी को दान दिया था। शेष आठ द्वीप आठ पुत्रों को दिये थे। कन्या-द्वीप के दक्षिण में समुद्र के अन्दर बहुसंख्य उपद्वीप हैं। इन सब द्वीप-उपद्वीपों में विभिन्न प्रकार के लोगों का निवास है। जम्बूद्वीप के अन्तर्गत इलावृत प्रभृति वर्षों में एकमात्र त्रेतायुग ही सदा विराजता है, न वहाँ सत्ययुग है, न कलि है। सब वर्षों के भीतर भारतवर्ष ही ऐसा देश है, जहाँ चारों युग वर्त्तमान हैं।

कर्मभूमि भारत—यह विश्व ३६ तत्त्वों से बना हुआ है और इसके प्रत्येक तत्त्व में असंख्य भुवन विद्यमान हैं। सर्वप्रथम तत्त्व पृथिवी है, इसके नीचे अष्ट-पाताल और और उसके नीचे अन्धकारमय बहुसंख्य नरक हैं। सर्वनिम्न-प्रदेश में जो घोर अन्धकारमय स्थान है, जहाँ सविता-रश्मियों का प्रवेश नहीं होता, उसका नाम अवीचि है। पृथिवी के ऊपर भी प्रति तत्त्व में भिन्न-भिन्न भुवन विद्यमान हैं। प्रकृति के ऊपर माया-तत्त्व और माया के ऊपर शुद्ध जगत् में भी असंख्य भुवन दृष्टिगोचर होते हैं। समग्र विश्व में सर्वोच्च भुवन का नाम शिवधाम है। यह अनाश्रित शिव-तत्त्व का ऊर्ध्वतम भुवन है, इसका सम्बन्ध बिन्दु से है। इसके ऊपर कोई भुवन नहीं है, परन्तु निराकार सृष्टि तब भी शक्तिरूप में प्रकट होती है।

इन भुवनों में किये हुए कर्म के अनुसार भोग के लिए जीव की गति होती है। कर्म भारतवर्ष में, विशेष कर कुमारिका-खण्ड में ही, किया जा सकता है। अन्य स्थानों में किये हुए कर्मों का इतना प्रभाव नहीं होता। भारतवर्ष की महिमा इससे प्रतीत होती है। भोग और मोक्ष दोनों के लिए इस कर्म-भूमि में देह-धारण करते हुए कर्म-सम्पादन अत्यावश्यक है।

कन्याद्वीप की यह विशेषता एक प्राकृतिक रहस्य है। तत्त्वदर्शी ऋषियों को अपने योगबल से इसका अनुभव प्राप्त था। पशुभावापन्न जीवों के कल्याण के लिए महाकालादि कोटि रुद्र इसी द्वीप में अवतीर्ण हुए थे, यह आगम में प्रसिद्ध है। महाकाल प्रभृति कोटि तीर्थ और गंगा आदि दिव्य सरित् इसी द्वीप में हैं। वस्तुतः, यह द्वीप तीर्थ-बहुल है। इसीलिए यहाँ जन्म होना अत्यन्त भाग्य की बात है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता—प्राय: ७७ वर्ष पहले विद्वद्वर शशधर तर्कचूडामणि महोदय ने, नाना युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा यह बात प्रतिपादित की थी कि पूर्ण मनुष्यत्व का विकास केवल भारतवर्ष में ही हो सकता है। शीत, ग्रीष्मादि षड् ऋतुओं का सम्बन्ध तथा विभिन्न प्रकार के परस्पर विरुद्ध धर्मों का समन्वय एकमात्र भारतवर्ष में ही दृष्ट होता है। प्रसुप्त शक्तियों के विकास के लिए यही योग्य क्षेत्र है। हुआ भी ऐसा ही—यहाँ जिस संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, जगत् के और किसी देश में उसकी उपमा नहीं है। मिस्र देश (इजिप्ट), फिनिशिया, पार्थिया, क्रीट, भूमध्यसागर की प्राच्य-प्रान्त-भूमि, ग्रीस, प्राचीन चीन—किसी भी देश की संस्कृति गम्भीरता, व्यापकता विरोध-समन्वय-सामर्थ्य और सर्वतोमुख विकास के विषय में भारतीय संस्कृति के साथ तुलना-योग्य नहीं प्रतीत होती। व्यष्टि के साथ समष्टि का तथा दूसरी ओर सर्वातीत मूल सत्ता का इस प्रकार अद्भुत समन्वय और किसी देश में नहीं मिलता। यदि किसी दिन भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक क्रम-धारा के अन्तराल में रहनेवाले तत्त्वों का विश्लेषण सम्पन्न होगा, तो इस संस्कृति की महिमा प्रस्फुटित होगी। अत्यन्त खेद की बात है कि वर्त्तमान समय में भारतीय संस्कृति के स्वरूप का पर्यालोचन करने के लिए विद्वज्जन यथोचित प्रयत्न नहीं कर रहे हैं।

विश्व-संस्कृति का मूल हिन्दू-संस्कृति—हिन्दू संस्कृति इस मूल संस्कृति का एक-देश-मात्र है। एक चिन्तनशील लेखक ने कहा था कि इस मूल संस्कृति से ही क्रमिक संकोच-विकास के प्रभाव से नाना संस्कृतियों का उद्भव हुआ है। दस्युओं की संस्कृति, द्राविड-संस्कृति, आर्य-संस्कृति, बौद्ध-जैन-संस्कृति तथा अभिनव हिन्दू-संस्कृति इसी की क्रम-विवर्त्तमान अवस्था-मात्र हैं। वानरों की तथा राक्षसों की संस्कृति भी उसी की विकृति-मूलक स्फूर्त्ति है। मैं समझता हूँ कि इन सब तत्त्वों की पूरी-पूरी आलोचना करके समझने का समय अब आ गया है।

जो बात समझ में नहीं आती, जिसके प्रति श्रद्धा नहीं है, उसको अक्षत रखने के लिए न हृदय में आकांक्षा होती है और न बाहर कोई उद्यम ही होता है। आदान और विसर्ग दोनों व्यापार जीवनी-शक्ति के निदर्शक हैं। जो निगूढ शक्ति व्यक्तिगत देह का संरक्षण करने के लिए बाहर से पुष्टि-साधक उपादान खींचकर उनको देह-रूप में परिणत कर रही है, जिसके फल से काया का पोषण होता है, उसी एक ही शक्ति से एक ही प्रयोजन सिद्ध करने के लिए देह के भीतर से अनावश्यक हानिकारक मलादि दूषित पदार्थों का अपसरण होता है।

इन दोनों कार्यों से जीवन-व्यापार निष्पन्न होता है। समष्टिगत सामाजिक देह तथा महा-समष्टिगत विश्व-देह के विषय में भी यही एक नियम है। किसी भी संस्कृति की अविच्छिन्न धारा के संरक्षण का यही रहस्य है।

एक प्रदीप से जैसे सहस्र प्रदीप प्रज्वलित किये जा सकते हैं, वैसे ही एक जीवन्त संस्कृति के प्रभाव से सहस्र उपसंस्कृतियों का विकास होता है। भारतवर्ष से तिब्बत (महाचीन), चीन, नेपाल, मध्य एशिया, गान्धार, जापान, कोरिया, ब्रह्मदेश, प्राच्य द्वीप-पुंज (सुवर्णद्वीप, बालिद्वीप, यवद्वीप आदि), प्रतीच्य उपद्वीप, ईरान, सिंहल

प्रभृति नाना देशों में सभ्यता का विस्तार हुआ है, यह अखण्डनीय ऐतिहासिक तथ्य है। सम्भवतः बेबिलोन, मिस्र, उत्तर सीरिया, फिलस्तीन, मैसन आदि स्थानों में भी ऐसा ही हुआ है। क्रीट, एशिया माइनर प्रभृति स्थानों में जो प्राचीन तान्त्रिक साधना के भग्नावशेष मिले हैं, उनका आलोचन करने से प्रतीत होता है कि इनका मूल भी परम्परा से भारतवर्ष ही है। वैदिक और तान्त्रिक दोनों साधनों से देश, काल और निमित्तों के भेद से विशिष्ट आकारों में जगत् के यावतीय साधनों का उद्भव हुआ है। आशा है, निकट भविष्य में वैज्ञानिक गवेषणा से यह प्रमाणित होगा। मूसा, पिथागोरस, अपालोनियस, ईसा आदि के जोवन-चरित्रों का विश्लेषण करने से प्रतीत होता है कि ये लोग अपने दिव्य ज्ञान और शक्ति के लिए साक्षात् या परम्परा से भारतवर्ष के ऋणी थे।

हिन्दू-संस्कृति का नामकरण—और-और धर्मों का जैसा नाम है, भारतीय मूल-धर्म का वैसा कोई नाम नहीं है। हो भी नहीं सकता; क्योंकि जो नित्य व्यापक और सनातन है, वह परिच्छिन्न नाम से परिचित होने योग्य नहीं है। इसीलिए, इसका नाम सनातनधर्म है। बौद्ध, जैन भी इसी प्रकार मूल-धर्म को सद्धर्म मात्र कहते थे। परन्तु व्यवहार-क्षेत्र में विशेष नाम का प्रयोग अवश्य हुआ है। यह नाम तत्तद्देश और तत्तत्काल में प्रचलित है। तदनुसार, आर्य अथवा हिन्दू आदि नामों से सनातन भारतीय संस्कृति का प्रतिपादन करने की चेष्टा की जाती है।

संस्कृति का आत्मा—प्रत्येक संस्कृति का एक विशिष्ट आत्मा है। यही उसका बीज स्वरूप है। बीज अविनश्वर है, अर्थात् प्रवाह-रूप में नित्य है। वृक्ष शुष्क हो जाने पर भी जैसे उसका बीज रह जाता है और सुयोग प्राप्त होने पर फिर अंकुरित होता है, संस्कृति का बीज भी ऐसा ही होता है। जाति में यदि वैशिष्ट्य संरक्षित रहे, तब तो वह जाति जीवित रहती है, उस समय भी बीज तो रहता ही है, परन्तु जाति का लोप हो जाने पर भी उसके बीज का नाश नहीं होता। जाति का जीवन-काल या स्वभाव-स्थिति कितने दिनों के लिए है? इस शंका के समाधान रूप में कहा जा सकता है कि जबतक बीज के विभक्त दो अंशों में मुख्य अंश वंश-परम्परा-क्रम से गौणांश का विकार रहने पर भी अविकृत रहता है, तबतक जाति का जीवन नष्ट नहीं होता। मुख्यांश में विकार प्रायः नहीं होता। कदाचित् हो जाय, तो कहा जाता है कि उस संस्कृति की मृत्यु हो गई, उस जाति का लोप हो गया। जाति का आत्मा क्या है? इस विषय के विशेषज्ञ आचार्य कहते हैं कि यह विशिष्ट संस्कारों का अयुतसिद्ध संघात-मात्र है। प्रत्येक देश में जल, वायु, भूमि, सूक्ष्म वातावरण आदि कारणों से एक विशिष्ट प्रकृति का विकास होता है। उस देश में दीर्घकाल अवस्थान करने के प्रभाव से उस पर देश-प्रकृति की छाप लग जाती है। 'भारतीय संस्कृति' शब्द का तात्पर्य यह है कि यह संस्कृति पूर्वोक्त प्रणाली से भारतीय प्रकृति की छाप से अंकित है। इसीलिए इसमें आर्य, द्राविड, दस्यु, किरात, शक, पह्लव प्रभृति बहुभावापन्न विभिन्न धाराओं के योग रहने पर भी सभी अल्पाधिक भारतीय प्रकृति-सम्पन्न होने के कारण भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश-प्रकृति के अनुरूप

काल-भेद से भी एक नैमित्तिक परिवर्त्तन होता है, उसे युग-प्रकृति कह सकते हैं। इन सब प्रकृतियों के भीतर होकर बीज का आत्मविकास सिद्ध होता है। आनुषंगिक तथा पारिपार्श्विक अवस्था का भी एक प्रभाव है, पर वह उतना गंभीर नहीं है।

इसी प्रकार सूक्ष्म प्रणाली से आलोचना करने पर समझ में आ सकता है कि भारतीय समाज-विज्ञान भेद के भीतर अभेद के दर्शन और अभेद की प्रतिष्ठा के विषय में एक प्रशंसनीय उद्यम है, परन्तु परिश्रम करके इसका आविष्कार करना पड़ेगा। भगवान् श्रीकृष्ण ने जैसे क्षर पुरुष तथा अक्षर पुरुष इन दो परस्पर विरुद्ध तत्त्वों के समन्वय के लिए पुरुषोत्तम तत्त्व का प्रतिपादन किया था और जैसे कामना और निष्क्रियता के एकाधार में समाधान के लिए निष्काम कर्मरूप महायोग का अवतारण किया था, भारतीय संस्कृति का रहस्य भी उसी समन्वय-मार्ग से उद्घाटित होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अखण्ड सत्य का पता—भारतीय संस्कृति को अखण्ड सत्य का पता है। इसीसे यह खण्ड सत्य का भी आदर कर सकती है। इस देश की प्रत्येक विद्या, प्रत्येक कला, प्रत्येक शास्त्र ही एक महान् उद्देश्य से अनुप्राणित है। ब्रह्म-प्राप्ति या आत्मलाभ ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है। प्राचीन समय में भारतवर्ष में सर्व प्रकार साधन का यही परम उद्देश्य था—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाऽधिकं ततः।

भारतवर्ष का यह ज्ञान था कि आत्म-लाभ होने पर और किसी वस्तु की प्राप्ति शेष नहीं रहती। '**भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति**', इस श्रुति में कहा गया है कि जो भूमा या अनन्त है, वही आनन्द-स्वरूप है। इस वस्तु का नाम आत्मा है। जो अनात्मा है, वह सीमाबद्ध और परिच्छिन्न भी है, उसमें आनन्द नहीं है। नित्य, निर्मल चिरस्थायी आनन्द प्राप्त होने पर जीवन का सर्वविध अभाव सदा के लिए मिट जाता है और मनुष्य आप्तकाम होकर धन्य होता है। यह यथार्थ आनन्द बाहर की ओर अन्वेषण करने से नहीं मिल सकता, हृदय के भीतर स्थिर दृष्टि डालने पर ही उसका पता लग सकता है। अन्तर्मुख अवस्था में, परिश्रम किये बिना, स्वतःसिद्ध रूप में उसका प्रकाश होता है। ऋषि इस वस्तु की खबर रखते थे, इसलिए वे अपनी समाज-व्यवस्था, शिक्षा-प्रणाली, कर्त्तव्य-निर्णय प्रभृति विषयों को इस प्रकार कौशल से बना गये हैं कि आ-पामर सभी लोग उनके वाक्य-अनुसरणपूर्वक चलकर इस महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं। जो लोग अ-जपा-साधन करते हैं, उनका अनुभव है कि प्रतिश्वास में भगवन्नाम-स्मरण का प्रभाव कितना अधिक है। इसी प्रकार ऋषि लोग भी जीवन के प्रति कार्य में प्रति पद-क्षेप में भगवत्-शक्ति के अनुस्मरण का माहात्म्य जानते थे। लौकिक विद्या का दृष्टान्त देकर इस विषय का किंचित् स्पष्टीकरण करना है। विद्या के अनन्त भेद होने पर भी यह अखण्डनीय सत्य है कि मूल में विद्या एक ही है। जिससे सत्य या तत्त्व की प्राप्ति होती है, वही विद्या है। यथार्थतः उसी का नाम ब्रह्मविद्या है। वस्तुतः लौकिक विद्या

भी तभी उपादेय रूप में परिगणित हो सकती है, जब वह किसी भी प्रकार से ब्रह्मविद्या का कार्य करती हो।

व्याकरण—व्याकरण-शास्त्र वस्तुतः केवल 'ग्रामर' नहीं है। यह भी ब्रह्मविद्या ही है। इसका मुख्य उद्देश्य वाक्शुद्धि अथवा शब्द-संस्कार है। इसलिए, **'वाङ्मयानां चिकित्सितम्'** कहा गया है। शब्दमात्र शोधित करने पर प्रणव-रूप में परिणत हो जाता है; क्योंकि व्यवहार के सब शब्द ही विकृत रूप हैं। जिनके मूल में एक ही प्रकृति है, वही प्रणव है। उसके विकास से अन्तःकरण-ग्रन्थि छिन्न होकर आत्म-साक्षात्कार का उदय होता है। उस समय वह शब्द सिद्ध-शब्द, अर्थात् कामधेनु-रूप में प्रकट हो जाता है और लौकिक तथा अलौकिक सर्वविध कल्याण का साधन करता है। इसलिए भर्तृहरि ने कहा है कि व्याकरण-मार्ग ही मुमुक्षुओं के लिए सरल राजमार्ग है—

इयं हि मोक्षमाणानां अजिह्मा राजपद्धतिः।

वाक् की व्याकृत और अव्याकृत अवस्था व्याकरण से ही जानी जा सकती है। परा वाक् अव्याकृत है। वाक्-शुद्धि की प्रक्रिया से पश्यन्ती वाक्-पर्यन्त साक्षात्कार हो जाने पर योगी ऋषिपद-वाच्य हो जाते हैं। यह दिव्य ज्ञान की अवस्था है। षोडश-कल पुरुष या आत्मा में यही वाक् अमृतकला रूपा है।

छन्द—इसी प्रकार, छन्दःशास्त्र केवल 'प्रोसोडी' नहीं है। यह भी ब्रह्मविद्या है। छन्द से ही जगत् की सृष्टि होती है और सृष्टि के अतीत परमपद को पाने के लिए भी छन्द ही उपाय है : **'छन्दांसि छादनात्।'** देवता किसी समय मृत्यु से भयभीत हुए थे। उसी समय छन्दों ने उन्हें आच्छादित करके मृत्यु से बचाया था। छन्द और वेद स्वरूप में एक ही हैं। छन्द से जिस शुद्ध सृष्टि का आविर्भाव होता है, उसी में ब्रह्म में प्रविष्ट होने का सामर्थ्य रहता है। जिसमें छन्द नहीं है या जिसका छन्द विकृत है, वह ज्योति के राज्य में नहीं जा सकता। गायत्री आदि छन्दों का रहस्य उद्घाटन करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। जो लोग सद्गुरु-कृपा से अनुसन्धान करेंगे, वे स्वयं ही यह समझ सकेंगे। रोग, शोक, ताप इत्यादि का उद्भव छन्दोभंग से ही होता है। स्वच्छन्द अवस्था ही मुक्तिप्रद है। आत्मा की मोक्ष-दशा में छन्द ठीक रहता है। उसी को पुनः प्राप्त करना छन्दोविज्ञान का उद्देश्य है।

काव्य और साहित्य—काव्य और साहित्य क्या है? ये 'पोएट्री' अथवा 'रेटॉरिक' मात्र नहीं है। ये भी ब्रह्मविद्या हैं। प्राचीन काल में कवि-पद से ब्रह्मविद् समझा जाता था। **'कवयः क्रान्तदर्शिनः'** यही प्राचीन दृष्टि है। **'कविं पुराणमनुशासितारम्'** इत्यादि वचनों में भी कवि शब्द से ज्ञानी ही माना जाता है। वाक् (शब्द) और अर्थ के सहित भाव से ही साहित्य का उद्भव है। वाक् और अर्थ यथाक्रम शक्ति और शिव के वाचक हैं। शिवशक्ति-सामरस्य ही साहित्य है। इसका आत्मा अथवा प्राण रस है। ह्लादिनी-शक्ति तथा संवित्-शक्ति इन दो स्वरूप-शक्तियों के अभेद से रस का आस्वादन होता है : **'रसो वै सः।'** वस्तुतः रस स्वयम्प्रकाश ब्रह्मतत्त्व का ही नामान्तर है।

संगीत और नाट्य—इसी प्रकार संगीत-शास्त्र और नाट्यशास्त्र ब्रह्मविद्या हैं। नाद से सृष्टि होती है। तथा नाद में ही लय होता है। नाद का विज्ञान ही संगीत-विद्या है। नृत्य-विज्ञान भी वस्तुतः ब्रह्म-विज्ञान ही है। नटराज शंकर अथवा नटवर श्रीकृष्ण के नृत्य से जगत् का उद्भव हुआ है और उसी में उसका पर्यवसान भी होता है।

वैदिक कर्मकाण्ड—वैदिक कर्मकाण्ड का रहस्य इस समय जगत् भूल गया है। वस्तुतः यह भी ब्रह्मविज्ञान की ही अत्युच्च अभिव्यक्ति है। वेदि-तत्त्व, कुण्ड-तत्त्व, विभिन्न प्रकार के अग्नि-तत्त्व, अग्नि-चयन, अग्नि-मन्थन आदि व्यापार ब्रह्मविद्या के ही अंगीभूत हैं।

सच कहा जाय तो प्राचीन काल में काम-शास्त्र तक भी ब्रह्म-विज्ञान का ही रूप रहा है। यह केवल 'सेक्सुअल साइन्स' या 'इरोटिक्स' नहीं है। कामकला-तत्त्व की अभिव्यक्ति के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पुरुष और प्रकृति, अर्थात् नायक और नायिका किस प्रकार मिलित होने पर दोनों के अर्धांग यथावत् मिलकर पूर्णांग अखण्ड ब्रह्मरूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं, उसी का रहस्य काम-कला-विज्ञान में है।

दृष्टान्त अधिक बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि आत्मविद्या ही मुख्य विद्या है। इतर विद्याएँ मुख्य नहीं हैं। इसका ज्ञान ही रहस्य-ज्ञान है।

●

शङ्कराचार्य और अवैदिक ईश्वरवाद

वेदान्त-दर्शन के तर्कपाद के ३७—४१ सूत्र की व्याख्या करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित कर जिस मत का खण्डन किया है, उसका स्वरूप क्या है ? यह मत वेद के अनुकूल अथवा वेद के विरुद्ध है ? अधिकरण की अवतरणिका में आचार्य कहते हैं—'इदानीं केवलाधिष्ठात्रीश्वरकरणवादः प्रतिषिध्यते।' इससे विदित होता है कि जो लोग ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं, उन लोगों के मत का खण्डन करने के उद्देश्य से ही वर्त्तमान अधिकरण की रचना हुई है। उपन्यस्त पूर्वपक्ष से विदित होता है कि ये सब मतवादी ईश्वर को जगद्रूप-कार्य की प्रकृति अथवा उपादान नहीं स्वीकार करते, केवल अधिष्ठाता किंवा निमित्त कारण मानते हैं। इस प्रकार के ईश्वरवाद को वेदान्तविहित ब्रह्माद्वैतवाद का प्रतिपक्षी बतलाकर शंकराचार्य ने उसका खण्डन किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस कल्पना को 'वेदबाह्य' वा अवैदिक बतलाया है। रत्नप्रभाकर और आनन्दगिरि ने प्रकरण की अवतारणा में इसको जटाधारी शैव अथवा माहेश्वर सम्प्रदाय का मत बतलाया है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के अवैदिक ईश्वरवाद के भिन्न-भिन्न अनेक प्रस्थान हैं।

इनमें से कोई-कोई सांख्य योग की दार्शनिक प्रक्रिया का अवलम्बन कर ईश्वर को प्रकृति और पुरुष का अधिष्ठाता और केवल निमित्त कारण मानते हैं। हिरण्यगर्भ, पतञ्जलि प्रभृति इस मत के पोषक हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, इनके मत में प्रकृति, पुरुष एवं ईश्वर यह तीनों एक दूसरे से पृथक् हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पशुपति या ईश्वर ने पशु, अर्थात् जीव को पाशबन्धन से मुक्त करने के लिए कार्य, कारण, योग, विधि एवं दुःखान्त इन पाँच पदार्थों का उपदेश किया है। महत् प्रभृति को कार्य, ईश्वर को कारण, प्रणवादि के ध्यान-धारण प्रभृति को योग, त्रिषवण स्नान से आरम्भ कर गूढ़चर्या-पर्यन्त विधान को विधि एवं मोक्ष को दुःखान्त कहते हैं। यह पशुपति या ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं। ये सब माहेश्वर सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं और शैव आगम का अनुसरण करते हैं। वैशेषिक प्रभृति कोई-कोई सम्प्रदाय ईश्वर को निमित्तता-मात्र स्वीकार करते हैं।

ऊपर जिस माहेश्वर सम्प्रदाय की बात कही गई है, वह वाचस्पतिमिश्र, आनन्दगिरि और गोविन्दानन्द के मत के अनुसार चार भागों में विभक्त है। इन सब अवान्तर विभागों के नाम शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धान्ती और कापालिक हैं। शङ्कराचार्य ने वैशेषिक और योगमत को माहेश्वर मत से पृथक् माना है। किन्तु, गोबिन्दानन्द और आनन्दगिरि की व्याख्या के अनुसार शंकराचार्य ने इस समग्र प्रकरण के द्वारा जटाधारी शैवमत का ही खण्डन किया है।

इस व्याख्या के साथ शंकराचार्य के पूर्वपक्षीय उपन्यास की संयोजना करने पर यह अनुमित होता है कि शंकरोक्त योगमत माहेश्वर मत और वैशेषिक-मत सभी शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत विभिन्न सिद्धान्त-मात्र हैं। गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में न्यायमत को शैव एवं वैशेषिक मत को पाशुपत कहा है। प्रसिद्धि है कि आधार, भस्म, कौपीन, जटा और यज्ञोपवीत धारण करनेवाले तपस्वी अपने-अपने आचार आदि के भेद से शैव, पाशुपत, महाव्रती एवं कालमुख इन चार भागों में विभक्त है।[१] सुतरां ऐसा मालूम होता है कि वैशेषिक सम्प्रदाय पाशुपत सम्प्रदाय का एक अवान्तर विभाग था। रामानुज ने अपने भाष्य में शैव, पाशुपत, कापाल और कालमुख इन चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। कापाल-व्रत को प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलों पर 'महाव्रत' के नाम से कहा गया है।[२] सुतरां हम 'महाव्रती' और 'कापालिक' इन दोनों को यहाँ अभिन्नार्थक शब्द समझ सकते हैं।

यहाँ इस बात की जिज्ञासा होती है कि यह सब मत वस्तुतः वेदबाह्य थे या नहीं और इन्होंने सर्वत्र ईश्वर-निमित्तता स्वीकार की थी या नहीं। वैशेषिक-मत और योगमत ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वैशेषिक मत में परमाणु और योगमत में प्रधान, जगत् का उपादान कारण है। अधिष्ठाता ईश्वर परमाणु और प्रधान से सम्पूर्ण भिन्न वस्तु है।

परन्तु, इसलिए इन दोनों मतों को 'वेदबाह्य' कह सकते हैं या नहीं, यह विवेच्य है। वैशेषिक सूत्र और प्रशस्तपाद भाष्य देखने से वर्त्तमान वैशेषिक शास्त्र का अवैदिकत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। तथापि यदि हम यह मान लें कि वैशेषिक के आचार्य पाशुपत धर्मावलम्बी थे, तो आचार के कारण उनकी गणना वेद-प्रतिपक्षियों में हो सकती है। प्राचीन काल से ही पाशुपत-सम्प्रदाय की वेदानुकूल प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह रहा है। अन्ततः, यह मानना ही होगा कि पाशुपत सम्प्रदाय कियदंश में वेदाचारसम्मत होते हुए भी अनेक अंशों में अवैदिक आचार का ही पक्षपाती था। शिवपुराण में रुरु, दधीचि, उपमन्यु और अगस्त्य, इन चार ऋषियों से प्रवर्त्तित पाशुपत शास्त्र को वैदिक माना है और कामिक आदि २८ आगम-मूलक अन्य सब पाशुपत शास्त्र को अवैदिक कहकर उनकी उपेक्षा की है। शङ्कराचार्य भी इन सब आगमों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने से कुण्ठित रहे। यथा :

परस्यापि सर्वज्ञप्रणीतागमसद्भावात् समानमागमबलमिति चेत्। न इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादागमप्रत्ययात् सर्वज्ञत्वसिद्धिः सर्वज्ञप्रत्ययाच्चागमसिद्धिरिति।

(ब्रह्मसूत्र-भाष्य, २, २, ३८)

---

१. आधारभस्मकौपीनजटायज्ञोपवीतिनः।
स्वस्याचारादि भेदेन चतुर्धा स्युस्तपस्विनः॥
शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा।
तुर्याः कालमुखा मुख्या भेदा एते तपस्विनाम्॥

२. शिवपुराण के अनुसार (वायवीय संहिता, उत्तर भाग, २४-१७७) 'महाव्रतधर' और 'कापालिक' पृथक् सम्प्रदाय हैं।

जो कुछ हो, माहेश्वर मत का एकदेश वेदबाह्य होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वांश अवैदिक है। माहेश्वर मत की आलोचना के प्रसङ्ग में टीकाकारों के अनुसार शैवादि प्रस्थानचतुष्टय की आलोचना आवश्यक है। शैव सिद्धान्त मत में परमेश्वर नित्य पंचकृत्यकारी है। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह, यह पाँच उसके 'कृत्य' हैं। शुद्धाध्व में इन सब कृत्यों को वह साक्षात् भाव से करता है। और अशुद्धाध्व में अनन्तादि द्वारा परम्परा से करता है। उसकी साक्षात् सृष्टि द्विविध है। इस सृष्टि का उपादान बिन्दु या महामाया है। वह इस उपादान से शुद्ध तत्त्व, भुवन प्रभृति उत्पादित कर, विद्या, विद्येश्वर प्रभृति भुवनवासियों के लिए बैन्दव शरीर की योजना करता है। एतद्व्यतीत नादादिक्रम का अवलम्बन कर विद्या का विकास करना भी उसकी साक्षात् सृष्टि के अन्तर्गत है। परमेश्वर की परम्परा-सृष्टि भी दो प्रकार की है। माया प्रभृति इस सृष्टि के उपादान हैं। परमेश्वर अनन्त प्रभृति के द्वारा इस उपादान से अशुद्ध तत्त्व, भुवन आदि उत्पन्न करता है, और पशु या जीवों के सूक्ष्म तात्त्विक शरीर और स्वकीय कर्मानुरूप भौवन शरीर की योजना करता है। इसको छोड़कर मन्त्रेश्वर गण की अधिकारानुरूप शरीर-सृष्टि इस परम्परा-सृष्टि के अन्तर्गत है। परमेश्वर की उभयविध सृष्टि में ही स्वसत्ता से पृथक् उपादानादि की आवश्यकता स्वीकृत हुई है। बिन्दु या महामाया और मायादि जगत् का उपादान कारण है। परमेश्वर अधिष्ठाता-मात्र हैं।

पाशुपत मत में परमेश्वर या पशुपति स्वतन्त्र तत्त्व है--वही जगत् का कारण है। उसकी दृक्शक्ति अनन्त है। क्रियाशक्ति भी अनन्त है। इसी का दूसरा नाम 'ऐश्वर्य' है। परतन्त्र तत्त्व को 'कार्य' कहते हैं। यह 'कार्य' विद्या, कला और पशु-भेद से तीन प्रकार का है। 'विद्या' पशु का गुण है। विद्या दो प्रकार की है—बोधस्वभावा और अबोधस्वभावा। चेतनाधीन अचेतन तत्त्व को 'कला' कहते हैं। यह कार्यकारणात्मिका है। पृथिव्यादि पाँच भूत और रूपादि पाँच गुण कार्यवर्ग के अन्तर्गत हैं। एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण, ये तेरह कारणवर्ग के अन्तर्गत हैं। कुछ लोग प्रधान को अलग मानते हैं और कुछ लोग अलग नहीं मानते। इस मत में परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं है, निमित्तमात्र है।

कारुणिक-सिद्धान्त यदि कालमुख से अभिन्न हो और कालमुख-सम्प्रदाय यदि कापालिक सम्प्रदाय का एक विभाग हो तो ऐसी अवस्था में कापालिक-मत के साथ उसका विशेष भेद नहीं माना जा सकता। किन्तु, कापालिक मत में परमेश्वर को अद्वैत तत्त्व ही माना गया है। जब संहारभैरव अन्यान्य खण्ड भैरवमूर्त्तियों को आत्म-लीन करके प्रलय के अन्त में अपने-आप में विराजते हैं, तब कोई दूसरी सत्ता नहीं रह जाती। वस्तुतः, सृष्टि-दशा में भी जगत् स्वगतभेद युक्त होते हुए भी ईश्वर के साथ अभेदरूपेण सम्बद्ध रहता है।[१]

ईश्वर नित्य युगल रूप में प्रकाशमान है। शक्त्यालिङ्गित शिव या उमामहेश्वर-

---

१. एकमात्र योगी ही इस अभेद को देख सकते हैं। कापालिक कहते हैं—'पश्यामि योगाञ्जनशुद्ध-

मूर्त्ति कापालिकों के उपास्य देव हैं। कभी-कभी अर्द्धनारीश्वर रूप का भी प्राधान्य पाया जाता है। जगत् के माता-पिता नित्यसम्पृक्त वाक् और अर्थ के समान नित्य युक्त हैं। अन्यान्य तान्त्रिकों के समान कापालिक भी इस मूर्त्ति की श्रेष्ठता अङ्गीकार करते हैं।

सौन्दर्यलहरी के निम्नलिखित श्लोक से विदित होता है कि शिव-शक्ति के मिलन से ही जगत् की उत्पत्ति होती है—

तवाधारे मूले सह समयया लास्यपरया
नवात्मानं मन्ये नवरसमहाताण्डवनटम्।
उभाभ्यामेताभ्यामुदयविधिमुद्दिश्य दयया
सनाथाभ्यां जज्ञे जनकजननीमज्जगदिदम्॥४१॥

पूर्वकौल, उत्तरकौल, समयाचारी प्रभृति सबका यही मत है। वामाचार किंवा दक्षिणाचारमूलक प्रभेद इस विषय में नहीं पाया जाता। कापालिक वामाचारी होते हुए भी परमेश्वर को शिवशक्त्यात्मक मानते हैं—केवल शिवात्मक नहीं।[१]

सुतरां जगत् के शिव-शक्ति से ही उत्पन्न होने के कारण जगत् शिवशक्त्यात्मक, ईश्वरात्मक या ईश्वर से अभिन्न है। कापालिकों के मत में ईश्वर जगत् का निमित्त और उपादान कारण है। प्रबोधचन्द्रोदय, मालतीमाधव, आनन्दगिरि के शङ्करविजय प्रभृति ग्रन्थों से कापालिक मत का जो परिचय मिलता है और तान्त्रिक ग्रन्थादि से इसी प्रकार के मत का जो विवरण उपलब्ध होता है, उस पर विचार करने से मालूम होता है कि कापालिक-सिद्धान्त अनेक अंशों में अद्वैतवाद का केवल प्रकारभेद है। निमित्त और उपादान-भेद न होने के कारण एवं परमेश्वर को उभय प्रकार का कारण स्वीकार करने से भगवान् शङ्कराचार्य के आक्रमण की सार्थकता नहीं रह जाती। सुतरां विवेचना से मालूम पड़ता है कि शङ्कराचार्य ने माहेश्वर पद से कापालिक-मत का ग्रहण नहीं किया है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि कापालिक-मत वेदबाह्य है, तथापि आचार्य ने इसका खण्डन करने के लिए यहाँ प्रयत्न नहीं किया। भामतीकार प्रभृति और रामानुज आदि सभी ने कापालिक-मत को भी प्रकरण के पूर्वपक्ष में अन्तर्भुक्त मान लिया है, पर यह सम्भव नहीं मालूम होता।

चक्षुषा, जगन्मिथो भिन्नमभिन्नमीश्वरात्।' (प्रबोधचन्द्रोदय, अङ्क ३)। इसी से स्पष्ट मालूम होता है कि जगत् ईश्वर से अभिन्न है।

१. प्रबोधचन्द्रोदय में कहा है कि कापालिक मत के अनुसार जीव मुक्त होकर शिवत्व-लाभ करता है, शिवरूप धारण करता है और शिव के समान पार्वती-प्रतिरूपक शक्ति द्वारा नित्यालिङ्गित होकर स्वेच्छानुसार विहार करता है। मालतीमाधव में शक्तिनाथ या शिव को शक्तिवर्ग द्वारा परिणद्ध माना है।

शक्तिपात-रहस्य

[१]

आत्मा की स्वरूपावस्थिति अथवा मोक्षप्राप्ति ही मानव-जीवन का स्वाभाविक उद्देश्य है। धारणा-शक्ति के अभाव से साधारण लोग भले ही यह बात स्वीकार न करें, परन्तु इसकी सत्यता के विषय में विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है। यथा-समय सभी को यह बात हृदयंगम हो जाती है। जबतक मनुष्य अपने स्वरूप में स्थिति प्राप्त न करेगा अथवा कम-से-कम स्थिति-लाभ के सच्चे मार्ग में पदार्पण नहीं करेगा, तबतक उसको अपने शुभाशुभ कर्मों के अधीन होकर उनके सुखदुःख-रूप फल भोगने के लिए तदनुरूप विभिन्न स्थानों में निरन्तर भटकना पड़ेगा तथा बाध्य होकर जन्म-मरण के चक्र में नियमतः आवर्त्तन करना पड़ेगा। यही संसार है। विना स्वरूप में स्थित हुए इससे मुक्तिलाभ को कोई सम्भावना नहीं है।

तो क्या स्वरूप-स्थिति का कोई उपाय नहीं है? है, अवश्य है और जीव उसे प्राप्त भी कर सकते हैं। जिस समय जीव उस उपाय को प्राप्त कर लेते हैं, उस समय उसके तारतम्य के अनुसार शीघ्र अथवा विलम्ब से अक्रम अथवा सक्रम भाव से वे संसार से मुक्त होकर अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। आत्मा का यह पूर्ण स्वरूप ही भगवत्तत्व या पूर्णब्रह्मभाव है।

तान्त्रिक आचार्यों की परिभाषा में इस उपाय को 'शक्तिपात' कहा जाता है। भगवदनुग्रह या कृपा भी इसी का नामान्तर है। इसको छोड़कर शुद्ध पौरुष प्रयत्न से भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। वस्तुतः, भगवन्मुखी वृत्ति के मूल में सर्वत्र भगवत्कृपा माननी ही पड़ती है; क्योंकि विना उनकी कृपा के उनकी ओर चित्त की गति हो ही नहीं सकती।

शक्तिपात अथवा कृपा के विषय में शास्त्र में बहुत जगह अनेक प्रकार से आलोचना की गई है। खीष्टीय, नोष्टिक, सूफी प्रभृति विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भी इस विषय का बहुत विवरण देख पड़ता है। हम प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल तन्त्र-शास्त्र की दृष्टि से ही इस विषय में संक्षेप से आलोचना करना चाहते हैं।

शक्तिपात अथवा अनुग्रह कब और क्यों होता है, इसका उत्तर दृष्टिभेद से अनेक प्रकार से दिया जाता है।

[२]

किन्हीं-किन्हीं का मत है कि शक्तिपात ज्ञान के उदय से होता है। अज्ञान से संसार का उद्भव होता है और ज्ञानोदय से अज्ञान की निवृत्ति होकर शक्तिपात होता है। ज्ञानरूप अग्नि सब प्रकार के कर्मों को भस्म करके शक्तिपात की भूमि तैयार

करता है। ये लोग कहते हैं कि कर्मफल का भोग चाहे, क्रम से हो, चाहे क्रमहीन भाव से, उसके द्वारा कर्म की आत्यन्तिकी निवृत्ति हो नहीं सकती। क्रमिक भोग स्वीकार करने पर कर्मान्तर का प्रसंग अनिवार्य हो जाता है। अतः, निरन्तर नूतन कर्म उत्पन्न होते रहने के कारण किसी भी समय समस्त कर्मों के क्षय की सम्भावना नहीं हो सकती। और, उस सन्देह की निवृत्ति कर्मफल-भोग को क्रमिक न मानकर युगपत् (एक साथ) मानने पर भी नहीं हो सकती; क्योंकि इस प्रकार तो कर्मफल का भोग होना ही सम्भव नहीं है। क्रमशः फल देना—यही कर्मों का स्वभाव है। एक ही समय समस्त कर्मों का फलभोग स्वीकार करने पर तो कर्म का स्वभाव ही नष्ट हो जाता है। परन्तु, स्वभाव का नाश होना कदापि सम्भव नहीं है। इसलिए, किसी भी प्रकार से भोग के द्वारा कर्म का क्षय होना उपपन्न नहीं होता। इसी से ज्ञानवादी आचार्यों के मत में ज्ञान को ही कर्मक्षय के कारण-रूप से ग्रहण करके उसीके साथ शक्तिपात का कार्य-कारण-सम्बन्ध माना जाता है।

परन्तु, यह ज्ञान या सम्यग्ज्ञान किस प्रकार से आविर्भूत होता है, इसका ठीक-ठीक प्रकार से समाधान नहीं होता। यदि कर्म को ज्ञान का कारण माना जाता है, तो ज्ञान को कर्म का फल मानना पड़ता है। इस अवस्था में ज्ञान और कर्मफल समानार्थक हो जाते हैं और ज्ञानी को भी कर्मफलभोगीरूप से स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। अतएव, ज्ञानोदय से शक्तिपात स्वीकार करने पर प्रकारान्तर से भोगों में ही शक्तिपात मानना पड़ता है। इसमें अतिप्रसंग दोष आता है। कोई-कोई कहते हैं कि कर्म का फल होने पर भी ईश्वर की इच्छा से ज्ञान में कुछ विशेषता है। स्वर्गादि कर्मफल कर्मान्तर को दग्ध नहीं कर सकते, किन्तु ज्ञान स्वयं कर्मफलात्मक होने पर भी कर्मान्तर को दग्ध कर देता है। यही इसकी विशेषता है। इस मत के अनुसार ज्ञानोदय में अन्योन्याश्रय[1] और व्यर्थतादोष का तथा ईश्वर में रागादि की प्राप्ति का प्रसंग आता है, इसलिए यह मत भी उपादेय नहीं है।

[३]

किसी-किसी आचार्य का ऐसा मत है कि शक्तिपात का वास्तविक कारण ज्ञान नहीं है, अपितु कर्मसाम्य है दो समान बलवाले विरुद्ध कर्मों के पारस्परिक प्रतिबन्ध से कर्म का साम्य होता है और इस साम्य से ही शक्तिपात होता है। क्रमिक भोग के प्रभाव से बहुत-से कर्म क्षीण हो जाने पर किसी अनिश्चित समय में यदि परिपक्व और समान बलविशिष्ट विरुद्ध कर्म फल के विषय में रुद्ध हो जायें, अर्थात् अपना-अपना फल प्रदान न करें—नियत भोगविधान न करें, और उसके पीछे होनेवाले सभी कर्म अपरिपक्व होने के कारण भोगोन्मुख न हों, तो इस प्रकार से विरुद्ध कर्मों का साम्यभाव हो जाता है।

इस मत के विषय में कहना यह है कि यदि कर्म को क्रमिक माना जाय, तो उसके फलदान को भी क्रमिक ही मानना होगा। ऐसी अवस्था में किन्हीं भी दो

१. अर्थात् ज्ञानोदय से ईश्वरेच्छा की निमित्तता का अनुमान और ईश्वरेच्छा के अनुमान से ज्ञानोदय।

कर्मों को पारस्परिक विरोध की सम्भावना ही कहाँ है। एक कर्म के स्वरूप में ही दूसरे कर्म की स्थिति तो रह नहीं सकती। इसलिए, किन्हीं भी विभिन्न कर्मों का एक साथ रहना सम्भव नहीं है। इस प्रकार इस आलोचना से स्पष्ट मालूम होता है कि कर्म सर्वथा ही क्रम के अधीन हैं। दो कर्मों के पारस्परिक विरोध से यही समझना चाहिए कि वे दोनों एक दूसरे के फल को रोकते हैं, जिससे किसी क्षण में उनकी युगपत् प्रवृत्ति का उदय नहीं होता। एक बात और भी है, विरोध स्वीकार करते हुए साथ-साथ यह भी मानना पड़ता है कि उस समय एक दूसरा अविरुद्ध कर्म भोगात्मक फल दान करता रहता है। यदि उस अवस्था में किसी भी अविरुद्ध कर्म की प्रवृत्ति स्वीकार न करे, तो उसी क्षण देहपात हो जाना चाहिए; क्योंकि यह भोगायतन देह एक क्षण भी विना भोग के रह नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि जाति और आयु इन दो फलों को देनेवाला कर्म प्रतिबद्ध नहीं होता, केवल भोगप्रद कर्म ही प्रतिबद्ध होता है, तो यह प्रश्न होगा कि यदि जाति और आयुप्रद कर्म के रहते हुए भी शक्तिपात हो सकता है, तो भोगप्रद कर्म रहने पर ही क्यों नहीं हो सकेगा।

[४]

तन्त्रशास्त्र के द्वैतमतावलम्बी आचार्यों का यह मत है कि ज्ञान अथवा कर्म-साम्य शक्तिपात का हेतु नहीं है, उसका कारण तो मलपाक ही है। ये लोग कहते हैं—

परस्परविरोधेन निवारितविपाकयोः।
कर्मणोः सन्निपातेन शैवी शक्तिः पतत्यसौ ॥[1]

दो विरुद्ध कर्मों में दोनों ही धर्मात्मा हो सकते हैं—जैसे स्वर्गप्रापक और ब्रह्म-लोकप्रापक कर्म। दोनों ही अधर्मात्मक हो सकते हैं। जैसे अवीचिनरक-प्रापक और रौरवनरक-प्रापक कर्म। अथवा एक धर्म्य और एक अधर्म्य हो सकता है—जैसे अश्वमेध और ब्रह्महत्या। ऐसे दो विरुद्ध कर्मों का सन्निपात होने पर भी शिवत्वदायिनी अनुग्रहात्मिका शक्ति का आत्मा में पात नहीं होता। विना मलपाक हुए शक्तिपात हो ही नहीं सकता। मतंगागम में लिखा है—'मलपाक की अविनाभूत दीक्षा कर्मक्षय के द्वारा मोक्षप्राप्ति का हेतु बनती है।' किरणागम में कहा है—

अनेकभविकं कर्म दग्धबीजमिवाग्निभिः।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः ॥[2]

मलपाक से अनुग्रह-शक्ति का पात होता है। शक्तिपात होते ही मल का आवरण हट जाता है और अपना विशुद्धसर्वज्ञत्वादिमय[3] स्वरूप प्रकाशित होता है,

---

१. परस्पर विरोध के द्वारा जिनका फलदान रुक गया है, उन कर्मों का सन्निपात होने पर यह शैवी शक्ति पतित नहीं होती।

२. अनेक जन्मों का संचित कर्म अग्नि से भुने हुए बीज के समान दग्ध हो जाता है, भावी कर्म की फलोत्पादिका शक्ति रुक जाती है तथा जिससे यह जन्म हुआ है, उस प्रारब्धकर्म का भोग से क्षय हो जाता है।

३. सर्वज्ञत्व-सर्वकर्त्तृत्व आदि शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार के हैं। अपरा मुक्ति में, अर्थात

अर्थात् शान्त और निर्मल आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। एक ही परमेश्वर जीव का बन्धन भी करते हैं और मोक्ष भी। जैसे, एक ही सूर्य अपने सान्निध्य से द्रवीभूत हो जानेवाले मोम में द्रवता तथा सूख जानेवाली मृत्तिका में शुष्कता उत्पन्न करते हैं, वैसे एक ही परमेश्वर मोक्ष के अधिकारी पक्कमल जीव के लिए मोक्ष का प्रबन्ध करते हैं और बन्धन के योग्य अपक्कमल जीव के मलपाक के लिए उसके बन्धन की व्यवस्था करते हैं। मलपाक से उपकार तथा अपकार-रूप दोनों प्रकार के कर्मों के विषय में साम्यबुद्धि होनेपर मोक्ष होता है। सब प्रकार के कर्म-साम्य से केवल विज्ञानकैवल्य की ही प्राप्ति होती है, मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। यथार्थ कर्मसाम्य का कारण मल का पाक ही है। इससे ही दीक्षा के द्वारा मोक्षप्राप्ति हो सकती है। परमेश्वर नित्य, निर्मल, सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता हैं, परन्तु पशु-आत्मा मल, माया और कर्म-रूप पाश से बँधा हुआ है। परमेश्वर कृपा करके उसके ये समस्त पाशा-त्मक बन्धन काटकर उसको अपने सदृश बना लेते हैं। इसी को शिव-साधर्म्य की अभिव्यक्ति कहते हैं, जिसका नामान्तर 'अनुग्रह' अथवा 'मोक्ष' भी है। परन्तु, जबतक पशुओं के चैतन्य का उपरोध करनेवाले अनादि मल का अधिकार निवृत्त नहीं होता, तबतक इस अनुग्रह की प्रवृत्ति ही नहीं होती।

मृगेन्द्र-आगम में लिखा है—

तमःशक्त्यधिकारस्य निवृत्तेस्तत्परिच्युतौ।
व्यनक्ति दृक्क्रियानन्त्यं जगद्बन्धुरणोः शिवः॥[1]

तमःशक्ति रोधशक्ति या तिरोधान का नामान्तर है। जबतक इस शक्ति का अधिकार रहेगा, तबतक उद्धार का उपाय नहीं है। अनादि मल क्रम से धीरे-धीरे पक्क हो रहा है—परिणाम को प्राप्त हो रहा है। पूर्ण परिपक्कता होने पर उसकी निवृत्ति का समय उपस्थित होता है। नेत्र में जाली पड़ जाने पर अस्त्रक्रिया द्वारा उसे दूर करना पड़ता है। परन्तु, जबतक वह पूरी पक नहीं जाती, तबतक अस्त्र-प्रयोग नहीं किया जाता। अपक्क मल को खींचकर हटाने का प्रयत्न करने से जीव का सर्वनाश हो जायगा। इसीलिए मंगलमय भगवान् इस प्रकार का बल-प्रयोग नहीं करते। वे मल के परिपाक के लिए अवसर की प्रतीक्षा करते हैं और मल परिपक्क होने पर दीक्षा के द्वारा उसे हटाते हैं। यही उनका जीवोद्धार का क्रम है। इस मत में मल द्रव्यात्मक है और क्रिया से ही उसकी निवृत्ति मानी जाती है। अवश्य यह क्रिया

आधिकारिक शिवावस्था में ये सब स्वरूप से अभिन्न होनेपर भी कुछ विभिन्नवत् प्रतीत होते हैं। किन्तु, परा मुक्ति या परम शिवावस्था में शिव और शक्ति में पूर्ण सामरस्य हो जाने के कारण ये सब स्वरूप से सर्वथा अभिन्नतया प्रकाशित होते हैं। इस समय धर्म-धर्मी या गुण-गुणी का कोई भेद प्रतीत नहीं होता। इसलिए, यह इनकी शुद्धावस्था है तथा अपरा मुक्ति में इनकी अशुद्धावस्था रहती है।

१. आवरण-शक्ति के अधिकार की निवृत्ति हो जाने पर उस शक्ति का क्षय हो जाने के अनन्तर जगद्बन्धु परमेश्वर पशु (बद्धजीव) के प्रति उसकी ज्ञानक्रिया का अनन्तत्व अभिव्यक्त कर देते हैं, अर्थात् उसे मुक्त कर देते हैं।

जीव का कर्म नहीं है, ईश्वर का व्यापार है, जिसका शास्त्रीय नाम दीक्षा है। परन्तु, जबतक मल का परिपाक नहीं होता, तबतक इस व्यापार की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मलपाक के लिए ही भगवान् जीव को अलक्षित भाव से अनादि कर्मभोगात्मक संसार में डालते हैं। यही उनका तिरोधान अथवा रोधनात्मक कृत्य है। वस्तुतः-सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों तिरोधान के प्रकार-भेद हैं—तीनों में तिरोधान अनुस्यूत है। मल के समान माया तथा कर्म का पाक भी आवश्यक है। माया-शक्तियों को अभिव्यक्ति के योग्य करना ही मायापाक का उद्देश्य है। इसी प्रकार कर्म भी पक्व होने पर ही अपना फल देने में समर्थ होते हैं, अपक्व कर्म फलदान नहीं कर सकता। सब पाशों के पाक या परिणाम का मुख्य कारण परमेश्वर का सामर्थ्य या स्वातन्त्र्य है। अनेक जन्मों की वासना तथा पुण्यपुंज के प्रभाव से किसी भी समय में अथवा किसी भी आश्रम में स्थित रहने के समय अचिन्त्य भाग्योदय से किसी आत्मा की चैतन्य-शक्ति के अनादि आवरणभूत मल का किंचित् पाक होने पर तदनुरूप शक्ति-पात होता है। यही कृपा है। इसकी मात्रा के अनुसार परमेश्वर के प्रति भक्ति-श्रद्धादि का उदय होता है। उस समय उस शक्तिपात के अनुरूप दीक्षा का अवसर आता है। शक्तिपात के तारतम्य के अनुसार दीक्षा का भी भेद होता है। इस मत में शक्तिपात के तारतम्य का मूल मलपाक की विभिन्नता ही है।

यह कहना निष्प्रयोजन है कि इस मलपाक के सिद्धान्त से भी अनुग्रह-तत्त्व का चरम रहस्य नहीं खुलता। भेदवादी आचार्य मल का नाश नहीं मानते; क्योंकि मल एक होने के कारण यदि उसका नाश स्वीकार किया जाय, तो एक आत्मा के मलहीन होने के साथ सभी आत्माओं के मलहीन होने का प्रसंग प्राप्त होता है। इससे एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति हो जायगी। इसलिए ये लोग कहते हैं कि मल का पाक ही होता है, नाश नहीं होता। 'पाक' शब्द से इस मत में मल की अपनी शक्ति का प्रतिबद्ध भाव समझना चाहिए, परन्तु बात यह है कि इस प्रकार से विचार करने पर भी पूर्वोक्त दोष निवृत्त नहीं होता। विष अथवा अग्नि की अपनी शक्ति स्तम्भित होनेपर जैसे वह सबके लिए समान होता है, वैसे यदि मल का पाक ही माना जाय, तो भी मल वस्तुतः अभिन्न होने के कारण वह पाक भी सबके लिए समान ही मानना पड़ेगा। एक बात और है, पाक का हेतु क्या है, यह भी विचारणीय है। कर्म अथवा ईश्वर की इच्छा इनमें से किसी को भी मलपाक का हेतु मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि कर्म केवल भोग के ही कारण होते हैं और किसी कार्य की कारणता कर्म में नहीं मानी जा सकती। ईश्वर की इच्छा को भी कारण-रूप से ग्रहण करने से समाधान नहीं होता; क्योंकि वह इच्छा स्वतन्त्र है या परतन्त्र, इसकी मीमांसा करना भी आवश्यक है। परतन्त्र कहने से मानना पड़ेगा कि उसे कर्मादि किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा है। तब तो पूर्वोक्त दोष रह ही जाता है। और यदि ईश्वरेच्छा को स्वतन्त्र माना जाय, तो इस स्वतन्त्र इच्छा का फलस्वरूप मलपाक सबके लिए समान ही होना चाहिए। ईश्वर में राग-द्वेष नहीं है। तब उनकी इच्छा से किसी का मल पक्व होता है, किसी का नहीं होता अथवा किसी का शीघ्र होता है, किसी का देर से

होता है—यह वैषम्य क्यों होगा ? वैषम्य तथा पक्षपातदोष ईश्वर में नहीं हो सकता। स्मरण रखना चाहिए कि यह आलोचना द्वैतदृष्टि से की जा रही है। इस प्रकार, प्रतीत होता है कि मलपाक का कोई हेतु नहीं है। परन्तु, इसे अहेतुक भी नहीं माना जा सकता। कारण के बिना कार्य की सिद्धि मानने पर इस संशय का समाधान नहीं होगा कि इतने दिनों तक मलपाक क्यों नहीं हुआ ? वस्तुतः, अहेतु-पक्ष में मल की स्थिति ही नहीं हो सकती। अतएव, शक्तिपात के विषय में मलपाकवाद को ही चरम सिद्धान्त-रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

[५]

पूर्वनिर्दिष्ट कारणों से कर्मसाम्यादि किसी भी मत को समीचीन नहीं माना जा सकता। अद्वय दृष्टि ही चरम दृष्टि है। इस दृष्टि से परमेश्वर अद्वय तथा स्वातन्त्र्यमय हैं। इस मत के अनुसार शक्तिपात का जो विवरण शास्त्र में देखा जाता है, आचार्यों का वही चरम सिद्धान्त है। नीचे इस विषय में कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

परमेश्वर स्वभावतः नियतिक्रम तथा अनियतिक्रम दोनों का ही स्पर्श करते हुए प्रकाशमान होते हैं, इसीलिए शास्त्र में उनको स्वच्छन्द कहा है। उनका स्वकीय भाव अथवा इच्छा ही 'स्वभाव'-पदवाच्य है। जब वे कर्म और फल के पारस्परिक सम्बन्धविषयक नियम का आश्रय करके अवान्तर स्थिति में सृष्टि-संरक्षण तथा संहार-व्यापार करते हैं, तब नियतिक्रम, अर्थात् नियम या कार्य-कारणभाव का आश्रय करते हैं, ऐसा कहा जाता है। अर्थात्, ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड तथा मायाण्ड की सृष्टि में वे कर्म और फल के नियम का अवलम्बन करते हैं। परन्तु, शाक्त महासर्ग में, अर्थात् शाक्ताण्ड की सृष्टि में वे सर्वथा निरपेक्ष और पूर्णरूपेण स्वतन्त्र रहते हैं, उसमें कर्मफलादि किसी भी नियम के अधीन होकर वे अपने को प्रकाशित नहीं करते। यही परमेश्वर का अनियतिक्रम प्रकाश है। महासर्ग में सृष्टि और संहार अनन्त हैं। शक्ति-पर्यन्त अध्वा की, अर्थात् शाक्ताण्ड की सृष्टि में जगत् का असंख्य सृष्टि-समूह अन्तर्भूत है। यही शाक्त महासृष्टि है। यह प्राक्तन कर्मों के फल-रूप में प्रादुर्भूत नहीं होती। इसी से इसमें कर्म की अपेक्षा से नियति का परिग्रह आवश्यक नहीं होता। माया के बाहर कर्म नहीं रह सकता, यह कहना तो निष्प्रयोजन ही है। अवश्य अवान्तर सृष्टि में भी, अर्थात् ब्रह्माण्डादि के भीतर भी परमेश्वर नियति के अधीन नहीं ! वे स्वतन्त्र हैं। उनका नियतित्याग और नियतिग्रहण इस प्रकार होता है—जब वे नियति के द्वारा, अर्थात् अपने स्वरूप का आच्छादन करते हुए भोक्ता के रूप में दुःख-मोहादि का भोग करते हैं, तब कर्मफल क्रम, अर्थात् नियति का ग्रहण होता है और जिस समय वे अनपेक्ष होने के कारण कर्म-नियम को छोडते हुए तिरोधान में दुःख-मोह का सम्बन्ध अवभासित करने की इच्छा करते हैं, उस समय वे स्वतन्त्र और नियतित्यागी हैं। अभी जो तिरोधान का विषय कहा गया गया है, वह एक प्रकार से उनका स्वेच्छाकृत आत्मगोपन है, जैसा कि रंगमंच पर अभिनय के समय कुशल नट करते हैं।

तिरोधान के कारण प्राक्तन कर्मादि नहीं हो सकते। कर्म से जाति, आयु और भोगरूप फल उत्पन्न होता, तिरोधान का आविर्भाव नहीं होता। परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही इसका एकमात्र कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि हम यह आलोचना अद्वैत दृष्टि से कर रहे हैं। द्वैतसम्मत स्वतन्त्र ईश्वरेच्छा में जो दोष होता है, उसमें उसका प्रसंग नहीं है; क्योंकि इस मत में मूल तत्त्व अद्वैत होने के कारण राग-द्वेषादि का प्रसंग ही नहीं उठता। अतएव, कर्मादि-निरपेक्ष भाव से केवल भगवान् की इच्छा से ही अनुग्रह होता है, यही वास्तविक सिद्धान्त है। अर्थात्, शक्तिपात कर्मसाम्य, मलपाक आदि के अधीन नहीं है, किन्तु निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र है। पुराणादि में भी ऐसी ही बात मिलती है—**तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।**

महामाहेश्वराचार्य उत्पलदेव ने भगवान् की स्तुति के प्रसंग में कहा है—

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे॥[1]

'हे भगवन्, तुम शक्तिपात के समय, अर्थात् जीव पर कृपा करने के समय न्यायतः प्राप्त होने पर भी कभी पात्र-अपात्र का विचार नहीं करते। तब आज मुझ में ऐसी क्या नई बात आ गई है, जो मेरे प्रति आत्मप्रकाशन में विलम्ब कर रहे हो?'

शक्तिपात में मायान्तर्गत कर्मादि का व्यापार नहीं है, इसमें कोई सन्देह नहीं; क्योंकि कर्मादि जीव को माया के भीतर आबद्ध रखते हैं। जिसके कारण माया से उद्धार नहीं हो पाता। शक्तिपात सर्वथा मायानिरपेक्ष है, अतएव जितने देवता माया के भीतर अथवा माया से ऊपर रहते हैं, वे अपने-अपने अधिकार की समाप्ति होने पर अकस्मात् कर्मादिनिरपेक्ष भगवदनुग्रह से ही भगवद्भाव प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग माया से आक्रान्त नहीं हैं, वे कर्मादि के अधीन नहीं होते, केवल शक्ति-पात के प्रभाव से ही उनको भोग अथवा मोक्षरूपा सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहाँ किसी-किसी के मन में ऐसी शंका हो सकती है कि ये सब शुद्धात्मा जब पूजा-ध्यान, देवाराधन प्रभृति के प्रभाव से मायातीत शुद्ध अवस्था, मन्त्रत्व, मन्त्रेश्वरत्व इत्यादि प्राप्त करते हैं, तब कहना पड़ेगा कि यह भी एक प्रकार से कर्म का ही फल है। परन्तु, वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि कर्मादि सारे उपाय माया के ही अन्तर्गत हैं और ईश्वरभाव माया से परे है। अतएव, मायातीत वस्तु के ध्यान, जप आदि विषयों में सर्वप्रथम प्रवृत्त होना माया के भीतर डूबे हुए आत्मा के लिए किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कर्म, कर्मसाम्य, वैराग्य, मलपाक आदि कोई भी मायिक व्यापार इसका

---

१. यहाँ 'प्राप्तम्' और 'कर्हिचित्' इन दो शब्दों के प्रयोग से प्रतीत होता है कि शक्तिपात अनपेक्ष दुर्लभ तथा रागादि-प्रसंग के लेश से रहित है। मतङ्गागम के टीकाकार अनिरुद्ध ने भी शक्तिपात के विषय में निरपेक्षता-सिद्धान्त का ही ग्रहण किया है। यथा—

'स्थावरान्तमपि देवस्य स्वरूपोन्मीलनात्मिका।
शक्तिः पतन्ती सापेक्षा न क्वापि......॥'

यहाँ 'स्थावरान्त' पद से सूचित होता है कि अत्यन्त अयोग्य में भी शक्तिपात हो सकता है।

कारण नहीं हो सकता। इसलिए, स्वतन्त्र ईश्वर की इच्छा को ही कारण मानना पड़ता है। निरपेक्ष शक्तिपातवादियों का यही सिद्धान्त है। जप-ध्यान प्रभृति कर्म नहीं हैं, अपि तु क्रिया हैं। 'कर्म' शब्द से ऐसे पदार्थों का बोध होता है, जो परिमित भोग उत्पन्न करते हुए भोक्ता के पूर्ण रूप, अर्थात् अपरिच्छिन्न चित्स्वरूप को तिरोहित कर लेता है, अर्थात् उसे विभिन्न रूप से संकुचित करके आच्छादित कर लेता है। सिद्धान्त-दृष्टि से जप-ध्यानादि परमेश्वर की स्वरूपविकासिका क्रियाशक्ति है, स्वरुप का आवरण करनेवाला कर्म नहीं है।[१]

एक ही चिद्रूप परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से तत्तत् प्रमाता-प्रमेय आदि विभिन्न और नाना आकारों में प्रकाशमान होते हैं। इसीलिए, एकत्व रहने पर भी अनैक्य का अवभास होने के कारण उनके अपने स्वातन्त्र्य के प्रभाव से स्वरूप का गोपन होता है। यही तिरोभाव अथवा बन्धन है। अतएव, वस्तुतः बन्धन का स्वरूप भी परमेश्वर से भिन्न नहीं है। इस प्रकार वे बन्धभोग के द्वारा भोक्तृत्व को पुष्ट करके संकोच का अवभासन करते हुए जाति, आयु तथा भोगप्रद रूप में विकल्पित-स्वयंकल्पित कर्मों के द्वारा आत्मा को बाँधते हैं। तदनन्तर, वे बन्धन-मोचन के क्रम से अपने आगन्तुक-रूप मल एवं कर्मादि को हटाकर अपने विशुद्ध रूप में प्रकाशित होते हैं। उस समय पूर्ण ज्ञान-क्रियाशक्ति-सम्पन्न केवल स्वतन्त्र परमेश्वर ही अवशिष्ट रहते हैं।

[६]

पर तथा अपर भेद से शक्तिपात प्रधानतया दो प्रकार का है। पर शक्तिपात परिच्छिन्न आत्मा का पूर्ण चिदात्मरूप में प्रकाशित होना है, यही उसका परम प्रकाश है। उपाधिहीन अनवच्छिन्न चैतन्य ही उसका स्वरूप है। परन्तु, अपर शक्तिपात में पूर्ण चिदात्मा का प्रकाश पूर्ववत् रहने पर भी अवच्छेद का सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि इस प्रकाश में भोगांश तथा अधिकारांश से कुछ अवच्छेद रहता ही है। परन्तु, चरमावस्था में यह अवच्छेद भी निवृत्त हो जाता है। प्रचलित भाषा में पर तथा अपर शक्तिपात को पूर्ण तथा अपूर्ण कृपा भी कह सकते हैं।

पूर्ण कृपा परमेश्वर को छोड़कर और कोई नहीं कर सकता। अपूर्ण कृपा ब्रह्मादि विशिष्ट देवगण भी कर सकते हैं और करते भी हैं। उसके प्रभाव से कृपाप्राप्त जीव ब्रह्मादि के अधिकारान्तर्गत नाना प्रकार के भोग और अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु, पूर्णत्व अथवा परमेश्वरत्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मादि भी परमेश्वर-रूप ही हैं, तथापि स्वयं उल्लसित भेद-सम्बन्ध के कारण

---

१. परमेश्वर की क्रियाशक्ति जब भेदज्ञानशाली पशु में प्रकट होती है और त्याग-ग्रहण प्रभृति रूप से क्षोभमय होकर बन्धन का कारण बनती है, तब उसे स्वरूप के आच्छादक सुख-दुःखादि उत्पन्न करनेवाले 'कर्म' नाम से कहा जाता है। किन्तु, जिस समय वही क्रियाशक्ति अपने शिवशक्त्यात्मक मार्ग में अधिष्ठित होकर ज्ञान का विषय होती है, तब उससे विभिन्न सिद्धियों का आविर्भाव होता है और उसका 'क्रिया' नाम से व्यवहार होता है। इसी से जपादि क्रिया हैं, कर्म नहीं हैं। अविच्छिन्न स्फूर्त्ति ही तन्त्रमत में सिद्धि शब्द का अर्थ है। यह अक्षय भोग तथा मोक्ष का स्वातन्त्र्य ही है।

वह रूप मायापद के अन्तर्गत है, इसीलिए साक्षात् परमेश्वर की कृपा से ब्रह्मादि देवों की कृपा निकृष्ट समझी जाती है। परन्तु, यह बात सत्य है कि मायान्तर्गत होने पर भी ब्रह्मादि देवता भोगादिमय निकृष्ट अनुग्रह करने में समर्थ हैं। जिस प्रकार स्वातन्त्र्य से, अर्थात् जैसी शक्ति के समावेश से, राजा लोग किसी-किसी पर अनुग्रह किया करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मादि देवता भी करते हैं।

माया के गर्भ में जितने भी अधिकारी पुरुष हैं, उनका अनुग्रह मन्द और तीव्र भेद से दो प्रकार का होता है। मन्द अनुग्रह का फल प्रकृति-पुरुष के विवेक-ज्ञान की उत्पत्ति है। इसके प्रभाव से जीव प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होते हैं, परन्तु प्रकृति के ऊर्ध्व स्तर के कर्म, जो कालादि तत्त्वों का आश्रय करके रहते हैं, तब भी क्षीण नहीं होते। प्रकृति के नीचे की भूमि के सम्पूर्ण कर्मों का क्षय अवश्य हो जाता है। इस प्रकार विवेकज्ञानी में मल वर्त्तमान रहते हैं। परन्तु, इतना निश्चित है कि ये लोग प्रकृति के गर्भ में फिर कभी जन्म ग्रहण नहीं करेंगे। अनन्तेश नामक ईश्वर की प्रेरणा से अप्राकृत मायिक जगत् में कदाचित् इनका जन्म हो भी सकता है। यदि वह अनुग्रह तीव्र मात्रा में हो, तो उसके साथ-ही-साथ कला और पुरुष का विवेक ज्ञान आविर्भूत होता है। इसके कुछ ही पीछे पुरुष माया से अपनी सत्ता पृथक् जानकर माया के राज्य का अतिक्रमण करता है। कला-लंघन से ही समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, इसलिए ऐसे पुरुष का माया से पार होना सम्भव होता है। साधन-राज्य में यहाँतक पहुँचने पर माया के गर्भ में फिर कभी उतरना नहीं पड़ता। यह विज्ञानाकल अवस्था है। यह एक प्रकार की कैवल्यावस्था ही है। इस समय आणव मल अवशिष्ट रहने के कारण अधिकार की निवृत्ति नहीं होती। इन सब पुरुषों के ऊपर माया के अधिष्ठाता ईश्वर का कोई अधिकार नहीं है। ये विज्ञानाकल पुरुष परमेश्वर की इच्छा से परमेश्वर के साथ अधिकाधिक तादात्म्य अनुभव करते हुए क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर-पद प्राप्त करके अन्त में साक्षात् परमहेश्वर-भाव प्राप्त करते हैं। परमेश्वर अथवा पूर्ण ब्रह्म की कृपा से मूल अज्ञानात्मक आणव मल निवृत्त होता है और पूर्णत्व की अभिव्यक्ति होती है। ब्रह्मादि मायान्तर्गत अधिकारी पुरुषों की कृपा से पूर्णत्व-लाभ नहीं हो सकता, केवल उत्कृष्ट भोगादि की ही प्राप्ति हो सकती है। इसलिए मुमुक्षु-मण्डल में साक्षात् भगवान् की कृपा को ही 'कृपा' नाम से कहा जाता है, निम्नाधिकारियों की कृपा को 'कृपा' के भीतर नहीं गिना जाता।[१]

[७]

शक्तिपात में वैचित्र्य रहने से तन्मूलक अधिकार में भी वैचित्र्य रहता है। समयी, पुत्रक, साधक तथा आचार्य या गुरु ये सब अधिकार-भेद विभिन्न शक्तिपात से ही उत्पन्न होते हैं। ये सब अधिकार समष्टि-रूप में भी आविर्भूत हो सकते हैं तथा व्यष्टि-रूप में पृथक्-पृथक् भाव से भी हो सकते हैं। ये किसी के तो क्रम से होते हैं,

---

१. जो साधक भेदमार्ग में श्रद्धा रखते हैं, उनका अभेदमार्ग या पूर्णत्व के रास्ते में अधिकार नहीं है। परन्तु, यह भी सत्य है कि श्रीभगवान् के स्वातन्त्र्य से उनके ऊपर भी कृपा-कटाक्ष हो सकता है

अर्थात् पहले समयी का अधिकार पाकर तदनन्तर पुत्रक-भाव की प्राप्ति और अन्त में आचार्य-भाव में स्थिति। परन्तु, किसी-किसी के जीवन में ये विना क्रम से भी होते देखे जाते हैं। जैसे कोई पुरुष समयी-अवस्था को प्राप्त हुए विना ही पुत्रक-अवस्था लाभ कर लेते है अथवा समयी एवं पुत्रक दोनों अवस्थाओं का लंघन करके आचार्य-पद पर पहुँच जाते हैं। शक्तिपात की मात्रा मन्द होने से जीव मायाधिकार को प्राप्त होकर रुद्रांश बन जाते हैं। उसके बाद परमेश्वर की विशिष्ट कृपा से क्रमशः पुत्रक-दीक्षा के बाद पूर्णत्व-लाभ करते हैं। इनका शास्त्रीय नाम 'समयी' है। अपेक्षाकृत तीव्रतर शक्तिपात के प्रभाव से कोई-कोई जीव विशुद्ध अध्वा से युक्त होकर देहपात के अनन्तर पूर्णत्व-लाभ करते हैं। अथवा क्रम-लंघन करते हुए जीवित काल में ही पूर्णत्व-लाभ कर लेते हैं। इन पुरुषों का पारिभाषिक नाम 'पुत्रक' है। कोई-कोई पहले भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर, उससे विरक्त होकर परम पद में स्थिति-लाभ करते हैं। इनमें भी योग्यता के अनुसार कोई शीघ्र और कोई विलम्ब से लक्ष्य प्राप्त करते हैं। इन्हें साधक कहते हैं। परन्तु, कोई ऐसे भी पुरुष होते हैं, जो अपना कर्त्तव्य समाप्त करके पञ्चकृत्यकारी[1] परमेश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं तथा गुरु अथवा आचार्य-पद पर आरोहण करके जीवों पर अनुग्रह करते हैं। इनमें भी शिष्यों की विभिन्न योग्यताओं के अनुसार भेद अवश्य रहता है, अर्थात् कोई शिष्य के भोग का विधान करते हैं और कोई मोक्ष का। परन्तु उनका अपना कोई भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता।

[८]

शक्तिपात तीव्र, मध्य तथा मन्द भेद से प्रधानतया तीन प्रकार का होता है। इनमें से प्रत्येक के फिर तीव्रादि अवान्तर तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार के विभिन्न मात्राओं के शक्तिपातों के फल में भी भेद रहता है। तीव्र-तीव्र, मध्य-तीव्र तथा मन्द-तीव्र—ये तीन प्रकार तीव्र शक्तिपात के हैं। तीव्र-तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से स्वयं ही देह छूटकर मोक्ष प्राप्त होता है। भोग के द्वारा प्रारब्ध-क्षय की अपेक्षा नहीं रहती। यह शक्तिपात अत्यन्त तीव्र होने के कारण प्रारब्ध कर्म का भी नाश कर देता है। परन्तु, इसमें भी तारतम्य रहता है। इसमें जो अत्यन्त तीव्र होता है, उसके प्रभाव से उसी क्षण देह का नाश हो जाता है। जिस प्रकार विद्युत्पात से देह नष्ट होने में देर नहीं लगती, वैसा ही इससे होता है। परन्तु, जो शक्तिपात मध्यम कक्षा का तीव्र-तीव्र होता है, उससे कुछ देर में तथा मन्द तीव्र-तीव्र के द्वारा अधिक विलम्ब से स्वयं ही देहपात होता है। इन सभी प्रसंगों में शक्तिपात की तीव्रता के भेद से पूर्णतया तथा न्यूनाधिक रूप में प्रारब्ध का नाश हो जाता है। मध्यतीव्र शक्तिपात के प्रभाव से देह का नाश नहीं होता, केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है।[2] परन्तु, इस अज्ञान-

---

१. सृष्टि, पालन, संहार, अनुग्रह तथा निग्रह या तिरोधान ये भगवान् के पञ्चकृत्य हैं।

२. प्रचलित शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार यह कहा जा सकता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपात से प्रारब्ध-सहित समस्त कर्मों का दाह होता है तथा मध्य-तीव्र शक्तिपात से प्रारब्धभिन्न शेष सब कर्मों का दाह होता है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि तीव्र-तीव्र शक्तिपात से

निवृत्ति के लिए जिस ज्ञान को अपेक्षा है, उसका लाभ पृथक् रूप से गुरु अथवा शास्त्रद्वारा नहीं होता। वह स्वयं ही हृदय में स्फुरित होता है। अपनी प्रतिभा से स्फुरित होने के कारण इस अनौपदेशिक महाज्ञान को 'प्रातिभ ज्ञान' कहा जाता है, जिसका उदय होने के लिए शास्त्र एवं आचार्य की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रसंगतः यहाँ प्रातिभ ज्ञान का कुछ परिचय देना उचित प्रतीत होता है। इस ज्ञान का आविर्भाव मध्य-तीव्र शक्तिपात के फल-रूप में होता है, यह पहले कहा जा चुका है। सत्तर्क अथवा शुद्ध विद्या ही इस ज्ञान का स्वरूप है। वस्तुतः, यह परमेश्वर की इच्छा के सिवा और कुछ नहीं है।

जिन साधकों का चित्त असद्गुरु में, अर्थात् तत्त्वोपदेष्टा आचार्य में अनुरक्त[1] है, वे मायापाश से बँधे हुए हैं। वे परमेश्वर की वामाशक्ति के अधीन रहते हैं। उन्हें जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह प्रलयाकल नाम की पशु की अवस्था से किसी प्रकार उत्कृष्ट नहीं है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि वामाशक्ति भी परमेश्वर की ही एक शक्तिविशेष है। परन्तु, शक्तिपात की न्यूनता के कारण असद्गुरु में अथवा द्वैतशास्त्रादि में ही जीव की पहले प्रवृत्ति होती है। तदनन्तर, महेश्वर की ज्येष्ठाशक्तिरूपा मंगलमयी इच्छा से, अर्थात् शुद्धा भगवच्छक्ति के समावेश के कारण जीव के हृदय में स्वस्वरूप-प्राप्ति की इच्छा, अर्थात् सत्तर्क जागने पर क्रमशः सद्गुरु का आश्रय मिलता है। उस समय अपनी योग्यता के अनुसार भोग तथा मोक्ष प्राप्त होता है। शक्तिपात की विचित्रता से ही गुरु तथा शास्त्र में सत् तथा असद्भाव का वैचित्र्य उत्पन्न होता है। द्वैतशास्त्र तथा द्वैतगुरु परमेश्वर की वामाशक्ति के द्वारा अधिष्ठित हैं, इसलिए उनके द्वारा माया का लंघन होना असम्भव है। वस्तुतः, जो अवस्था मोक्षपदवाच्य नहीं है, उसको मोक्ष समझकर प्राप्त करने के लिए चेष्टा करना माया का ही कार्य है। परन्तु, जबतक जीव के हृदय में सत्तर्क-रूप शुद्ध ज्ञान का उदय नहीं होता है, तबतक सार और असार का ठीक-ठीक विवेचन हो नहीं सकता। सत्तर्क का उदय तथा ज्येष्ठा-शक्ति का अधिष्ठान न होने से न तो अन्तःकरण ही सर्वथा पवित्र होता है और न शुद्ध मार्ग का ही आश्रय मिलता है।

परन्तु, यह सत्तर्क-रूप ज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है, यह जानना चाहिए। किरणागम नामक तन्त्रग्रन्थ में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि यह ज्ञान गुरु एवं

अज्ञान का आवरणांश एवं विक्षेपांश दोनों ही एक साथ (जैसे तीव्र-तीव्र की मात्रा में) अथवा क्रमशः (जैसे तीव्र-तीव्र की मध्य और मन्द मात्रा में) नष्ट हो जाते हैं तथा मध्य-तीव्र शक्तिपात से अज्ञान का केवल आवरणांश निवृत्त होता है, विक्षेपांश रह जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—

यथैधांसि　　समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

यहाँ समिद्ध ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों का नाश कर देती है, ऐसा कहा गया है। इसमें सर्वकर्म पद से प्रारब्ध को भी इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए; क्योंकि समिद्ध पद से ज्ञानाग्नि की तीव्र-तीव्र अवस्था ही सूचित हो रही है।

१. अर्थात्, केवल जिज्ञासु नहीं है।

शास्त्र का अवलम्बन करके उदित हो सकता है तथा कदाचित् स्वयं भी उद्भूत हो सकता है, जिसमें कि न तो गुरु के उपदेश की और न शास्त्राध्ययन की ही आवश्यकता रहती है। यह सांसिद्धिक और स्वप्रत्ययात्मक निश्चित ज्ञान है। सांसिद्धिक अथवा स्वाभाविक शब्द से कोई ऐसा न समझे कि इसका कोई हेतु ही नहीं है; क्योंकि इसके उदय में गुरु-शास्त्रादि लौकिक हेतु न रहने पर भी भगवान् का शक्तिपात-रूप हेतु तो अवश्य ही रहता है।

ज्ञानोदय के जिन तीन कारणों का वर्णन किया गया है, उनमें गुरु की अपेक्षा शास्त्र की श्रेष्ठता है; क्योंकि गुरु से शास्त्र का अर्थज्ञान होता है, इसलिए गुरु को उपाय और शास्त्र को उपेय माना जाता है। इसी प्रकार, शास्त्र से भी अपनी प्रतिभा की श्रेष्ठता है; क्योंकि शास्त्रज्ञान भी अन्त में प्रातिभ ज्ञान का उत्पादन करके ही सफल होता है। प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाने पर गुरु अथवा शास्त्र का कोई उपयोग नहीं रह जाता।

परन्तु, उत्कृष्ट योग्यताविशिष्ट पुरुष का प्रातिभ ज्ञान गुरु तथा शास्त्रमार्ग का लंघन करके स्वतः ही उत्पन्न होता है। उसके लिए दीक्षा, अभिषेक प्रभृति बाह्य संस्कारों का प्रयोजन नहीं होता; क्योंकि आदिगुरु परमेश्वर को तत्तत्क्षेत्र में अधिष्ठित करना ही संस्कार का यथार्थ उद्देश्य है। परन्तु, प्रतिभावान् पुरुष में यह अधिष्ठान स्वतःसिद्ध है, इसलिए उसके लिए संस्कार निष्फल है। शक्तिपात का मुख्य लक्षण भगवद्भक्ति का उन्मेष है। वह प्रतिभावान् पुरुष में अवश्य ही रहता है। इसीलिए, उसके अपनी संवित्-देवियों के द्वारा दीक्षा तथा अभिषेक-व्यापार भी स्वयं ही हो जाते हैं। उसे क्रिया एवं दीक्षादि का प्रयोजन नहीं रहता। प्रातिभ ज्ञान उदित होने पर अपनी इन्द्रिय-वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर प्रमाता, अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्य-लाभ करती है और दैवीभाव को प्राप्त हो जाती है।[१] ये सब शक्तिभूत दैवीभावापन्न इन्द्रिय-वृत्तियाँ पुरुष की ज्ञानक्रिया अथवा चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। यही अन्तर्दीक्षा है, जिसके प्रभाव से साधक सर्वत्र स्वातन्त्र्य-लाभ कर लेता है। पारमार्थिक दृष्टि से अभिषेक का यही रहस्य है। ऐसा साधक अन्यान्य गुरुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है। सामान्यतः गुरु से शास्त्रज्ञान उत्पन्न होता है, परन्तु प्रतिभावान् पुरुष लौकिक निमित्त की अपेक्षा न रखते हुए केवल प्रतिभा से ही सब शास्त्रों का ठीक-ठीक रहस्य जान सकते हैं, इसीलिए इसका नाम शुद्धविद्यासमुल्लास अथवा प्रातिभ महाज्ञान है।

पहले कहा गया है कि यह ज्ञान ओर किसी का (अर्थात्, अपने बोध अथवा दूसरों के रचे हुए तत्तत् कर्म के प्रतिपादक भिन्न-भिन्न शास्त्रों का) उपजीव्य रूप में आश्रय करके उदित हो सकता है अथवा अपने-आप भी हो सकता है। इस उपजीव्य आश्रय का नाम 'भित्ति' है। इसी से इस ज्ञान को सामान्य रूप से सभित्तिक

१. 'बहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्त्तिताः।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तयः परिकीर्त्तिताः॥'

अर्थात्, मन्त्र यानी चित्त के बहिर्मुख होने पर जो 'वृत्तियाँ' कही जाती हैं, वे ही उसके अन्तर्मुख होने पर 'शक्तियाँ' कहलाती हैं।

और निर्भित्तिक भी कहा जाता है। स्वतः उदित ज्ञान निर्भित्तिक है। सभित्तिक ज्ञान अंशगामी और सर्वगामी भेद से दो प्रकार का हो सकता है। मुख्यांश तथा अमुख्यांश भेद से अंशभेद का विचार करने पर अंशगामी ज्ञान को भी दो प्रकार का मानना पड़ता है। असली बात यह है कि अनुग्रह-पात्र शिष्य की योग्यता के तारतम्य से ही वस्तुतः ज्ञान की सभित्तिकता और निर्भित्तिकता स्वीकार करनी पड़ती है। स्वतः सत्तर्क के उदय से जिनके सब प्रकार के बन्धन खुल गये हैं और पूर्णत्व प्राप्त हो गया है, वे ही सांसिद्धिक गुरु हैं। वे अपने विषय में कृतकृत्य होने पर भी सर्वदा परानुग्रह के लिए ही प्रवृत्त रहते हैं।[१] परन्तु, अनुग्रहपात्र जीव का चित्त निर्मल रहने पर तो इन्हें अनुग्रह-कर्म में किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं रहती। वे केवल अपनी शुद्ध चिदात्मिका अनुसन्धानहीन दृष्टि के द्वारा ही ऐसे जीव में आत्मज्ञान का संचार करके उसे अपने समान कर लेते हैं। यह अनुग्रह का ही फल है। इस प्रकार, परानुग्रह में किसी और की अपेक्षा नहीं है। यह निर्भित्तिक है। परन्तु, अनुग्रह-पात्र यदि शुद्धचित्त न हो, तो अनुग्रह-व्यापार में उपकरण की आवश्यकता होती है। अनुग्रह के पहले गुरु में 'इसपर मैं इस प्रकार अनुग्रह करूँगा' ऐसा अनुसन्धान (संकल्प) होता है और उसी के अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिए, इसमें सब प्रकार के बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है तथा विधिमार्ग का आश्रय भी ग्रहण करना पड़ता है। गुरु के साक्षात् परमेश्वर स्वरूप होने पर भी इस क्षेत्र में उपायभूत शास्त्रादि के श्रवण-अध्ययन प्रभृति का आदर किया जाता है। अशुद्ध जीव अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिए उनके चित्तगत संस्कारों के अनुसार उपकरण भी अनेक प्रकार के होते हैं। इसीलिए, भिन्न-भिन्न उपकरणों के प्रतिपादक भिन्न-भिन्न शास्त्रों की भी आवश्यकता होती है। इन सबके विना उनपर अनुग्रह नहीं किया जा सकता। रोग की भिन्नता के अनुसार जैसे ओषधियाँ भी भिन्न होती हैं, वैसे ही चित्तभेद के अनुसार शास्त्रों का भी भेद रहता है। अर्थात्, गुरु शिष्य की योग्यता देखकर उसके अधिकार के अनुसार उसपर अनुग्रह करते हैं। यही सर्वगामी सभित्तिक ज्ञान का माहात्म्य है। परन्तु, कोई-कोई निर्दिष्ट शास्त्रों के अनुसार तदुचित अनुग्रह-पात्रों पर अनुग्रह करते हैं। यह अंश-गामी सभित्तिक ज्ञान का व्यापार है। परन्तु, ये अंश भी असंख्य हैं और उनमें परस्पर उत्कर्ष-अपकर्ष भी रहता है। इनमें कोई अंश मुख्य है और कोई गौण। अंशगामी ज्ञान का भेद इसी कारण से होता है। स्मरण रखना चाहिए कि इन सब विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिभा-रूपी गुरु अथवा स्वाभाविक ज्ञान समरूप ही है; क्योंकि उसमें

---

१. स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्ना—
न्नो पारक्यं प्रतिघटयते काञ्चन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटतरमिदं लोककर्त्तव्यमात्रम्॥

साधारण पुरुष किसी प्रकार अपने काम को करते रहते हैं, दूसरों के कार्य की ओर उनकी वृत्ति ही नहीं जाती। किन्तु, जिनके समस्त सांसारिक मल नष्ट हो गये हैं, उन भगवद्भावापन्न पुरुषों का कर्त्तव्य तो स्पष्टतया केवल लोकहित ही रह जाता है।

अपने विषय में कृतकृत्यता का अभाव नहीं है।[1] केवल दूसरों के हित के लिए ही विभिन्न प्रकार की भित्तियों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि जीवानुग्रह सोपकरण या सोपाय तथा निरुपकरण या निरुपाय भेद से दो प्रकार का है।

गुरु, दीक्षा के द्वारा जिस प्रकार शिष्य को संसार-बन्धन से मुक्त करते हैं और सर्वज्ञत्वादि ऐश्वरिक धर्म प्रदान करते हैं, प्रातिभ ज्ञान से भी ठीक वैसा ही फल मिलता है। भेद इतना ही है कि दीक्षा पराधीन है और प्रातिभ अपना स्वभावभूत। बात यह है कि जीव, ईश्वर और शक्ति—ये तीन तत्त्व गुरु और आगम से तात्त्विक रूप से सिद्ध होने पर प्रातिभ ज्ञान के आकार में प्रकट होते हैं। गुरु और शास्त्र का यही महत्त्व है। अर्थात्, जिस समय गुरु साधक का मायापाश दीक्षा-रूप अस्त्र के द्वारा छेदन करते हैं और जिस समय साधक आगम से ठीक-ठीक भावना-भावित होते हैं, उस समय वस्तुतः ही उनका प्रतिभा-तत्त्व विकसित हो जाता है। शास्त्र में लिखा है—

तदागमवशात् साध्यं गुरुवक्त्रान्महाधिया।
शिवशक्तिकरावेशाद्गुरुः शिष्यप्रबोधकः॥[2]

जैसे भस्म में छिपी हुई अग्नि मुख अथवा धौंकनी की वायु से दहक उठती है, जैसे ठीक समय में बोया और सींचा हुआ बीज अंकुर एवं पल्लवादि-रूप से अभिव्यक्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान भी गुरूपदिष्ट क्रिया के द्वारा व्यक्त होता है।

यह अनुत्तर महाज्ञान शास्त्रज्ञान से श्रेष्ठ है; क्योंकि यह विवेक से उत्पन्न होता है। अतीन्द्रिय तथा अप्रमेय चैतन्य-तत्त्व जिस समय विचार की भूमि में अवतीर्ण होकर आत्मबोध का रूप धारण करता है, उस समय उसे 'विवेक' कहते हैं। उस अवस्था में जीव, ईश्वर, मायादि पाशों का ज्ञान अपने-आप उदित हो जाता है। यही प्रातिभ ज्ञान है। सर्वथा भ्रमशून्य होने के कारण इसे सम्यग्ज्ञान अथवा महाज्ञान भी कहा जाता है। उस समय सब प्रकार के परिच्छिन्न ज्ञान, अर्थात् इन्द्रियगोचर एवं अन्तःकरणगोचर समस्त खण्डज्ञान दूसरे की अधीनता छोड़कर उसी महाप्रकाश में विश्रान्त हो जाते हैं, अर्थात् उसी में लीन हो जाते हैं। जैसे सूर्य की किरणों में दीपक का प्रकाश फीका पड़ जाता है, वही दशा प्रातिभ ज्ञान का उदय होने पर खण्डज्ञान की भी हो जाती है।

विवेक का उदय होने पर इन्द्रिय-सम्बन्धी शब्दादि विषयों में दूरश्रवणादि विचित्र ज्ञान की उत्पत्ति होती है—उस समय देश, काल तथा आकारगत व्यवधान एवं सूक्ष्मता प्रभृति प्रतिबन्धक रहने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति में उनका कोई प्रभाव

---

१. ये सांसारिक गुरु ही अकल्पित गुरु हैं। इन्होंने दूसरे गुरु से क्रिया-दीक्षादि के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, इसलिए इन्हें अकल्पित कहा जाता है। इन्हें छोड़कर अकल्पितकल्पक, कल्पित और कल्पिताकल्पित भेद से और भी तीन प्रकार के गुरु हैं। इस विषय का विशेष विवरण देना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

२. यह ज्ञान आगम और गुरुमुख के द्वारा प्राप्त हो सकता है। गुरु के चैतन्यशक्तिमय करस्पर्श से, अर्थात् भगवान् की शक्तिरूप किरण के द्वारा गुरु शिष्य का प्रबोध करते हैं।

नहीं पड़ता। योगशास्त्र में जितनी विभूतियों का वर्णन मिलता है, वे सभी विवेकवान् को प्राप्त होती हैं, अर्थात् शक्तिज्ञान का इतना सामर्थ्य है कि तन्त्रोक्त क्रियाकर्म, षट्चक्र, स्वर-साधन, मन्त्रवेध, परकाय-प्रवेश प्रभृति सभी में उसका अधिकार हो जाता है। एक क्षण में ही ये सब स्वायत्त हो जाते हैं। विवेक की वृद्धि जितनी अधिक होती है, उतना ही चित्त में सब भावों से वैराग्य उत्पन्न होता है और उसका परम चिद्भाव में उपराम हो जाता है, इसीलिए सिद्धियों से भी राग नहीं रहता। वे लड़कों के खेल अथवा स्वप्न या इन्द्रजाल के समान मालूम होने लगती हैं। जैसे, दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान के आलोक से एक साथ भीतर-बाहर सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगती है। सारा विश्व ही उनका घनीभूत रूप-सा भासने लगता है। इस अवस्था में हेयोपादेय-बोध न रहने के कारण साधक के तुच्छ एवं परिच्छिन्न सिद्धियों के आश्रयभूत तत्तत्प्रकार के निर्दिष्ट ध्यान छूट जाते हैं और सदा के लिए एकमात्र परमवस्तु की भावना ही जागरूक रहती है।[1] इस भावना की दृढता से ही जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। और एक बात है— विवेक की वृद्धि से शाप तथा अनुग्रह-व्यापार में सामर्थ्य प्राप्त होता है, इसलिए विवेकी स्वयं मुक्त होकर दूसरे को भी मुक्त कर सकते हैं।

बद्ध जीव-रूपी अणु पञ्चभूतों से आच्छन्न एवं इन्द्रियविशिष्ट रहते हैं। इसी से उन्हें एक देह से निकलकर दूसरा देह ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु, विवेक के उदय से प्रतिभा का योग होने पर[2] ऐसे जीव शक्तितत्त्व-रूप में गिने जाते हैं। ये शुद्ध विद्या-अवस्था को प्राप्त होकर निग्रह-अनुग्रह में समर्थ होते हैं और इसमें क्रमशः प्ररूढ होकर, अर्थात् शक्तिपात के क्रमिक आवेश से संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं तथा उत्तरोत्तर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और शिव—इन छह प्रकार के

१. सिद्धियों का यथार्थ उद्देश्य साधक के चित्त में विश्वास उत्पन्न करना है, अर्थात् इस देह में रहते हुए सिद्धियाँ प्राप्त होने से यह विश्वास होता है कि देहपात के अनन्तर अवश्य मुक्ति हो जायगी। जिनका विश्वास दुर्बल है, उनके लिए सिद्धियों का इस प्रकार उपयोग है। परन्तु, परिपक्व अवस्था में ज्ञान की तीव्रता से खेलों के समान् सिद्धियों में भी उदासीनता और अनासक्ति हो जाती है और एकमात्र परमतत्त्व की भावना ही दृढ हो जाती है। उस समय जीवन्मुक्ति निश्चित है।

२. पतञ्जलदर्शन में भी विवेकज ज्ञान के रूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यह सर्व-विषयक, सर्वथा-विषयक तथा क्रमहीन अनौपदेशिक तारक ज्ञान है। महोपनिषद्, अध्याय २ में लिखा है कि शुकदेव ने जन्म के समय ही यह महाज्ञान प्राप्त किया था। यह उनको 'विवेक' से स्वतः ही उत्पन्न हुआ था—

'जातमात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः।
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्॥'

इस ज्ञान से उनको गुरु के उपदेश के बिना ही परमार्थतत्त्व का अनुभव हुआ था और उनकी भोगवासनाओं की निवृत्ति हो गई थी। परन्तु, वह ज्ञान दृढ न होने के कारण उनके मन को शान्ति नहीं हुई, उन्हें अपने ज्ञान में विश्वास नहीं हुआ। इसलिए, अपने पिता श्रीव्यासदेव के आदेश से उन्हें विदेहराज जनक के पास जाना पड़ा।

कारणों का परिहार करते हुए अन्त में परमेश्वर का सायुज्य प्राप्त करते हैं। अतएव, शिव, शक्ति तथा जीव ही वस्तुतः प्रातिभ विज्ञान-रूप में प्रादुर्भूत होते हैं।

आत्मा का स्वाभाविक पूर्ण आत्मबोध संकुचित होकर ही अपूर्ण ज्ञान अथवा अज्ञान का आकार धारण करता है। शक्तिपात से संकोच छूट जाने पर उसे नित्यसिद्ध स्वभाव की स्फूर्ति अवश्य ही होती है। मध्य-तीव्र शक्तिपात के जितने लक्षण महापुरुषों ने बताये हैं, उनमें इतने प्रधान हैं—

१. भगवान् में निश्चला भक्ति।
२. मन्त्रसिद्धि, जिसके प्रभाव से श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न होता है।
३. सब तत्त्वों को स्वायत्त करने का सामर्थ्य।
४. आकस्मिक रूप से सब शास्त्रों का अर्थज्ञान इत्यादि।

ये सब लक्षण क्रमशः अभिव्यक्त होते हैं। शक्तिपात के तारतम्य से किसी में सब होते हैं और किसी में कम। इनमें से भक्ति मुक्ति में प्रधान है, अन्यत्र आनुषंगिक है, तथा मन्त्रसिद्धि भोग में प्रधान है, अन्यत्र आनुषंगिक है। शेष दो लक्षण दोनों में ही रहते हैं।

[९]

मन्द-तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से सद्गुरु-लाभ की इच्छा होती है। असद्गुरु के पास जाने की इच्छा उस समय नहीं रहती। शक्तिपात होने पर किसी-किसी को 'तत्त्व क्या है? तत्त्व को जाननेवाला कौन है?' ऐसी जिज्ञासा से युक्त मन्द प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है। इसके बाद ही सद्गुरु-लाभ की इच्छा होती है और फिर यथासमय उसकी प्राप्ति भी होती है। परन्तु, किसी-किसी मनुष्य का शक्तिपात के बाद पहले जागतिक उपदेष्टा, अर्थात् व्यावहारिक गुरु से परिचय होता है। फिर, कुछ दिन उनका संग करते-करते पूर्वोक्त जिज्ञासा का आविर्भाव होता है। ये सद्गुरु सांसिद्धिक[1] अथवा संस्कृत[2] भेद से दो प्रकार के होते हैं। सांसिद्धिक गुरु भी शक्तिपात की मात्रा के अनुसार क्रमशून्यता अथवा क्रमवत्ता के कारण सर्वगामी अथवा आंशिक हो सकते हैं। संस्कृत गुरु के भी कल्पित-अकल्पित आदि कई भेद हैं। जीव सद्गुरु से दीक्षा[3] प्राप्त करके शिवभावापन्न होते हैं और सब विषयों को तत्त्वतः जानकर जीवन्मुक्ति लाभ करते हैं। इस अवस्था में देहादि में आत्माभिमान नहीं रहता तथा विकल्पहीन स्वात्मबोध खुल जाता है। इसलिए, देह रहने पर भी न रहने के बराबर ही होता है। रत्नमाला आगम में लिखा है—

यस्मिन्काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्॥[4]

---

१. जिनमें स्वयं ही ज्ञान का उदय हुआ हो।
२. जिन्हें दूसरे गुरु से ज्ञान प्राप्त हुआ हो।
३. दीक्षा के कई प्रकार हैं। यहाँ उनका विवरण देने की आवश्यकता नहीं है।
४. जिस समय गुरु के द्वारा निर्विकल्प बोध प्रकाशित कर दिया जाता है, उसी समय वह मुक्त हो जाता है, फिर वह केवल यन्त्रमात्र रह जाता है।

जीवन्मुक्त का सुख-दुःखानुभव प्रारब्ध कर्म के अनुसार होता है। परन्तु, इस अनुभव से उसकी मुक्ति के विषय में सन्देह का कोई कारण नहीं है।[1]

मध्य-तीव्र तथा मन्द-तीव्र शक्तिपात के विषय में महापुरुषों का कुछ मतभेद दीख पड़ता है। परन्तु, वह बहुत साधारण है, इसलिए यहाँ उसकी आलोचना करना आवश्यक है।

तीव्र-मध्य शक्तिपात के बाद जो दीक्षा मिलती है, उससे अपने शिवत्व की सुदृढ उपलब्धि नहीं होती। शिवभाव तो दीक्षा के साथ-साथ अवश्य हो जाता है, परन्तु उसका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। निर्विकल्पक आत्मसाक्षात्कार का अभाव ही इसका कारण है। देहपात होने पर उसका शिवसायुज्य अवश्यम्भावी है। इस दीक्षा का शास्त्रीय नाम 'पुत्रक-दीक्षा' है।

मध्य-मध्य तथा मन्द-मध्य शक्तिपात से परमेश्वर-लाभ का औत्सुक्य रहने पर भी भोगाकांक्षा निवृत्त न होने के कारण दीक्षा में भी उसी प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह दीक्षा 'शिवधर्मीय साधक-दीक्षा' नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रभाव से इष्ट तत्त्वादि में योजना स्थापित होती है और योगाभ्यास प्रभृति के द्वारा उस स्थान के भोगों को भोगने का अधिकार उत्पन्न होता है। मध्य-मध्य शक्तिपात के द्वारा यह भोग वर्त्तमान देह में ही हो जाता है और भोग-समाप्ति के बाद देहपात के अनन्तर शिवत्व प्राप्त होता है। परन्तु, मन्द-मध्य शक्तिपात के द्वारा यह भोग देहान्तर द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसके पश्चात् शिवत्व-लाभ होता है।

तीव्र-मन्द, मध्य-मन्द तथा मन्द-मन्द—ये तीन प्रकार के शक्तिपात भोगा-कांक्षा प्रबल रहने पर होते हैं। इनके अधिकारियों में शिवत्व-लाभ का औत्सुक्य विशेष नहीं रहता। इनमें भी उत्तरोत्तर भोग-लालसा का आधिक्य रहता है। इन सब क्षेत्रों में लोकधर्मी दीक्षा की आवश्यकता रहती है। तीव्र-मन्द शक्तिपात से देह के अन्त में वे किसी अभीष्ट भुवन में अणिमादि भोग का उपभोग करते हुए ऊर्ध्वगति-लाभ करते हैं। उसके पश्चात् परमेश्वर के सकल रूप में और फिर निष्कल रूप में युक्त हो जाते हैं। परन्तु, शक्तिपात और भी कम होने पर, अर्थात् मध्य-मन्द मात्रा में होने पर किसी भुवन में कुछ समय तक भोग्य पदार्थों का उपभोग करके उस भुवन के अधिष्ठाता से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् शिवत्व-लाभ करते हैं, किन्तु जब मन्द-मन्द कोटि का शक्तिपात होता है, तब उसी भुवन में सालोक्य, सामीप्य तथा सायुज्य को

१. 'अविद्योपासितो देहो ह्यन्यजन्मसमुद्भवः।
कर्मणा तेन बाध्यन्ते ज्ञानिनोऽपि कलेवरे ॥—श्रीकामशास्त्र।

देह अन्य जन्म में किये हुए कर्मों के प्रभाव से होता है, अतः उस कर्म से ज्ञानिजन भी बाधित होते हैं। प्रारब्ध कर्म शुद्ध होना आवश्यक है। ऐसा न होने से, अर्थात् यदि मन्त्रादि के प्रभाव से सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा के द्वारा देहपात हो जाय, तो मृत्यु के बाद शोधन से बचे हुए देहारम्भक कर्मों के फलस्वरूप आयु-भोग प्रभृति को अवश्य ही भोगना पड़ता है। जबतक यह भोग समाप्त नहीं होता, तबतक मोक्ष नहीं हो सकता, इसलिए मरण का क्षण विना जाने प्राणवियोजिका दीक्षा नहीं देनी चाहिए। ऐसी दीक्षा देने से भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन होता है।

प्राप्त होकर अत्यन्त दीर्घकाल-पर्यन्त भोगों को भोगते हुए उस भुवन के भुवनेश्वर से दीक्षा ग्रहण कर अन्त में शिवत्व-लाभ करते हैं।

[१०]

यहाँतक जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि शक्तिपात अथवा श्रीभगवान् की कृपा के विना कोई जीव पूर्णत्व-लाभ नहीं कर सकता—यहाँतक कि पूर्णत्व के मार्ग में भी प्रवेश नहीं कर सकता। शक्तिपात का तारतम्य जीव के आधार (धारण-शक्ति) के भेद से होता है। परन्तु, यह भी सत्य है कि जीव चाहे कितने ही निम्न अधिकार का हो और कितना ही भोगाकांक्षा-युक्त हो, एक बार शक्तिपात होने पर वह कभी-न-कभी परम पद में अवश्य पहुँच जायगा। भोगाकांक्षादि अन्तराय रहने से उसकी गति में विलम्ब होगा, नहीं तो शीघ्रातिशीघ्र—यहाँतक कि क्षणमात्र में भी (जैसे तीव्र-तीव्र की तीव्र मात्रा में) हो सकता है। शक्तिपात के समय योग्यता का विचार नहीं होता, परन्तु स्वभावतः योग्यता के अनुसार ही शक्तिपात की मात्रा निर्दिष्ट होती है। परन्तु, मात्रा कुछ भी हो, भगवत्-शक्ति की ऐसी ही महिमा है कि इसका एक बार पात होने पर यह जीव को भगवद्धाम में पहुँचाये विना शान्त नहीं होती, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जीवन का लक्ष्य

मानव-जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है ? जीवात्मा अनादि काल से प्रकृति के प्रवाह में सिवार के समान अणुरूप में नानाविध शरीर धारण करते हुए काल की गति से बह रहा है। न जाने, किस जगह पहुँचने पर इस अविरत प्रवाह से छुटकारा प्राप्त होगा एवं सागर-संगम में पहुँचकर जैसे नदी कृतार्थ होती है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा अपनी परम काम्य वस्तु को प्राप्त कर चिरकाल के लिए शान्ति प्राप्त करेगा। नाना सम्प्रदायों में विविध भावों द्वारा इस लक्ष्य के निर्धारण के लिए प्रयत्न हुए हैं एवं इन प्रयत्नों द्वारा दार्शनिक साहित्य में विविध प्रकार के मतवादों की सृष्टि हुई है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि इन सभी सिद्धान्तों में कोई भी सिद्धान्त भ्रान्त नहीं है, तो भी यह सत्य है कि चरम सिद्धान्त कभी एक के सिवा दो नहीं होते।

जबतक ज्ञान-प्राप्ति न हो, तबतक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती एवं अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना भ्रम का निरास भी नहीं होता। किन्तु, इस ज्ञान-प्राप्ति के प्रसङ्ग में ज्ञानों के भेद भी जान लेना आवश्यक है। जो ज्ञान-बुद्धि का धर्म है, उससे हमलोगों का थोड़ा बहुत आंशिक रूप में परिचय है। उसी ज्ञान के प्रभाव से बुद्धि के धर्म अज्ञान की निवृत्ति होती है। किन्तु, उस अज्ञान के निवृत्त होने पर भी मूल में ऐसा एक अज्ञान रह जाता है, जिसके निवृत्त हुए बिना जीवन का यथार्थ कल्याण आविर्भूत नहीं हो सकता। आकाश में बादल रहने पर बादलों के मध्य में स्थित सूर्यबिम्ब दिखाई नहीं देता। सूर्य का उदय होने के बाद आकाश के मेघावृत रहने पर मेघ के हटने के साथ ही सूर्य का दर्शन होता है एवं उसकी किरण और धूप की भी प्राप्ति होती है। किन्तु, अर्धरात्रि में जब आकाश में सूर्य का प्रकाश नहीं रहता, तब आकाश में बादलों के रहने पर एवं उन बादलों के हटने पर सूर्यबिम्ब दृष्टिगोचर होगा, यह कहना संभव नहीं। ठीक उसी प्रकार बौद्ध ज्ञान के द्वारा बौद्ध अज्ञान के मिट जाने पर भी हृदय में अन्धकार रहता ही है, यदि उसके पहले हृदय से मूल अज्ञान की निवृत्ति न हुई हो। इसलिए, आगमवेत्ता योगी कहते हैं कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति का उतना मूल्य नहीं है, जितना कि पौरुष अज्ञान की निवृत्ति का, अर्थात् जबतक पुरुष के स्वरूपगत अज्ञान की निवृत्ति न हो जाय, तबतक वास्तव में बौद्ध अज्ञान की निवृत्तिका प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा के प्राक्तन (पूर्व जन्मों के) कर्मों से देह-ग्रहण करने पर उस देह का अवलम्बन कर उसमें एक कृत्रिम अहं-प्रतीति का उदय होता है, इस अहं-प्रतीति का आधार है बुद्धि। इस बुद्धि में जो अज्ञान धर्मरूप से भासता है, वही बौद्ध अज्ञान है एवं उसमें जो ज्ञान का उदय होता है, वही बौद्ध ज्ञान है। किन्तु, इसका मूल्य कितना है ? जिस अज्ञान के प्रभाव से आत्मा माया के अधीन होकर देह-ग्रहण

करने के लिए बाध्य होता है, उस अज्ञान की निवृत्ति न होने तक आत्मा का नैसर्गिक शिवत्व-रूप धर्म अभिव्यक्त नहीं हो सकता। उस मूल अज्ञान को पौरुष अज्ञान कहा जा सकता है। इस अज्ञान की निवृत्ति के लिए जो अत्यन्त आवश्यक उपाय है, वह कर्म नहीं है, ज्ञान भी नहीं है, यहाँतक कि भक्ति भी नहीं है। इन सबकी उपाय-रूप में गणना होने पर भी ये बुद्धि के व्यापार हैं। बुद्धि के पहले जो हो चुका, उसे दूर करने की क्षमता इनमें से किसी में भी नहीं है। इसलिए, जबतक मनुष्य के आत्मा से वह मूल अज्ञान न हट जाय, तबतक मनुष्य-जीवन का परम आदर्श कदापि साक्षात् रूप से प्राप्त नहीं हो सकता। वह मूल अज्ञान आत्मा द्वारा स्वेच्छा से गृहीत आत्म-संकोच के सिवा और कुछ नहीं है। वास्तव में शिवरूपी आत्मा सब प्रकार से संकोच-रहित है, उसमें काल का संकोच न होने से वह नित्य है, देश का संकोच न होने से वह विभु है, क्रिया का संकोच न होने से वह सर्वकर्त्ता है, ज्ञान का संकोच न होने से वह सर्वज्ञ है एवं आनन्द का संकोच न होने से वह नित्य तृप्त है। यही आत्मा का शिवत्व है। किन्तु, जब लीला के बहाने स्वेच्छा से आत्मा अपने को संकुचित करते हैं और अभिनय के लिए जीवभाव ग्रहण करते हैं, तब उनके स्वाभाविक सभी धर्म संकुचित होने को बाध्य होते हैं। तब यह परिच्छिन्न शक्तिवाले क्षुद्र आत्मा माया के अधीन होकर कर्त्ता का स्वांग धारण करते हैं, अर्थात् कर्म-जगत् में प्रवेश करते हैं एवं कर्म करना और किये हुए कर्मों का फलभोग करना इन दो व्यापारों में लिप्त होकर एक योनि से दूसरी योनि में भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करते हैं और त्याग करते हैं। उनके संसार-चक्र में परिभ्रमण का यही संक्षिप्त इतिहास है। देहसम्पन्न आत्मा की अभिमान-सामग्री में बुद्धि एक प्रधान अङ्ग है। ज्ञान और अज्ञान दोनों ही उसके धर्म हैं। बौद्ध ज्ञान से बौद्ध अज्ञान नष्ट हो जाता है, यह सत्य है; किन्तु यह तो बहुत नीचे की बात है। इससे मूल अज्ञान के विनष्ट होने की कोई संभावना नहीं है।

इसलिए, सबसे पहले जिससे मूल अज्ञान मिट जाय, उसी पर विचार करना चाहिए। पहले ही मैं कह चुका हूँ कि इस अज्ञान को मिटाने के मार्ग में कर्म, ज्ञान या भक्ति किसी की भी वैसी उपयोगिता नहीं है; क्योंकि ये सब मूल का स्पर्श ही नहीं करते। एकमात्र भगवान् की कृपा-शक्ति के द्वारा ही इस मूल अज्ञान की निवृत्ति हो सकती है, अन्य उपायों से नहीं। भगवत्कृपा स्वभावसिद्ध है एवं वह अहेतुक होने पर भी आधार की योग्यता के अनुसार उसमें कार्यक्षमता प्रतिबिम्बित होती है। कृपा नित्य होने पर भी जबतक जीवात्मा का मूल आवरण-रूप मल परिपक्व नहीं हो जाता, तबतक कृपा उसमें संचारित नहीं हो सकती। किन्तु, मल परिपक्व होने पर मलपाक के तारतम्य के अनुसार कृपा सञ्चारित हुए विना नहीं रहती है। जिसे लौकिक जगत् में दीक्षा कहते हैं, वह उसी का फल है। यह दीक्षा स्थूल भी हो सकती है और सूक्ष्म भी, किन्तु यह है अत्यन्त आवश्यक। इसके न होने तक साधना का असर उतना अधिक नहीं होता, जितना होना चाहिए; क्योंकि साधना बुद्धि का व्यापार है। साधना अथवा उपासना आदि से बौद्ध ज्ञान का उदय होता है और बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होती है। तब उस मुक्त हृदय में गुरु-कृपा का, अर्थात् परमेश्वर के अनुग्रह का फल

प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। इस अनुभव का रूप है अपने को शिवरूप में जानना। यह अनुभव अमूलक नहीं है; क्योंकि शिवत्व के आवरण-रूपी मल की निवृत्ति होने के साथ ही जिस स्वरूप का प्रकाश होता है, वह बौद्ध ज्ञानजनित बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के बाद हृदय में प्रकाशित हो उठता है। यही जीवन्मुक्ति की सूचना और मानव-जीवन की परिपूर्ण सार्थकता है। देहान्त होने पर बुद्धि-रूपी घड़े के फूट जाने पर आत्मा शिवरूप में विराजमान होता है, बुद्धि का प्रश्न तब फिर नहीं रहता। यह प्राप्ति किसी नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं है। आत्मा, जो स्वयं शिवरूपी है, विस्मृत हो गया था, विस्मृति के हटने पर स्मृति का पुनः उदय होने से आत्मा शिवरूप में प्रतिष्ठित होता है। यह उसका परमलाभ है। इसके लाभ के विना केवल कैवल्य-अवस्था में स्थित होकर कर्म के अतीत होने पर भी पशुत्व के निवृत्त न होने से पूर्णत्व-लाभ शेष रह जाता है। कालान्तर में उस मल को हटाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है; क्योंकि जबतक वह मल नहीं हटाया जाता, तबतक आत्मा का अपना स्वरूपभूत शिवत्व अप्राप्त ही रह जाता है।

●

अध्यात्मजीवन में गुरु का स्थान

आजकल शिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित समुदाय में अधिकांश लोगों के मुँह से एक प्रश्न सुनाई देता है। वह है गुरु की आवश्यकता है या नहीं ? इनमें से अधिकांश लोगों का यह विचार है कि मनुष्य को जीवन के पथ पर स्वावलम्बी होकर चलना चाहिए, उसे शक्ति और भाव के विकास के लिए किसी दूसरे का आश्रय अपेक्षित नहीं है। आध्यात्मिक जीवन के पथ पर भी मनुष्य का सम्बन्ध साक्षात् भगवान् के साथ अथवा भगवत्-शक्ति के साथ है। इन दोनों के बीच गुरु नामक किसी व्यक्ति के लिए स्थान कहाँ ? इस सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से गुरु की आवश्यकता है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। ये लोग गुरु के सम्बन्ध में संदिहान हैं।

अध्यात्म-क्षेत्र में गुरु की आवश्यकता है अथवा नहीं, इस विषय में आलोचना करने के पूर्व साधारणतः विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जीवन-पथ पर पहले-पहल ऐसी एक अवस्था विद्यमान रहती है, जब जीव को शक्ति, ज्ञान, भाव आदि सभी विषयों में परमुखापेक्षी रहने को बाध्य होना पड़ता है। ऐसा ही प्रकृति का नियम है। तदनन्तर, भीतरी शक्ति और बुद्धिवृत्ति के विकास के साथ बाहरी सहायता उतनी अपेक्षित नहीं रहती। बाहरी सहायता की अपेक्षा न रहने पर भी भीतर किसी अचिन्त्य शक्ति की अधीनता तब भी उसे रहती ही है। उसके बाद जीवन-पथ पर पूर्ण और चरम स्थिति प्राप्त होने पर स्वाधीनता का विकास होता है एवं अन्य किसी की भी अपेक्षा नहीं रहती। स्वभाव होने से ही जो होनेवाला होता है, वह निरपेक्ष रूप से हो जाता है।

साधारण शिक्षा-पद्धति में भी जब प्रारम्भिक अवस्था में पथ-निर्देशक के रूप में ही दूसरे का मुखापेक्षी होना पड़ता है—अवश्य, मैं यह उन सब के विषय में नहीं कह रहा हूँ, जो स्वयम्भू यानी स्वयमुद्भूत प्रज्ञासम्पन्न हैं—तब, अध्यात्मजीवन के अत्यन्त गहन और दुर्गम पथ पर प्रारम्भिक अवस्था में बाहरी शक्ति का सहारा के बिना अग्रसर होना संभव नहीं, इसमें क्या सन्देह की कुछ भी गुञ्जाइश हो सकती है ? इस विषय में विशद आलोचना करने के पूर्व 'गुरुतत्त्व क्या है, गुरु का वास्तविक कार्य क्या है, गुरु कितने प्रकार के होते हैं, गुरु के साथ शिष्य का तथा शिष्य के साथ गुरु का वास्तविक सम्बन्ध क्या है, गुरुशिष्य-भाव की चरम परिणति कहाँ होती है ?' इत्यादि विषयों की आवश्यकतानुरूप आलोचना करनी होगी। आलोचना से एक प्रकरण के साथ अन्य प्रकरण के किसी-किसी विषय में सहायता हो सकती है; क्योंकि सभी अवान्तर प्रकरण परस्पर सम्बद्ध हैं। किन्तु, समझने के समय प्रत्येक को, पृथक् रूप से विवेचना कर, हृदयंगम करना होगा।

हमलोग साधारणतः कहते हैं कि गुरु ज्ञानदाता हैं। गुरु को, ज्ञानदाता के सिवा अन्य रूप से हम साधारणतः कल्पना ही नहीं करते। किन्तु, वस्तुतः गुरु ज्ञानदाता तो हैं ही, परोक्ष-अपरोक्ष सम्पूर्ण ज्ञान गुरु से ही उद्भूत होते हैं। इसके अतिरिक्त गुरु कर्मदाता और भक्तिरस के दाता भी हैं। यह हम क्रम से समझाने की चेष्टा करेंगे। 'गुरु' और 'सद्गुरु' दो ही शब्द साधन-जगत् में प्रचलित हैं। साधारण दृष्टि से गुरु और सद्गुरु अभिन्न हैं, अर्थात् गुरु कहने से सद्गुरु का ही बोध होता है; क्योंकि पूर्ण आदर्श की दृष्टि से असद्गुरु नाम का कोई पदार्थ नहीं है, तथापि व्यवहार के सौकर्य की दृष्टि से सद्गुरु शब्द की एक सार्थकता है। पूर्ण सत्य ही यदि सत्य का अखण्ड स्वरूप है, तो ऐसी स्थिति में जिनके अनुग्रह से इस अखण्ड सत्य का स्वरूप प्रकाशित होता है, वे ही वास्तव में सद्गुरु हैं; सत्य का खण्डरूप अखण्ड सत्य से यद्यपि वस्तुतः पृथक् नहीं है, तथापि बुद्धि की दृष्टि से उसको कुछ पृथक्-सा ही मानना पड़ता है। जो इस खण्ड सत्य के उपदेश हैं, वे खण्ड ज्ञान के प्रदाता हैं—वे खण्ड गुरु हैं। गुरु शब्द खण्ड और अखण्ड दोनों सत्यों के प्रकाशक की ही प्रतीति कराता है। अखण्ड सत्य का प्रकाश करनेवाले का स्पष्टरूप से यदि निर्देश करना हो, तो उसके लिए सद्गुरु अथवा इसी तरह के अन्य शब्द का प्रयोग करना पड़ता है। केवल गुरु शब्द खण्ड सत्य के उपदेष्टा की प्रतीति कराता है। खण्ड सत्य का व्याप्य-व्यापक दृष्टि से एक क्रम है। अर्थात्, खण्ड सत्य में कोई निम्नस्तर का, कोई ऊर्ध्वस्तर का एवं कोई और भी अधिक ऊर्ध्वस्तर का, इस प्रकार के विभिन्न स्तर विद्यमान रहते हैं। तदनुसार, मूल में गुरु-तत्त्व एक रहने पर भी गुरुवर्ग में श्रेणी-विभाग हो सकता है। यह श्रेणी-विभाग गुरु के उपदेशों के निम्न-उच्च विभाग के रूप में प्रतिष्ठित है एवं यह गुरु की ज्ञान-वितरण-शक्ति के तारतम्य से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि, ज्ञान स्वरूपतः एक होने पर भी उपाधि के सम्बन्ध से विविध रूप का प्रतीत होता है।

[२]

सारा संसार माया से उत्पन्न है। मलिन संसार अशुद्ध माया से पैदा हुआ है एवं शुद्ध जगत्, जो संसार न होकर भी संसार रूप में गिना जाता है—शुद्ध माया से आविर्भूत है। मलिन संसार के मूल में अविद्या है और उसका स्वाभाविक गुण आसक्ति है। शुद्ध जगत् के मूल में विद्या है और उसी के साथ अभिन्न रूप से शक्ति और आनन्द संश्लिष्ट हैं। माया और महामाया के राज्य के परे विशुद्ध आत्मस्वरूप है। यह ध्यान में रखना होगा कि वह विशुद्ध आत्मस्वरूप विश्व के अतीत होकर भी विश्व की प्रत्येक वस्तु से अभिन्न है। यही पूर्ण सत्य है। इसी का कल्पित खंडरूप सुख-दुःख के रूप से अज्ञानमय जगत् में तथा आनन्द और शक्ति की लीला के रूप में शुद्ध जगत् में अपने को व्यक्त करता है। आत्मा के पूर्ण स्वरूप की उपलब्धि यदि करनी हो, तो एक पक्ष में विश्व का, केवल मलिन जगत् का ही नहीं, शुद्ध जगत् का भी अतिक्रमण कर आत्मा के केवल-स्वरूप में पहुँचना चाहिए। उसके बाद पूर्ण शक्ति के विकास के पथ पर आत्मा के शिवमय महेश्वर-रूप का साक्षात्कार करना चाहिए। तब आत्मा और

आत्मशक्ति का अद्वय तत्त्व (अर्थात्, अभिन्नता और एकरसता) स्वाभाविक रूप से अपने-आप निखर जाता है।

गुरु का पहला काम शिष्य-रूपी जीव के दुःख की निवृत्ति की व्यवस्था करना है। मायिक जगत् में भेदज्ञान के अधीन होकर कर्मसंस्कार-सम्पन्न कर्त्तृत्वाभिमान से पुष्ट जीव अनादि काल से कर्म करता हुआ और साथ-ही-साथ कृत कर्मों का फल भोगता हुआ आ रहा है। जन्म-जन्मान्तरों से संसार की यह धारा बहती चली आ रही है। भेदज्ञान और कर्त्तृत्वाभिमान जबतक नष्ट नहीं होते, तबतक इस संसार-लीला का अन्त नहीं होता एवं जन्म-मृत्यु तथा कालचक्र के आवर्त्तन की निवृत्ति नहीं होती। जीव चिदात्मक है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, माया के प्रभाव से वह जड सत्ता को अपनी चित्सत्ता मानकर भीषण भूल करता आ रहा है। इस भूल के कारण ही कर्मक्षेत्र में पतन और अनुरूप भोग अवश्य प्राप्त होते हैं। ऊपर देवलोक से नीचे तिर्यक् और स्थावर-सीमा तक असंख्य प्रकार के जीव हैं। सभी इस दुःखमय संसार के आवागमन में चक्कर खा रहे हैं। अस्थायी ऊर्ध्वगति अथवा अधोगति वास्तविक पथ की कोई सूचना नहीं देती। चेतन आत्मा जबतक अपने को 'मैं जड से पृथक् हूँ', यों नहीं पहचानेगा, तब-तक इस दुःखमय कालचक्र से उसके उद्धार की कोई आशा नहीं। जो अनुग्रहपूर्वक ज्ञान प्रदान कर इस अज्ञान से उसे विमुक्त करते हैं अथवा मुक्त होने में साहाय्य प्रदान करते हैं, वे गुरु हैं। इस ज्ञान को विवेकज्ञान कहते हैं। जड सत्ता भिन्न-भिन्न स्तरों की है, इसीलिए विवेक-ज्ञान में भी तारतम्य है। जो विशुद्धतम विवेक ज्ञान है, उससे आत्मा की निर्मल स्वरूप में स्थिति होती है। इसे ही कैवल्य अथवा मुक्ति कहा जाता है। कई लोग इसे 'निर्वाण' भी कहते हैं।

किन्तु, वास्तव में अध्यात्मजीवन का यह पूर्ण आदर्श नहीं है। क्योंकि, मायिक दुःख से छुटकारा पाने पर भी आत्मा को पूर्णता प्राप्त नहीं होती। आत्मा की एक स्वाभाविक स्वाधीनता है, एक स्वरूपभूत आनन्द का प्रकाश है। जबतक वह उस निरपेक्षता या स्वातन्त्र्य को लौटकर पुनः प्राप्त नहीं होता, तबतक उसका संकोच दूर हुआ कहाँ ? आत्मा ही तो परमात्मा अथवा परमेश्वर है। आत्मा के कैवल्य या मुक्ति-लाभ करने पर भी उसे महेश्वरत्व प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिए उसकी अन्तर्निहित अनन्त शक्ति का पूर्णतम जागरण आवश्यक है। उस शक्ति के जागरित हुए विना आत्मा शुद्ध होने पर भी शवमात्र है, शिव नहीं। क्योंकि, शिव कभी शक्तिविहीन नहीं होते। वास्तव में, यद्यपि शिव और शक्ति अभिन्न हैं, तथापि यह सत्य है कि शिव के व्यक्त और अव्यक्त भाव में पार्थक्य नहीं है। एक हिसाब से शिव महाप्रकाशात्मक होने से नित्य-व्यक्त हैं। शक्ति जबतक अव्यक्त से व्यक्त भाव धारण नहीं करती, एवं व्यक्त भाव धारण का क्रम पकड़कर अथवा विना क्रम के जबतक पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं होती, तबतक शक्ति शिव के साथ अभिन्न होकर भी उनके साथ एकासन पर नहीं बैठ सकती, एकता-प्राप्ति तो बहुत दूर की बात रही। किन्तु, अध्यात्मजीवन का जब पूर्ण विकास हो जाता है, तब उनके साथ एकता-प्राप्ति भी अवश्य हो जाती है। उस समय शिव और शक्ति में एवं जीव और शिव में भी पार्थक्य नहीं रहता। ये तीन

तबतक एक ही अभिन्न अखण्ड आत्मस्वरूप में अपने को व्यक्त करते हैं। इस परम स्थिति में प्रतिष्ठित होने में जो सहायता-प्रदान करते हैं, वे ही सद्‌गुरु हैं। वस्तुतः आत्मा ही सद्‌गुरु है। वे ही सद्‌गुरु के रूप में मायान्ध जीव को माया से मुक्त कर उसके भीतर स्थित शक्ति को भली भाँति प्रबुद्ध कर अपने स्वरूप में, अर्थात् शिव-स्वरूप में ले आते हैं। यही संकोच-रहित पूर्ण स्वातन्त्र्य है।

[३]

जो स्वयं अन्धा है, वह जैसे दूसरे को मार्ग नहीं दिखा सकता, और यदि दिखाने का दुस्साहस करता भी है, तो दोनों विपत्ति में पड़ जाते हैं, वैसे ही जो स्वयं अज्ञान हैं, उन्हें स्वयं भी मार्ग का पता नहीं रहता; क्योंकि उनके मार्ग की यात्रा का अन्त नहीं होता, वे दूसरे को पथ कैसे दिखलायेंगे? इसलिए, पहले स्वयं सम्यक् ज्ञान को अपरोक्ष रूप से प्राप्त कर तदनन्तर गुरु के रूप से दूसरे को उस ज्ञान का उपदेश दिया जाता है। किन्तु, यहाँ प्रश्न यह होता है कि परोक्ष ज्ञान तो दूर की बात है, अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने पर भी क्या वह दूसरे को दिया जा सकता है? इसका उत्तर है—नहीं दिया जा सकता। ज्ञान की सहायिका रूप से दो शक्तियों की आवश्यकता है—एक इच्छा और दूसरी क्रिया। दूसरे का दुःख दूर करने की जो इच्छा है, उसे कृपा अथवा करुणा कहते हैं। जो ज्ञानी होकर भी इस प्रकार की इच्छा से रहित, अर्थात् कृपाहीन हैं, वे दूसरे को उसका दुःख निवृत्त करने के लिए ज्ञानोपदेश देने को क्यों प्रवृत्त होंगे? करुणा ही एकमात्र प्रवर्त्तक है। इच्छाहीन में करुणा कहाँ? किन्तु, केवल इच्छा रहने पर ही कार्यसिद्धि नहीं होती, यदि उस इच्छा को सफल बनाने का सामर्थ्य न हो। केवल इच्छा इच्छा है, यदि इच्छा-शक्ति न रहे। इच्छा अप्रतिहत रहने पर ही वह क्रिया के रूप से स्थूल आकार धारण करती है। तब वह इच्छा होती है अमोघ, अर्थात् अव्यर्थ। इसलिए, ठीक-ठीक गुरु रहने पर प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ इच्छा और क्रिया का भी योग रहना चाहिए। यही सद्‌गुरु अथवा आप्त पुरुष का लक्षण है। इस अवस्था में गुरु की इच्छा के साथ ही शिष्य के हृदय में ज्ञान का स्रोत बह उठता है एवं उनकी क्रियाशक्ति के प्रभाव से शिष्य के जीवन-पथ या साधन-मार्ग की सम्पूर्ण विघ्न-बाधाएँ दूर हो जाती हैं। शास्त्रकार लोगों ने इस प्रकार के महापुरुष को आप्त पुरुष कहा है। इस आदर्श का ही पूर्ण रूप सद्‌गुरु है। इस प्रसङ्ग में बहुत-सी बातें आगे कही जायेंगी।

[४]

गुरुत्व की आलोचना यदि करनी हो, तो आनुषङ्गिक रूप से उसके साथ इष्ट तत्त्व और साधक के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक होगा। साधक का मतलब यहाँ योगी और अयोगी दोनों प्रकार के ही साधकों से है। मनुष्य अनादि काल से संसार में पड़कर कालचक्र में घूम रहा है। बहिर्मुख चित्त अपने कर्मों के संस्कारों के अनुसार बाहरी जगत् में सुख की खोजकर बार-बार विफलमनोरथ होकर भी विरत नहीं हो रहा है। जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद फिर जन्म, इस तरह

जन्म-मृत्यु के चक्र में विषय-सुख की खोज में चित्त निरन्तर दौड़ रहा है। यही प्रवृत्ति का स्रोत है। जबतक इस स्रोत का वेग मन्द नहीं पड़ता, तबतक इसके प्रवाह में बह जाना ही पड़ेगा। किन्तु, पुनः-पुनः भोग करते-करते एक ऐसा समय आता है, जब फिर भोग का सामर्थ्य तो रहता ही नहीं, इच्छा भी नहीं रहती। यह केवल बुढ़ापा अथवा व्याधि के कारण नहीं होता, किन्तु प्रवृत्ति के नियम से भोग की मात्रा पूर्ण होते ही स्वभावतः अन्तर्मुखी गति का सूत्रपात हो जाता है। यह गति निवृत्ति-मार्ग की गति है। बहुत जन्मों के भोग-विलास के बाद इस निवृत्ति-मार्ग का द्वार प्रत्येक मनुष्य के जीवन में खुलता है। जब मनुष्य विषयों की खोज से क्लान्त होकर सुख और समृद्धि की आशा को तिलाञ्जलि देने के लिए तैयार होता है, तब एकमात्र निवृत्ति के सिवा और कोई मार्ग उसने सामने खुला नहीं रहता। मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि मैं कितना चल चुका हूँ तथा कब मेरे लौटने का दिन आयेगा। किन्तु, जो प्रत्येक मनुष्य के अन्तर्यामी के रूप में, उसके हृदय में विहार कर रहे हैं, वे सब कुछ जानते हैं। मनुष्य के प्रत्यावर्त्तन के मोड़ पर पहुँचने पर उसके जीवन में कई एक नूतन धर्मों की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। वे धर्म उनके बहिर्जीवन में प्रकट होते हैं, कहीं-कहीं नहीं भी होते। किन्तु, अन्तर्जीवन में इन धर्मों अथवा लक्षणों का प्रकाश अवश्यम्भावी है। जो अन्तर्यामी तथा सद्‌गुरु हैं, वे यह देख पाते हैं एवं साथ ही उनकी सहायता करने के लिए हाथ बढ़ाते हैं। किसी प्रकार का देह धारण कर गुरु मनुष्य के निकट इस सन्धिकाल में आविर्भूत होते हैं एवं एक थके-माँदे और निराश, माया-न्धकार से विडम्बित मनुष्य के समीप सुशीतल शान्ति और आनन्द की मोहिनी बातों की घोषणा करते हैं। आनन्द से वञ्चित हताश मनुष्य को नित्य आनन्द-पथ दिखाना ही गुरु का कार्य है। गुरु शरणागत त्रिताप-दग्ध जीव को अभयदान देकर इष्टप्राप्ति का उपाय बतलाते हैं। इष्ट के मानी संसार के समस्त दुःखों से निवृत्ति समझनी चाहिए। केवल वही नहीं, परमानन्द की अभिव्यक्ति भी समझनी चाहिए। वास्तव में निर्मल अपरिच्छिन्न आनन्द ही मनुष्य को इष्ट है। क्योंकि, उसी को हर एक चाहता है। दुःख-निवृत्ति इसका आनुषङ्गिक फलमात्र है। जानकर अथवा अनजाने आनन्द ही जीव का काम्य है। यही उसकी सब अभिलाषाओं और इच्छाओं का एकमात्र विषय है। गुरु जो उपाय बतलाते हैं, उनका आश्रित शिष्य उसी उपाय का आलम्बन कर इष्ट-प्राप्ति के पथ पर आगे बढ़ता है। यह उपाय मन्त्ररूप देवता की आराधना है, इसमें सन्देह नहीं, एवं इस आराधना के अङ्गरूप में कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि सभी का स्थान है। साधक साधना के मार्ग में चलते-चलते क्रमशः आराधना में परिपक्वता प्राप्त करते हैं एवं दिव्य ज्योतिर्मय शक्ति के रूप में अपने आराध्य देवता का साक्षात्कार करते हैं। वस्तुतः, यह आराध्य देवता साधक के अपने आत्मस्वरूप के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। उसका अपना स्वरूपभूत आनन्द कर्म के प्रभाव से घन होकर अपनी इन्द्रियों और मन का आकर्षण करनेवाले दिव्य आकार को धारण कर अपनी सत्ता से अपृथक् रहकर भी पृथक्‌भूत रूप से दृष्टि के सामने दिखाई देता है। इसी का नाम इष्ट देवता का साक्षात्कार है। यह किसी

दूसरे पदार्थ का दर्शन नहीं है, किन्तु अपने अन्दर विद्यमान शक्ति का जागरण तथा द्रष्टा के सामने उस जाग्रत् शक्ति का प्रकाश है।

माता के गर्भ में जैसे बीज-रूप से सन्तान निहित रहती है एवं क्रमशः पुष्ट होकर अङ्ग-प्रत्यङ्गों की पुष्टता के साथ पूर्णता प्राप्त करती है, तदनन्तर प्रसव-क्रिया द्वारा भीतर से बाहर निकलती है एवं इन्द्रियगोचर रूप में प्रकाशित होती है, ठीक वैसे ही गुरु-दत्त बीजमन्त्र साधक के हृदय-क्षेत्र में दीक्षादि के सिलसिले से स्थापित होने और शिष्य द्वारा यथाविधि उसकी सेवा और रक्षा होने पर अंकुरित होता है और आकार धारण करता है। आगे चलकर वह साकार देवतामय सत्ता इष्ट देवता के रूप में दृष्टि के सामने बाहर प्रकट होती है। यही प्रसव के अनुरूप व्यापार है। यही इष्ट-साधना का फल है। इस तरह, इष्ट देवता का आविर्भाव और साक्षात्कार होने पर साधक असीम आनन्द में मग्न हो जाते हैं। तब उनकी सम्पूर्ण इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले रूप के साथ वह इष्ट देवता उनके सामने खड़े होते हैं। उस समय साधक के पूर्वानुभूत सब दुःख मिट जाते हैं एवं अपार आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। शक्ति के जागरण से साधक ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हैं, जिससे उनके सब अभाव सदा के लिए मिट जाते हैं। इष्ट का साक्षात्कार न होने तक मन्त्रदाता गुरु का गुरुत्व अक्षुण्ण रहता है। किन्तु, इष्ट का प्रदर्शन कराना ही गुरु का मुख्य कार्य नहीं है, यह ध्यान रखना चाहिए। गुरु ने पहले जिस रूप से दर्शन दिया था एवं इष्ट-साधना का उपाय बतलाया था, वह गुरु का परम स्वरूप नहीं था। मानवदेह, सिद्धदेह अथवा दिव्यदेह का अवलम्बन कर गुरु ने इष्ट के दर्शन के लिए अपने को प्रकट किया था। उसके बाद इष्ट-दर्शन के साथ-साथ गुरु का वह छद्म रूप तिरोहित हो जाता है एवं साधक का रूप भी तब पहले की तरह बलहीन नहीं रहता। इसके अनन्तर इष्ट, अर्थात् आनन्द एवं साधक, अर्थात् चित्कण युक्त होकर अतिदुर्गम पथ पर अग्रसर होते हैं। यह पथ गुरु के स्वरूप-दर्शन का मार्ग है।

गुरु स्वरूपतः निराकार चैतन्यमय हैं। साधक आकृति-सम्पन्न तथा प्राकृत अथवा अप्राकृत देहविशिष्ट है, किन्तु इष्ट आनन्दमय अजर-अमर देहविशिष्ट है। इसलिए, दोनों ही साकार हैं, इसमें सन्देह नहीं है। निराकार चैतन्य साकार साधक के प्रति अगोचर है एवं साकार इष्ट साधक के लिए अप्राप्त है। किन्तु, इष्ट के साथ साधक का योग होने पर निराकार चैतन्य-स्वरूप की ओर अग्रसर होना संभव है। यह गति साधक और इष्ट की सम्मिलित गति है। इस गति के अन्त में साधक और इष्ट एक होकर निराकार चैतन्य-स्वरूप से मानों एक हो जाते हैं। तब 'अहम्' नहीं रहता, इसीलिए साधक नहीं रहता, इष्ट नहीं रहता और साध्य भी नहीं रहता। दोनों एक होकर निराकारता-सम्पादनपूर्वक निराकार चैतन्य के साथ अभेद प्राप्त करते हैं। इसी का नाम गुरु-साक्षात्कार है। गुरु का साक्षात्कार सम्पन्न होने पर गुरु अपना स्वरूप दिखा देते हैं। साधक का जो आत्मा है, उससे गुरु का आत्मा भी भिन्न नहीं है। इस अवस्था में जिस स्थिति का उदय होता है, वह नाद और ज्योति दोनों से परे है। यह साकार नहीं, इसलिए यह प्रकृति के अतीत है। यह साकार और निराकार-रूप द्वन्द्व के

अतीत विशुद्ध आत्मरूप है। इस आत्मदर्शन के सम्पन्न हो जाने पर गुरु, इष्ट और साधक का आत्मा अभिन्न, अद्वय, अखण्ड स्वरूप से स्वयंप्रकाश-रूप में अपने को प्रकट करता है। उस समय सब कुछ रहता है और कुछ भी नहीं रहता। अखण्ड महा-प्रकाश में अपने को पुनः पाया जाता है एवं गुरु को भी पुनः पाया जाता है और उस अवस्था में एक में ही नानात्व का प्रतिभास निखरकर एकरूप हो उठता है।

पहले गुरु स्वतःप्रवृत्त होकर दर्शन देते हैं, अर्थात् जीव को दर्शन देकर उसे शिष्य बनाते हैं एवं साधन-पथ पर चलाते हैं। साधक साध्य को पाकर जब सिद्ध हो जाता है, तब इस परम उपकारकारी गुरु को खोज निकालता है। इसमें एक पक्ष में जैसे साधक की कार्यसिद्धि होती है, वैसे ही दूसरे पक्ष में इष्ट का भी कल्याण होता है। क्योंकि, आराधक अथवा साधक का सहारा लिये बिना आनन्दमय देवता पूर्णरूप से स्थिति नहीं प्राप्त कर सकते। तदुपरान्त, साधक सिद्ध अवस्था प्राप्त कर इष्ट देवता के साथ अभिन्न होकर निर्गुण और निराकार गुरु-तत्त्व में एकत्व-लाभ करता है। इस प्रकार, गुरु-तत्त्व तक अधिकार होने पर स्वयंप्रकाश आत्मा अपने-आप अभिव्यक्त हो उठता है। यह समान रूप से साकार और सगुण तथा निराकार और निर्गुण दोनों ही है। पर, उभयात्मक होने पर भी उभय से अतीत है। यही विशुद्ध चैतन्य है। आनन्द की अभिव्यक्ति गुरु-कृपा का गौण लक्ष्य है। चैतन्य-रूप में आत्मप्रकाश ही उसका प्रधान लक्ष्य है।

[५]

गुरु, गुरु के कार्य तथा आनुषङ्गिक विषयों पर विशेष विचार करने के पहले गुरुत्व का जो मूल उद्‌गम स्थान है, उसका तथा उद्‌गम-स्थान से सम्बन्ध रखनेवाली क्रिया का कुछ विवरण देने की आवश्यकता प्रतीत होती है। जीव अनादि काल से मल, माया तथा कर्म-बन्धन से बँधकर एवं अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप अवस्था को प्राप्त होकर परम पद से च्युत हुआ है। परम स्थिति पूर्ण स्थिति है। जीवमात्र को इस महास्थिति (परम स्थिति) में प्रतिष्ठित होने का अधिकार है। परन्तु, अधिकार रहने पर भी इस स्थिति को पाना अत्यन्त कठिन है। जीव स्वभावतः प्रतिकूलवेदनीय दुःख की ताडना से जर्जर होकर दुःख की निवृत्ति की खोज में तथा आनन्द का थोड़ा-बहुत पता लगने से उसको स्वायत्त करने के लिए इधर-उधर भटक रहे हैं। उन्हें अस्थायी रूप से दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति नहीं हो रही हो, सो बात नहीं है, किन्तु वास्तविक दुःख-निवृत्ति और चिरस्थायी आनन्द-प्राप्ति उन्हें नहीं हो रही है। वस्तुतः, होने का उपाय भी कोई नहीं है; क्योंकि जीव स्वयं पशुस्वरूप है। पाशव ज्ञान द्वारा पशुत्व से छुटकारा प्राप्तकर शिवत्व नहीं प्राप्त किया जा सकता। पाश बन्धन का ही कारण है। पाशव ज्ञान से वास्तविक मुक्ति का पता नहीं लग सकता। लौकिक या अलौकिक ज्ञान अथवा किसी शक्ति या सत्ता के अनुग्रह से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे शिवत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती, भगवत्ता का लाभ नहीं होता। पूर्ण शिवज्ञान एकमात्र शिव से ही प्राप्त हो सकता है, उसमें पशु के अथवा

जीव के किसी उद्योग अथवा क्रिया की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि परमेश्वर स्वतन्त्र हैं। अन्य किसी की अपेक्षा न रखनेवाली स्वाधीन इच्छाशक्ति के प्रभाव से महाकरुणा के रूप में वे जब दुःखित तथा पीडित जीव की ओर दृष्टिपात करते हैं, तभी से जीव के जीवन में परिवर्त्तन होना आरम्भ होता है। यह परिवर्त्तन अवस्थानुसार बहुत स्तरों द्वारा भी हो सकता है और एक ही क्षण में भी सिद्ध हो सकता है। इस परिवर्त्तन से, अर्थात् महाकरुणा के प्रभाव से जीव का निज स्वरूप (शिवत्व) पुनः अभिव्यक्त हो उठता है। यही उसकी निज शक्ति का विकास है। जीव शक्तिमान् होकर शिवरूप से अपने को पहचान सकता है। यही जीव का भगवत्ता-लाभ है।

यह जो पूर्ण भगवत्ता की अभिव्यक्ति की बात कही गई है, इसका मूल शिव-ज्ञान है, यह पहले भी कहा जा चुका है। यह पशुज्ञान अथवा पाशज्ञान नहीं है। यह शिवज्ञान है, एकमात्र शिव से ही उत्पन्न होता है एवं जीव को पुनः शिवरूप में स्थापित करता है। हम जिस गुरु-तत्त्व पर विचार करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, पूर्वोक्त शिव ही उस गुरुभाव के पूर्णतम आदर्श हैं। यही आदिगुरु, नित्यगुरु, समग्र विश्व के परमगुरु हैं। परमेश्वर गुरु-रूप से क्या कार्य करते हैं एवं किस प्रणाली से उनकी अनुग्रह-शक्ति समग्र विश्व को आप्लावित कर चिदानन्दमय अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करती है, यहाँ यही विचारणीय विषय है।

शिव, अर्थात् गुरु सच्चिदानन्दमयस्वरूप हैं। उनमें जो नित्य शक्ति अभिन्न रूप से विराजमान है, वह भी सच्चिदानन्दस्वरूप है। दोनों ही एक हैं अवश्य—स्वरूपतः। किन्तु, प्रकाश की दृष्टि से दोनों में कुछ विलक्षणता है। शिव निष्क्रिय द्रष्टा और कर्त्ता हैं। शक्ति उनके साथ पूर्णरूप से अभिन्न होकर भी दृष्टिस्वरूप तथा करण-स्वरूप है। सृष्टि के पहले शिव और शक्ति में कोई अन्तर लक्षित नहीं होता। आपाततः हम द्वैतदृष्टि का आश्रयण करके ही विचार कर रहे हैं। उसके अनुसार जीव भी अनादि काल से ही अणुरूप में विद्यमान है। यद्यपि जीव स्वरूपतः शिव से अभिन्न है, तथापि अनादिकाल के मल-सम्बन्ध से शिव की अपरिच्छिन्न ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति परिच्छिन्न होकर अणुभाव को प्राप्त हुई है। यही चिदणु जीव अथवा पशु के नाम से विख्यात है। जीवों की संख्या अनन्त है। अनादिकाल से ही ये अनन्त जीवाणु मुक्ति की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इससे ज्ञात हो जायगा कि जीव का एक ऐसा आवरण है, जो अनादि काल से ही विद्यमान है। यही आवरण जीवत्व या पशुत्व कहा जाता है। इसी का नाम मल है। यह यदि न रहता, तो जीव शिवरूप से ही अपने को पहचानता, पशुरूप से नहीं। इसी आवरण के समान कहीं-कहीं इसके ऊपर दूसरा आवरण भी दिखाई देता है। इस आवरण का 'कर्म' नाम से उल्लेख किया जाता है। आणव मल और कर्म—इन दो के ऊपर भी कहीं-कहीं तीसरा एक आवरण दृष्टिगोचर होता है। यह आवरण है कर्ममय जीव का मायिक देह। माया आवरण-रूप है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, सृष्टि के पहले जैसे शिव और शक्ति में भेद नहीं दिखाई देता, वैसे ही चित्-शक्ति और माया में भेद नहीं लक्षित होता। केवल यही नहीं, जीव और शिव में भी कोई अन्तर नहीं लक्षित होता एवं जीवों में भी परस्पर एक का दूसरे से

भेद लक्षित नहीं होता। तब प्रकाश भी नहीं रहता और अन्धकार भी नहीं रहता। क्या रहता है और क्या नहीं रहता, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सत् और असत् कोई भी विशेषण उस अवस्था के वर्णन के लिए पर्याप्त नहीं होते। वह अवस्था चित्-शक्ति की निष्क्रिय अवस्था जाननी होगी। वास्तविक स्थिति में शक्ति की निष्क्रिय और सक्रिय अवस्था में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु, यदि बुद्धि के द्वारा जानना हो, तो दोनों में भेद स्वीकार किये विना दूसरी गति नहीं है। यह निष्क्रिय शक्ति जब सक्रिय रूप धारण करती है, तब सब मानों अपना स्वरूप लेकर व्यक्त हो उठते हैं। पहले भी सब थे, इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु अस्फुट रूप से न रहने के समान थे। अन्धकार में जैसे सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी विशेषता खोकर उस अन्धकार के रूप में प्रतीत होती हैं, उनकी अपनी-अपनी पृथक् सत्ता का भान नहीं होता, सृष्टि की पूर्वावस्था भी कई अंशों में वैसी ही है। किन्तु, शक्ति के सक्रिय होने पर भेद स्पष्ट रूप से जग उठता है। शिव और शक्ति, अर्थात् चित्-शक्ति नित्य सम्बद्ध होकर भी पृथक् रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इस शक्ति का हम 'पराशक्ति' नाम से निर्देश करेंगे। यह पराशक्ति ही परशिव की निज शक्ति है। यही अखण्ड अनुग्रह-रूप, विशाल करुणारूप धारण करके कार्यक्षेत्र में अग्रसर होती है। यह महाकरुणा ही भगवान् का महाप्रेम है, जिस करुणा और प्रेम से विगलित होकर वे अनादि काल से बद्ध जीवों को मुक्त कर अपने साथ पूर्णरूप से अभिन्नता में लाने के लिए क्रिया करते हैं। वे निष्क्रिय रहकर भी इस तरह निरन्तर क्रिया कर रहे हैं। यह क्रिया बाहरी रूप से यद्यपि विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती है, फिर भी इसका मूल रूप एक और अभिन्न है। यही मूल रूप अनुग्रह है। यह शक्ति परम अनुग्रहरूपा है, इसलिए यह सर्वमंगला कही जाती है। सृष्टि, स्थिति और संहार इसी के आत्मप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, यह क्रमशः स्पष्ट होगा। शास्त्र कहते हैं, अनुग्रह-शक्ति ही गुरु का स्वरूप है। परमशिव ही गुरु हैं एवं यह अनुग्रह-शक्ति ही उनकी पराशक्ति है। यह अनुग्रह-शक्ति अणु-रूपी जीवों को मुक्त कर उन्हें अपने शिव-स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित करती है। सृष्टि के प्रथम उन्मेष-काल में उन सब जीवों को परस्पर अलग होकर अपने को प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता है। कारण, सृष्टि की पूर्वावस्था में वे अभिन्न पिण्डवत् अवस्था में विद्यमान थे। क्रियाशक्ति के जागरण के साथ-साथ प्रत्येक का अपना वैशिष्ट्य अभिव्यक्त होता है। इस समय पराशक्ति से विश्वसृष्टि के भावी कार्य-निर्वाह के लिए एक शक्ति आविर्भूत होती है। इसका नाम आदिशक्ति या आद्याशक्ति है। आदिशक्ति आविर्भूत होकर सबसे पहले माया का विभाग करती है। अर्थात्, माया को शुद्ध और अशुद्ध भागों में विभक्त करती है। आदिशक्ति का जबतक उदय नहीं हुआ था, तबतक शुद्ध और अशुद्ध माया अविभक्त रूप में विद्यमान थी। आदिशक्ति आविर्भूत होकर दोनों को अलग कर देती है। केवल यही नहीं, शुद्ध और अशुद्ध के बीच में रहनेवाली एक मिश्र अवस्था का भी आविर्भाव तब समझ में आ सकता है। इस तरह विश्वसृष्टि के पूर्व पहले तीन स्तरों का विकास होता है। एक है शुद्धमाया, वह ज्योतिर्मय है; एक अशुद्ध माया है, वह तमोमय है एवं एक मिश्र है, उसमें प्रकाश

और अन्धकार दोनों ही मिश्रित रूप से रहते हैं। माया-विभाग का मुख्य उद्देश्य यह है कि पिण्डीभूत जीवसमूह विभक्त होने के बाद अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपना-अपना स्थान प्राप्त कर सके।

इस विषय का और विशद रूप से प्रतिपादन किया जाता है। जीवों में कोई जीव केवल एक आवरण से बद्ध रहते हैं और कोई एक साथ दो आवरणों से बँधे रहते हैं। इन दो आवरणों में अवान्तर भेद है। परन्तु, कोई-कोई जीव एक साथ तीनों आवरणों से बद्ध रहते हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार इस प्रसङ्ग में अनावश्यक है। किन्तु, थोड़ा बहुत तत्त्व को प्रकट किये बिना विषय स्पष्ट नहीं होगा। ऐसे अणुरूपी बहुत-से जीव हैं, जो देह से मुक्त हैं एवं देह के बीजभूत कर्म-संस्कार से भी मुक्त हैं, पर वे दिव्य ज्ञान के अभाव से अपने स्वभावसिद्ध शिवत्व का अनुभव न कर सकने के कारण विदेह अवस्था में केवल-रूप से स्थित हैं। इन सब जीवों का अशुद्ध माया के जगत् में फिर कभी जन्म होगा नहीं। पर, इन्हें परामुक्ति की प्राप्ति भी नहीं हुई। इनकी सामान्यता अधोगति नहीं होती, यह बात ठीक है, परन्तु ऊर्ध्वगति भी नहीं हो रही है। इसलिए, ये अनुग्रह के पात्र हैं। वे सब अणुरूपी जीव एक प्रकार की विशुद्ध माया के स्तर में विद्यमान रहते हैं, ये अशुद्ध माया अथवा मिश्र माया किसी में अवस्थित नहीं रहते। किन्तु, इनमें भी सभी जीव ठीक एक श्रेणी के नहीं हैं। ये सभी मायातीत तथा मुक्तवत् हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, इनके मल-रूपी आवरण के हटे बिना ये अपने परम स्वरूप को प्राप्त नहीं हो सकेंगे। इसलिए, परमशिव-रूपी गुरु की दृष्टि में ये भी अनुग्रह के पात्र हैं। लौकिक दृष्टि से इन्हें मुक्त कहा जा सकता है, परन्तु परामुक्ति इनकी हुई नहीं। इस प्रकार के किन्हीं-किन्हीं जीवों के, विदेह अवस्था में, विद्यमान रहने पर भी फिर देहप्राप्ति की संभावना रहती है। क्योंकि, उनके मल तो है ही, उसके सिवा कर्म का आवरण भी उनमें रहता है। कर्म का उपयोगी मायिक देह फिर उन्हें धारण करना होगा। वे जीव विशुद्ध माया-स्तर में कैसे रहेंगे? वे विशुद्ध माया के नीचे अशुद्ध माया के स्तरविशेष में रहते हैं। यह जो माया के विभाग की चर्चा की गई है, इस विभाग का चरम विकास त्रिविध स्तरों की पञ्चविध स्तरों में परिणति से होता है। तत्त्व के विकास से पहले कला का विकास आवश्यक है। जैसे, घर बनाने के पूर्व ईंटों का निर्माण आवश्यक होता है एवं ईंटों के निर्माण के पूर्व मिट्टी का संग्रह आवश्यक है, वैसे ही देहात्मक विश्व-रचना के पूर्व विश्व के साक्षात् उपादानभूत तत्त्वों की रचना आवश्यक है एवं तत्त्वों की रचना के पूर्व तत्त्वों के मूल उपादानभूत कला या शक्ति का विकास आवश्यक है।

हमलोग निम्न स्तर की स्थूल दृष्टि से जैसे पञ्चमहाभूतों का अनुभव करते हैं, वैसे ही अतिशुद्ध और सूक्ष्मतम स्तर में भी इन पञ्चभूतों के अनुरूप पञ्चशक्तियों की स्थिति का अनुभव किया जाता है। ये पञ्चशक्तियाँ पञ्चकला के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम नीचे से यदि गिने जायँ, तो निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता हैं। ये पाँच कलाएँ ३६ तत्त्वों के मूल उपादान हैं। निवृत्ति का कार्य पृथिवी है,

प्रतिष्ठा के कार्य जल से प्रकृति-पर्यन्त २३ तत्त्व हैं, विद्या के कार्य पुरुष से माया तक ७ तत्त्व हैं, शान्ति के कार्य शुद्ध विद्या से शक्ति-पर्यन्त ४ तत्त्व हैं एवं शान्त्यतीता से शिवतत्त्व अभिव्यक्त होता है। इस तरह, विश्वसृष्टि के प्रारम्भ में पाँच कला-रूप पाँच विशाल भुवन प्रकट होते हैं। उनमें से प्रत्येक भुवन में असंख्य अन्तर्विभाग रहते हैं। सृष्टि के पहले जीवगत भेद का कोई प्रश्न नहीं था। किन्तु, सृष्टि के साथ-साथ प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषता प्रकट होने पर उनका अपना-अपना क्षेत्र आवश्यक हो पड़ता है। अणुरूपी जीव आदिशक्ति के प्रभाव से विभक्त होकर अपने-अपने भुवनों में स्थान प्राप्त करते हैं। कारणमाया से कार्यमाया का आविर्भाव उस समय भी नहीं होता, यह स्मरण रखना चाहिए। कार्यमाया जीव का आवरण-स्वरूप है। किन्तु, कर्म करते रहना हो, तो यह आवरण रहना आवश्यक है।

परमेश्वर के पाँच कर्म तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। उनका नाम है पञ्चकृत्य या सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह। निग्रह का दूसरा नाम तिरोधान है। दार्शनिक साधारणतः सृष्टि, स्थिति और संहार—इन तीनों की ही गणना करते हैं। किन्तु, सृष्टि के मूल में तिरोधान का एक व्यापार अवश्य ही मानना पड़ता है। तिरोधान या निग्रह शब्द से आत्मस्वरूप का आच्छादन बतलाया गया है। अद्वैतमत में एक अद्वितीय परमेश्वर के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। वे लीला के बहाने अपने को अपनी स्वतन्त्रता के प्रभाव से संकुचित कर अणुरूप धारण करते हैं एवं एक होकर भी बहुरूप धारण करते हैं। यह जो अणुभाव या आत्मसंकोच है, यही आणव मल के नाम से प्रसिद्ध है। वे स्वरूप में पूर्ववत् अक्षुण्ण रहकर भी लीलारूप से संकोच-ग्रहण करते हैं। क्योंकि, यहीं से उनके अभिनय का सूत्रपात होता है। द्वैतमत में अनादि काल से ही आत्मा में एक आवरण विद्यमान रहता है। धान में जैसे चावल और छिलका—दो अंश रहते हैं, वैसे ही आत्मस्वरूप में अनादि काल से एक आवरण भी रहता है। यह आवरण ठीक छिलके के अनुरूप है। इसकी आदि प्रवृत्ति किसी निर्दिष्ट काल में नहीं हुई है, इसलिए इसे अनादि कहा जाता है। द्वैतमत में यह आणव मल एक प्रकार का द्रव्यविशेष है। चक्षु में जैसे परदे का आवरण किसी कारणवश होता है, फिर चिकित्सक के अस्त्र द्वारा वह परदा, परिपाकावस्था प्राप्त होने पर, काटा जाता है, वैसे ही आत्मा के स्वाभाविक शिवत्व के ऊपर यह मलरूप परदा अनादिकाल से विद्यमान रहता है। यही उसका पशुत्व है। आत्मा स्वरूपतः शिवरूप होने पर भी इस परदे के कारण पशु हुआ है एवं शिवभाव के उपयोगी अपरिच्छिन्न ज्ञान और अप्रतिहत क्रिया का स्फुरण उसमें नहीं हो पा रहा है। इस अणु-रूपी परदे के हट जाने पर आत्मा फिर अपने शिवत्व और भगवत्ता को प्राप्त होकर परागति प्राप्त करता है। यह आवरण-रूपी परदा भगवान् की तिरोधान-शक्ति के प्रभाव से ही आविर्भूत होता है। अद्वैतमत में परम शिव स्वयं ही स्वाधीनता से इसका ग्रहण करते हैं एवं स्वरूप से शिव रहकर भी क्रीडा करने के लिए पशु का स्वांग धारण करते हैं। द्वैतमत में इसकी प्रवृत्ति कब से हुई, यह खोजने पर पता नहीं चलता, तथापि वह

भगवान् की निग्रह-शक्ति का व्यापार है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अर्थात्, अद्वैतदृष्टि से एक का बहुत होना एवं बहुत रूपों में अणुभाव ग्रहण करना भगवान् की तिरोधान-शक्ति की क्रिया है। द्वैतमत में बहुत अणु अनादिकाल से स्वभावसिद्ध रूप से विद्यमान हैं। किन्तु, उनके स्वभाव का या स्वरूप का आवरण परमेश्वर की तिरोधान-शक्ति से सम्पन्न होता है।

●

गुरु-तत्त्व और सद्गुरु-रहस्य

'सद्गुरु' शब्द का प्रयोग शास्त्रों में, विभिन्न स्थानों में और विभिन्न प्रसंगों में पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत जगह 'गुरु' और 'सद्गुरु' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है, परन्तु साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी-किसी जगह 'सत्' विशेषण लगाकर गुरुविशेष की असद्गुरु से विलक्षणता बतलाई गई है। अतएव, 'सद्गुरु' से क्या समझा जाना चाहिए और प्रसङ्गतः असद्गुरु कौन है, इसपर भी विचार करना आवश्यक है। इस विषय में शास्त्र का गूढ रहस्य क्या है, उसे जानने की भी स्वाभाविक ही इच्छा होती है। परन्तु, इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए भी शास्त्र का आश्रय ही एकमात्र उपाय है। 'मालिनी-विजय' में है—

……………स यियासुः शिवेच्छया।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति॥

इससे यह सिद्ध होता है कि सद्गुरु का आश्रय प्राप्त किये विना जीव को एक साथ ही भोग और मोक्ष की अभिन्नभाव से प्राप्ति नहीं होती, अर्थात् वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं हो सकता।[१] सद्गुरु-प्राप्ति के मूल में भगवदिच्छा ही मुख्य कारण है और जीव की इच्छा उस मूल भगवदिच्छा की ही अनुगामिनी है, यह उपर्युक्त 'यियासुः

---

१. भोग और मोक्ष की साम्यावस्था ही जीवन्मुक्ति है। 'भोक्ता' जब भोग्य के साथ एकीभूत हो जाता है, तब उस एकीभाव को 'भोग' कहते हैं, 'मोक्ष' भी कहते हैं। 'प्रबोधपञ्चदशिका' में कहा गया है—

'तस्या भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एष यः।
स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम्॥'

वस्तुतः, भोग और मोक्ष की अनुभूति का सामरस्य ही जीवन्मुक्ति है। महेश्वरानन्द के मत से (म० मञ्जरी, पृ० १७१) यही त्रिकदर्शन की विशेषता है। 'श्रीरत्नदेव' में है—

'भुक्तिर्वाप्यथ मुक्तिश्च नान्यत्रैकपदार्थतः।
भुक्तिमुक्ती उभे देवि विशेषे परिकीर्त्तिते॥'

इस अवस्था की—अपनी विश्वात्मकता की—'सर्वो ममायं विभवः' इस प्रकार अनुभूति होती है। यह विश्वात्मकता आत्मा का स्वभाव है, आहार्य या आगन्तुक धर्म नहीं है।

इस भोग और मोक्ष की एकता को बौद्ध भी जानते थे। सहजिया लोग कहते हैं कि वायु के जाने के मार्ग को रोकने और चन्द्र-सूर्य के पथ को निरुद्ध करने पर, उस घोर अन्धकार में मन या बोधिचित्त को दीपक बनाया जा सके तो 'महासुख' का प्रकाश होता है। तब उस जिन-रत्न या वरगगण नामक अध-ऊर्ध्व पद्म को अवधूती स्पर्श करती है, जिसके फलस्वरूप भव और निर्वाण दोनों की एक साथ ही सिद्धि होती है। भवभोग = पाँच प्रकार कामगुण, निर्वाण = महामुद्रासाक्षात्कार।

शिवेच्छया' इस वाक्यांश से प्रकट है। परन्तु, याद रखना चाहिए कि असद्गुरु की प्राप्ति के मूल में भी वह एक भगवदिच्छा ही काम करती है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

परमेश्वर का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करके उनके साथ जिनका तादात्म्य नहीं हो गया है, ऐसे केवल-तत्त्व का उपदेश करनेवाले आचार्य विशेष को 'असद्गुरु' कहते हैं। जिन साधकों के चित्त में इस प्रकार के आचार्य के प्रति गाढ विश्वास है, वे आगम शास्त्रों में बतलाई हुई परामुक्ति को तो प्राप्त होते ही नहीं, माया-राज्य को लाँघने में भी समर्थ नहीं होते। उन्हें जो मुक्ति मिलती है, वह वास्तविक मुक्ति नहीं है—वह तो प्रलय-कैवल्य की भाँति एक अर्धजड अवस्थामात्र होती है। वास्तविक मुक्ति में पशुत्व की निवृत्ति होकर शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु, इन साधकों का पशुत्व उस अवस्था में भी नहीं छूटता।[१] मायापाश अथवा श्रीभगवान् की वामा नाम्नी शक्ति के द्वारा रञ्जित होने के कारण ऐसे साधक में असद्गुरु के प्रति प्रगाढ अनुराग और विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

परन्तु, ऐसी बात नहीं है कि इनमें से किसी-किसी को सद्गुरु की प्राप्ति न होती हो। भगवत्कृपा को प्राप्त—शक्तिपात के द्वारा पवित्रता को प्राप्त—साधक जब अपने स्वरूप-लाभ के लिए व्याकुल हो उठता है, तब ज्येष्ठा शक्ति नाम्नी भगवदिच्छा की[२] प्रेरणा से उसके चित्त में सद्गुरु की प्राप्ति के लिए शुभ इच्छा जग उठती है। यही इच्छा 'शुद्ध विद्या के विकास' और 'सत्तर्क' के नाम से प्रसिद्ध है।

असद्गुरु हो या सद्गुरु—दोनों की ही प्रवृत्ति के मूल में है भगवदिच्छा। असल बात यह है कि शक्तिपात की प्रवृत्ति क्रमिक होती है। इसी से कोई-कोई साधक असद्गुरु और अपूर्ण तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र का आश्रय लेकर उसके पश्चात् सद्गुरु के आश्रय को प्राप्त होता है, और कोई-कोई पहले से ही सद्गुरु की कृपा प्राप्त कर लेते हैं। शक्तिपात की विचित्रता के कारण ही, गुरु और शास्त्रगत

१. आगम-सम्मत परामुक्ति ही पूर्णत्व है। आगम के मत में न तो सांख्य का 'कैवल्य' पूर्णत्व है और न वेदान्त की मुक्ति ही। द्वैत और अद्वैत दोनों ही आगमों में इसका समर्थन मिलता है। जयरथ (तन्त्रालोक टीका ४।३१) कहते हैं, वेदान्त की मुक्ति सवेद्य प्रलया-कल की अवस्था के सदृश है। वे इस मुक्ति को 'विज्ञान-कैवल्य' के समान भी नहीं मानते। इससे अनुमान होता है कि उनके मतानुसार इस अवस्था (वेदान्त की मुक्ति) में आणव मल पूर्णरूप से वर्त्तमान रहता है। वह ध्वंसोन्मुख भी नहीं हो सकता। परन्तु, विज्ञान-कैवल्य में आणव मल कम-से-कम ध्वंसोन्मुख तो होता ही है—अवश्य ही सर्वथा ध्वंस भी हो सकता है। 'विज्ञानकेवली' की कर्म न होने के कारण, पुनरावृत्ति नहीं होती—आणव मल ध्वंसोन्मुख होने के कारण उससे कर्मों की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। वेदान्त-मोक्ष में पुनरावृत्ति निवृत्ति नहीं होती। कोई-कोई वेदान्त-मोक्ष को 'विज्ञानकैवल्य' के सदृश मानते हैं। वैष्णवादि का मोक्ष इस मत के अनुसार प्रलयाकल की तरह का है। उस स्थान में दीर्घकाल तक भोग होता है—फिर (नई सृष्टि में) जन्म होता है। न्यायादि का अपवर्ग आत्मा का सर्वविशेषोच्छेद होने के कारण अपवेद्य प्रलयाकल के सदृश है।

२. इस बात को सभी ने माना है कि भगवान् की कृपा से सद्गुरु की प्राप्ति होती है।

सद्भावों की विचित्रता होती है। जो शास्त्र या गुरु परिपूर्ण तत्त्व को प्रकट नहीं करते, वे ही माया या वामाशक्ति के द्वारा अधिष्ठित होने के कारण असत् शास्त्र या असद्गुरु कहलाते हैं। पूण सत्य के प्रतिपादक शास्त्र और गुरु ही सत् शास्त्र और सद्गुरु हैं। वास्तविक मोक्ष न होने पर उसे मोक्ष मानने और उसी को प्राप्त करने की स्पृहा होने में, एकमात्र माया ही कारण है। यह माया ही इस प्रकार जीव को इधर-उधर विभिन्न दिशाओं में भटकाकर कष्ट देती है। परन्तु, माया के पीछे-पीछे भगवान् की करुणा भी जाग्रत् रहती है। इसी से साधक का चित्त दृढ संस्कारवश असत् शास्त्र और असद्गुरु में आस्थावान् होने पर भी उसमें भगवत्कृपा से सत्तर्क और परामर्शज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। उस समय क्या सार है और क्या असार, इसे समझने में कोई कष्ट नहीं होता। इस प्रकार, शुद्ध विद्या के प्रभाव से—ज्येष्ठाशक्ति के अधिष्ठानवश—पवित्रता की प्राप्ति होती है और विना किसी विघ्न के सत्पथ का आश्रय प्राप्त करने की शक्ति पैदा हो जाती है।

[२]

सत्तर्क या शुद्ध विद्या का उदय कैसे हो ? किरणागम के मतानुसार किसी में गुरु के उपदेश द्वारा, तो किसी में शास्त्र के द्वारा सत्तर्क की उत्पत्ति होती है। परन्तु, ऐसे उत्तम साधक भी होते हैं, जिनमें गुरु के उपदेश या शास्त्रादि की अपेक्षा नहीं होती और अपने-आप ही सत्तर्क या शुद्ध विद्या का उदय हो जाता है। इनमें वस्तुविषयक सुनिश्चित ज्ञान अपने से (स्वतः) ही उत्पन्न होता है—वह गुरु आदि के अधीन नहीं होता।[1] यह ज्ञान जैसे स्वभावसिद्ध होता है, वैसे ही इस प्रकार का साधक भी स्वभावसिद्ध (सांसिद्धिक) होता है। परन्तु, ऐसी बात भी नहीं समझनी चाहिए कि वह ज्ञान सर्वथा निमित्तहीन ही है। क्योंकि, भगवान् का शक्तिपात आदि अदृष्ट निमित्त तो अवश्य ही होता है। यह सत्य है कि इसमें कोई लौकिक निमित्त नहीं होता। परामर्श-उदय की पूर्वोक्त कारण-परम्परा में गुरु से शास्त्र श्रेष्ठ है और शास्त्र से स्वभाव। क्योंकि, गुरु जैसे शास्त्राधिगम के लिए उपाय-रूप हैं, वैसे ही शास्त्र भी स्वभाव-प्राप्ति का द्वारभूत हैं। इसीलिए, गुरु और शास्त्र की कारणता गौण है, मुख्य नहीं। स्वभाव ही मुख्य कारण है।[2]

१. त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड में है—'उत्तमानां तु विज्ञानं गुरुशास्त्रानपेक्षणम्'। कहा जाता है कि वामदेव, कर्कटिका एवं अन्यान्य अकृतश्रवण व्यक्तियों का ज्ञान इस प्रकार सांसिद्धिक ही था। आत्मा के स्वरूप में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद नहीं है; वह परममुक्तरूप, सङ्कल्प-विकल्प और मोह से हीन है। नित्य सिद्ध होने पर भी जीव इसको नहीं जानता। उसे उपलक्षण या परिचय नहीं है। गुरु और शास्त्र परिचय करा देते हैं। किसी-किसी को अपने-आप ही परिचय हो जाता है।

२. योगवासिष्ठ में है—'शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः' (निर्वाणप्रकरण, १।१२८।१६३)। अर्थात्, गुरुवाक्य से जो बोध पैदा होता है, उसमें शिष्य की प्रज्ञा ही कारण है। अतएव, गुरु और शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान में भी स्वपरामर्श ही प्रधान है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

[३]

जिसका सत्तर्क स्वभावतः (अपने-आप ही) उदित होता है, उसके अधिकार में बाधा पहुँचा सके, ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है। उसको बाह्य दीक्षा और बाह्य अभिषेक की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं संवित्ति देवियों के द्वारा ही दीक्षित और अभिषिक्त होती है। उसकी अपनी इन्द्रियाँ ही अन्तर्मुखी होकर प्रमाता के साथ—उसके स्वात्मा के साथ—ऐक्य सम्पन्न करा देती है। यही द्योतनकारिणी संविद् देवियाँ हैं। ये उसके ज्ञानक्रियाख्य प्रसुप्त चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। यही दीक्षा है। जिस क्रिया के फलस्वरूप वह सर्वत्र स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, वही अभिषेक है। बहिर्मुख चित्त की वृत्तियाँ ही अन्तर्मुख अवस्था में 'शक्ति' कहलाती हैं। इस प्रकार का साधक सारे आचार्यों में श्रेष्ठ माना जाता है। उसकी विद्यमानता में दूसरा कोई भी परानुग्रह आदि कार्यों का अधिकारी नहीं होता। साधारण साधक-गुरु से शास्त्र-रहस्य जाना जाता है। परन्तु, जिसका ज्ञान स्वभावसिद्ध है, उस सत्तर्क से समस्त शास्त्रों का अर्थ समझा जा सकता है, बाह्य गुरु की सहायता उसके लिए आवश्यक नहीं होती। ऐसा,कोई सत्य न तो है और न हो सकता है, जो शुद्ध विद्या की ज्योति से प्रकाशित न हो सके। इसीलिए, इस प्रकार का साधक किसी लौकिक निमित्त का आश्रय लिये विना ही सारे शास्त्रों के गूढ रहस्य को जान लेता है। यही प्रातिभ महाज्ञान की विशेषता है।

यहाँ जिस स्वभावज महाज्ञान की बात कही गई है, वह महाज्ञान वस्तुतः एक होने पर भी उपाधिभेद से, अर्थात् भित्ति और उसके अंश के भेद से अनेक प्रकार का हो सकता है। जिसके आश्रय (उपजीव्य) से ज्ञान का उदय होता है, उसे तत्तदाश्रयी ज्ञान की भित्ति कहते हैं। यह अपने विमर्श और परकृत तत्तत् कर्म के अभिधायक शास्त्र को छोड़कर और कुछ नहीं है। स्वभावसिद्ध ज्ञान किसी का भी आश्रय करके उदित नहीं होता, इसी से उसे भित्तिहीन कहा जाता है। परन्तु, किसी-किसी जगह यह भित्तिविशिष्ट भी हो सकता है। वह कैसे होता है, इसी पर विचार करना है।

जिनके स्वतः ही सत्तर्क का उदय होता है, उनके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और उनमें पूर्ण शिवभाव का आविर्भाव होता है। उनको सांसिद्धिक गुरु कहा जा सकता है। उनको अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। कारण,वे आत्मा में कृतकृत्य होते हैं, इसलिए दूसरे पर अनुग्रह ही उनका एकमात्र प्रयोजन रहता है।

स्वं कर्त्तव्यं किमपि कलयँल्लोक एष प्रयत्नाद्
नो पारक्यं प्रतिघटयते काञ्चन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुरतरमिदंलोककर्त्तव्यमात्रम्॥

अर्थात्, योगभाष्यकार व्यासदेव ने ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वही इस प्रकार के सांसिद्धिक गुरु के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है—

तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्।

इस परानुग्रह को ग्रहण करनेवाले अपनी-अपनी योग्यता के तारतम्य से विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। जो शिष्य निर्मल संवित्-सम्पन्न या शुद्धचित्त होता है, उस पर अनुग्रह करने के समय गुरु को किसी उपकरण का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती। वे केवल निष्काम (अनुसन्धानहीन) दृष्टि के द्वारा ही इस प्रकार के अनुग्रह चाहनेवाले योग्य शिष्य पर अनुग्रह कर देते हैं। निजबोधरूप स्व-शक्ति के सञ्चार द्वारा शिष्य को अपने साथ समभावापन्न कर लेना ही अनुग्रह का लक्षण है।

तं ये पश्यन्ति तादूरूप्यक्रमेणामलसंविदः।
तेऽपि तद्रूपिणस्तावत्येवास्यानुग्रहात्मता॥

इस प्रकार के निष्काम शिष्य पर अनुग्रह करने में उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। यह निर्मित्तिक ज्ञान का उदाहरण है।

परन्तु, अनुग्राह्य शिष्य यदि वैसा निर्मल संवित्-सम्पन्न नहीं होता, तो उपकरण की आवश्यकता होती है। अर्थात्, ऐसे अवसर पर सांसिद्धिक गुरु में 'मैं इस पर इस प्रकार अनुग्रह करूँगा' ऐसी अनुसंधानमूलक प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी से बाह्य उपकरणों की आवश्यकता होती है और शास्त्रीय मर्यादा का आश्रय लेना पड़ता है। इसी से गुरु स्वयं परमेश्वररूप होने पर भी उपायभूत शास्त्रादि के श्रवण और अध्ययन के प्रति आदर दिखलाते हैं। अनुग्रह चाहनेवाले अशुद्धचित्त शिष्य भाँति-भाँति के होते हैं, इसी से उनकी विभिन्न मानसिक प्रकृति के अनुसार आवश्यक उपकरण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ऐसे प्रसंग में जिन शास्त्रों में इन उपकरणों का वर्णन है, उनकी भी आवश्यकता होती है, नहीं तो परानुग्रह किया नहीं जाता। मनुष्य के चित्त भिन्न-भिन्न हैं, इसीलिए शास्त्रों के भी विभिन्न प्रकार हैं। ठीक वैसे ही, जैसे रोगों की विभिन्नता के कारण औषध में भेद होता है :

यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत्॥

इसीलिए भित्ति को सर्वगत कहा जाता है। परन्तु, कोई-कोई किसी निर्दिष्ट शास्त्र के अनुसार तदुचित अनुग्राह्य शिष्यों पर कृपा किया करते हैं। यहाँ भित्ति अंशगत होती है। इतना ही नहीं, उन-उन शास्त्रात्मक अंशों में भी मुख्य और अमुख्य (गौण) का भेद है—जैसे वेद और आगम; अथवा वेद, स्मृति और पुराण। फिर, आगम में भी वाम, दक्षिण, कौल, त्रिक आदि हैं। यहाँ किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार शास्त्रीय मर्यादा की रक्षा करानेवाले गुरु स्वभावसिद्ध प्रातिभज्ञानविशिष्ट नहीं हैं। वस्तुतः, गुरु को अपने लिए कुछ भी कर्त्तव्य न होने के कारण उन्हें स्वार्थ-सम्पादन के लिए किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। दूसरों के लिए ही इन सबकी अपेक्षा है।

इससे यह प्रतीत होता है कि गुरु स्वयं स्वतन्त्र और सांसिद्धिक परामर्शविशिष्ट होने पर भी उनके अनुग्रह-प्रदर्शन का प्रकार शिष्यों के अधिकारानुसार भाँति-भाँति का होता है। निर्मलचित्त अनुग्राह्य शिष्य के लिए अनुग्रह निरुपाय होता है, और दूसरों के

लिए सोपाय।[१] ये सांसिद्धिक गुरु ही 'अकल्पित' गुरु कहलाते हैं। इन्होंने दूसरे आचार्य की सहायता से सिद्धि नहीं पाई है, इसी से इनको 'अकल्पित' कहते हैं।[२] इन गुरुओं के सम्बन्ध में शास्त्रवाणी है—

अदृष्टमण्डलोऽप्येवं यः कश्चिद् वेत्ति तत्त्वतः।
स सिद्धिभाग् भवेन्नित्यं स योगी स च दीक्षितः॥
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी।
दीक्षा भवेदिति प्रोक्तं तच्छ्रीत्रिंशकशासने॥

[क] 'अकल्पित' गुरु के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। सांसिद्धिक होने पर भी जिनमें स्वयं उद्भूत ज्ञान की पूर्णता नहीं होती, परन्तु उसके लिए किसी गुरु की अपेक्षा न करके, जो 'मैं ही परमहंस हूँ' इत्यादि प्रकार से केवल अपनी भावना के बल से शास्त्रज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें 'अकल्पितकल्पक' कहते हैं। उनका ज्ञान सांसिद्धिक है, इसलिए वे 'अकल्पित' हैं और आत्मभावना के बल से उन्हें शास्त्रज्ञान प्राप्त हुआ है, इसलिए 'कल्पित' हैं। इसी से उनका ऐसा नाम है। शक्तिपात-रूपी उपाय के तीव्रतादि भेद से गुरु अनेक प्रकार के हुआ करते हैं।

इन सबके स्वयं प्रवृत्त ज्ञान की पूर्णता केवल आत्मभावना-रूप निमित्त से ही होती है, सो बात नहीं है। ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत, होम आदि अन्यान्य निमित्तों द्वारा भी हो सकती है। इन सब विभिन्न उपायों के प्रभाव से इस महाज्ञानी को अकृत्रिम (अकल्पित) महान् अभिषेक प्राप्त होता है—शास्त्रज्ञानादि में अधिकार प्राप्त होता है। यह अभिषेक गुरु आदि के द्वारा अनुष्ठित नहीं होता।

[ख] इसके अतिरिक्त 'कल्पित' और 'कल्पिताकल्पित' गुरु भी होते हैं। जिनके सत्तर्क का उदय अपने-आप नहीं होता, उन्हें किन्हीं अकल्पित या अन्य गुरु को

१. बोधिचित्तविवरण में कहा गया है—'देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा' इत्यादि। बौद्ध लोग भी कहते हैं कि शिष्यों की योग्यता के अधिकार-भेद से ही गुरुओं के उपदेश पृथक्-पृथक् होते हैं। अवश्य ही आपातदृष्टि से उपदेश में भेद दीखने पर भी सारे सद्गुरुओं का मूल उपदेश एक ही हैं।

२. प्रतिभ ज्ञान अकृत्रिम है, अकल्पित गुरु ही अकृत्रिम हैं। कोई-कोई जो गुरु आदि की सहायता के बिना ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यह तन्त्रसम्मत है। यह यदि तीव्र-तीव्र शक्तिपात के फलरूप होता है, तो साथ-ही-साथ 'शिवत्व' की प्राप्ति हो जाती है—देह रह भी सकता है, नहीं भी। देह रहने पर भी वह शिवदेह होता है, उसमें प्रारब्ध नहीं रहता। वह स्वच्छन्दावस्था है। यदि मध्य-तीव्र शक्तिपात के फलरूप होता है तो, प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाता है—बाह्य गुरु की आवश्यकता नहीं होती। बौद्धधर्म में भी कुछ-कुछ ऐसा ही माना है। श्रावक से प्रत्येक बुद्ध की यही विशेषता है कि वह 'अनाचार्यक' है—भीतर से ही ज्ञान पाता है, उसे गुरु की अपेक्षा नहीं होती। श्रावक बाह्य गुरु की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञानशाली है। परन्तु, यह भी ठीक-ठीक अकल्पित गुरु के सदृश नहीं है। कारण प्रत्येक-बुद्ध हेतुप्रत्यय के विचार द्वारा अपना परिनिर्वाण चाहता है। अकल्पित गुरु इससे बहुत ऊपर हैं। अवश्य ही महायान का साधक अकल्पित से मिलता-जुलता-सा है। वह साधक सारे जीवों की मुक्ति के लिये बिना ही गुरु के बुद्धत्व या सर्वज्ञत्व और सर्वसामर्थ्य चाहता है।

भक्तिपूर्वक यथाविधि सेवा करके प्रसन्न करना पड़ता है और शास्त्रसम्मत क्रम के अनुसार उनसे दीक्षा लेकर शास्त्रार्थ-ज्ञान को प्राप्त करना पड़ता है। इस प्रकार, गुरु-आराधन के क्रम से उनमें शुद्ध विद्या का उदय हो सकता है। यही आगे चलकर अभिषेक प्राप्त होने पर परानुग्रह आदि का अधिकार पाते हैं। इनको 'कल्पित' गुरु कहते हैं। परन्तु, कल्पित, अर्थात् दूसरे आचार्य के द्वारा निष्पादित होने पर भी इनमें समस्त पाशों को पूर्ण रूप से काट देने की शक्ति होती है।

[ग] कोई-कोई 'कल्पित' होनेपर भी गुरु आदि की अपेक्षा न करके अपनी प्रतिभा के बल से ही अकस्मात् लोकोत्तर शास्त्रीय तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेते और उसका रहस्य समझ लेते हैं। 'कल्पित' होने पर भी इनका बोध स्वतः प्रवृत्त होने के कारण ये 'अकल्पित' होते हैं। इसी से ऐसे गुरु को 'कल्पिताकल्पित' कहते हैं। इनमें कल्पितांश की अपेक्षा अकल्पित भाग ही श्रेष्ठ होता है।

[घ] पूर्वोक्त विवरण से समझा जा सकता है कि ये चारों प्रकार के गुरु कल्पित और अकल्पित—इन दोनों भेदों का परस्पर मिश्रणजनित अवान्तर विभाग हैं। फलतः कल्पित और अकल्पित गुरु में कोई भेद नहीं है। कल्पित गुरु भी शिष्य का पाशच्छेदन करके शिष्यत्व की अभिव्यक्ति कर सकते हैं। कारण, स्वयं परमेश्वर ही आचार्य-देह में अधिष्ठित होकर बन्धन खोलते हैं—नहीं तो एक जीव दूसरे जीव का उद्धार नहीं कर सकता। शास्त्र में कहा गया है—

यस्मान्महेश्वरः साक्षात् कृत्वा मानुषविग्रहम्।
कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः॥

अर्थात्, स्वयं महेश्वर ही मानुष-मूर्त्ति धारण करके कृपापूर्वक गुरु-रूप से (माया-) मग्न जीवों का उद्धार करते हैं।

यहाँ हम मनुष्य-गुरु की चर्चा कर रहे हैं। वस्तुतः, सिद्धगुरु और दिव्यगुरु भी हैं। अवश्य ही सबके मूल में तो एकमात्र परमेश्वर ही अनुग्राहक हैं। उनके सिवा और कोई भी अनुग्रह नहीं कर सकता।

गुरु का प्रकार-भेद तो ज्ञानेन्द्रियादि के प्रणाली-भेद के कारण है। किसी भी उपाय से हो या विना उपाय से, ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। ज्ञान होने पर कार्य होगा ही। अग्नि चाहे लकड़ी से लकड़ी घिसकर जलाई जाय, चाहे जलती अग्नि से स्पर्श करके जलाई जाय—दाहिका शक्ति दोनों में समान ही होती है। तथापि, दोनों अग्नियों में कुछ भेद माना जाता है। इसीलिए फल और सामर्थ्य में अभेद होने पर भी ऊँचा आसन अकल्पित गुरु को ही दिया जाता है।

नित्यसिद्ध परमशिव में और बन्धन से मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त होनेवाले में सर्वज्ञत्वादि सामर्थ्य समान होने पर भी जैसे परम शिव का उत्कर्ष अधिक मानना पड़ता है, वैसे ही अकल्पित गुरु की महिमा भी स्वीकार करनी पड़ती है। वस्तुतः, अकल्पित गुरु के सामने कल्पितादि गुरु या तो चुपचाप निष्क्रिय बने बैठे रहते हैं अथवा उनका अनुवर्त्तन करते हैं।

[४]

वैदिक शास्त्र की तरह 'आगम' में भी श्रौत, चिन्तामय और भावनामय—इन तीन प्रकार के ज्ञान का वर्णन मिलता है।[१] इनमें पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञान में हेतु है। विक्षिप्त चित्त के शास्त्रार्थ-ज्ञान को 'श्रौतज्ञान' कहते हैं। यह सब से निकृष्ट है। शास्त्रार्थ की आलोचना करके 'यहाँ यही उपयोगी है' इस आनुपूर्वी के द्वारा व्यवस्था करना 'चिन्तामय ज्ञान' है। यह मन्दाभ्यस्त और स्वभ्यस्त भेद से दो प्रकार का है। स्वभ्यस्त चिन्तामय ज्ञान से 'भावनामय ज्ञान' उत्पन्न होता है, जिसको पण्डितों ने मोक्ष का एकमात्र कारण माना है। वस्तुतः, यही श्रेष्ठतम ज्ञान है। इसी से योग और योगफल की प्राप्ति होती है। भावनामय ज्ञान न होने पर अशुद्ध शिष्य को मायिक तत्त्व से उद्धार करके इच्छानुसार सकल सदाशिव में अथवा निष्कल परमशिव में मुक्त करना सम्भव नहीं है। अर्थात्, गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी होने पर भी यदि वह भावना-विशेष के अभाव से उक्त तत्त्व-विशेष का साक्षात्कार न करके अशुद्ध ही बना रहता है तो वह पूर्वोक्त प्रकार से उद्धार और योजन करने में समर्थ नहीं होता। परन्तु, सिद्ध-योगी मायिक तत्त्वों की सिद्धि प्राप्त करके भी सदाशिवादि उत्तम पद का स्वभ्यस्त ज्ञानी होने के कारण योजना कर सकता है। यद्यपि योगी उन-उन तत्त्वों की सिद्धि प्राप्त करता है, तथापि योगबल से शिष्यों की उन-उन तत्त्वों में योजना नहीं कर सकता। कारण, निम्न स्तर के तत्त्वों की योगज-सिद्धि मुक्ति का उपाय नहीं है।

प्रश्न यह है कि जिसके प्रभाव से योगी सारे जगत् का बन्धन काट सकता है, वह सदाशिवादि से उच्चस्तर के तत्त्व की योगसिद्धि उसे क्यों नहीं होती? इसका समाधान यह है कि यद्यपि योगी की भाँति ज्ञानी भी अभ्यासहीन है, तथापि ज्ञानी सर्वथा स्वभ्यस्त भावना के विज्ञान-प्रसंग में शिव-भाव को प्राप्त हो गया है, इसलिए वह दीक्षादि क्रम में योगी की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

इस विषय को अच्छी तरह समझने के लिए योगी के प्रकार-भेद के सम्बन्ध में भी कुछ साधारण ज्ञान होना आवश्यक है। आगम के मतानुसार संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध भेद से योगी चार प्रकार के होते हैं। जिस साधक ने योग का उपदेशमात्र पाया है, उसे 'संप्राप्त' और योगाभ्यास में भली भाँति लगे हुए साधक को

सुन्दरदासजी ने अपने 'ज्ञान-समुद्र' नामक ग्रन्थ में ध्यान के वर्णन-प्रसंग में पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यह क्रम माना है (श्लो०७६–८४)। जैनग्रन्थों में इन चार ध्यानों की बात मिलती है। इसके द्वारा जाना जाता है कि पूर्ण और शुद्धतम ज्ञान ही गुरु का लक्षण है।

१. बौद्धग्रन्थों में भी श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा का वर्णन है। शान्तिदेव के 'बोधिचर्यावतार' की प्रज्ञाकर-कृत पञ्जिका नाम्नी टीका में इस प्रज्ञा को भूमिप्रविष्ट-प्रज्ञा से पृथक् किया गया है। 'अभिधर्मकोश' में भी श्रौत ज्ञानादि का विवरण है। वैभाषिक मत से श्रुतमयी प्रज्ञा का विषय 'नाम', चिन्तामयी प्रज्ञा का विषय 'नाम' और 'अर्थ' एवं भावनामयी प्रज्ञा का विषय केवल 'अर्थ' है। सौत्रान्तिक मत से श्रुतप्रज्ञा = आप्तप्रमाणजनिश्चय; चिन्ताप्रज्ञा = युक्तिनिध्यानज-निश्चय; भावनाप्रज्ञा = समाधिजनिश्चय है। जो शीलवान् और श्रुतचिन्ता-प्रज्ञावान् है, वही भावना का अधिकारी है। (देखिए—अभिधर्म-कोश ६)।

'घटमान' कहते हैं। ये दोनों प्रकार के साधक जब स्वयं ही योग अथवा ज्ञान में सुप्रतिष्ठ नहीं हैं, तब दूसरे का उपकार करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? परन्तु, जिनका योग सिद्ध हो गया है, उनमें स्वभ्यस्त ज्ञान भी अवश्य ही होता है। इस ज्ञान के द्वारा वे दूसरे को मुक्त कर सकते हैं—अन्य प्रकार से अर्थात् सिद्धि के प्रभाव से नहीं। योगी और ज्ञानी में यही सर्वश्रेष्ठ हैं; कारण, योगी होकर भी ये ज्ञानी हैं। जो सुसिद्ध योगी हैं, व्यवहार-भूमि से अतीत हैं, वे किसी समय भी अपने स्वरूप से स्खलित नहीं होते। वे किसी भी स्थान में रहें, कैसा भी फल-भोग करें—सदा निर्विकार रहते हैं। वे नररूपी विरूपाक्ष हैं। सकलाधार सिद्धि एकमात्र उन्हीं में प्रकट होती है। परन्तु वे गुरु-भाव का अवलम्बन करके साक्षात् रूपसे मर्त्यगणों को मुक्त नहीं करते—विघ्नेश्वर-गणों के द्वारा करते हैं।

अतएव, ज्ञान और योग का विचार करके 'मालिनीतन्त्र' में कहा है कि मुमुक्षु के लिए स्वभ्यस्त ज्ञानवान् गुरु ही श्रेष्ठ हैं। इसीलिए 'स्वभ्यस्त विज्ञान' ही गुरु का एकमात्र लक्षण है—'योगित्व' नहीं।

परन्तु योगी गुरु भी हैं। यह सत्य है कि निरे योगी की अपेक्षा ज्ञानी श्रेष्ठ है। कहाँ ज्ञानी गुरु करना चाहिए और कहाँ योगी गुरु, एवं कहाँ-कहाँ इनको न करना चाहिए, इस विषय में आचार्य अभिनव के गुरु शम्भुनाथ ने निज मुख से कहा है कि 'जो शिष्य मोक्ष और ज्ञान चाहता है, उसके लिए स्वभ्यस्त ज्ञानी गुरु की आवश्यकता है। अन्य प्रकार के गुरु प्राप्त होने पर भी उसके लिए ऐसे गुरु का होना अपरिहार्य है। कारण—

आमोदार्थी यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत्॥

जो गुरु विज्ञान-दान में समर्थ नहीं है, वह शक्तिहीन है। जो अज्ञ है, वह दूसरे को ज्ञान कैसे दे सकता है? यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'भावना ही तो मुख्य है, अज्ञ गुरु के द्वारा भी शिष्य की भावना के कारण उत्तम फल हो सकता है। अतएव, अज्ञ प्राप्त गुरु के त्याग की क्या आवश्यकता है?' जो उत्तरोत्तर उत्कर्ष देखकर भी अधम पद पर स्थित रहता है वह अभागा है। जो भोग, मोक्ष और विज्ञान चाहता है, उसका गुरु स्वभ्यस्त ज्ञानी योगसिद्ध ही होना चाहिए। यही तीसरे प्रकार का योगी है। जो मोक्ष और विज्ञान चाहता है, उसका गुरु ज्ञानी होना चाहिए। इस गुरु से भोगसिद्धि नहीं होती। जो मितयोगी है, अर्थात् जो 'घटमान' और 'सिद्ध' अवस्था के बीच का है, वह गुरु होने पर केवल भोगांश दे सकता है, मोक्ष और विज्ञान नहीं दे सकता। केवल 'संप्राप्त' और 'घटमान' अवस्था में स्थित योगी तो शिष्य को, मोक्ष और विज्ञान की बात बहुत दूर है, भोगमात्र भी नहीं दे सकता। यह तो केवल उपाय बतला सकता है। जो मितयोगी भी नहीं है, ऐसे योगाभ्यासी की अपेक्षा मितज्ञानी भी गुरु की दृष्टि से श्रेष्ठ है; क्योंकि, वह ज्ञान के साधनों का उपदेश देकर शिष्य को क्रमशः मुक्त कर सकता है।

गुरु यदि ऐसे मितज्ञानी हों, तो शिष्य को क्या करना चाहिए ? एक ही पूर्ण ज्ञानी गुरु या सद्गुरु न मिलने की अवस्था में साधक को चाहिए कि वह भिन्न-भिन्न परिमितज्ञान गुरुओं से अंशांशिक क्रम से ज्ञान ले-लेकर अपने आत्मा में अखण्डमण्डल पूर्ण ज्ञान का सम्पादन करे। एक ही मितज्ञानी से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव अपने ज्ञान की पूर्णता के लिए विशेष प्रयत्न के साथ असंख्य गुरु करने की आवश्यकता होती है। इसमें प्रत्यवाय नहीं होता।

सद्गुरु की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह के विना नहीं होती। जहाँ तीव्र शक्तिपात होता है, वहाँ पूर्ण ज्ञानसम्पन्न ऐसे गुरु मिल जाते हैं, जिनकी कृपामात्र से स्वात्म-विज्ञान का पूर्ण रूप से उदय हो जाता है। फिर, बार-बार गुरु करने की आवश्यकता नहीं रहती।

●

दीक्षा-रहस्य

[१]

विषय-सूचना—दीक्षा तथा गुरु-तत्त्व के विषय में वर्त्तमान समय में आध्यात्मिक तथा अनुशीलनकारियों के बीच में भी सर्वत्र स्पष्ट धारणा नहीं दीख पड़ती। किसी के मत में तो दीक्षा तथा गुरु की कोई आवश्यकता ही नहीं है, परन्तु कोई-कोई समझते हैं कि साधन-राज्य में दीक्षा का प्रयोजन है और पथप्रदर्शक के रूप में गुरु की भी आवश्यकता है। इस प्रकार के स्थूल मतभेदों के अतिरिक्त इस विषय में नाना प्रकार के सूक्ष्म मतान्तर भी विद्यमान हैं। मेरे विचार से तो दीक्षा तथा गुरु-तत्त्व के विषय में स्पष्ट बोध रहने से विभिन्न मतों के समन्वय की प्रणाली उपलब्ध हो सकती है। जो लोग दीक्षा को स्वीकार नहीं करते, वे भी बाह्य अनुष्ठानात्मक दीक्षा को लक्ष्य करके ही अपने मत का प्रचार करते हैं। वे नहीं जानते कि इन्द्रियगोचर बाह्य आचरण को छोड़कर भी दीक्षा-कार्य निष्पन्न हो सकता है। परन्तु, किसी-किसी अवस्था में स्थूल प्रक्रिया की भी अपरिहार्यता माननी ही पड़ती है। इसी प्रकार 'गुरु' शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है—इस विषय में जबतक स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, तबतक गुरु के विषय में भी विभिन्न प्रकार के विकल्पों का उदय होता है। अधिकार के अनुसार बाह्य गुरु की आवश्यकता होती है। परन्तु क्षेत्रविशेष में बाह्य गुरु का आश्रय किये विना भी इष्टसिद्धि हो जाती है। 'बाह्य गुरु' शब्द से मानवगुरु, सिद्धगुरु अथवा दिव्यगुरु—तीन प्रकार की गुरुपंक्तियों के अन्तर्गत कोई महापुरुष समझा जा सकता है। अथवा लौकिक दृष्टि से साधारण मनुष्य भी समझा जा सकता है। किसी-किसी का मत है कि भगवान् के साथ जीव का विश्वास और भक्तिमूलक साक्षात् सम्बन्ध है। इसमें किसी की मध्यस्थता (Mediation) की आवश्यकता नहीं है। भगवान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न एवं दयालु हैं। अतएव, उनकी अकृपा के विना उनसे साक्षात् रूप से प्राप्त होने में कोई प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। सरल हृदय से आवाहन करने पर जीव अवश्य ही उन्हें प्राप्त कर सकता है, कम-से-कम प्राप्ति के स्थिर मार्ग में पैर तो रख ही सकता है। इसी प्रकार और भी बहुत-से विकल्प हैं। हमें एक-एक करके इनका समाधान करने की चेष्टा न करके दीक्षा तथा गुरु-तत्त्व के विषय में प्राचीन तान्त्रिक आचार्यों के सिद्धान्त का संक्षिप्त रूप से विवेचन करना ही उचित जान पड़ता है। इससे उनका रहस्य समझने में विशेष सुगमता रहने की सम्भावना है।

[२]

दीक्षा का लक्षण और स्वरूप-निरूपण—दीक्षा वस्तुतः आत्मसंस्कार का ही नामान्तर है। आणव, मायीय और कार्म—इन तीन प्रकार के मल अथवा पाशों से

संसारी आत्मा आच्छन्न रहता है। इनके प्रभाव से उसके स्वभावसिद्ध पूर्णत्व के प्रस्फुटित होने का अवसर नहीं आता। आत्मा पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण तथा शिव-स्वरूप होने पर भी आणव मल के कारण स्वरूपगत संकोच से अपने को अपूर्ण समझता है, स्वयं अपरिच्छिन्न होकर भी अपने को सर्वथा परिच्छिन्न अनुभव करता है।[1] यह परिच्छिन्नता अथवा आणवभाव प्राप्त होने के बाद उसमें शुभाशुभ वासनाओं का उद्भव होता है, जिनके विपाक-रूप में जन्म (देह-सम्बन्ध), आयु (देह-स्थितिकाल) और भोग (सुख-दुःखानुभव) अनिवार्य हो जाते हैं। यही कार्ममल है, कर्म से उत्पन्न कञ्चुक-रूप आवरण। कला, विद्या, राग, काल तथा नियति और इनकी समष्टिभूता माया। पुर्यष्टक तथा स्थूलभूतमय विभिन्नजातीय कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देह—इन सब देहों के आश्रयभूत विचित्र भुवन और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों का अनुभव जिसके कारण होता है, उसे मायीय मल कहते हैं।[2] बद्ध आत्मा में इन तीन मलों का आवरण सर्वदा ही रहता है। दीक्षा द्वारा इस मलयुक्त आत्मा का संस्कार होता है। उससे मल-निवृत्ति तो होती ही है, निवृत्ति का संस्कार भी शान्त हो जाता है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्त्तिता॥

अर्थात्, जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का क्षय होता है, ऐसी दान और क्षपणयुक्त क्रिया को 'दीक्षा' कहते हैं। यही दीक्षा का स्वरूप है। शक्तिपात की तीव्रतादि और शिष्य के अधिकार-वैचित्र्य के अनुसार दीक्षा के प्रकार-भेद का निश्चय होता है।[3] पाश का प्रशमन तथा शिवत्व की अभिव्यक्ति की योग्यता दीक्षा से सिद्ध होती है। जिस प्रकार भुना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार मन्त्र की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से प्रभावित पाशों के भी पुनः प्ररोह की सम्भावना नहीं रहती।

जीव को मोक्ष देनेवाला ईश्वर है—पाशों का विच्छेद तथा सर्वज्ञान-क्रिया का उद्भव, अर्थात् सर्वज्ञत्व और कर्त्तृत्व का स्फुरण—यही मोक्ष का स्वरूप है। परमेश्वर स्वयं अपनी क्रियाशक्ति-रूप दीक्षा द्वारा पशु-आत्मा को मुक्त करते हैं। किसी एक या दो

---

१. यही 'अभिलाष' नाम से प्रसिद्ध है। इसको कोई भूल कर भी रागतत्त्व न समझे। 'राग' शब्द से विषयासक्ति समझी जाती है, जिसका प्रकाश 'मुझे कुछ चाहिए', इस रूप में होता है और जिसके सम्बन्ध से ही पुरुष भोक्ता बन जाता है। परन्तु, 'अभिलाष' ऐसा नहीं है। यह केवल अपनी अपूर्णता का बोधमात्र है। यही अन्यान्य मलों की भित्तिस्वरूपा है।

२. शरीर, भुवन, भाव, भूत—जो कुछ स्वरूप में प्रतिभात होता है, सभी मायीय मल के अन्तर्गत है। अपने स्वरूप से भिन्नतया ज्ञपदार्थ का भान ही माया का रूप है। कला से लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त जितने तत्त्व हैं, सभी देहस्थ मायीय पाशरूप है। यह पाश शरीर, इन्द्रिय, भुवन, भाव आदि को भोग-सम्पादन के लिए आकार प्रदान करता है। कला से पृथिवी-पर्यन्त ही संसार है।

३. शक्तिपात के स्वरूप-लक्षण, प्रकार-भेद और चिह्न प्रभृति का वर्णन 'शक्तिपातरहस्य' लेख में किया गया है।

पाशों के विच्छेद को ही मोक्ष नहीं कहा जाता। मोक्षावस्था में अज्ञत्व, अकर्त्तृत्व आदि नहीं रह सकते। ईश्वर से प्रेरित हुए विना पशु स्वयं कुछ नहीं कर सकता, इसलिए उसकी अपनी क्रिया, ज्ञान प्रभृति उपायों से मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रकृति प्रभृति पदार्थ पाश के ही अन्तर्गत हैं। इनसे भी मोक्ष का उदय नहीं माना जा सकता।[१] जीव को मोक्षदान करने में एकमात्र परमेश्वर ही समर्थ है। पूर्ण स्वातन्त्र्य और किसी में भी है नहीं। एक बात और है। सिद्धान्त में मोक्ष मोचनीय जीव की अवस्था-विशेष है, अन्य मतों के समान मोचनकारी वस्तु की अवस्था नहीं है; क्योंकि इस मत में मोचनकारी वस्तु परमेश्वर ही है और उसमें, नित्यमुक्त होने के कारण, किसी भी अवस्था में किसी विशेष का आधान नहीं हो सकता। कोई-कोई आचार्य समझते हैं कि अज्ञान-रूप मल से सम्बद्ध पुरुष ही भ्रान्ति से संसार में परिभ्रमण कर रहा है और वही उसके विरुद्ध भावना के अभ्यास के बल से विवेकज्ञान का उदय होने पर अज्ञान निवृत्त हो जाने से सर्वज्ञत्वादि स्वरूपधर्म प्राप्त करता है। इस मत के अनुसार मोक्ष का कर्त्तृत्व पुरुष को है। ईश्वर केवल अधिष्ठातामात्र है। परन्तु, अधिकांश आचार्य इस मत का समर्थन नहीं करते। उनका कथन है कि धर्माधर्मका कर्त्तृत्व पुरुष में है—यह तो ठीक है, क्योंकि कलाप्रभृतियों से किञ्चित् मात्रा में आत्मा का मल अपसारित हो जानेके कारण उनके सम्बन्ध से पुरुष के ज्ञान और क्रिया यत्किञ्चित् विकसित हो जाते हैं, किन्तु यह विकास इतना अधिक कभी नहीं हो सकता कि जिससे सर्वज्ञत्वादि का भी स्फुरण हो सके। अतः, कलादि के द्वारा पूर्ण मल-निवृत्ति असम्भव होने के कारण पुरुष का कर्त्तृत्वादि भी परिच्छिन्न ही रहता है।

द्वैतमत में मल, अज्ञान एवं उनकी निवृत्ति—द्वैतमत में (आणव) मल अज्ञान

---

१. कोई-कोई पाशों का निवर्त्तन-स्वभाव स्वीकार करते हुए कहते हैं कि पाश अपने स्वभाव से ही निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि जीव अथवा पाशों का स्वतः प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में सामर्थ्य नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा सर्वत्र ही अपेक्षित है। इसलिए मोक्ष का कर्त्तृत्व ईश्वर में ही मानना चाहिए। यह बात सत्य है कि संसार-दशा में कार्य तथा करण-रूपी पाशसमूह नाना प्रकार से आत्मा में ज्ञान और क्रिया की अभिव्यक्ति करते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि मोक्ष के विषय में पाश का स्वयं कर्त्तृत्व हो ही नहीं सकता। मोक्ष अपरिच्छिन्न ज्ञान एवं क्रिया की अभिव्यक्ति है। जिस व्यंजक में जिस प्रकार की व्यंजनाशक्ति प्रतीत होती है, उसे अन्यत्र अज्ञात विषय में भी उसी प्रकार की व्यंजना-शक्ति से युक्त मानना होगा। इसी से कार्य तथा करण के रूप में प्रतीयमान अचेतन पाश में ईश्वर की प्रेरणा तथा स्वतःसिद्ध व्यंजनाशक्ति वर्त्तमान होने पर भी शरीरादि में आत्मबोध के कारण वह ऐसी ही ज्ञान और क्रियाको अभिव्यक्त करेगा, जो अपने आवरणात्मक आकार से सम्बद्ध, स्त्री आदि विषयों के अनुराग से युक्त किसी समय में किसी स्थल में और किसी विषय में राग-द्वेषादिविरुद्ध भावों के द्वारा द्वन्द्वयुक्त तथा शरीरादि के नाश के साथ नष्ट हो जानेवाले हों। मोक्ष पूर्ण ज्ञान-क्रिया है। इसलिए पाशों के द्वारा उसका अभिव्यक्त होना सम्भव नहीं है। दीपक घर को प्रकाशित कर सकता है, इसलिए वह ब्रह्माण्ड को भी प्रकाशित कर देगा, ऐसी बात नहीं है। सिद्ध पुरुषों की ज्ञान-क्रियाशक्ति परमेश्वर की शक्ति के समान ही पाशों को नष्ट कर देती है, पशुओं के समान वह पाशों के द्वारा अभिव्यक्त होनेवाली नहीं है और शरीरादि में आत्मबोध तथा अनुरागादियुक्त भी नहीं है।

नहीं, अपितु अज्ञान का हेतुभूत द्रव्यविशेष है। यह आत्मा के अनादि आवरण का कारण है। जैसी नेत्रों की जाली होती है, वैसा ही यह भी है। द्रव्यरूप होने के कारण यह ज्ञान से नष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान इसका विरोधी नहीं है। यह दीक्षा-रूपा क्रिया के द्वारा ही निवृत्त होता है। मल की निवृत्ति से उसका कार्य अज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। इस मत में अज्ञान दो प्रकार का है—

(क) बुद्धिगत अविवेक—सादृश्य का पूर्वानुभव रहने पर ही ऐसे अज्ञान का उदय हो सकता है, अन्यथा नहीं; जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम। इस प्रकार का अज्ञान 'यह सर्प नहीं है, रज्जु है' ऐसे विवेकज्ञान से निवृत्त हो जाता है।

(ख) विकल्पज्ञान—यह काच, कामल प्रभृति द्रव्यों का सम्बन्ध होने पर होता है। जैसे, द्विचन्द्रज्ञान और पीतशंखज्ञान इत्यादि। इसकी निवृत्ति इसके कारण-भूत द्रव्यों की निवृत्ति से ही होती है, ज्ञान से नहीं होती।

द्वैतमत में आत्मा का अज्ञान द्रव्यहेतुक है—यह बुद्धिगत अविवेकरूप नहीं है। इस द्रव्य को मल कहते हैं, जिसका विशेष विवरण आगमों में अनेक स्थानों में देखा जाता है। ईश्वर दीक्षाव्यापार से इस मल को निवृत्त करते हैं। इसलिए मोक्ष आत्म-कर्तृक नहीं है, ईश्वरकर्तृक है :

दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि।

अर्थात्, दीक्षा ही मुक्त करती है और ऊपर की ओर शिवधाम में भी ले जाती है।

ज्ञान और क्रिया का मौलिक अभेद—वस्तुतः, भगवान् की शक्ति एक और अखण्डित है। यह अभिन्न ज्ञानक्रियात्मिका है। यदि ज्ञान से क्रिया भिन्न होती, तो जैसे ईश्वर में माया का समवाय नहीं माना जाता, वैसे ही इसका भी नहीं माना जाता और ईश्वर को भी क्रियाशक्ति के अभाव के कारण अकर्त्ता ही माना जाता। इस प्रकार कोई कर्ता न रहने के कारण विश्व-रचना की उपपत्ति भी न होती। ज्ञान और क्रिया का भेद कल्पित है। क्रियाशक्ति प्रयत्न-रूप से एक होने पर भी व्यापार-भेद से वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री—तीन प्रकार की मानी जाती है। जगत् के स्थिति एवं संरक्षण-रूप व्यापार रोध अथवा आवरणात्मक हैं और वामाशक्ति के कार्य हैं, संहार ज्येष्ठा का कार्य है और पाशहरण अथवा अनुग्रह रौद्री नाम्नी क्रियाशक्ति का कार्य है।

अनुग्रह की प्रवृत्ति—मल तथा वामाशक्ति के आवरणात्मक अधिकार की निवृत्ति और अनुग्रह की प्रवृत्ति होने पर आत्मा में एक अनिर्वचनीय कैवल्याभिमुख भाव का उदय होता है।

क्षीणे तस्मिन् यियासा स्यात्परं निःश्रेयसं प्रति।[१]

(सूक्ष्मस्वायम्भवतन्त्र)

इस भाव का उदय होते ही जगदुद्धारप्रवण परमेश्वर पशु-आत्माओं के ज्ञान एवं क्रियाओं का आवरण-छेदन कर देते हैं। पशु-आत्मा में भी ज्ञान तथा क्रिया का

१. उस पाश का नाश होने पर परम निःश्रेयस की ओर जाने की इच्छा होती है।

अनन्तत्व रहता ही है, किन्तु आच्छन्नभाव से रहता है। मल के परिपाक से आवरण हट जाने पर उसकी अभिव्यक्ति होती है।

अद्वैतमतानुसार दीक्षा से पूर्णत्वप्राप्ति-पर्यन्त क्रम—अद्वैतवादी तन्त्र के मत से अज्ञान तथा ज्ञान दोनों ही पौरुष एवं बौद्ध भेद से दो-दो प्रकार के हैं। पौरुषज्ञान विकल्पहीन है। यह कृत्रिम अहंकारादि विकल्पात्मक नहीं है, अपितु पूर्णाहन्ता-बोधमय है। परमेश्वर का परमतादात्म्य प्राप्त होने पर ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। इस तादात्म्य-लाभ के पहले ही सारे बन्धन निवृत्त हो जाने चाहिए। बन्धन-निवृत्ति का हेतु पौरुष अज्ञानात्मक आणवमल का तथा कार्म एवं मायीय मलों का क्षय है। दीक्षा के प्रभाव से पौरुष अज्ञान (आणवमल) निवृत्त होता है। परन्तु, देहारम्भक कार्ममल रहने के कारण पौरुषज्ञान का उदय नहीं होता। यह मल ही प्रारब्ध कर्म है। इसके कट जाने पर देहपात होता है। उस समय साक्षात्कारात्मक पौरुष ज्ञान उदित होता है, अर्थात् जीव शिवरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। शक्तिपात की तीव्रता के अनुसार दीक्षा का क्रम भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। तीव्रतम शक्तिपात में अनुपाय-क्रम से दीक्षा होती है, जिससे एक क्षण में ही अपवर्ग की प्राप्ति हो जाती है। शक्तिपात कुछ कम होने से शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्ष आणवी दीक्षाा होती है। दीक्षा के सिवा मुक्ति का कोई और उपाय नहीं है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु बाह्य क्रिया की आवश्यकता सर्वत्र नहीं रहती। आत्मसंस्कार-रूप आन्तर दीक्षा तो अवश्य ही होनी चाहिए। अद्वैत आगमशास्त्रों से जो बौद्धज्ञान उत्पन्न होता है, उसके प्रभाव से बौद्ध अज्ञान और उसका कार्य नष्ट हो जाता है। इससे जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। दीक्षादि से बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। इसी से दीक्षा होने पर भी विकल्प का उदय होना संभव है। बौद्ध ज्ञान होने से विकल्पों का उन्मूलन होता है और सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु, जिस चित्त में विकल्प रह जाता है, उसकी मुक्ति देह रहते हुए नहीं होती है। देह छूटने के बाद ही उसे शिवत्व प्राप्त होता है। विकल्पहीन चित्त की सद्योमुक्ति जीवन्मुक्ति है। विकल्प निवृत्त हो जाने पर देह रहने पर भी मुक्ति में बाधा नहीं होती। अतएव, दीक्षाप्राप्ति से पूर्णत्व-लाभपर्यन्त अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार है—

१. दीक्षा।
२. पौरुष अज्ञान का ध्वंस।
३. अद्वय आगमशास्त्र के श्रवण में अधिकार और उनके श्रवणादि।
४. बौद्ध ज्ञान का उदय।
५. बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति।
६. जीवन्मुक्ति।
७. भोगादि के द्वारा प्रारब्धनाश।
८. देहत्याग के अनन्तर पौरुष ज्ञान का उदय।
९. मोक्ष अथवा परमेश्वरत्व की प्राप्ति।

[३]

भगवान् का जीवोद्धार-क्रम

श्रीभगवान् ही गुरु हैं—भगवान् ही जीव के उद्धारकर्त्ता हैं। जीव को माया-पंक से उठाकर परमपद में स्थापित करने का सामर्थ्य और किसी में नहीं है। इसलिए उन्हीं का सर्वत्र गुरु रूप से वर्णन किया जाता है।[१] योगभाष्य में लिखा है—

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिण उद्धरिष्यामीति।

अर्थात् उसका अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी कल्पप्रलय और महाप्रलय में ज्ञान एवं धर्म के उपदेश द्वारा संसारियों का उद्धार करूँ ऐसा जीवों पर कृपा करना-रूप प्रयोजन है। जीव अनुग्रह-योग्य होने पर ही उनका अनुग्रह प्राप्त करता है, यह सत्य है। इसमें कोई काल-नियम नहीं है।

काल के भेद से जीवोद्धार की प्रणाली का वैचित्र्य—प्रलय-काल में समस्त कार्यवर्ग परमकारण में लीन हो जाता है और जीवों का देह एवं इन्द्रियादि कुछ भी नहीं रहता। परन्तु, इस समय में भी प्रयोजनानुरूप मलपाक हो जाने पर अनुग्रह होने में विलम्ब नहीं होता। सृष्टि-समय की बात भी ऐसी ही है। परन्तु, दोनों में किसी-किसी अंश में कुछ वैलक्षण्य है। जिन जीवों का कर्मक्षय नहीं हुआ है, वे प्रलयाकल अणुरूप में प्रलय-समय में माया के गर्भ में लीन हो जाते हैं, और जिनके सब कर्मों का क्षय हो गया है, वे माया का अतिक्रमण करके विज्ञानाकल अणुरूप में माया और महामाया के अन्तराल में वर्त्तमान रहते हैं। प्रलय-काल में जो अनुग्रह या दीक्षा होती है, उसके प्रभाव से जीव साक्षात् शिवत्व-लाभ करता है। उस समय अशुद्ध सृष्टि न रहने के कारण उसके ऊपर अधिकार, अर्थात् जगद्व्यापार का उपयोग नहीं रहता। यही निरधिकार मुक्ति है। आधिकारिक पदलाभ प्रलयकालीन अनुग्रह का फल नहीं है। परन्तु सृष्टि और संहार-काल में निरधिकार मुक्ति भी हो सकती है और मलपाक के वैलक्षण्य के अनुसार ऐश्वर्य अथवा साधिकार मुक्ति भी हो सकती है।[२] इनमेंसे जो लोग संहार-समय में साधिकार अनुग्रह-लाभ करते हैं, वे रुद्राणु-अवस्था प्राप्त करते हैं। इन सबको आगामी सृष्टि में सृष्टि का अधिकार प्राप्त होता है। और जो लोग सृष्टि के समय में सर्व-ज्ञान-क्रिया की अभिव्यक्ति-रूप अनुग्रह से आधिकारिक पद प्राप्त करते हैं वे परमन्त्रेश्वर, मन्त्र और अपरमन्त्रेश्वर प्रभृति पदों में प्रतिष्ठित होते हैं।[३]

---

१. पातञ्जल योगसूत्रों में ईश्वर को पूर्वगुरुओं के भी गुरु-रूप से वर्णन किया गया है। सृष्टि के आदिगुरु प्रत्येक सृष्टि में भिन्न-भिन्न होते हैं। ये 'सिद्धपुरुष' या 'कार्येश्वर' पदवाच्य हैं। परन्तु, परमेश्वर कालावच्छिन्न न होने के कारण नित्यसिद्ध हैं और कार्येश्वरों के भी ईश्वरस्वरूप हैं। वही अनादि गुरु-तत्त्व है।

२. सृष्टि अथवा संहारकाल में भी शिवत्व-लाभ की सम्भावना रहती है, परन्तु बहुत ही कम। इसका कारण यह है कि मलपाक और परमेश्वर का अनुग्रह—इनमें से किसी में काल का नियन्त्रण नहीं रहता।

३. प्रलयाकल जीव परमेश्वर का साधिकार अनुग्रह प्राप्त करने से मायागर्भाधिकारी, अर्थात्

ये सब मन्त्रेश्वर मायिक जगत् के विभिन्न विभागों के मुख्य शासक और व्यवस्थापक हैं। परमन्त्रेश्वरवर्ग मायातीत महामाया के राज्य में ईश्वर-तत्त्व का आश्रय करते हुए अपने-अपने भुवन में विराजते हैं। ये संख्या में आठ हैं, जिनमें अनन्त ही प्रधान हैं। प्रत्येक का देह भोग्य और भुवनादि शुद्ध बैन्दव उपादान से बना हुआ है। उनमें माया का स्पर्श भी नहीं है। इसके बाद परमेश्वर सात करोड़ विज्ञानाकल अणुओं को साक्षात् रूप से सर्वज्ञत्वादि शक्तियों की अभिव्यक्ति द्वारा अनुग्रह करके मन्त्रपद में स्थापित करते हैं। अपरमन्त्रेश्वर मायागर्भ के अधिकारी हैं। इनके देह मायिक तथा बैन्दव दोनों ही प्रकार के होते हैं। इनके भी अपने-अपने भुवनादि विभिन्न तत्त्वों का आश्रय करके विद्यमान हैं।

यह जो सृष्टि, संहार और प्रलयकाल में[1] भगवान् के अनुग्रह की बात कही गई है, इसे भगवान् का साक्षात् अनुग्रह समझना चाहिए, यह किसी पुरुष के देह में अधिष्ठित होकर नहीं किया जाता। तान्त्रिक परिभाषा में इसे 'निरधिकरण अनुग्रह' कहते हैं। परन्तु, स्थिति-काल में वे साधारणतया आचार्य या गुरु के देह को साक्षात् अथवा परम्परा से आश्रय करके[2] ऐसे 'सकल' (देहेन्द्रियादि-कलाविशिष्ट) जीवों पर अनुग्रह करते हैं, जो उनका निरन्तर चिन्तन करने के कारण शुद्ध चिद्भाव को प्राप्त हो गये हैं। इस अनुग्रह के प्रभाव से शिवत्व-लाभ भी हो सकता है अथवा केवल आधिकारिक पद भी मिल सकता है। ये विभिन्न पद-प्राप्तियाँ शक्तिपात के तीव्रतादि वैचित्र्य की अपेक्षा से होती हैं। ये पद स्थूलतया चार प्रकार के हैं—

(क) पञ्चाष्टक प्रभृति रुद्रों का पद (रुद्रपद)।

(ख) सात कोटि मन्त्रों का पद (मन्त्रपद)।

(ग) अपरमन्त्रेश्वरवर्ग का पद (पतिपद)।[3]

अपरमन्त्रेश्वर पद में आरोहण करते हैं। इन जीवों को माया-पुरुष-विवेकज्ञान सम्यग्रूप से कर्मक्षय के अभाव के कारण नहीं रहता। इसलिए, ये सुप्ति के समय, अर्थात् प्रलयकाल में माया के गर्भ ही में सो जाते हैं और जाग उठने पर पूर्ववत् मायिक देह प्राप्त करते हैं। पक्षान्तर में परमेश्वर के साधिकार अनुग्रह के प्रभाव से इनको बैन्दव देह भी प्राप्त हो जाता है। विज्ञानाकल जीव साधिकार अनुग्रह से मलपाक के अनुसार परमन्त्रेश्वर अथवा मन्त्र-पद में प्रतिष्ठित होते हैं। इनका मायिक देह नहीं रहता, केवल बैन्दव देह ही रहता है। अनुग्रह-लाभ के पहले ही ये माया-पुरुष-विवेक ज्ञान के कारण विज्ञानकैवल्य अवस्था में माया के ऊपर विद्यमान थे। इसलिए, बिन्दु के क्षोभ से जब विशुद्ध अध्वा की सृष्टि होती है, उस समय सबसे पहले ये लोग ही विशुद्ध देह और भुवनादि को प्राप्त होते हैं।

१. जब कार्य कारण में लीन होने लगता है, तब इसमें जितना समय लगता है, उसे 'संहारकाल', कहते हैं तथा लीन होने के पश्चात् पुनः सृष्टि होने तक के समय को 'प्रलयकाल' कहा जाता है।

२. पूर्णतया मलपाक हो जाने पर स्थिति-काल में भी कदाचित् किसी-किसी पर 'निरधिकरण अनुग्रह' हो जाता है।

३. ये अनन्तादि के पद नहीं है। उन पदों के प्राप्त होने पर माया तथा कर्म के अभाव से अधोगति या पतन नहीं होता। रौद्रागम में लिखा है—

(घ) ईश्वर (अनन्त) सदाशिव और शान्तस्वरूप ईशान का पद (ईशान-पद)। इन सब पदों की प्राप्ति सालोक्यादि की प्राप्ति समझनी चाहिए।

प्रस्थानान्तर की जीवन्मुक्ति—तान्त्रिक कहते हैं कि आगम-प्रतिपादित ज्ञान और योग छोड़कर जो लोग दूसरे प्रकार के ज्ञान या योगमार्ग (जो परमेश्वर से उपदिष्ट नहीं हैं, जैसे कपिल से उपदिष्ट सांख्यज्ञान का मार्ग और पतञ्जलि से उपदिष्ट योगमार्ग) का अवलम्बन करके सिद्धि-लाभ करते हैं, उन्हें सत्त्वगुण की विशुद्धि से माध्यस्थ्यलाभ होता है, उन्हें दो विरुद्ध कर्मों की अभिव्यक्ति समान हो जाती है, जिससे उपकारी के प्रति प्रसन्नता एवं अपकारी के प्रति क्रोध भी साम्यरूपा अभिन्न वृत्ति के रूप में परिणत हो जाते हैं। यही मध्यस्थता है। उनके मत में इसका नाम जीवन्मुक्ति है।[1]

तन्त्रोक्त साधिकारा मुक्ति का वैचित्र्य—परन्तु, तन्त्र की साधिकार मुक्ति में एक विशेषता है। इन सब साधिकार मुक्तियों में दीक्षादि उपाय तथा तत्तत् पदप्राप्ति के विषय में प्रीति, श्रद्धा प्रभृति का तारतम्य है। अतएव, उपाय और भक्ति-श्रद्धात्मक आदर के वैलक्षण्य से तीन प्रकार की योग्यता के अनुसार उत्कृष्ट, मध्यम और निकृष्ट—इन तीन प्रकार के साधिकार पदों की प्राप्ति होती है। इन तीन पदों के नाम—(१) मन्त्रमहेश्वर, (२) मन्त्रेश्वर और (३) मायिक अधिकारी हैं। इनमें द्वितीय और तृतीय पदों में आशंका की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती; क्योंकि ये पद चरम अवस्था, अर्थात् परा सिद्धि या परामुक्ति-रूप नहीं है। इसलिए, इनमें आत्मा निश्चिन्त होकर विश्राम नहीं कर सकता। साथ ही, इस अवस्था में अपने पद से स्खलित होकर नीचे गिरने की भी आशंका रहती है। तत्तत् भुवन की प्राप्तिरूप मोक्ष वस्तुतः मुक्ति नहीं है—मुक्ति का आभास-मात्र है। यह अवस्था महाप्रलय-पर्यन्त ही रह सकती है। नवीन सृष्टि के प्रारम्भ में भुक्तावशिष्ट कर्मों के प्रभाव से अधोगति की शंका है; क्योंकि कर्मफलभोग माया के नीचे संसार-मण्डल में ही होता है। परन्तु, इन सब भुवनों में रहते हुए भी मुक्ति हो सकती है। मल के परिपाक से जब दीक्षा मिलती है, तब उस अवस्था से मुक्त होने के मार्ग पर अधिकार हो जाता है। प्रत्येक भुवन में ही दीक्षा के द्वारा मुक्त करने की योग्यता से सम्पन्न सद्गुरु विद्यमान रहते हैं—

'भुवने भुवने गुरवः प्रतिवसन्ति।'

(स्वायम्भुव आगम)

भुक्त्वा भोगान् सुचिरममरस्त्रीनिकायैरुपेताः
स्रस्तोत्कण्ठाः शिवपदपरैश्वर्यभाजो भवन्ति।

अर्थात्, ये अनन्तादि पद प्राप्त करनेवाले चिरकाल तक देवांगनाओं के सहित भोगों का उपभोग कर उत्कण्ठाहीन हो शिवपद पर परम ऐश्वर्य के भागी होते हैं।

१. 'न हृष्यत्युपकारेण नापकारेण कुप्यति।
यः समः सर्वभूतेषु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥'

अर्थात्, जो उपकार से प्रसन्न नहीं होता और अपकार से कुपित नहीं होता तथा समस्त प्राणियों के प्रति समान रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। परन्तु आगमसम्मत जीवन्मुक्ति ठीक इस प्रकार की नहीं है।

इन पदों में मन्त्रमहेश्वर पद ही श्रेष्ठ है। इस पद का अधिकार समाप्त होने पर ही अपवर्ग-लाभ होता है। फिर, पतन की कोई आशंका नहीं रहती।

प्रलय के समय जब भगवान् जीव का उद्धार करने के लिए उसे दीक्षा देते हैं, तब वे जीवों की पूर्वोक्त तीन प्रकार की योग्यताओं की ओर ध्यान नहीं देते। ये विभिन्न प्रकार की योग्यताएँ अधिकार से सम्बन्ध रखती हैं। प्रलय-काल में अधिकार का कोई उपयोग न रहने के कारण उस काल में अनुग्रह करते समय वे इसका कोई विचार नहीं करते, परन्तु स्थितिकालीन अनुग्रह योग्यता की अपेक्षा रखता है।

परमन्त्रेश्वर तथा मन्त्रों की मुक्ति अपरा मुक्ति है। ये सब परमेश्वर की वामादि तीन शक्तियों के कार्य और भगवदाज्ञा के अधीन होने के कारण शक्ति-तत्त्व से नीचे रहते हैं।[१] ये सब उत्पन्न होकर ही अपने-अपने अधिकार में भगवत्प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं। वे दोनों कलादि कार्य-कारणहीन हैं और अधिकारविशिष्ट हैं। इसलिए, व्यापक होने पर भी इन्हें माया के ऊपर माना जाता है। इनमें भी परमन्त्रेश्वर मन्त्रों का प्रेरक होने के कारण ऊपर तथा उससे प्रेरित होनेवाले मन्त्र नीचे हैं। इन दोनों पर अनुग्रह करने के बाद भगवान् इन सब मन्त्रेश्वरों में अधिष्ठित होकर माया से कलादि तत्त्व एवं भुवन प्रभृति की रचना करते हैं और उन कलाओं से जीवों की कर्मानुसार योजना करते हुए उनमें से पक्वमल जीवों को मायागर्भाधिकारी या अपरमन्त्रेश्वर के पद में स्थापित करते हैं। भगवान् का यह अनुग्रह-व्यापार परम्परा से ही होता है, साक्षात् रूप से नहीं।

[४]

शिष्य की योग्यता के अनुसार दीक्षा के भेद (समयी दीक्षा)—तान्त्रिकों ने दीक्षा के प्रकार भेद के विषय में विभिन्न ग्रन्थों में जो कुछ कहा है, उसके सारांश की आलोचना करने पर मालूम होता है कि विभिन्न दीक्षाओं में एक निर्दिष्ट क्रम है। शिष्य की योग्यता की भिन्नता ही इस क्रम का मुख्य कारण है, परन्तु यह क्रम स्वाभाविक होने के कारण अपरिहार्य होने पर भी शिष्य के अधिकार-भेद के अनुसार तत्तत् स्थलों में यथावत् अनुसृत नहीं होता। ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रम जैसे क्रमबद्ध होने पर भी तीव्र वैराग्य होने पर मध्यवर्त्ती एक या दो आश्रमों का उल्लंघन करते हुए पूर्ववर्त्ती किसी आश्रम से संन्यास लेने का अधिकार हो सकता है, ठीक वैसे ही दीक्षाक्रम की बात भी समझनी चाहिए। दीक्षाओं में सबसे पहले समय-दीक्षा ही विचारणीय है। इस दीक्षा में सब पशु-आत्माओं का समान अधिकार है। इसमें काल एवं आश्रमादि का कोई नियम नहीं है। आत्मा का अनादि मल किञ्चिन्मात्र पक्व होने से जब भगवान् की कृपाशक्ति अत्यन्त मन्द रूप से जीव में उतरने लगती है, तभी यह दीक्षा हो सकती है। गुरु के द्वारा शिष्य के मस्तक पर शिवहस्त का अर्पण ही

१. यह अधोवर्त्तिता देशकृत नहीं है; क्योंकि ये सभी आत्मा समान रूप से व्यापक और विभु हैं। परन्तु, क्रियाशक्ति के विषय में तारतम्य रहने के कारण ऊर्ध्व-अधः ऐसा निर्देश किया जाता है। अतः, तात्पर्य यह है कि विभुत्व में समानता रहने पर भी क्रियाशक्ति के विकास में न्यूनता रहने से इन्हें अधोवर्त्ती माना जाता है।

इस दीक्षा का स्वरूप है। इस दीक्षा के अनन्तर गुरु-शुश्रूषा तथा विभिन्न देव-पूजाओं में अधिकार होता है तथा भगवान् के प्रति भी भक्ति का उन्मेष होने लगता है। इसका मुख्य फल प्राक्तन कर्मसमूह का परिपाक है। कर्म परिपक्व हुए विना नष्ट नहीं हो सकता। यद्यपि कालरूपी अग्नि के द्वारा कर्मों का पाक निरन्तर हो ही रहा है, तथापि यह समझना चाहिए कि काल क्रमधर्मक होने के कारण उसके द्वारा किया हुआ पाक भी क्रमिक भोग की ओर चित्त की उन्मुखता-मात्र है। क्रमिक भोग से कर्मक्षय क्रमशः होता है, एक साथ नहीं होता—हो भी नहीं सकता। और, उससे किसी भी समय कर्म निःशेष भी नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म का मूल नष्ट न होने के कारण नूतन कर्मसञ्चय चलता ही रहता है। अनादि काल से असंख्य कर्म उपचित हो रहे हैं, उन्हें एक-एक करके क्रमशः नष्ट नहीं किया जा सकता। इसीलिए, दीक्षा की आवश्यकता होती है। यह समष्टि रूप में कर्मबन्धन को शिथिल करने लगती है। अन्त में किसी-न-किसी समय सब कर्म एक साथ नष्ट हो सकते हैं। साधारणतः उसी को पूर्णतम ज्ञानोदय कहते हैं। अपूर्ण ज्ञानोदय के समय सञ्चित कर्मराशि नष्ट होने पर भी देहारम्भककर्म शेष रह जाते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि काल शक्ति भी भगवान् की क्रियाशक्ति का ही रूपान्तर है। काल रुद्रविशेष (कालाग्निरुद्र) होने के कारण कालशक्ति रौद्री शक्ति ही है। दीक्षा भी रौद्री नाम की क्रियाशक्ति का ही व्यापार है, परन्तु इन दोनों में मात्रा और विकासादि की दृष्टि से परस्पर विलक्षणता है।

'समय' शब्द से आगमशास्त्रीय मर्यादा का पालन समझना चाहिए। प्रथम दीक्षा प्राप्त होने पर, अर्थात् समयी अवस्था में उस शास्त्र के वाचन, श्रवण एवं निरन्तर पाठ में तथा होम, जप, पूजन, ध्यानादि में योग्यता प्राप्त होती है। समयीका आत्मा चर्या तथा ध्यान से शुद्ध होता है। गुरु के द्वारा उपदेश किये हुए अपने शास्त्रविहित आचारादि का पालन करना ही 'चर्या' है तथा 'ध्यान' योगाभ्यास का नामान्तर है। इस दीक्षा के प्रभाव से पूर्णत्व-लाभ नहीं होता तथा मन्त्राराधन-क्रम से भोग का लाभ भी नहीं हो सकता। परन्तु, ईश्वरपदप्राप्ति अथवा अपरामुक्ति हो सकती है तथा पुत्रकादि भावी पदों को प्राप्त करने की भी योग्यता हो जाती है। ऐश्वर्य की कारणभूता जो पाशशुद्धि है, वह दीक्षा के द्वारा ईश्वर-सम्बन्ध होने पर हो जाती है। परन्तु, यह पाशशुद्धि पाशों की समूल निवृत्ति नहीं है; क्योंकि कला, तत्त्व एवं भुवन प्रभृति छह अध्वाओं की शुद्धि तथा परतत्त्व की योजना ये दोनों जबतक सिद्ध न हों, तबतक सम्पूर्ण पाशों का विच्छेद सम्भव नहीं है और न पूर्णत्व ही प्राप्त हो सकता है। उसके लिए एक सूक्ष्म विधान है। परन्तु, समयी के लिए वैसा विधान है भी नहीं और आवश्यक भी नही होता। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि समयी में ईश्वराराधन की योग्यता किस प्रकार उत्पन्न होती है? इसका समाधान यह है कि वैसी योग्यता पाने के लिए अधिष्ठातृकारणवर्गों का विश्लेषण-मात्र ही पर्याप्त है। समयी का उतना तो हो ही जाता है।

जात्युद्धार, द्विजत्व-प्राप्ति और रुद्रांशापत्ति—इन तीन व्यापारों से समयी का आत्मसंस्कार होता है। पशु-आत्मा प्रारब्ध भोग करने के लिये जो देह पाता है, उससे

सम्बद्ध जाति का उत्कर्ष ही जात्युद्धार है। जात्युद्धार यथावत् हो जाने पर पूर्वजाति से सम्बन्ध नहीं रहता। इससे प्रतीत होता है कि इस व्यापार के प्रभाव से देह के सूक्ष्मतम अवयव-संस्थान में एक आमूल परिवर्त्तन होने लगता है। इसके पश्चात् द्विजत्व-प्राप्ति के उपाय का अनुष्ठान करना पड़ता है। जात्युद्धार के समान द्विजत्व-प्राप्ति की प्रक्रिया में भी प्रधानतया मन्त्रशक्ति से ही काम लिया जाता है। मन्त्रशक्ति अलौकिक एवं अचिन्त्य है। योग्य प्रयोक्ता के द्वारा उससे दुःसाध्य कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकता है। सामान्यतः यह नियम है कि देह में मन्त्रशक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसका तात्पर्य प्रारब्ध-जनित भोग के खण्डन के विषय में है। मन्त्र में ऐसा सामर्थ्य है कि उसके प्रयोग से क्षण-भर में प्राणों का वियोग होकर देहपात हो सकता है। परन्तु ऐसा करना नहीं चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से विना भोगे हुए प्रारब्धकर्मों को भोगने के लिए देहनाश के बाद भी अवस्थान्तर में आबद्ध रहना पड़ता है। इससे मोक्षलाभ के काल में बहुत अधिक विलम्ब हो जाता है। शोषण, दाहन, आप्यायन, जात्युद्धार आदि के उद्देश्य से वर्त्तमान देह में भी मन्त्रप्रयोग की व्यवस्था है। उग्र मन्त्रशक्ति से देह का शोषणादि होता है, इसी से अभिषेक की आवश्यकता होती है।

द्विजत्वापादन के लिए मन्त्रों से ही देह की योनि, बीज, आहार, देश तथा भाव की शुद्धि करनी पड़ती है। देह रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है। शुद्ध रजोवीर्य न होने से शुद्ध देह नहीं हो सकता। गर्भाधानादि का विज्ञान इस समय लुप्तप्राय हो गया है। स्त्री और पुरुषों के नैतिक संयम के अभाव एवं चित्त की चपलता के कारण वर्तमान युग में विशुद्ध देह की उत्पत्ति प्रायः असम्भव ही हो गई है। इसलिए, तन्त्रशास्त्र का आदेश है कि मन्त्रशक्ति के द्वारा ही योनि एवं बीज का शोधन कर लेना चाहिए। ऐसा करने से ही देहगत अशुद्धि निवृत्त हो सकती है। श्रौत तथा स्मार्त्त प्रक्रिया से आहार-निर्वाह ही आहार-शुद्धि का उपाय है। किन्तु, इस समय प्रायः यह भी ठीक-ठीक नहीं हो पाता। इसलिए, इस त्रुटि की पूर्त्ति भी मन्त्रों से ही करनी पड़ती है। म्लेच्छादिकों के सम्बन्ध से देश अशुद्ध होता है और असत्य एवं कुटिलता प्रभृति दोषों से भाव मलिन होता है। अतः, देश और भाव का शोधन भी मन्त्रों से ही करना पड़ता है। इस प्रकार, शुद्धि का आधान होने पर मन्त्र से शुद्ध विद्या में जन्म प्राप्त होने के प्रभाव से अलौकिक द्विजत्व की सिद्धि होती है।[1] इसी का नाम द्वितीय जन्म है। द्विजत्व अलौकिक होने के कारण लौकिक द्विजों के लिए भी यह प्रक्रिया कर्त्तव्य मानी गई है।[2] इस दीक्षा से एक ही जाति की अभिव्यक्ति होने

---

१. गर्भाधान प्रभृति चालीस संस्कार मन्त्रशक्ति से ही सिद्ध होते हैं। ये सब संस्कार शुद्धविद्या में जन्म लेने के लिए सर्वथा उपयोगी होते हैं।

२. मन्त्रशक्ति से वर्त्तमान शरीर के दाह एवं जात्युद्धारादि होते ही हैं। किसी-किसी का मत है कि इसी प्रकार शुद्धतत्त्वमय देहान्तर का उत्पादन और द्विजत्वापादन अन्य जातियों में भी किया जा सकता है। यह प्रसिद्धि है कि योगिनियाँ अब भी मन्त्रों से अपनी एवं दूसरों की जाति का परिवर्त्तन कर देती हैं। आगम के अनुसार शिव, पुरुष एवं माया को छोड़कर और सब तत्त्व

लगती है। वह शिवमयी अथवा भैरवीय जाति है। इसके पश्चात् पूर्व जाति से अपना सम्बन्ध बताना भी शास्त्रीय मत के अनुसार प्रायश्चित्त के योग्य होता है। द्विजत्व सिद्ध होने पर शिशु को[1] उपवीत देने का नियम है। यह भी अलौकिक है। (उप =) आत्मा की सन्निधि में (वि =) विशेष के द्वारा, अर्थात् मन्त्र-सामर्थ्य से (इत =) सम्बद्ध होना ही 'उपवीत-ग्रहण' है। तन्त्रशास्त्र के अनुसार उपवीत अनन्त मन्त्र और देवताओं के व्यापक शुद्धविद्यारूप शक्ति-सूत्र का निर्मूल प्रतिरूपक है। गर्भाधान से अन्त्येष्टि-पर्यन्त चालीस संस्कारों के बल से शुद्धविद्या में जन्म होने के पश्चात् सूक्ष्म विज्ञान अथवा भावना के द्वारा चैतन्य-संस्कार करना पड़ता है। दया, क्षमा प्रभृति आत्मा के आठ गुणों का आधान ही चैतन्य का संस्कार है। इस प्रकार अड़तालीस संस्कारों के द्वारा पूर्ण द्विजत्व सिद्ध होता है।

इसके बाद समयी का रुद्रांशापादन रह जाता है। रुद्रांश न होने पर शास्त्र का अर्थ समझकर रुद्र के ध्यान में एकाग्र होना सम्भव नहीं है तथा भविष्य में ईश्वर-सम्बन्ध होना भी अशक्य है। इस क्रिया को सम्यक् रूप से करने के लिए गुरु को चाहिए कि पहले शिष्य का प्रोक्षण और तारण कर ले, उसके पश्चात् स्वयं ऊर्ध्वमार्गिक रेचक क्रिया से अपने शरीर से बाहर होकर शिष्य के देह में प्रविष्ट होकर उसी मार्ग से उसके हृदय तक पहुँच जाय। वहाँ जाकर शिष्य के चैतन्य अथवा पुर्यष्टक को शिथिल कर दे। इसे पारिभाषिक भाषा में 'विश्लेषण' कहते हैं। इसमें शरीर के साथ जीव का एक सूक्ष्म सूत्र या रश्मिमात्र का सम्बन्ध रह जाता है। इसके बाद पुर्यष्टक का छेदन करके, अर्थात् उसे अलग करके फिर उसका अवगुण्ठन शुद्ध उपादान से आवरण करे, फिर सम्यक् रूप से आकर्षण करते हुए द्वादशान्त, अर्थात् मस्तक में स्थापित करे। तत्पश्चात् वहाँ से जीव को सम्पुटित करके संहार-मुद्रा के द्वारा खींच ले। इतना कार्य अपने साथ शिष्य का अभेदज्ञान दृढ रखकर ही करना होता है। फिर, ऊर्ध्वपूरक के द्वारा अपने हृदय में लौट आना चाहिए।

एवं जाति प्रभृति अनित्य ही हैं। इसलिए, जात्युद्धार तथा द्विजत्वापादन आदि व्यापारों में किसी भी अंश में असंगति नहीं है। कोई-कोई समझते हैं कि देश में शूद्रत्वादि जाति नित्य होने के कारण जन्य नहीं है। अतः, यह द्विजत्वापादन केवल द्विज के लिए ही कर्त्तव्य है, अन्य किसी के लिए नहीं। इस मत के अनुसार यह वर्त्तमान देह-विषयक है। वे लोग कहते हैं कि कर्मान्तर से द्विजदेह प्राप्त होने पर अड़तालीस संस्कारों से इस क्रिया की सिद्धि होती है। इसमें शूद्रादि का अधिकार नहीं है। क्षेमराज कहते हैं कि यह परमेश्वर आगम का सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि यह प्रक्रिया अलौकिक है और भावी देह से सम्बन्ध रखती है। इस विषय में शंका हो सकती, कि इस स्थिति में यदि यही सत्य हो, तो भुवन-अध्वा में अड़तालीस संस्कारों का आधार करके द्विजत्वापादन क्यों किया जाता है। यह शंका अमूलक है; क्योंकि उस क्रिया का उद्देश्य दूसरा है। वह पुत्रक की भोगशुद्धि के लिए है, समयी के लिए नहीं। वागीश्वरी में गर्भाधान प्रभृति के द्वारा तत्तत् तत्व में उद्भूत सम्पूर्ण भूतसर्ग के अर्थात् चौदह प्रकार के प्राणियों का भोग शुद्ध कर लेना पड़ता है। द्विजभोगशुद्धि भी उसी के अन्तर्गत है। यह उसके लिए ही कर्त्तव्य हैं। समयी के लिए तत्त्वशोधन का कोई आदेश शास्त्र में नहीं है। इसलिए समय-दीक्षा में उसका कोई स्थान नहीं है।

१. अध्यात्म जगत् में नवीन जन्म ग्रहण करने के कारण समयी को 'शिशु' कहा जाता है।

वहाँ कुम्भक के द्वारा स्वारस्य सम्पादन करके, अर्थात् अपने साथ शिष्य का अभेदापादन करके फिर ऊर्ध्व उद्वेष्टन के क्रम से रेचन करे। रेचन के समय जीव उत्तरोत्तर छह देवताओं को त्याग देता है। इन छह देवताओं के नाम और स्थान इस प्रकार हैं—

१. हृदय में ब्रह्मा। २. कण्ठ में विष्णु। ३. तालु में रुद्र। ४. भ्रूमध्य में ईश्वर। ५. ललाट में सदाशिव। ६. ब्रह्मरन्ध्र में शिव।

देह के समान बाह्य जगत् में भी इन छह देवताओं का उत्तरोत्तर अधिष्ठान है। वस्तुतः, विश्व के निम्नतम प्रदेश से ऊर्ध्वतम प्रदेश पर्यन्त समस्त अध्वा ही इन छह देवताओं से अधिष्ठित है। देवताओं के त्याग से ही शिष्य के लिए उक्त देवताओं से अधिष्ठित मार्ग से विश्लेष प्राप्त करने की योग्यता होती है। स्वामी को जीतने से उसके वशवर्त्ती सभी अपने अधीन हो जाते हैं। उनके लिए पृथक् युद्ध नहीं करना पड़ता। देवता-त्याग के बाद, अर्थात् देह अथवा विश्व के अधिष्ठातृकारणवर्ग से विश्लेष हो जाने पर ईश्वर पद की प्राप्ति के लिए ईश्वराराधन की योग्यता का आधान करना पड़ता है। भ्रूमध्य से जीव को लेकर सम्पुटित कर और संहारमुद्रा से उठाकर फिर शिष्य के हृदय में स्थापित करना चाहिये।

[५]

भोगदीक्षा : साधकदीक्षा—समयी दीक्षा के पश्चात् पुत्रकादि अन्यान्य दीक्षाओं की व्यवस्था है। इसके विना आरम्भ में भी पुत्रकादि दीक्षाएँ हो सकती हैं। इन दीक्षाओं में अध्वशुद्धि आवश्यक है। परन्तु, वह पाशों की मूलपर्यन्त शुद्धि हुए विना नहीं हो सकती, तथा परतत्त्वयोजन के विना पाशों का उन्मूलन असम्भव है। इसके अभाव में भोग या मोक्ष किसी भी प्रकार के फल की प्राप्ति नहीं होती। समयी दीक्षा में अध्वशुद्धि की आवश्यकता नहीं है। केवल दीक्षा से ही किसी अंश में पाश-शुद्धि हो जाती है।

फलार्थी शिष्य भोग तथा मोक्षरूप फल के भेद से भोगार्थी एवं मोक्षार्थी—इस प्रकार दो तरह के होते हैं। मुमुक्षु पुत्रक तथा आचार्य भेद से दो प्रकार के हैं। शिष्य को दीक्षा देने से पहले यह देखना चाहिए कि वह स्वप्रत्ययी है या गुरुप्रत्ययी। यदि वह स्वप्रत्ययी हो, तो गुरु को उसकी वासना के अनुसार ही दीक्षा देनी चाहिए।[1] और, यदि वह गुरुप्रत्ययी एवं गुरु के प्रति निर्भरशील हो, तो गुरु को चाहिए कि उसके लिए भोगदीक्षा का प्रबन्ध न करके मोक्षदीक्षा का ही प्रबन्ध करे।

शिवधर्मिणी दीक्षा—शिवधर्मी तथा लोकधर्मी भेद से साधक दो प्रकार के हैं। इसलिए भोगदीक्षा अथवा भूतदीक्षा भी शिवधर्मिणी एवं लोकधर्मिणी—दो प्रकार की मानी जाती है। दोनों दीक्षाएँ विभिन्न प्रकार की होने पर भी साधन तो दोनों ही में है, इसलिए इन्हें 'साधकदीक्षा' कहते हैं। शिवधर्मिणी दीक्षा के प्रभाव से योग्यता के अनुसार साधक को तीन प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—(१) मन्त्रेश्वर-पद की

---

१. आराध्यमन्त्र चिन्तामणि की भाँति है। यह आराधक की वासना के अनुसार ही फल प्रदान करता है, यही शास्त्र का सिद्धान्त है।

प्राप्ति, (२) मन्त्र-पद की प्राप्ति। ये दोनों एक प्रकार से पारमेश्वरिक फल की प्राप्ति मानी जा सकती है; और (३) पिण्डसिद्धि तथा अवान्तर सिद्धियाँ। विभिन्न भोग-भूमियों में आपेक्षिक अमृतत्व प्राप्त करके अभीष्ट सिद्धियों को प्राप्त करना—यही तृतीय प्रकार की सिद्धि है। दीक्षा के प्रभाव से जीव जिस भोगभूमि में भोगास्वादन के लिए जाता है, वहाँ उसे अजर-अमर एवं स्थिर देह मिल जाता है। यह देह तबतक नष्ट नहीं होता, जबतक कि प्रलय-काल में उस लोक का नाश न हो। इसके साथ नाना प्रकार की अवान्तर सिद्धियों की प्राप्ति भी समझनी चाहिए—जैसे अभीष्ट खड्गसिद्धि, अञ्जनसिद्धि, पादुकासिद्धि आदि। शिवधर्मी साधक गृहस्थ और यति दोनों ही हो सकते हैं। इनकी अध्वशुद्धि शिवमन्त्र से निष्पन्न होती है। ये मन्त्र के आराधन में तत्पर रहते हैं और आराध्य मन्त्र के आदेश के अनुसार सब काम करते हैं। ज्ञानवत्ता, अभिषेक प्रभृति इस दीक्षा के फल हैं। इस मार्ग के साधक को भी समयाचार का पालन करना पड़ता है।

लोकधर्मिणी दीक्षा—लोकधर्मिणी दीक्षा के प्रभाव से प्राक्तन (सञ्चित) और आगामी कर्मों के भीतर अशुभांश या दुष्कृतांशमात्र नष्टहोता है और शुभांश अणिमादि सिद्धि-रूप में परिणत हो जाता है। प्रारब्धकर्म को अवश्य भोगना ही पड़ता है। भोग के अन्त में जब प्रारब्ध का फलभूत देह पतित हो जाता है, तब गुरु दीक्षित साधक को अणिमादि भोग के लिए ऊर्ध्वलोक में सञ्चालित कर देते हैं। वहाँ का भोग समाप्त होने पर भी यदि भोग-वासना अतृप्त रह जाय, तो उस वासना के अनुरूप भोग के लिए उसे ऊर्ध्वतर भुवन में भेज देते हैं। इसी प्रकार, फिर शुभकर्म-भोग के अन्त में वैराग्य का उदय होने पर वहीं से, अर्थात् अन्तिम भोगस्थान से ही परमेश्वर के निष्कल स्वरूप में योजित कर देते हैं। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि यह योजना निष्कल ब्रह्म के साथ न होकर अनेक प्रकार से मायातीत विभिन्न विशुद्ध भुवनों के अधीश्वर के साथ भी सालोक्य से सायुज्य-पर्यन्त फल प्राप्ति के लिए हो सकता है। ये सब अवस्थाएँ साधक के आध्यात्मिक उत्कर्ष के तारतम्य पर निर्भर हैं। तन्त्र में लिखा है—

लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा भुक्तिकाङ्क्षिणम्॥

अर्थात्, लोकधर्मी साधकको गुरु अपने इष्ट भुवनेश्वर के स्वरूप से युक्त करके उसके धर्म से युक्त करें अथवा यदि वह मुक्तिकामी हो, तो उसे शिव में आरोपित करके उनके धर्मों से युक्त करें। ये ऊर्ध्वगति और योजन क्रमशः साधक और गुरु के संकल्प के अनुसार होते हैं।

[६]

मोक्षदीक्षा : निर्बीज दीक्षा—मुमुक्षु की दीक्षा सबीज, निर्बीज और सद्योनिर्वाण-दायिनी—तीन प्रकार की है। वस्तुतः, तृतीय दीक्षा द्वितीय का ही प्रकार-भेदमात्र है, अतः मूलतः मुमुक्षु के दो ही भेद हैं। सामान्यतः, निर्बीज दीक्षा बालक, मूर्ख, वृद्ध, स्त्री एवं व्याधिग्रस्त आदि के लिए हैं। अर्थात्, जो लोग शास्त्र-विचार में कुशल

नहीं हैं, उन्हीं के लिए निर्बीज दीक्षा का विधान है। इनके लिए समयाचार-पालन की आवश्यकता नहीं होती। इस दीक्षा के प्रभाव से केवल गुरुभक्ति से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमात्राद् गुरोः सदा ।

(स्वच्छन्दतन्त्र)

इसमें गुरुभक्तिमात्र ही समय (शर्त्त) है, दूसरा कोई समय नहीं है।

सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा—सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा मुमूर्षु अवस्था में देनी चाहिए; क्योंकि यह दीक्षा दीप्ततम मन्त्र से सम्पन्न होनेके कारण अतीतादि तीनों प्रकार के पाशों को नष्ट कर देती है। इस दीक्षा की निष्पत्ति के साथ ही शुद्धि होती है और देहपात होने पर परमपद प्राप्त हो जाता है।

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ॥

शिष्य को जराग्रस्त और व्याधिग्रस्त देखकर गुरु उसका शरीर से उत्क्रमण कराकर परमतत्त्व में नियुक्त करे।

सबीज दीक्षा—सबीज दीक्षा विद्वान् और कष्टसहिष्णु शिष्यों के लिए है। जो लोग इस दीक्षा को प्राप्त करते हैं, उन्हें शास्त्रनिर्दिष्ट समयाचार का अच्छी तरह पालन करना पड़ता है। वैसा न करने से उन्हें अपनी शिवमयी सत्ता से कुछ काल के लिए भ्रष्ट होकर विपद्ग्रस्त होना पड़ता है।

साधक का अभिषेक—मुमुक्षु की सबीज एवं निर्बीज दोनों ही प्रकार की दीक्षाओं का प्रयोजन मोक्ष है। उनमें आचार्य की दीक्षा सबीज होती है। बुभुक्षु की साधक-दीक्षा भी सबीज होती है। सबीज दीक्षा होने पर ही अभिषेक हो सकता है। विद्वान् तथा कष्ट-सहिष्णु लोगों को सबीज दीक्षा देकर आचार्य तथा साधक-पद पर अभिषिक्त करना पड़ता है। आचार्य मुमुक्षु हैं, साधक भोगार्थी है। अभिषेक के बिना भोग या मोक्ष पर अधिकार नहीं हो सकता। केवल सबीज दीक्षा ही परमेश्वर के साथ योजन करानेवाली है। अतएव, साधक का भी, अर्थात् भोगाकांक्षा रहने पर भी, पहले शिव, अर्थात् परमेश्वर के निष्कल रूप में योजन होता है। उसके बाद भोगसिद्धि के लिए सदाशिव, अर्थात् परमेश्वर के सकल रूप में योग होता है। पहले निष्कल रूप में योग कराने का तात्पर्य यह है कि सकलपद सिद्धिबहुल है, तथापि इस योजन-क्रिया के प्रभाव से उसमें स्थित रहने के समय सिद्धि या ऐश्वर्य में सत्ता रहने पर भी उस भोग के अवसान में उसकी परमपद-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं आती। शिवधर्मिणी दीक्षा में साधक का साधकत्व में अभिषेक होता है। यह अभिषेक विद्यादीक्षा के बाद ही होता है। शिवधर्मी साधक की शिव पद-योजन अनन्तर जो सदाशिवपद-योजनात्मिका दीक्षा होती है, उसी का नाम 'विद्यादीक्षा' है। (बत्तीस वर्णोंवाला) सकल मन्त्र ही विद्या है और उससे की हुई दीक्षा ही 'विद्यादीक्षा' कहलाती है। सदाशिव-पद विद्यात्मक है। यद्यपि सकलमन्त्र से परमपद-प्राप्ति भी होसकती है, तथापि वासनाभेद के कारण उसे विद्यादीक्षा

कहा जाता है। सदाशिवपद-पर्यन्त अणिमादि भोगदीक्षा ही 'भूतिदीक्षा' है। यह शान्तिपर्यन्त पद में योजन के अनन्तर होती है। अवश्य ही गुरुकृपा से यह शिव-योजनात्मिका भी हो सकती है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। शिवधर्मी साधक को विधिपूर्वक कर्मों का शोधन करना पड़ता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा तथा विद्या—इन तीन कलाओं में जो कर्ममल है, वह स्थूल है। सूक्ष्म रूप से पाँचों कलाओं में कर्म की सत्ता रहती है। अर्थात्, शान्ति और शान्त्यतीत कलाओं में भी सूक्ष्म कर्म है। इसलिए, समनापर्यन्त समस्त अध्वा का ही पाशजाल-रूप में वर्णन किया जाता है। साधक के कर्मों का क्षय तो करना चाहिए, परन्तु सब कर्मों का नहीं। प्राक्तन या सञ्चित और आगामी कर्मों का क्षय तो एक साथ करे, परन्तु वर्त्तमान देह से किये हुए मन्त्रा-राधनादिरूप कर्म को नष्ट नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से साधक को सिद्धिलाभ या भूतिलाभ नहीं हो सकेगा। भोगार्थी साधक के लिए भोग के मार्ग में बाधा नहीं डालनी चाहिए। विद्यादेह, अर्थात् सदाशिव-रूप में सकल मन्त्र का न्यास करके और इस देश को अणिमादिगुण सम्पन्न रूप से ध्यान करके उस प्रकार की गुणसम्पत्ति के लिए होमपूर्वक साधक का अभिषेक करना पड़ता है। सकल योजन ठीक-ठीक निष्पन्न होने पर अणिमादि गुणों के उदय के लिए प्रक्रिया करनी पड़ती है। अभिषेक की प्रणाली से भी प्रतीत होता है कि भोगार्थी साधक के लिए आपाततः भोग-व्यवस्था रहने पर भी अन्त में मोक्ष की ही प्राप्ति होती है।

अभिषेक पाँच कलशों से किया जाता है। ये पाँच कलश क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पश्चिम, पूर्व और ईशान कोण में स्थापित किये जाते हैं। निवृत्त्यादि तीन कलाओं का क्रमशः पहले तीन कलशों में न्यास करने के पश्चात् शान्त्यतीत कला का न्यास ईशान कोण के कलश में करके अन्त में पूर्व दिशा के कलश में शान्तिकला का न्यास किया जाता है। शान्त्यतीत कला के पीछे शान्तिकला का न्यास करने का तात्पर्य यह है कि साधक शिवदशा में विश्रान्तिपूर्वक निर्विघ्नभाव से सदाशिव दशा की सिद्धियों को प्राप्त कर सके और भोगों के आस्वादन से तृप्त होकर अन्त में शिवत्व-लाभ कर सके। शान्तिकला का भोग ही परमेश्वर की सकल अवस्था का अणिमादि भोग समझना चाहिए। शान्त्यतीत कला पहली तीन कलाओं से तथा शान्तिकला से ढकी रहती है। इन पाँच कलशों में पृथिवी आदि का भी न्यास करना पड़ता है। 'पृथिवी आदि' शब्द से पाँच स्थूलभूत ग्रहण नहीं किये जाते। ये यहाँ पञ्चब्रह्मस्वरूप हैं, जिनके भीतर समस्त तत्त्व और तत्त्वेश्वर स्फुरित होते हैं। इसके बाद एक-एक कलश में आराध्य मन्त्र, अर्थात् प्रधानतया सकल मन्त्र का अथवा अन्य मन्त्र का भी न्यास करके सर्वज्ञत्वादि विद्यांगों से सकलीकरण किया जाता है। तदनन्तर, उनमें इन विद्यांगों का आवरण-न्यास किया जाता है। ये सर्वज्ञत्वादि विद्यांग ही सिद्धि-सम्पादन के अनुरूप होने के कारण अन्य प्रकार के आवरण-न्यास की आवश्यकता नहीं होती। इसके पश्चात् साध्य मन्त्र से निवृत्त्यादि प्रत्येक कलश को अभिमन्त्रित किया जाता है, जिससे मन्त्र के प्रभाव से सभी भूमियाँ सिद्धिप्रद हो सकें।

आचार्याभिषेक—अब संक्षेप में आचार्याभिषेक की आलोचना करते हैं। इर

किसी मनुष्य को आचार्य-पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। जिसको गुरु से आगमों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ है, जो कायिक, वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों में संयम-शील है तथा जो सदाचार-सम्पन्न है और सम्यक् रीति से शास्त्रविधि का अनुष्ठान करता है, ऐसा मनुष्य ही आचार्य-पद पर अभिषिक्त होने योग्य है। यह अभिषेक शिव-योजन तक दीक्षा समाप्त हो जाने के बाद करना चाहिए। इसे करने के समय पाँच कलशों में पृथिव्यादि पाँच तत्त्व और उनमें व्यापक निवृत्त्यादि पाँच कलाओं का न्यास करके उनमें अनन्त से शिव-पर्यन्त पाँच भुवनेश्वरों को स्थापित किया जाता है। इसके बाद पूर्वदिशा के क्रम से षडंग आवरण से युक्त मन्त्रों का चिन्तन करते हुए परमेश्वर अर्चन होता है तथा परमतत्त्व-भावना के साथ प्रत्येक कलश को अभिमन्त्रित किया जाता है। कलशों का पूजन करके मुख्य अभिषेक-कार्य प्रारम्भ होता है। एक मण्डल बनाकर और उसे स्वस्तिकादि से अच्छी तरह अलंकृत कर उसके ऊपर एक चँदोवा तानना चाहिये तथा उसे ध्वजाओं से सुशोभित करना चाहिए। इसके पश्चात् उस मण्डप में चन्दन अथवा किसी अन्य उत्कृष्ट काष्ठ का पीठ स्थापित करे और उसमें अनन्तासन का न्यास करे। फिर, जिस शिष्य का अभिषेक करना हो, उसको सकली-करण क्रिया के द्वारा संस्कृत करके उस पीठ पर ईशानाभिमुख बैठाये। इसके पश्चात् गुरु स्वयं शिवभाव से आविष्ट होकर उसका गन्धपुष्पादि से अर्चन करते हुए आर्त्तिदीप तथा विभिन्न वस्तुओं से पूर्ण कलशों से निर्भर्त्सन करे। इससे सब प्रकार के विघ्नों की शान्ति हो जाती है। फिर निवृत्त्यादि कलायुक्त पृथिव्यादि पाँचों कलशों के मुख से शिष्य के ऊपर जल की धारा डाले। इसीका नाम अभिषेचन है। इसके बाद शिष्य पूर्व वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र धारण करे। रूपक दृष्टि से पूर्व वस्त्रों को मायिक कञ्चुक समझना चाहिए, जो अभिषेक के बाद छूट जाता है, तथा नवीन वस्त्रों को परमशिव का प्रकाश मानना चाहिए, जिसे अभिषेक के बाद सदा के लिए धारण किया जाता है। इसके अनन्तर उस योगपीठात्मक आसन पर बैठे हुए शिष्य को गुरु अधिकार दान करे। अर्थात्, उष्णीष, मुकुटादि, छत्र, पादुका, आसन, अश्व, शिविका प्रभृति राजोचित उपकरण एवं आचार्य-भावोपयोगी कर्त्तरी (कैंची) स्रुक्, दर्भ और पुस्तक आदि प्रदान करे। साथ ही, यह आदेश भी करे कि 'आज से तुम चारों आश्रमों में रहनेवाले पुरुषों में जिन्हें भगवत्-शक्तिपातयुक्त होने के कारण दीक्षा-योग्य समझो, उन्हें केवल अनुग्रह करने की इच्छा से ही (स्नेह-लोभादि के वशीभूत होकर नहीं) दीक्षा देना। तुम्हें यह अधिकार साक्षात् परमेश्वर की आज्ञा से ही दिया जाता है।' इसके पश्चात् आचार्य अभिषिक्त शिष्य को अपने हाथों से उठाकर मण्डल में प्रवेश करावें और वहाँ परमेश्वर की पूजा कराकर इस प्रकार निवेदन करें—'भगवन्, आप के ही आदेश से आपके आज्ञानुवर्त्ती आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित मैंने इस जन को अभिषिक्त किया है। अब इसे गुरु परम्परागत शिवतत्व का उपदेश करना है, सो आपके सामने मैं इसे उपदिष्ट करता हूँ जिससे यह अनुगृहीत पुरुष आपके स्वरूप को प्राप्त हो सके।' इसके बाद गुरु मण्डप से बाहर होकर एक-एक करके पाँचों कलाओं की अग्नि में आहुति दें। सबके पश्चात् पूर्णाहुति देनी चाहिए। पूर्णाहुति के पश्चात् अभिषिक्त

शिष्य के दाहिने हाथ को पाँच अंगमन्त्रों से चिह्नित करके उसकी कनिष्ठिकादि अंगुलियों का भी यथाविधि स्पर्श करे। इस कर-स्पर्श के प्रभाव से सब मन्त्र दीप्तकरण रूप में अल्प समय में ही कार्यक्षम हो जाते हैं और सारे पाश दग्धबीजवत् हो जाते हैं। उस समय शिष्य मण्डलाग्नि के सामने परमेश्वर, कलश एवं अग्नि को दण्डवत् प्रणाम करके अधिकार-प्राप्ति के कारण प्रसन्न होकर जीवन्मुक्ति तथा परशिवरूप दोनों प्रकार का फल प्राप्त करता है। उसी समय से वह शिवतुल्य होकर शिवधामप्रापक गुरुपद-वाच्य हो जाता है।

यह जो परमेश्वर के सकल-रूप के साथ योजन और उसके बाद अणिमादि गुण-प्राप्ति के लिए किये जानेवाले अभिषेक की बात कही गई है, उसके पहले परमेश्वर के निष्कल रूप के साथ योजन और उसके गुणों की प्राप्ति करानेवाली क्रिया हो जानी चाहिए, क्योंकि भोगार्थी साधक के लिए शास्त्रों में पहले निष्कल योजन करके उसके पश्चात् सकल योजन की व्यवस्था है। असली बात यह है कि दीक्षामात्र का अन्तिम फल मोक्ष ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु, जो लोग निवृत्तिमार्गी हैं, उनके लिए भोग-वासना न रहने के कारण मोक्षरूप फल की प्राप्ति में कोई व्यवधान नहीं रहता और भोगार्थी पुरुष पहले इच्छानुरूप भोगों का आस्वादन करके, भोगवासना लुप्त हो जाने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इन दोनों दीक्षाओं में प्रयोजन की दृष्टि से भेद दीख पड़ता है, परन्तु फल दोनों का एक ही है। बुभुक्षुकी दीक्षा का प्रयोजन भोगसिद्धि है, परन्तु दीक्षा का ऐसा ही माहात्म्य है कि अन्त में उसे भी मोक्षरूप फल ही मिलता है। मुमुक्षु की दीक्षा का प्रयोजन और फल दोनों ही मोक्ष है। बस, दोनों में इतना ही भेद है।

क्रिया-दीक्षा—दीक्षा क्रिया एवं ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। दोनों प्रकार की ही दीक्षाओं में एक विशिष्ट वैज्ञानिक भित्ति है,[१] जिसका परिचय सूक्ष्म दृष्टि से अनुसन्धान करने पर जिज्ञासु-मात्र को मिल सकता है। क्रियादीक्षा छह अध्वाओं के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की है—जैसे, कलादीक्षा, तत्त्वदीक्षा, पददीक्षा एवं वर्ण, मन्त्र और भुवन-दीक्षाएँ। तत्त्वदीक्षा साधारणतया चार प्रकार की है—(१) षट्त्रिंशत् तत्त्वदीक्षा, (२) नवतत्त्वदीक्षा, (३) पञ्चतत्त्वदीक्षा और (४) त्रितत्त्वदीक्षा। इनके सिवा एकतत्त्व-दीक्षा का भी वर्णन किया गया है। छत्तीस तत्त्वों को नौ तत्त्वों में परिणत कर सकने से

१. क्रियात्मिका हुति या शौत्री दीक्षा में जो तत्त्वशुद्धि होती है, उसमें भी ज्ञान का ही प्राधान्य रहता है। मतंग परमेश्वर में लिखा है—'यस्य ज्ञानान्न सम्प्राप्तिः क्रिया तस्य विधीयते', अर्थात् जिसे ज्ञान से तत्त्वशुद्धि की सम्यक् प्रकार से प्राप्ति नहीं होती, उसी के लिए क्रिया का विधान है। यहाँ किसी-किसी के मन में ऐसी शंका होती है कि जो दीक्षा के द्वारा अशुद्ध आत्मा को शुद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है, वह यदि अपने को प्राणादि से विलक्षण-रूप में पहचानकर शुद्ध हो गया हो, तो केवल उसके परामर्शमात्र से ही बाह्यव्यापारप्रधाना क्रियात्मिका प्राकृती दीक्षा का प्रयोजन नहीं रहेगा। इसका समाधान यह है कि यदि शक्ति-पात के कारण किसी के चित्त में ऐसा ही विश्वास हो, तो उसे प्राकृती दीक्षा न लेकर विज्ञानदीक्षा अथवा सूक्ष्मदीक्षा ही लेनी चाहिए। परन्तु, यह दीक्षा विशिष्ट कोटि के ज्ञानी से ही सम्पन्न हो सकती है। इस दीक्षा में गुरु को ब्रह्ममार्ग में प्रविष्ट होकर अपने पूर्णाहन्ता परामर्शमय मूल

नवतत्त्वदीक्षा से भी छत्तीस तत्त्वों की शुद्धि हो जाती है[1]। उसी प्रकार छत्तीस तत्त्वों को पाँच[2] अथवा तीन[3] तत्त्वों में परिणत कर लेने पर पञ्चतत्त्व अथवा त्रितत्त्वदीक्षा की प्रक्रिया समझ में आ जाती है। एकत्त्वदीक्षा में छत्तीस तत्त्वों को समष्टिरूप से एकतत्त्व-रूप में ग्रहण किया जाता है। उसी को बिन्दु कहते हैं। उसके शोधन से सब तत्त्वों का शोधन हो जाता है। पददीक्षा की प्रणाली नवतत्त्वदीक्षा के समान है और वर्ण, मन्त्र तथा भुवनदीक्षाओं की प्रणाली कलादीक्षा के समान है। अतएव, अध्वा के वैचित्र्य से क्रिया-दीक्षा ग्यारह प्रकार की होती है। परन्तु, ज्ञानदीक्षा एक और अभिन्न ही होती है। इसमें वैचित्र्य नहीं है। सब मिलाकर मौलिक दीक्षा-भेद बारह प्रकार का है। परन्तु, शिष्य के अधिकार की दृष्टि से इन बारह दीक्षाओं का विचार करने पर यहाँ चौहत्तर[4] प्रकार का दीक्षाभेद प्रतीत होता है। सकल, निष्कल और अघोरेश्वरी प्रभृति अनुष्ठानों के भेद, लोकधर्मी साधक के अवान्तर वैचित्र्य तथा भौतिक नैष्ठिक

मन्त्र का एक बार उच्चारण करना चाहिए। उसी से एक ही समय में मायापर्यन्त भेदमय पाश तथा समना या महामाया-पर्यन्त भेदाभेदमय पाश शुद्ध हो जाता है। यह मन्त्र जैसे एक ओर सारे पाशों का नाश करता है, वैसे ही दूसरी ओर परमशिवपद में नित्य स्थिति भी प्रदान करता है।

१. प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव—ये नौ तत्त्व हैं।

२. पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वों में।

३. शिवतत्त्व, आत्मतत्त्व और मायातत्त्व—इन तीन तत्त्वों में।

४. कलादीक्षा १. तत्त्वदीक्षा ४, एकत्वदीक्षा १, पददीक्षा १ तथा मन्त्र, वर्ण और भुवनदीक्षा ३ एवं साधारणदीक्षा १—ये सब मिलाकर ग्यारह क्रियादीक्षाएँ हैं। इनके अतिरिक्त एक ज्ञानदीक्षा सब मिलाकर कुल बारह दीक्षाएँ हुई। पुत्रक की दीक्षा सबीज, निर्बीज एवं सद्योनिर्वाणदायिनी इस तरह तीन प्रकार की होने के कारण ये सब दीक्षाएँ १२ × ३ = ३६ होती है। आचार्य-दीक्षाएँ केवल सबीज होने के कारण बारह ही हैं। शिवधर्मी तथा लोकधर्मी साधक की दीक्षा दोनों मिलाकर १२ + १२ = २४ है। समयी की दीक्षा, जिसमें अध्वाओं का न्यास नहीं है। ज्ञान द्वारा हृदयग्रन्थि प्रभृतियों का भेदन होने पर एक तथा क्रिया द्वारा ग्रन्थिभेद होने पर एक—इस तरह दो हैं। इस प्रकार, कुल दीक्षाएँ। ३६ + १२ + २४ + २ = ७४ है। शिष्यों के आशय भिन्न-भिन्न होने के कारण एक साधक के लिए किसी अध्वा का तो प्राधान्य रहता है और अन्य अध्वाओं का गौणत्व रहता है। इसीलिए दीक्षा भी अनन्त प्रकार से होती है। आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं—

'यत्र यत्र हि भोगेच्छा तत्प्राधान्योपयोगतः।
अन्यान्तर्भावनातश्च दीक्षानन्तविभेदभाक्॥

(तन्त्रालोक)

इसी प्रकार तत्त्वाध्वा में भी जब किसी तत्त्व का प्राधान्य होता है, तब अन्य तत्त्वों का गौणत्व हो जाता है। इसलिए, दीक्षा में भी वैचित्र्य होना स्वाभाविक है। संक्षेप में कह सकते हैं कि छत्तीस तत्त्वदीक्षा की अपेक्षा नवतत्त्वदीक्षा का अधिकारी और गुरु श्रेष्ठ है। तथा नवतत्त्व से पंचतत्त्व, पंचतत्त्व से त्रितत्त्व और त्रितत्त्व से एकतत्त्व दीक्षा का अधिकार उच्च कोटि का है। वस्तुतः एकत्त्वदीक्षा के योग्य गुरु और शिष्य दोनों ही दुर्लभ हैं।

एकतत्त्वविधिश्चैष सुप्रबुद्धं गुरुं प्रति।
शिष्यगतभोगकाङ्क्षामुदितः शम्भुना यतः॥

एवं आचार्यों के भेद—इन सब दृष्टियों से विचार करने पर दीक्षा का प्रकार भेद प्रायः असंख्य हो जाता है।

कलादीक्षा का विज्ञान, पाशक्षपण और शिवत्व-योजन—दीक्षा का विज्ञान स्पष्टतया समझने के लिए दृष्टान्त-रूप में यहाँ एक दीक्षा का विवरण देना उचित जान पड़ता है। अध्वाओं के मूल में कला का ही प्राधान्य है और शिष्याधिकार के प्रकार-भेद की दृष्टि से पुत्रक का प्राधान्य है, इसलिए यहाँ पुत्रक की कलादीक्षा का संक्षेप से वर्णन किया जाता है। वागीश्वरी के गर्भ से जन्म लेने के कारण जिसके संसार का उपशम हो गया है, उसको तान्त्रिक परिभाषा में 'पुत्रक' कहा जाता है। पृथिवी से कलातत्व-पर्यन्त माया का अधिकार है। इसी का नाम संसार-मण्डल है। इसके बाद शुद्ध-विद्या का राज्य है। शुद्धविद्या ही वागीश्वरी है। इसके गर्भ से जन्म लेने पर विशुद्ध भुवनों में अवस्थान एवं सञ्चार का अधिकार प्राप्त होता है। यह जन्म वस्तुतः बैन्दव देह अथवा मंत्रदेह-प्राप्ति का ही नामान्तर है। इक्कीस अवान्तर संस्कारों के द्वारा यह जन्म-व्यापार निष्पन्न होता। इसके पश्चात् अधिकार, भोग, लय, निष्कृति तथा विश्लेष—ये पाँच संस्कार और भी किये जाते। इन छह संस्कारों के द्वारा मन्त्रों के प्रभाव से पशु के पाशों का विनाश किया जाता है। इस प्रकार पाशनिवृत्ति तथा पाश-संस्कारों से भी मुक्ति हो जाती है। 'पाशक्षपण' के अतिरिक्त दीक्षा के द्वितीय अंग का नाम 'शिवत्व-योजन' है। इसके लिए तेरह पदार्थों का अनुभवात्मक ज्ञान आवश्यक है। सद्गुरु के दीक्षाप्रदान-व्यापार से पाशक्षपण तथा शिवत्वाभिव्यक्ति दोनों ही पूर्णतया निष्पन्न होते हैं। जिन तेरह विषयों का विशेष ज्ञान आवश्यक है, उनके नाम ये हैं—१. चार प्रमाण, २. प्राणसंचार, ३. छह अध्वाओं का विभाग, ४. हंसोच्चार, ५. वर्णोच्चार, ६. वर्णों के द्वारा कारणों का त्याग, ७. शून्य, ८. सामरस्य, ९. त्याग, संयोग तथा उद्भव, १०. पदार्थभेदन, ११. आत्मव्याप्ति, १२. विद्याव्याप्ति और १३. शिवव्याप्ति।

पाशक्षपण : कला में अन्य अध्वा का अन्तर्भाव—हमने दृष्टान्त-रूप से कला-अध्वा का उल्लेख किया, किन्तु इसमें अन्यान्य अध्वाओं का भी अन्तर्भाव समझना चाहिए। तत्त्वादि दीक्षाओं में भी यही नियम है। इसके लिए अध्वाओं का सन्धान अथवा सम्मेलन करने के अनन्तर उनका उपस्थापन करना आवश्यक होता है। कुम्भ, मण्डल, वह्नि, गुरु, शिष्य तथा पाशसूत्र—जो दीक्षार्थी शिष्य के शरीर में लटकाया जाता है—इन छह अधिकरणों में अवस्थित अध्वाओं को एकत्र मिलाना ही अध्वसन्धान है। इस व्यापार के प्रभाव से साधारण अथवा अभिन्न रूप से अध्वाओं का ज्ञान होता है। इसके बाद सम्मिलित अध्वा में से इष्ट अध्वा का प्रधान-रूप से उपस्थापन करना होता है। जब अध्वा की उपस्थिति हो जाती है, तब उसकी व्याप्ति का अच्छी तरह निरीक्षण करना पड़ता है, जिससे स्पष्टतया पता लग जाय कि इष्ट अध्वा का विस्तार कहाँ तक है, वस्तुतः इस व्याप्ति दर्शन से अध्वा में समग्र विश्व का ही अन्तर्भाव दीख पड़ता है। कलादीक्षा में पाँच कलाओं में छत्तीस तत्त्व, दो सौ चौबीस भुवन, पचास वर्ण, दस मन्त्र और इक्यासी पद अन्तर्भूत हैं, ऐसा भावना द्वारा पहले समष्टि रूप में

और फिर पृथक् रूप से निश्चय कर लिया जाता है। निवृत्त्यादि कलाएँ पृथिव्यादि की शक्ति या सूक्ष्म रूप हैं। कलाओं के अधिष्ठाता ब्रह्मा से शिवपर्यन्त छह देवता हैं।[1]

अध्वशुद्धिरहस्य—इस अध्वशुद्धि-व्यापार का तात्पर्य हृदयंगम करने के लिये सृष्टि तथा शुद्धि-तत्त्व का रहस्य समझने का प्रयत्न करना चाहिए। अध्व आगमशास्त्र के अनुसार चिदानन्दमय परमेश्वर अपनी स्वरूपभूता स्वातन्त्र्य या उन्मना शक्ति के द्वारा समग्र विश्व को अपने में ही अपने से अभिन्न होने पर भी एक साथ भिन्नवत् भासित करते हैं। शून्य से पृथिवी-पर्यन्त समग्र विश्व वाच्य अथवा ग्राह्य और वाचक अथवा ग्राहक रूप में स्थित है। वाचक पर, सूक्ष्म तथा स्थूल रूप में क्रमशः वर्ण, मन्त्र और पद—इन तीन नामों से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार वाच्य में भी पर आदि तीन भेद है। इन्हें क्रमशः कला, तत्त्व और भुवन कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वर्ण अभेदविमर्शनात्मिका शक्ति है। कुछ स्थूल भाव को प्राप्त होने पर ये भेदाभेदविमर्शमय होकर मन्त्ररूप हो जाते हैं। जब स्थूलत्व कुछ और बढ़ जाता है, ये भेदविमर्श-प्रतिपादक पद बन जाते हैं। इसी प्रकार, वाच्यरूपा पारमेश्वरी शक्ति अथवा कला उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य को प्राप्त होकर तत्त्व एवं भुवन का रूप धारण करती है। वस्तुतः, कला नाम की एक ही शक्ति स्फुरित हो रही है। इस स्फुरण में यौगपद्य तो है ही, किन्तु दर्पण-नगर के सदृश क्रम का भी भान होता ही है। क्रम के भान में भी कुछ वैशिष्ट्य रहता है। अर्थात्, जो पूर्वकालिक है, वह उत्तरकालिक में व्यापक रूप से रहता है, जैसे मृत्तिका घटादि में; और जो परकालिक है, वह पूर्वकालिक में शक्तिरूप से रहता है, जैसे वृक्ष अपने बीज में। अतएव, सभी वस्तु सर्वात्मक है।[2] इस दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक प्रमाता अथवा भाव वास्तव में परमशिव का ही स्वरूप है। यह स्वरूप छह अध्वाओं का स्फुरण-रूप पारमेश्वरशक्तिमय है और अकार से हकार-पर्यन्त परामर्शात्मक पूर्ण अहन्ता-रूप विश्रामस्थान है। परन्तु, आत्मा अपनी मायाशक्ति के प्रभाव से अपना परमशिवभाव न जानने के कारण अपने को अपूर्ण समझता है। इसलिए शाब्दी कलाओं से उसका ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। इस ऐश्वर्यलोप का मुख्य फल यह होता है कि वर्ण और कलाएँ अपने तात्त्विक रूप में स्फुरित न होकर प्रत्ययों की उत्पादिका हो जाती है। ऐसा प्रत्यय होने के कारण ही आत्मा देहादि में अहं-प्रतीति करने को बाध्य होते हैं। उसके साथ-ही-साथ विषयांशों के साथ सम्बन्ध होने से अपने को भोक्ता-रूप मानने लगते हैं। इस अभिमान के कारण वे खेचरी, दिक्चरी, गोचरी तथा भूचरी—इन चार शक्तिचक्रों के अधीन होकर पशुपदवाच्य हो जाते हैं। इस पशुभाव को दूर करने के लिए पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति भगवद्भावाविष्ट गुरु के हृदय में परमार्थस्वरूप से स्फुरित होकर समग्र अध्वा को, उसके संकोच को निवृत्त करके, अनवच्छिन्न

---

१. पाँच कलाओं का समष्टिभूत बिन्दु के अधिष्ठाता शिव हैं। इसलिए, इन्हें सम्मिलित करके अधिष्ठाताओं की संख्या छह बताई गई है। इन देवताओं की शुद्धि से भी कलाशुद्धि हो सकती है।

२. इसी कारण से पञ्चतत्वदीक्षा में अनाश्रित तत्वपर्यन्त भूतव्याप्ति दिखाई जाती है।

चित्शक्ति के स्फुरण-रूप में प्रदर्शित करती हुई दीक्षा एवं ज्ञानादि के द्वारा शोधित करती है। अतएव, जो मन्त्रादि गुरु का स्फुरण-रूप है, वे शोधक हैं और जो पशु-आत्मा में अभिनिविष्ट हैं, वे शोधनीय। मन्त्रादि में इस प्रकार शोध्य-शोधकभाव है, यह बात स्मरण रखनी चाहिए। एक-एक अध्वा सर्वमय होने के कारण तत्तत् अध्वा के प्राधान्य से दीक्षा-व्यापार में अन्य पाँच अध्वाओं का भी अन्तर्भूतरूप में शोधन हो जाता है। इसीलिए, व्याप्तिज्ञान की आवश्यकता होती है।

निवृत्ति-कला का शोधन—पूर्वोक्त उपस्थापन-क्रिया के द्वारा कला-अध्वा सम्मुख होने पर उसे निकट लाकर शोधन करना चाहिए। इसके बाद शिष्य के देह में नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः निवृत्ति आदि पाँच कलाओं का न्यास किया जाता है, जिसमें गुल्फ-पर्यन्त निवृत्ति के तथा नाभि, तालु, मूर्धा एवं ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त क्रमशः प्रतिष्ठादि कलाओं के न्यास का विधान है। यहाँतक प्राथमिक व्यापार है। इतना सम्पन्न हो जाने पर अध्वगत तीन पाशों का शोधन हो सकता है।

समग्र विश्व ही पाशमय है। निवृत्ति-कला में पृथ्वी-तत्त्व है, जिसको आश्रय करके एक सौ आठ भुवन[1] विद्यमान हैं। यहाँ वर्ण एक (क्ष), मन्त्र दो और पद अट्ठाईस हैं। प्रतिष्ठा कला में तेईस तत्त्व (जल से प्रकृति-पर्यन्त), छप्पन भुवन[2], तेईस वर्ण (ह से ट पर्यन्त), तीन मन्त्र और इक्कीस पद हैं। विद्याकला में सात तत्त्व (पुरुष से माया-पर्यन्त) सत्ताईस भुवन,[3] सात वर्ण (ज से घ तक), दो मन्त्र और बीस पद हैं। शान्तिकला में तीन तत्त्व (शुद्ध विद्या से सदाशिवपर्यन्त), सत्रह भुवन,[4]

१. ब्रह्माण्ड के अधोभाग में तीन (कालाग्नि, कुष्माण्ड और हाटक), मध्यभाग में एक (भूलोक) एवं ऊर्ध्वभाग में सत्यलोकपर्यन्त एक (ब्रह्मा से अधिष्ठित लोक)। उसके पश्चात् विष्णुलोक एक, और रुद्रलोक एक—ये सब मिलाकर सात भुवन ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं। ब्रह्माण्ड के बाहर दस दिशाओं में सौ रुद्रभुवन है और सब से ऊपर एक भुवन सर्वाधिष्ठाता वीरभद्र का है। इस प्रकार ये सब एक सौ आठ भुवन निवृत्ति-कलान्तर्गत पृथिवी-तत्त्व में आश्रित हैं।

२. जलतत्त्व में गुह्याष्टक भुवन आठ, तेजस्तत्त्व में अतिगुह्याष्टक आठ, वायुतत्त्व में गुह्याद्गुह्यतराष्टक आठ, आकाशतत्त्व में पवित्राष्टक आठ, अहंकार, तन्मात्र और इन्द्रियतत्त्व में स्थाण्वष्टक आठ, बुद्धि-तत्त्व में देवयोन्यष्टक आठ तथा गुणतत्त्व में योगेश्वराष्टक आठ—इस प्रकार कुल छप्पन भुवन हैं। यहाँ जो देवयोनि के भुवन लिखे हैं, उन्हें सूक्ष्म समझना चाहिए। इनके स्थूल भुवन ब्रह्माण्ड के भीतर हैं।

३. पुरुष और रागतत्त्व में विद्येश्वरों के आठ, नियति और विद्यातत्त्व में वामा से मनोन्मना तक नौ, काल और कलातत्त्व में महादेवादि से अधिष्ठित तीन, तथा मायातत्त्व में सात—एक नीचे, एक ऊपर, चार मध्य में और एक मायाधिष्ठाता अनन्त का भुवन—इस प्रकार ये कुल सत्ताईस भुवन हैं।

४. शुद्धविद्या में विद्याराज्ञियों का एक भुवन तथा ईश्वरतत्त्व में पन्द्रह भुवन—यथा ईश्वर का एक, अनन्तादि विद्येश्वरों के आठ, धर्मादि के चार, वामादि तीन शक्तियों का एक और ज्ञानक्रिया-भुवन एक, एवं सदाशिव-तत्त्व का एक भुवन। इस प्रकार, कुल मिलाकर सत्रह भुवन हैं। इनमें ज्ञान-क्रियाभुवन में उनसठ अवान्तर भुवन भी हैं, परन्तु यहाँ उनका विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। सदाशिव भुवन शिव-रुद्रादि आवरणों के अन्तर्गत अनन्त भुवनों में व्यापक है।

तीन वर्ण (ग ख क), दो मन्त्र और ग्यारह पद हैं। शान्त्यतीत कला में बिन्दु-नाद-कलारूपा शक्ति और शिव—ये दो तत्त्व, सोलह भुवन,[1] सोलह वर्ण (विसर्ग से अ तक), एक मन्त्र और एक पद (ऋ) हैं।

(क) जन्मसंस्कार—उस विशाल विश्वमय पाशजाल के शोधन[2] के लिए एक प्रणाली है, जिसमें जन्मादि छह संस्कार अन्तर्गत हैं। जगत् में चौदह प्रकार के प्राणी हैं, जो देवता, मनुष्य और तिर्यक्—इन तीन मुख्य जातियों के अन्तर्गत हैं। इन जीवों के देहों की सृष्टि ही भूतसर्ग कही जाती है। किन्तु, योनि के विना देह की सृष्टि हो नहीं सकती। इन चौदह प्रकार की भूतसृष्टि की मूलभूता योनि शतरुद्र से अनन्त-पर्यन्त है। शतरुद्र ब्रह्माण्ड के बाहर है तथा अनन्त ब्रह्माण्ड के अधोभाग में स्थित है। वाक् अथवा वागीशी इन सब योनियों में ही नहीं, अपितु निवृत्ति से ऊपर की कलाओं में भी व्याप्त रहती है। निवृत्तिव्यापिका वागीशी के साथ पृथ्वी-तत्त्व में रहनेवाले अनन्त से शतरुद्र-पर्यन्त विभिन्न भुवनों के चौदह प्रकार के प्राणियों के विभिन्न शरीरों का सम्बन्ध है। वस्तुतः, वागीशी ही सब शरीरों को उत्पन्न करनेवाली है। कला-दीक्षा के समय जब अध्वसन्निधान के बाद अध्वविशेषरूप में कला-अध्वा का और उसके अन्तर्गत निवृत्तिकला का उपस्थापन होता है, तब उस निवृत्तिव्यापिका वागीशी को निवृत्तिकलान्तर्गत योनियों में एक साथ ऋतुरूप में सन्निहित करना होता है। वस्तुतः, जिस मनुष्य पर भगवदनुग्रह हुआ है, उसके लिए वागीश्वरी आर्त्तवरूप में सन्निहिता रहती है। यह आर्त्तव शुद्धसृष्टि की उन्मुखता से होनेवाली एक साथ अनेक देहों की सृष्टि का सामर्थ्यमात्र है। गुरु केवल प्रयोजन-व्यापार के द्वारा सन्निहित वागीशी को मुद्रा-बन्धन से स्थापित करते हैं। उसके पश्चात् वे शिष्य के पाशसूत्र का प्रोक्षण और तारण करके अपने दक्षिणमार्ग से बाहर निकलकर शिष्य के वाममार्ग द्वारा उसके देह में प्रवेश करके पाशसूत्रस्थ पुर्यष्टक का छेदन करें। फिर, छिन्न पुर्यष्टक को आकृष्ट करके देह के साथ उसका रश्मिमात्र सम्बन्ध रखते हुए अपने द्वादशान्त स्थान (मस्तक) में रखें। तथा वहाँ के चैतन्य को सम्पुटित करके दीप्त शिवहस्त से संहार-मुद्रा के द्वारा पूरक क्रिया से हृदय में अपने आत्मा के साथ उसका योजन करें। इसके पश्चात् कुम्भक और रेचक क्रियाओं के अनन्तर उसे द्वादशान्त से उठाते हुए लिंग-

---

१. शान्त्यतीतकला में जो शिवतत्त्व है, उसमें बिन्दु से समना-पर्यन्त सब भूमियाँ अन्तर्गत हैं। इसमें बिन्दु नाद और कला—ये तीन आवरण मुख्य हैं। बिन्दु-आवरण में तीन भुवन है। यथा—निवृत्ति आदि चार कलाओं से परिवेष्टित शान्त्यतीत भुवन तथा अपनी-अपनी पाँच कलाओं से घिरे हुए अर्धचन्द्र भुवन और निरोधिका भुवन। नादान्त में छह भुवन है—नाद में इन्धिका प्रभृति पाँच शक्तियों के पाँच भुवन तथा नादान्त में सुषुम्णेश्वर परब्रह्म का एक भुवन। शक्ति-आवरण में सात भुवन हैं—सूक्ष्मा प्रभृति चार शक्तियों से घिरा हुआ एक पराशक्ति का भुवन, व्यापिनी भूमि में पाँच कलाओं के पाँच भुवन एवं समना या महामाया में व्याप्त एक शिवभुवन। इस प्रकार ये कुल सोलह भुवन हैं।

२. दीक्षा में पुरुषगत पाशों का ही शोधन होता है, बुद्धिगत पाशों का नहीं। इसलिए बुद्धि में दोष रह जाने से भी दीक्षा निष्फल नहीं होती। अवश्य तीव्रतम शक्तिपात से बुद्धिगत दोषों के बीज भी नष्ट हो सकते हैं।

मुद्रा के द्वारा सन्निहिता वागीशी के गर्भ में स्थापित करें। इस गर्भाधान के समय गुरु अपने को क्रियाशक्तिप्रधान और स्रष्टा ईश्वर के रूप में तथा वागीशी को माया के रूप में देखते हैं। इस समय वागीशी अशुद्ध जगत् की प्रसवकारिणी मायारूपा है। परन्तु, कालान्तर में शुद्ध जगत् का प्रसव करने के समय यही महामायारूपा हो जायगी। इस मायारूपा वागीशी के साथ शुद्ध विद्या का कोई सम्बन्ध नहीं है, नहीं तो क्रमिक कर्मभोगों को एक ही समय शुद्ध करने के लिए अनन्त देहसृष्टि की आवश्यकता न होती। शिष्य के चैतन्य को इस मायारूपा वागीशी में संयुक्त करके गुरु को निवृत्ति-कलाप्रधान अध्वा में, अर्थात् एक सौ आठ भुवनों में विभिन्न शरीरों की सृष्टि करनी पड़ती है। इन सब देहों की सृष्टि का उद्देश्य प्राक्तन कर्मवासना के कारण होनेवाली अनन्त जन्म, आयु और भोगात्मक फलों की प्राप्ति है। इन विभिन्न शरीरों में एक ही समय में तत्तत् देश-काल और स्वभाव के अनुसार भोग होता है; क्योंकि मन्त्रशक्ति के प्रभाव से ये सब शरीर एक ही समय में फलोन्मुख हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के भोगों के लिए शिष्य के केवल शरीर ही एक साथ विभिन्न प्रकार के और अनेक हो जाते हों, ऐसी बात नहीं, अपितु वह नियत भोग के लिए तदनुरूप नाना प्रकार के जीवरूप से भी वागीशी-योनि में संयोजित होता है। यहाँ दीक्षापात्र एक होने पर भी विभिन्न शरीरधारी होने के कारण उसे 'अनेक' कहा गया है। अनेक भोगों के आश्रयभूत विचित्र देह और विचित्र भोग्यों के सम्बन्ध से उसमें अनेकत्व आ जाता है।

वागीशी के गर्भ में शिष्य के चैतन्य को योजित करने के बाद सब गर्भों में एक ही साथ (शतरुद्र से अनन्त-पर्यन्त) अनेक प्रकार के देह परमेश्वरभावाविष्ट गुरु की इच्छा से निष्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् गर्भ से निष्क्रमण होता है। इसी का नाम जन्म है। पाशक्षपणार्थ छह संस्कारों में यही प्रथम संस्कार है।

(ख) अधिकारादि पाँच संस्कार—सब योनियों में वे देह एक साथ बढ़ने लगते हैं। उस समय उनका भोग में अधिकार होता है। मायान्तर्गत भोग ही कर्म का फल है। कर्म शुभाशुभादि वासनात्मक होते हैं। यह क्रमिक भोग-सम्पादक होने पर भी मन्त्र के प्रभाव से अक्रम से ही भोगों की निष्पत्ति हो जाती है, अनेक जन्मों से सञ्चित प्राक्तन कर्म दग्ध हो जाते हैं और भविष्यत् कर्मों की वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। केवल देहारम्भक कर्म ही भोग से नष्ट होते हैं। कर्मों के अनुष्ठान से भोग के साधन मिलने पर सुख-दुःखात्मक भोग भोगने का अवसर आता है। भोग निवृत्त हो जाने पर कुछ काल के लिए एक अनिर्वचनीय तृप्ति का उदय होता है। यह परमा प्रीति की अवस्था है। तन्त्रों में इसका 'लय' नाम से वर्णन किया जाता है। इसके बाद 'निष्कृति' नामक संस्कार की आवश्यकता होती है। शुभ अथवा अशुभ कर्मों से वीरभद्र के भुवन-पर्यन्त विभिन्न भुवनों में जन्म, आयु और भोग—इन तीन फलों का भोग होता है। इसको शुद्ध करने के लिए ही निष्कृति-संस्कार की आवश्यकता होती है। भुवनाकार विषयों में जितने विषय भोग्यरूप हैं, उन्हीं का शोधन करना होता है। निष्कृति से समस्त कर्मफल-भोग समाप्त हो जाता है। इससे केवल जन्मादि की ही शुद्धि होती है, ऐसी बात नहीं है, रुद्रांशापादनरूपा शुद्धि भी होती है। भोगसमाप्तिरूपा

निष्कृति के बाद भोगों से विश्लेष होता है, अर्थात् फिर भविष्य में भोगों के साथ कभी सम्बन्ध नहीं होता; क्योंकि उस समय भोक्ता में भोक्तृत्व नहीं रहता। आणव-मल के कारण जो विषयों के प्रति आसक्ति या राग होता है, वही भोक्तृत्व का स्वरूप है। विश्लेष अथवा भोगाभाव सिद्ध हो जाने पर भूतसर्ग-रूप अनेक प्रकार के स्थूल-सूक्ष्मादि शरीर नष्ट हो जाते हैं, और उनकी पुनरुत्पत्ति की सम्भावना नहीं रहती।

निवृत्तिकला-शोधन के अन्तर्गत अवशिष्ट क्रियाएँ—इस प्रकार दीक्षा के द्वारा तीनों प्रकार के पाशों का विश्लेषण हो जाता है। उस समय सब शरीरों का नाश हो जाने के कारण गुरु शिष्य को एक अविच्छिन्न-चैतन्य के रूप में देखते हैं। पाशसम्बन्ध एकीकृत, चैतन्य, शुद्ध-निवृत्तिकला के ऊपर अनावृतरूप से स्थित होता है और सुवर्ण की प्रभा के समान देदीप्यमान होता है। उस समय निवृत्तिव्याप्त पृथिवीतत्त्व से शिष्य का उद्धार करना पड़ता है। यद्यपि वह चैतन्य निवृत्ति की शुद्धि से निर्मल हो जाता है तथापि अन्यान्य कलाओं का अभी शोधन न होने के कारण व्यापक दृष्टि से वह मलयुक्त ही रहता है। गुरु उस चैतन्य को पृथिवीतत्त्व से खींचकर प्रणव सम्पुटित किये हुए हंस-बीज के आकारमें संहार-मुद्रा के द्वारा पूरक-क्रिया से अपने हृदय में ले आवे। उसके बाद पूर्ववत् कुम्भक एवं द्वादशान्त में रेचन कर फिर द्वादशान्त से उठाकर नाडी-रन्ध्र के द्वारा शिष्य के शरीर में पहुँचा दे। तन्त्रों में इस क्रिया को 'तत्स्थीकरण' कहा है।

निवृत्तिकला की शुद्धि के बाद, उस कला के अधिष्ठाता ब्रह्मा का आवाहन करके उनका पूजन और तर्पण करने के बाद, उन्हें शिष्य के पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्मदेह के कुछ अंश अर्पण करे। पुरी अथवा सूक्ष्मदेह के आरम्भक पाँच तन्मात्र एवं मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ अवयवों में से शब्द तथा स्पर्श—ये दो अवयव, ब्रह्मा को अर्पण करे और इसके पश्चात् उन्हें परमेश्वर की यह आज्ञा सुना दे कि—

भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया।
प्रतिबन्धः प्रकर्त्तव्यो यातुः पदमनामयम्॥

(मालिनीविजय)

'हे भुवनेश! भगवान् शिव की आज्ञा से तुम परमपद की ओर जाने वाले इस साधक के मार्गमें विघ्न उपस्थित न करना।'

इसके अन्तर्गत पूजा-होमादि करने के पश्चात् ब्रह्मा का, और फिर वागीशी का विसर्जन करें। वागीशी वस्तुतः स्वातन्त्र्यशक्तिरूपा परावाक् का ही स्फुरणमात्र है। इसलिये परावाक् के साथ एकत्व-सम्पादन ही उसका विसर्जन है। तदनन्तर विशुद्ध निवृत्तिकला में विशुद्ध पाशों का दर्शन करे। इस दृष्टि से प्राक्तन और भावी दोनों ही प्रकार के कर्मों का अभाव हो जाता है, यह स्पष्ट दिखायी देता है; क्योंकि पुत्रक-शिष्य मोक्षार्थी होने के कारण साधक की भाँति फलोन्मुख नहीं होता।[1] फलदानौन्मुख

---

१. शिवधर्मिणी दीक्षामें साधकको भी जन्मान्तरसे संचित शुभाशुभ और वर्त्तमान जन्ममें होनेवाले कर्मोंका शोधन करना पड़ता है। केवल भावी मन्त्राराधनरूप कर्मोंका जिनसे विभूतियोंका अविर्भाव होता है, शोधन नहीं किया जाता। लोकधर्मिणी दीक्षामें लौकिक साधकके प्राक्तन

वर्त्तमान या प्रारब्ध कर्मों की शुद्धि अवश्य नहीं की जाती। उसका क्षय तो केवल भोगद्वारा ही करना पड़ता है।

इस प्रकार निवृत्तिकला शुद्ध होने पर उस कलाका सन्धान करना होता है। यह दो प्रकार से किया जाता है—(१) शुद्ध कला का सन्धान और (२) प्रतिष्ठाकला के सम्बन्ध से अशुद्ध कला का सन्धान। सम्पूर्ण पाशों का शोधन करनेवाले निष्कल मन्त्र ही ग्यारह अंग--ब्रह्ममन्त्रों का, शोधन करते हैं। ये निष्कल मन्त्र शुद्ध-कला के वाचक होने के कारण शुद्ध कहे जाते हैं और ये ही अशुद्ध-कला के वाचक होने पर अशुद्ध कहे जाते हैं। शुद्धनिवृत्ति-वाचक निष्कल का 'ह्र' स्वरूप से उच्चारण किया जाता है। इसका स्वरूप परविन्दु तक व्यापक है और उसमें किसी प्रकार का प्रसर नहीं है। अशुद्ध प्रतिष्ठावाचक निष्कल का दीर्घरूप से उच्चारण किया जाता है। इसका स्वरूप नागपर्यन्त व्यापक है और यह प्रसरोन्मुख है। इन दोनों के एकत्व या सामरस्य की भावना करते हुए तथा शुद्धनिवृत्ति को लीन और अशुद्धप्रतिष्ठा को उद्बुद्ध करनेके लिये तद्वाचक[1] मूलमन्त्र के साथ एकीभूत भावना करते हुए उच्चारण करना होता है।

इसके बाद पूर्ववर्णित प्रणाली से प्रतिष्ठा-कला के शोधन का विधान है। यहाँ भी पूर्ववत् कलासन्धान, प्रतिष्ठाकला का व्याप्ति-दर्शन, वागीशी-गर्भ में जन्म और तदनन्तरवर्ती अधिकारादि विश्लेषण तक सभी किया जाता है। परन्तु कहीं-कहीं निवृत्ति की अपेक्षा कुछ विशेषता रहती है। इसमें तारण-प्रोक्षण-प्रभृति कार्य क्रियाप्रधान ऐश्वर्यमूर्ति में और अधिकार, भोग, लय एवं निष्कृति शिवभावापन्न[2] होकर किये जाते हैं तथा विश्लेषण, एकचैतन्यभावना और उद्धारादि-क्रिया ज्ञानशक्ति-प्रधान सदाशिवरूप से होते हैं, क्रियाशक्ति-प्रधान ईश्वररूप से नहीं होते। प्रतिष्ठाकला के अधिपति विष्णु हैं, इन्हें पूर्वोक्तप्रणाली से पुर्यष्टक का रस अर्पण करना चाहिये। इनको भी पूर्ववत् भगवादाज्ञा सुनाकर विसर्जन करने के बाद परावाक् में वागीशी का विसर्जन तथा ह्रस्व-दीर्घ के प्रयोगद्वारा पूर्ववत् कलासन्धान करना चाहिये।

इस प्रकार दो कलाओं से मुक्ति हो जाने पर पशु के चैतन्य को विद्या में युक्त करके शुद्ध किया जाता है। इसमें भी सब प्रक्रिया पूर्ववत् ही है। परन्तु विश्लेषण और पाशच्छेद के बाद आत्मस्थता और तत्स्थीकरण कर लेना चाहिये। इस कला के अधिपति रुद्र हैं। उनका आमन्त्रण करके पुर्यष्टक का गन्धरूप अंश अर्पण करना चाहिये।

शान्ति और शान्त्यतीत कलाओं के शोधन में भी कोई नवीन प्रक्रिया नहीं है। केवल इतना भेद अवश्य है कि पुर्यष्टक का अहंकार-अंश शान्त्यधिष्ठाता ईश्वर को और मन-अंश शान्त्यतीताधिष्ठाता सदाशिव को समर्पण किया जाता है।

और आगामी कर्मोंके अधर्मांशमात्र का ही नाश किया जाता है, धर्मांश रख लिया जाता है। दीक्षाके प्रभावसे वह धर्मांश अणिमादि-विभूतिरूप फल प्रदान करता है।

१. निवृत्ति प्रभृति कलाओंके वाचक बीजमन्त्रोंको क्रमशः हृत्, शिरः, शिखा, कवच नेत्र और मन्त्र कहा जाता है।

२. अधिकारादि ज्ञान प्रभुत्वसे होते है सदाशिवादि समस्त स्थलोंमें एकमात्र शिव ही प्रभु हैं।

पञ्चकल-दीक्षा हो चुकनेपर वागीशी से इस प्रकार क्षमाप्रार्थना की जाती है—"मैंने आपको बार-बार परस्वरूप से गर्भाधानादि के लिये उतारा है, अब से आप इस दीक्षित के स्वरूप का आवरण न करें। अब आप अपने विश्रामस्थान लौट जाँय अर्थात् दीक्षित के आत्मस्वरूप में जो परमशिव-मय है, उससे अभिन्न होकर स्फुरित हों।

पुर्यष्टकार्पण का तात्पर्य—पहले यह दिखाया गया है कि पुर्यष्टकको ब्रह्मादि पाँच कारणों में अर्थात् कलाधिष्ठाता देवताओं में अर्पण किया जाता है। ये पाँच देवता समस्त अध्वा के अधिपति हैं। ब्रह्मा में शब्द और स्पर्श का अर्पण होता है। ये ब्रह्मा परम व्यापक रूप में नादान्त के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र के अधिष्ठाता ब्रह्मस्वरूप हैं।[1] विष्णु में रस का अर्पण होता है। ये प्रसरणमय शक्तिस्वरूप हैं।[2] रुद्रमें रूप और गन्धका समर्पण किया जाता है, ये परमव्यापक रूपमें व्यापिनीपदमें अवस्थित अनाश्रित-नाथ हैं।[3] स्मरण रखना चाहिये कि व्यापिनी शून्य का ही नामान्तर है। बुद्धि और अहंकार रूप अंश ईश्वर में अर्पित होते हैं। ये समनापद में अविरुद्, सृष्टि के अधिकार से युक्त, शिव हैं।[4] मन सदाशिव में अर्पित होता है। ये सदाशिव निर्मल स्वातन्त्र्य-मय और चिदानन्दघन परमशिव-स्वरूप ही हैं।[5] इन देवताओं को पुर्यष्टक के अंश समर्पण करने का उद्देश्य यह है कि इस उपाय से सूक्ष्मदेह का सूक्ष्मतम संस्कार भी शान्त हो जाय। सूक्ष्मदेह आत्यन्तिक रूप से निवृत्त होने पर दीक्षा का प्रथम उद्देश्य प्रायः सिद्ध हो जाता है।

शान्त्यतीत-कला शुद्ध होकर परम-शिव में लीन हो जाती है। ये परम शिव स्वातन्त्र्यमय और व्यापिनी से लेकर पृथ्वीपर्यन्त सब प्रकार भाव तथा अभावों के भित्तिभूत महाशून्य के आश्रय हैं। स्वातन्त्र्य-शक्ति उन्मना है और महाशून्य समनात्मक है।

पूर्वोक्त विवरण में मायातत्त्वपर्यन्त अध्वाकी शुद्धि दिखायी गयी है। इतना अध्वा आत्मतत्त्व से व्याप्त है और परदृष्टि से प्रमेयात्मक है। माया के ऊपर सदाशिव-पर्यन्त अध्वा विद्या या भगवान् की ज्ञान-क्रियात्मिका शक्ति से व्याप्त है। इतना अध्वा

---

१. ब्रह्म में सूक्ष्मतम शब्द और स्पर्श का सम्बन्ध है, क्योंकि यह नादान्त और शक्ति की मध्यवर्तिनी अवस्था है।

२. विष्णु से सूक्ष्म-रस का सम्बन्ध है, क्योंकि शक्ति मूलतः स्पर्शप्रधाना होने पर भी प्रसरण-अवस्था में रसमयी होती है। इसी से शक्तिमय विष्णु में सूक्ष्मतम रस का सम्बन्ध माना जाता है।

३. रुद्र में सूक्ष्मतम संस्कारमात्र में अत्यन्त तनु (सूक्ष्म) गन्ध की सत्ता है। व्यापिनी अथवा अनाश्रित-पद मे समग्र विश्व के सन्धायक-स्वरूप रुद्रकी स्थिति है। सूक्ष्मतम संस्कार अर्थात् गन्ध पूर्वसृष्ट-जगत् के उपसंहार के अनन्तर रहनेवाला बीजभाव मात्र है।

४. शिव केवल मननात्मक है। इसलिये उनमें लीन होती हुई बुद्धि और अहंकार-वासना का सम्बन्ध रहता है।

५. परम-शिव उन्मना-शक्ति से संश्लिष्ट है। इसलिये उनमें मननसंस्कार भी नहीं रहता। परन्तु तान्त्रिक आचार्यों का कथन है कि "उनमें अतिसुसूक्ष्मतम सुप्रशान्त मनःसंस्कार का सम्बन्ध रहता है।"

प्रमाण-रूप या करणात्मक है। इसके बाद शक्ति या समनापर्यन्त अध्वा शिवतत्व से व्याप्त है। यह प्रमातृ-रूप है। प्रकारान्त से कहा जा सकता है कि आत्मतत्त्व (पृथ्वी से माया तक) प्रमेय है, विद्यातत्त्व (शुद्धविद्या से सदाशिव तक) प्रमाण है और शिवतत्व (शक्ति और शिव) प्रमाता है। इन तीन तत्त्वों की शुद्धि में क्रमशः विधि (पूजा-होम इत्यादि) और अनुष्ठानगत न्यूनता या आधिक्य से, मन्त्रोच्चार में विलोमभाव से एवं भावना में (मनोविज्ञान में) वैकल्य होने से, जितनी त्रुटियाँ होती हैं, उनका भी निराकरण कर लेना चाहिये।

शिखाच्छेद—इसके बाद शिखाच्छेदका विधान है। स्थूल देह की शिखा मस्तक-पर्यन्त ऊर्ध्व-गतिशील प्राणशक्ति का अनुकरण है। इस शक्ति का अधःप्रवाह ही बन्धन का हेतु है। बाह्य शिखाच्छेद का तात्पर्य इसका उपशम ही है। सब तत्त्वों में व्याप्त रहनेवाली, समस्त कारणों की कारण, सब प्रकार की उपाधियों से रहित, निष्कलंका शान्त्यतीता शक्ति को पुष्प के अग्रभाग में स्थित जलविन्दु के सदृश शिष्य के शिखाग्र में भावना कर के उस शिखा का अभिमन्त्रित कर्तरी (कैंची) से छेदन करना चाहिये। इसके बाद प्राणशक्ति का विलापनरूप शिखाहोम होता है। इतना हो जाने पर गुरु का शिवहस्तपूजन करने के बाद मण्डप में परमेश्वर की पूजा करके यह निवेदन करना चाहिये कि 'हे भगवन्! आप की कृपा से छः अध्वाओं में बँधे हुए पशु को खींचकर और उसके मल को शुद्ध करके शिखाच्छेद-पर्यन्त सारे कृत्य आपके बताये हुए क्रम के अनुसार मैंने किसी प्रकार सम्पादन किये हैं। अब आपका निरपेक्ष अनुग्रह ही उसको निश्चित रूप से परमशिवावस्था में पहुँचा देगा।'

[७]

क्रियादीक्षा : शिवत्व-योजना

योजनोपयोगी क्रियाओं का तात्पर्य—पाशशुद्धि के बाद परमेश्वर की आज्ञा लेकर अभेद-सम्पादक योजन-क्रिया करनी पड़ती है। उसका प्राथमिक कृत्य समाप्त करके अंगमन्त्रों को शुद्ध करना होता है। ये मन्त्र भगवान् की अन्तरंग शक्तियां हैं। ये चिदात्मा के निष्कल स्वरूप का आच्छादन करके सकल-भाव को स्फुरित करते हुए भेदज्ञान उत्पन्न करते हैं। इनसे भी ऐसा अनुरोध करना पड़ता है कि वे पशु को सकल भाव में परिणत न करें। योजनकर्म अत्यन्त कठिन है। इससे ही जीवात्मा और परमात्मा का योग होता है और जीव परम शिव-अवस्था लाभ करने में समर्थ होता है।[1] ज्ञान और योग का अभ्यास न रहने पर योजनक्रिया सम्पन्न नहीं की जा सकती।

पुर्यष्टक में जो अहंभाव रहता है, पहले उसे उपशम किये बिना भगवान् के साथ योग स्थापित नहीं हो सकता। पुर्यष्टक का आश्रय स्वप्न में प्राण है तथा सुषुप्ति

---

१. तस्मिन् युक्तः परे तत्वे सर्वज्ञादिगुणान्वितः।
शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः।

[स्वच्छन्दतन्त्र]

में शून्य है। इसलिये प्राण और शून्य-भूमि को शान्त करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि यद्यपि कारण देवताओं में पुर्यष्टक के अवयवों का अर्पण हो चुका है, तथापि उससे एक प्रकार से वृत्तियों का ही निरोध सिद्ध होता है, भूमि-शुद्धि नहीं होती। परन्तु भूमिशुद्धि हुए बिना योजनोपयोगी आत्मादि की व्याप्ति नहीं हो सकती। प्राण और शून्य के प्रशमन के लिए कुछ ज्ञान और योगादि अन्तः-क्रियाओं की आवश्यकता होती है। इस प्रसंग में श्वास का देशगत और कालगत परिणाम जानकर प्राण की आरोहण और अवरोहण क्रियाओं का तत्त्व जानना होता है। उसके लिये पूर्णत्वप्राप्ति के मार्ग में जितने अध्वा का उल्लंघन करना पड़ता है, उसका भी परिचय लेना आवश्यक है। यह अध्वा-लंघन-व्यापार ऊर्ध्व-नाद से सम्पन्न होता है, जिसका दूसरा नाम हंसोच्चार है। यह उच्चार स्वाभाविक और प्रयत्नपूर्वक भेद से दो प्रकार का है। प्रयत्नपूर्वक उच्चार के प्रभाव से निष्कल-मंत्र के अवयवभूत अ, उ, म प्रभृति वर्ण ब्रह्मादि कारणों को और तदनुकूल काल को त्यागने में समर्थ होते हैं। इतनी क्रियाओं से प्राण की शान्ति होती है। इसके बाद शून्य को शान्त करने की आवश्यकता होती है। इस विषय में सम्यक् ज्ञान (विषुवत्) की अपेक्षा है, क्योंकि उसके बिना मंत्र, आत्मा और नाडी आदि का सामरस्य समझने में नहीं आता। जब सामरस्य ही समझ में नहीं आता तो परमेश्वर के साथ आत्मा का योग कैसे हो सकता है। मन्त्रोच्चार के अंग-रूप से उसके अवयवभूत (अ से लेकर उन्मनापर्यन्त) बारह प्रमेयों को जानकर तत्तत् दशाओं को त्यागने से क्रमशः ऊर्ध्वारोहरूप उद्भव प्राप्त हो सकता है। परन्तु दशाओं को त्यागने का क्रम जानने से पहले उनके संयोग का प्रकार भी जान लेना आवश्यक है। ज्ञान और मन्त्ररूप शूलों के द्वारा अर्थात् विशुद्ध ज्ञान से और मुद्रा एवं भावयुक्त मन्त्र से ग्रन्थियों का भेदन किये बिना पूर्ववर्णित दशा-त्याग या उद्भव कुछ भी होना सम्भव नहीं है। इस ज्ञान और योग का मूल भावप्राप्ति है, अर्थात् सुदृढ़ धारणा और शब्दादि का अनुभव, इन दो प्रकार के भावों के प्रभाव से ही विशुद्ध ज्ञान और योग की उपलब्धि हो सकती है। इस स्थिति में शून्य का भी उपशम हो जाता है। इस दीर्घ मार्ग के पार कर लेनेपर आत्म-तत्त्व में अपनी विशुद्ध अवस्था का अनुभव होता है। यही आत्मव्याप्ति है। इसके पश्चात् विद्यातत्त्व के क्रमशः उन्मना में विश्रान्त हो जाने पर विद्या-व्याप्ति होती है। तथा अन्त में शिवतत्त्व का परमशिव में समावेश होता है, तब शिव-व्याप्ति होती है। शास्त्र तथा अनुभव से इन तीन प्रकार की व्याप्ति का यथावत् ज्ञान हो जाने पर ठीक-ठीक परतत्त्व-योजन हो सकता है।

प्राणप्रशमन में अपेक्षित क्रियाएँ

परिमाणसहित प्राणोच्चार का विज्ञान—हृदय से प्राण प्रसूत होकर ऊपर की ओर समनाशक्ति के स्थान ब्रह्म-रन्ध्रपर्यन्त संचार करता है। इस प्रदेश की व्याप्ति अति-वृहत् से लेकर अत्यन्त क्षुद्र प्राणी तक अपने-अपने मान से छत्तीस अंगुल है। यह प्राणी की गति सब प्राणियों के लिये समान होने पर भी कर्म-वैचित्र्य से इसमें तारतम्य दिखायी देता है। इस छत्तीस अंगुल संचार में जाना-आना दोनों ही प्रकार की गति समझनी

चाहिये। इसमें प्राण का आरोह और अपानका अवरोह समझना चाहिये। प्राणरूप सूर्य हृदय से उदित होकर ब्रह्मरन्ध्र में अस्त होता है, यही दिन है, तथा अपानरूप चन्द्र ब्रह्मरन्ध्र से उदित होकर हृदय में अस्त होता है, यही रात्रि है। इन प्राण-अपानरूप दिन-रात में दो सन्ध्यायें हैं। प्रातःसन्ध्या हृदय में है और सायंसंध्या ब्रह्मरंध्र में है, हृदय से ब्रह्मरंध्र तक चलने में प्राणों को जितना समय लगता है, उसे सोलह त्रुटि या एक निःश्वास कहा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मरंध्र से हृदयपर्यन्त आने में अपानको भी उतना ही समय लगता है, इसे प्रश्वास कहते हैं। इन्हीं में दोनों संध्याओं का भी अंतर्भाव समझना चाहिये। प्रत्येक संध्या एक-एक त्रुटिकाल रहती है।उससे प्राण-अपान दोनों का मिलाकर सवा दो अंगुल का संचार रहता है।

जब तक परमतत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक इस प्राणसंचार-क्रिया का अभ्यास करना पड़ता है। प्राणरूपी मन्त्र हृदय से उठकर ज्ञान-विकास के तारतम्य के अनुसार ऊपर की ओर जाता है। परन्तु परमतत्व का ज्ञान न रहने के कारण यह ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त उठकर फिर नीचे लौट आता है, ब्रह्मरन्ध्र का भेदन नहीं कर सकता। पहले यह अठारह अंगुल तक उठकर तालु-स्थान में पहुँचता है। यह रुद्र या माया-ग्रन्थि का स्थान है। इस ग्रन्थि का भेदन न कर सकने के कारण यह मध्य-नाडी के द्वारा भ्रूमध्य में, ईश्वरस्थान में जाता है। पहले अठारह अंगुल प्राण तालुस्थान में ही रह जाता है। फिर भ्रूग्रन्थि का भेदन न हो सकने के कारण आगे का छः अंगुल वहीं रह जाता है। यहाँ से पार्श्ववर्तिनी दो नाडियों के द्वारा शेष बारह अंगुल प्राण ब्रह्म-रन्ध्र तक जाता है। परन्तु शाक्तबल न रहने के कारण वह ब्रह्मरन्ध्र का भेदन नहीं कर सकता। अतः वह शेष बारह अंगुल वहीं रह जाता है। यही प्राण का अस्त होना है। इसके बाद अपानक्रिया के अनन्तर इसका हृदयदेश से पुनः उद्गमन होता है। इसी प्रकार निरन्तर यह क्रिया हो रही है। परन्तु शाक्तबल प्राप्त होने से प्राण में सभी ग्रन्थियों में संचार करने का सामर्थ्य आ जाता है। परतत्व का ज्ञान हो जानेपर किसी भी ग्रन्थि में स्थित रहने पर भी प्राण बाधित नहीं होता, अर्थात् देहादि में प्रमातृ-भाव का उदय होकर वह उसके अधीन नहीं होता। पर-ज्ञान से यह देहादि में होनेवाला अभिमान सदा के लिये निवृत्त हो जाता है। प्राण के ऊर्ध्व-संचार की मात्रा के अनुसार अज्ञान से ज्ञान का उदय और तदनन्तर ज्ञान की वृद्धि का एक निर्दिष्ट क्रम दीख पड़ता है। जिस समय प्राणशक्ति के द्वारा प्रतिहत होकर नीचे की ओर जाता है, उस समय वह अज्ञान की अवस्था में रहता है और 'अबुध' कहलाता है। जिस समय हृदय में स्थित होकर, वहाँ से वह उठने लगता है, तब वह उसकी 'बुध्यमान' अवस्था है, जिसमें ज्ञानोत्पत्ति होने लगती है। उठते-उठते जब उसे शक्ति प्राप्त हो जाती है, तब उसकी 'बुध' अर्थात् ज्ञानी की अवस्था होती है। शक्ति का बल पाकर तत्त्वारोहण का कौशल जानने के पश्चात् व्यापिनी में पहुँचने पर 'प्रबुद्ध' अवस्था की प्राप्ति होती है। इससे भी ऊपर उठकर-समना पर्यन्त समस्त अध्वा का अतिक्रमण करने से 'सुप्रबुद्ध' अवस्था प्राप्त होती है। उस समय परमतत्त्व का आभास मिलता है। उस समय मनःसंस्कार का भी क्षय हो जाने के कारण उन्मना-भाव की प्राप्ति होती है। यह कहने की आव-

श्यकता नहीं कि यह अवस्था ब्रह्मरन्ध्र के भेदने के पीछे की है। इस अवस्था में न अणुतम से लेकर महत्तम पर्यन्त काल रहता है, न निवृत्यादि कलाएँ रहती हैं, न प्राण-अपान का संचार रहता है, न पृथिव्यादि छत्तीस तत्त्व रहते हैं और न ब्रह्मा, विष्णु-प्रभृति कारण ही रहते हैं। यह पराद्वयमयी परम शुद्ध अवस्था है। इस अवस्था के अनुभव से ही जीवन्मुक्ति की सिद्धि होती है।

प्राण में अध्वाओं का विन्यास—प्राणों में ही छः अध्वाओं की स्थिति है। ये प्राण सूक्ष्म और स्थूल-भेद से दो प्रकार के हैं। पहले प्राणसंचार के प्रसंग में जिस प्राण की बात कही गयी है, वह स्थूल प्राण है। सूक्ष्म-प्राण में संचार नहीं है। यह एक और व्यापक है। परन्तु स्थूल प्राण छत्तीस अंगुलमात्र परिमाणवाला है। अध्वाओं की स्थिति सूक्ष्म-प्राण में ही समझनी चाहिये। विशेषों में जो सामान्य का आभास है—वही तत्त्व है। यही शरीर एवं भुवनादि की रचना का उपादान है। देह-मृत्तिका-काष्ठ एवं पाषाणादि में जो काठिन्य का आभास है, वह पृथिवीतत्त्व है। इसी प्रकार अन्यान्य तत्त्वों के विषय में भी समझना चाहिये। यह सामान्य का आभास चिद्रूप-भित्ति में ही भासता है। परन्तु परमचिद्-भूमि में सब कुछ चिदेकरस होने के कारण वहाँ किसी प्रकार का विभाग नहीं है। संकोच के समय चित्-शक्ति पहले प्राण का रूप ग्रहण करती हुई देह में व्यापक हो जाती है और तत्त्वों के रूप में स्फुरित होने लगती है। छः अध्वाओं में यही तत्त्वाध्वा है। पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त चित्-शक्ति का जो काठिन्यादि रूप में भान होता है, यही तत्त्वाध्वा या भुवनाध्वा है। समग्र देह में व्यापक सूक्ष्म-प्राण में और-और अध्वाओं का विभाग समझना चाहिये, जैसे निवृत्ति और प्रतिष्ठा-कला देह के अधोभाग में हैं, तथा विद्यादि तीन कलाएँ ऊपर के भाग में हैं। आत्मा की शुद्ध दशा शान्त्यतीत-कला से भी परे है। इसके भी आगे उन्मना और परतत्व का सामरस्य-रूप अव्यय-पद है। मन्त्र-कलाओं की स्थिति भी प्राणों में ही है। वर्ण शब्द ही है तथा शब्द ध्वन्यात्मक प्राण का ही स्वरूप है। इसलिये ध्वनिरूप प्राण से ही वर्णों का उद्भव होता है और उसी में उनका लय भी होता है। इसलिये वर्णाध्वा भी प्राण में ही स्थित है। शब्दातीत होने पर परमतत्त्व के साथ अभेद और विभुत्व का आविर्भाव होता है। उस समय धर्माधर्म एवं प्राणापानादि सारे द्वन्द्वों का नाश हो जाता है।[1] वर्णों के समान मन्त्र और पद भी प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि ये भी शब्दात्मक ही हैं।

हंसोच्चार, वर्णोच्चार—अब संक्षेप में दो-एक बातें हंसोच्चार के विषय में कही जाती है। परमेश्वर की बोधरूपा शक्ति विश्व को गर्भ में धारण करती हुई, पराकुण्डलिनी होकर; विमर्शात्मिका होनेके कारण नादात्मिका वर्णकुण्डलिनीके रूपमें स्फुरित होती है।[2]

---

१. अधर्म के प्रभावसे स्थावरपर्यन्त देहों की प्राप्ति होती है। ये देह अपान-प्रधान होते हैं। धर्मके कारण प्राणप्रधान शक्ति अथवा समना-भूमिपर्यन्त देवादि योनियों की प्राप्ति होती है। परन्तु विज्ञान से अद्वय-बोध हो जाने पर, दोनों का ही त्याग हो जाता है और जीवित रहते हुए ही सर्व-व्यापकत्व अथवा विभुत्व आ जाता है।

२. यह विश्वगर्भा कुण्डलिनी-शक्ति सोये हुए सर्प के समान है। यह स्वभावतः अपने नादमय या विमर्शमय रूपको छोड़कर प्राणात्मक रूप धारण किये हुए है।

इसके बाद वह भीतर ही इस वर्ण-कुण्डलिनीके रूप को दबा कर प्राण-कुण्डलिनी-रूप में भासती है। यह प्राण ही हंस है, जो स्वभावतः ऊपर और नीचे की ओर चलता रहता है। इसके इस प्रकार चलने से 'ह' कार और 'स' कारके विमर्शरूपमें उसका भान होता है। इसमें 'ह' कार का धर्म त्याग या छोड़ना है और 'स' कार का धर्म ग्रहण या लेना है। यह नाद रूपी हंसका स्वाभाविक उच्चार ही परिस्फुट वर्ण का उच्चार है। यह वर्णोच्चार योगियों को भ्रूमध्य-स्थान में बिन्दुरूप में अनुभूत होता है। यह बिन्दु अविभक्त ज्ञानात्मक है। जगत् के सब प्रकार के भेद अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के सम्पूर्ण भेदों की वाचक अ, उ और म ये तीन मात्राएँ है। इन तीनों को पिण्डित अर्थात् तीनों को मिलाकर एकाकार कर देने से जो अविभक्त ज्योतिर्मय ज्ञान का उदय होता है, उसे ही बिन्दु कहते हैं। इसकी उपलब्धि भ्रू-मध्य में होती है। इसके बाद मस्तक अर्थात् ललाट में अर्धचन्द्र-स्थानमें पहुँचने पर पूर्वोक्त वर्णोच्चार बिन्दुरूप से भी सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। बिन्दु अवस्था में विभिन्न ज्ञेयों का भेद विगलित होकर उनका अभिन्न-ज्ञेय रूपमें भान होता था। किन्तु उसमें ज्ञानांश का प्राधान्य नहीं था, ज्ञेय का ही प्राधान्य था। परन्तु अर्धचन्द्र में ज्ञानांश की वृद्धि होने के कारण ज्ञेयांश का प्राधान्य कम होने लगता है। इसके बाद जब उच्चार निरोधिका-अवस्था में पहुँच जाता है, तब ज्ञेयभाव का प्राधान्य सर्वथा निवृत्त हो जाता है और परिस्फुट रेखा के रूप में ऊर्ध्वोन्मुख प्रतीत होने लगता है। इसी रेखा से नाद में प्रवेश होता है। परन्तु अयोगी के लिए यह नाद-मार्ग को रोक देती है। इसके 'निरोधिका' नाम का यही तात्पर्य है। इसके अनन्तर वर्णोच्चार नाद और नादान्त-भूमि को ग्रहण करता है। यह ईश्वरपद है, जिसमें ज्ञेयभाव अभिभूत रहता है और विभिन्न वाचक शब्दों का अभेद-ज्ञान प्रधानतया स्फुरित होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि वाच्यों का अभेद बिन्दु में होता है और वाचकों का अभेद नाद और नादान्त में होता है। इसके बाद प्राण ब्रह्म-रन्ध्र में अर्थात् शक्तिस्थान में एक प्रकार का दिव्य-स्पर्श अनुभव करते हुए कौशल से ऊर्ध्वप्रवेश के अनन्तर व्यापिनी में व्यापकत्व प्राप्त करता है। तवक के साथ जहाँ केशों का सम्बन्ध है, वही व्यापिनी के अनुभव का स्थान है। इसके भी पश्चात् समना-पद में, अर्थात् शिखा के साथ केशों का योग होने के स्थान में, वह विशुद्ध मनन-रूप में स्थित होता है। यह मन्तव्यहीन मनन अथवा विशुद्ध-मनकी स्थिति है। परन्तु प्राणात्मक हंस इसको भी लाँघने पर शुद्ध आत्मरूप में दिखाई देता है, जिसका स्वभाव ही मन का उल्लंघन करना है। अर्थात् समना-पर्यन्त ज्ञान-क्रियादि सभी क्रम से होते हैं, समना के ऊपर जब शुद्ध आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त होता है, तब वह क्रम का लंघन कर देता है। उस समय एक ही साथ समग्र विश्व का अभेद प्रकाशित हो जाता है। यह अभेद-प्रकाश उन्मना शक्ति का व्यापार है, जिसके आश्रय से शुद्ध आत्मा परमेश्वर-अवस्था को प्राप्त होता है, अर्थात् चिदानन्दमय-परशिव के साथ उसका अभेद हो जाता है।

इस प्रकार शिवत्व में पहुँचने के कारण प्राणात्मक हंस सञ्चार-हीन हो जाता है। उसका संकुचित-प्रसरण निवृत्त हो जाता है। वह व्यापक हो जाता है, अर्थात् छत्तीस

तत्त्वमय समग्र विश्वरूप में और साथ-ही-साथ विश्वातीत-रूप में भी स्फुरण होने लगता है।

वर्णों का कारणत्याग--निवृत्यादि कलाओं के अधिष्ठाता हृदयादिप्रदेश से[1] ब्रह्मादि देवताओं के साथ निष्कल मन्त्र के अवयव अकारादि वर्णों का वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध है। ये वर्ण इन छः कारणात्मक देवताओं का उल्लंघन करके परावाक्-रूप में सर्वकारणों के कारण परमेश्वर के स्वरूप में लीन होते हैं। इनमे से पहली तीन भूमियों में वाच्य और वाचक परस्पर भिन्न या पृथक् रहते हैं। परन्तु बिन्दु में और उससे ऊपर उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। अ, उ और म क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके वाचक होनेपर भी साक्षात् रूप से ब्रह्मादि नहीं कहे जा सकते, परन्तु विन्दु स्वयं ईश्वर ही है। उसी प्रकार नाद स्वयं सदाशिव-रूप है और समना-पर्यन्त शक्ति आदि स्वयं शिवतत्त्व[2] है, ऐसा कहा जा सकता है। समना का लंघन हो जाने पर योगी शुद्ध आत्मरूप में प्रतिष्ठित होते हैं, और उन्मना-शक्ति में अनुप्रविष्ट होकर परमशिव-भाव प्राप्त करते। वास्तवमें उन्मनाका त्याग नहीं होता। उसके आश्रय से परमशिव-भाव की प्राप्ति ही उम्मना का त्याग है।

कारणात्मक भावों की आपेक्षिक स्थूलता एवं सूक्ष्मता--यह जो कारणात्मक भावों की बात कही गयी है, इनमें आपेक्षिक स्थूलता और सूक्ष्मता लक्षित होती है। आरोहण के क्रम से चरम अवस्थामें परम सूक्ष्म भावकी प्राप्ति होती है। वही भावोंकी परा अवस्था है, जिसका दूसरा नाम 'पर-सत्ता' है। सर्वकारणभूत परमेश्वर में ही इस आत्यन्तिक सूक्ष्मता का विश्राम होता है। परन्तु वह अखण्ड-भाव-स्वरूप होने कारण अनन्त खण्ड-कारणों का अभावरूप है। इसीलिये कहीं-कहीं उसको 'अभाव' अथवा 'असत्' नाम से भी कहा जाता है। समना समस्त उपाधियोंसे अतीत है, अतः उसे अलक्ष्य (अलख) भी कहते हैं, जहाँ कि इन्द्रिय एवं मन का कोई भी व्यापार नहीं चला। द्रष्टामात्र होने के कारण उसमें दृश्यात्मक किसी भी भाव की सत्ता नहीं है। वस्तुतः वह व्यवहार में अभाव पद का वाच्य होने पर भी, चिदानन्दघन परमसत्ता ही है। उसकी प्राप्ति ही मोक्ष है। इस परमभाव की तुलना में उन्मना शक्ति को भी अपर-भाव कहा जाता है। यद्यपि उन्मना परमेश्वर की समवायिनी शक्ति ही है तथापि यह स्वात्म-विमर्शरूपा होने के कारण अपर-भाव है, पर नहीं है। उन्मनाकी अपेक्षा समना अपर-भाव है, क्योंकि उन्मना व्यापक है और समना उसका व्याप्य है। वस्तुतः समना उन्मना से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार व्यापिनी समना का अपरभाव है। व्यापिनी सब भावों को अपने में धारण करने के कारण 'महाशून्य' पद से कही जाती है। समना भी

---

१. ब्रह्मा का स्थान हृदय है, विष्णु का कण्ठ और रुद्रका तालु-मध्य है। विन्दुस्वरूप ईश्वर का स्थान भ्रूमध्य है, नादात्मक सदाशिव का ललाट से मूर्धापर्यन्त और शिव की अंगभूता शक्ति व्यापिनी और समना के स्थान मूर्धा के मध्य से क्रमशः ऊपर-ऊपर की ओर है। बिन्दु अर्धचन्द्र तथा निरोधिका तक व्याप्त है तथा नाद की व्याप्ति नादान्त-पर्यन्त है। आनन्दमयी स्पर्शानुभूति के अन्त में शक्ति का त्याग होता है। उसी प्रकार निर्विषयक मननमात्र का अनुभव होने के पश्चात् समना का त्याग हो जाता है।

२. ये शिव सदाशिव की अपेक्षा अपव्यय हैं, किन्तु परमशिव की अपेक्षा सव्यय हैं।

शून्य ही है। परन्तु वह व्यापिनी की परावस्था है, क्योंकि महाशून्य का अतिक्रमण करने पर ही समना की सत्ता मिलती है। व्यापिनी का अपर भाव शक्ति है। यह आनन्दात्मिका स्पर्शानुभूतिमयी है। इस आनन्दानुभव का अतिक्रम करने पर ही व्यापिनी का अनुभव होना सम्भव है। स्पर्शरूपा शक्ति का अपरभाव नादान्तव्यापी नाद है। इसका अनुभव योगी को शब्दरूपमें स्पष्टतया मिलता है। यहाँ यह कहना अनावश्यक है कि शब्दानुभव की निवृत्ति के बाद ही स्पर्शानुभव आनन्दरूप में लक्षित होता है। नाद का अपरभाव बिन्दुरूपा ज्योति है, जिसकी व्याप्ति अर्धचन्द्र एवं निरोधिका पर्यन्त है। ज्योतिका अपरभाव मन्त्र है। 'म' कार, 'उ' कार तथा 'अ' काररूप वर्ण-परामर्श ही मन्त्र है। यहाँ अर्थवाचक मन्त्र समझना चाहिये। मन्त्र का अपर-भाव पृथग्भूत-वाच्य अथवा कारण-वर्ग है, अर्थात् रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा है। इन ब्रह्मादि तीनों कारणों का अपर-भाव उनका आश्रय-भूत तत्त्व-समुदाय है। इन सबके अन्त में तत्त्वोंका अपर-भाव भुवन हैं। भुवन सबसे स्थूल है। इनके बाद और कोई अपरभाव नहीं है। भावों का यह परत्वापरत्व आपेक्षिक दृष्टि से सूक्ष्मता तथा स्थूलता का ही नामान्तर है। सारे भुवन ही पञ्चभूतात्मक हैं। जितने भुवन माया-विद्या-प्रभृति पदों में विद्यमान हैं, वे सब सूक्ष्म तत्त्व से रचे हुए हैं। परन्तु अधोदेशवर्ती भुवन स्थूल भूतों से बने हुए हैं। ये सभी भुवन अपने-अपने कारणों से अधिष्ठित हैं। वस्तुतः ये सभी शिव के ही छः स्थूल या अपर रूपों के अन्तर्गत है। इन साकार रूपों के ध्यान से अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, परन्तु मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष तो एकमात्र परम या चिन्मय रूप के ध्यान से ही मिल सकता है। जो योगियों के लिये ही सम्भव है। योगी भगवान् के भुवनादि साकार रूपों को भी चिदानन्दमय शिवत्व रूपमें ही ध्यान करते हैं, साकार भाव से नहीं।

परमेश्वर के छः प्रकार के स्थूल रूप—भगवान् के स्थूल-रूप इस प्रकार हैं, यथाः—

(१) भुवन—इसके चिन्तन से भुवनेश्वरत्व की प्राप्ति होती है।

(२) विग्रह—ब्रह्मादि कारण देवताओं के विग्रह का चिन्तन करनेसे तद्रूपता की प्राप्ति होती है।

(३) ज्योति अथवा बिन्दु—इसके ध्यान से योग-सिद्धि होती है। इससे त्रिकालज्ञान हो सकता है तथा योग के प्रकर्ष से ज्योति के साथ तन्मयता प्राप्त होती है और श्रेष्ठ योगि-पद में प्रतिष्ठा हो जाती है।

(४) व्यापिनी अथवा आकाश—इसके ध्यान से शून्यात्मता का उदय होकर विभुत्वका आविर्भाव होता है।

(५) नाद अथवा शब्द—इसके ध्यानसे शब्दात्मभाव होकर समस्त वाङ्मय पर अधिकार हो जाता है।

(६) मन्त्र—जप, होम तथा अर्चना के द्वारा इसकी आराधना से मन्त्रसिद्धि होती है।

सूक्ष्मरूप का ध्यान और उसका फल—परन्तु मोक्षदायक तो परमशिव का ही

ध्यान है। परमशिव द्रष्टृ-स्वरूप होने के कारण उनका ध्यान दृश्य रूप में किया जा सकता है। उसकी परसत्तात्मक चिद्रूप में भावना करनी पड़ती है। सदाशिव से लेकर पृथिवी-पर्यन्त समस्त भावों को निरालम्बन करना ही इसकी भावना है। ये सारे भाव जिस समय प्रशान्तरूप अर्थात् अरूप होकर शक्तिधाम में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं, उस समय सब शक्तिमय हो जाते हैं। यही भावों की आलम्बन-शून्यता अथवा चित्-तत्त्व की भावना है। इसके परिणाम में उपाधिहीन परमतत्त्व की प्राप्ति होती है। कारण-त्याग का रहस्य यही है।

कालत्याग—इस प्रसंग में आनुषंगिकरूप से कुछ काल-त्याग के विषय में कहना भी आवश्यक है। समस्त अध्वा के प्राण में प्रतिष्ठित होने के कारण निःसन्देह देश और काल दोनों ही की भित्ति प्राण है। आकारों की विभिन्नता से जैसे देश-अध्वा का विभाग अथवा देश-क्रम का आभास होता है, उसी प्रकार क्रिया के वैचित्र्य से कालाध्वा का विभाग होकर, कालक्रम का आविर्भाव होता है। प्राण परमेश्वर की शक्ति है। इसलिये अन्त में सभी अध्वा चित्स्वरूप में ही विश्रान्त हैं। अतएव अमूर्त सर्वगामी एवं निष्क्रिय चैतन्य की मूर्ति और क्रिया के रूप में स्फूर्ति ही 'देश' और 'काल' नामों से परिचित है। काल ईश्वर का विश्वाभासक क्रिया-शक्तिमय रूप है। परमात्मा का यह नित्य रूप माया-प्रमाता की दृष्टि में कालतत्त्व है। उसको जबतक प्राण में लीन नहीं किया जायगा तबतक परमभाव में स्थिति होनी असम्भव है। काल के प्रभाव से ही प्राण का उच्चार होता है, प्राण के उच्चार से मातृकाओं (वर्णों) का उदय होता है। ये उदित होकर समस्त वाचकशब्दों में व्याप्त हो जाती हैं और वाचक वाच्य-अर्थों में व्याप्त रहते हैं। इसलिये जगत् के सारे ही पदार्थ काल की कलना के अधीन हैं। तान्त्रिक आचार्यों का कथन है कि परम-प्रकाश रूप परमेश्वर अथवा व्यापक सत्ता की भित्ति में हृदय से द्वादशान्त तक होनेवाले प्राण-संचार से अर्थात् इस छत्तीस अंगुल-परिमित-प्रदेश में एक के बाद एक आठ भैरवों का उदय होता है। स्थूलप्राण सोलह त्रुटिओं से परिमित होने के कारण एक-एक भैरव दो-दो त्रुटियों को आश्रय कर के कार्य करते हैं। यही बात अपानमें हैं।[1] अनुभवयोग्य काल का आदि (सूक्ष्मतम रूप) त्रुटि है और अन्त (महत्तम रूप) महाकल्प है। यह वह महाकल्प नहीं है, जिसके अन्त में ब्रह्मा का अन्त होता है, परन्तु वह है जिसके अन्त में सदाशिव का अन्त हो हो जाता है। अर्थात् इसे परम-महाकल्प समझना चाहिए। भूलोक, पितृलोक एवं देवलोकादि स्थानों के कालमान से ब्रह्मलोक के कालमान में जिस प्रकार का भेद है उसी प्रकार ब्रह्मलोक के कालमान से सदाशिव-लोक के कालमान का भेद है। ब्रह्मा का लय हो जाने पर भी सम्पूर्ण सृष्टि लुप्त नहीं होती, क्योंकि उस समय ब्रह्मलोक से ऊपर की सृष्टि रह ही जाती है। परन्तु सदाशिव समस्त लोकों से ऊपर स्थित और

---

१. ये सब त्रुटियाँ काल की करण हैं। ये प्राण को क्षुब्ध कर के काल को उद्‌बुद्ध करती हैं। दो क्षण में एक त्रुटि होती है, क्षण सूक्ष्म और स्फुट अनुभव के योग्य न होने के कारण त्रुटि को ही काल का आदि माना जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रुटि से न्यून काल का भान नहीं होता।

सम्पूर्ण भुवनों के अधिष्ठाता हैं। अतः सदाशिव के लय से ही सृष्टि का पूर्ण लय होता है—ऐसा कह सकते हैं।[१] ब्रह्मा का संहार करने वाला काल केवल एक कारण का उपसंहार करता है, परन्तु सदाशिव का संहार करने वाला काल पाँच कारणों का उपसंहार कर देता है। जब यह काल ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन पाँचों अधिष्ठाताओं के सहित इनके भुवनों को ग्रास करके शक्ति में अनुप्रविष्ट हो जाता है, तब उसकी शान्ति होती है। शक्ति के मस्तक पर स्थित इस काल को अर्थात् परम-महाकल्प को अपर-काल कहते हैं। तान्त्रिक परिभाषा में त्रुटि से लेकर यह षोडशसंख्यक[२] काल है। इसलिये कभी-कभी इसको केवल 'षोडश' शब्द से भी कहा जाता है। व्यापिनी में जो साम्य-संज्ञक काल है, वह पूर्वोक्त अपरकाल का अंगी-स्वरूप परम काल है। यह 'सप्तदश' काल है, समना में यह भी नहीं रहता। वहाँ के काल का नाम 'कालविषुवत्' है। यह परात्पर अथवा परार्ध-काल है। संख्याक्रम से यह अष्टादश है। यही सब कालों का परम अवयवी है। इसके बाद और काल नहीं है, अथवा जो कुछ है, वह नित्योदित है और परार्धपर्यन्त सब कालों में व्यापक है। उन्मनी अवस्था के अन्त में जब शक्ति और शक्तिमान् के अनुभव में अद्वय-भाव का आविर्भाव होता है, तब उसके साथ उस नित्य काल का अभिन्न रूप में साक्षात्कार होता है, वहाँ काल नहीं है। एकमात्र प्राणोच्चार के द्वारा इस परार्धपर्यन्त विस्तृत बाह्यकाल को शान्त करने पर इस कालातीत-पद में स्थिति होती है।[३]

शून्य-प्रशमन के लिये अपेक्षित ज्ञान

शून्यतत्त्व—परम शिव ही परमशून्य-पद है। और-और शून्यों को जानकर उनका त्याग करने से ही इसकी प्राप्ति होती है। तान्त्रिकगण जो सात शून्यों की बात कहते हैं, उनमें छः शून्य गतिशील होने के कारण वास्तव में शून्य ही नहीं हैं। अतः उन्हें छोड़ कर सप्तम शून्य में लय प्राप्त करना होता है। यही परमपद है। यह अवस्थाहीन[४] चिद्रूप सत्तामात्र है। इसके प्रकाश से ही सारे भाव और अभाव प्रकाशित होते हैं। इसमें

---

१. सदाशिवपर्यन्त ही विश्व की व्याप्ति है। अतः सदाशिव के लय के साथ जो शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के अध्वाओं का लय होता है उसे 'महाप्रलय' कह सकते हैं। परन्तु इस उप-संहृत विश्वकी मूलभूता अरूपाशक्ति उस समय भी रह जाती है। अतः जब समनाभूमि में इसका भी उपशम हो जाता है तभी यथार्थ 'महाप्रलय' समझना चाहिए।

२. त्रुटि से लेकर कालकी संख्या इस प्रकार है—१. त्रुटि, २. लव, ३. निमेष, ४ काष्ठा, ५. कला, ६. मुहूर्त्त, ७. अहोरात्र, ८. पक्ष, ९. मास, १० ऋतु, ११. अयन, १२. वत्सर, १३. युग, १४. मन्वन्तर, १५. कल्प, और १६. महाकल्प।

३. यह जो कालत्याग की बात कही गयी है, इसे वाच्य-देवता का अवधिभूत बाह्यकाल समझना चाहिए। यह बाह्यतत्त्वगत विस्तारमय काल है। इसका प्रशमन करनेके लिए सूक्ष्म मन्त्रकला के उच्चार-कालका आश्रय लेना पड़ता है। अर्थात् बीज नष्ट होनेसे जैसे स्वयं ही वृक्षका नाश हो जाता है, वैसे ही सूक्ष्म कालकी निवृत्ति से स्थूल काल की निवृत्ति स्वयमेव हो जाती है।

४. उन्मना भी एक अवस्था है, क्योंकि परतत्व में प्रवेश करने का यही उपाय है, इसलिए विज्ञान भैरव में "शैवोन्मुखमिहोच्यते" कह कर इसका वर्णन किया है।

किसी प्रकार का भेद नहीं है। यह लोकोत्तर-स्थिति वस्तुतः शून्य या अभाव नहीं हैं, केवल प्रमेयादि प्रपंच या भाव से रहित होने के कारण ही उसे शून्य कहा जाता है।

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः।।

सब प्रकार के भेद उपशान्त हो जाने के कारण यह पद परम स्थिर और विश्व से अतीत है, परन्तु साथ ही यह विश्वमय भी है, क्योंकि यह सत्तामात्र-रूपी शून्य सब भावों को तिल-तिल में, अंश-अंश में विचित्र रूप से व्याप्त करके स्थित है। व्यापक ही व्याप्य-रूप में स्फुरित हो रहा है, व्याप्य उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक मात्र वह महाप्रकाश ही स्थूल उपाधि के सम्बन्ध से स्थूल हो जाता है अर्थात् अपने स्वातन्त्र्य से वही स्थूल-आभास रूप में भासित होता है और स्थूल कहा जाता है। वह एक ही वस्तु स्थूल और सूक्ष्म रूप में स्थित है। जिस महायोगी का बोध यहाँ तक आरूढ़ हुआ है, वह दृढ़ प्रतिपत्ति के द्वारा उसका अवलम्बन करके तन्मय हो जाता है।[1] जिन शून्यों का क्रमशः त्याग किया जाता है, उनके नाम ये हैं—

१. अधःशून्य—जिस हृदय में प्रपंच का उदय नहीं हुआ है।

२. मध्यशून्य—कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट और ऊर्ध्व-रन्ध्र-स्थान—इनमें जब अपने से अधोवर्ती प्रमेयों का उपशम हो जाता है।

३. ऊर्ध्वशून्य—यह शक्ति-स्थान में है। यहीं नादान्तपर्यन्त सब पाशों का क्षय होता है।

४. ५. ६. व्यापिनी, समना तथा उन्मनाशून्य।

ये छहों शून्य चल होने के कारण हेय हैं। परतत्त्व की अपेक्षा उन्मना में भी किञ्चित् चलत्व है। परतत्त्व या सप्तम शून्य अचल होने के कारण उपादेय है। निम्नवर्ती शून्यों के अधिष्ठाता भी परमशिव ही हैं, इसलिये ये सब सम्यक्तया शुद्ध न होने पर भी तत्तत् सिद्धियाँ प्रदान करने में समर्थ हैं।

---

१. निम्न अधिकारी को इस सूक्ष्म अर्थ में आश्वासन न मिलने के कारण त्यागादि प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है।

कुण्डलिनी-तत्त्व

[१]

बहुत दिनों से विद्वत्समाज में, विशेषकर भारतीय दर्शनशास्त्र की तुलनामूलक-समालोचना-प्रिय पण्डित-मण्डली में, एक संशय जागरूक-अवस्था में वर्त्तमान है। अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार से आलोचनाएँ हुई हैं, किन्तु बड़े खेद का विषय है कि उन सब आलोचनाओं से भी संशय की निवृत्ति नहीं होती। अपितु वह समस्या और भी जटिलता धारण कर लेती है। इस प्रबन्ध में उसी संशय को प्रदर्शित करके उसके समाधान के लिये प्रयत्न किया जायगा। यह विषय साधना-जगत् का एक गभीर रहस्य है। भाषा के साहाय्य से इस विषय की सम्पूर्ण आलोचना यद्यपि हो नहीं सकती, तथापि कुछ भी आलोचन न करना मानों भ्रान्त-धारणा को स्थायित्व-प्रदान करना है। अतएव यथाशक्ति स्पष्ट भाव से अपनी अनुभूति एवं श्रीगुरुदेव के 'मौन व्याख्यान' का अनुसरण करते हुए, शास्त्र के तात्पर्यानुसार, हम इस निगूढ तत्त्व की समालोचना करने में प्रवृत्त होते हैं। सहस्र वत्सर के पूर्व काश्मीर देश की उपत्यका में बोधचक्षु श्रीतात्पर्याचार्यदेव 'संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे नः शरणम्' इत्यादि वाक्यों से जिसकी जय-घोषणा कर चुके हैं, वर्त्तमान क्षेत्र में भी वही भगवती संविद्देवी वस्तु-निर्देश की प्रदर्शिका हैं। जो अनुभव-रसिक विद्वान् हैं, वे इस प्रबन्ध में शब्दों के ऊपर ध्यान न देकर तत्त्वांश को ही अपना लक्ष्य बनावें, यही प्रार्थना है।

हमारे प्राचीन सब दार्शनिक विद्वानों ने एक वाक्य से मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है कि धर्म, अर्थ, काम-रूपी तीन पुरुषार्थों के रहते हुए भी, मुक्ति ही परम-पुरुषार्थ है, अन्य मुक्ति की अपेक्षा अपर अथवा निकृष्ट हैं; अतः वे परम-पुरुषार्थ कहलाने योग्य नहीं हैं। आपाततः हम प्रेम-लक्षणा भक्ति के स्वरूप-निर्वचन अथवा उसके पुरुषार्थत्व-निर्णय के सम्बन्ध में कोई आलोचना नहीं करेंगे। पंचम-पुरुषार्थवादी सम्प्रदाय भी बहुत प्राचीन काल से ही वर्त्तमान है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, इसको भक्ति-वादी भी अपने सिद्धान्तानुसार किसी न किसी प्रकार से स्वीकार करते ही हैं। जो कुछ हो, ज्ञान अथवा भक्ति, जो साक्षात् भाव से मुक्ति के कारण माने जाते हैं, वे किस प्रकार स्वायत्त किये जा सकते हैं, यही यहाँ प्रश्न का विषय है। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्ष-नाथ प्रभृति हठयोग-प्रवर्त्तक नाथ-आचार्यगण एवं आगम-विद्गण कहते हैं कि मूलाधार में प्रसुप्ता कुण्डलिनी-शक्ति को उद्बुद्ध किये बिना कर्म, ज्ञान किंवा भक्ति आदि अन्य कोई भी साधन मुक्ति वा अनर्थ-निवृत्ति के उपाय-रूप में परिणत नहीं हो सकता। जो कर्म, ज्ञान वा भक्ति कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण में सहायता करें, वे ही यथार्थ में कर्म, ज्ञान और भक्ति, तथा कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग पदके वाच्य हैं। उनसे

भिन्न कर्मादि व्यर्थ-प्रयास के कारण होते हैं। वे किसी समय में सिद्धिदायक नहीं होते। कुण्डलिनी की निद्रा भंग हुए बिना आत्मा अथवा परमात्मा में स्थिति नहीं हो सकती।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह कुण्डलिनी-वाद नवीन वाद-विशेष है या यह प्राचीन काल से ही प्रचलित है। आपाततः मन में यही आता है कि भारतीय दर्शन-शास्त्र में कारणवश किसी काल-विशेष में इस तत्त्व की आलोचना प्रवृत्त हुई है। किन्तु मूलतः यह वैदिक सिद्धान्तानुसार नहीं है, तथा वेदानुकूल दर्शन-शास्त्रों में भी इसका ग्रहण नहीं हुआ है। अधिक क्या, पातंजल योगशास्त्र में कुण्डलिनी अथवा षट्चक्रादिकों में से किसी एक का उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता। बौद्ध तथा जैनादि ग्रन्थों में भी स्पष्ट रूप से कुण्डलिनी की कोई आलोचना नहीं है। किसी-किसी विद्वान् का मत है कि यह तन्त्र-शास्त्र का अन्तरंग विषय है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह अथवा एतत्संपर्कित वर्णोपासना-प्रणाली भारत के बहिर्देश—सम्भवतः 'मग' देश—से यहाँ आई है। भारतवर्ष में हठयोग एवं अक्षर-उपासना के विषय में जिस समय एक नवीन आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, उसी समय में उसका प्राधान्य भी स्थापित हुआ। कोई यह भी कहते हैं कि कुण्डलिनी-योग मुक्ति का उपाय-विशेष है। इस योग के अवलम्बन के बिना भी उपायान्तर से मोक्षलाभ हो सकता है।

इसी प्रकार नाना रूप से संशय की अवतारणा होती है। यहाँ यह कहना पड़ता है कि उक्त सकल संशयों का मूल कुण्डलिनी-तत्त्व के सम्बन्ध में यथार्थ-ज्ञान का न होना है।[1]

वैखरी वाग्रूप शब्द-प्रवाह के ऊपर लक्ष्य करने तथा तत्प्रतिपाद्य अर्थ के अनुसन्धान में उदासीन रहने से ही इस प्रकार का वृथा सन्देह उदित होता है। हम सत्य मिथ्या नहीं जानते, किन्तु हमारा विश्वास है कि इसी प्रकार ग्रंथ-मूलक वैकल्पिक ज्ञान (अर्थानुसंधान-शून्य केवल शब्द-ज्ञान) से ही हमारे शास्त्रों में मत-वैषम्य का आविर्भाव होता है।

कुंडलिनी का प्रबोधन कोई नवीन वस्तु नहीं है। कुंडलिनी का स्वरूप क्या है, और उसका जागरण (चैतन्य-सम्पादन) क्या है, यह जाने बिना तत्सम्बन्धी कोई आलोचना फलप्रद नहीं हो सकती। कुंडलिनी का दूसरा नाम आधार-शक्ति है। यह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई सम्पूर्ण पदार्थों के मूल-सत्ता-रूप में वर्त्तमान रहती है। इसके चैतन्य-सम्पादन करने से यह निराधार (निरालंब) होकर शुद्ध चित्स्वरूप में स्थित हो जाती है, और जिस समय कुंडलिनी आधार-शून्य हो जाएगी

---

१. 'The Six Centres and the Serpent Power' नामक ग्रन्थ में Arthur Avalon कहते हैं—"But whereas the Jnana Yogi attains Svarupa Jnana by his mental efforts without rousing Kundali, the Hatha Yogi gets the Jnana through Kundalini Herself." (P. 201)—'ज्ञान-योगी' श्रवण, मननादि किसी भी उपाय का आश्रय करे, किन्तु कुण्डलिनी को जाग्रत किये बिना स्वरूप-ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

उस समय संसार की सब वस्तुएँ भी निराधार हो जाएँगी; तथा कुंडलिनी जिस समय प्रबुद्ध होकर चिन्मयी होती है, उस समय समस्त विश्व भी चैतन्यरूप धारण करता है। कुंडलिनी का जागरण और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इस श्रुतिनिष्ठ सर्वत्र ब्रह्म-साक्षात्कार या चैतन्यमयता के अनुभव की साधना सुतरां एक ही वस्तु है। यह जागरण-क्रम से होता है। कुंडलिनी के जागरण की भी कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति भिन्न-भिन्न क्रमिक अवस्थाएँ हैं। जिस समय जागरण पूर्ण हो जाता है, अथवा निद्रा लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहती, उसी समय परिपूर्ण अद्वैत-तत्त्व की सिद्धि होती है, इसके पूर्व द्वैत-स्फूर्त्ति अवश्यम्भावी है। तन्त्रशास्त्र में 'पूर्णाहन्ता' कहकर इसी का वर्णन किया गया है।

[२]

पारमार्थिक सत्ता आत्यन्तिक साम्यावस्था-स्वरूप है। उपनिषद् ने भी इसके स्वरूप-निर्देश के प्रसंग में 'परमं साम्यम्' कहा है। इस मूल वस्तु में नाम-रूप की कल्पना, चिन्ता, तथा इसकी वर्णना नहीं हो सकती, यह अवाङ्मनसगोचर है। अथवा जितने नाम, रूप, चिन्तन, वर्णन प्रभृति संसार में किए जाते हैं, उन सबका मूल उपादान यही है। इसको तत्त्व पद से कह सकते हैं, तथा नहीं भी कह सकते। इसी लिये आगम शास्त्र में इसको तत्त्व या तत्त्वातीत-उभय रूप से ही कहा गया है। यह विश्वात्मक (immanent) होता हुआ भी विश्वातीत (transcendent) है और यही उपनिषदों में कही गई पूर्ण वस्तु (The Absolute) है। कोई कभी ऐसा न समझे कि पारमार्थिक सत्ता का यह विश्वात्मकता-अंश मिथ्या है और विश्वातीत भाव ही सत्य है। सत्य बात यह है कि लक्ष्य-भेद के अनुसार जीव परमार्थ की स्थिति को किसी अंश में प्राप्त कर सकता है; क्योंकि परमार्थ जब अभिन्न एवं स्वप्रकाश है, तब इन दोनों अंशों में से किसी एक में भी जीव की स्थिति होने से वे दोनों ही अंश युगपत् प्रकाशित होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। यही विश्व के प्रादुर्भाव का द्वार है, यही 'अपर साम्य' है और महाबिन्दु कहा जाता है। इसी अवस्था में शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया, पुरुष और प्रकृति समरस-एकाकार रहते हैं। यह अवस्था नित्य वर्त्तमान रहती है। इसमें अनन्त वैचित्र्य हैं, किन्तु वह भी स्वरूप से ही एकाकार हैं।

जिस समय इस सामरस्य या साम्य का भंग होता है, अर्थात् क्रमानुसार विश्व का प्रादुर्भाव होता है, उस समय यह बिंदु ही शक्ति-रूप में परिणत होता है, एवं शिवांश साक्षी-रूप में स्थित रहता है। साक्षी अपरिणामी एवं एक है, किन्तु शक्ति क्रमशः भिन्न-भिन्न स्तर में प्रसृत होती है। साक्षी केन्द्रस्थ है, वैसे ही मूलशक्ति भी है, अर्थात् दोनों ही एकभावापन्न हैं। किन्तु शक्ति की, प्रसार एवं संकोच, दोनों ही अवस्थाएँ होती हैं; किन्तु साक्षी की वे दोनों अवस्थाएँ नहीं होतीं—अर्थात् साक्षी सकल अवस्थाओं में निरपेक्ष, द्रष्टामात्र है। जिस प्रकार यह साक्षी केन्द्रस्थ आत्म-भावापन्न साम्यरूपा शक्ति का द्रष्टा है, उसी प्रकार प्रसारण और संकोच नामक शक्ति के

अवस्था-द्वय को भी देखता है। यह विश्वातीत होने से सदा के लिये काल-चक्र के ऊपर अवस्थित रहता है। किन्तु कालचक्र के नाभि-स्वरूप भी हैं। शक्ति का प्रसार ही, सृष्टि; तथा उसका संकोच ही, संहार; कहा जाता है। प्रसार और संकोच—इन दोनों के प्रारम्भ तथा अन्त में साम्यावस्था रहती है। मध्य में इसका वैषम्य या कालचक्र का आवर्त्तन रहता है। किन्तु वैषम्य में भी साम्यावस्था अन्तर्निहित होती है। सृष्टि और संहार—अर्थात् प्रसार और संकोच—शक्ति का अनपायी-स्वभाव या स्व-धर्म है। यह नियत रूप से बराबर होता ही रहता है। यह बहिर्गति और अन्तर्गति, अधोगति एवं ऊर्ध्वगति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, सम्मिलित भाव से वृत्ताकार धारण करती हुई 'कालचक्र' नाम से पुकारी जाती है। प्रदीप से जिस प्रकार प्रभा निर्गत होती है, जलाशय में पाषाण-निक्षेप करने से जिस प्रकार चारों तरफ जल का एक गोल मंडल रचित होता है, ठीक उसी प्रकार बिन्दु भी उसी स्वरूप में प्रसृत होता है। यह प्रसार क्रम से बढ़ता रहता है, तथापि वह किसी अवस्था में अवश्य निरुद्ध होता है। कारण, सृष्टि का प्रसार अनन्त नहीं हो सकता; क्योंकि सृष्टि का प्रसार प्रेरणा से होता है, और प्रेरणा अपरिच्छिन्न नहीं हो सकती।

हमने संकोच और प्रसार—इन दो धर्मों का उल्लेख कर दिया है। प्रसार-शक्ति के क्षीण होने पर संकोच-शक्ति पुष्ट होती है, तथा संकोच-शक्ति के क्षीण होने पर प्रसार-शक्ति पुष्ट होती है। संकोच-शक्ति और प्रसार-शक्ति क्रम से एक के अनन्तर दूसरी प्रकट होती हुई कालचक्र के नाम से पुकारी जाती हैं, अर्थात् ऊर्ध्वतम स्थान से निम्नतम भूमि-पर्यन्त समग्र विश्व इसी चक्र में घूम रहा है। बिन्दु के केन्द्रस्थल का आश्रय लेता हुआ यह कालचक्र भ्रमण करता है। इस प्रकार समस्त व्यक्त-जगत् मध्यस्थ-बिन्दु की परिक्रमा कर रहा है[१]। इसमें बिन्दु अपरिवर्त्तनशील, साक्षी और उदासीन है। जिस समय बिन्दु-रूपा साम्यशक्ति विभक्त होती हुई व्याकृत-रूप ग्रहण करती है, उस समय वह बिन्दु अपना तीन स्वतन्त्र रूप धारण करता है।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि तुरीय बिंदु उस समय में भी साक्षी से अभेद-भावापन्न एवं अव्यक्त-अवस्था में ही वर्त्तमान रहती है। साम्यावस्था में चतुर्थ बिन्दु के सहित अपर बिन्दुत्रय का कोई भेद नहीं रहता, किंतु वैषम्य-काल में मूल बिंदु, अर्थात् चतुर्थ बिंदु—से ही बिंदुत्रय पृथक्-भाव से प्रकट होता है। बिंदु के प्रकट होने से ही रेखा की सृष्टि होती है, यह रेखागणित का सिद्धांत है। बिंदु के कम्पन अथवा स्पंदन से ही रेखा की उत्पत्ति होती है, तथा संकल्प ही स्पंदन का कारण है। यही संकल्प जिस समय विकल्प-रहित—अर्थात् संकल्पांतर-शून्य—होता है (जो शास्त्रीय

१. इसी को 'सांख्य-दर्शन' में परिणाम (सदृश और विसदृश, अनुलोम और प्रतिलोम) कहते हैं। वैदिक साहित्य में इसी का नाम 'संवत्सरचक्र' है, और यही उत्तरायण और दक्षिणायन गति है। उत्तरायण या ऊर्ध्वगति को 'देवयान' एवं दक्षिणायन या अधोगति को 'पितृयान' कहते हैं। जिन्होंने तन्त्र के षोडश नित्या का तत्त्वालोचन किया है, वे जानते हैं कि यह सृष्टि और संहार ही शुक्ल या कृष्ण-पक्षरूप से कल्पित मास-चक्र कहा जाता है और चन्द्रमा की अमृतरूपा षोडशी (सोलहवीं) कला ही इस कालचक्र की मध्य-बिन्दु-स्वरूपा है।

भाषा में 'सत्य संकल्प' कहा जाता है), उस समय रेखा भी अखंड, अनवच्छिन्न एवं अबाधित रहती है। उस बिंदु से सम-भाव में चारों तरफ रेखाओं के उत्पन्न होने पर मंडलाकार से उनका प्रकाश होता है। इस प्रथम मंडल को ही शास्त्रकारों ने 'सहस्रार' नाम दिया है। यह बिंदु ही ब्रह्मबिंदु या आदिसूर्य, और इसकी सहस्र रेखा ही सहस्र अंशु—या चारों तरफ प्रसारित सहस्र रश्मि—का रूप है। यही ज्योतिर्मय-लोक ब्रह्म-लोक प्रभृति नाना नामों से, अपनी-अपनी भावना के भेद से विभिन्न भाव में, सब शास्त्रों में वर्णित हुआ है; और यही सत्त्वमय राज्य है। इस ज्योतिर्मंडल के बाहर द्वितीय बिंदु का मंडल है। हम इसको तटस्थ, मध्यस्थ एवं उदासीन मंडल के नाम से कह सकते हैं। इस द्वितीय मंडल का केंद्र 'रजः' नाम का द्वितीय बिंदु है। 'रजस्' शब्द का अर्थ 'कण' वा 'अणु' है। पूर्वोक्त प्रथम मंडल अखंड ज्योतिर्मय-स्वरूप है। प्रसारण-शक्ति जिस समय इस मंडल की सीमा का—अर्थात् ज्योति-रेखा के अंत्य बिंदु का—अतिक्रमण करके उसके बहिःप्रदेश को प्राप्त करती है, उस समय उसी शक्ति की प्रेरणा से ज्योति की राशि से स्फुलिंगवत् कणों का विक्षेप होता है। ये सब कण ज्योतिर्मय अखंड-सत्त्व के अंश हैं। अखंड-सत्त्व के समान ये सब खंड-सत्त्व भी (सत्त्वांश भी) ज्योतिर्मय वा चिन्मय हैं, यह विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। पांचरात्र-गण तथा भागवत-संप्रदाय ने इन्हीं सब कणों को 'चित्कण' नाम से व्यवहृत किया है,[१] और शैवाचार्यों की परिभाषा के अनुसार इनको ही 'विज्ञानाकल' कह सकते हैं। यही विशुद्ध जीव-भाव है। इसी के ऊपर सहस्रार की प्रांत-भूमि तक शिव-भाव या ईश्वर-भाव का आरंभ होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही तटस्थ मंडल 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' वाक्य से 'सनातन जीवलोक' कहा गया है। ये सब नित्य-जीव अनंत शून्य-गर्भ में, रात्रि में निर्मल आकाश में चमकनेवाले उज्ज्वल नक्षत्र-मंडल के समान, विराजमान रहते हैं, इनमें कोई-कोई जीव अपनी उपाधि को निरुद्ध करके कैवल्य-पद में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उनका स्वरूप मूल साक्षी से अभिन्न तथा उनकी उपाधि नित्य होती हुई भी अव्यक्त रहती है, अर्थात् दिव्य-दृष्टि से भी सब कैवल्य-पद-प्राप्त जीव नहीं देखे जा सकते। पहले जिस प्रकार से कहा गया है, उसी से जाना जाता है कि प्रथम मंडल के अनंतर ही महाशून्य है और उसी मध्य में विशुद्ध जीवबिंदु की स्थिति है।

हम एक और आवश्यक बात यहाँ बतला देना चाहते हैं—कि जो साक्षी की दृष्टि का क्षेत्र है, वही आकाश-पद का वाच्य है। यद्यपि साम्यावस्था अथवा महाप्रलय का आलोचन यहाँ नहीं करना है, तथापि यह अवश्य कह देना है कि प्रथम बिंदु का प्रसार-क्षेत्र ही चिदाकाश है। यही किसी-किसी स्थान पर 'परव्योम' पद से भी कहा गया है। द्वितीय बिंदु के प्रसार-क्षेत्र को चित्ताकाश कहते हैं। इसके मध्य में खद्योत-माला के समान कोटि-कोटि ब्रह्मांड-श्रेणियाँ भासमान रहती हैं। इस द्वितीय-मंडल के बाहर गाढ अंधकारमय तृतीय मंडल की सत्ता है। यह अखंड तमोमय एवं विभक्त हुए तृतीय बिंदु के प्रसारण स उत्पन्न होता है। इसको 'भूताकाश' भी कह सकते

१. पाँचरात्र-संप्रदाय के ग्रंथों में मुक्त पुरुषों की इस प्रकार वर्णना प्राप्त होती है
—"त्रसरेणुप्रमाणस्ते रश्मिकोटिविभूषिताः।"

हैं। इसे ही 'माया' या 'आवरण' कहा जाता है। वैष्णवगण इसी भूमि को 'बहिरंग' कहते हैं। जिस प्रसारण-शक्ति से विशुद्ध जीव-भावपर्यंत सृष्टि का आविर्भाव होता है, वह उस समय में भी क्रियाशील रहती है, और इसी के प्रभाव से जीवबिंदु प्रसृत होकर रश्मि-रूप से इसी अंधकारमय-मंडल में प्रवेश करता है। यही भूतावरण पाँच प्रकार से विभक्त हैं। अतएव वैषम्य-अवस्था में तटस्थ-बिंदु से पाँच विंदु विभक्त होकर आविर्भूत होते हैं और प्रसारण-शक्ति के कारण पंच-मंडल-रूपी परिणाम धारण करते हैं। ये पाँचों ही मंडल योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार विशुद्ध-अनाहत प्रभृति पाँच चक्र हैं। तटस्थ बिंदु से जिस मंडल का विकाश होता है, उसी को 'आज्ञाचक्र कहते हैं, इस आज्ञाचक्र की ऊर्ध्वभूमि में 'सहस्रार-चक्र' रहता है। मूलाधार वा सर्वनिम्न-भूमि का चक्र ही घोर अंधकार का केंद्र-स्थल है। मूलाधार बिंदु से बहिर्भूत होते ही जीव-कण या सुषुम्नावाही जीवरश्मिगण स्थूल वा पंचीकृत भूतों के बंधन में पड़ते हैं। इस बाह्य प्रदेश में स्थूल जगत् के जीव बद्धावस्था में स्थित रहते हैं। समग्र ब्रह्मांड की—भूत-भविष्यत्-वर्त्तमानकालीन संपूर्ण स्थूल वस्तुओं का बीज इस प्रदेश में सर्वदा वर्त्तमान रहता है। महाप्रलय के समय में यह पंचीकृत-भूमि स्वभाव के नियम से अपंचीकृत-अवस्था को धारण करती हुई, पाँच भागों में विभक्त होकर विशुद्धादि पंचचक्रों में विलीन हो जाती है। इसमें अधिक कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसारशक्ति की क्रिया के समाप्त होने पर संकोच-शक्ति के उन्मेष के साथ ही, इस अवस्था का उदय होता है। संकोच-शक्ति की क्रिया-वृद्धि के क्रम से पंचचक्र उपसंहृत होते हुए पंचबिंदु का रूप धारण करते हैं, पुनः संकोच-क्रम से वे पंचबिंदु आपस में संमिलित होते हुए एक बिंदु की आकृति में परिणत हो जाते हैं। आज्ञा-मंडल अथवा तटस्थ चित्परमाणुपुंज भी इसी प्रकार उपसंहृत होते हैं, तथा सहस्रार-मंडल भी मूल-सत्त्वबिंदु में आकुंचित होता है। तदनंतर सत्व, रजस् और तमस् ये तीन विंदु, अथवा मूल-त्रिकोणरूपा महाशक्ति के तीन कोण, जिनका आविर्भाव सृष्टि के प्रारंभ में हुआ था, अपना वैषम्य परित्याग कर अंतःस्थित महाबिंदु में साम्य-भाव से अवस्थित रहते हैं। इसी महाबिंदु को वैष्णवगण 'महाविष्णु' तथा त्रिक-मतावलंबी शैवाचार्य या शाक्तागमविद्गण 'सदाशिव' कहते हैं। वेदान्त में यह 'तुरीय' नाम से व्यवहृत होता है। बस यही सामरस्यावस्था है। इस समय साक्षी और साम्यशक्ति एकाकार, अर्थात् अद्वैतभावापन्न रहते हैं। इस अवस्था में न देश है, न काल है, न कला है, न मन की सत्ता है—अधिक क्या, उन्मनी शक्ति भी इस समय निष्क्रिय रूप धारण कर लेती है। इसके अनंतर भी एक अवस्था है। जिसका कुछ विद्वान् 'तुर्यातीत' पद से व्यवहार करते हैं। शैव एवं शाक्तगण के शिव और शक्ति या कामेश्वर-कामेश्वरी, तथा गौडीय वैष्णवों के राधा-कृष्ण, पूर्वोक्त महाबिंदु से ऊर्ध्वभूमि में अवस्थित रहते हैं।[1]

---

१. द्वारका, मथुरा एवं वृन्दावन—ये तीनों धाम महाबिन्दु की सीमा से अतीत है। (इसकी विस्तृत आलोचना हम 'नित्यलीलातत्त्व' की समालोचना के प्रसंग से समयान्तर में करेंगे) चिद्घन सदाशिवतत्त्व के भेद किये बिना (जाने बिना), अर्थात् आचार्य शंकर-प्रदर्शित निर्गुण अद्वैत-तत्त्व में प्रतिष्ठित हुए बिनाः नित्यलीला में प्रवेश नहीं हो सकता।

पंचीकरण अथवा-स्थूल जगत् वा बीजसृष्टि के सम्बन्ध में हम यहाँ एक आवश्यक बात बतला देना चाहते हैं। विशुद्धादि पंच बिंदुओं से जो पाँच रश्मियाँ निर्गत होती हैं, वे ही 'पंचतन्मात्रा-चक्र' कही जाती हैं। ये रश्मियाँ पृथक्-पृथक् निर्गत होती हुई भी, परस्पर मिश्रित हो जाती हैं। अर्थात् प्रथम बिंदु से निर्गत रश्मिजाल, द्वितीयादि अन्य चार बिंदुओं से निर्गत रश्मियों के साथ एकत्र होकर, मिश्रीभाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार शब्दतन्मात्रा, स्पर्शादि-चतुर्विध-तन्मात्राओं से मिश्रित होती हुई, प्रथम-चक्रको आकाश-मंडल के रूप में परिणत करती है। इसी आकाश को 'स्थूलाकाश' कहते हैं। इसमें शब्दांश का प्राधान्य होने पर भी, स्पर्शादि-तन्मात्राओं का अवश्य संमिश्रण है। इसी प्रकार द्वितीय-बिंदु से विकीर्ण रश्मि, अन्यान्य बिंदुओं से निर्गत रश्मियों से मिश्रित होती हुई, स्थूल वायुमंडल की रचना करती है। यह द्वितीय अधस्तन बिंदु का चक्र (स्थूल वायुमंडल) आकाशमंडल के मध्य में अवस्थित रहता है। इसी प्रणाली से स्थूल तैजसमंडल, जलमंडल एवं भूमंडल रचित होते हुए, क्रमशः पूर्व-पूर्व भूतमंडलों के अभ्यंतर स्थित रहते हैं। अतः स्थूलतम भूमंडल इन सब मंडलों के मध्य स्थल में, अर्थात् निम्नभाग में अवस्थित है; यह सहज ही जाना जा सकता है। 'भूमंडल' कहने से केवल इसी पृथ्वी को न जानना चाहिए; किंतु यह पृथ्वी तथा असंख्य पृथिवियाँ, अथवा जो कुछ पार्थिव वा पृथ्वीबहुल पंचीकृत वस्तु हैं, सभी को इस 'भूमंडल' वा भूलोक के अंतर्गत समझना चाहिए। अन्यान्य मंडल के संबंध में भी यही 'प्रकार' स्मरण रखना चाहिए। पंचीकरण के समय में पंचतन्मात्राओं के मिश्रण से, तारतम्य (न्यूनातिरेक) के कारण, अनंत प्रकार के स्थूल कण वा अणु—जिनका पहले 'बीज' नाम से उल्लेख किया गया है—उत्पन्न होते हैं। एक-एक मंडल में एक-एक भाव का प्राधान्य स्थित होने से परमाणु भी पाँच प्रकार से विभक्त किया जाता है।[1] किन्तु यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि भूलोक में यद्यपि सब परमाणु

श्री-सम्प्रदाय के वैष्णवगण (रामानुजीय) सत्वमण्डल का अतिक्रमण न कर सके। यद्यपि उन्होंने विशुद्ध-सत्त्व को स्वीकार किया है, और उसको प्राकृतिक सत्त्व से विलक्षण भी माना है, तथापि वे उसके जड़-स्वरूप का ही प्रतिपादन करते हैं। कोई-कोई रामानुजीय विद्वान् अवश्य इसको अजड कहते हैं, तथापि रामानुज-संम्प्रदाय के बहुत-से आचार्य इसका जडत्व या अचित्त्व स्वीकार करते हैं। महायान-सम्प्रदाय के बौद्ध इसी को 'वज्रधातु' कहते हैं। उनकी सुखावती एवं अन्यान्य नित्य-धाम इसी उपादान से बने हैं। जो कुछ हो, वैष्णवाचार्यों में एकमात्र गौडीय सम्प्रदाय (चैतन्य सम्प्रदाय) ने ही इस सत्वमण्डल का अतिक्रमण किया है। अर्थात् सत्वमण्डल के ऊपर भी तत्त्व स्वीकार किया है।

१. नैयायिक और वैशेषिक विद्वान् आकाश द्रव्य के परमाणु स्वीकार नहीं करते। अन्य दार्शनिक विद्वानों में कतिपय आकाश के परमाणु स्वीकार करते हैं तथा कतिपय स्वीकार नहीं करते। वास्तव में भूत के चार प्रकार हैं या पाँच प्रकार। पाँच भी प्रकार मानने पर आकाश आणविक संघात-विशेष अथवा विभु-पदार्थ है, यहाँ इस विषय की विस्तृत आलोचना करना असंबद्ध एवं असम्भव है। केवल तत्त्व की ओर ध्यान देने से जाना जाता है कि आपाततः प्रतीयमान इन मत-वैषम्य के मध्य भी साम्यभाव वर्त्तमान है ही। योगवार्त्तिक (३, ४०) में 'विज्ञानभिक्षु' ने इसीलिए कारण और कार्य के भेद से आकाश के दो भेद माने हैं। विज्ञानभिक्षु का कारणाकाश और हमारा पूर्ववर्णित तमोमंडल वा आवरण-शक्ति एक ही

पार्थिव ही हैं, तथापि एक पृथ्वी-परमाणु अन्य परमाणु से अवश्य विलक्षण है। योगिगण विवेकज-ज्ञान द्वारा उस परमाणुगत वैलक्षण्य का साक्षात्कार कर सकते हैं।[१] जिस प्रकार पार्थिव परमाणु में परस्पर स्वगत-भेद है। ठीक उसी प्रकार अन्यान्य परमाणुओं में भी परस्पर स्वगत-भेद है।

स्थूल-भूमि की प्राप्ति होने पर प्रसारण-शक्ति प्रतिहत हो जाती है। यह स्थूल जगत् ही बाह्य जगत् कहा जाता है। बाह्य जगत् वा स्थूल देह में कालचक्र भ्रमण कर रहा है। इसी आवर्त्तन-मार्ग का एकांश (वाम-भाग) ईडा, और अपरांश (दक्षिण-भाग) पिंगला है। इन दोनों मार्गों में प्रत्येक की असंख्य शाखा-प्रशाखाओं ने मत्स्य-जाल के समान समस्त देह को व्याप्त कर रखा है। यह तो पहले ही कहा गया है कि स्थूल-भाव की प्राप्ति होने पर प्रसारण-शक्ति का निरोध हो जाता है। उस समय जीव भी स्थूल-कोष में पड़ा रहता है, पूर्व-स्मृति को भूल जाता है, तथा वैष्णवी माया से विमोहित होता हुआ ईडा-पिंगला-रूपी मार्ग से श्वास-प्रश्वास-रूप में संचरण करता रहता है। यही संचार 'संसार-गति' अथवा 'कालचक्र का परिभ्रमण' कहा जाता है; तथा जो शक्ति-प्रवाह पहले ज्योति-रूप से, ततः पर नाद-रूप से, प्रकट हुआ था वही स्थूलभाव (स्थूल भूमिका) प्राप्त करता हुआ प्राण-रूप से[२] प्रकाशित होता है। ज्ञानेंद्रिय, कर्मेंद्रिय, प्राणादि वायु प्रभृति सब इस प्राण-शक्ति का ही विकास है।

वस्तु है। विज्ञानभिक्षु-कृत महाभूताकाश की स्वीकृति से सिद्ध होता है कि वह अण्वात्मक आकाश भी स्वीकार करता है। जो स्वरशोधन की प्रक्रिया से परिचित हैं, वे ही आकाश के अणु देख सकते हैं। सर्वास्तिवादी बौद्धगण आकाश की असंस्कृत धर्मों के मध्य में गणना करते हुए इसको आवरणाभाव एवं अवकाशरूप मानते हैं। यह नित्य और विभु है, तथा अन्य पदार्थों का बाधक नहीं होता, एवं स्वयं अन्य पदार्थों से बाधित भी नहीं होता—अर्थात् इसका ह्रास या इसकी वृद्धि नहीं होती। यह नीरूप स्वप्रकाश वस्तु है। 'वसुबन्धु' ने कहा है कि आकाश यदि आवरणाभाव-स्वरूप न होता तो किसी भी वस्तु में क्रिया न होती। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। यही हमारे पूर्ववर्णित साम्यशक्ति का स्वरूप है। स्थविरवादी बौद्धगण आकाश की, संस्कृत-धर्म वा जन्य पदार्थों में गणना करते हैं। 'विज्ञानभिक्षु' के कार्याकाश से हमारे विशुद्ध-चक्र के साथ कुछ सादृश्य अवश्य है।

१. वैशेषिकाचार्यगण प्रत्येक पार्थिव परमाणु में द्विविध विशेष स्वीकार करते हैं—एक पाकज-विशेष और एक अन्त्य-विशेष। अन्त्य-विशेष अन्यान्य (वाय्वादि) परमाणुओं में भी रहता है। वह पाकज-विशेष, जब तक पार्थिव परमाणु की सत्ता है, तभी तक वर्त्तमान रहता है; और अन्त्य-विशेष भी इसी प्रकार का है। अवान्तर प्रलय में पाकज-विशेष वर्त्तमान रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसी पाकज-विशेष के वश द्व्यणुकादि-क्रम से यावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वैशेषिक लोग परमाणु का विश्लेषण (विभाग) नहीं कर सकते, अतएव कहा जा सकता है कि वे विशेष का (अन्त्य विशेष का) कोई अन्य मूल कारण (उपादान कारण) नहीं मानते, जैसा कि योगभाष्यकार ने 'अयुतसिद्धावयवसङ्घातः परमाणुः' वाक्य से स्पष्ट ही कहा है कि क्षुद्रतर अवयव की समष्टि का ही नाम 'परमाणु' है। इस अवयव-सन्निवेश या पंचीकरण के तारतम्य से ही परमाणुओं में परस्पर वैलक्षण्य होता है।

२. यथासम्भव हम पारिभाषिक शब्दों को प्रयोग में न लाने की चेष्टा करते हैं, तथापि उन शब्दों का कहीं-कहीं प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है; यहाँ 'नाद' एवं 'ज्योतिः' के पर्याय-

जिस समय प्रसारण-शक्ति बाधित हो जाती है, उसी समय संकोच-शक्ति की क्रिया का आरंभ हो जाता है। समग्र ब्रह्मांड में सर्वत्र यही व्यवस्था है। ब्रह्मांड इसी संकोच-शक्ति के प्रभाव से स्वगत वैषम्य का परित्याग करके साम्यावस्था के अभिमुख होता है। पृथक्-पृथक् चेष्टा न करने पर भी, प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्मांड की मुक्ति के साथ महाप्रलय के समय में मोक्ष प्राप्त करता है। यदि पृथक् मोक्ष के लिये चेष्टा की जाय तो ब्रह्मांड के मोक्ष-काल (महाप्रलय) की अपेक्षा, किंवा प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

जीव स्थूल तत्त्व के आवरण से आवृत होता हुआ ही सूक्ष्म सुषुम्ना के मार्ग में प्रविष्ट नहीं हो सकता। पूर्व-संस्कार या वासना, अभिमान वा कर्तृत्वबोध, एवं फलाकांक्षा वा भोगाभिलाषा (जिसको कामना भी कहते हैं), इन्हीं तीन आवरणों के कारण जीव में स्थूलत्व संपन्न हुआ है। विषयेंद्रियादि रूप यही स्थूलावरण जीव को अपने धाम में वापस नहीं जाने देता। प्रत्येक जीव ही ज्ञान चाहता है, आनंद चाहता है, अमरत्व चाहता है; अधिक क्या, ब्राह्मी-स्थिति की स्पृहा रखता है, और उसी प्रत्याशा से विषय-राज्य में परिभ्रमण करता है। वास्तव में विषयादि उसके प्रार्थनीय नहीं हैं, प्रार्थनीय है—आनंद। आनंद की सिद्धि के लिये वह गौणसाधन-रूप विषयादि की आकांक्षा करता रहता है। किन्तु युग-युगान्तर में, कल्प-कल्पान्तर में, संचरण करता हुआ भी अपनी आकांक्षा की तृप्ति नहीं कर पाता। इसका एक-मात्र कारण यह है कि वह सभी स्थानों में अपनी वासना एवं कर्तृत्वादि-अभिमान के साथ ही परिभ्रमण करता रहता है। जब तक वासना का उच्छेद, अंततः एक निमेष-पर्यन्त भी न होगा, तब तक सुषुम्ना में प्रवेश का मार्ग नहीं मिल सकता। कारण, स्थूल वस्तु सूक्ष्म-मार्ग में प्रविष्ट नहीं हो सकती। भूत-शुद्धि, चित्त-शुद्धि प्रभृति क्रियाओं का भी तात्पर्य स्थूलता के विसर्जन को छोड़ कर अन्य नहीं है। पंचभूत जब शुद्ध हो जाएँगे तब पंचीकरण की स्थिति नहीं रह सकती। अधिक क्या, पंचविन्दु भी एकबिन्दु के रूप में परिणत हो जाते हैं। उसके अनंतर चित्त-शुद्धि होती है। उसी एकबिन्दु के निर्मल होने से ज्ञान-चक्षु अथवा तृतीय नेत्र का उन्मीलन होता है। यही जीव की विशुद्ध-अवस्था है। इसके अनन्तर जीव ईश्वर-तत्त्व के सांमुख्य को धारण करता हुआ क्रम से अग्रसर होता जाता है। बस इसी को दूसरे शब्दों में उपासना कह देते हैं। उपासना के समय में आज्ञाचक्रस्थ विन्दु और सहस्रारस्थित महाबिन्दु में भेद और अभेद दोनों ही रहते हैं। क्रमशः इसी भेदाभेद के मध्य का भेदांश विगलित होने पर अभेद की ही प्रतिष्ठा के कारण ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। इसके अनन्तर त्रिगुणातीत परम साम्यावस्था या ब्रह्मत्व प्रतिष्ठित रहता है।

[२]

हमारे उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुंडलिनी-शक्ति के

रूप से व्यवहृत 'प्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'स्पन्दन' वा 'कम्पन' भी प्राणतत्त्व के ही रूपांतर है। ज्योतिः, नाद और तथोक्त प्राण—ये सब एक ही शक्ति के क्रमिक विकास-मात्र हैं, यह अवश्य जान लेना चाहिए।

उद्बोधन के बिना जीव की ऊर्ध्वगति नहीं हो सकती। अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त (Latent) अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन-प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुंडलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधना-मात्र—अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मंत्रयोगादि—यह संपूर्ण उपासना पुरुषकार-सापेक्ष अथवा कर्तृत्वाभिमान-जन्य हैं। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समय में लुप्त हो जाता है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुंडलिनी अधिक जाग्रत होती है। जिस समय एक बार कुंडलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुँचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुंडलिनी के जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण वा मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिये पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती।[1] संकोच-शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धि-गत होती है, और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।

कुंडलिनी जागरण के साथ ही साथ ईडा-पिंगला में प्रवहमान स्रोत सूक्ष्मता को प्राप्त करता हुआ सुषुम्ना के मार्ग में प्रवेश करता है, एवं सुषुम्ना के मार्ग से भी ऊर्ध्व उठता हुआ, क्रम से और भी अधिकतर सूक्ष्मता प्राप्त करता रहता है। इसी रूप में जीव की शक्ति को, वज्रा और चित्रिणी नाडी का भेद करके, अवशेष में ब्रह्मनाडी अथवा आनन्दमय-कोश में गमन करना पड़ता है। बस, यही ऐश्वर्यावस्था है जिस समय में आनन्दमय-कोष की तरफ ध्यान नहीं रहता, उस समय में गुणातीत परम साम्यावस्था की प्राप्ति होती है।

ऊर्ध्व सत्वबिन्दु से अधःस्थ तमोबिन्दु पर्यन्त जानेवाली रेखा ही मेरु (Axis) कही जाती है। इसी रेखा का ऊर्ध्वबिन्दु दक्षिणमेरु (North and South Poles) नाम से व्यवहृत होता है। इन दोनों बिंदुओं में आकर्षण-शक्ति विद्यमान रहती है। अधोबिंदु के आकर्षण का नाम मध्याकर्षण है, और यह भूमध्य से प्रसृत होता है। ऊर्ध्वबिन्दु के आकर्षण का नाम संकर्षण कहा जाता है, जिसका कृपा शब्द से भी व्यवहार होता है। यह कृपा ऊर्ध्वबिन्दु अथवा आदिसूर्य वा ईश्वरोपाधि के केंद्र से ही चारों ओर प्रसृत होती है। आज्ञाचक्रस्थ विशुद्ध-जीव या कैवल्यप्राप्त-पुरुष, ये दोनों आकर्षण के ठीक मध्यस्थल में तटस्थ-भाव से वर्त्तमान रहते हैं। उनकी उपाधि

---

१. प्राचीन बौद्धगण इसको 'स्रोत-आपन्न' कहते हैं। बुद्धदेव शक्ति-संचारपूर्वक शिष्य को इसी ऊर्ध्वस्रोत में स्थापित करते थे। यह सुषुम्नावाही ऊर्ध्वस्रोत से भिन्न और कुछ नहीं है। इस स्रोत को प्राप्त किए हुए जीव को कदापि 'अपाय' में गिरने का भय नहीं रहता, कारण उस समय में उसके सत्काय-दृष्टि, विचिकित्सा एवं शीलव्रतपरामर्श नामक त्रिविध बन्धन या 'संयोजन' छिन्न हो जाते हैं। संचारित शक्ति की न्यूनाधिकता एवं संचित वासनादिकों की गाढता के तारतम्य के कारण अवश्य 'स्रोत-आपन्न' अवस्था नाना प्रकार की होती है।

निर्मल है; अतएव उनके प्रति मध्याकर्षण की क्रिया नहीं होती। इसी लिये ब्रह्मांड-भाण्ड के मध्य में उनकी स्थिति भी नहीं रह सकती; तथा ऊर्ध्वदृष्टि न होने से उनके प्रति भगवान् की कृपा-शक्ति भी आकर्षण नहीं करती। शास्त्र में इनका वर्णन सांख्यज्ञानी कहकर किया गया है। ये जीव ईश्वर के शुद्ध सत्त्वात्मक-धाम में स्थिति नहीं प्राप्त करते हैं। ये माया से अतीत होते हुए भी महामाया के अधीन रहते हैं। आगमशास्त्र इन्हीं जीवों को 'विज्ञानाकल' कहता है।

इस स्थिति में क्रम अवश्य माना जाता है। जिस समय किसी अनिर्वचनीय कारण से यह तटस्थ-बिंदु ऊर्ध्वमुख हो जाता है, उसी समय अखंड सत्त्वबिंदु के साथ उसका सांमुख्य हो जाता है। इसी को ईश्वर-साक्षात्कार कहते हैं। उस समय यह बिंदु तटस्थ नहीं रहता, किंतु वह सहस्रार में प्रविष्ट होकर तथा अपनी रेखा के आलंबन से केंद्र के अभिमुख अग्रसर रहता है। यही भाव-साधना है, यह स्वयं स्वभाव से ही हो जाती है। तमोबिंदु जिस प्रकार पाँच प्रकार से विभक्त रहते हैं, उसी प्रकार शुद्ध-सत्त्व के भी पाँच विभाग होते हैं, प्रत्येक विभाग में एक-एक भाव का प्राधान्य रहता है। शांत से लेकर माधुर्य-पर्यंत ये पाँच विभाग प्रसृत रहते है। अंतिम माधुर्य ही शुद्ध सत्त्वबिंदु का अंतरतम अथवा ऊर्ध्वतम भाग माना जाता है। जिस समय माधुर्य-भाव को भी पुरुष अतिक्रांत करता है, उसी समय वह पूर्णावस्था प्राप्त कर लेता है, इसके पूर्व नहीं। तमः, रजः, और सत्त्व—इन त्रिविध मंडल के अतिक्रमण से ही कुंडलिनी का चैतन्य पूर्ण होता है, यह कह सकते हैं। कुंडलिनी के पूर्ण जागरण से एकमात्र, अद्वितीय और पूर्ण वस्तु में ही स्थिति रहती है। समग्र जगत् निराधार होता हुआ ब्रह्मरूप में परिणत होता है, तथा आत्यन्तिक और ऐकान्तिक ब्राह्मी-स्थिति एवं शाश्वत-पद की प्राप्ति हो जाती है।

(४)

हमारे इस पूर्वोक्त कथन से यह अवश्य प्रतिपादित हो चुका कि कुण्डलिनी-तत्त्व के साथ देह-तत्त्व का—केवल देहतत्त्व का ही नहीं, जगत् के यावन्मात्र तत्त्वों का—अवश्य घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। जो मुक्ति-मार्ग के पथिक हैं, वे जडतत्त्व, चित्तत्त्व एवं ईश्वरतत्त्व—अर्थात् सकल तत्त्वों का अतिक्रम करके अग्रसर होते हैं; क्योंकि ये सब तत्त्व वैषम्यावस्था के अंतर्गत हैं। साम्यावस्था ही तत्त्वातीत अवस्था है। ऐसी अवस्था में कहीं-कहीं जिनका तत्त्व कहकर वर्णन किया गया है वह केवल व्यवहार-सौंदर्य के अनुरोध से ही जानना चाहिये।

कुंडलिनी के किंचित् जाग्रत होने पर ही जीव ऊर्ध्वगति अथवा क्रम-मुक्ति के अनुकूल आरोहण करने लगता है। समाधि का क्रम-विकास अथवा कुंडलिनी की क्रमोन्नति, दोनों एक ही पदार्थ हैं। जितने समय तक चित्त एकाग्र-भूमि में रहता है, उतने ही समय तक उसको अवलंबन प्राप्त रहता है। अवश्य यही स्थूल अवलंबन सूक्ष्म-भाव को प्राप्त होता हुआ, अवशेषतः बिंदुरूप में परिणत होता है। प्रचलित पातंजल-योग के मतानुसार इसी बिंदु को 'अस्मिता' कहते

हैं। इसीलिये सस्मिता समाधि संप्रज्ञात-समाधि की चरम सीमा है। इसी भूमि में प्रज्ञा के उदित होने से चित्त निरालंबन होता हुआ, परिपूर्ण शुद्ध होता है। उस समय में उपायप्रत्ययात्मक असंप्रज्ञात-समाधि का उदय होता है। इस अवस्था में क्लेश नहीं रहता, कर्माशय नहीं रहते, पूर्व संस्कार, कर्तृत्वबोध आदि कुछ भी नहीं रहते, अर्थात् चित्त सकल प्रकार के आवरणों से विमुक्त होता हुआ पूर्ण चन्द्रमा के समान विमल, स्निग्ध-ज्योति से समुद्भासित होता है। यह शुद्ध सत्त्व ही निर्माणचित और निर्माणकायादि का उद्भव-स्थान है। यह शुद्ध-सत्त्व दो प्रकार से स्थित रहता है। संकोच-काल में इसके निरोध से पुरुष को कैवल्य-सिद्धि प्राप्त होती है, तथा विकाश-काल में इसके आविर्भाव से जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है।[१]

सांख्यशास्त्र का कैवल्य पूर्ण-अवस्था नहीं कहा जा सकता। इस कथन की आवश्यकता नहीं, यह स्वयं ही विदित हो रहा है; क्योंकि वास्तव में चैतन्य-स्वरूप-पुरुष एक किंवा बहु हो ही नहीं सकता। उपाधि-विहीन शुद्ध चैतन्य में भेद-प्रतीति अथवा अभेद-प्रतीति कुछ भी संभव नहीं है। उपाधि के एक होने पर ही तदुपहित चैतन्य को भी एक कह सकते हैं। उसी प्रकार उपाधि-बाहुल्य के कारण ही तदुपहित चैतन्य में भी बहुत्व स्वीकार किया जा सकता है। सांख्य का पुरुष-बहुत्व वस्तुतः बहुसत्व से परिच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है। सत्व की खंडता के कारण ही सत्व का बाहुल्य उनको अवश्य मानना पड़ेगा। पूर्वोक्त एक अखंड-सत्व ही खंडित (अथवा खंडितवत्) होता हुआ बहुरूप से प्रतिभासित होता है। एक से ही बहुत्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है।

अतएव बहु पुरुष जब तक एक उत्तम-पुरुष को नहीं प्राप्त कर लेते हैं, तब तक यथार्थ साम्यभाव की आशा करना दुराशा-मात्र है। एकाग्र-भूमि का आश्रय किए बिना निरोध-भूमि में पदार्पण नहीं होता। द्वैताद्वैत-रूपी उभय भाव से अतीत होने के लिये प्रथम द्वैत से अद्वैत में उपस्थित होना चाहिए। इसके अनंतर स्वाभाविक नियम से अद्वैत-भूमि भी अतिक्रांत होती है, फिर विकल्पोपशमा या साम्यावस्था की प्राप्ति अपने-आप ही हो जाती है। द्वैतभाव को अद्वैत-भाव में परिणत किए बिना उसको निवृत्त करने से व्युत्थान अवश्य हो जाता है; क्योंकि जिस कारण से जलमग्न लघु वस्तु के उत्थान की तरह प्रकृति में लीन पुरुषों का पुनरुत्थान होता है, ठीक उसी कारण से सांख्य के कैवल्यपद-प्राप्त पुरुषों का भी पुनरुत्थान समझना चाहिए।

अतएव वैशेषिकों की मुक्ति तो दूर रही, सांख्यवालों की मुक्ति भी वास्तविक

---

१. जिस समय शक्ति रहती है, उसी समय संकोच-विकास खेल होते हैं। सत्त्वादि-गुणत्रय भी शक्ति का ही स्फुरण है। यह सांख्ययोग-शास्त्र में यद्यपि स्पष्ट भाव से नहीं उल्लिखित किया गया तथापि सर्वोच्च भूमि से लक्ष्य करने पर उक्त सिद्धान्त सहज में जाना जा सकता है। मुक्ति का आदर्श विभिन्न प्रकार से माना गया है, इसलिए जीवन्मुक्ति भी अनेक प्रकार की है। जिस मत में, जिस अवस्था को मुक्ति माना है, उस मत में उस अवस्था का जीवद्दशा में प्रकाश होना ही जीवन्मुक्ति समझनी चाहिए।

मुक्ति नहीं है, यह सुतरां सिद्ध होता है; क्योंकि उस समय में भी कुंडलिनी का संपूर्ण जागरण नहीं होता है। निरीश्वर-सांख्य में ईश्वरत्व नहीं माना गया। जिस नित्यमुक्त और नित्यैश्वर्यसंपन्न ईश्वर की उपाधि को योगभाष्यकार 'प्रकृष्ट सत्त्व' कह करके व्याख्यान करते हैं, एवं जिसको क्लेशादि विहीन परम गुरुदेव-रूप बतलाते हैं, उस 'कारण ईश्वर' को भी सांख्यदर्शन स्वीकार नहीं करता। सांख्य के मत में हिरण्यगर्भादि 'कार्येश्वर' ही ईश्वर हैं। साधना के परिपाक के कारण साधक पुरुष के चित्त में अणिमादि अष्टैश्वर्य का विकाश होना ही सांख्य-मत से ईश्वरत्व-लाभ करना है, यह कह सकते हैं। किंतु यह ऐश्वर्य अनित्य है; क्योंकि यह द्वैत-बोध से ही उत्पन्न होता है, इसलिए कैवल्यपद का परिपंथी है। तात्पर्य यह है कि सांख्य-निर्दिष्ट साधना से जीव तटस्थ-भाव को प्राप्त करके ऊर्ध्व उत्थित नहीं हो सकता। तटस्थ-बिन्दु ऊर्ध्वबिन्दु के आकर्षण की सीमा के बहिःप्रदेश में अवस्थित रहने के कारण सहस्रार के मार्ग को नहीं प्राप्त कर सकता। उस समय में उसका सम्पूर्ण आवरण तिरोहित नहीं होता, क्योंकि कुण्डलिनी आंशिक रूप से प्रसुप्त रहती है। शैवागम के मत से यह एक 'विज्ञानाकल' अवस्था है। भक्ति (वैधी) एवं उपासना के बल से अखण्डसत्त्व की धारा के साथ, अर्थात् आदित्य की एक रश्मि के साथ, खण्ड-सत्त्व संयोग को प्राप्त होता है और क्रम से उसी रश्मि के आश्रय से केन्द्र के निकटवर्ती होता रहता है। खण्डसत्त्व में भाव के विकसित होने पर सहस्र-दल कमल की नित्यविभूति का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। वह भाव धीरे-धीरे प्रगाढ होता हुआ विधि-कोटि (वैधी भक्ति) को अतिक्रम करके रागरूप में परिणत होता है। राग का भी क्रमिक विकास है। ऐश्वर्यावस्था का अनुभव दास्यभावपर्यन्त ही होता है। इसके अनन्तर दास्यभाव के अतिक्रान्त होने पर माधुर्यावस्था का विकास होता है। यह माधुर्यावस्था सख्य, वात्सल्य और कान्त रूप से तीन प्रकार की होती है। इन तीनों में कान्त-भाव में ही माधुर्य की पराकाष्ठा है। इसके अनन्तर यह कान्त-भाव क्रम से महाभाव रूप में परिणत होता है। यही महाभाव, विभाव और अनुभाव प्रभृति कारणों से शृंगार रस का रूप धारण करता है, और यही आदि-रस कहा जाता है।[१]

इस प्रकार कुण्डलिनी के क्रमिक जागरण से ऊर्ध्वबिन्दुपर्यन्त ही जीव उत्थित होता है, और केन्द्र में प्रविष्ट होते ही लीलाभूमि के अपर प्रान्त को अपने आयत्त कर लेता है। इस समय में साम्यभाव से स्थिति रहती है, और यही उपशम वा शांतावस्था

---

१. शान्त और शृंगार—इन दोनों रसों में कौन आदि-रस है, इस विषय में साधक-सम्प्रदाय में बड़ा मतभेद चलता है। लीलानुरागी सम्प्रदाय शृङ्गार को ही आदिरस कहता है। गौडीय वैष्णवगण शान्त-रस को सर्वापेक्षा निम्न मानते हैं। मुख्य बात यह है कि शान्त और शृङ्गार दोनों ही रसास्वादन की प्रांतावस्था है। काश्मीरीय शैवाचार्य यद्यपि शांत रस को प्रधान बतलाते हैं तथापि वे शिव-शक्ति के सामरस्य-रूप में शृंगार का शांत के साथ समन्वय करते हैं, यहाँ तक कि चैतन्य महाप्रभु के रसतत्त्व की शिक्षा भी शृंगार रस को ही प्राधान्यतः ख्यापिका है।

है। किसी-किसी शास्त्र के परिभाषानुसार यही निर्वाण-पद कहा जा सकता है। अतएव शुद्ध-सत्त्व के प्रकट होने पर शृंगार रस ही सब रसों का सार-भूत एवं आदिरस है, यह बिना प्रयास के ही सिद्ध होता है। गुणातीत अवस्था में इसका आस्वादन भी नहीं रहता।

हमने जो पूर्व में कहा था कि कुण्डलिनी का पूर्ण-चैतन्य-सम्पादन करना तथा परमैश्वर्य-लाभ, ये दोनों एक ही बात हैं, यह इस लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है।

शक्ति का जागरण

मनुष्य-जीवन का वास्तविक उद्देश्य क्या है, यह प्रश्न मनुष्य के मन में स्वभावतः कभी न कभी उदित होता है। मनुष्य का यथार्थ-स्वरूप क्या है, यह जानकर उस अपने स्वरूप की उपलब्धि करना ही; मनुष्य का कर्त्तव्य है। कोई-कोई ऐसा समझते हैं कि प्रकृति के स्पर्श से मुक्त होकर चिदात्मक-आत्मा यदि अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सके तो समझना चाहिये कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य सफल हुआ। विवेक-ख्याति से मनुष्य जड से अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अपने को पृथक् अर्थात् द्रष्टृ-स्वरूप समझ या पहचान सकता है। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होने पर कर्म-बीज दग्ध हो जाते हैं और चित्तवृत्ति के साथ आत्मा का तादात्म्य-भ्रम सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था में देहबोध नहीं रहता, केवल निष्क्रिय आत्म-स्वरूप ही रहता है। देहबीज दग्ध हो जाने के कारण देहान्त के बाद पुनः देह का ग्रहण नहीं करना पड़ता। इसीको साधारणतया विदेह-कैवल्य के नाम से वर्णन किया जाता है। इस अवस्था को प्राप्त होने पर जीव जन्म-मृत्यु के आवर्त्तन से सदा के लिए अव्याहति या मुक्ति पा जाता है। यह एक सम्प्रदाय का मत है।

अपर पक्ष यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं करता। उस पक्ष के समर्थन करनेवाले मनीषी लोग कहते हैं कि विदेहकैवल्य-लाभ मनुष्य-जीवन का परम उद्देश्य नहीं हो सकता। इन लोगों का कहना है कि मनुष्य वस्तुतः परमेश्वर-स्वभाव है, अर्थात् जीव शिव से भिन्न नहीं है। इसलिए जबतक उस स्वभावको प्रबुद्ध नहीं कर सकेगा, तबतक उसके जीवन का उद्देश्य असम्पूर्ण ही रहेगा। अनन्त शक्तियों से सम्पन्न शिवभाव ही भगवत्ता है; शिव अर्थात् परमेश्वर ने लीला-प्रसंग में स्वातन्त्र्य से अपने को संकुचित करके, पशुभाव या जीवभाव धारण कर लिया है। उसका नित्यसिद्ध स्वभाव इस आगन्तुक-संकोच के प्रभाव से पशु-अवस्था में पड़कर अत्यन्त परिच्छिन्न हो गया है। इसीलिये उसका स्वाभाविक षाड्गुण्य भी परिच्छिन्न हो जाता है। यद्यपि वह स्वरूपतः सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, विभु, नित्य और आप्तकाम अर्थात् नित्यतृप्त है, फिर भी इस संकोच के प्रभाव से वह अल्पज्ञ, अल्पकर्ता, परिच्छिन्न, देह से परिमित, परिमितकालस्थायी, अर्थात् काल के अधीन और विभिन्न प्रकार की कामनाओं से कलंकित है। जीव-अवस्था का यह सब स्वाभाविक-धर्म है। यद्यपि विदेह-कैवल्य में यह परिच्छेद नहीं रहता है, फिर भी परिच्छिन्न ज्ञान-क्रियाशक्ति का उन्मेष भी नहीं होता। अतएव अभिन्न ज्ञान-क्रिया-शक्ति-रूप स्वातन्त्र्य का पूर्णतम विकास न होने पर केवल कैवल्य से मनुष्य को पूर्णत्व लाभ नहीं हो सकता। पूर्णत्व-लाभ के लिए अपरिच्छिन्न परमाशक्ति का नित्य-संयोग आवश्यक है। यद्यपि मूल में

भगवच्छक्ति चिदानन्दस्वरूप है, फिर भी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति उस मूल अव्यक्त-शक्ति का ही अभिव्यक्त प्रकार है। ऐसा मानना पड़ेगा कि भगवान् की शक्तियों का अन्त नहीं है। प्राधान्येन चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच भागों में उनकी शक्तियाँ विभक्त हैं। पराशक्तिके स्वरूप में ये पाँचों शक्तियाँ अभिन्नरूपेण एकाकार हैं, परन्तु निम्नस्तर में व्यवहार के लिये इन शक्तियों में अभिन्नत्व रहते हुए परस्पर-भेद का भी स्फुरण हो जाता है। इसमें चित् और आनन्द उनके स्वरूप से अभिन्न होकर भी अतिरिक्त प्रमेय के सम्बन्ध से इच्छादिरूप में पृथक्-पृथक् नामों से स्वरूप में नित्य समवेत रहते हैं। मूलशक्ति चित्शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह चित्शक्ति मनुष्य के देह में अत्यन्त आन्तरिक शक्ति के रूप में विराजमान है। आनन्द चित् का ही अपने अभिमुख विश्रान्ति है। स्वातन्त्र्य से जैसे चित् आनन्दरूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आनन्द बहिर्मुख होने पर क्रमशः इच्छा, ज्ञान और सर्वान्त में क्रियारूप में परिणत हो जाता है। हमारी परिभाषा में जो वर्णमातृका हैं, वे सब पृथक्-पृथक् भावों की शाब्दिक अभिव्यंजनामात्र हैं। तदनुसार 'अ' अनुत्तर या चित्-शक्ति का नाम है, 'आ' आनन्द-शक्तिका नाम है, 'इ' इच्छाशक्ति का नाम है और 'उ' उन्मेष या ज्ञानशक्ति का द्योतक है। 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' ये चार वर्ण अस्फुट तथा स्फुट रूप से विभक्त अवस्थापन्न क्रियाशक्ति के वाचक हैं। क्रियाशक्ति के बाद शक्ति का प्रसरण और आगे नहीं होता। उस समय शक्ति वहीं रुद्ध होकर प्रत्यावृत्त होती है और मध्य के सभी शक्तियों को गर्भ में लेकर समष्टि रूप धारण करते हुए बिन्दु-अवस्था प्राप्त होती है और वह बिन्दु अनुत्तर चित्-शक्ति के साथ मिलकर एक हो जाता है। वस्तुतः यह बिन्दु ही शिवबिन्दु है, किन्तु बिन्दु-भावापत्ति के बाद वह बिन्दु अपनेको विभक्तवत् करके दो अलग-अलग बिन्दुओं के रूप में अपने को प्रकट करता है, उसी का नाम विसर्ग है। वस्तुतः यह बिन्दु की विसर्ग-लीला है। इस विसर्ग-लीला से क्रमशः तत्त्वों की तथा भुवनों की सृष्टि होती है—और शिव बिन्दु वस्तुतः विसर्ग के प्रभाव से हकार तथा प्रसृत होकर अहंभाव का विकास करता है। शास्त्रने कहा है—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शः कथितः प्रिये॥

इसका मतलब यह है कि 'अ' प्रकाशात्मक है और 'ह' विमर्शात्मक होने के कारण 'अ' 'ह' ये दो वर्ण मध्यवर्ती समग्र वर्णमाला के द्योतक हैं। ये सब वर्णमाला भगवान् की रश्मि या शक्तियों के प्रतीक हैं। 'ह'कार प्राण का वाचक है। चित्-शक्ति प्राण-शक्ति के रूप में परिणति लाभ कर फिर विलोम-क्रम से मूल स्थान में लौट आती है। इसमें फिर क्रिया का आविर्भाव होकर 'अ' या अनुत्तर के साथ युक्त हो जाती है, इसीका नाम है 'अहं'। यह परमात्मा के स्वभावसिद्ध प्रकाश-विमर्शात्मक स्वरूप का परिचायक है। इस अहं के प्रतियोगी इदंभाव का विकास अभी तक नहीं हुआ, क्योंकि यह अद्वैत-अवस्था का ही विवरण है। इदंभाव ही विश्व का प्रतीक है। सबसे

पहले स्वातन्त्र्य के प्रभाव से अहं से विभक्त न होकर भी, विभक्त-रूपेण इदं का स्फुरण होता है। यही महासमष्टि-सृष्टि का पूर्वाभास है। इदं का यह प्रथम रूप महा-शून्य से भी अतीत परम शून्यरूपेण माना जा सकता है। महासमष्टि की सृष्टि से समष्टि का और समष्टि की सृष्टि से व्यष्टि का क्रमशः उद्भव होता है। विभिन्न स्तरों में विभिन्न शून्यों के बाद बुद्धि, प्राण, मन, इन्द्रिय और विषय का क्रमशः स्फुरण होता है। इस क्रम से ही सृष्टि की बहिर्मुखी धारा बहती है। विषय-सृष्टि के मूल में प्रकृति के सदृश-परिणाम से विसदृश-परिणाम होता है। सदृश-परिणाम गुण-स्वभाव से होता है, किन्तु विसदृश-परिणाम संकल्प या इच्छाशक्ति के स्वभाव से होता है। विसदृश-परिणाम का पहला रूप तत्त्वान्तर परिणाम है, और अन्तिम रूप धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम है। किन्तु परिणाम-रहस्य का सविस्तर विवरण यहाँ आवश्यक नहीं है।

[२]

पहले जो चित्-शक्ति या अनुत्तर की बात कही गई है, उस पर अत्यन्त सूक्ष्म-दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि यह अकुल-स्वरूप की आदिभूता कुलशक्ति है। यह कुलशक्ति कुल-कुण्डलिनी के नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध है। यह विसर्ग-शक्ति का ही सूक्ष्मतम रूप है, इसमें सन्देह नहीं। निखिल विश्व का स्फुरण इस शक्ति से ही होता है। सृष्टि-भेद-प्रधान, भेदाभेद-प्रधान अथवा अभेद-प्रधान, इस प्रकार से तीन हैं। भेद-सृष्टि स्थूल है, इसका नाम आणव-विसर्ग है, भेदाभेद-सृष्टि सूक्ष्म है, इसका नाम शाक्त-विसर्ग है, और अभेद-सृष्टि सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और इसका नाम शाम्भव-विसर्ग है। इन तीन विसर्गों में जो स्थूल-विसर्ग है, वह संकुचित ज्ञानात्मक चित्त का विसर्ग है। इस स्फुरण में बहिर्मुख अवस्था प्रकट रहती है, इसमें प्रमाण, प्रमेय प्रभृति समग्र विश्व ही दृष्टि का विषयीभूत होकर प्रकाशित होता है। सूक्ष्म-विसर्ग को चित्त का सम्बोध कहा जाता है। इस अवस्था में चित्त अपने निष्कल रूप में आत्म-समर्पण करने के लिए उद्यत होता है, अतः इस स्थिति में अखण्ड-प्रकाश में समग्र चराचर विश्व की आहुति हो रही है, ऐसा प्रतीति-सिद्ध है। यह शक्ति की अवस्था है। परन्तु सूक्ष्माति-सूक्ष्म शैव-विसर्ग में न भेद रहता है, न भेदाभेद। वस्तुतः उसमें विश्व भी नहीं रहता। वह आनन्दात्मक अभेद-अवस्था है। इस समय चित्त प्रलीन होकर रहता है। केवल संवित् या चैतन्य विद्यमान रहता है।

यह विसर्ग-शक्ति अखण्ड-प्रकाश की पराशक्ति है। यह परप्रमाता के साथ अभिन्नरूपेण वर्तमान रहती है। सूक्ष्म-दृष्टि से प्रतीत होता है कि इसे एक प्रकार की इच्छा के रूप में वर्णित किया जाय। इसी कारण से कामकला-विज्ञान में उसे कामकला नाम से वर्णित किया जाता है। कामकला का स्वरूप तत्त्व-सृष्टि की पहली अवस्था है। यह इच्छा बहिरुन्मुख होने पर विसर्ग नाम से बोधित होती है। बहिरुन्मुख होने का कारण है—क्षोभ। इस क्षोभ की पूर्वावस्था है 'अ' अर्थात् अनुत्तर, अर्थात् चित्त; तथा परावस्था है—'आ' अर्थात् आनन्द। प्रसर में यह धीरे-धीरे क्रिया पर्यन्त फैल जाती है।

[३]

'अ' नामकी जिस पराशक्तिकी बात कही गई है, उसका दूसरा नाम है—सप्तदशी कला, अर्थात् अमा। यह नित्योदित है, अर्थात् इसका कभी तिरोधान नहीं होता। यही अमृत-कला है। अन्तःकरणादि षोडश कलाओंका उद्भव इसी से होता है। विसर्ग दो हैं—जो पर विसर्ग है, वह आनन्द है और जो अपर विसर्ग है वह हकार या प्राण है। इन दो विसर्गों का स्वरूप आत्मभूत दो बिंदु है। यही अमा-कला बिन्दु की गति के द्वारा अर्थात् दोनों बिन्दुओंको प्रकाशित करते हुए, प्रसृत होकर, उल्लसित होती है; अर्थात् 'अ' तत्-तत् रूपों के अवभासन की इच्छासे बहिर्मुख प्रवाहित होने लगता है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इस अमा-कला से अभिन्न है, फिर भी अमा-कला इनको तत्-तद् रूपेण भिन्न-भिन्न नियत-प्रकाश रूप में प्रकाशित रखती है। जब यह अमा-कला विसर्गहीन हो जाती है अर्थात् जब वह बहिरुन्मुख नहीं रहती है, तब उसका नाम होता है—शक्ति-कुण्डलिनी। यह प्रसुप्त, भुजंगाकार, स्वात्ममात्र-विश्रान्त, परा संवित् है। विसर्ग के दो प्रान्तों में दो कुण्डलिनी हैं। आदि कोटि में जो कुण्डलिनी है, उसका नाम है प्राण-कुण्डलिनी, क्योंकि बहिरुन्मुख कारण-संवित् पहले प्राणके रूप में प्रकट होती है। अन्त-कोटि में जो कुण्डलिनी है, उसका नाम है—परा कुण्डलिनी; यह स्वात्म-विश्रान्त परा-संवित् है, यह अन्तरुन्मुख है। यदि संवित् भिन्न अन्य कोई वस्तु न हो तो परा-शक्ति सृष्टि और संहार किसका करती है, यह चिन्तनीय होगा; क्योंकि जिस भूमिका की बात हम यहाँ कह रहे हैं, वहाँ न माया है, न प्रकृति है, जो उपादान का कार्य कर सके। वास्तव में आत्मा अपने में से ही सृष्टि करता है, स्वयं ही करता है, तथा अपने को ही करता है। देश, काल आत्मा से भिन्न नहीं है और प्रमाता, प्रमेय आदि जो कुछ सृष्ट होता है, वह भी आत्मा से भिन्न नहीं है। विभिन्न आभास रूप से आन्तर और बाह्य जो स्फुरण होता है वह भी, आत्मा से भिन्न नहीं है। स्वातन्त्र्यमयी चैतन्य-शक्ति क्रमशः क से ह पर्यन्त स्फुरित होती है।

[४]

मनुष्य-देह में वही कुंडलिनी-शक्ति सुप्तरूपेण विद्यमान रहती है। इसी कारण मनुष्य-देह का इतना महत्त्व है। इसकी निद्रित-शक्ति को जगाने से, यह क्रमशः ऊपर की ओर उठने लगती है। इस प्रकार क्रमिक-उत्थान के प्रभाव से मनुष्यत्व के विकास में जितने परिपन्थि-रूप विकल्प-जाल हैं, उन सबका नाश हो जाता है। एक चक्र को भेद करके चक्रान्तर का भेद इसी उद्देश्य से करना पड़ता है। षट्-चक्र का भेद पूरा हो जाने पर आत्मा का तृतीय-नेत्र मल-शून्य होकर स्वच्छ और प्रसन्न हो जाता है। विकल्पों की निवृत्ति हो जाने पर निर्विकल्प-स्वरूप का दर्शन स्वत ही होता है, अर्थात् उस समय ज्ञान-नेत्र उन्मीलित होता है और 'शिवोऽहं' रूपेण आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। शिवरूपी आत्मा ने जब सृष्टि के आदि में पशु की भूमिका ग्रहण की थी, तब मातृका की सहायता से अपना स्वरूप-गोपन करने में वह समर्थ हुआ था। स्वभाव-सिद्ध क्रम से ये सब मातृकायें-'अ' से लेकर 'ह' पर्यन्त, उल्लसित होती हैं। इस उल्लास

में न कोई वैषम्य रहता है न क्रम, वेग की मंदता या तीव्रता भी नहीं रहती। यही अहन्तारूपी महाशक्ति का प्रकाश है, जिसमें सर्वशक्तियों का सन्निवेश रहता है। पशु बनने के समय यह उल्लास खण्ड एवं विषमभाव से होता है। उसका फल यह होता है कि पशु में अनन्त प्रकार की प्रकृतियों का आविर्भाव होता है। इसी कारण से पशु-प्रकृति में भी अनन्त-भेद हैं। पशु-भाव का विकास होने पर शिवभाव आच्छन्न हो जाता है, स्वातन्त्र्य के बदले पारतन्त्र्य आता है। वस्तुतः शिव अपनी शक्तियों से व्यामूढ़ होकर पशु बनता है और पशुभाव के परिहार के साथ ही साथ शिव-भाव का उन्मेष हो जाता है। तंत्र में भी लिखा है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् सः पशुः स्मृतः॥

तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न रूपों से स्फुरण-शील अकारादि अवयव-समूह ही कलापद वाच्य हैं। आत्मा के ऐश्वर्य से यह मतलब है कि इसमें यावत् वर्णमाला अन्तर्हित है। किन्तु कलाओं के प्रभाव से स्फुरण में वैषम्य हो जाने के कारण आत्मा का यह स्वाभाविक ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। उस समय यह आत्मा दैन्य-भाव प्राप्त कर अपने ही स्वरूप से सम्भूत शक्तियों के अधीन हो जाता है; पशु अवस्था में यह सब स्वाभाविक है।

कुण्डलिनी प्रबुद्ध होने पर चित्-शक्ति स्वयं निज-संविद्-रूप में आत्म-प्रकाश करती है। यह अति प्रबल अग्नि के बराबर है। इसे चिदग्नि कहा जाता है। सद्गुरु की कृपा से, ईश्वर की कृपा से, कालके परिपाक के प्रभाव से, या तीव्रतम संवेग से, अथवा और किसी कारण से इस शक्ति का जागरण हो सकता है। शक्ति-जागरण के मूल में प्राण और अपान शक्तियों का साम्य-स्थापन होता है, यह जानना चाहिये। प्राण और अपान इन शब्दों के द्वारा यावत् विरुद्ध शक्तियों का संग्रह समझना चाहिये। विरुद्ध शक्तियों में साम्य होना, यही समान-वायु की क्रिया का फल है। इस समय निद्रित कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठती है, योगीका मन और पवन इस जाग्रत-कुण्डलिनी-शक्तिरूपा अग्नि के साथ मिलकर एक हो जाती है। इस एकीभूता शक्ति से देहस्थ षट् चक्रों में प्रत्येक चक्रको आयत्त करना पड़ता है। ये छः चक्र और पंचभूत, चित्त के प्रतीक हैं। इन चक्रों की क्रिया होना ही पंचभूतों की शुद्धि तथा चित्त की शुद्धि होना है। भूत-शुद्धि तथा चित्त-शुद्धि का प्रभाव परस्पर पड़ता है। भूत-शुद्धि का प्रभाव चित्त पर और चित्त-शुद्धि का प्रभाव भूतों पर पड़ता है। वास्तव में छः चक्र मौलिक तथा चित्तगत एवं संस्कारात्मक विकल्पों के प्रसार-क्षेत्र हैं। इन चक्रों को जाग्रत कुण्डलिनी रूप चैतन्य-शक्ति से आपूरित करना पड़ता है। सृष्टिक्रम में बिन्दु, नाद और कला अर्थात् मातृका इन तीन स्तरों का परिचय मिलता है, क्योंकि प्रत्येक देहचक्र ही वाह्य दृष्टि से देखनेपर ठीक-ठीक कमलाकार प्रतीत होता है। कमलरूपी एक चक्र में कमल के दलरूप में मातृका वर्ण-रश्मियों को विकीर्ण करते हुए निःसृत हो रही है। इसके बाद एक व्यापक-प्रकाश ऊर्ध्ववाक् का रूप ग्रहणकर नाद का स्थान

अधिकृत किये हुए है। अन्त में कमल की कर्णिका में बिन्दुरूप में चक्रेश्वर और चक्रेश्वरी का आसन प्रतिष्ठित है। जाग्रत चित्-शक्ति देह में उद्‌बुद्ध होकर जब उठने लगती है, तब क्रमशः प्रत्येक चक्र पर आक्रमण करती है। पहले मूलाधार चक्र में यह आक्रमण होता है। इससे चक्र स्थित चार वर्ण चिदग्नि के प्रभाव से विगलित होकर क्रम से धारा रूप में बहने लगती है। यह धारा अपने प्रवाह द्वारा पर-पर के चारों वर्णों को विगलित करके और अपने साथ सम्मिलित करके मध्य-बिन्दु की तरफ क्षिप्र अथवा बेग से चलने लगती है। यही नाद का स्वरूप है। मध्य-बिंदु में प्रविष्ट होने के साथ ही साथ नाद का उपसंहार हो जाता है। उस समय नाद बिंदु का रूप धारण कर लेता है। प्रति चक्र का बिंदु ही अधः ऊर्ध्व वहनशील मध्य-मार्ग या शून्य-पथ में विद्यमान है। वर्ण, नाद और बिंदु प्रति कमल में ही हैं। प्रथम कमल का बिंदु वर्णनात्मक तथा नादात्मक समग्र कमल को ग्रास करके अनन्तर ब्रह्मनाली के ऊर्ध्व आकर्षण के प्रभाव से उत्थित होकर ऊर्ध्व चक्र में प्रविष्ट होता है। उस चक्र से भी पूर्ववत् वर्ण नाद और बिंदु विगलित करके और अपने साथ एकीभूत करके मध्य नाडी मार्ग में एकीभूत बिंदु ब्रह्मनाड़ी के ऊर्ध्व आकर्षण के प्रभाव से ऊपरकी ओर आकृष्ट होने लगता है। पृथक्-पृथक् बिंदु उस समय एक बिंदु में पर्यवसित होते हैं। इस प्रकार से वह बिंदु भी दूसरे बिंदु के साथ अभिन्न होकर जीव-कल्याण के लिए क्रमशः मध्य-नाडी की ओर धावमान होता है। पंचभूतात्मक पाँच चक्र मनोमय षष्ठ चक्र विध्वस्त हो जाता है, पंचभूत और योगी का चित्त शुद्ध होकर निर्विकल्प स्वच्छ प्रज्ञा में मग्न हो जाता है। इसके बाद आज्ञा-चक्र के ऊर्ध्व में दिव्य-ज्ञान का बिन्दु उन्मुक्त होता है। यह वस्तुतः कुण्डलिनी शक्ति की ही उन्मेष-प्राप्त अवस्था है।

षट्-चक्र-भेद के बाद भ्रूमध्य के निम्न देश से यावत् विकल्प तिरोहित होने लगते हैं। उस समय ललाट प्रदेश में देहाभिमान वर्जित होकर परम ज्योति के अमृत-कोष की उत्पत्ति होती है और प्रतिदिन उस महाशक्ति के आकर्षण से आकृष्ट होने पर क्रमशः अन्तरतर-अन्तरतम भाव से महाशून्य भेद कर सहस्रदल कमल का साक्षात्कार होता है। भ्रूमध्यस्थ विन्दु से सहस्रार के महाबिन्दु-पर्यन्त विभिन्न स्तर हैं। इन सब स्तरों को क्रमशः अतिक्रमण करते हुए महाशक्ति महाबिन्दुस्थ परम-शिव का आलिंगन करती है। सुदीर्घकाल के विरह के बाद शिवशक्ति का यह महामिलन संघटित होता है। उस समय कुण्डलिनी शक्ति कुण्डलभाव को त्यागकर दण्डरूप धारण करती है और अन्तमें महाबिन्दु में परम-शिव के साथ सामरस्य-लाभ करती है। इस मिलन से जो अमृतधारा का क्षरण होता है, उस सुशीतल धारा में मन और प्राण अभिषिक्त हो जाते हैं और ऊर्ध्वमुख होकर उस धारा का पान करने लगते हैं। समान-वायु की क्रिया के बाद उदान-वायु की क्रिया में कुण्डलिनी की ऊर्ध्व-गति निष्पन्न होती है। यह ऊर्ध्व-गति वस्तुतः सहस्रार में परिसमाप्त न होकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त अग्रसर होती है। उसके बाद और ऊर्ध्व-गति नहीं रहती। उस समय व्यान-शक्ति के प्रभाव से अपनी खण्ड सत्ता अनन्त व्यापक रूप धारण करती है। संक्षेप में यही आत्मा का नित्य स्वरूप में लौट आने का इतिहास है। विश्व-पिता, विश्वमाता और सन्तान उस समय एक ही

४१

महासत्ता के रूप में आत्मप्रकाश करते हैं। यह परिपूर्ण अद्वैत-स्थिति है और यही पूर्णत्व-लाभ है।

कुण्डलिनी के जागे बिना इस महापथ में चला ही नहीं जा सकता, परम लक्ष्य की प्राप्ति तो बहुत दूर की बात है। मनुष्य-जीवन का यही यथार्थ उद्देश्य है। केवल खण्ड-कैवल्य प्राप्त करके जन्म-मृत्यु के आवर्त से ऊर्ध्व में स्थान प्राप्त करना मनुष्य का लक्ष्य नहीं है। अपनी सुप्त भगवत्ता जब तक पूर्णतया जाग न उठे तब तक मनुष्य-जीवन की यथार्थ सफलता कहाँ? कुण्डलिनी के जागे बिना चित् और अचित् का द्वन्द्वभाव ठीक-ठीक कट नहीं सकता। विवेक-ज्ञान का लाभ मार्ग में आरूढ होने का एक उपयोगी सोपान-मात्र है। शक्ति की साधना छोड़कर शिव-भाव की प्राप्ति दुर्घट है और बिना कुण्डलिनी के जागरण के शक्ति-साधना का कोई भी अंग निष्पन्न नहीं हो सकता।

मन्त्रविज्ञान

मन्त्र का स्वरूप क्या है, मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति में उसका क्या स्थान है तथा मन्त्र की साधना का तात्पर्य क्या है इत्यादि प्रश्न साधारणतः तत्त्वजिज्ञासु साधकों के हृदय में उठते हैं। इनके साथ प्रसंगतः अन्यान्य प्रश्न भी उठते हैं। इस विषय में यदि यथार्थ उत्तर जानना हो तो मन्त्र-विज्ञान के सम्बन्ध में थोड़ी बहुत अभिज्ञता प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

परमेश्वर सृष्टि के आदि में अपनी बहिरंग-शक्ति महामाया अथवा बिन्दु पर दृष्टिपात करते हैं। यह दृष्टिपात ही उसमें चैतन्य-शक्ति का संचार है। दृष्टिपात से पहले महामाया सुप्त अवस्था में पड़ी रहती है। विशुद्ध जड-शक्ति का नाम महामाया है, जो अणुरूपी जीव पहले कल्प में साधना, वैराग्य, संन्यास, विवेकज्ञान आदि से अशुद्ध जडशक्ति का उल्लंघन करने में तो समर्थ हुए, किन्तु परमेश्वर के स्वीय स्वरूप में पहुँच नहीं सके, वे महामाया के गर्भ से विद्यमान रहते हैं। उन सब जीवों की अवस्था सुषुप्ति के तुल्य है, इसमें सन्देह नहीं। माया से मुक्त होने के कारण उन सब जीवों के जैसे अशुद्ध मायिक-शरीर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर नहीं रहते; वैसे ही कोई उच्चतर विशुद्ध शरीर भी नहीं रहता। वे माया से ऊपर, महामाया के गर्भ में लीन रहते हैं। माया के गर्भ में जैसी स्थिति है, महामाया के गर्भ में भी बहुत कुछ अंशों में वैसी ही स्थिति है। दोनों में केवल आवरण का भेद है। अप्राकृत दिव्य-अवस्था अथवा भागवत-अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। चैतन्य के विकास के बिना उसका आविर्भाव नहीं होता। यह पशुत्व से परे की अवस्था है। माया की निद्रा और महामाया की निद्रा—इन दोनों में पशुभाव रहता है। जब तक पशुत्व रहे, तब तक यथार्थ जागरण होना संभव नहीं है।

महामाया के विश्राम-काल में उसके गर्भ में स्थित जीव सुषुप्त रहते हैं। उनके जीवत्व का हेतु पशुत्व है। चैतन्य का जब तक उन्मेष नहीं होता, तब तक वह तिरोहित नहीं होता। विदेह-कैवल्य प्राप्त उन सब अशुद्ध जीवों को भगवत्ता की प्राप्ति में दो बाधाएँ हैं। एक है—आत्मा का स्वरूपगत अणुत्व अथवा पशुत्व। यह है अभिन्न-ज्ञान-क्रियारूप चैतन्य के स्वरूप का आच्छादन। दूसरा है—महामाया का सम्बन्ध। इन दोनों आवरणों के हट जाने पर शुद्ध भगवत्ता की अभिव्यक्ति का मार्ग खुल जाता है।

जब सृष्टि के प्रारम्भ में महामाया में चैतन्य-शक्ति का आधान होता है, तब उस शक्ति की क्रिया से महामाया विक्षुब्ध होकर कार्योन्मुख होती है एवं उसमें सुप्तवत् स्थित अणुरूपी जीव जाग उठते हैं। निद्राकाल में वे सब विदेह-अवस्था में महामाया में लीन रहते हैं, किन्तु ज्योंही महामाया विक्षुब्ध होती है, त्योंही उनकी नींद टूट जाती है।

देह-सम्बन्ध के बिना कोई अणु कभी जाग नहीं सकता। इसलिए महामाया में क्षोभ हो जाने से, उस क्षुब्ध महामाया से उन सब अणुओं के आवश्यकतानुसार शरीर आदि उत्पन्न और विकसित होते हैं। इसलिए जब वे जाग उठते हैं, तब फिर उनमें कोई भी विदेह नहीं रहते, वे सब महामाया से उत्पन्न देहों को लेकर ही प्रकाश में आते हैं।

महामाया में चैतन्य-शक्ति का आवेश और उन सब अणुओं में चैतन्य शक्ति का संचार एक ही बात है, क्योंकि अणु सुप्तावस्था में महामाया के साथ अभिन्न होकर ही उसमें रहते हैं।

महामाया के गर्भ में असंख्य अणु रहते हैं। महाप्रलयावस्था में वे सभी समान-रूप से लीन रहने पर भी चैतन्यशक्ति के पड़ने पर सब समान रूप से प्रबुद्ध नहीं होते और हो भी नहीं सकते। किसी-किसी अणु का जागरण होता है, सब का नहीं। यद्यपि सभी अणु मलयुक्त है, एवं चैतन्य अथवा भगवदनुग्रह की आवश्यकता सभी को समानरूप से है, तथापि मल की परिपक्कता सबकी एक-सी नहीं है। जिनका मल जितना अधिक परिपक्क होता है, उनका मल उतनी अधिक मात्रा में चैतन्य-शक्ति की ओर उन्मुख होता है। मल ने अनादि काल से आत्मा को अणुरूप में परिणत कर रखा है। अणुत्व ही पशुत्व है, वह आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है। आत्मा का स्वाभाविक धर्म है शिवत्व अथवा पूर्णचैतन्य। वह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अभिन्न और परिच्छिन्न स्वरूप है। मल अनादि होने पर भी आगन्तुक है। उसके द्वारा स्वरूप आच्छन्न रहता है। उस समय शिवरूपी आत्मा जीव या पशु रूप में परिणत होता है। वह मल-काल की शक्ति से निरन्तर परिपक्व होता रहता है। सृष्टिकाल में परिपाक के अन्य उपाय न हों, सो बात नहीं है; पर प्रलय-काल में वे उपाय काम नहीं देते है। परिपक्वता की ऐसी एक नियत मात्रा है, जिसके प्राप्त होने पर वे सब अणु अपने-आप ही चैतन्य-शक्ति की ओर उन्मुख होते हैं। आकाश-स्थित सूर्य की किरणें समुद्र के ऊपर पड़ती हैं और कुछ दूर समुद्रतल में भी पड़ती हैं। उनके समुद्र के अन्दर पड़ने की एक सीमा है, किन्तु जो जीव बहुत नीचे है, वे उन किरणों की सीमा तक पहुँच ही नहीं सकते, अतः वे आपाततः उन किरणों की क्रिया से वञ्चित रहते हैं। दूसरे पक्ष में जिन्हें उन किरणों का स्पर्श प्राप्त होता है, वे उनके प्रभाव से जाग उठते हैं और अपने मल के पाक की मात्रा के अनुसार विशुद्ध-शरीर प्राप्त कर शुद्ध-जगत् में विचरण करते हैं। अतएव अपेक्षाकृत अपक्कमल वाले जीवों की सुषुप्ति निवृत्त नहीं होती है। साधारणतः दूसरे कल्प में उसकी भी निवृत्ति होने की सम्भावना रहती है।

यहाँ पर हमने परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति की क्रीडा का उल्लेख नहीं किया, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि स्वातन्त्र्य-शक्ति के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो मल की परिपक्कता के ऊपर चैतन्य-शक्ति का संचार निर्भर है, इस बात को सर्वत्र सम्पूर्णरूप से सत्य मानना सम्भव नहीं, यहाँ पर साधारण-नीति का ही अनुसरण किया गया है। जीवों का आलोक-स्पर्श होता है, यह जो कहा गया है, वे सबके सब पुराने जीव हैं। वे पहले संसार में पड़े थे एवं प्रत्यावर्तन द्वारा मायापर्यन्त तत्त्व का भेद कर, देह से विमुक्त होकर महामाया में 'केवली' रूप से विलीन हुए हैं।

इनके मायाराज्य का यद्यपि भेद हो चुका है तथापि पूर्णरूप से इनका वासना से छुटकारा नहीं हुआ, क्योंकि मायातीत वासना अब भी रह गई है। मायिक मायातीत वासना अब भी रह गई है। मायिक वासना का विनाश करने के लिए मायिक देह ग्रहण कर मायिक जगत् में कर्म करना पड़ता है। देह-ग्रहण किये बिना वासना का क्षय नहीं होता। मायातीत वासना का यदि क्षय करना हो तो उसके अनुकूल शरीर धारण कर वैसा कर्म करना आवश्यक है। मायिक वासना मलिन है, किन्तु मायातीत वासना विशुद्ध है। कर्तृत्व के अभिमान से मायिक-जगत् में कर्म होता है एवं भोक्तृत्व के अभिमान से मायिक-जगत् में भोग होता है। कर्मानुष्ठान और कर्मफल का भोग इन दोनों को ही संसार कहते हैं। किन्तु जहाँ मायातीत वासना है, वहाँ कर्म के मूल में भी ठीक-ठीक अहंकार नहीं, एवं भोग के मूल में भी वह नहीं है। इसलिए उसको यथार्थ संसार कहना नहीं बनता। यदि संसार कहें तो उसे शुद्ध-संसार कहा जा सकता है। यह मायातीत कर्म ही 'अधिकार' और मायातीत भोग ही वास्तविक 'भोग' या 'संभोग' है। इस अधिकार और भोग से अतीत अवस्था का नाम 'लय' है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि मायातीत वासना विदेह-अणु में किस प्रकार चरितार्थ हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि मायातीत वासना मायातीत-देह द्वारा ही शान्त होती है। मायिक वासना की पूर्ति मायिक उपादानों से होती है, किन्तु मायातीत वासना की पूर्ति मायिक उपादानों से कैसे होगी? इसलिए जो मायातीत उपादान आवश्यक हैं, उनका नाम महामाया है। जिस समय चैतन्य-शक्ति महामाया का स्पर्श करती है, उस समय पूर्वोक्त पक्वमल वाले सब जीव जाग उठते हैं एवं विक्षुब्ध-महामाया से निर्मित देह में अधिष्ठित होकर अपने-अपने कार्यके साधनमें प्रवृत्त होते हैं। महामाया का नामान्तर कुण्डलिनी-शक्ति है। पूर्वोक्त पक्व-मल वाले सब जीवों के देहादि कुण्डलिनी से बने होते हैं। वे जीव उस समय जीव नहीं कहलाते हैं, वे लोग जीव होकर भी ईश्वरीय शक्ति से संपन्न होते हैं।

परमेश्वर की कृपादृष्टि-रूप चैतन्यशक्ति के संचार की बात पहले कही जा चुकी है। वह वस्तुतः चित्-शक्ति का ही क्रियाशक्ति के रूप में उन्मेष है। चित्शक्ति की सक्रिय और निष्क्रिय दो अवस्थाएँ हैं। वस्तुतः दो अवस्थाएँ न होने पर भी कार्यगत भेद के कारण कृत्रिम-रूप से दो अवस्थाएँ मानी गई हैं। निष्क्रिय अवस्था में क्रिया के अभाव से शक्ति का संचार नहीं होता, अतएव यह शक्तिसंचार वास्तव में चित्-शक्तिमयी क्रियाशक्ति का व्यापार ही है। इसी का दूसरा नाम दीक्षा है। स्वयं परमेश्वर ही क्रियाशक्ति के प्रवर्तक के रूप में चैतन्यदाता गुरु हैं। पूर्ववर्णित परिपक्वमल वाले जीव सृष्टि के आरम्भ में उक्त दीक्षा पाकर महामाया से उत्पन्न विशुद्ध-शरीर प्राप्त करने पर परमेश्वर के आदिम शिष्य के रूप से शुद्ध-जगत् या महामायिक-जगत् में स्थित होते हैं। हम लोगों का जिस मायिक जगत् से परिचय है, उसकी सृष्टि, स्थिति आदि सब व्यापारों का चरम भार उन्हीं के ऊपर सौंपा गया है। वे जीव होकर भी ईश्वरतुल्य हैं, किन्तु नित्य-सिद्ध परमेश्वर से न्यून हैं; क्योंकि उनमें शुद्ध वासना है, परमेश्वर में वासना नहीं है। समष्टिरूप से सम्पूर्ण जगत् के कल्याण की कामना ही शुद्धवासना का

स्वरूप है। ऊपरी दृष्टि से किसी के मन में ऐसा विचार आ सकता है कि विशुद्ध वासना के अतीत हो सकने पर ही विशुद्ध भगवद्भाव प्राप्त हो जाता है, किन्तु वास्तव में वैसी बात नहीं। वह विशुद्ध कैवल्यावस्था है, भगवदवस्था नहीं है।

सृष्टि के पहले परमेश्वर की चैतन्यमयी शक्ति पाकर जो जीव विशुद्ध-देह प्राप्त करते हैं, वे सभी एक से नहीं होते। उनमें भी अवान्तर भेद रहता है। एक प्रकार से सभीको एक स्तर के अवश्य कह सकते हैं, क्योंकि सभी में चित्शक्ति का उन्मेष हुआ है। सभी विशुद्ध-विद्या पाकर शुद्ध-राज्य के निवासी हुए हैं एवं न्यूनाधिक मात्रा होने पर भी, सभी में क्रियाशक्ति जाग्रत है। किन्तु क्रियाशक्ति के विकास में कमी-वेशी होने के कारण उनमें तारतम्य दीखता है। वास्तव में शुद्ध-जगत् के चेतनवर्ग में जो विषमता दिखाई देती है, उसका कारण क्रिया-शक्ति की अभिव्यक्ति की कमी-वेशी ही है। यह कमी-वेशी क्यों होती है, इसका पता लगाने पर ज्ञात हो सकता है कि सब अणुओं का मल समानरूप से परिपक्व नहीं होता, इसीलिए भगवत्-शक्ति अर्थात् परमेश्वर की क्रियाशक्ति को सब समानरूप से ग्रहण नहीं कर सकते हैं। मल के जिस परिमाण में परिपक्व हुए बिना चित्-शक्ति का स्पर्श सहन नहीं किया जा सकता, वह शुद्ध-राज्य के निवासी सभी के आयत्त या ज्ञात है, यह सत्य है; किन्तु इस परिपक्वता का तारतम्य है। तदनुसार जिसमें परिपक्वता अधिक होती है, उसमें क्रियाशक्ति का आवेश अधिक मात्रा में होता है। मल के परिपक्व हुए बिना क्रियाशक्ति धारण नहीं की जा सकती। इसलिए जिस अवस्था में मल पक्व नहीं होता, उसमें क्रिया-शक्ति का संचार बिलकुल नहीं होता। इसीलिए मलपाक हुए बिना श्रीगुरु कदापि जीव पर अनुग्रह नहीं करते हैं।

पक्वमल वाले अणुओं में जिनका मल सबकी अपेक्षा अधिक परिपक्व होता है, क्रियाशक्ति का आवेश होने पर उनमें कर्तृत्व का उदय होता है। यह शुद्ध-कर्तृत्व है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इसमें अहंकार का सम्बन्ध नहीं रहता। इनके नीचे बहुत से परिपक्व मल वाले अणु पूर्वोक्त रीति से भगवत्-शक्ति को प्राप्त होते हैं और वे चैतन्यशक्ति प्राप्त करते हैं। उनमें क्रियाशक्ति की अभिव्यक्ति कर्तृत्व-प्राप्त-अणुओं की अपेक्षा कम होती है, इसलिए उनमें कर्तृत्व का उन्मेष न होकर करणभाव का उन्मेष होता है। जिन कई जनों में कर्तृत्व का उन्मेष होता है, वे एक प्रकार से सजातीय हैं तथापि उनमें भी एक तरह का न्यूनाधिक भाव रहता है। वैसे ही करण-शक्तिमय समष्टि में भी परस्पर में उस प्रकार का न्यूनाधिक्य रहता है। जो कर्तृभाव को प्राप्त होते हैं, वे ईश्वर-तत्त्व का आश्रय लेकर रहते हैं एवं जो करणभाव को प्राप्त होते हैं उनका अवलम्बन शुद्ध विद्यातत्त्व है। यह विद्या मायातीत ज्ञानरूप है। जो कोई ईश्वरतत्त्व में स्थिति-लाभ करते हैं, वे ईश्वर अथवा गुरु हैं; जो विद्यातत्त्व का अवलम्बन लेकर रहते हैं, वे मन्त्र अथवा देवता हैं। ये सब मन्त्र ईश्वर या गुरु के अधीन हैं। ये गुरु के द्वारा प्रयुक्त होकर मायिक जीव का उद्धार करते हैं। ये स्वतः प्रेरित होकर पूर्वोक्त जीवोद्धार-कार्य में प्रयत्नशील नहीं हो सकते, क्योंकि ये करण हैं, कर्त्ता नहीं हैं।

गुरु और देवता दोनों ही शुद्ध-देहधारी हैं। परमेश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति से

दोनों में अपना स्वरूप-ज्ञान जाग उठा है 'मैं शिव हूँ'। ऐसे ज्ञान का उदय दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से हुआ है, पर गुरु कर्तृ-भाव लेकर और देवता करण-भाव लेकर कार्य करते हैं। इसके अलावा अन्य दृष्टि से भी दोनों में कुछ अन्तर है। यद्यपि परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति दोनों में ही पड़ी है, तथापि व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से तारतम्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जो आत्मा तत्त्वभेद के क्रम से ऊर्ध्वगति होने के कारण माया का अतिक्रम करने में समर्थ हुए हैं, वे मलपाक के कारण भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर देवता के पद पर आरूढ़ होते हैं। इनका नाम मन्त्र है। आत्मिक विकास इतना हुए बिना वास्तविक देवत्व प्राप्त नहीं होता है। माया के अन्तर्गत देवता की बात हम नहीं कर रहे हैं। मायातीत देवता का एकमात्र शुद्ध ही शरीर रहता है, अशुद्ध शरीर नहीं रहता। किन्तु गुरु-अवस्था दूसरे ढंग की है। मल यदि अत्यन्त परिपक्व होता है, तो चैतन्यशक्ति का अवतरण उसमें अवश्य होता है, इस प्रकार मलपाक की तीव्रतावश कर्तृभाव का आवेश स्वाभाविक है। ये सब अणु दीक्षा प्राप्त कर आचार्य का अधिकार प्राप्त करते है। तत्त्वभेद के क्रम से आत्मिक विकास इनका चाहे जितना भी हो, उतना ही पर्याप्त है। जो जिस तत्त्व में स्थित है, गुरुपद पर आरूढ़ होने पर भी उसका मायिक शरीर उसी तत्त्व का रहता है। किन्तु भगवान् के अनुग्रह से जो विशुद्ध-देह या बिन्दु-देह की प्राप्ति होती है, वह गुरुपद का वाच्य है, और वह सभी आत्माओं की एक ही प्रकार की है। माया-तत्त्व का भेद न करने तक प्रत्येक गुरु के दो शरीर रहते हैं। उनमें एक गुरुदत्त शुद्ध-शरीर है, जो महामाया या कुण्डलिनी के उपादान से बना है और दूसरा अपना मायिक-शरीर है। यह दूसरा शरीर जीव के क्रमविकास की मात्रा के अनुसार किसी न किसी मायिक-तत्त्व के आश्रय में रहता है, अर्थात् किसी का मायिक स्थूल-शरीर पार्थिव रहता है, किसी का जलीय, किसी का तैजस इत्यादि। देह के विकास का मतलब है, देह के उपादानों को निम्नवर्ती तत्त्व से ऊर्ध्व-तत्त्व में परिणत करना। कार्य की गति कारण की ओर और कारण की गति उसके स्व-कारण की ओर होती है। इस प्रकार पार्थिव-शरीर जलीय-शरीर में और जलीय-शरीर तैजस-शरीर में परिणत हो सकता है। यही शरीर का उपादानसम्बन्धी उत्कर्ष है। भगवान् के अनुग्रह की प्राप्ति इस तत्त्वभेदरूपी उत्कर्ष पर निर्भर नहीं है। यह उत्कर्ष प्राकृतिक क्रमविकास से होता है। चैतन्यशक्ति का अवतरण एकमात्र मल की परिपक्वता पर निर्भर है। इसलिए किन्हीं को पृथ्वीतत्त्व का भेद किये बिना भी भगवदनुग्रह प्राप्त हो जाता है। लेकिन किन्हीं को मायातत्त्व का उल्लङ्घन करके भी, वह प्राप्त नहीं होता है। शक्ति का अवतरण तत्त्वभेद पर निर्भर नहीं करता। किन्तु यह निश्चित है कि अणु के मायातत्त्व का भेद करने पर भी, जब तक मलपाक करणभाव की अभिव्यक्ति का उपयोगी नहीं होता है, तब तक उसमें भगवान् की अनुग्रहशक्ति का संचार नहीं होता। उन सब अणुओं को कल्पान्तर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। क्योंकि देव-देह की रचना सृष्टि के समय नहीं होती, किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में होती है। यदि मायाभेद न हुआ हो तो कोई प्रश्न ही नहीं होता। क्योंकि जब तक माया-भेद न हो तब तक किसी आत्मा में मलपाक वश भगवान् की शक्ति का लाभ होने पर भी

देवत्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। मायाभेद के बाद जो आत्मा मलपाक-वश भगवदनुग्रह प्राप्ति की योग्यता प्राप्त करते हैं, उन पर कल्पान्तर में शक्ति का अवतरण होता है। उस कल्प में वे सब आत्मा महामाया में लीन रहते हैं।

इसलिए यह निश्चित है कि किसी विशेष कल्प का आत्मा समुचित मलपाक होने पर भी उसी कल्प में देवत्व-लाभ नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि मायाभेद हो जाने पर भी वह नहीं हो सकता। उसको महामाया में, कल्पान्तर का आरम्भ होने तक, विश्राम करना ही पड़ता है। किन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि गुरु के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है। गुरु में शक्ति का अवतरण ही प्रधान है; अर्थात् जितना मलपाक होने पर कर्तृत्व का आवेश दीक्षाकाल में होना सम्भव है, वह होगा ही। मायाभेद यदि न किया हो तो भी कोई क्षति नहीं है, यहाँ तक कि किसी निम्नवर्ती तत्त्व में स्थिति हो तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि गुरुत्व की अभिव्यक्ति में जीव की अपने से की गई ऊर्ध्वगति की मात्रा का निर्देश आवश्यक नहीं है। ठीक-ठीक मल पाक होने पर अपने विकास के फलस्वरूप जो जहाँ है, वहीं भगवदनुग्रह प्राप्त कर शुद्ध शरीर या आचार्य का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पर यदि उनका मायातत्त्व-भेद (अर्थात् महामायास्थिति) हुआ रहता है तो उनको नूतन सृष्टि का आरम्भ होने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

सभी जगह यह सत्य है कि देवता गुरु के अधीन हैं। देवता स्वभावतः महामाया के राज्य के निवासी हैं। किन्तु गुरु महामाया-राज्य के निवासी होते हुए भी, साथ ही साथ माया-राज्य के निवासी भी हो सकते हैं। अवश्य ही यहाँ पर सृष्टिकाल के गुरु की चर्चा की जा रही है, जिनके माया-शरीर और शुद्ध-शरीर दोनों ही हैं। सृष्टि के अतीत गुरुओं की बात यहाँ नहीं कही जा रही है। वे माया-देहरहित और विशुद्ध बैन्दव-देहसम्पन्न हैं।

पूर्वोक्त विवरण से तत्त्वभेद करके जो ऊर्ध्वगति होती है, उसके सम्बन्ध में चर्चा की गयी है। इसका यदि थोड़ा स्पष्ट करके विवेचन न किया जाय तो यह किसी की भी समझ में नहीं आवेगा। इसलिए संक्षेप में दो-एक बातें कहता हूँ। सृष्टि से पहले सृष्टि की मूल उपादानभूत एक वस्तु रहती है। स्थूल-दृष्टि से उसकी जडरूप में गणना की जा सकती है। उसका एक छोर (भीतरी भाग) शुद्ध और दूसरा छोर (बाहरी भाग) अशुद्ध है। जब तक सृष्टि का उदय नहीं होता तब तक यह भीतर और बाहर का विभाग समझा नहीं जा सकता है, और तो और यह अचित्स्वरूप जो मूल-उपादान है, वह भी ज्ञात नहीं हो सकता। किन्तु जब सृष्टि से पहले परमेश्वर की दृष्टि शुद्ध अंश के ऊपर पड़ती है, तब वह ज्योति के रूप में उज्ज्वल हो प्रकाशमान होता है। शुद्ध के बाहर अशुद्ध अंशरूप छाया या अन्धकार उस ज्योतिःस्वरूप को घेरे रहता है। यह शुद्धांश या ज्योति महामाया है और बाहर की छाया माया है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इन दोनों के बीच में एक ही अचित् सत्ता रहती है। वह क्षुब्ध होकर विभिन्न स्तरों में तत्त्व-रूप से प्रकट होती है किन्तु ये सब तत्त्व अचित् के मूल विभाग नहीं हैं। अचित् के मूल-विभाग—पाँच कलाएँ हैं। इनमें शुद्धांश में दो और अशुद्ध अंश में तीन कलाएँ स्थित हैं। प्रत्येक कला अवान्तर-

विभागों के रूप से तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होती है। तदनुसार ज्योतिर्मय राज्य में पाँच तत्त्व हैं एवं माया अथवा छाया के राज्य में एकतीस तत्त्व अभिव्यक्त हैं। पाँच कला ही एक के बाद एक अधिकतर बहिर्मुख हैं। वैसे ही उनसे अभिव्यक्त हुए तत्त्व भी इन्हीं के तुल्य एक के बाद एक अधिक बहिर्मुख हैं। जहाँ बहिर्मुखता की पराकाष्ठा है, उसका नाम पृथिवी है। वैसे ही अन्तर्मुखता की चरम सीमा जहाँ है, उसका नाम शिव या महामाया है। वस्तुतः यह कुण्डलिनी-स्वरूप है। ये शिव शिव के नाम से परिचित होने पर भी वास्तविक रूप से विशुद्ध जड वस्तु हैं। उसी का नाम आदि तत्त्व या बिन्दु है। तत्त्वातीत शिव या परमेश्वर इससे अतिरिक्त हैं।

ये तत्त्व विभिन्न स्तरों में सिलसिलेवार व्यवस्थापित हैं, विश्व में सभी जगह तत्त्वों का यह क्रम-विन्यास दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक तत्त्व से कतिपय भुवनों का आविर्भाव होता है। तत्त्वों के समान ये भुवन गुण, क्रिया, शक्ति आदि के विकास के तारतम्य के अनुसार नीचे-ऊपर परस्पर श्रृंखलाबद्ध रहते हैं। सब से ऊपर की भूमि से सब से निम्नतम भूमि तक सब भुवनों की समष्टि को जीव 'विश्व' के नाम से जानते हैं। जीव अपने अपने अधिकार और योग्यता के अनुसार प्रत्येक स्तर में विद्यमान हैं। जीव सृष्टिकाल में अर्थात् विश्व में स्थिति के समय देहयुक्त होकर ही विद्यमान रहते हैं। किन्तु प्रलयावस्था में जीव का शरीर नहीं रहता। उस समय जीव माया में साक्षात् अथवा परम्परा से लीन होकर सुषुप्त के तुल्य रहते हैं। अथवा यदि किसी कौशल से माया-भेद हो गया हो तो ऐसी स्थिति में महामाया में सुषुप्त के तुल्य लीन रहते हैं। माया में जो तीस तत्त्व हैं, उनमें प्रत्येक का या माया का आश्रय कर के जीव हैं या रह भी सकते हैं। उन सब तत्त्वों में जन्य-जनक-भाव अथवा निम्न-उच्च का विभाग है, यह पहले ही कह चुके हैं। उसके अनुसार तत्त्व में रहने वाले जीव भी विभिन्न श्रेणियों के होते हैं किन्तु यह श्रेणी-विभाग तत्त्वों के आपेक्षिक उत्कर्ष के कारण है। उससे जीव के अपने उत्कर्ष का परिचय नहीं मिलता है। प्रलय जड की क्रिया की अपेक्षा रखता है, वह जीव की साधना के अधीन नहीं हैं। जब उपादान में बहिर्मुख प्रेरणा होती है, तब सृष्टि की ओर प्रवृत्ति होती है, और जब उपादान में संकोच-भाव उत्पन्न होता है तब उस प्रवृत्ति की निवृत्ति होकर केन्द्र की ओर आकर्षण बढ़ जाता है एवं चरम-अवस्था में मूल-उपादान के रूप में केन्द्र में स्थिति होती है।

अभिव्यक्ति के नियम के अनुसार जो जीव इस मूल उपादान का अतिक्रमण कर शुद्ध-विद्या के नीचे स्थित होते हैं, उनमें मलपाक के न्यूनाधिक्य से कोई-कोई नवीन सृष्टि में देवरूप में आविर्भूत होते हैं। इनका शरीर बैन्दव होता है। अवतरण की ओर से भी एक प्रकार के देव-भाव का आविर्भाव होता है। वे स्वभावतः ही मायातीत हैं, इसीलिए वे शुद्ध होने पर भी क्रम-विकास के नियम के अधीन नहीं हैं। ये लोग एक प्रकार से अव्यक्त भावापन्न हैं। दोनों ही मायातीत-भूमि की बातें हैं।

ठीक उसी प्रकार अशुद्ध अथवा मायिक देवता भी हैं। उनका रहस्य यदि समझ में आ जाय तो शास्त्र में प्रतिपादित आजान-देवता, कर्म-देवता आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के देवताओं का तत्त्व समझ में आ जायगा।

जप-साधना

शास्त्र में कहा गया है—शब्द-ब्रह्म में निष्णात होने पर परब्रह्म की उपलब्धि होती है। शब्दातीत परमपद का साक्षात्कार करने के लिए शब्द का आश्रय लेकर ही शब्द-राज्य का भेद करना होता है। समग्र विश्व शब्द से उद्‌भूत एवं शब्द ही में विधृत है। "शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी" "वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्" इत्यादि शास्त्र वचनोंसे जाना जाता है कि शब्द ही जगत्-सृष्टि का मूल है, और सृष्टि के बाहर जानेके लिये भी शब्द ही एकमात्र आलम्बन है। इसीलिए जप-साधना में शब्द को पकड़ कर शब्दातीत परब्रह्म पदमें जानेका उपदेश है।

वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा भेद से चार प्रकार का विवरण शास्त्र में पाया जाता है। वैखरी वाक् शब्द का निम्नतम स्तर है, इसको पकड़कर क्रमशः परावाक् पर्यन्त उठने का एवं बाद में उसको भी अतिक्रम करने का प्रयोजन है। वैखरी इन्द्रिय-गोचर समग्र स्थूल-विश्व में और स्थूल देहों में अनन्त प्रकार से तत्तत् स्थानानुसार कार्य कर रही है "वैखरी विश्वविग्रहा"। इसको अतिक्रम न करने तक मनुष्य स्थायी-भाव से बहिर्मुख-वृत्ति का परिहार कर अन्तर्वृत्ति का आश्रय-लाभ नहीं कर सकता।

आत्मा के स्वरूपतः पूर्णप्रकाशात्मक परमेश्वररूप स्वतन्त्र और भोक्ता होने पर भी स्वेच्छापूर्वक वह जीवभाव ग्रहण करता है, इससे उसका स्वातन्त्र्य और भोक्तृभाव लुप्त-प्राय हो जाता है। आत्मा में अखिल शक्ति के अभेद के रूप में समन्वय है, इसीलिए आत्मा का पूर्ण अहं भाव स्वभाव-सिद्ध है। 'अ' से 'ह' पर्यन्त सभी वर्ण और कलाएँ परस्पर तथा आत्मा के सहित, अभिन्न-रूप से या अखण्ड-भावसे स्फुरित होना ही आत्मा की पूर्णाहन्ता है। चैतन्य, विमर्श, स्वातंत्र्य अथवा ऐश्वर्य इसी का नामान्तर है। इन सब अकारादि वर्णों का वाच्य अनुत्तरादि-विमर्श आत्मा के अपने विमर्श का ही 'स्वरूप' भूत है। अखण्ड-स्थिति में ये सब एक और अभिन्न-रूप में प्रकाशित होते हैं। किन्तु आत्मा के स्वेच्छापूर्वक सृष्टि की ओर उन्मुख होने पर उसके स्वरूपाश्रित निजामर्श के लेशरूप में अनुत्तरादि वाचक पूर्वोक्त अकारादि वर्ण उद्भावित होते हैं। अद्वैत-स्थिति में जो सभी कलाएँ अभिन्न-भाव से आन्तर शब्द अथवा स्वभाव रूपमें विद्यमान रहती हैं, वे सब तत् स्वरूप में अक्षुण्ण रहने पर भी, सृष्टि की उन्मेष-दशा में मानो अंशतः विभक्त रूप में क्रमशः ब्राह्मी-प्रभृति अष्ट-वर्गशक्तियों तथा अ आ इत्यादि पचास रुद्र शक्तियों के रूप में अवतीर्ण होती हैं। तत्पश्चात् इन सब शक्तियों से पद-वाक्यादि के समूह रूप में असंख्य क्षुद्र शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। अकारादि आत्मा के निज विमर्शरूप तथा

स्वाभिन्न होने पर भी, अज्ञानावस्था में निजात्मा से भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। इस दशा में वे कला या अंश नाम से ख्यात होते हैं। यही मातृकाशक्ति है। इनके द्वारा आत्मा का स्वीय ऐश्वर्य या विभव (आचार्य शंकर ने दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र में 'महा-विभूति' कहकर जिसका उल्लेख किया है) विलुप्तप्राय हो जाता है। कला आत्म-स्वरूपसे से उद्‌भूत होकर आत्मा के ऐक्यभाव को ढक कर रख देती है तथा शिव रूपी आत्मा जीव अथवा पशु रूप में आविर्भूत होती है। यही उसका स्वरूप-संकोच या अणुभाव की प्राप्ति है। यह अणु रूपी प्रमाता तब पूर्व वर्णित अष्टवर्गीय ब्राह्मी आदि शक्तियों, अकारादि रुद्रशक्तियों और उनसे उत्पन्न पदवाक्यादिमय असंख्य क्षुद्र शक्तियों के खेल की वस्तु बन जाता है। मातृकाएँ अणुजीवों के प्रत्येक संवेदन में अन्तः-परामर्शन द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शब्दानुवेध करती हैं और वर्ग-वर्गी आदि देवताओंके अधिष्ठान के द्वारा चित्त में काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि भाव अथवा वृत्ति-समूह को उद्भावित करती हैं। इस प्रकार आत्मा का असंकुचित स्वातंत्र्य-मय चिद्धन-रूप आच्छन्न हो जाता है तथा देहात्मभाव, पारतंत्र्य और पाशबन्धन का सूत्रपात होता है।

मातृका का यह लय-विक्षेप-कारक प्रभाव वैखरी-वाक् में अत्यन्त प्रस्फुट होता है। चिद्-उन्मेष के अभाववश साधारण मनुष्य वैखरी भूमि में आबद्ध रहता है, उसका लंघन कर मध्यमा में प्रवेश नहीं कर पाता। वैखरी-वाक् का कार्यक्षेत्र स्थूल होने पर भी उसका प्रभाव अशुद्ध मनोमय स्तर, सूक्ष्मभूत तथा लिंग-शरीर में भी लक्षित होता है। काल के आवर्त्तन में पर्यायक्रम से स्थूल और सूक्ष्म भावों का उदयास्त होता है। एक बार स्थूल से सूक्ष्म की ओर गति होती है, फिर सूक्ष्म से स्थूल में प्रत्यागमन होता है, तदनन्तर स्थूल से पुनर्वार सूक्ष्म की ओर धारा प्रवाहित होती रहती है। इस भाव से निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म का आवर्त्तन चलता रहता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का आवर्त्तन इस महा आवर्त्तन का ही अंगमात्र है। गति का यह आवर्त्तन-भाव वैखरी-भूमि का वैशिष्ट्य है। मलिन वासनावश गति की वक्रता सम्पन्न होती है, इसलिए निम्नभूमि में आवर्त्तन स्वाभाविक है। इससे अव्याहति-लाभ करने का एकमात्र उपाय गुप्तमार्ग के अवलम्बन द्वारा सरल-गति की सहायता से ऊर्द्ध्व दिशा की ओर आरोहण करना है। मध्यमा-क्षेत्र से इसका आरम्भ होता है।

मध्यमा-भूमि को मन्त्रमयी भूमि कहा जाता है, क्योंकि मन्त्ररूप में ही मध्यमा वाक् आत्मप्रकाश करता है। मन का शोधन और उसके फलस्वरूप विज्ञान के द्वार के उन्मोचन का सामर्थ्य-लाभ क्रमशः इसी स्थान से होता है। मनुष्य-कण्ठ से वैखरी वाक् उत्थित होता है, उसके मूल में मानसिक चिन्तन (चेतन व अवचेतन दोनों क्षत्रों में) तथा मनोगत भाव अथवा अर्थ संसृष्ट रहता है। योगिगण जिस शब्द, अर्थ और ज्ञान के सांकर्य की बात कहते हैं, उसे इस वैखरी भूमि के शब्द को लक्ष्य में रखकर ही समझना होगा। स्मृति-परिशुद्धि द्वारा सांकर्य-परिहार वैखरी भूमि से मध्यमा भूमि में प्रवेश का आनुषंगिकरूप है। वाक् के साथ प्राण-शक्ति तथा मनःशक्ति अविनाभूत-भाव से विद्यमान रहती है एवं प्राणसूत्र से पृथिव्यादि पंच महाभूतों का

भी सम्बन्ध है। इनके अलावा चित् का सम्बन्ध तो है ही। किन्तु वैखरी में यह चिदंश आच्छन्न-प्राय रहता है। इसका आभास साधारणतः नहीं पाया जाता, इसलिए इसका उसमें होना भी न होने के समान है। इस कारण इस भूमि में मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय—इन तीन निम्नवर्त्ती कोशों की ओर आकर्षण रहता है। मन और प्राण की क्रिया से समन्वित स्थूल देह के प्रति आकर्षण इसी का नामान्तर है। इस भूमि में देहात्मबोध भी इसी कारण से प्रबल रहता है। विषयों के प्रति आसक्ति की तीव्रता के कारण विवेक-वैराग्य आदि सुकुमार भाव अभिभूत रहते हैं। मध्यमा के क्षेत्र में नादमय चिद्-रश्मि नित्य विराजमान रहती है। यह सब रश्मियाँ स्वरूपतः वैखरी-भूमि में दृष्टिगोचर नहीं होती। वैखरी से इनके अवतीर्ण होने पर नाना प्रकार के वर्ण भी इन्द्रियगोचर उज्ज्वल आलोक रूप में प्रतिभासमान होते हैं। उनके साथ चिदनुसन्धान नहीं रहता। इसलिए सूक्ष्मतम चैतन्य का मिश्र-अनुभव वैखरी से उत्तीर्ण होकर मध्यमा में प्रवेश न होने तक, नहीं पाया जाता।

जिस उपाय से भी हो वैखरी से मध्यमा-भूमि में उत्थान ऐकान्तिक रूप से आवश्यक है। इस उत्थान के व्यापार में एक ओर गुरुशक्ति तथा दूसरी ओर स्वकीय प्रयत्न अपरिहार्य हैं। इस क्रमिक विकास के कार्य में जप-साधन अत्यन्त सहायक है। ईश्वर-प्रणिधान अथवा भजन, निष्काम कर्म-योग और भौतिक देह तथा चित्त का संस्कारमूलक आत्मशोधन, इस उत्थान कार्य में यथासम्भव सहायता करते हैं। साधक की दृष्टि इसी भूमि में प्रत्यावर्त्तित होकर अन्तर्मुखी होना आरम्भ करती है। वैखरी-भूमि में लक्ष्य बाहर की ओर अथवा नीचे की ओर—अर्थात् मूलाधार की ओर रहता है, किन्तु मध्यमा-भूमि में यह लक्ष्य परिवर्त्तित हो जाता है—तब लक्ष्य बाहर अथवा नीचे की ओर न जाकर अन्तर अथवा ऊपर की दिशा में आकृष्ट होता है। मूलाधार के विपरीत सहस्रार या गुरुधाम की दिशा में अथवा नित्य सत्ता की ओर लक्ष्य स्थापित होता है। विषयासक्ति-वर्जित चित्त तब शुद्ध हो जाता है। भावना आदि अन्यान्य उपायों से भी मध्यमा-भूमि में उत्थान हो सकता है, किन्तु जप-साधना का सौकर्य अन्यान्य साधनाओं से अधिक है। मध्यमा शब्द का अर्थ दो प्रान्तों के मध्यवर्ती से है—एक प्रान्त में दिव्य पश्यन्ती-वाक् तथा अपर प्रान्त में पाशव वैखरी-वाक्, इन दोनों के बीच संयोजक सेतु-स्वरूप मध्यमा-वाक् क्रियाशील है। इसीलिए पशुभाव से दिव्य-भाव में आने के लिए इस मध्यपथ-रूपी सेतु का अवलम्बन लेना आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि वैखरी-वाक् अथवा लौकिक शब्द में चैतन्य की रश्मि प्रच्छन्न रहती है, किन्तु मध्यमा-वाक् में वह प्रच्छन्न नहीं, प्रस्फुट रहती है। ये सब रश्मियाँ नाद रूपी सूत्र का अवलम्बन लेकर अनन्त आकाश में व्याप्त होकर रहती हैं। ये सब मूलतः बीजात्मक हैं और बीज विन्दु-रूपी केन्द्र में नित्य अवस्थित है। वैखरी-वाक् जिस प्रकार व्यक्त है, मध्यमा को उस प्रकार व्यक्त नहीं कहा जा सकता। किन्तु व्यक्तता मध्यमा में है, साथ-साथ अव्यक्तता भी है। इसलिए मध्यवर्ती होने से मध्यमा को व्यक्त तथा अव्यक्त उभयात्मक कहा गया है।

मंत्र चिद्-रश्मिमय है। वैखरी-भूमि में चिद्भाव गुप्त होने से तथा वाक् के असंस्कृत होने के कारण वैखरी वर्णों की मंत्रमयता स्वीकार नहीं की जाती। किन्तु स्वरूपतः उनमें मंत्रात्मता न रहने पर भी मंत्रमय चिद्रश्मि का वाचक होने के कारण वैखरी वर्णों से उद्भूत यावत् स्थूल विद्या को भी मंत्र आख्या दी जाती है। मीमांसकगण का मंत्रात्मक देवतावाद इस प्रसंग में स्मरणीय है। "मंत्राश्चिन्मरीचयः। तद्वाचकत्वाद् वैखरीवर्णविलासभूतानां विद्यानां मननात् त्राणता।"

मध्यमा के उस पार पश्यन्ती अथवा दिव्य-वाक् है। यह एक प्रकार से अव्यक्त है। इस वाक् से निखिल देवतानिचय प्रकाशित होते हैं। ये सब देवता सर्वज्ञ एवं समग्र विश्व के कार्य में अपने-अपने अधिकार के अनुसार व्याप्त हैं। केवल देवता का प्रकाश ही पश्यन्ती-वाक् का कार्य नहीं—विष्णु का परमपद भी पश्यन्ती भूमि से ही दृष्टिगोचर होता है। ऋषिगण जिस परमपद का निरन्तर दर्शन करते हैं, वह इस भूमि से ही जानना चाहिए। वस्तुतः पश्यन्ती-वाक् में ही कारणस्थ चैतन्य की स्फूर्ति होती है—यही देवता का स्वरूप है। प्राचीनकाल में मंत्र साक्षात्कार के फलस्वरूप जो ऋषित्व लाभ होता था, वह इस पश्यन्ती-भूमि के लाभ का ही फल है। यही आत्मा की "अमृत-कला" है—"विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्"। पश्यन्ती का स्वरूप-दर्शन होने पर अधिकार-निवृत्ति होती है—"तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्त्तते"। एक हिसाब से देखा जाय तो पश्यन्ती के परे वाक् की और कोई उच्चतर अवस्था कल्पनीय नहीं। इसीलिए प्राचीन आचार्यगणों में अनेकों ने वाक् को त्रिविध कहकर भी वर्णित किया है। तथापि पश्यन्ती की भी एक परावस्था है, यह स्वीकार करना होगा। इसीलिए कोई-कोई नामतः परावाक् स्वीकार न करते हुए भी कार्यतः "त्रय्या वाचः परम् पदम्" कहकर प्रकारान्तर से उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हुए हैं।

यह परावाक् चिन्मय और परम अव्यक्त है। इस भूमि में व्यष्टि-देवता का प्रकाश नहीं, समष्टि-देवता या ईश्वर-चैतन्य में समस्त वाक् परिसमाप्त हो जाता है। यह वाक्, सृष्टि के ऊर्ध्वतम शिखर से निम्नतम भूमि पर्यन्त सम-रूप में व्याप्त है। यह ऊर्ध्व सहस्रार की सर्वोच्च अग्र-भूमि से उत्थित होकर मूलाधार-पर्यन्त व्याप्त है। जिस प्रकार पूर्वोक्त बात कह सकते हैं, उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि यह मूलाधार के निम्नस्थित महाकारण समुद्र में प्रकाशमान अधः सहस्रार से उत्थित होकर ऊर्ध्व सहस्रार के द्वादश दल में वाग्भवकूट-पर्यन्त व्याप्त है, किसी-किसी ने इस रूप में भी इसे कहा है। वास्तविक पक्ष में ऊर्ध्व-सहस्रार के ही भिन्न-भिन्न स्तरों में इन तीनों वाक् का उद्भव है—उनमें एक का (मध्यमा का) विस्तार नीचे की ओर हृदय पर्यन्त, दूसरी का (पश्यन्ती का) नाभि अथवा उसके किंचित् निम्नदेश पर्यन्त और तीसरी का (परा का) विस्तार मूलाधार पर्यन्त है। अधः-ऊर्ध्व सर्वदेशव्यापी सत् रूप चैतन्य ही परा वाक् का तात्पर्य है। इसी का नाम नित्य अक्षर है।

इस अवस्था के परे शब्द की गति नहीं। मध्यमा वाक् से इस अक्षर-ब्रह्म पर्यन्त योगी की गति शब्दब्रह्म के अन्तर्गत है। अक्षरब्रह्म भेद होते ही परब्रह्म का द्वार खुल

जाता है। परब्रह्म शब्दातीत है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—"शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति।"

जितनी दूर तक शब्द का विकास है, उतनी ही दूर तक आकाश कल्पित है। जो नित्य अक्षर अथवा सत् है, उसी का नाम 'परमाकाश' है, इसका विभिन्न प्रस्थानों में एवं वैदिक मंत्रादि में भी 'परम-व्योम' कहकर निर्देश हुआ है। जो शब्दातीत अवस्था है, वहाँ आकाश नहीं; वहाँ शक्ति और शिव दो तत्त्व अविभाज्य युग्म-रूप में विराज रहे हैं। युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्ध-भाव शिव-शक्ति के इस अविनाभाव की ही सूचना देते हैं। समना और उन्मना शक्ति दोनों ही ब्रह्मशक्ति हैं—समना शक्तितत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की इच्छा के अनुसार सृष्टि विस्तार करती है और उन्मना शिवतत्त्व का आश्रय लेकर परब्रह्म की विमर्शहीन विश्वातीत दिशा में उन्मुख होकर विराजती है। शिव-शक्ति अभिन्न होने के कारण कोई भी किसी एक को छोड़ कर अवस्थान नहीं कर सकता। इसके परे कोई तत्त्व नहीं। यही तत्त्वातीत अद्वैत-स्थिति है।

किन्तु इस अद्वैत के बीच भी दो दिशायें अनुसन्धित होती हैं—एक अखण्ड सच्चिदानन्द की, जो विश्वातीत होने पर भी सूक्ष्मतम ध्यानगम्य होने के कारण आरोप-दृष्टि से कथंचित् वर्णनीय है, और दूसरी सर्वप्रकार निर्विकल्प तथा ध्यान-समाधि के अगोचर है। प्रथम अवस्था में स्वशक्ति परिस्फुट रहती है, द्वितीय अवस्था में वह अस्फुट या अव्यक्त होती है; किन्तु वह नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः यह दो दिशाएँ भी अभिन्न हैं। वहाँ निष्कल और सकल की भेद-कल्पना का अवकाश नहीं रहता। यही परम अद्वैत का रहस्य है। एक ही अखण्ड स्वरूप में विश्व तथा विश्वातीत, "अमात्र" तथा "अनन्तमात्रक" (माण्डूक्य कारिका १।२९), निष्कल तथा सकल, निष्क्रिय तथा अनन्तक्रिय, अक्षर तथा क्षर स्वयंप्रकाश अद्वय-रूप में विराजमान हैं, काल उस जगह कालातीत के साथ एक होकर प्रकाश पा रहा है।

[२]

परमपद में प्रविष्ट होकर स्वभाव-धारा की प्राप्ति के लिये जप अन्यतम श्रेष्ठ उपाय है। जप के नाना प्रकार के भेद हैं, उनमें बाह्य तथा आभ्यन्तर दो प्रधान हैं। शास्त्रों ने जिसे वैखरी-जप कहकर निर्दिष्ट किया है, वही बाह्य-जप है। यह प्रारम्भिक क्रिया है। आन्तर-जप इससे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। बाह्य-पूजा से जिस प्रकार आन्तर-पूजा श्रेष्ठ है, तद्रूप बाह्य-जप से आन्तर-जप श्रेष्ठ है। विधि पूर्वक नाना प्रकार वर्णों का उच्चारण ही बाह्य-जप का लक्षण है—इसे आचार्यगण ने 'विकल्पात्मक संजल्प' कहकर उल्लिखित किया है। जो परम-पथ तथा परमपद के अभिलाषी हैं, उनके लिए क्रमशः बाह्य-जप से विमुख होकर आन्तर-जप में निविष्ट होना आवश्यक है।

आरम्भ पहले अवश्य वैखरी से ही होता है। कर्तृत्वाभिमान लेकर संकल्पपूर्वक कर्म में प्रवृत्त होना होता है। कंठ द्वारा जप ही वैखरी जप का स्थूल लक्षण है,

वाचिक, उपांशु तथा मानसिक—यह तीन प्रकार के जप वैखरी के ही अवान्तर भेद हैं। इन तीन भेदों में जप करने का भाव विद्यमान रहता है। मानस कर्म जिस प्रकार कर्म है, उसी तरह मानस जप भी वस्तुतः वैखरी-जप से भिन्न कोई वस्तु नहीं। मानस-जप करने के मूल में भी कर्त्ता रूप में अहंभाव अक्षुण्ण रहता है, कि मैं जप कर रहा हूँ। यह भाव स्फुट अथवा अस्फुट रूप में विद्यमान रहता है। इसके बाद धीरे धीरे अवस्थान्तर का उदय होता है। तब कण्ठरोध हो जाता है—प्रयत्न द्वारा जप करना और नहीं चल पाता। कर्मनिरत सब नाड़ियाँ कुछ अंश में निष्क्रिय हो जाती हैं, तब जप अपने-आप भीतर ही भीतर चलता है। इसका नाम 'जप होना' है, यह स्वभाव का जप है। इसके तीन भेद हैं—पहले हृदय में जप होता है, द्वितीय अवस्था में नाभि में होता है और अन्त में मूलाधार में होता है। हृदय-जप को ही मध्यमा-मार्ग में प्रवेश जानना चाहिए। उस अवस्था में नाद अपने आप चलता है। जब तक मध्यमा में प्रवेश नहीं होता, तब तक केवल बाह्य-जप में नाद-श्रवण नहीं होता। बाह्य-जप में मंत्राक्षरों का पृथक्-पृथक् उच्चारण होता है, इस कारण वह विकल्पमय है और प्रकृत मन्त्र नहीं। मध्यमा-भूमि में जब नाद के सहित मन्त्र स्वभावतः ध्वनित हो उठता है तभी उसे 'आन्तर जप' समझना चाहिए। अपने-अपने विषयों से सारी इन्द्रियों के संचार को निरुद्ध करके आभ्यन्तर नाद का उच्चारण करना होता है—

> संयम्येन्द्रियग्रामं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम्।
> एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः॥

परम-भाव की ओर जो पुनः पुनः भावना है, वही आन्तर जप—नाद की प्रकटावस्था है।

हृदय कमल के मध्य जो आकाश देखा जाता है, उपनिषद् में जिसका 'हृदयाकाश' कहकर वर्णन किया गया है, उसमें अर्थात् उसी अनाहत—प्रदेश में सर्वदा ही भगवती का आनन्दमय स्वरूप नाद-रूप में परिणत होकर चारों ओर संसर्पित होता रहता है। हमारा मन साधारणतः बहिर्मुख रहता है, इस कारण इस नाद का सन्धान नहीं पाया जाता। किन्तु जब गुरु-कृपा से मन अन्तर्मुख होता है, तब परि-स्फुट भाव में इसके परिचय की उपलब्धि की जाती है, इसके प्रभाव से नेत्रों में अश्रु का उद्गम होता है, समस्त शरीर में पुलक तथा रोमाञ्च का संचार होता है और अन्यान्य सात्त्विक भावों का आविर्भाव होता है।

शुद्ध विद्याभूमि में स्थित विद्येश्वररूपी श्रीगुरु के मुख से निःसृत वाणी मध्यमा वाक्-रूप में आत्मप्रकाश करती है। सहस्रदल कमल के दलों से हृदय पर्यन्त इस वाणी का विस्तार अनुभूत होता है। इस वाणी के प्रभाव से माया का आवरण क्रमशः क्षीण हो जाता है और साधक का निजस्वरूप सद्विद्यायुक्त होकर पुरुष और प्रकृति को एक अभिन्न-ज्ञान के अन्तर्गत उपलब्ध करता है। नव नादों में इसे प्रथम नाद जानना चाहिए।

इस विषय का और भी परिष्कार करके आलोचना की चेष्टा की जा रही है। महर्षि पतंजलि के निर्देशानुसार मंत्रजप के साथ मंत्रार्थ-भावना की आवश्यकता है,—भावना और जप परस्पर अच्छेद्य सम्बन्ध में जडित हैं, आगम के रहस्यविदों ने कहा है कि जप के साथ मंत्र के अवयवसमूह में छः शून्य, पाँच अवस्थाएँ और सात विषुवों की भावनाएँ करनी होती हैं। छः शून्यों में पाँच का वर्ण-वैचित्र्यमय अपना-अपना पृथक् मण्डलाकार रूप है। किन्तु छठा अनुत्तर अथवा महाशून्य है। प्रथम पाँच शून्यों को ठीक निराकार नहीं कह सकते, कारण जब तक मन का स्पन्दन रहता है तब किसी न किसी प्रकार अति सूक्ष्म आकार का संभव रह ही जाता है। किन्तु छठा शून्य मन के अतीत होने के कारण वास्तविक रूप में निराकार एवं महाशून्य है। प्रणव अथवा बीज मंत्र के प्रथम तीन अवयव जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति के द्योतक हैं, उसके बाद जो सारे सूक्ष्मतर अवयव हैं, वे सब वस्तुतः तुरीय तथा तुरीयातीत अवस्था के ही अन्तर्गत हैं। इन सब अवयवों के नाम इस प्रकार हैं—विन्दु, अर्द्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। प्रथम तीन अवयवों के साथ ये नौ अवयव सम्मिलत होकर बारह अवयव होते हैं। इनके बीच प्रति द्वितीय अवयव की ही शून्य-रूप में भावना करनी होती है। इसका रहस्य अत्यन्त गंभीर है, किन्तु यहाँ उसकी आलोचना अनावश्यक है। इस भाव से द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम तथा द्वादश—ये छः शून्यपद-वाच्य हैं; इनमें प्रथम पाँच अवान्तरशून्य तथा छठा महा-शून्य है। पाँच निम्नवर्त्ती शून्यों के बीच एक क्रम-विकास तथा क्रम-लय के भाव का अनुभव किया जाता है, जिसे साधनामार्ग में प्रविष्ट व्यक्तिमात्र ही गुरुकृपा से अल्पाधिक अनुभव कर सकता है।

जिस अवस्था में दस इन्द्रियों के द्वारा जागतिक व्यापार निष्पन्न होता है, उसे जाग्रत्-अवस्था कहते हैं। वस्तुतः प्रकाश इसका करण होने से प्रकाश की ही जाग्रत् रूप में भावना करने का विधान है। जिस अवस्था में आन्तर चतुर्विध करण द्वारा व्यवहार निष्पन्न होता है, उसका नाम स्वप्नावस्था है। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण की वृत्तियों का लय होने पर यावत् इन्द्रियों की उपरमरूप जिस अवस्था का उदय होता है, उसका नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति-भावना का स्थान भ्रू-मध्यस्थित विन्दु में है। इस विन्दु को हृल्लेखा का ऊर्ध्व विन्दु जानना चाहिए। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति का हेतु नाद का आविर्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्द्धचन्द्र, रोधिनी और नाद इन तीन मंत्रावयवों में उसकी भावना करनी उचित है। तुरीयातीत अवस्था परमानन्द-स्वरूप है। यह मन और वाक् से अतीतहोने पर भी मन और वाक् के आभास-मय देहावस्थान काल में अधिकारानुसार किसी-किसी की रह ही जाती है। नादान्त से शक्ति व्यापिनीं तथा समना के बाद उन्मना पर्यन्त तुरीयातीत अवस्था व्याप्त रहती है। उन्मना से परे और किसी प्रकार की अवस्था नहीं है।

मात्राहीन अथवा अमात्र शिवस्वरूप से चित्कला का आभास बिन्दु या विशुद्ध-सत्त्व-रूप दर्पण में पतित होकर उसमें अवस्थित स्थिरीकृत मात्रा पर आघात करता है। इस आभास को धारण कर सकने पर मात्रा साधक अथवा योगी की योगानुभूति

की भूमि के रूप में परिणित होती है — एक मात्रा विभक्त होकर अर्द्धमात्रा में परिणत होती है। एक मात्रा और अर्द्धमात्रा का सन्धि-स्थान अत्यन्त गुह्य है। स्थूल विश्व की अनुभूति मन की जिस मात्रा में होती है, उसे एक मात्रा कहा जाता है। स्थूल लौकिक अनुभूति का आरम्भ इसी एक मात्रा में है, मात्रा का आधिक्य जाड्य-वृद्धि का कारण है। मन का समग्र क्षेत्र ही चेतन अथवा बोधमय नहीं, उसके बीच अवचेतन अंश भी है। हमारी स्मृति में जो नाम अथवा शब्द-राशि संचित रहती है, वह हमारे अनुभवों का परिणाम है। ये अनुभव स्थल-विशेष में मन की एकाग्रता (अन्ततः आंशिक) के प्रभाव से उदित होते हैं। इसीलिए शब्द का स्मरण करने के साथ-साथ उसका अर्थ अथवा रूप हृदय-क्षेत्र में जाग उठता है। वाचक के स्मरण से वाच्य की स्फूर्त्ति होती है। साधक का कर्त्तव्य — साधना का उद्देश्य — अपने मन को एकाग्र करना अथवा केन्द्र में स्थापित करना अर्थात् एक मात्रा में अवस्थित करना है। समाधि आदि के अभ्यास का प्रकृत उद्देश्य भी यही है। साधारणतः मन एक मात्रा में नहीं रहता। विक्षिप्त तथा क्षिप्तावस्था में चंचलता के फलस्वरूप मात्राओं का बाहुल्य घटता रहता है। मूढावस्था की आलोचना का इस स्थान में प्रयोजन नहीं। मन उत्थित होकर उसके एक मात्रा में स्थित हो जाने पर ऊपर से उसमें गुरुकृपा रूपी चिद्‌रश्मि का सम्पात होता है। उसके फलस्वरूप एक मात्रा स्व-स्थान में एक मात्रा के रूप में अक्षुण्ण रहते हुए भी 'अतीत में' अर्द्धमात्रा आदि रूपों में परिणत होती है।

यहाँ से सीमाहीन अनन्त की ओर गति की सूचना मिलती है, दिव्य अनुभूति का आरम्भ होता है। चित्किरण के सम्पात की वृद्धि के अनुसार मात्रा का भग्नांश बढ़ता है, अर्थात् मात्रांश क्रमशः क्षुद्र से क्षुद्रतर होता जाता है और प्रतिफलित चैतन्य क्रमशः अधिकतर उज्ज्वल तथा परिस्फुट होता जाता है।

जिस स्थान में चिद्‌रश्मि का सम्पात होता है, उसे एकमात्रा तथा अर्द्धमात्रा का सन्धि-स्थान माना जाता है — ऊर्ध्व से एक मात्रा में इस रश्मि के आने पर ऊपर की ओर एक मात्रा टूटने लगती है, अथच नीचे की ओर एकमात्रा अक्षुण्ण ही रहती है।

यह एकमात्रा ही स्थूल विश्व का मध्यविन्दु है। लौकिक विशाल जगत् इस एकमात्र में उपसंहृत है एवं यहीं से प्रबुद्ध होकर दसों दिशाओं में स्तर-स्तर में छिटक पड़ता है। इस मात्रा को एक दृष्टि से सुषुप्ति का समानधर्मा कह सकते हैं। इसी दृष्टि से अर्द्ध-मात्रादि को तुरीय तथा अतितूर्य अवस्था के आभास का ज्ञापक माना जाता है।

मन की मात्रा जितनी ही प्रसृत होती है उतना ही मन का अंश क्षुद्रतर होता जाता है, और उतना ही चिदालोक उज्ज्वलतर होता है। अर्द्धमात्रादि में जो प्रतिफलित चैतन्य है, वही मंत्र है। जो चित्त उसका आधार है, उसे भी मंत्र कहते हैं।

पहले जिस विन्दु की बात कह आये हैं, वही मात्रा से मात्राहीन की ओर जाने का द्वार है। इस स्थान में ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एकाकार हो जाते हैं और वहीं निरालम्ब भाव का आरम्भ हो जाता है। साथ-साथ मात्रा-भंग के फलस्वरूप अर्द्धमात्रा का उदय होता है। इसी भूमि से ईश्वर-भाव की पूर्व सूचना मिलती है, यह कह सकते हैं। यह

ज्योतिर्मय एकाकारता ही शून्य है। विन्दु से सहस्रार में उठने के मार्ग में कपाल-प्रदेश में जो सोम दृष्ट होता है, वही अर्द्धचन्द्र है। उसके भीतर त्रिविध वर्णमाला (सौम्य, सौर तथा आग्नेय) चिद्बीज रूप में सहस्रार के प्रत्येक दल में प्रकाश पा रही है। कपाल के ऊर्ध्व में, अथच ब्रह्मरन्ध्र के नीचे त्रिकोण के मध्य में, रोधिनी की अवस्थिति है। ब्रह्मादि कारण-पंचक को अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव नामक पाँच जगत्पतियों को ऊर्ध्व गति से निवृत्त करने वाली होने के कारण इसका नाम 'रोधिनी' है। कोई-कोई इसे 'निरोधिनी' भी कहते हैं। रोधिनी तक ही विन्दु का आवरण है। इसकी भी शून्य-रूप में चिन्ता करनी होती है, इस स्थान में दिशा और काल का पार्थक्य मन में नहीं रहता। इसके अतिरिक्त निम्नवर्त्ती मन और प्राण का अनुभव भी इस स्थान में नहीं रहता। इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र के मुख में नाद-स्थान है। मन्त्रमहेश्वररूपी महापुरुषों से यह परिवृत है।नाद के अन्तर्गत भुवनपंचक की मध्यवर्त्ती शक्ति 'ऊर्ध्वगा' नाम से प्रसिद्ध है। यहीं से शुद्ध चिद्-बोध का सूत्रपात होता है। ब्रह्मरन्ध्र में नादान्त है। यह भी शून्यरूप में भावनीय है, नाद अथवा चित् इस स्थान में सद्-भाव में प्ररूढ़ रहता है, ऐसा कह सकते हैं। ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्ना के ऊपर है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर शक्ति-स्थान है। यहीं ऊर्ध्वकुण्डलिनी प्रसुप्त एवं भुजंगाकार तथा ऊर्णा-तन्तु के समान प्रभा-युक्त हैं। अनुन्मिषित समग्र विश्व इन्हीं के गर्भ में अवस्थित है, इसीलिए ये विश्वाधार हैं। यावत् तत्त्व तथा भुवन इन्हीं को आश्रय करके विद्यमान रहते हैं। इस स्थान में एक अव्यक्त आनन्द का अनुभव होता है।

इसके बाद 'व्यापिनी' का अधिकार है। वस्तुतः केन्द्रस्थिता शक्ति की कला ही व्यापिनी नाम से परिचित है, किन्तु शक्ति से व्यापिनी पृथक् है। पृथ्वी पर्यन्त जो कुछ है, सब शक्ति तत्त्व का प्रपञ्च है। एक हिसाब से देखा जाय तो शक्ति-तत्त्व ही अनाश्रित-भुवन हैं, जिसमें व्यापिनी के मध्य शिवतत्त्व अवस्थित है। अनाश्रित भुवन के चारों ओर व्यापिनी, व्योमात्मिका, अनन्ता तथा अनाथा नामक शक्तियों का अवस्थान है, मध्य में अनाश्रिता शक्ति विराजमान है। कहना न होगा कि व्यापिनी भी शून्य-रूप में कल्पनीय है। किसी-किसी ने व्यापिनी को ही 'महाशून्य' कहा है। वास्तव में वह महाशून्य नहीं, इसके परे भी शून्य है। इस स्थान में साकार तथा निराकार का भेद तिरोहित हो जाता है। यहाँ की अनुभूति एक, अद्वय एवं आत्मानुभूति की अंगीभूत है। व्यापिनी के परे व्यापिनी के पदावस्थित अनाश्रित भुवन के ऊपर 'समना' है। यह ब्रह्मविल के बाहर में अतीत मन का स्थान है। इस स्थान में मन नहीं है, अथच है भी। नादान्त से इस अतीत मन की सूचना पाई जाती है। सूक्ष्म समष्टि-मन नाद में परिसमाप्त होता है। उसके परे अतिमानस है। समना सम्पूर्ण कारणों की कर्तृभूता महेश्वर की पराशक्ति है। पूर्ण ब्रह्म की चिदात्मिका ईक्षण-शक्ति अवतरणमुख में समना रूप में अवतीर्ण होकर समष्टि मन में संचारित होती है। परमेश्वर सृष्ट्यादि पाँच प्रकार के कृत्यों का सम्पादन समना में आरूढ़ होकर ही करते हैं। समना को दूसरी दिशा उन्मना है, वह अतीत मन के भी अतीत है। इसी स्थान में आत्मा का विकल्परहित केवल-स्वरूप में अवस्थिति का बोध होता है।

यह अमेय तथा अनिर्देश्य है। नौ नादों में यह नवम-नाद है। बिन्दु में जिस नाद-समूह की सूचना होती है, उन्मना में उनकी समाप्ति होती है। यही प्रकृत महाशून्य है। श्रीमाताकी महाकरुणा के बिना इसका भेद नहीं किया जा सकता। इससे परे शब्द ब्रह्म है और नहीं, अथवा शब्द ब्रह्म ही परब्रह्म अथवा अद्वैत-आत्मस्वरूप में स्वयं-प्रकाश रूप है।

जप की आनुषंगिक भावना के साथ संसृष्ट छः शून्य तथा उनकी पाँच अवस्थाओं का किंचित् आभास दिया गया। अब सात विषुवों की बात यथासंभव संक्षेप में लिखने की चेष्टा की जा रही है। विषुव-सप्तक का प्रचलित नाम इस प्रकार है–प्राणविषुव, मंत्र-विषुव, नाडीविषुव, प्रशान्तविषुव, शक्तिविषुव, कालविषुव और तत्त्वविषुव। प्राण, आत्मा तथा मन के परस्पर योग को 'प्राण-विषुव' कहते हैं। अभिव्यज्यमान नाद को जापक की निज आत्मा समझ कर भावना करना 'मंत्र-विषुव' है। मूल मंत्र के द्वारा छः चक्र तथा द्वादश ग्रन्थियों के क्रमशः भेद होने पर मध्य नाडी में नाद-स्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त 'बीजशिखरवर्त्ती नादके उच्चरित होने पर 'नाडी-विषुव' रूप स्पर्श उद्भूत होता है। शक्ति में नादान्त पर्यन्त मंत्रावयवों की लय-भावना 'प्रशान्त-विषुव' नाम से अभिहित है। शक्तिमध्यागत नाद के समना पर्यन्त चिन्तन को 'शक्ति-विषुव' कहा जाता है। यहाँ तक काल का खेल है, कारण, समना पर्यन्त ही काल की सीमा है। वास्तव में नाद काल की सीमा के परे भी है। कालातीत उन्मना-पर्यन्त नाद के चिन्तन को 'काल-विषुव' कहते हैं। उन्मना में यद्यपि काल नहीं है, किन्तु वह भी परम-तत्त्व नहीं है। कालविषुव के बाद 'तत्त्वविषुव' अंगीकृत होता है। नाद ही तत्त्वका अभिव्यंजक है, फिर भी जबतक नाद का प्रकृत अन्त नहीं होता तबतक तत्त्वबोध नहीं होता। नादान्त तो दूर की बात है, शक्ति में अथवा समना में भी नाद का अन्त नहीं होता। शाक्त योगिगण ने उन्मना को भी नाद का अन्त नहीं स्वीकार किया। उन्मना के ऊर्ध्व उन्मना-भेद करने के साथ-साथ नाद लीन होता है, तब तत्त्वबोध अथवा स्वात्म-साक्षात्कार स्वभावतः हो जाता है। इसलिए तत्त्व-विषुव को चैतन्य का अभिव्यक्ति-स्थान कहना संगत है।

इसके बाद ही परमपद है। यह छः शून्यों, पाँच अवस्थाओं तथा सात विषुवों के कोलाहल के अतीत विश्व की परम विश्रान्ति-भूमि और परमानन्द-स्वरूप है। यही परमशिव की अवस्था है। तांत्रिक योग में निष्णात परम योगिगण ने कहा है कि उन्मनापर्यन्त सम्पूर्ण मंत्रावयव १०८१७ बार उच्चारित होने पर नाद का अन्त और तत्त्वज्ञान का उदय होकर परमपद की प्राप्ति होती है। मंत्रजप के साथ मंत्रार्थ-भावना आवश्यक है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। अर्थज्ञान के बिना अर्थभावना नहीं हो सकती। शास्त्र में बहुत प्रकार से मंत्रार्थ का विवरण पाया जाता है। उनमें भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ तथा महातत्त्वार्थ; ये सब प्रधान हैं। किसी-किसी मत में १६ प्रकार के अर्थों का वर्णन भी दृष्ट होता है। मंत्र के अवयव-भूत अक्षर का अर्थ ही 'भावार्थ' है। सर्व कारणों के कारण परमेश्वर ही मंत्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से स्वीय मंत्र का उद्भव तथा उसका अवतरण-क्रम या परम्परा का

ज्ञान मंत्र का 'सम्प्रदायार्थ-ज्ञान' है। परमेश्वर, गुरु तथा निज आत्मा का ऐक्यानुसन्धान 'निगर्भार्थ' है। परमेश्वर निष्कल, निरवयव है, गुरु भी वही है। निष्कल परमेश्वर का जिन्होंने निज स्वात्मरूप में साक्षात्कार किया है, वही गुरु हैं। अतः गुरु तथा परमेश्वर अभिन्न हैं। चक्र, देवता, विद्या, गुरु तथा साधक का ऐक्यानुसन्धान 'कौलिकार्थ' है। मूलाधारस्थ कुंडलीरूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है, इस रूप की भावना का नाम 'रहस्यार्थ' है। निष्कल अणु से अणुतर तथा महान् से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत, परमतत्त्वके साथ प्रकाशानन्द रूप में विश्वातीत तथा विश्वमय निज गुरु के द्वारा प्रवोधित निर्मलस्वभाव स्वकीय आत्मा का ऐक्यानुप्रवेश 'महातत्त्वार्थ' है। इन सब अर्थों के ज्ञान के फलस्वरूप पाशात्मक विकल्पजाल सम्यक् प्रकार से निवृत्त होते हैं।

इस देह रूप विश्व में अधः-ऊर्ध्व भाव से तीन स्तर हैं। प्रथम—स्थूल या सकल, द्वितीय— सूक्ष्म अथवा सकल-निष्कल, एवं तृतीय—कारण अथवा निष्कल। प्रथम स्तर अकुल से आज्ञाचक्र-पर्यन्त विस्तृत है। सुषुम्ना नाडी का मूलस्थ ऊर्ध्वमुख रक्तवर्ण सहस्रदलकमल ही अकुल-पद का वाच्य है, सुषुम्ना का शिखरस्थ अधोमुख श्वेतवर्ण सहस्रदल भी एक प्रकार का वही है।

इन दोनों के अन्तराल में सुषुम्ना के मध्य विभिन्न प्रकार के आधार-कमल ग्रथित हैं।

दूसरे का विस्तार आज्ञा के ऊर्ध्व-विन्दु से उन्मना पर्यन्त है।

तीसरा महाविन्दु है, जो उन्मना के अतीत तथा देशकाल द्वारा अपरिच्छिन्न है। इस त्रिभूमिक देहरूप विश्व में जो अधिष्ठाता होकर विराज रहे हैं, वह पूर्णब्रह्म आत्मा हैं। वे विश्वात्मक होने पर भी विश्वातीत तथा विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक हैं। इस प्रकार जप-साधना की परम सिद्धि आत्मस्वरूप में ही स्थितिलाभ है।

अजपा रहस्य

साधकों के सम्प्रदायमें अति प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक साधनाओं में जप की महिमा ख्यात है। वास्तव में सब प्रकार के आध्यात्मिक कर्मों में जप का स्थान बहुत ऊँचा है। यज्ञ विविध प्रकार के हैं एवं प्रत्येक यज्ञ का अलग-अलग विशेष फल भी निर्दिष्ट है किन्तु जपयज्ञ का माहात्म्य अन्यान्य यज्ञों की अपेक्षा बहुत अधिक चढ़ा बढ़ा है, यह श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट ही बतलाया गया है। जप के रहस्य एवं फलाफल का विवेचन इस लेख का विषय नहीं है, किन्तु मैं इस लेख में जपसाधना के चरम लक्ष्य अजपा-साधन के सम्बन्ध में प्राचीन महापुरुषों के पदचिह्नोंका अनुसरण कर अपने अनुभव तथा बुद्धि के अनुसार यथाशक्ति संक्षेप में कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा। जप का यथार्थ रहस्य न जानने पर भी उसके सम्बन्ध में थोड़ा बहुत ज्ञान सभी साधकों को रहता है। किन्तु अजपा के सम्बन्ध में बहुत लोग प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। स्त्री और पुरुष, बालक और वृद्ध, भावुक और भक्तिहीन सभी अधिकारियों के लिए अजपा-साधन उपयोगी है। भिन्न-भिन्न युगों में विभिन्न सम्प्रदायोंमें यह साधना भिन्न-भिन्न नामों से परिचित होती आई है। आध्यात्मिक साधना के क्रमिक इतिहास का विवेचन करने पर यह बात स्पष्ट ही ज्ञात हो सकती है।

एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह अत्यन्त सरल साधना है। वास्तव में कोई भी साधना इससे अधिक सरल नहीं हो सकती है। मनुष्य के देह धारण करने के बाद से अर्थात् माता के गर्भ से भूमि पर आने के समय से लेकर प्रयाण करने तक सारे जीवन में जो स्वाभाविक श्वास की क्रिया चलती है, उसे मूल भित्ति मानकर अजपा-साधना का अनुष्ठान होता है। उसके लिए न कोई विशेष उपकरण, न कोई कृत्रिम प्रक्रिया और न कोई विशेष अनुशासन ही आवश्यक है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया जैसे ज्ञात और अज्ञात रूप से सदा ही प्रवाहित होती रहती है, श्वास-प्रश्वास के साथ सम्बद्ध अजपा-क्रिया भी वैसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सभी समयों में समानरूप से चलती रहती है। इस क्रिया का आरम्भ हो जाने पर फिर यह चेष्टा अथवा मनोयोग की अपेक्षा न रखकर अपने आप ही निरन्तर चलती रहती है। इसीलिए एक प्रकार से यह अत्यन्त सरल साधना है, यह समझना कठिन नहीं है। किन्तु सरल होने पर भी यह साधना अत्यन्त गुप्त है। एवं इसका जानना टेढ़ी खीर है। इसका फल अन्य कृत्रिम साधनाओं के फल सा नहीं है। निष्क्रिय परम सत्ता के हृदय को आश्रय कर जो क्रिया विश्व में निरन्तर चल रही है, अजपा मनुष्य-शरीर में उसी की केवल छाया है। यह स्वभाव की साधना है। प्रकृति में व्यष्टि तथा समष्टिभूमि में समानरूप से इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अजपा-विज्ञान यदि भलीभाँति समझ में आ जाय

तो तत्त्व-ज्ञान का पूर्ण उदय अवश्यम्भावी है। यह साधना जैसे स्वाभाविक है, वैसे ही इसका फल भी स्वाभाविक ही है, अर्थात् स्वभाव में स्थिति प्राप्त करना।

भगवान् बुद्धदेव ने अति प्राचीन काल में 'आनापानसति' के नाम से जिस साधन का अपने अन्तरङ्ग भक्तों में प्रचार किया था, प्रतीत होता है वह अजपासाधन का ही अङ्ग था। परवर्ती बौद्धाचार्यों ने अनेक जगह इसका विवेचन किया है एवं विस्तार के साथ इसका विश्लेषण भी किया है। गोरखनाथ तथा अन्यान्य नाथयोगी अजपासाधना की महिमा जानते थे। उन्होंने इस साधना से सिद्धि प्राप्त कर मुक्तकण्ठ से इसकी महिमा उद्घोषित की। नाथसम्प्रदाय के साहित्य में बहुत स्थानों पर अजपा-साधन की महिमा के सम्बन्ध में बहुत से प्रमाण विद्यमान हैं। किंवदन्ती है कि महायोगी नानक साहब ने राजा शिवनाथ को उनके अधिकार के अनुसार उत्तरोत्तर कई उपदेश दिये थे। इस उपदेशपरम्परा में पहले राम-नाम, उसके बाद प्रणव तथा सबके अन्त में हंसरूप अजपा-मन्त्र का उल्लेख दिखाई देता है। अजपा-गायत्री हंस-विद्या, आत्म-मन्त्र[1] प्राण-यज्ञ आदि विविध नामों से वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक-साहित्य में निर्दिष्ट है।

कुछ लोगोंका यह मत है कि महाप्रभु चैतन्यदेव ने राय रामानन्द, स्वरूप दामोदर, शिखि माइती और उनकी बहन माधवी को अर्थात् अपने साढ़े तीन अन्तरङ्ग भक्तों को, इस साधना का गुह्य उपदेश दिया था। सन्त कबीर, महात्मा तुलसीदास आदि महापुरुषों की सिद्धि इस साधना के अनुष्ठान पर प्रतिष्ठित थी, यह बात साधकों के सम्प्रदाय में बहुत प्रसिद्ध है। वर्तमान युग में भी योगी गम्भीरनाथ, महात्मा विजयकृष्णगोस्वामी, महात्मा रामठाकुर आदि विशिष्ट साधकों ने इस साधना की महिमा गाई है। श्वास-प्रश्वास से यदि साधना सम्पन्न की जा सके तो जिस सहज उपाय से अति दुर्लभ महातत्त्व का उन्मीलन होता है, उसके विषय में वे बहुत स्थलों पर प्रकाश डाल गये हैं। उनके भक्तऔर शिष्यों ने भी अजपा-साधना के माहात्म्य के सम्बन्ध में बहुत सी बातों का प्रचार किया है। 'सिद्धजीवनी' के लेखक स्वामी ब्रह्मानन्द को बारदी के ब्रह्मचारी महायोगी लोकनाथ से इसी साधना का उपदेश प्राप्त हुआ था। इह विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है।

यह साधना अनादि काल से प्रचलित है। सदाशिव, ब्रह्मा, नारद, वशिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद आदि को भी यही साधना प्राप्त हुई थी। वास्तविक बात यह है कि अन्यान्य सब प्रकार की साधनाओं के तुल्य इस साधना के भी आदि गुरु साक्षात् भगवान् हैं, इस विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

[२]

बच्चा जब माँ के गर्भ से निष्क्रमण करता है एवं जिस समय उसका नालच्छेदन होता है, उसी समय से उसके शरीर में श्वास-प्रश्वास की क्रिया दिखाई पड़ती है। माता

१. गीता के चतुर्थ अध्याय में 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' ऐसा वर्णन दिखाई देता है। यही प्राण-यज्ञ का स्वरूप है। श्रीधरस्वामी ने उसकी टीका में इसकी अजपासाधन नाम से व्याख्या की है।

के गर्भ में रहते समय गर्भ में धारण करनेवाली माँ से अलग बच्चे की श्वास-प्रश्वासक्रिया नहीं रहती है। गर्भ में बच्चा माँ से भुक्त भोजन से तुष्ट होता है एवं माँ के श्वास-प्रश्वास से ही उसके शरीर का विकास होता है। किन्तु प्रसव के साथ वैष्णवी माया उसपर आक्रमण करती है और तभी से यह कालराज्य में रहना आरम्भ करता है। बच्चे का जो पहला श्वास लेना है उसका नाम जन्म है एवं उस श्वास का अन्तिम भाग ही मृत्यु के नाम से प्रसिद्ध है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मध्यवर्ती अवस्था उसका जीवन है। इसलिए मनुष्य का सारा का सारा जीवन श्वास-प्रश्वासमय है। मनुष्य आत्मविस्मृत अवस्था में श्वास-प्रश्वास के अधीन रहता है एवं निरन्तर काल की प्रेरणा से इडा और पिङ्गला नामक बाँये और दाँये मार्ग से संचरण करता है। यदि मूल में अविद्या का आवरणरूप पर्दा न रहे तो विक्षेपरूप श्वास-प्रश्वास की क्रिया नहीं रहती। वास्तव में श्वास-प्रश्वास काल का ही खेल है एवं जिसे हम लोग जीव कहते हैं वह काल अथवा मृत्यु के ही स्वप्रकाश की केवल महिमा है।

योगी लोग कहते हैं, योगमार्ग के नौ मुख्य विघ्न हैं। वे सब चित्त के विक्षेपरूप हैं। चित के विक्षेप के साथ साथ ये विद्यमान रहते हैं। नौ मुख्य विघ्नों के नाम हैं—व्याधि, स्त्यान या चित्त की अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद या समाधिसाधन के अनुष्ठान का अभाव, देह और चित्त की अलसता, अविरति या विषयतृष्णा, भ्रान्ति-ज्ञान या मिथ्या ज्ञान, समाधि की भूमिका की प्राप्ति न होना तथा भूमिका प्राप्ति होने पर भी उसपर प्रतिष्ठित न हो सकना, दुःख, इच्छा की पूर्ति न होने से चित्त में क्षोभ, देह में कम्पन तथा श्वास-प्रश्वास ये सब पूर्वोक्त मुख्य विघ्नों के आनुषङ्गिक सहकारी हैं।

इस विवरण से समझ में आ जायगा कि श्वास-प्रश्वास मूल रोग नहीं है, रोग का केवल उपसर्गमात्र है। श्वास-प्रश्वास का कारण चित्त का विक्षेप है एवं विक्षेप का कारण है प्रत्यक्‌चैतन्य की अप्राप्ति अर्थात् साक्षात्काररूप ज्ञान का अभाव। जिस उपाय से प्रत्यग् आत्मा का साक्षात्कार होता है उसी के प्रभाव से श्वास-प्रश्वासरूप काल का खेल भी निवृत्त हो जाता है। प्रणव-जप तथा प्रणव-वाच्य ईश्वर की भावना को योगियों ने आत्मज्ञान-प्राप्ति का मुख्य हेतु माना है। प्रणव-जप का रहस्य अवगत होने पर यह समझ में आ सकता है कि अजपा-जप ही श्रेष्ठ जप है एवं अन्य सभी जपों की चरम अवस्था का स्वाभाविक जप है।

[३]

एक अहोरात्र में मनुष्य के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास की संख्या २१६०० मान लेनी चाहिये। विशेष अवस्था में इसमें कुछ तारतम्य होने पर भी यही साधारण नियम है। 'हम्' ध्वनि करता हुआ जो श्वास बाहर निकलता है, उसका नाम प्रश्वास है एवं 'सः' ध्वनि करता हुआ जो भीतर आता है उसका नाम निःश्वास है[1]।

---

१. "हंकारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत्पुनः।"—यही साधारण मत है। किन्तु रामप्रसाद के गान में कहा है—

योगियों का कहना है कि जीव निरन्तर श्वास-प्रश्वास के बहाने इस हंस-मन्त्र या अजपा-गायत्री का जप करता है। जीवमात्र ही जब इसे करता है, तब मनुष्य भी करता है, यह कहना फजूल है। किन्तु अन्य जीवों से मनुष्य से भेद यह है कि मनुष्य अपने पौरुष द्वारा ऐसी सामर्थ्य अर्जित कर सकता है, जिससे श्वास-प्रश्वास की इस स्वाभाविक गति में विपर्यय हो सके। अर्थात् मनुष्य साधना के बल पर 'हंस' गति को 'सोऽहम्' गति में परिवर्तित कर सकता है। तब आत्मज्ञान का पथ खुल जाता है एवं इडा और पिङ्गला में संचार करनेवाले वायु की वक्र-गति सुषुम्ना में सरल-गति के रूप में बदल जाती है। सुषुम्ना ब्रह्ममार्ग है। वायु इडा और पिङ्गला के मार्ग से हट कर जितना ही सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है, उतना ही विकल्प का शमन होता है। निर्विकल्प आत्म-ज्ञान का बन्द मार्ग धीरे-धीरे खुलने लगता है। सुषुम्ना में प्रवेश किये बिना वायु और मन की ऊर्ध्व-गति नहीं हो सकती एवं उर्ध्व-गति के बिना विकार का त्याग कर चित्त साम्यभाव में नहीं पहुँच सकता। योगी लोग जिसे कुम्भक कहते हैं वह इस ऊर्ध्वगति से क्रमशः सिद्ध होता है। वस्तुतः कुम्भक में गति नहीं रहती है, यह बात नहीं है। किन्तु उससे वक्रगति की निवृत्ति के साथ अन्तर्मुखी सरलःगति की सूचना होती है। इस सरल गति से अन्त में गतिहीन अवस्था का आभास प्राप्त हो जाता है। जिसे हम लोग सांसारिक भाषा में प्राण-अपान का व्यापार कहते हैं, उसी को योगी की भाषा में हंसमन्त्र का उच्चारण समझना चाहिये।

इस प्रकार विषम गति के कारण की गवेषणा करने पर ज्ञात हो सकता है कि प्रकृति के भीतर ही इस विषमता का बीज निहित है। प्राण अपान को और अपान प्राण को निरन्तर खींचता है, किन्तु दोनों की स्वाभाविक गति परस्पर विरुद्ध है। प्राण जिस ओर संचार करता है अपान उसकी विपरीत दिशा में संचरण करता है। यदि वे अन्य निरपेक्ष होते तो ऐसी स्थिति में विरोध की कोई सम्भावना नहीं रहती। किन्तु यह बात नहीं है। अपान के न रहने से प्राण का काम नहीं चलता, इसलिए प्राण विरुद्ध दिशा में बहनेवाले अपान को चाहता है और उसको खींचता है। वैसे ही प्राण के अभाव में अपान का भी काम नहीं चलता है, इसीलिए अपान प्राण को खींचता है। इससे स्पष्टतः प्रतीत हो सकता है कि यथार्थ साम्यावस्था से च्युत होने में ही दोनों में विरुद्ध गति का उदय हुआ है। इसलिए अनजान में प्राण और अपान विरुद्ध संचारी होकर भी अविरुद्ध साम्यभाव में ही फिर प्रतिष्ठित होना चाहते हैं। जब तक वह साम्यावस्था प्राप्त न होगी तब तक शान्ति की सम्भावना नहीं है। बद्ध जीव इन दो

हंवर्ण पूरके हय सःवर्ण रेचके वय,
अहर्निश करे जप हंस हंस बलिया।

यह विरूद्ध बात है, किन्तु अशास्त्रीय नहीं है। क्योंकि योगबीज में (१३१) लिखा है—'सः' ध्वनि के साथ निर्गम और 'हम्' ध्वनि के साथ प्रवेश होता है। जीव हमेशा 'हं सः' मन्त्र का जप करता है। इसके अनन्तर लिखा है—

"गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतोऽभवज्जपः।
सोऽहं सोऽहम् इति प्राप्तो मन्त्रयोगः स उच्यते ॥" (१३२)

आकर्षणों के मध्य में पड़कर कभी उठता है और कभी गिरता है। बाँये और दाहिने मार्ग में संचार करता है, उससे छुटकारा नहीं पाता। योगी का लक्ष्य इन दोनों विरुद्ध गतियों में समन्वय स्थापित करना है। सब प्रकारों की अध्यात्म-साधनाओं का यही उद्देश्य है।

इस विषय की गति दो दिशाओं में है एक देशगत और दूसरी कालगत। नाक के नथनों से श्वास बाहर की ओर प्रवाहित होता है एवं बाहर से वह भीतर की ओर लौटता है। बाहर जाने की एक निश्चित सीमा है। साधारण अवस्था में नाक के नथनों से बाहर की ओर बारह अंगुल तक यह गति देखी जाती है। किन्हीं आगन्तुक कारणों[1] से कभी एक ही व्यक्ति की श्वासगति में कुछ कमी भी हो जाती है, वैसे ही प्रकृति-वैचित्र्य से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की श्वास-गति में भी कुछ कुछ अन्तर रहता है। गति का विस्तार जितना अधिक हो, बहिर्मुखता और काल का प्रभाव भी उतना अधिक जानना चाहिये। संयत जीवन के अभ्यास से क्रमशः इस बहिर्गति का ह्रास होता है। यह देशगत विषम-गति का विवरण है।

कालगत विषमता दूसरे प्रकार की है। एक निर्दिष्ट समय की श्वास-संख्या द्वारा इस वैचित्र्य का पता लगता है। इस प्रसंग में श्वास कहने से पूरक और रेचक दोनों लेने चाहिये। साधारण रूप से एक मिनट में संसारी स्वस्थ पुरुष के पन्द्रह श्वास-प्रश्वास होते हैं। किन्तु इस क्षेत्र में भी आगन्तुक कारणों से और प्रकृति-भेद से इनमें कुछ विलक्षणता दिखलाई देती है, वह नगण्य हैं। संयम और अभ्यास के प्रभाव से यह संख्या धीरे-धीरे घट जाती है। यह श्वासगति में कालगत-विषमता का विवरण है। यह कहना फजूल है कि श्वास की बाह्योन्मुखता और संख्या में परस्पर सम्बन्ध रहता है। साधारण रूप से बाह्य-गति यदि बारह अंगुल हो तो संख्या पन्द्रह मानी जाती है। योगाभ्यास अथवा विशिष्ट शक्ति के प्रभाव से बाह्य गति के घट जाने पर संख्या भी उसके अनुसार घट जाती है। अर्थात श्वास का देश और काल के साथ सम्बन्ध समानरूप से एक ही साथ ह्रास को प्राप्त होता है। बाह्य गति के एक अंगुल कम होने पर संख्या सवा कम होती है तथा दो अंगुल कम होने पर संख्या ढाई कम होती है। अन्त में जब बाह्यगति के बारहों अंगुल शून्य में परिणत हो जाते हैं, तब संख्या भी पन्द्रह से शून्य में परिणत हो जाती है। अर्थात् श्वास का दैशिक और कालिक सम्बन्ध एक ही समय विच्छिन्न हो जाता है एवं रेचक और पूरक रूप व्यापार शान्त हो जाते हैं, इसी का नाम कुम्भक है; जिससे पूरा समाधान का मार्ग खुलता है। यह समाधान ही स्थिति है। तभी पूर्वोक्त विक्षेप की निवृत्ति होती है, उससे पहले नहीं होती।

प्राणों की बाह्यगति या संख्या में न्यूनता आने के साथ ही साथ नाना प्रकार की अलौकिक शक्तियों का विकास होता है। पहले कामना-त्याग होता है। प्राणों की

१. कहा गया है कि भोजन और बोलने में बहिर्गति बढ़ जाती है—छह से बारह अंगुल तक, चलने में वृद्धि होती है—बारह अंगुल से छब्बीस अंगुल तक तथा तेजी से दौड़ने में तीस से बयालीस अंगुल तक वृद्धि होती है। सबसे अधिक गति होती है स्त्री-संगत में—तिरपन से तिरसठ अंगुल तक।

चञ्चलता से ही वासना पैदा होती है। प्राणों में शान्ति आना आरम्भ होने पर चित्त में क्रमशः निष्कामता प्रकट होती है। निष्कामता की अभिव्यक्ति के बाद आनन्द की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। गीता में भगवान् ने कहा है—'अशान्तस्य कुतः सुखम्।' शान्ति के उदय के बिना वास्तविक सुख का आविर्भाव नहीं होता। इसके उपरान्त वाक्-सिद्धि, दूर-दृष्टि, आकाशगमन, छाया-नाश यहाँ तक कि निर्वाणप्राप्ति भी हस्तगत होती है। यही शास्त्र का सिद्धान्त है।

प्राणों की बाह्यगति की निवृत्ति साधना का उद्देश्य है। जिस प्रकार के चिन्तन और आचरण द्वारा इस बाह्यगति की वृद्धि होती है, वह साधन-क्षेत्र में वर्जनीय है। अन्ततः इन सब विषयों में संयम का अभ्यास अत्यावश्यक है।

[४]

अजपा-साधना के रहस्य और प्रक्रिया के सम्बन्ध में महापुरुषों ने गुरुपरम्परा से प्राप्त पद्धति का अनुसरण कर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार के विवरण प्रकाशित किये हैं। साधक की योग्यता और अधिकारगत विशिष्टता का यदि विचार किया जाय, तो इनमें से प्रत्येक की सार्थकता आसानी से समझ में आ सकती है।

योगियों के समाज में अजपा की कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई प्राणधारिणी प्राणविद्या के रूप में ख्याति है। श्येन (बाज) जैसे ऊपर आकाश में उड़ने पर भी डोरी से बँधा होने पर नीचे पृथिवी की ओर आकृष्ट होता है, वैसे ही प्राण और अपान की क्रिया के वशीभूत जीव ऊपर और नीचे की ओर गमनागमन करता है। कुछ आचार्य कहते हैं—तत्-पदवाच्य परमात्मा हंसविद्या के प्रथम अवयव 'हं' कार द्वारा वर्णित हैं एवं त्वंपदवाच्य प्रत्यक् चैतन्य अथवा खेचरी-बीज द्वितीय अवयव 'सः' कार द्वारा द्योतित होता है। प्राणी-मात्र के हृदय में जो अव्याकृत आकाश है, उसमें लिंगशरीर विद्यमान रहता है। उसके प्रतिलोम-रूप से हंस की गति होती है। शास्त्र में लिखा है—'सःकारो ध्यायते जन्तुर्हंकारो जायते ध्रुवम्।' 'सः' अथवा जीव अपने जीवत्व का त्याग कर 'सोऽहं' शब्द के लक्ष्य प्रत्यक्-आत्मा से अभिन्न परमात्मा के सिवा और कुछ नहीं रहता है। जो साधक अपने आत्मा का ध्यान करता है, उसके लिए हकारात्मक परमात्मभाव की प्राप्ति सुलभ होती है।

दूसरे मत में—'हंस' कहने से प्रत्यक्-आत्मा अथवा व्यष्टि-तुरीय समझना चाहिये एवं 'परमहंस' शब्द परमात्मा अथवा समष्टि-तुरीय का बोधक है। व्युष्टि-तुरीय और व्यष्टि-तुरीय का परस्पर योग होने पर हंस-योग सम्पन्न होता है। यही अजपा का तत्त्व है।

तीसरे मत में—साधक की बुद्धि और साधनशक्ति के न्यूनाधिक्य के अनुसार अजपा-तत्त्व के सम्बन्ध में विविध प्रकार के दृष्टिकोण अङ्गीकृत हैं। मन्द-बुद्धि, मध्यम-बुद्धि और उत्तम-बुद्धि साधक की दृष्टि में जो भेद है, उसकी प्रतीति अधोलिखित विवरण से स्पष्टतः हो जायगी। जिसकी ज्ञान-शक्ति उज्ज्वल नहीं है, जो अतिसूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकता, उसका नाम मन्दबुद्धि है। इस प्रकार का साधक 'ह'कार से पुरुष और 'स'कार से प्रकृति को समझता है। इसलिए उसकी दृष्टि से हंस-योग कहने पर

पुरुष और प्रकृति का योग प्रतीत होता है। किन्तु जिसकी बुद्धि पूर्वकी अपेक्षा तीक्ष्ण है अर्थात् जो मध्य-बुद्धि है, उसकी दृष्टि के अनुसार ह-कार से अपान का संचार और स-कार से प्राण का संचार प्रतीत होता है। मुख्य प्राण जिस समय पराङ्मुख होकर लौटता है, उस समय उसे प्राण न कह कर अपान कहा जाता है। इसलिए हंस-विद्या का रहस्य मध्यम-साधक की दृष्टि में प्राण और अपान के संयोग के सिवा और कुछ नहीं है। किन्तु जो साधक उत्तम-बुद्धिसम्पन्न है, उसकी दृष्टि और भी सूक्ष्म है। वह प्रकृति और पुरुष के सम्बन्ध अथवा प्राण और अपान के सम्बन्ध का त्याग कर आत्मस्वरूप की ओर लक्ष्य रखता है। वह साधक अजपामन्त्र के पूर्व भाग 'अहम्' को जीवात्मा का वाचक और उत्तर भाग 'सः' को शक्ति का वाचक समझता है।

अधिकार भिन्न होने से अजपा-जप का विधान भी भिन्न है। निम्न श्रेणी के अधिकारी तालु, ओष्ठ आदि दैहिक उच्चारण-यन्त्र के द्वारा अजपा-जप का सम्पादन करते हैं। इन सब साधकों का चित्त पूर्ण रूप से संस्कृत अथवा संशोधित नहीं रहता है, इसीलिए ये लोग देहगत क्रिया का अवलम्बन किये बिना जप नहीं कर सकते। किन्तु जो लोग मध्यम श्रेणी के अधिकारी हैं, उनका चित्त अधिक संस्कृत रहता है। इसलिए उन्हें अजपा-जप करने के लिए तालु आदि की किसी प्रकार की क्रिया आवश्यक नहीं है। उनका अधिकार ऊँचा है, इसलिए उनका विधान भी पृथक् है। उनके लिए दैहिक उच्चारण की आवश्यकता नहीं है। यदि हो भी, तो वह अन्य प्रकार की होती है। उनको भावना करनी पड़ती है कि अजपामन्त्र का 'सः' अंश प्राण रूप में एवं 'हं' अंश अपान रूप में अपने शरीर में सदा अनुस्यूत रहता है। 'हम्' शब्द के साथ अपान वृत्ति का साम्यमूलक सम्बन्ध रहता है। इसी लिए हंकार अपान-वृत्ति को सूचित करता है और स-कार प्राण-वृत्ति की सूचना करता है। 'सः' तथा 'हम्' मन्त्र के ये दो भाग प्राण और अपान-वृत्ति के रूप में अपने शरीर में सदा ही क्रिया कर रहे हैं। इस प्रकार की निरन्तर क्रिया ही अजपा-जप है। प्राण और अपान रूप में विद्यमान यह मन्त्र, जिसे साधक गुरुमुख से प्राप्त करता है 'अजपन्नपि' अर्थात् तालु आदि का व्यापार न करने पर भी उसमें प्राणापान रूप मन्त्र अनुस्यूत रहता है, इसलिए सर्वदा उसका जप चलता रहता है। इसीलिए इस हंस-मन्त्र को अजपा-विद्या कहते हैं। वाचिक जप की अपेक्षा यह अनुसन्धानरूप जप अधिक प्रबल एवं अधिक फलप्रद है। फिर इस जप के साथ आस्तिकता, गुरुभक्ति, श्रद्धा आदि सद्गुणों का भी समावेश रहने पर बल की वृद्धि होती है। यह मध्यम अधिकारी की चर्चा है। किन्तु उत्तम अधिकारी के लिए अजपा का विधान अन्य प्रकार का है। यह कहना व्यर्थ है कि उच्च अधिकारी का चित्त श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से अत्यन्त विशुद्ध रहता है। इस प्रकार के साधकों की धारणा होती है कि अजपा-मन्त्र का पूर्वार्द्ध 'अहम्' जीव का बोधक है, जो जाग्रत् आदि विभिन्न अवस्थाओं का साक्षी है। अपने को सुखी या दुःखी अनुभव किया जा सकता है, इसलिए ज्ञात होता है कि 'अहम्' पदार्थ जीव का वाचक है। किन्तु मन्त्र के उत्तरार्द्ध में जो 'सः' पद है, वह उनके मत में शक्ति का वाचक है। यह शक्ति वास्तव में सम्पूर्ण विश्व के कारण

परमेश्वर का नामान्तर है। इसलिए संसारी रूप में प्रतीयमान 'अहम्' ही वास्तविक रूप में 'सः' अथवा परमात्मा है। यही अजपा-जप का तात्पर्य है।

[५]

योगियों के समाज में अजपा-प्रक्रिया के सम्बन्ध में और भी बहुत से विधान दिखाई देते हैं। उनमें से किसी किसी का श्रुति शास्त्र आदि में उल्लेख है। दृष्टान्त के रूप में दो एक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है—

इस मत में सबसे पहले केवल कुम्भक के द्वारा ऐसी एक अवस्था प्राप्त करनी पड़ती है, जिसमें रेचक और पूरक कुछ भी नहीं रहते। उस समय श्वास-प्रश्वास का वेग शान्त रहता है। उस अवस्था में नाभि-कन्द में प्राण और अपान की साम्यावस्था प्रतिष्ठित होती है। इधर सहस्रदल-कमल से निरन्तर जो पीयूषधारा बहती है, उस समय उसे पान करने का अवसर मिलता है। प्राण की चञ्चल अवस्था में उस अमृत के पान की सम्भावना नहीं रहती। जिस समय योगी प्राण और अपान की समता प्राप्त कर शान्ति से बैठता है और पूर्व-वर्णित अमृत उसे प्राप्त होता है, उस समय उसका कर्तव्य है कि उस अमृत का स्वयं पान न कर उसके द्वारा नाभिस्थ ज्वलन्त महादेव का अभिषेक करे और साथ ही साथ 'हंसः' 'हंसः' कह कर हंस-मन्त्र की आवृत्ति करे। इसलिए देह में प्रत्यक्-यज्ञ करने की आवश्यकता होती है। यही आध्यात्मिक सूर्यग्रहण है। देहतत्त्व-वेत्ता योगी जिस समय देह में उत्तरायण और दक्षिणायन नामक दो अयनों और विषुवोंके दर्शन करते हैं, उस समय वे देह में स्थित होकर ही सकल और निष्कल बिन्दु के साक्षात्कार का लाभ करते हैं। प्राणवायु इडा से पिङ्गला में संचार करता है एवं पिङ्गला से इडा में लौटता है। ये दो उत्तरायण और दक्षिणायन के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राण का मूलाधार में प्रवेश एक-विषुव तथा उसका मस्तक में प्रवेश दूसरा-विषुव है। विषुव कहने से ठीक उसी अवस्था की प्रतीति होती है, जिसमें दिन और रात्रि की समानता होती है। देह में भी इन दो बिन्दुओं में साम्य प्रकट होता है। इसीलिए इनको विषुव कहते हैं। योगी का कर्तव्य है—मन्त्र के साथ (मन्त्रयुक्त) या केवल (अमन्त्र) प्राणायाम के द्वारा अर्थानुसन्धान करते हुए प्रणव और हंसमन्त्र का उच्चारण और प्रणव का अर्थभूत जो हंस है, उसका सोऽहं के रूप में अनुसन्धान करना। यह ऐक्यानुसन्धान ही नमस्कार—योग का रहस्य है। अजपा का तात्पर्य इसी में निहित है। इसके अनन्तर मुद्रा-धारण अपने आप ही हो जाता है। इस मुद्रा को चिन्मुद्रा कहते हैं। प्रचलित भाषा में इसी का नाम शाम्भवी या खेचरी मुद्रा है। इस मुद्रा का तात्पर्य यही है कि अपने से भिन्न कुछ भी नहीं है, इस बोध में स्थिति। आत्मा के अर्चन की प्रशस्त पद्धति है—सर्वदा 'सोऽहमस्मि' रूप से ध्यान में मगन रहना। इसका नाम प्रत्यक्ष-योग है। उस समय प्राण-वायु पिङ्गला मार्ग से कुण्डलिनी में प्रवेश करता है, यही आध्यात्मिक सूर्यग्रहण है।

उपनिषदों में हंसयोग या अजपासाधन का विवरण दिया गया है। इस योग के प्रभाव से प्रत्यगात्मा का ज्ञान होता है। यही हंस-ज्ञान है। जो योगी इस पद्धति के

अनुसार अजपा-साधन करे, उन्हें पहले सिद्धासन से बैठकर बाँए टखने से गुदाद्वार को आवृत कर पूरक-क्रिया करनी चाहिये। इस तरह मूलाधार में वायु इकट्ठा हो जाती है। तदनन्तर अपनी शक्ति के अनुसार आकुञ्चन-क्रिया द्वारा मूलाधार से उस वायु को उठाना चाहिये। इतनी जब क्रिया सिद्ध हो जाय, तब प्राण और अपान में साम्य-स्थापना करनी चाहिये। प्राण और अपान के साम्यभाव को प्राप्त होने पर मूलाधार स्थित त्रिकोण में जो अग्नि रहती है, उसको उठाकर प्राण और अपान के साथ मिलाते ही, कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है। कुण्डलिनी के जागने के बाद, उस कुण्डलिनी से ब्रह्मग्रन्थि खोलनी चाहिये। जब तक ब्रह्मग्रन्थि नहीं खुलती, तब तक षट्चक्रों के पहले चक्र मूलाधार में यानी चतुर्दल में प्रवेश करने की सामर्थ्य ही उत्पन्न नहीं होती। कमल में प्रविष्ट होकर उस कमल का जो एकबिन्दु या तुरीय-भूमि है, उसका ध्यान करना चाहिये। इसका नाम विराट् का ध्यान है। इस ध्यान से ऊर्ध्वगति होती है। तब षड्दल अधिष्ठान-चक्र की तीन बार प्रदक्षिणा करके, दशदल मणिपूर में जाना चाहिये। तब फिर ग्रन्थि खोलने की आवश्यकता पड़ती है। उस ग्रन्थि का नाम 'विष्णु-ग्रन्थि' है। वह अनाहत-चक्र के नीचे रहती है। उसका भेदन किये बिना हृदय-चक्र में प्रवेश नहीं किया जा सकता। हृदय में प्रवेश कर पहले की तरह उस चक्र में स्थित मध्यबिन्दु में तुरीय का ध्यान आवश्यक होता है। वह सूत्रात्मा का ध्यान है। उस समय सविकल्प समाधि का उदय होता है। अनाहत को लाँघकर विशुद्ध चक्र में प्रवेश करने के मार्ग में स्तनों के समान लटक रहे दो मांसपिण्ड दिखाई देते हैं। उस समय अगल-बगल के दो मार्गों का त्यागकर मध्यमार्ग का अवलम्बन करके विशुद्ध-मार्ग में प्रवेश करना चाहिये। वहाँ प्राण निरुद्ध होता है, उसके बाद तृतीय या अन्तिम ग्रन्थि का भेद कर आज्ञाचक्र में चढ़ना चाहिये। इस ग्रन्थि का नाम 'रुद्र-ग्रन्थि' है। यह आज्ञा-चक्र के नीचे रहती है। आज्ञाचक्र में प्रवेश करने के पश्चात् वहाँ के बीज या तुरीय का ध्यान आवश्यक होता है। योगी यदि यहाँ तक का मार्ग तय कर सके तो चन्द्र, सूर्य और अग्नि इन तीनों तेजों को अथवा तीन बिन्दुओं को वह मिलाने में समर्थ होता है। उस समय इन तीनों तेजों का पार्थक्य नहीं रहता। तीनों के मिलन से एक महातेज का विकास होता है। उससे सहस्रार से टपक रहे अमृत का आस्वाद लेने का अधिकार पैदा होता है। उस समय योगी अजर और अमर पिण्ड को पाकर सहस्रार में विराजमान ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करता है। वहाँ तुर्य या तुर्य-तुर्य के दर्शन प्राप्त होते हैं। तुर्य कहने से चतुर्थ का बोध होता है। जिसके ऊपर तीन मात्राएँ आरोपित होती हैं, उसका नाम तुर्य है। जिस समय इस अवस्था का अनुभव होता है, उस समय त्रिमात्र के रूप में प्रतीति होती है। किन्तु तुर्य-तुर्य में मात्राएँ लुप्त हो जाती हैं। यही अमात्र-स्थिति है। यह साक्षात्कार क्षणिक न होकर सदातन होना चाहिये। तुर्य में कुछ साकार-भाव रहता है। किन्तु तुर्यतुर्य में साकार भाव बिलकुल नहीं रहता। यह प्रतिद्वन्द्वहीन, एक और अद्वितीय अवस्था है। परमहंस अवस्था इसी का नामान्तर है। तुर्य-तुर्य के स्वगत अंश से तुर्य की उत्पत्ति होती है। इसको योगी लोग करोड़ो सूर्यों के समान देदीप्यमान कहते हैं। किन्तु वास्तविक रूप में इसका

वर्णन नहीं हो सकता। तुर्य के साथ अभेद मानकर यथाकथंचित् वर्णन किया जाता है, वस्तुतः यह वर्णनातीत है।

[६]

अजपा आत्म-मन्त्र है, यह पहले ही कहा जा चुका है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं में जीवात्मा वस्तुतः परमात्मा से अभिन्न है। यह मन्त्र महातत्त्व का ही प्रतिपादन करता है। इस मन्त्र के ऋषि—ब्रह्मा, छन्द—गायत्री, देवता—आत्मा, शक्ति 'स' और बीज 'ह' हैं। इस मन्त्र के दो भाग हैं—एक शक्ति और दूसरा बीज। इसीलिए यह शिव शक्ति से संघटित कहा जाता है।

विद्या या संविद्रूपिणी शक्ति ही मन्त्रात्मा 'स' कार का वाच्यार्थ है। उक्त शक्ति का प्रतिपाद्य निष्कल परमशिव ही 'ह' कार का वाच्य है। शब्दरूप शक्ति और बीज अर्थात् स और ह इस सकल और निष्कल रूप का प्रतिपादन करते हैं। सत्य ज्ञानादिरूप निरुपाधिक स्वप्रतिष्ठ अन्तरात्म-रूपी चैतन्य ही परशिव हैं। 'अहम्' शब्द से परमात्मा या प्रत्यगात्मा का बोध होने के कारण उससे परशिव का ही प्रकाश होता है। यह शिवस्वरूप अपनी माया के द्वारा जिस समय स्वयं ही अपने प्रतियोगी या प्रतिद्वन्दी का उत्पादन करते हैं, उस समय वह प्रतिद्वन्दी उनकी अपेक्षा दूसरा होता है और उसे शक्ति कहा जाता है। अजपा-मन्त्र का जो 'स' कार है, वह इस शक्ति का ही बोधक है। यह मन्त्र इस कारण शिव और शक्ति उभयरूप है, क्योंकि 'ह' पुरुष का और 'स' प्रकृति का वाचक है। प्रपञ्चसार में भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है—

> हकारः पुरुषः प्रोक्तः स इति प्रकृतिर्मता।
> पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्॥

शिवशक्त्यात्मक अर्द्धनारीश्वर अर्थात् शक्तियुक्त परमेश्वर निरन्तर उस परशिव का ध्यान करते हैं और उस मन्त्र का जप करते हैं।

[७]

द्वादशदल हृत्कमल में चार दलों के साथ श्वास-प्रश्वास का कोई सम्बन्ध नहीं है। हंस उन चार दलों का स्पर्श नहीं कर सकता। प्राण और अपान से युक्त जीव का ही इस स्थल पर हंस के नाम से उल्लेख किया गया है। यह हंस यद्यपि उन चार दलों का स्पर्श नहीं करता तथापि, वह शेष आठ दलों में निरन्तर भ्रमण करता है। जीव के चित्त में जो प्रतिक्षण नाना प्रकार के भावों का उदय होता है, वह सब पर विदित है। बिना किसी कारण के ये भाव चित्त में क्यों निरन्तर उदित होते हैं? इस तत्त्व का साधारण अज्ञानाच्छन्न जीव निर्णय नहीं कर सकता। विशेषज्ञ लोग कहते हैं कि ये भाव अथवा विकल्पराशियाँ संख्या में अनन्त होने पर भी स्थूल-दृष्टि से आठ श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं। योगियों का कहना है कि जीव भ्रमणकाल में जिस समय जिस दल का स्पर्श करता है अथवा जिस समय जिस दल में प्रवेश करता

है, उस समय उसी के अनुरूप भाव उसके चित्त में उदित होते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि पूर्व दिशा के दल से ईशान कोण के दल तक कुल आठ दल हैं। शास्त्रकारों ने और अनुभवी महापुरुषों ने अमुक दल के साथ अमुक भाव का सम्बन्ध है, यों सूक्ष्मरूप से निरूपण कर व्याख्या कर रखी है। इस विषय में किसी-किसी का मत-भेद भी दिखाई देता है। भाव और रस के साधक लोगों ने इस विज्ञान का अनुसरण कर अपनी-अपनी साधनपद्धति की रचना की है। कमल के मध्य दल और कर्णिका के ये दो प्रधान अंश हैं। जिस समय वायु दल में संचार करता है, उस समय चित्त चञ्चल और बहिर्मुख रहता है। उस समय वासना आदि के प्रभाव की तीव्ररूप से अनुभूति होती है, किन्तु यदि वायु दल को छोड़कर मध्य बिन्दु या कर्णिका में प्रवेश करता है, तो आत्मातिरिक्त विषयों में यानी बाह्य विषयों में वैराग्य हो जाता है। केशरों में वायु के सम्बन्ध से जाग्रत-अवस्था का विकास होता है। उस समय अहङ्कार पूर्ण मात्रा में काम करता है। वायु के कर्णिका में प्रवेश करने पर अहङ्कार अर्ध-विकसित अवस्था में परिणत हो जाता है। यह स्वप्नावस्था है। बिन्दु अथवा कर्णिका के अन्दर शून्य में वायु का प्रवेश होने पर सुषुप्ति-अवस्था का उदय होता है। उस समय अहङ्कार नहीं रहता, उसको भी अर्थात् इस शून्य को भी लांघना पड़ता है। तब फिर कमल के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। उस समय की अवस्था का नाम तुरीय है। यही साक्षात्कार की अवस्था है। उस समय हंस का प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा के स्वरूप में प्रकाश होता है। हंस के उपरान्त नाद की क्रिया होती है। उसके कारण मन धीरे-धीरे अपने को खो देता है। चरम अवस्था में उन्मनीभाव का आविर्भाव होता है। यह तुरीयातीत अवस्था है। यह तुरीयातीत स्थिति भी साधिष्ठान और निरधिष्ठान भेद से दो प्रकार की है। साधिष्ठान-स्थिति में शरीर रहता है, किन्तु त्रिताप की पीड़ा नहीं होती। इस अवस्था में नाद या अर्द्धमात्रा रहती है। किन्तु जिस समय शरीर नहीं रहता, उस समय नाद प्रत्यागात्मा से अभिन्न परमात्मा अथवा हंस में लीन हो जाता है। यह प्रतियोगिविहीन अद्वैत ब्रह्म की अवस्था है।

श्वास-प्रश्वास ही आत्म-मन्त्र है। निःश्वास 'स' कार या 'त्वम्' पदार्थ है, एवं उच्छ्वास बिन्दु के साथ आकाश बीज 'हं'कार है, 'यह तत् पदार्थ है। पुनः पुनः इन दोनों के योग से ही अहंभाव स्फुरित होता है। इसी का नाम तत्त्वमसि है। अजपा के स्वरूप का यही रहस्य है।

[८]

अजपा-साधन के सम्बन्ध में अनेकों बातें कही गई हैं, किन्तु इस साधना का व्रत लिये बिना इसका रहस्य समझ में नहीं आता। जप की संख्या न रखने पर ही अजपा सम्पन्न हो, सो बात नहीं है, अथवा संख्या न रख कर श्वास-प्रश्वास के साथ जप करने पर ही अजपा होता हो, सो भी नहीं है। वाचिक, उपांशु अथवा मानसिक किसी क्रम में बद्ध होने पर भी अजपा-जप सम्पन्न नहीं होता, पर प्रत्येक साधन-क्रिया का कोई न कोई फल आवश्य ही होता है। शास्त्रानुसार महापुरुषों ने नाम का 'चैत-

न्यरस विग्रह' और 'चिन्तामणि' के रूप में वर्णन किया है। यह बात सोलहों आने सत्य है। नाम केवल लौकिक आकाश-धर्म शब्दमात्र नहीं है। वह चेतन और पूर्ण जीवनी-शक्ति से सम्पन्न है। वह भगवान् के अनुग्रह या गुरुकृपा से अपने बल पर ही चलता है। वह श्वास-प्रश्वास के तुल्य वाग्-यन्त्र का अवलम्बन करने पर भी, अपनी शक्ति से ही कार्य करता है। अहङ्कारविमूढ़ जीव अपने प्रयत्न से अथवा इच्छा से भगवान् के जाग्रत् नाम का जप नहीं कर सकता है, क्योंकि चिन्मय नाम स्वतन्त्र है अर्थात् पराधीन नहीं है। सद्गुरु की कृपा जिन्हें प्राप्त है, ऐसे साधक केवल द्रष्टा होकर इस प्रकार के नाम का खेल देखते हैं एवं श्रोता बन कर निरन्तर अनुगमन करते हैं। अजपा का यही रहस्य है कि स्वभाव से ही जप की क्रिया सम्पन्न हो, अपने को कुछ भी करना न पड़े। स्वयं तो क्रिया की पृष्ठभूमि में रह कर केवल उस खेल के द्रष्टा के रूप में स्थित रहे।

इसीलिए सद्गुरु द्वारा किया गया शक्तिसंचार सबसे पहले आवश्यक है। यह बाहर से भी हो सकता है, एवं यदि सौभाग्य हो तो भीतर से भी हो सकता है। उसके सिवा जितना सम्भव हो मन से अलग रह कर प्रकृति का खेल देखना चाहिये। कल्पना मन् का धर्म है, इसलिए उसका सर्वथा त्याग करना चाहिये। सत्य स्वयंप्रकाश है, वह अपने आलोक से स्वयं ही प्रकाशित होता है। मन अथवा कल्पना-शक्ति उसे केवल आवृत सा अथवा खण्डित सा बना रखती है। श्वास-प्रश्वास जैसे स्वाभाविक होते हैं, वैसे ही उनके साथ नाम के गुँथ जाने से उसकी क्रिया भी स्वाभाविक हो जाती है। कुछ लोग जप की सहायता से प्राणों के नियन्त्रण का भी अभ्यास करते हैं। प्राण को नियन्त्रित करने पर ही बँधे हुए प्राणों को खुले हुए प्राण के रूप में बदला जा सकता है। जैसे काँटे से काँटा निकाला जाता है, वैसे ही प्राण को बाँधने पर ही अबाधित निर्मुक्त प्राण का पता लगता है। इस प्राणायाम-क्रिया से देहात्मबोध सहज में ही हट जाता है, एवं वाह्य-स्मृति और देह-संस्कार लुप्त हो जाता है। उस समय चैतन्यमय तथा धाराप्रवाह रूप से बहने वाले एकमात्र नाम के अस्तित्व का अनुभव होता है। उस प्राण के नियन्त्रण के अन्तर्गत नवद्वारों को रोकना पड़ता है। एक बार प्राणवायु का जब अन्तर्मुख आकर्षण हो, जाय उसके अनन्तर साधारण वायु का अन्दर प्रवेश रोक देना चाहिये। नाम के जीते जागते प्रवाह में मन लगाना चाहिये एवं अपनी सामर्थ्य के अनुसार उस भीतर खींचे हुए वायु को धारण करना चाहिये। बाहरी संसार के संस्कार तथा देहात्मबोध के लुप्त होने पर आध्यात्मिक मार्ग का प्रधान प्रतिबन्धक हट जाता है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि जब श्वास-प्रश्वास विक्षेप रूप में गिना जाता है, तब श्वास-प्रश्वास को आधार बनाकर नाम जप का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है कि श्वास-प्रश्वास विक्षेप रूप है, यह सत्य है एवं जिस स्थान में पहुँच कर स्थिति प्राप्त करनी होगी, वह भी श्वास-प्रश्वास-विरहित, मन की चञ्चलता से रहित, सुशान्त परम-स्थान है। कुम्भक अवस्था में उस परम स्थान में प्रवेश होता है। किन्तु स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का अवम्बन किये बिना उस स्थान पर स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। यदि

ज्ञानेन्द्रियों के द्वार बन्द न किये जा सकें, तो यथार्थ कुम्भक हो ही नहीं सकता, क्योंकि द्वारों के खुले रहने पर मन की चञ्चलता अवश्य रहती है, एवं उसके साथ-साथ प्राण की चञ्चलता भी स्वाभाविक है। ज्ञान के द्वार बन्द होने पर बाह्यस्मृति लुप्त हो जाती है और स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास भी अस्वाभाविक और अशान्तिकर प्रतीत होता है।

कोई कोई महात्मा अजपा के सम्बन्ध में कहते हैं कि कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने पर तालु-मूल से नाभि तक एक आकर्षण-विकर्षणरूप क्रिया का अनुभव होता है। वह अवस्था यदि प्राप्त न हो, तो वास्तविक अजपा-क्रिया नहीं हो सकती है।

[९]

साधारणतः हम लोगों का मन के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः 'अहम्' मन से पृथक् मन का साक्षी और नियमनकर्ता है, इस बात को हम सदा ही भूले हुए हैं। इस कारण मन के साथ हमारा तादात्म्य अर्थात् अभेद अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। इसीलिए अक्सर कार्यक्षेत्र में मन ही 'अहम्' हो बैठता है। ऐसी परिस्थिति में इन्द्रियों के कार्य के साथ मन रम जाता है, मन इन्द्रियों को नियन्त्रित नहीं कर सकता। उस समय अभिमान जाग उठता है अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव उदित हो जाते हैं। स्वयं कर्म का कर्ता बनने के कारण सुख दुःख का भोग रूप बोझा अपने ही ऊपर लादना पड़ता है। सांसारिक बद्ध-जीवन का यही स्वरूप है।

किन्तु मन से अपने को यदि कुछ पृथक् किया जा सके, तो मन भी इन्द्रिय-व्यापार से विरहित हो सकता है। इन्द्रिय-व्यापार के साथ प्राण के खेल का सम्बन्ध है। ज्ञान का व्यापार भी प्राण का खेल है और कर्म का व्यापार भी प्राण का खेल है। प्राण ही विश्व की रङ्गशाला में अभिनय कर रहा है, यही प्रकृति का खेल है। मन यदि तटस्थ होकर इस खेल को देखता है, तो ठीक है। किन्तु साधारणतः ऐसा नहीं होता। मन खेल देखकर स्वयं भी खेलना आरम्भ कर देता है। किन्तु अज्ञान के प्रभाव से क्रीड़ा-भाव छिप जाता है। स्वयं कर्त्ता बन कर अभिनय करता है, साक्षी रूप से अभिनय देखता नहीं है, इसीलिए उसे आनन्द भी नहीं आता। प्राण खेलता है, उसके संसर्ग से मन भी खेलता है। मन की अशान्ति अथवा चञ्चलता का यही रहस्य है।

'मैं द्रष्टा नहीं हूँ' यह ज्ञान ही सब अशान्तियों का मूल कारण है। 'अहम्' (मैं) के द्रष्टा होते ही बिना किसी प्रकार की चेष्टा के मन निष्क्रिय हो जाता है। उस समय मन स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। तब उसमें प्राण का खेल आरोपित होता है। मन उस खेल में भाव का आरोप करता है कि 'मैं द्रष्टा होकर उसे देखता हूँ'। मन सत्त्व-स्वरूप है, उससे देखने पर आत्मा का तटस्थ-भाव अक्षुण्ण रह कर भी आत्मा अभिनेता और अभिनेत्री से अपना भेद भूल जाता है, अर्थात् उन्हें अपना कर लेता है, और स्वयं दर्शक ही रह जाता है। यदि मन मध्यस्थ न रहे तो ऐसी स्थिति नहीं हो सकती।

यह जिस मन की बात कही गई है वह शुद्ध-मन अथवा शक्ति है। परमात्मा की जो शक्ति है, जीवात्मा का वही मन है। शुद्ध मन योगमाया का परिणाम और अशुद्ध-मन मलिन माया का परिणाम है। करना, कराना देखना और दिखाना सर्वत्र ही इसकी आवश्यकता होती है।

प्राण या प्रकृति (शुद्ध और अशुद्ध) खेल करती हैं, अब यही आवश्यक है कि मन उस खेल को देखे अर्थात् 'अहम्' (मैं) स्वयं साक्षी रह कर भी शुद्ध मन के योग से उसे देखे। यदि साक्षी न रहे तो शुद्ध मन को पाने का कोई उपाय नहीं है। उस समय जो प्राप्त होता है, वह मलिन मन है, जो खेल में आसक्त हो पड़ता है एवं साथ ही साथ आत्मा को भी उसमें फँसा देता है, मन को हटा देने पर भी आत्मा द्रष्टा ही रहता है, किन्तु उस अवस्था में आत्मा जो कुछ देखता है, उसे अपने से पूर्णतया अभिन्न देखता है। उससे लीला-दर्शन नहीं होता। यद्यपि मूल में अपने से अपने को देखना अवश्य ही रहता है, तथापि लीला-दृष्टि से कुछ भेद रहना आवश्यक है। अतः रसास्वादन के लिए स्वच्छ मन रहना अनिवार्य है। यह मन उस समय दर्पण का काम देता है, जिसमें स्वभाव का खेल प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। इसी का नाम भाव का खेल है। शुद्ध मन को हटा देने पर भावातीत स्थिति प्राप्त हो जाती है। उसमें रसास्वाद नहीं रहता, केवल अनन्त और अबाधित आत्मदृष्टि रहती है।

मनोमय या सत्त्वमय स्तर में ही खेल होता है, देखता है आत्मा। यह खेल अनन्त है—देखते-देखते भी देखने का अन्त नहीं मिलता। किन्तु देखते-देखते विश्राम भी प्राप्त होता है। उस समय भावातीत में स्थिति होती है। जो साक्षी हैं, वे विश्राम के साक्षी रहते हैं। विश्राम के जो साक्षी रहते हैं, क्रीड़ा के साक्षी भी वही है। विश्राम के साक्षी निकुञ्जविहार के द्रष्टा तथा खेल के साक्षी कुञ्जलीला के द्रष्टा हैं, किन्तु साक्षी एक ही हैं।

आत्मा भाव के रंग में रंग कर प्राण का खेल देखता है। अर्थात् सहृदय हुए बिना खेल देखने पर भी रस का अनुभव नहीं होता। उसका अपने निकट कोई खेल खेल नहीं है। आत्मा भाव के रँग में रञ्जित न होकर विशुद्ध द्रष्टा के रूप से मन को देखता है, अतः मन निष्क्रिय हो जाता है, इसलिए प्राण का खेल फिर उस समय नहीं रहता है।

हम लोगों के श्वास-प्रश्वास का प्रवाह इस प्राण का खेल है। निरन्तर ऊपर नीचे यह खेल चल रहा है। शिव से शक्ति तक तथा शक्ति से शिव तक यह प्रवाह चल रहा है। शिव और शक्ति के वियोग या विरहकाल में दोनों में व्यवधान रहता है, तभी यह प्रवाह चलता है। श्वास की क्रिया इसी का नामान्तर है। जिस समय शिव और शक्ति का मिलन होता है, उस समय यह प्रवाह नहीं रहता है, साँस की क्रिया भी नहीं रहती है, एक परम शान्तभाव में स्थिति होती है।

शिवशक्ति की विरहावस्था में आत्मा मन से एवं मन प्रकृति या प्राण से सम्बद्ध रहता है। आत्मा अपने बल से द्रष्टा बनकर यदि मन को दृश्य बनाता है, तो मन भी तटस्थ होकर प्राण का खेल देख सकता है। इसलिए मन को श्वासगति के निरीक्षण-

कार्य में लगाना चाहिये, एवं स्वयं मन की पृष्ठभूमि में चुपचाप स्थित रहना चाहिये। साधारण रूप से मन श्वास के साथ और प्राण के साथ संचालित होता है। इसी से श्वास चलता है। किन्तु जिस समय मन श्वास के साथ साथ न चल कर उसकी गति का निरीक्षण करता रहता है, उस समय 'अहम्' भी उदासीन हो जाता है, एवं उसके साथ ही श्वास की गति में भी मन्दता आ जाती है।

इसकी एक परम अवस्था है, वह अद्‌भुत रहस्य है। जिस समय शिव और शक्ति का मिलन होता है, जिस समय प्राण और अपान का योग होता है, जिस समय वायु सम्मिलित होता है, सारा विश्व स्थगित हो जाता है, काल की गति रुक जाती है, परम शान्ति उत्पन्न होती है; उस समय उस महास्थिति में भी भीतर ही भीतर एक व्यापार चलता है। यह हंस-अवस्था से परमहंस अवस्था में पहुँचना है। इसी को आत्म-रमण कहते हैं। यह अपने ही साथ अपना विहार है। दूसरा तो उस समय कोई नहीं है। शिव और शक्ति उस समय मिल जाते हैं। मिलने पर भी उनके भीतर ही भीतर क्रिया रहती है। शिव और शक्ति का यह परस्पर अनुप्रविष्ट स्वरूप है। यह अतिगुप्त है। आगम कहते हैं—यह अनुत्तर अक्षररूपी परमेश्वर अपने अङ्गभूत और निखिल प्रपञ्चलयात्मक विमर्शशक्ति में अनुप्रविष्ट या प्रतिबिम्बित होते हैं, तदुपरान्त वह विमर्शशक्ति अपने भीतर स्थित प्रकाशमय प्रतिबिम्ब में अनुप्रविष्ट होती है। आत्माराम-अवस्था का यही पूर्वाभास है।

आरोप-साधन

[१]

साधनाएँ बहुत प्रकार की हैं, एवं साधक के अधिकार के अनुसार प्रत्येक साधना की सार्थकता है। साधक में योग्यता का जैसा तारतम्य रहता है, तदनुसार साधना के फल में भी तारतम्य होता है। जो लोग साधना के इतिहास का अनुशीलन करते हैं, वे तटस्थ-दृष्टि से उस तारतम्य का भी अनुभव कर सकते हैं। किन्तु साधक स्वयं तटस्थ-दृष्टि का अवलम्बन नहीं कर सकता, इसलिए उक्त तारतम्य का ग्रहण करना उसके लिए असम्भव है। अभिरुचि और सामर्थ्य के विकास के अनुसार जो साधक जिस मार्ग का अवलम्बन कर साधन-पथ का पथिक होता है, उसको उस समय उस विशेष पथ का लक्ष्य ही साधना की चरम सिद्धि के रूप में प्रतीति होती है। अन्य मार्गों के साथ तुलना कर तारतम्य का विचार करने की सामर्थ्य उसमें नहीं रहती। यही साधारण नियम है और यह स्वाभाविक भी है। फिर भी विशेष परि-स्थितियों में इस नियम का व्यभिचार न दिखाई देता हो, सो बात नहीं है।

मैं प्रस्तुत निबन्ध में आरोप-साधन के सम्बन्ध में कतिपय बातें कहना चाहता हूँ। मैं जो कहूँगा वह यद्यपि किसी विशिष्ट धारा का अवलम्बन कर के ही कहूँगा तथापि उसमें जो गम्भीर तत्त्व निहित है, वह अवस्था-विशेष में अन्यान्य साधन पद्धति से भी आंशिक रूप में लक्षित हो सकता है। आरोप-साधन योगियों के समाज में भी अत्यन्त गुप्त साधन माना जाता है। भाग्यवान् भक्तों के सिवा और कोई उसका रहस्य नहीं जानते हैं। प्रचलित अधिकांश साधन आत्म-साक्षात्कार के उद्देश्य से किये जाते हैं। आत्म-साक्षात्कार होते ही सिद्धि प्राप्त हुई, यह समझकर आगे के मार्ग में फिर कोई अग्रसर नहीं होता। यह आत्मसाक्षात्कार आरम्भिक आत्मसाक्षात्कार है, पूर्ण आत्म-साक्षात्कार नहीं है। प्रकृति से पृथक् आत्मा का दर्शन कराना ही प्रारम्भिक आत्म-साक्षात्कार का उद्देश्य है। यह प्रारम्भिक आत्मसाक्षात्कार जब तक नहीं होता तब तक आरोप-साधन का श्रीगणेश ही नहीं होता। आरोप-साधन से जो पूर्ण आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है, वह है—अद्वैत आत्मस्वरूप में अवस्थिति। वह बहुत दूर का आदर्श है। किन्तु प्राथमिक आत्मसाक्षात्कार भी साधन-पथ में अत्यन्त उच्च अवस्था को सूचित करता है। अस्तु, आरोप-साधन के वैशिष्ट्य का इससे कुछ कुछ अनुमान हो सकता है।

दीक्षा के समय गुरु शिष्य के दाहिने कान में इष्ट-मन्त्र प्रदान करते हैं, यह सर्वविदित है। वस्तुतः गुरु साधारण व्यक्ति के समान शिष्य को बाहर से कोई शब्द सुना देते हैं, यह बात नहीं है। वे दीक्षा के समय अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर

अन्तर्यामी के रूप में शब्द-ब्रह्ममय ज्ञान देते हैं। इसीलिए दीक्षा देने वाले गुरु का ज्ञानदाता के रूप से शास्त्रकारों ने उल्लेख किया है। वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, क्योंकि वह शब्द से निकला है।

ज्ञान दो प्रकार का है। एक शब्दज (अर्थात् उपदेश देने वाले गुरु की उपदेश-वाणी से शिष्य के हृदय में परोक्ष-रूप से उत्पन्न) ज्ञान है। उसे आगमोत्थ अथवा आगमजन्य ज्ञान कहते हैं। कुछ लोग उसे औपदेशिक ज्ञान भी कहते हैं। द्वितीय प्रकार का ज्ञान शब्द से उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् गुरुवाक्य से उत्पन्न नहीं होता; किन्तु शिष्य के विवेक से अपने आप उत्पन्न होता है। उसे विवेकज-ज्ञान कहते हैं, प्रातिभ-ज्ञान भी उसका नामान्तर है। वह अनौपदेशिक ज्ञान है, क्योंकि वह दूसरे के मुख से निकली हुई वाणीसे-उत्पन्न नहीं होता। वह प्रत्यक्ष-ज्ञान है। दूसरे प्रकार का ज्ञान सद्गुरु की विशेष कृपा का उदय हुए बिना आविर्भूत नहीं होता है। वस्तुतः यही ज्ञान तारक-ज्ञान है। उसका कुछ भी अविषय नहीं है। उसमें एक ही क्षण में अतीत, अनागत और वर्तमान सब पदार्थों का ज्ञान विद्य-मान रहता है। उस ज्ञान में क्रम नहीं रहता, देश अथवा काल के व्यवधान का प्रश्न नहीं रहता। सर्वज्ञान उसी का नामान्तर है। गुरु के मुख से विनिःसृत उपदेश-वाणी से उस प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। उक्त महाज्ञान के सञ्चार के समय सद्गुरु बाहर से किसी वाक्य का प्रयोग नहीं करते, किन्तु मौनी रहते हैं और उसका ऐसा प्रभाव होता है कि उसमें सम्पूर्ण संशयों का उच्छेद हो जाने के कारण सब कर्म-बन्धन क्षीण हो जाते हैं, एवं हृदय के मर्म में स्थित सब ग्रन्थियाँ कट जाती हैं। "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः।"

परोक्षज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर चित्त में जब तक इष्ट-साक्षात्कार के लिए व्याकुलता उत्पन्न नहीं होती, तबतक सद्गुरु की कृपा का उदय नहीं होता, एवं उपरोक्त ज्ञान का आविर्भाव भी नहीं हो सकता। कठोर-तपस्या, कृच्छ्र-साधन, अभाव की पीडा, कलङ्क, आधि और व्याधि तथा विविध प्रकार की परीक्षाओं का उल्लंघन यदि न किया जा सके तो प्रत्यक्ष-ज्ञान के लिए उत्कट अभिलाषा पैदा नहीं होती। गुरु की मङ्गलमय इच्छा से साधक को विविध अवस्थाओं के बहुत प्रकार के उलट-फेरों के मध्य अग्रसर होना पड़ता है। कुछ लोगों ने इन सब अवस्थाओं की व्याख्या प्रारब्ध-फलभोग के रूप में की है। बहुत प्रकार के प्रलोभन तथा परीक्षाओंसे साधक का चित्त यथार्थ-सत्य के अन्वेषण के मार्ग में जागरूक रहता है। बहुत साधकों के विश्वास और धैर्य की परीक्षा इसी समय होती है। जिसके चित्त में जिस अंश में दुर्बलता होती है उसकी उसी अंश में साधारणः परीक्षा होती है। पाश्चात्य भक्त mystic लोगों के वर्णन के अनुसार उक्त समय Dark night of the soul किं बहुना Dark night of the spirit भी कही जा सकती है। यह सचमुच गहरी अमावास्या की रात्रि के समान अन्धकारमय और आतंक-प्रद है। प्रबल उत्कण्ठा, गुरु के आदेश के अनुसार यथाशक्ति साधन की चेष्टा, नैतिक जीवन के महान् आदर्श को अक्षुण्ण रखना एवं अत्यन्त प्रतिकूल अवस्था में भी धैर्य और सहनशीलता द्वारा अपने चित्त

को संयत और स्थिर रखने की चेष्टा करना एवं सर्वोपरि अवश्यम्भावी गुरुकृपा के ऊपर अटल श्रद्धा रखकर उसके लिए एकाग्र-मन से प्रतीक्षा करना; ये ही उस समय के एकमात्र कर्तव्य हैं। उस अवस्था में अतर्कितरूप से सद्गुरु की महती कृपा प्रकट होती है, एवं साधक के अन्धकारावृत हृदय में शान्ति और आनन्दमय चैतन्य की उज्वल ज्योति का स्रोत फूट उठता है। अत्यन्त उत्तापमय ग्रीष्म ऋतु के अन्त में नव वर्षा का आरम्भ होने पर जैसे ताप से झुलसा हुआ जीव-जगत् उत्फुल्ल हो उठता है ठीक वैसे ही दीर्घ काल के अवसाद और निराशा के अनन्तर गुरुकृपा का आविर्भाव होने पर साधक का चित्त भी सब प्रकार के संयम और चञ्चलताओं से मुक्त होकर एक प्रकार के शान्त और स्थिर आनन्द में स्थित होता है। इस अवस्था का नाम प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय है, जिस ज्ञान में सन्देह अथवा विकल्प के लिए स्थान नहीं रहता है, सूर्य का उदय होने पर अन्धकार-राशि जैसे सूर्यकिरणों से छिन्न-भिन्न होकर दूर जाती है, वैसे ही अपरोक्ष-ज्ञान का उदय होने पर चित्त में स्थित अनादि काल से संचित कूड़ा-करकट का ढेर एक क्षण में विलीन हो जाता है। शब्दब्रह्म से शब्दातीत परब्रह्म का बोध इसी प्रकार से होता है।

वह परब्रह्मरूपी आत्मा अथवा साक्षी निर्मल चैतन्य स्वरूप है। वह मनुष्य के शरीर में और विश्व में सर्वत्र असङ्ग-रूपसे व्याप्त है। देश, काल और आकृति का बन्धन उसमें नहीं है, इसलिए सर्वत्र सदा और सब आकारों में वह समानरूप से विराजमान रहता है। किन्तु ऐसा ही अद्भुत रहस्य है कि वह सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी, सद्गुरु की कृपा के बिना किसी के भी दृष्टिगोचर नहीं होता। एक लोहे के टुकड़े को अँगीठीमें डालकर बहुत देर बाद अँगीठी से निकालने के अनन्तर जो अग्निमय लौहपिण्ड दिखाई देता है, उस एक में ही जैसे अग्नि भी रहती है और लोहा भी रहता है; दोनों ही परस्पर मिले हुए विद्यमान रहते हैं, वैसे ही एक ही आधार में देह और आत्मा दोनों ही वर्तमान रहते हैं, किन्तु अपृथक्-रूप से अथवा मिश्रितरूप से, (क्योंकि देह से आत्मा अथवा आत्मा से देह पृथक् करके गृहीत नहीं होता)। एकमात्र गुरु द्वारा उपदिष्ट कर्म-कौशल से उक्त आत्मरूप वस्तु देह से अथवा प्रकृति के अंश से पृथक् दिखाई देती है। यही विवेक-ज्ञान का उदय है, जो एक प्रकार से आत्मदर्शन के नाम से साधक-समाज में विदित है। सर्वदा, सब जगह, समभाव से जो विद्यमान रहता है, यह उसी का साक्षात्कार है। इसी का नाम ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन है। उस समय दीक्षाकाल में प्राप्त परोक्ष-ज्ञान अपरोक्ष-ज्ञान में परिणत हो जाता है। आरोप-साधन करने वाले योगिगण उस साक्षिस्वरूप चिन्मय सत्ता को अपनी सरल भाषा में 'वर्तमान' कहते हैं। यह वर्तमान वास्तव में निराकर और साकार दोनों सत्ताओं की समन्वय-भूमि है। गीता में उक्त उत्तम-पुरुष में अथवा परमात्मा में जैसे क्षर और अक्षर दोनों सत्ताओं का समन्वय प्रदर्शित हुआ है, वैसे ही इस नित्य वर्तमान में निराकार और साकार दोनों ही सत्ताएँ, विराजमान हैं। इसीलिए आरोप-साधक कहते हैं :—

साक्षिभूत वर्तमान खड़ा है साक्षात् रूप में।
निराकार और साकार ये दोनों देखो उसमें॥

उस वर्तमान के आविर्भाव के साथ-साथ ज्ञान का काम समाप्त हो जाता है, क्योंकि वह वर्तमान ही ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय है और उसको अभिव्यक्त करना ही ज्ञान का उद्देश्य है। कर्म जैसे ज्ञान का उदय होने से सार्थक होता है, वैसे ही ज्ञान भी ज्ञेय के आविर्भूत होने पर सार्थक हो जाता है। ज्ञेय ही इष्ट है, इसलिए कर्म और ज्ञान के प्रभाव से इष्ट का आविर्भाव होने पर साधक दोनों के अतीत एक नूतन उन्नत स्तर में प्रवेश करता है। जो साधक इसी जगह निवृत्त हो जाते हैं, उनके लिए आगे की अवस्थाओं की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। इस अवस्था में आत्मदर्शन होने पर भी वह पूर्ण आत्म-दर्शन नहीं है, एवं इस अवस्था की स्थिति अखण्ड आत्मरूप में स्थिति नहीं है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

[२]

अब साधक के जीवन में प्रेम का कार्य आरम्भ होगा। श्रीश्रीगुरुदेव कहते थे, कर्म से ज्ञान होता है, ज्ञान से भक्ति होती है, एवं भक्ति से प्रेम होता है। वास्तव में ज्ञान का काम समाप्त हुए बिना रस-साधना का श्रीगणेश नहीं हो सकता। इस साधना के लिए भाव का विकास आवश्यक है, एवं भाव के विकास के लिए उससे पूर्व प्रत्यक्ष-ज्ञान का उदय होना आवश्यक है। किन्तु केवल प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर ही भाव का उदय नहीं हो सकता है, उसके लिए आनुषङ्गिक साधना आवश्यक है। यहाँ पर हम उस आनुषङ्गिक साधना का परिचय देने की यथाशक्ति चेष्टा करेंगे। हमने जिसे आरोप-साधन कहा है, उसका पूर्वोक्त आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद अनुष्ठान हो सकता है, एवं उक्त आरोप-साधन से ही पूर्ण आत्मस्वरूप में स्थिति, आत्माराम-अवस्था की प्राप्ति, नित्य लीला का आस्वादन आदि मनुष्य का उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट पुरुषार्थ सिद्ध होता है।

सीढ़ी का सहारा लेकर छत पर चढ़ने के बाद सीढ़ी की जैसे फिर आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही कर्म और ज्ञान का अवलम्बन कर ज्ञेय की प्राप्ति होने पर फिर कर्म और ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि ज्ञेय ही इष्ट है, वही सदा और सर्वत्र विद्यमान पुरुषोत्तम है। कृष्ण के उपासक के लिए वे नित्य-कृष्ण हैं, तथा राम के उपासक के वे नित्य-राम हैं। सभी उपासकों के अपने अपने इष्ट के रूप में वे ही एकमात्र उपास्य हैं।

दीक्षाकाल में जो शब्द मन्त्र-दाता गुरु के मुख से शिष्य के कान में प्रविष्ट हुआ था, सद्गुरु की कृपा से वही शब्द आज प्रत्यक्ष-ज्ञान की अवस्था में ज्ञेय के रूप में अथवा चिन्मय इष्ट के रूप में प्रकाशित हुआ है। वैखरी वाणी आज पश्यन्ती-भूमि पर आरूढ़ हुई है। क्रिया, मन्त्र, जप आदि सार्थक हुए हैं, क्योंकि जो वस्तु इतने दिनों तक केवल कर्णगोचर थी, आज वह नेत्र-गोचर हुई है; अर्थात् श्रवण से उत्पन्न ज्ञान साक्षात्कार में परिणत हुआ है। अब पृथक् रूप से क्रिया आदि की जरूरत नहीं है,

क्योंकि आत्मभाव में निष्ठा होने पर साधक की सब चेष्टाएँ अर्चना में परिणत हो जाती हैं, एवं सभी वाक्य मन्त्र-जप हो जाते हैं।

यह वर्तमान रूप ही आरोप-साधक लोगों की परिभाषा में 'श्याम-बिन्दु' के नाम से परिचित है। जगत् के अनन्त रूप, भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल, दूर और निकट समस्त देश, सभी इस नित्य वर्तमान अवस्था में अभिन्नरूप से स्थित हैं। इस रूप का उदय होने पर ही जगत् आलोक से युक्त होता है, एवं इसके तिरोभाव से जगत् आच्छन्न हो जाता है।

उक्त रूप अत्यन्त गुप्त और गुह्य है। यद्यपि वह सदा सर्वत्र ही पूर्ण रूप से विराजमान रहता है, तथापि आवृत होने के कारण सब की दृष्टि में भासित नहीं होता। द्रष्टा की दृष्टि में भी आवरण रहता है और वस्तु के स्वरूप में भी स्वकल्पित आवरण है। जब तक अखण्ड-सत्ता का भाव नहीं होता, तब तक आवरण का रहना स्वाभाविक है। आत्मसाक्षात्कार के बाद उस दृष्टिगोचर आत्मस्वरूप का नियम से भजन करना आवश्यक है। वह कर्म का अङ्गभूत उपासना स्वरूप भजन नहीं है, वह नित्य-भजन है। उसमें दिशा, देश और काल का कोई नियन्त्रण नहीं रहता है। उसमें अवस्था, वर्ण, परिमाण और लिङ्ग का कोई भेद नहीं है। वह चिन्मय, सर्वरूप और सर्वाकार है। साधकों ने उसकी निष्क्रिय-भजन के रूप में व्याख्या की है। वे यद्यपि सर्वाकार हैं, फिर भी साधक स्वयं मनुष्यरूपी है, इसलिए अपने इष्ट की प्राप्ति होने पर ही उन्हें भजन की सुविधा होती है। इसलिए साधक के कल्याण की कामना से वे उनके ज्ञेय या इष्ट मनुष्य का आकार धारण कर आविर्भूत होते हैं। मनुष्याकार की विशेषता यह है कि साधक स्वयं मनुष्य है, इसलिए उक्त इष्ट-आकार वास्तव में उनका अपना अपना ही आकार है, अथवा अपने साथ अभिन्नरूप से प्रतीत होता है। उस समय भक्त साधकों को अपने शरीर के लिए जो सेवा अथवा परिचर्या करनी पड़ती है, वह उनके इष्ट की परिचर्या के रूप में परिणत हो जाती है। भक्त का रूप और उनके भजनीय का रूप पृथक् होने पर भी उस समय अपृथक् हो जाता है, दोनों ही उसमें समान हो जाते हैं। इष्ट उस समय भक्त के साथ रहकर भक्तिपूर्वक की गई भक्त-सेवा ग्रहण करते हैं। परब्रह्म उस समय मनुष्याकार या नर-रूप हो जाते हैं। भक्त मनुष्य है, इसीलिए भगवान् मनुष्य होते हैं, दोनों में कोई व्यवधान नहीं रहता।

इस नित्य-वर्तमान का दर्शन निःसीम सौभाग्य की बात है, गुरु-कृपा की पराकाष्ठा इसी दर्शन में है। मैं पहले कह चुका हूँ कि नित्य वर्तमान में तीनों काल भासते हैं, लेकिन वास्तव में तीन काल कहाँ हैं? एकमात्र वर्तमान ही भूत और भविष्यत् पर आक्रमण कर अपने असाधारण प्रभाव से विराजमान रहता है। इसीलिए साधक चाहे जिस किसी भी अवस्था में उक्त स्थिति को प्राप्त करे, यह अवस्था उसके लिए फिर अवस्था नहीं रहती है, वह नित्य वर्तमान के रूप में प्रकाशित होती है। इसीलिए भजन के प्रभाव से वह अवस्था या दशा विकार रहित होकर नित्य अथवा चिरस्थायी रूप धारण करती है। उस समय वह काल की दशा के रूप में नहीं गिनी जाती, क्योंकि

वह कालातीत है। उसे नित्य-देह कहते हैं। जो शरीर जिस अवस्था में और जिस रूप में भजन करता है, वही नित्य-देह के रूप में प्रकट होता है।

[३]

आरोप-साधन में अभ्यास अपेक्षित है। उक्त अभ्यास का क्रम है। यहाँ पर मैं स्थूल रूप से उस क्रम की एक संक्षिप्त तालिका देने की चेष्टा कर रहा हूँ।

(क) साक्षिभूत सन्मुख-स्थित वर्तमान में निराकार और साकार दोनों सत्ताओं को देखने का अभ्यास करना आवश्यक है।

(ख) मन की उत्कण्ठा और प्राप्ति की उत्कट इच्छा, जिसमें क्रमशः अधिकतर तीव्र हो, उसके लिए प्रयत्न करना उचित है। विषय और विषयी के सम्पर्क से जहाँ तक संभव हो दूर रहना उचित है, क्योंकि वह भजन में विघ्नरूप है। जिसको जितनी उत्कट आकांक्षा होगी, प्राप्ति उसके लिए उतनी निकट जाननी चाहिये; अतएव आकांक्षा को हृदय में रख कर हृदय से आशा के कण तक का त्याग कर देना चाहिये, अर्थात् आशा न रखकर केवल आकांक्षा बढ़ानी चाहिये।

(ग) एकान्त-वास इस साधन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। जितने अधिक समय तक सम्भव हो, निर्जन स्थान में रहने की कोशिश करनी चाहिये। लोगों के संसर्ग से यथासम्भव दूर रहना चाहिये, क्योंकि उससे शक्ति का क्षय होता है। एकान्त स्थान में रहते समय ऐसे रहना चाहिये, जैसे कि कोई देख न पावे। शरीर को चाहे जिस प्रकार से ही क्यों न हो, स्थिर रखने का अभ्यास करना उचित है। गाडा हुआ खम्भा जैसे निश्चलरूप से खड़ा रहता है, वैसे ही देह को भी निश्चल रूप से स्थिर रखने की चेष्टा करनी चाहिये।

(घ) देह-स्थिति के साथ ही साथ मन को सदा यथाशक्ति भौहों के बीच में धारण करने की चेष्टा करनी चाहिये। इसी के सहायक रूप से निमेष और उन्मेष-विहीन-अवस्था की प्राप्ति के लिए नेत्रों के पलक, जैसे दीर्घ काल तक न गिरें, उस ओर दृष्टि रखनी चाहिये। इसका नाम 'निमेष-वर्जन' है। अभ्यास के समय तन्द्रा और निद्रा का आक्रमण किसी प्रकार न हो, इस सम्बन्ध में सावधान रहने की आवश्यकता है। निमेष-पात (पलक गिरना) और क्षणभर के लिए तन्द्रा का आना आदर्श-प्राप्ति में विघ्न-भूत हैं। निमेष या पलक गिरने की आशङ्का होने पर नेत्रों को ढीला रखना ठीक है। दीर्घकाल के अभ्यास से अपनी इच्छा के अनुसार 'निमेष-वर्जन' अपने अधीन हो जाता है, यह एक ऊँची अवस्था है। इस तरह मन स्थिर हो जाता है, वायु स्थिर हो जाता है एवं आकांक्षा न होने पर भी सब सिद्धियाँ हस्तगत हो जाती हैं। आरोप-साधक कृत्रिम रूप से प्राणायाम या कुम्भक आदि का अभ्यास नहीं करते। उनका प्राण-वायु स्वाभाविक रीति से उपशान्त होता है। उसके लिए उन्हें हठयोग आदि से होने-वाली प्राणायाम-क्रिया की आवश्यकता नहीं होती।

[४]

मन, वायु और दृष्टि स्थिर होने की बात पहले कही गई है। जब यह स्थिति

प्राप्त हो जाय, तभी आगे की साधनाओं का अनुष्ठान करना चाहिये, उससे पहले नहीं। उसका नाम 'लक्ष्यवेध' है। लक्ष्य किसे कहते हैं। साधक के हृदय में स्थित गुरुप्रदत्त इष्टरूप ही लक्ष्य है। उक्त अन्तःकरण में स्थित रूप को दोनों नेत्रों के बाहर खींच लाना चाहिये, एवं सामने किसी स्थान में स्थापित करना चाहिये। जो हृदयाकाश में गुप्त रूप से रखा था, उसे बाहर निकाल कर बाह्याकाश में प्रकट रूप से स्थापित करना चाहिये। हृदयाकाश[1] और बाह्याकाश की जो सन्धि है, वही लक्ष्य-स्थापन का उपयुक्त स्थान या केन्द्र है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से अधिक प्रकाश डालकर रहस्य व्यक्त करना मुझे उचित प्रतीत नहीं हुआ। सन्धि के उस पार स्थिर-वायु है और सन्धि के इस पार चञ्चल वायु है। चञ्चल वायु की सीमा के बाहर स्थिर वायु की प्रान्त-भूमि में लक्ष्य की स्थापना करनी चाहिये। साथ ही साथ पूर्वोक्त प्रणाली से भौहों के बीच में स्थिर हुए मन को भी उस जगह बैठाना चाहिये। निमेष त्याग करने का अभ्यास पहले ही सिद्ध हो चुका है, इसलिए इस बार दृष्टि को निमेष-त्यागपूर्वक पूर्वोक्त लक्ष्य-स्थान पर लगाना चाहिये। इससे मन, नेत्र और लक्ष्य एकीभूत होकर प्रकाशित होंगे। इसका नाम लक्ष्य-वेध[2] है। लक्ष्यवेध के समय मन में जैसे अन्य भाव न रहे एवं दृष्टि में कुछ न भासे, इसके लिए सावधान रहने की जरूरत है।

[५]

लक्ष्य-वेध के भली भाँति निष्पन्न हो जाने पर साधक के हृदय में स्थित रूप बाहर दृष्टि के सामने प्रकट हो जाता है। रूप के दृष्टिगोचर होते ही उसके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गों का दर्शन कराना आवश्यक है। साधक-समाज में इसके लिए एक विशेष प्रक्रिया का विधान है। पहले उस बाह्याकाश में स्थित मूर्ति के पैर के तलवे से क्रमशः ऊपर के प्रत्येक अङ्ग पर साग्रह दृष्टि लगानी चाहिये। इस प्रकार मस्तक के ऊपर केशों के अग्र तक निरीक्षण करना चाहिये। इसका नाम अधः-ऊर्ध्व-क्रम है। इसके बाद ऊपर से नीचे की ओर अर्थात् केशों के अग्रभाग से लेकर पैर के तलवे तक क्रमशः प्रत्येक अङ्ग के ऊपर दृष्टि लगानी पड़ती है। इस प्रकार एक बार अनुलोम से और एक बार विलोम से बार बार अभ्यास करना आवश्यक है। नेत्रों की कोमल और सरलरूप से रक्षा करते हुए, दृष्टि लगानी चाहिये। उद्देश्य यह है कि बाहरी रूप के प्रत्येक अङ्ग जैसे दृष्टि के सामने निरन्तर भासता रहा वैसे अभ्यास में भासे। अभ्यास के समय क्रम का अवलम्बन कर एक अवयव के बाद दूसरे अवयव का निरीक्षण करना पड़ता है, यह यद्यपि सत्य है; किन्तु भली भाँति अभ्यास हो जाने पर सभी

१. यह योगियों के परिचित लक्ष्यत्रय के अन्तर्गत बहिर्लक्ष्य का एक प्रकारमात्र है।

२. मुण्डकोपनिषद् में दूसरे प्रकार से लक्ष्यवेध का विवरण दिखाई देता है। ब्रह्म ही साधक का लक्ष्य है, आत्मा ही शर है एवं प्रणव ही धनुष है। प्रणव से ही ब्रह्म में आत्मा को प्रविष्ट कराना पड़ता है। लक्ष्यवेध का दृष्टान्त सूतसंहिताकार ने इस प्रकार दर्शाया है—

"लक्ष्यं सर्वगतं चैव परोक्षं सर्वतो मुखम्।
वेद्धा सर्वगतश्चैव विद्धं लक्ष्यं न संशयः॥"

अङ्ग एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं, क्रमिक-दर्शन की फिर आवश्यकता नहीं रहती। यदि कभी किसी कारण से कोई अङ्ग दृष्टि के सामने न भासे तो उस अङ्ग पर पुनः दृष्टि डालनी चाहिये। जब तक सब अङ्गों का एक साथ भास न हो तब तक इसी तरह अभ्यास करते करते आगे बढ़ना चाहिये। इस रूप-सन्धान कार्य में समय-असमय अथवा शुचि-अशुचि का कोई विचार नहीं है। इसे सदा ही करना चाहिये—सोते, बैठते, चलते, रुकते, सदा इसे करना चाहिये, किसी समय भी छोड़ना नहीं चाहिये।

दीर्घकाल के अभ्यास से बाहरी रूप के सब अङ्ग जब एक ही समय दृष्टि में भासेंगे, तब अखण्ड मण्डलाकारता से सारा शरीर प्रकाशित होगा एवं शरीर प्राणयुक्त अर्थात् सजीव रूप से प्रतिभासित हो उठेगा। उस अवस्था में साधक के नयनों के साथ साध्य-रूप के नयनों का सम्मिलन होगा। इन चार नयनों के सम्मिलन को ही शुभ-दृष्टि समझना चाहिये। उस समय से साधक और साध्य या इष्ट दोनों के लिए दोनों में अस्थिरता अथवा चञ्चलता पैदा होती है। इष्ट जब तक प्राणमय न हो, तब तक इस प्रकार चञ्चलता नहीं होती है। वास्तव में उपास्य मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा होने पर वह ऐसा ही होता है। प्राणप्रतिष्ठा यदि न हुई तो मूर्ति केवल मूर्ति ही है, वह चाहे मिट्टी की हो, चाहे पत्थर की हो, चाहे लकड़ी की हो अथवा चाहे ज्योतिर्मय हो, कुछ आता जाता नहीं है। बाह्य रूप जब तक प्राणमय नहीं होता, तब तक वह साधक की भावना के अनुसार अपना प्रभाव दिखाने में समर्थ नहीं होता।

[६]

तदुपरान्त भाव का उदय होता है। साधक उस समय आनन्द में आत्म-विस्मृत होकर अपने शरीर, मन और वचन को यहाँ तक कि अपने सर्वस्व को, अपने चौबीस तत्त्वों से बने शरीर को भी इष्ट को समर्पण करता है। इस प्रकार उस समय से उसकी ही शरण गहता है। उससे साधक उस सजीव इष्ट रूप को सदैव देखता है। वेद में प्रतिपादित है—'सदा पश्यन्ति सूरयः।' यह कुछ अंशों में उसी के अनुरूप अवस्था है। जब तक रूप में प्राण-प्रतिष्ठा के अनन्तर साधक के हृदय में भाव का जागरण नहीं होता, तब तक वह रूप भली भाँति चेतन रूप नहीं होता एवं वह सदा दृष्टिगोचर भी नहीं होता। कभी वह दृष्टिगोचर होता है, फिर कभी दृष्टि से ओझल हो जाता है। सूर्य का जिस प्रकार एक बार उदय होता एवं एक बार अस्त होता है, तदुपरान्त कुछ समय अदृष्ट रहने के बाद पुनर्वार उदय होता है, वह रूप भी उस समय उदय-अस्तमय द्वन्द्व-अवस्था में रहता है। शास्त्र में इस प्रकार का रूप शान्तोदित-रूप कहा गया है। किन्तु साधक के हृदय में भाव के जाग उठने पर इस अवस्था में परिवर्तन हो जाता है। उस समय आविर्भूत हुआ रूप चिन्मय है, इसलिए फिर वह तिरोहित नहीं होता। वास्तव में उस समय उस रूप का न उदय होता है और न अस्त ही होता है—शास्त्रीय परिभाषा में उसका नाम नित्योदित रूप है।

रात्रि में, दिन में, निद्रा में, जागरण में, शयन में, भोजन में, सभी समयों में, आसन पर बैठ कर, यहाँ तक कि मार्ग में चलते चलते, साधक को सदा अपने नित्य

संगी इष्ट के दर्शन प्राप्त होते हैं। उस समय साध्य के साथ साधक का विच्छेद सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। संसार के सुख-दुःख और शोक-रोगों की यन्त्रणाएँ उसे फिर कदापि स्पर्श नहीं करती हैं, आघात पहुँचाना तो दूर की बात है। उस समय साधक का मन सदा साध्य-वस्तु में संलग्न रहता है, पहले की तरह बाहर ही बाहर घूम कर भटकता नहीं है। जगत् का कोई भी ऐश्वर्य-सुख अथवा मान-सम्मान साधक को आकृष्ट नहीं कर सकते। उस अवस्था का एक अपूर्व आनन्द का आस्वादन सदा के लिए साधक को अपने में डुबाये रखता है। वास्तव में सारी सृष्टि में उस आनन्द की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। शोक, मोह, जरा, मृत्यु और भूख-प्यास फिर साधक के ऊपर आक्रमण नहीं कर सकतीं। उस समय क्षोभ अथवा भय या सब तरह के विकार साधक के हृदय से हट जाते हैं। वास्तव में सभी वृत्तियाँ उसकी रहती हैं, परन्तु उसकी अधीन होकर दासरूप में। साधक के ऊपर उनका किसी प्रकार का प्रभुत्व नहीं रहता। साधक यदि चाहे तो उन्हें जगा कर उनके साथ क्रीडा कर सकता है।

उस समय भक्त इच्छामय और स्वतन्त्र है, और नित्य भगवत्संग का संगी है एवं उनके भाव में सराबोर है, उस समय उसमें अतुल शक्ति का विकास होता है। यद्यपि वह प्रकट नहीं होती है तथापि साधक अपने को उस समय भगवान् के तुल्य सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् समझता है। नियति की परतन्त्रता अथवा अन्य किसी खण्ड-शक्ति की अधीनता उसमें फिर नहीं रहती। उस समय भक्त भगवान् के साथ समता से स्थित होता है।

[७]

किन्तु यद्यपि भक्त भगवान् की समता प्राप्त करता है तथापि भक्त विशुद्ध अभिमान से 'मैं दास हूँ' यों अपने में दासत्व का अभिमान करता है 'मैं प्रभु हूँ' यों प्रभुत्व का अभिमान नहीं करता। उस समय भक्त की आत्मा और भगवान् की आत्मा एक ही अभिन्न आत्मस्वरूप से प्रकाशित होती है। फिर भी भक्त व्यवहारभूमि में आरोपित-भेद अथवा आहार्य-भेद मानकर दास-प्रभुभाव अक्षुण्ण रखता है। उस समय साधक एक अद्वितीय नित्यानन्दमय वस्तु है, इसीलिए अपने को सब रसों का आश्रय जान सकता है। उस अवस्था में विशुद्ध अद्वैतभूमि में स्थिति होती है, इसलिए इच्छा होने पर भक्त अपना आस्वाद स्वयं ले सकता है। यदि इच्छा न हो तो जैसा हो वैसा ही रहता है। इच्छा की दशा नित्य है और इच्छा न करने की दशा भी नित्य है, उस समय दोनों की ही समानरूप से अवस्थिति रहती है।

यदि इच्छा का उदय हुआ तो इच्छा के साथ ही आत्मा की ह्लादिनी शक्ति प्रकट होती है। यह आत्मा की स्वरूपशक्ति है। जिसके द्वारा आत्मा अपने आनन्द का स्वयं आस्वाद लेता है। कृष्णभक्तों की परिभाषा में इसी का नाम राधा है एवं राम के उपासकों की दृष्टि में इसी का नाम सीता है। ह्लादिनी जब तक प्रकट नहीं होती तब तक इच्छा का उदय नहीं होता। ह्लादिनी के प्रकट होने पर रमण के

लिए साकार और निराकार दोनों सत्ताओं का योग होता है। साकार और निराकार के युक्त हुए बिना आत्माराम अवस्था प्राप्त नहीं होती। ज्योति अथवा पुरुष निराकार है, आधार अथवा प्रकृति साकार है। ह्लादिनी शक्ति की क्रिया के बिना पुरुष और प्रकृति परस्पर मिलकर आत्माराम-स्वरूप में स्थिति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। ह्लादिनी का स्वभाव अत्यन्त शीतल है। उसका काम सब तरह से आनन्द से मूल का स्रोत बहाना है। इस बार ह्लादिनी-शक्ति की सहायता से पुरुष की प्रकृति के योग से पूर्ण आत्मस्वरूप में स्थिति हुई। यही यथार्थ अद्वैत अवस्था है, जिसका नामान्तर सच्चिदानन्द है। पहले प्रारम्भिक आत्मसाक्षात्कार के प्रसंग में जिस आत्मा का वर्णन किया गया है। वह प्रकृतिविमुक्त-आत्मा अथवा रिक्त-आत्मा है। इस समय जिस आत्मस्वरूप का वर्णन किया गया है, वह प्रकृतियुक्त-आत्मा या पूर्ण आत्मा है।

पूर्ण आत्मा एक है। जिस समय इस मूल एक स्वरूप में स्थिति होती है, उस समय अभेद अथवा अद्वैत-स्थिति कही जाती है—वह लीलातीत स्वरूपस्थिति है। यह पूर्ण है—पूर्ण होने से ही अग्नि से चिनगारियों की तरह इससे स्वभावतः भेद का आविर्भाव होता है। यही उनका अपनी शक्ति का खेल है। इस भेदांश का आविर्भाव अभेद के ऊपर प्रतिष्ठित है। इसलिए एक प्रकार से इसे भेदाभेद कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी यही नित्य लीला की धारा है।

एक धारा और है। उस धारा में अपने स्वातन्त्र्य के बल से अभेद और अद्वैत अपने को छिपाकर दूसरे रूप में प्रकट होते हैं। उस धारा में अभेद-भाव गुप्त अथवा विस्मृत रहता है, इसलिए वह संसार की धारा में गिनी जाती है। पूर्ण से कला का आविर्भाव होने से अहं-ज्ञान का उदय होता है। यही द्वैतधारा या संसारधारा का प्रारम्भिक मूल स्रोत है। ह्लादिनी शक्ति षोडशी कलारूप अमृतकला है, किन्तु अहं-ज्ञान षोडशी कला से नहीं होता है, खण्डकला से होता है, क्योंकि कला जहाँ पूर्ण रहती है, वहाँ प्रकाश भी पूर्ण होता है। प्रकाश पूर्ण होने के कारण वहाँ अहंज्ञान का उदय नहीं होता, अर्थात् अहंज्ञान पैदा नहीं होता है। जो है वह परिपूर्ण रहता है, अहंभाव अहंकार नहीं है। अहंकार के रहने पर उसके प्रतियोगी के रूप में इदंभाव की सत्ता रहती है। अहंकार से अज्ञान अथवा मोह आविर्भूत होकर पुरुष को मोह में डालता है और ज्योति को आवृत कर डालता है। उस समय वह मोहग्रस्त पुरुष कर्मों के वशवर्ती होकर निरन्तर चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटता रहता है। उसके बाद सद्गुरु की कृपा से तत्त्वदर्शन होने पर साधनपथ में चलता रहता है और क्रमशः साधनसम्पन्न हो प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय के अनन्तर सिद्धि को प्राप्त होता है और अखण्ड सुख का अधिकारी होता है।

[८]

आनन्द के स्वरूपका विश्लेषण करने पर ज्ञात हो जाता है कि संक्षिप्तरूप से आनन्द का तीन श्रेणियों में विभाग किया जा सकता है। पहला ब्रह्मानन्द, दूसरा भजनानन्द और तीसरा जीवानन्द। ब्रह्मानन्द अखण्ड आनन्दस्वरूप है, किन्तु उसमें

कुछ आपादन नहीं है; क्योंकि अपने को अपने से कुछ विभक्त किये बिना अपना आस्वादन नहीं किया जा सकता। जीवानन्द में आस्वादन है, किन्तु वह परिमित और विनाशी है। इस आनन्द की क्रमिक वृद्धि होती है, परन्तु पराकाष्ठा नहीं। वस्तुतः यह आनन्द स्वरूप-दृष्टि से भोगानन्द होने के कारण दुःख के ही अन्तर्गत है। आरोप-साधकगण कहते हैं कि जीवानन्द सर्वदा हेय है, उनके मत में ब्रह्मानन्द भी उपादेय नहीं है। वे भजनानन्द को श्रेष्ठरूप में गिनते हैं। ब्रह्म में लीन जीव का आनन्द आम की गुठली के साथ तुलना करने योग्य है, जो वास्तविक रसास्वाद है वह गुठली में नहीं है, छिलके में भी नहीं है, वह गुटली और छिलका—दोनों के मध्य में है। वही रस-पदार्थ है। बुद्धिमान् साधक दोनों छोर के दोनों का त्याग कर बीच की रसवस्तु का ग्रहण करते हैं। वास्तव में गुठली में भी रस नहीं है छिलके में भी रस नहीं है। भजनानन्द प्रेम है, वही आस्वादन की वस्तु है।

साधक पूर्वोक्त प्रणाली से पूर्ण कलासम्पन्न होकर अपना आस्वादन करने के लिए अपने से अभिन्न अखण्ड स्वरूप में स्थित रह कर भी अपने से अपने को पृथक् कर लेता है। उस समय प्रभु दो से एक होकर एक स्वरूप में स्थित रहना चाहते हैं, क्योंकि वस्तुतः सत्ता तो एक ही है; किन्तु दास प्रभु के साथ एक होना नहीं चाहता। वह जानता है कि यद्यपि दोनों की सत्ता एक ही है, तथापि वह स्वयं भिन्न होकर प्रत्येक क्षण में उन्मेष तथा नूतन-नूतन सुख, जिसके दर्शन से टपकता है, उन्हीं का साक्षात्कार करना चाहता है। वह स्वरूपतः सनातन जानकर भी प्रतिक्षण नवीन-नवीन—नित्य नवीन—की आकांक्षा करता है। वह ब्रह्म में लीन होना नहीं चाहता, वह प्रभु के बराबर होना भी नहीं चाहता है। वह जो चाहता है वह भगवान् शङ्कराचार्यजी की भाषा में यही है—'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।' तब दासभाव दासीभाव में परिणत हो जाता है, वह देखता है एक पुरुष है, शेष सब प्रकृतियाँ—दासियाँ—हैं। जीव और अजीव सभी प्रकृति हैं। सबके शरीर में केवल एक ही पुरुष विद्यमान है। देह ही प्रकृति हैं। अथवा वह देखता है एक अखण्ड अद्वैत माँ या महाशक्ति है, शेष सभी उनकी सन्तान हैं। शिव भी उनकी सन्तान है, जीव भी उनकी सन्तान है। असली बात यह है, वह देखता है कि वह एक ही अद्वैत आत्मा स्वयं विद्यमान है। वे एक होते हुए भी अनन्त रूपों और अनन्त भावों से अपने साथ स्वयं क्रीडा कर रहे हैं। इस एक में उनके सब भेदों का समन्वय हो जाता है। यही आरोपसाधना की चरम-सिद्धि है।

परम पथ का क्रम

रुचि, प्राक्तन-संस्कार, अधिकार-सम्पत्ति आदि की विचित्रता से भगवत्प्राप्ति के साधन विविध प्रकार के हुआ करते हैं। कोई मार्ग अपेक्षाकृत सरल है तो कोई पथ टेढ़ा-मेढ़ा और लम्बा है, यही शास्त्र का सिद्धान्त है। महात्माओं का व्यक्तिगत अनुभव भी इस विषय में साक्षी है। इसीलिए शास्त्र में जिज्ञासु कर्मठ साधकों के ज्ञान-सौकर्य के लिए परमार्थ समस्त उपायों का स्थूलरूप से तीन श्रेणियों में विभाग किया गया है। प्रत्येक आधार में अपनी अलग-अलग विशिष्टता रहती है, इसलिए एक ही प्रकार की साधना-पद्धति सबके लिए उपयोगी नहीं हो सकती।

जो उच्च अधिकारी हैं, उनके लिए जिन उपायों का शास्त्र में विधान है, वे 'शाम्भव' उपाय कहलाते हैं। चित्त को हृदय में स्थापित कर तथा उसकी स्थिरता के प्रतिबन्धक विकल्पराशि को चिन्तनशून्यता के प्रभाव से प्रशान्त कर अविकल्प परामर्श द्वारा देहादि-कालुष्य से अस्पृष्ट निज आत्मा के चित्प्रमातृत्व की निरन्तर भावना करनी पड़ती है। उससे शीघ्र ही तुरीय तथा तुरीयातीत अवस्था का विकास हो जाता है। इस प्रकार विकल्प-त्याग के सिद्ध हो जाने पर एकाग्रता के प्रभाव से क्रमशः ईश्वरभाव की प्राप्ति होती है। क्षोभ का विलय हो जाने पर परम पद अपने आप प्राप्त हो जाता है, इसमें सन्देह नही है। ज्ञानगर्भ-स्तोत्र में महाशक्ति विश्वजननी को लक्ष्य कर इस श्रेष्ठ प्रणाली का संकेत किया गया है—

विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो
विमुक्तकरणक्रियानुसृतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम्।
स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा
दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखामृतस्यन्दिनी॥

अर्थात् हे मातः, मन की सम्पूर्ण क्रियाओं का परिहार कर चुके श्रेष्ठ साधक तुम्हारे अनुग्रह से शीघ्र ही एक परम दशा की अनुभूति प्राप्त करते हैं, जो सब प्रकार के क्रिया-करणों के अनुसरण में परतन्त्रता से मुक्त होकर उज्ज्वल है, और जिससे अनुपम आनन्दरूप अमृत का झरना निरन्तर अविच्छिन्न रूप से झरता है। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्', इसे 'शाम्भव' उपाय के सम्बन्ध का ही दिग्दर्शन समझना चाहिये।

जिन साधको का इससे भी उत्कृष्ट अधिकार है, अर्थात् परमेश्वर की तीव्रतम अनुग्रह-शक्ति का संचार जिसके ऊपर हुआ है, वे केवल एक बार गुरु के मुँह से आत्म-स्वरूप की उपदेशवाणी सुन कर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में स्थिरता प्राप्त करते हैं, वे

जान सकते हैं कि लौकिक अथवा अलौकिक किसी भी उपाय से शिवरूपी नित्यसिद्ध स्वप्रकाश आत्मा का प्रकाश नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि आत्मा में आवरण न होने से उसके द्वारा आवरण-निवृत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। एकमात्र आत्मा ही सदा सर्वत्र विद्यमान है, इसलिए द्वितीय सत्ता के अभाव से आत्मस्वरूप में अनुप्रवेश की कोई सम्भावना ही नहीं है। वे समझ सकते हैं कि सब कुछ एक अखण्ड चिद्रूपिणी महासत्ता का प्रकाश है। वह प्रकाश देश, काल, उपाधि अथवा आकृति द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। शब्द द्वारा उसका निर्देश नहीं किया जा सकता और प्रमाण द्वारा उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। वह स्वातन्त्र्यमय परम तत्त्व है। वही हमारा वास्तविक स्वरूप है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् दर्पण में प्रतिबिम्बित दृश्य के समान स्पष्ट प्रतिभासमान हो रहा है। चित्त में इस प्रकार के विवेक का उदय होने पर स्वप्रकाश शिवभाव का आवेश सर्वत्र क्षणमात्र में सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार के साधक को मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि बन्धनों की आवश्यकता नहीं रहती।

पहले जिस उत्तम साधक का उल्लेख किया जा चुका है उसकी योग्यता के उत्कृष्ट होने पर भी इस प्रकार के अति उत्तम विरल साधक की योग्यता की अपेक्षा उसे कुछ न्यून कहना ही होगा। इस कारण उसे अखण्ड-मण्डलरूप महाप्रकाशमय आत्मस्वरूप में प्रवेश पाने के लिए कुछ सहायता अपेक्षित होती है। इस सहायता को उत्तम साधक अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से भलीभाँति प्राप्त करते हैं, एवं इसके प्रभाव से निर्विकल्प शिवभाव में स्थिति प्राप्त होती है। उस समय वह अपनी आत्मा में समग्र जगत् को अपने विमर्शरूप अर्थात् शक्ति-रूप में भासमान देख सकता है। इस प्रकार के साधक के लिए भी मन्त्र, पूजा, ध्यान आदि की कोई आवश्यकता नहीं है।

किन्तु मध्यम-अधिकारवाला साधक इससे निम्न-स्तर में स्थित है, उसे सत्तर्क, सदागम और सद्गुरूपदेश का अवलम्बन कर भावना के बल से क्रमशः विकल्प का संस्कार करना पड़ता है। अति उत्तम और उत्तम अधिकारी के स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करने में क्रम नहीं रहता—वह अक्रम रूप से एक क्षण में ही निष्पन्न हो जाता है, किन्तु मध्यम और अधम अधिकारी को जो सिद्धि प्राप्त होती है, वह क्रम के अधीन है। पर मध्यम-साधक का विकल्प अन्य किसी उपाय की अपेक्षा न कर स्वयं ही अपना संस्कार करता है, अर्थात् अपने आप ही विकल्प शुद्ध होकर दूसरे गुणों की उत्पत्ति करता है, इस कारण वह विकल्प उस समय बद्ध जीव के चित्त-धर्म के रूप में नहीं गिना जाता, किन्तु शुद्ध विद्या के अनुग्रह से वह साक्षात् भगवत्-शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है और भगवत्प्राप्ति के मुख्य उपायों में उसकी गणना होती है। उससे शक्ति-ज्ञान का आविर्भाव होता है। विरुद्ध अन्य विकल्प के उदित हुए बिना शाक्त उपाय के द्वारा ही विकल्पों का शोधन हो सकता है। विकल्प शुद्ध होकर अवि-कल्प के रूप में परिणत होते हैं।

किन्तु जिस समय विकल्प स्वयं अपने को शुद्ध नहीं कर सकता एवं अपनी शुद्धि के लिए अन्य किसी उपाय का अवलम्बन करने को बाध्य होता है, उस समय

समझना होगा कि साधक मध्यम श्रेणी के अन्तर्गत है। वहाँ पर सीमित (परिमित) सत्ता की सहायता लेना आवश्यक है। वह परिमित सत्ता बुद्धि हो सकती है, प्राण हो सकता है अथवा देह या बाह्य पदार्थों में से कोई भी वस्तु हो सकती है, यह साधक की व्यक्तिगत स्थिति पर निर्भर है। अधम साधकों में जो बुद्धि का अवलम्बन कर विकल्प-शुद्धि करने के लिए अग्रसर होते हैं, उन्हें ध्यान-मार्ग में अग्रसर होना पड़ता है। ध्यान के स्वरूप और प्रकार-भेद के सम्बन्ध में आलोचना करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। किन्तु जो लोग सूक्ष्म अथवा स्थूल प्राण का आश्रय लेकर विकल्पों का संस्कार करने के लिए उद्यत होते हैं, उन्हें उसके अनुरूप मार्ग में चलना पड़ता है। स्थूल प्राण की प्राण आदि जो सब वृत्तियाँ हैं, उनको सामूहिक रूप में उच्चारण कहा जाता है। यह प्राण की क्रिया का ही नामान्तर है। सूक्ष्म प्राण वर्णात्मक है, उसका भी उच्चारण होता है, किन्तु उसकी चर्चा करना वर्तमान निबन्ध का लक्ष्य नहीं है। अधम-साधक अपने-अपने शरीर का अवलम्बन कर साधन-पथ के पथिक होते हैं, उन्हें नाना प्रकार के आसन, बन्ध, मुद्रा, करण आदि का अवलम्बन कर विकल्पों का संस्कार करना पड़ता है। अधम श्रेणी में ऐसे भी साधक हैं, जिनका अधिकार इतना स्वल्प है कि वे साक्षात् रूप से अपने शरीर का भी अवलम्बन नहीं कर सकते। उन्हें बाह्य पदार्थों का अवलम्बन कर उपासना के पथ पर अग्रसर होने की चेष्टा करनी पड़ती है।

इन सब विभिन्न उपायों के द्वारा यथासमय आणव-ज्ञान का उदय होता है।

पहले जिन उपायों का निर्देश किया गया है, उनमें से किसी भी उपाय से अभ्यासात्मक भावना द्वारा उच्चार, करण आदि दैहिक उपायों की सहायता से जो साधक परम-तत्त्व में प्रवेश पाने की इच्छा करते हैं, उनमें बहुत-से अवश्यम्भावी लक्षण प्रकट होते हैं। केवल इच्छा करने पर ही इस अवस्था का उदय हो जायगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। योग्यता-लाभ के अनन्तर यदि साधक की अभिलाषा हो और पूर्ण का स्पर्श या उन्मुखता का योग हो तो उक्त लक्षणों का आविर्भाव होता है। पूर्ण के आभासमात्र से यह (लक्षण का आविर्भाव) होता है। यदि पूर्ण का आवेश हो तो पूर्णता ही प्रकट हो जाती है।

पूर्ण के स्पर्शमात्र से ही पहले हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द का उदय होता है। स्वात्मा के साक्षात्कार के साथ ही साथ एक अपूर्व चमत्कार का आविर्भाव होता है, जिसे आनन्द के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। तदनन्तर जैसे बिजली गिरने पर सब वस्तुएँ अपना स्वरूप छोड़कर बिजली सी हो जाती हैं, वैसे ही परम-तत्त्व में क्षणभर के लिए भी समाविष्ट होने पर स्पष्ट रूप से देहादि में आत्म-बोध हट जाता है और निम्न अवस्था से एक प्रकार की पृथकता प्राप्त हो जाती है। उसी के साथ-साथ परमधाम की ओर ऊर्ध्वगति या अधिरोहण आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार की ऊर्ध्वगति का पारिभाषिक नाम 'उद्भव' है। यह देहातीत अवस्था है। एक-एक क्षण के समावेश का इतना गम्भीर प्रभाव है। यदि सुदीर्घ काल तक समावेश स्थायी रह जाय तो पूर्णत्व की ही प्राप्ति हो जाती है।

देह और चैतन्य रूपी आत्मा या संवित् यद्यपि स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं तथापि अनादि काल के अध्यास से पूर्व-पूर्व जन्मों से उनकी अभिन्न रूप से प्रतीति होती है। यह कितने जन्मों की अभ्यास-धारा है, यह कहना सम्भव नहीं है। पूर्वोक्त 'उद्भव' अवस्था का आविर्भाव होने पर आत्मा तथा देहादि के बीच जिस एकता की प्रतीति अनादि काल से चली आ रही है, वह नहीं रहती। उस समय वे दोनों परस्पर पृथक् हैं, ऐसा ज्ञान हो जाता है। शुद्ध-दृष्टि में इसी का नाम विवेक-ज्ञान है।

इसके पश्चात् एक क्षण के लिए चैतन्य रूपी आत्मा का स्व-स्वरूप-बल प्रकाशित होता है। यही महावीर्य-स्वरूप अहन्ता है। देह या जड़ सत्ता से आत्मा के पृथक् होने पर उसका निज बल प्रकट हुए बिना नहीं रह सकता। इतने दिनों तक अनात्म-वस्तु में अहं-अभिमान रहा, परन्तु इस समय विवेक-लाभ के अनन्तर आत्म-स्वरूप में यह अहंरूपी अभिमान प्रकट हुआ है। इसके प्रभाव से अनात्मा में आत्माभिमान शिथिल हो गया। उस समय देह आदि विनश्वर होने के कारण काँपने लगते हैं। इतने दिनों तक उनमें जो दृढ़ता रही, वह शिथिल हो जाती है। इस अवस्था का नाम है—'कम्प'।

इस प्रकार इतने दिनों तक चैतन्य के साथ देह का जो एकताभिनिवेश रहा, उसकी निवृत्ति होने के बाद शुद्ध-चैतन्य की अभिमुखता के प्रभाव से एक ऐसी अवस्था का उदय होता है, जो बाह्य-दृष्टि से निद्रा के सदृश प्रतीत होती है। उस समय बाह्य वृत्तियों का उपरम हो जाता है और किसी प्रकार से आन्तर अनुभूति का भी स्पष्टरूप से उदय नहीं होता। इसीलिए स्थूल दृष्टि से यह अवस्था निद्रा के तुल्य है। जब तक साधक आत्मस्वरूप में ठीक तरह से प्रतिष्ठित या रूढ़ न हो सके, तब तक यह अवस्था रहती है। रूढ़ि अथवा स्वरूपप्रतिष्ठा के सिद्ध हो जाने पर और भी भिन्न-भिन्न लक्षण प्रकाशित होते हैं। यह रूढ़ि वस्तुतः परम चैतन्य-स्वरूप सत्य-पद में अधिष्ठान का ही नामान्तर है। इसके सिद्ध होने पर एक अभिनव साक्षात्कार का उदय होता है। उस समय जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप चैतन्य ही दीख पड़ता है। यहाँ ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो चैतन्य से अतिरिक्त या पृथक् हो। इस प्रकार सर्वत्र चैतन्यमय आत्मा का साक्षात्कार होने पर एक महादशा का आविर्भाव होता है, जिसे प्राचीन आचार्य 'घूर्णि' कहते हैं। यह स्पन्दनरूप महाशक्तिमयी अवस्था में प्रवेश है। इसी का दूसरा नाम 'महाव्यक्ति' है। इसके प्राप्त होने पर योगी सर्वदा सृष्टि-संहारकारी बन कर परम परमेश्वर-पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। यही परम शिव की अवस्था है।

कुछ लोग समझते हैं कि देहादि अनात्मवस्तुओं में जो आत्मबुद्धि है, वही बन्धन है; यह बात सत्य होने पर भी पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि आत्मा में अनात्माभिमान के उदित होने के अनन्तर ही अनात्मा में आत्माभिमानको बन्धन कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसका कारण यह है कि आत्मस्वरूप में संकोच का उदय न होने पर भी स्वातन्त्र्य के बल से आत्मा अनात्मा में 'अहम्' अभिमान कर सकता है। इस अवस्था में आत्म-स्वरूप के बोध की प्रच्युति नहीं होती। इसलिए यह लीलारूप अवस्था है, बन्धन नहीं है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये। पूर्वोक्त बन्धन का

विनाश ही वास्तविक मुक्ति है। पूर्णवर्णित अनात्म-बोध की निवृत्ति मुक्ति का पूर्ण स्वरूप नहीं है। बन्धन दो प्रकार के हैं—एक आत्मा में अनात्माभिमान और दूसरा अनात्मा में आत्माभिमान। इसीलिये सृष्टि के पूर्व जब परमेश्वर अपनी इच्छा से संकुचित होकर अणुरूपी पशु बन जाते हैं, तब उनके इस आणव-रूप के संकोच से दो अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, अर्थात् पशुभाव के दो अवान्तर भेद हैं—

(क) एक में चिदात्मक-बोध अक्षुण्ण रहता है—यही परमेश्वर का स्वरूप है, परन्तु इसमें बोध की अनुगामिनी स्वातन्त्र्य-शक्ति नहीं रहती, अर्थात् निष्क्रिय बोधरूपी चिदणु रहता है, यह एक प्रकार का पशु है। इस श्रेणी के पशुओं में कर्म-संस्कार तथा माया का आवरण नहीं रहता, केवल शुद्ध माया या महामाया का आवरण रहता है। क्रियाशक्ति का विकास न रहने के कारण ऐसी अवस्था है, वह शिव की अवस्था नहीं है। भगवत्साधर्म्य उनमें नहीं रहता।

(ख) दूसरे प्रकार के पशुओं में स्वातन्त्र्य-शक्ति तो अक्षुण्ण रहती है, परन्तु बोध नहीं रहता। यह अचित् यानी जड अवस्था है। ये बोधहीन और क्रियाहीन अणु कर्मसंस्कार से लिपटे हुए माया के गर्भ में सुप्तवत् पड़े हैं। काल के प्रभाव से मायिक सृष्टि के उदय के समय वे मायिक देह प्राप्त कर कर्म-संस्कार के अणुरूप फलभोग के लिए भोगायतन शरीर प्राप्त करते हैं, और चतुर्दश भुवनात्मक संसार में विचरते रहते हैं। अतएव पूर्वोक्त दो प्रकार के पशुभाव से ही कर्म-आवरण और माया-आवरण अभिव्यक्त होते हैं।

इस बन्धन के लय का क्रम यों है—

१. पहले देहादि अनात्म-वस्तु में आत्माभिमान का लय,
२. तदुपरान्त चैतन्य रूपी स्वात्मा में अभिमान का उदय। इसी का नाम आत्मशक्ति का उन्मेष है।
३. तदनन्तर आत्मा में अनात्माभिमान का विनाश,
४. अन्त में महाव्याप्ति अथवा परमैश्वर्य का लाभ।

देहादि में अनात्माभिमान के विगलित होने पर आत्मा में ही आत्माभिमान उदित होता है, यह बात सत्य है; किन्तु यह एक ही क्षण के लिए होता है। तदनन्तर व्युत्थानादि के समय पूर्व की अवस्था लौट आती है। उसके पश्चात् देहादि में आत्माभिमान साक्षात् भाव से लीन हो जाता है, तदनन्तर उसका संसार भी नष्ट हो जाता है। अन्तिम अवस्था में आत्मा में ही 'अहम्' अभिमान प्रतिष्ठित होता है। यही महाव्याप्ति की अवस्था है।

कोई कोई आचार्य पूर्वोक्त प्रकार की पाँच अवस्थाएँ स्वीकार न कर कम्प, भ्रम आदि दश अवस्थाएँ स्वीकार करते हैं। दशम जो अवस्था है, वह अव्यक्त है। उस अवस्था में शिवतत्त्व में प्रवेश पाने के कारण भवसागर से मुक्ति हो जाती है। क्रम से उक्त पाँच अवस्थाओं का उदय होने से पूर्णता प्राप्त होती है। परन्तु एक-एक अवस्था के उदय से तत्-तत् चक्र का ऐश्वर्य प्राप्त होता है, क्योंकि एक-एक अवस्था में उसके अनुरूप चक्रादि स्वायत्त हो जाते हैं, जैसे कि सर्वव्यापक-बोध के साथ शरीर

अभेदापन्न होने पर निर्दिष्ट स्थान में निर्दिष्ट कार्य यथावत् कर सकते हैं। चक्षु रूप का ही ग्रहण करता है रसादि का नहीं, उसी प्रकार त्रिकोणादि रूप से निर्दिष्ट चक्र में प्रविष्ट होने पर आनन्द आदि विशिष्ट अनुभवों की प्राप्ति होती है। किसी एक अवस्था की प्राप्ति होने पर सर्वानुभव नहीं हो सकता। आनन्द की अभिव्यक्ति का स्थान देहादि में त्रिकोण-चक्र है। इसका दूसरा नाम 'अधोवक्त्र' या 'योगिनीवक्त्र' है। उद्भव नामक अवस्था का विकास क्षेत्र कन्द स्थान है। नाभि के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है। कम्प का उदय-स्थान हृत्-चक्र है। निद्रा का स्थान तालु तथा घूर्णि, महाव्याप्ति का स्थान ऊर्ध्वकुण्डलिनी[१] अथवा द्वादशान्त है। इस महाव्याप्ति स्थान को परमतत्त्व या मन्त्र-भूमि कहते हैं। इसमें प्रवेश करना ही ब्रह्मपुर में प्रवेश है। किसी-किसी आगम के मतानुसार मध्यनाडी-मार्ग का अवलम्बन कर उदान-शक्ति के प्रवाह का आश्रय करते हुए ऊपर की ओर आरोहण किया जाता है। विसर्गान्त अथवा द्वादशान्त पद-पर्यन्त ऊर्ध्वगति चलती रहती है। गति की चरम अवस्था में सब आवरणों से रहित तथा विकल्प-जाल से शून्य मन्त्र-भूमि में प्रवेश प्राप्त होता है। कल्पनाहीन निरावरण चैतन्यस्वरूप ही आत्मा का परम स्वरूप है। पहले अधः-प्रवाहरूपी अपान का निरोध कर ऊर्ध्वागमी प्राण को हटाना पड़ता है। उसके अनन्तर दोनों के संघटन से मध्यमार्ग में गुरूपदिष्ट प्रणाली द्वारा मात्रा का आवर्तन कर सकने से मार्ग-स्थित विभिन्न चक्रों को लाँघने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस प्रकार क्रमशः द्वादशान्त भूमि में महाप्रकाश का अनुभव होता है। नित्योदित आत्मज्ञान के रूप में ही उसका स्फुरण होता है। यह स्फुरण अविच्छिन्न रूप से होता रहता है। वस्तुतः यही परम प्रमाता या शिवरूपी निज आत्मा की वृत्ति का लाभ है। समस्त विश्व का उपशम हो जाने पर जो निस्तरङ्ग स्वात्मवृत्ति है, वही शिवरूप है। केवल अपनी आत्मा में ही विश्रान्ति रहती है, इसीलिए यह शान्त और एक है। आत्मा का विश्वातीत स्वरूप यही है। परन्तु यही वृत्ति अनंतरूपों में बाहर भी उल्लसित है। यह आत्मा का विश्वमय रूप है। यह विश्वात्मिका वृत्ति है। इसीलिए बाह्य रूपों में स्फुरित होने पर भी सर्वदा ही पर-प्रमातृरूप निज-स्वरूप में स्थिति अक्षुण्ण रहती है। इसी लिए कहा जाता है कि आत्मा अनन्त रूपों में प्रकाशमान होने पर भी सर्वदा स्वयंप्रकाशरूप एक ही है।

---

१. ऊर्ध्वकुण्डलिनी देहस्थित मध्य-नाड़ी के ऊर्ध्व-प्रान्त का नाम है। अधःकुण्डलिनी उसी की निम्नतम सीमा है। ऊर्ध्वकुण्डलिनी में शक्ति का पूर्ण विकास होता है, तथा संकोच के पूर्णत्व का स्थान अधःकुण्डलिनी है। नास. के ऊर्ध्व स्पन्दन से क्रमशः सूक्ष्म प्राणशक्ति को जगाकर उसके द्वारा भ्रूमध्य का भेद करते हुए ऊर्ध्वकुण्डलिनी-पद में प्रवेश करना पड़ता है। उसी प्रकार शक्ति को प्रगुणित कर अधःकुण्डलिनी-स्थान का स्पर्श प्राप्त किया जाता है। ब्रह्म-रन्ध्र के ऊपरकी स्थिति ही ऊर्ध्वकुण्डलिनी है, जो उन्मेष को प्राप्त न हुए समस्त विश्व को गर्भ में धारण कर प्रसुप्त सर्प के समान विराजमान है। इसी की भित्ति में सृष्टि का उल्लास होता है। जितने तत्त्व और भुवन हैं, उन सबका यही एकमात्र आधार है। इसके ऊपर व्यापिनी नाम की कला का स्थान है।

भाव-साधना का वैशिष्ट्य

आध्यात्मिक साधन विविध प्रकार के हैं किन्तु साधना-पथ के पथिक होने के पूर्व एक अवस्था सभी को प्राप्त करनी पड़ती है, उसका नाम है—श्रद्धा अथवा विश्वास। जब तक "एक सत्य वस्तु है" ऐसा विश्वास हृदय में जड़ नहीं जमा लेता तब तक मनुष्य के हृदय में उसके अन्वेषण के लिए प्रवृत्ति नहीं हो पाती। यह विश्वास वर्तमान जीवन की अभिज्ञता से उदित हो सकता है अथवा कहीं-कहीं पूर्व-जन्म के शुभ संस्कारों से भी जाग सकता है। यहाँ तक कि पूर्व-जन्म के शुभ-संस्कार न रहने पर भी अचिन्त्य भगवत्कृपा के प्रभाव से भी आविर्भूत हो सकता है। विश्वास की उत्पत्ति, कारण भेद से विभिन्न उपायों द्वारा होने पर भी; विश्वास का स्वरूप एक और अभिन्न है। मात्रा की कमी-वेशी, प्रकार का वैचित्र्य, और लक्ष्य का वैशिष्ट्य, अधिकारभेद से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं; किन्तु हृदय में विश्वास अथवा श्रद्धा के प्रकटरूप से कार्यशील हुए विना साधनापथ पर अग्रसर होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक युग में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड यहाँ तक कि ज्ञानकाण्ड के मूल में भी श्रद्धा का स्थान दीख पड़ता है। पौराणिक तथा तान्त्रिक साधना की पृष्ठभूमि में भी श्रद्धा का अस्तित्व सर्वत्र ही दिखाई देता है। योगभाष्यकार भगवान् व्यासजी ने श्रद्धा को "मातेव हितकारिणी" माता के तुल्य हितकारिणी कहा है। एवं योगसूत्रकार ने भी कहा है कि श्रद्धा से वीर्य, वीर्य से स्मृति, स्मृति से समाधि, एवं समाधि से प्रज्ञा या सम्यक्-ज्ञान का उदय होता है। गीता में भी—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" इस वाक्य में श्रद्धा की विशेष रूप से महिमा वर्णित हुई है। वर्तमान प्रसंग में श्रद्धा और विश्वास—इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है।

प्रकृति-भेद से विश्वास भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि इस अनन्तवैचित्र्यमय विश्व-प्रकृति के क्रियाकलाप के मध्यमें एक प्राकृत-शक्ति कार्य कर रही है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि इस विशाल प्रकृति की पृष्ठ-भूमि में स्थिर, अपरिणामी, चिन्मय, नित्य और विभु परमसत्ता विराजमान है, जिसका कोई ब्रह्मरूप में और कोई आत्मा अथवा पुरुष के रूप में, ध्यान करते हैं। वह सत्ता अखण्ड चैतन्य-स्वरूप है। प्रकृति-राज्य का भेद किये विना उस का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। किन्हीं लोगों का ऐसा विश्वास है कि इस विशाल प्रकृति और इस अपरिणामी चिदात्मक सत्ता के पीछे एक परम आनन्दमय और परम प्रेममय अखण्ड-सत्ता विद्यमान है। उन्हीं का साधारणतः भगवान् के नाम से ये लोग उल्लेख करते हैं। इन तीन प्रकार के विश्वासों के द्वारा प्रेरित होकर तीन प्रकार के साधक अपने-अपने विश्वास के अनुरूप भिन्न-भिन्न पथों पर तत्त्व के अन्वेषण में अग्रसर

होते हैं। प्रथम पथ कर्म-पथ है, दूसरा पथ ज्ञान-पथ है एवं तीसरा पथ भाव-पथ है। अवश्य इन विभिन्न पथों में अनन्त प्रकारों का मिश्रण हो सकता है एवं साधक के जीवन के इतिहास का पर्यालोचन करने पर वह दिखाई भी देता है, क्योंकि सरल पथ के तुल्य ही वक्र-पथ भी तो है। उन विभिन्न पथों के परस्पर संमिलन से उसमें अनन्त प्रकार के वैचित्र्यों की उत्पत्ति होती है।

वर्तमान प्रसङ्ग में हम भाव-साधना के सम्बन्ध में आलोचना करेंगे। यह ज्ञान-साधना अथवा प्राकृत शक्तिसाधना की आलोचना नहीं है। ज्ञान-साधना विचार को प्रधान मानकर साधन-पथ में तत्त्व का अन्वेषण करने के लिए अग्रसर होती है। इससे वैराग्य और विवेक-ज्ञान अपने आप ही उदित होते हैं। आत्मसत्ता चित्स्वरूप है। वह नित्य अपरिणामी और देश तथा काल से अपरिच्छिन्न है। किन्तु यह प्राकृत जगत् में काल और देश से परिच्छिन्न होकर जन्म-मृत्यु के चक्र में चक्कर खा रही है। विचार द्वारा क्रमशः एक के बाद एक विन्यस्त प्राकृत तत्त्वों का पता लगाकर उन सब तत्त्वों में प्रत्येक के साथ अनुभूत आत्मा के तादात्म्य को दूर करने के लिए चेष्टा करनी चाहिये अर्थात् आत्मसत्ता या चैतन्य को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूप उपाधियों से पृथक् कर शोधन करना चाहिये। इस तरह शोधन करते-करते अनात्म-सत्ता से आत्म-सत्ता पृथक् होकर निर्मल चिद्रूप में प्रकट हो उठती है। इसकी विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ हैं सही, किन्तु मूल विवेक और विचार की धारा है। इस चैतन्य-सत्ता में विश्रान्ति-लाभ कराना ही इस पथ के पथिक का मुख्य लक्ष्य है। कई लोग इसे कैवल्य या मुक्ति कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने पर फिर प्रकृति के चक्र में पड़ने की आशंका नहीं रहती।

प्राकृतशक्ति के साधक विश्व की संचालिका शक्ति की ओर लक्ष्य रखते हैं, ये उस प्रकृति के मध्यवर्ती शुद्ध चैतन्यसत्ता को नहीं देख पाते। उनका विश्वास है कि प्रकृति की ही ऊर्ध्वभूमि में ऐसा एक स्थान है, जहाँ से शक्ति का स्रोत निरन्तर प्रवाहित होकर प्राकृत-राज्य में सर्वत्र सब प्रकार के परिणामों को सम्पन्न कर रहा है। इस शक्ति का स्रोत जहाँ से निकलता है, वह स्थान प्राकृत ऐश्वर्य का आदि पीठ है। प्रकृति में सब प्रकार की शक्तियों के क्षरण का मूल केन्द्र वहीं है। कोई भी साधक योगसाधना के द्वारा अथवा साधना की अन्य किसी पद्धति का अवलम्बन कर यदि सृष्टि के उस मध्य-बिन्दु में प्रवेश कर वहाँ स्थित रह सके तो प्राकृतिक सभी शक्तियाँ उसके आयत्त हो जाती हैं। शक्ति-साधक का लक्ष्य यदि शक्ति में बँधा रहे तो ऐसी स्थिति में इस केन्द्र-स्थान की पृष्ठ भूमि में जो विराट् चैतन्यसत्ता विराजमान रहती है, उसका पता उसे नहीं चलता। ये सब साधक ज्ञान-पथ के पथिक नहीं हैं एवं आत्म-ज्ञान भी उन्हें प्राप्त नहीं होता। किन्तु एक विशाल शक्ति का पता लगाकर वहीं उनका साधन एवं उद्यम समाप्त हो जाता है।

ये शक्ति या विभूति के साधक प्रकृति में स्थित रहते हैं, आत्मा को नहीं पाते। ज्ञानसाधक शुद्ध-ज्ञान या चिदात्मक-पुरुष को प्राप्त होते हैं, वे ऊपर उठ नहीं सकते। किन्तु हम जिन भावसाधकों की चर्चा करना चाहते हैं, उनका लक्ष्य प्रकृति भी नहीं

और पुरुष भी नहीं अर्थात् ऐश्वर्य भी नहीं और मुक्ति भी नहीं। उनका विश्वास है कि प्रकृति और पुरुष दोनों के अधिष्ठाता के रूप में एक विशाल सत्ता है। उसे पाने के लिए खण्ड-शक्ति-साधना का पथ पर्याप्त नहीं है, एवं खण्ड-ज्ञान-साधना का पथ भी पर्याप्त नहीं है। भाव के पथ पर अग्रसर हुए बिना उस महाभावमय सत्ता का पता नहीं लगाया जा सकता। ये सब साधक भक्तिमार्ग के साधक के रूप में लोगों में परिचित हैं। परमसत्ता बहिर्मुख और अन्तर्मुख दोनों ओर से इनकी दृष्टि में पड़ती है सही, किन्तु ये अपनी बहिर्मुख दिशा का परिहार कर अन्तर्मुख दिशा को अपनाते हैं। अर्थात् ये कहते हैं कि श्रीभगवान् बहिर्मुख-भाव में परमात्मरूप से माया के अधिष्ठाता होकर विश्व के सृष्टि-स्थिति-संहार आदि व्यापार निरन्तर कर रहे हैं एवं असंख्य प्रकारों से अपनी सृष्टि का शासन और संरक्षण कर रहे हैं। यह उनकी बाहरी दिशा है। राजा जैसे मन्त्रिवर्ग के सहयोग से राजसभा द्वारा प्रजाओं का शासन-कार्य करते हैं, यह भी कई अंशों में उसी के अनुरूप है। किन्तु श्रीभगवान् की अन्तर्मुख दिशा के साथ जगत् की सृष्टि, स्थिति आदि किसी भी अवान्तर व्यापार का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हैं, यहाँ तक कि अनुग्रह, निग्रह आदि मौलिक व्यापार का भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वहाँ वे अन्तरङ्ग प्रिय-भक्तों को साथ लेकर अनन्तकाल तक अनन्त प्रकार के रसास्वादन कर रहे हैं और करा रहे हैं। रसिक भक्त विचित्र और विशाल भावराज्य का भेदन कर इस अनन्त रस के मूल केन्द्र में रसराज और महाभाव के सामरस्य में उपस्थित होने की इच्छा करते हैं। वहाँ भगवान् की ह्लादिनी-प्रधान अन्तरङ्ग-रूप स्वरूप-शक्ति का खेल होता है।

भावसाधना की मूल भित्ति यही है कि श्रीभगवान् के प्रेममय होने के कारण प्रेम के पथ का अवलम्बन न कर सकने पर उनके साथ प्रेम-सम्बन्ध से युक्त नहीं हुआ जाता, इसीलिए रसास्वाद नहीं होता। इस साधना में कदम उठाने के पूर्व दो बातें भलीभाँति प्राप्त होनी चाहिये। पहले अपने प्राकृत देह के साथ तादात्म्य की विस्मृति एवं तदुपरान्त भावराज्य में प्रवेशके लिये अधिकार की प्राप्ति। जब तक स्थूल-देह, सूक्ष्म-देह यहाँ तक कि कारण-देह अपनी स्मृति में विद्यमान रहेगी, तब-तक भाव-राज्य में प्रवेशाधिकार की प्राप्ति की आशा नहीं। गुरुजी की कृपा से, अथवा पूर्वजन्मों के पुण्य-बल से, योगानुष्ठान से, चाहे योगानुष्ठान के बिना ही अपनी प्राकृत-देह से अपने को पृथक् जान कर यदि उस महासत्ता के प्रति आकर्षण का अनुभव किया जाय, तो उन्हीं की कृपा से योग्य पथप्रदर्शक के प्राप्त होने की आशा रहती है एवं भाव-राज्य में प्रवेश की संभावना क्रमशः निकटवर्ती हो उठती है। भाव-साधना के पहले श्रीभगवान् के साथ अपने भाव-सम्बन्ध का निर्णय होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध के आविष्कार के पहले सामर्थ्यवान् सद्गुरु का आश्रय ग्रहण आवश्यक है, क्योंकि गुरु के सिवा और कोई भी किस जीव के साथ भगवान् का क्या सम्बन्ध है, यह निर्णय नहीं कर सकता। भगवान् एक, अनन्त और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं और जीव उन्हीं का चिदणु रूप अंश है। जीव संख्या में अनन्त हैं। परन्तु प्रत्येक जीव के साथ भगवान् का जो विलक्षण आकर्षण और विकर्षण के रूप में

एक नित्य सम्बन्ध है, वह जब-तक स्पष्ट नहीं होता तब-तक भाव का खेल चल तो सकता ही नहीं, उसका आरंभ भी नहीं हो सकता।

इस विषय को हम और भी स्पष्ट करके कहते हैं। सृष्टि के पूर्व परमात्म-सत्ता शान्त महासमुद्र के तुल्य निस्तरङ्ग रहती है। उसमें किसी प्रकार की चञ्चलता, यहाँ तक कि अत्यल्प स्पन्दन भी, अनुभूत नहीं होता। किन्तु उनमें सृष्टि की इच्छा का उन्मेष होने के साथ ही साथ वह अनन्त समुद्र स्वरूपतः निश्चल तथा शान्त रह कर भी मानों कुछ आन्दोलित होने लगता है। इस आन्दोलन के कारण उनमें लीन तथा उनके साथ अभिन्नरूप में विद्यमान अनन्त चिदणु स्पन्दन के तारतम्य के अनुसार विभिन्न मात्रा में जाग्रत हो उठते हैं। ये उस शान्त महासमुद्र के अंशीभूत जल-बिंदुओं के तुल्य अनन्त अखण्ड चित्सत्ता के कल्पित एवं आणविक भावमात्र हैं। कहा जाता है, मानो एक अखण्ड चैतन्य ही स्पन्दन के साथ-साथ इन सब चिद्रश्मि और चिदणुओं के रूप में अपने में अस्फुट रूप से प्रकट हो उठता है। ये सब अणु ही चिद्रश्मि के साहाय्य से चित्सत्ता से कुछ व्यवहित होकर जीव के नाम से परिचित होने लगते हैं। ये सब जीव और उनका उत्पत्ति-स्थान परमचैतन्य स्वरूपतः अभिन्न हैं। अर्थात् वह परमसत्ता जैसे प्रकाशात्मक या चिन्मात्र है, जीवसत्ता भी वैसे ही प्रकाशात्मक अथवा चिन्मात्र है। किन्तु दोनों में चिदंश में अभेद रहने पर भी इस अभेद में उस समय कुछ भेद की भी झलक दीख पड़ती है। स्पन्दन होने के पहले अथवा स्पन्दन के अतीत जो प्रशान्त सत्ता है, उसके निःस्पन्द होने के कारण यह भेद वहाँ विद्यमान नहीं रहता। किन्तु स्पन्दन के बाद जो चिदणुरूप अंश-सत्ता प्रकट होती है, उसमें भेद न रहे, यह संभव नहीं है। यहीं से सामान्य-सत्ता के ऊपर विशेष का उन्मेष माना जा सकता है। अर्थात् सामान्यतः परमात्मा और जीवात्मा में सजातीय, विजातीय और स्वगत किसी प्रकार का भेद न रहने पर भी विशेष-दृष्टि से दोनों में एक नित्य-भेद दृष्टिगोचर होता है। यह भेद केवल परमात्मा में या जीवात्मा में नहीं है, यह सब जीवों में आपस में दिखाई देता है। सृष्टि के भीतर एक ओर जैसे अविभक्त-सामान्य विद्यमान है, दूसरी ओर वैसे ही प्रत्येक वस्तु में एक वैशिष्ट्य भी रहता है, जिसके कारण सृष्टि के अन्दर कोई भी वस्तु किसी दूसरी वस्तु से सर्वथा अभिन्न प्रतीत नहीं होती। आदि-सृष्टि में ही यह वैशिष्ट्य भासित हो उठता है। यही "विशेष" तत्त्व है। इसे हृदयंगम किये बिना भावराज्य की साधना तथा लीलातत्त्व में प्रवेश की सार्थकता समझा नहीं जा सकता। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीव के साथ मूल आत्मा का एक विशिष्ट नित्य और निविड़ सम्बन्ध रहता है। मायिक सृष्टि में आने के बाद जितने दिनों तक जीव बहिर्मुख रहता है (यह कहना अनावश्यक है कि जीव का यह बहिर्मुख-भाव सृष्टि में आने के साथ ही साथ बहिरंग-शक्ति के प्रभाव से होता है) उतने दिनों तक वह सम्बन्ध अव्यक्त रहता है। वस्तुतः संसार-जीवन में परमात्मा के साथ बहिर्मुख जीव का सम्बन्ध केवल प्रेर्य-प्रेरकरूप में प्रकाशित होता है। अहंकार-विमूढ जीव कर्म करता है और परमात्मा उससे किये कर्मों का फल-दाता है—अधिकांशतः ऐसा ही है; किन्तु विवेक-वैराग्य आदि द्वारा बहिर्मुख भाव के हट जाने

के बाद जीव परमात्मा के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध की उपलब्धि करने पर चित्स्वरूप में या कैवल्यरूप में प्रतिष्ठित होता है। यह तटस्थ-शक्ति से उद्भूत जीवाणु का अपने स्वरूप में अवस्थान है। यह कहना अनावश्यक है कि उस समय पूर्वोक्त 'विशेष' सम्बन्ध का स्फुरण नहीं होता। वस्तुतः किसी भी सम्बन्ध का स्फुरण नहीं होता। किन्तु जो लोग ज्ञान-पथ के पथिक नहीं हैं, किन्तु भाव-राज्य में प्रवेश चाहते हैं, उनके लिए देहावस्था में रहने पर ही उस विशेष सम्बन्ध का आविष्कार अच्छा है। आचार्यगण कहते हैं—

श्रीवैष्णव सम्बन्ध बिन्दु प्रभुसेवा अधिकार।
सपनेहुँ पावत नहीं करें कोटि उपचार॥

हाँ, शुद्ध चिन्मात्र में प्रतिष्ठित जीव भी श्रीभगवान् की विशेष कृपा से अन्तर्मुख होकर उस विशेष सम्बन्ध को प्राप्त कर सकता है, किन्तु यह कठिन है। अस्तु, भगवान् के तीव्र अनुग्रह को प्राप्त कर भक्त-जीव जान सकते हैं कि परमात्मा से अनादि बहिर्मुख-भाव की निवृत्ति ही उनके जीवन की वास्तविक सफलता नहीं है, क्योंकि बहिर्मुखता से निवृत्त होकर अन्तर्मुखता का उदय न होने पर केवल तटस्थ-रूप से माया के बहिः-प्रदेश में स्थिति कैवल्य का ही नामान्तर है। वह जागतिक त्रिताप की निवृत्ति होने पर भी भावराज्य में या भगवद्धाम में प्रवेश के अनुकूल नहीं है, बल्कि बाधक है। अन्तर्मुखता की प्राप्ति श्रीभगवान् की अन्तरङ्ग-शक्ति के प्रभाव से होने पर भाग्यवान् जीव को इस प्रकार का बोध स्वतः ही उदित होता है।

पूर्वोक्त विवरण से ज्ञान हो जायगा कि केवल प्राकृत जगत् से बाहर हो जाना तथा नित्य चित्स्वरूप में शान्त होकर अवस्थित होना ही, भावुक के जीवन का आदर्श नहीं है। जो भावुक हैं, वे भविष्य में भावसाधना की सिद्ध-अवस्था रसिक-पद पर उन्नीत होते हैं। रसिक का उद्देश्य है—रसास्वाद। रसास्वाद का बीज है—भाव। भाव अथवा स्थायी भाव के बिना रस की अभिव्यक्ति और आस्वादन नहीं हो सकता। इसलिए भावुक साधक प्राकृत त्रिविध देह को भूलकर अथवा विशेष अवस्था में त्रिविध देह से मुक्त होकर समर्थ गुरु की कृपा से उद्घाटित भाव-राज्य के द्वार को देख पाते हैं, एवं श्रीभगवान् की परम सत्ता से निकली हुई अणुरूप चिद्रश्मि की सहायता से रसास्वादन करते हुए रसमय परम पुरुष की ओर क्रमशः आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि दिव्य-भाव के अखण्ड होने पर भी समझने की सुविधा के लिए उसे कई निर्दिष्ट श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। उनमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और प्रीति—ये कई प्रधान हैं। भावुक साधक किस भाव का अधिकारी है? इस प्रश्न का निर्णय हुए बिना अनन्त भावराज्य में भावुक अपना निर्दिष्ट आसन प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् सभी के प्रिय हैं। जो जिस भाव से उन्हें देखता है या चाहता है, उसे वे उसी भाव से दर्शन देते हैं एवं उसकी अभिलाषा उसी भाव से पूर्ण करते हैं। फलतः एक होने पर भी भावुक साधकों की विचित्रता के अनुसार उनके भाव और रूप में वैचित्र्य होता है। सब भाव सबके लिए नहीं एवं सब लीलाएँ भी

सबके लिए नहीं है। इस वैशिष्ठ्य का नियामक पूर्वोक्त 'विशेष' है। जिसके साथ जो सम्बन्ध आदि-सृष्टि-काल से स्वभावसिद्ध रूप में प्रकट हुआ है, श्रीगुरुकृपा से वही यथा समय प्राकृत-देह की विस्मृति के बाद भावुक के हृदय में स्पष्ट हो उठता है। तदनुसार भावराज्य में प्रवेश के साथ ही साथ पूर्वोक्त सम्बन्ध के अनुरूप क्षेत्र, स्थान, व्यवधान, सेवा आदि यथायोग्य रूप से प्रकट होते हैं।

चक्षु का उन्मीलन

हम लोगों के प्रचलित गुरु-प्रणाम में एक मन्त्र है,

> अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
> चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

इसका तात्पर्य है—जो अज्ञान-तिमिरान्ध व्यक्ति के नेत्र ज्ञानरूप-अञ्जनशलाका द्वारा खोल देते हैं, वे ही गुरु हैं; उनके लिए प्रणाम है। यहाँ कहना यह है कि यह अज्ञान-तिमिर वस्तु क्या है, उसके द्वारा अन्ध होना कहने से क्या अभिप्रेत है, एवं ज्ञानरूप अञ्जनशलाका द्वारा उस अज्ञानतिमिर को हटाना इस का क्या अर्थ है, कौन इसे कहता है एवं इसका फल क्या है? इन अनेक प्रश्नों का यथार्थ उत्तर यदि जाना जा सके, एवं उसका तात्पर्य हृदयंगम हो जाय तो गुरुमहिमा स्पष्टरूप में समझ में आ सकेगी।

शास्त्र का सिद्धान्त है कि अनादि-काल से जीव अज्ञान से आच्छन्न है। यद्यपि जीव वास्तव में स्वरूपतः शिवरूप ही है, तथापि वह अपने इस नित्यस्वरूप की साक्षात्-उपलब्धि नहीं कर सकता। द्वैतवाद अथवा अद्वैतवाद दोनों पक्षों की ही दृष्टि से जीव का यह अनादि अविद्या-सम्बन्ध स्वीकृत है, क्योंकि यह सम्बन्ध संघटित होने पर बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए विचार द्वारा उसका निर्णय करना कठिन है। अपने-अपने दृष्टिकोण से इनके भिन्न-भिन्न उत्तर प्राप्त होते हैं। इन सब उत्तरों के भिन्न होने पर भी तत्त्व-दृष्टि से इनमें कोई विशेष पार्थक्य नहीं, किन्तु इसकी यहाँ आलोचना करना अनावश्यक है।

आत्मा वस्तुतः अखण्ड चैतन्यस्वरूप है, उसकी अनन्त शक्तियाँ अभिन्न रूप में विद्यमान रहती हैं। संक्षेप में उन सब शक्तियों का ज्ञान और क्रिया में अन्तर्भाव कर लिया जा सकता है। अतएव ज्ञान और क्रिया का जो अभिन्न पूर्णरूप है, वही विशुद्ध चैतन्य-शक्ति है। किन्तु इस विशुद्ध-शक्ति का स्फुरण अनादि काल से न पाने के कारण जीवरूपी आत्मा अल्पज्ञ और अल्पशक्ति के रूप में संसारी का स्वाँग धारण कर मायिक जगत् में अपने-अपने अधिकारों के अनुरूप क्षेत्रों में विचरण कर रहा है। चैतन्यशक्ति लुप्त न होने पर भी, लुप्तवत् हो गई है। कुण्डलिनी की निद्रावस्था इसी का नामान्तर है। इस शक्ति को प्रबुद्ध या जाग्रत् करना ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य है, क्योंकि इस शक्ति के जाग्रत् होने पर ही जीव जीव-भाव से मुक्त होकर शिव-भाव में स्थिति प्राप्त करने में समर्थ होता है।

कुण्डलिनी-शक्ति प्रत्येक मनुष्य के शरीर में मेरुदण्ड के नीचे एक निर्दिष्ट

स्थान पर सोई पड़ी है। जगत् के किसी धर्म द्वारा, यहाँ तक कि अलौकिक पुण्य-राशि का सञ्चय करने पर भी, उस शक्ति को भली-भाँति जगाने की सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होती। योगशास्त्र की प्रारम्भिक सम्पूर्ण साधनाएँ उस शक्ति को जगाने के लिए ही निरत हैं। उस शक्ति का जागरण साधारणतः क्रमशः ही होता है, कदाचित् किसी को अक्रम भी हो जाता है। साधारणतः षट्-चक्र की जो साधना कही जाती है, वह वास्तव में उस शक्ति को जगाकर उसे ऊर्ध्वमुख बनाने की ही साधना है। शक्ति की यह ऊर्ध्वमुख प्रगति एक चक्र के बाद दूसरे चक्र का भेदन कर आज्ञा-चक्र के ऊपर बिन्दु में जाकर लौट जाती है। चित्तशुद्धि और भूतशुद्धि की साधना इसी का नामान्तर है। यह साधना यदि भलीभाँति अनुष्ठित हो जाय, तो साधक षट्चक्रों का भेदन कर बिन्दु-स्थान पर अधिकार कर लेता है। तब नीचे की ओर आकर्षण नहीं रहता, कर्म-संस्कार का आवरण तिरोहित हो जाता है एवं स्फुट रूप से ऊपर की ओर आकर्षण होने की क्रिया अनुभूत होने लगती है।

प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि आत्मा उस समय अविद्या-संस्कार से मुक्त होकर शुद्ध-विद्या के लाभ का अधिकारी हो जाता है। यह शुद्ध-विद्या ही चैतन्य-शक्ति का उन्मेष है, जीव गुरु-कृपा से उसका यथासमय अनुभव कर सकता है। गुरुप्रणाम में जो चक्षु का उन्मूलन कहा गया है, उसे जीव के सम्यक् ज्ञानरूपी चक्षु का उन्मीलन समझना चाहिये। जो इस दिव्य ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन कर देते हैं, वे ही वास्तव में सद्गुरु हैं। चक्षु का उन्मीलन करने के लिए उन्हें तत्काल विरुद्ध शक्ति का अवलम्बन करना पड़ता है। इस शक्ति का अवलम्बन कर साधक को अविद्या से मुक्त होना पड़ता है एवं अविद्या से मुक्त होकर विद्या या ज्ञान से भी मुक्तिलाभ करना पड़ता है।

अविद्या से मुक्त होने पर साथ ही साथ खुले हुए तीसरे नेत्र की उज्ज्वल छटा स्पष्ट रूप से दृष्टि के सामने प्रकाशित होती है।

विशुद्ध आत्मज्ञान ही ज्ञानाञ्जन-शलाका है। उसका श्रीश्रीसद्गुरु जीवात्मा पर अनुग्रह करते समय उसमें सञ्चार करते हैं।

अज्ञान का वास्तविक स्वरूप है—जगत् को अपनी आत्मा से भिन्न देखना। वास्तव में जगत् अपनी आत्मा से भिन्न नहीं है, वह आत्मा का ही तिरोहित-प्रकाश है। जब सद्गुरु के अनुग्रह से शुद्ध-ज्ञान का अंकुर हृदय में रोपा जाता है, तब योगी की दृष्टि में द्वितीय बोध रहता ही नहीं। उस समय प्रत्येक वस्तु पहले अपनी सत्ता से विसृष्ट अंशमात्र प्रतीत होती है अर्थात् समग्र विश्व तब शिवरूपी आत्मा का शक्तिरूप धारण करता है। इसीका नाम है—दिव्य चक्षु का उन्मीलन, एवं उसके द्वारा सत्य वस्तु का निरीक्षण।

यदि गुरुरूपी आत्मा अपनी शक्ति से कुण्डलिनी को जाग्रत् कर उसे ऊर्ध्व-मुख होने की प्रेरणा न दें, तो यह महान् परिवर्तन कदापि सम्भव नहीं हो सकता। भेद-ज्ञान हट जाने पर प्रत्येक वस्तु के साथ व्यक्तिगत अभेद का ज्ञान जाग जाने से सम्पूर्ण विश्व ही अपना अभिन्न रूप ज्ञात होता है, यही प्रेम की अभिव्यक्ति है। इसका

भी मूल पूर्वोक्त गुरु-कृपा से उत्पन्न अभेद-दृष्टि का उन्मेष है। अतएव मल का परिपाक होने पर गुरु-कृपा का उदय हो अथवा गुरु-कृपा के आविर्भाव के कारण मल-परिपाक हो, जिस किसी प्रकार से प्रज्ञा-दृष्टि का उन्मीलन होने पर ही ब्रह्मस्वरूप इस महाज्ञान का उदय होता है, जिससे जीवन्मुक्ति स्वभावतः फूट उठती है। यही जीवन की चरम सफलता है एवं इसकी प्राप्ति के मूल में है—श्रीगुरु का अनुग्रह। इससे गुरु का माहात्म्य स्पष्टतया समझ में आ सकता है।

योग का विषय-परिचय

प्राचीन भारतीय साहित्य में 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होनेपर भी, कुछ अंश में मूलतः सामंजस्य पाया जाता है। उसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग, चन्द्र और सूर्य का मिलन, शिव और शक्ति का सामरस्य, चित्तवृत्ति का निरोध; अथवा अन्य किसी भी प्रकार से उसका लक्षण किया जाय, मूल में विशेष भेद नहीं है।

महायोग और पूर्णयोग—योगशिखा-उपनिषद् में वर्णन आया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं। यह महायोग के नाम से साधकों में प्रसिद्ध है। अवस्था-भेद के अनुसार महायोग ही मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोग के रूप में प्रकाशित होता है।

मन्त्रयोग और जपयोग—योगशास्त्र में 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम मन्त्रयोग का मुख्य अर्थ 'मन्त्र के आश्रय से जीवात्मा और परमात्मा का सम्मिलन' मान लें, तो इसमें कोई आपत्ति न होगी। शब्दात्मक-मन्त्र चेतन होने पर उसी की सहायता से जीव क्रमशः ऊपर गमन करते-करते शब्द से अतीत परमानन्द-धाम तक पहुँच सकता है। वैखरी शब्द से क्रमशः मध्यमा अवस्था को भेद कर पश्यन्ती में प्रवेश करना ही, मन्त्रयोग का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द—स्वप्रकाशमान चिदानंदमय है, चिदात्मक पुरुष की वही अक्षय और अमर षोडशी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्ट देवता के साक्षात्कार अथवा शब्द-चैतन्य का प्रकृष्ट फल है। इस अवस्था में पहुँचने पर जीव कृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने आप उदित होता है। वही शब्द की तुरीय अवस्था है। मूलाधार से निरन्तर शब्द-स्रोत ऊपर की ओर उठ रहा है। यही शब्द समस्त जगत् के केन्द्र में नित्य विद्यमान है। बहिर्मुख-जीव इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर दौड़ रहा है, इसीसे उसे इसका पता नहीं लगता। जब किसी क्रिया-कौशल से अथवा अन्य किसी उपाय से इन्द्रियों की बहिर्गति रुद्ध हो जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित से हो जाते हैं, तब साधक इस चेतन-शब्द को सुनने के अधिकारी होते हैं। षण्मुखी मुद्रा द्वारा कृत्रिम उपाय से इस नाद के अनुसन्धान की चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिघात से जनित शब्द को अनाहत-नाद में लीन न कर सकने पर मन्त्र अक्षर-समष्टि ही रह जाता है। उसका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभव-गोचर नहीं होता। इडा-पिंगला की गति रुककर प्राण और मन के सुषुम्ना के अन्दर प्रविष्ट होने पर वह नित्य सारस्वत-स्रोत अनुभूत होता है। यही क्रमशः साधक को

आज्ञा-चक्र में ले जाता है और वहाँ से बिन्दु-स्थान भेदकर क्रमशः सहस्रार के केन्द्र में महाबिंदु-पर्यन्त पहुँचा देता है। हंस-मन्त्र, जिसका जीव निरन्तर श्वास-प्रश्वास के साथ जप करता है, गुरुकृपा से प्राण की विपरीतभावापन्न अवस्था में सोऽहं मन्त्र के रूप में परिणत हो जाता है।

अस्पर्श-योग—माण्डूक्यकारिका में आचार्य गौडपाद ने अस्पर्श-योग का उल्लेख किया है। यद्यपि उस ग्रन्थ में इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है, तथापि प्रसंग-वश तथा विशेषण के रूप में कुछ वर्णन उसमें मिल जाता है। उससे ऐसा मालूम होता है कि यह योग अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि साधारण योगी अस्पर्श-योग में प्रवेश नहीं कर सकता। सब भूतों के मंगल और आनन्द का निदान-स्वरूप यह योग सब प्रकार के विरोधों के ऊपर प्रतिष्ठित है और वास्तविक अभय-पद कहे जाने योग्य है। प्रसंगवश किसी-किसी वेदांत-ग्रंथ में भी इसका उल्लेख देखा जाता है। जिन कुयोगियों ने निरालम्ब-पद पर पहुँचने का अधिकार प्राप्त नहीं किया है, वे आत्म-लोप होने की आशंका से इस निर्विकल्प परमभूमि में प्रवेश करने की न तो सामर्थ्य ही रखते हैं और न इच्छा ही करते हैं। वस्तुतः अस्पर्शयोग असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प-समाधि की ही अवस्था-विशेष है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष रूप स्पर्श से वृत्तिज्ञान का उदय होता है। किंतु बहिरिन्द्रिय और अन्तःकरण के सम्यक् प्रकार से निरुद्ध हो जाने पर जिस अस्पर्श-अवस्था की अभिव्यक्ति होती है, वह वृत्तिरहित शुद्ध चैतन्य की भूमि को ही सूचित करती है। न्यायशास्त्र के मत से भी स्पर्शेन्द्रिय त्वक् के साथ मन का संयोग हुए बिना अन्य किसी प्रकार का ज्ञान नहीं प्रकट हो सकता। इसका कारण यही है कि मनोवहा तथा ज्ञानवहा नाडियाँ त्वक् का आश्रय लेकर ही प्रकट होती हैं और वे सभी वायवीय हैं। स्पर्श वायु का धर्म है; अतएव अस्पर्शयोग की अवस्था में वायु का स्पन्दन निरुद्ध हो जाने के कारण पूर्वोक्त नाडियाँ जब अव्यक्त हो जाती हैं, तब एक ओर जैसे मन की वृत्ति शून्य हो जाती है, दूसरी ओर वैसे ही इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। उस समय आत्मा निजस्वरूप में प्रकाशित रहता है।

शब्दयोग और वाग्योग—प्राचीन आगमशास्त्रों में वाग्-योग अथवा शब्द-योग के नाम से जिस योगप्रणाली का उल्लेख पाया जाता है, उसका तात्पर्य और रहस्य आजकल बहुत-से लोग प्रायः भूल गये हैं। शैवागम के अन्तर्गत व्याकरण-आगम में भी इस योग-साधन का परिचय मिलता है। जिन्होंने भर्तृहरि के वाक्यपदीय और उसकी साम्प्रदायिक प्राचीन व्याख्या का अनुशीलन किया होगा, उन्हें वाग्योग की बात अवश्य मालूम होगी। व्याकृत शब्द का वैखरी अवस्था से मध्यमा में उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती-स्वरूप में प्रवेश कर जाना ही इस योगसाधन का प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती अवस्था से परा-अवस्था में—अव्याकृत पद में—गति और स्थिति स्वाभाविक नियम से आप ही हो जाती है। वह किसी भी साधना का आन्तरिक लक्ष्य नहीं है। वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्दविशेष मिश्र-अवस्था में होने के कारण उसमें असंख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं। गुरूपदिष्ट प्रणाली से साधन कर चुकने पर चाहे जिस शब्द को उसकी स्थूल अवस्था से मुक्त करके विशुद्ध बनाया

जा सकता है। इस शोधन-क्रिया का नाम ही शब्द-संस्कार है। जब शब्द सम्यक् प्रकार से शुद्ध या संस्कृत हो जाता है, तब वह दिव्यवाणी या संस्कृत-भाषा, अथवा सृष्टिकारिणी ब्राह्मी शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। केवल एक शब्द को भी इस प्रणाली से शुद्ध कर लेने पर जीव सदा के लिये कृतकृत्य हो सकता है—

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।

जो एक शब्दका भी संस्कार करने में समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी तरह का अभाव नहीं रह सकता। वह एक ही शोधित शब्द शक्ति के स्वरूप में प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनु के आकार में आविर्भूत हो जाता है। शब्द के मर्म को जाननेवाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपाय से अलौकिक शक्ति के अधिकारी बन गये थे। आवर्तन अथवा जपयज्ञ इत्यादि के अभ्यास से जब वैखरी शब्द से आगन्तुक समस्त मल दूर हो जाते हैं, तब इडा-पिंगला का अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना-पथ कुछ परिमाण में उन्मुक्त हो जाता है। फिर प्राणशक्ति की सहायता से शोधित होकर शब्द-शक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्मपथ का आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहत-नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाह में निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव धारण कर लेता है। यही मन्त्र-चैतन्य का उन्मेष है। इस अवस्था में पहुँच जाने पर साधक जीवमात्र की चित्तवृत्ति को अपरोक्षभाव से शब्दरूप में जान लेता है। देश अथवा काल का व्यवधान शब्द की इस स्फूर्ति को नहीं रोक सकता। इसके बाद प्रातःकालीन बाल-सूर्य के समान शब्दब्रह्मरूपी आदित्य साधक के आत्मा अथवा इष्ट देवता के रूप में प्रकाशित होकर अन्तराकाश का अन्धकार दूर कर देते हैं। आगमशास्त्र में इसी को 'पश्यन्ती वाक्' कहा जाता है। प्राचीन वैदिक साहित्य में ऋषित्व-प्राप्ति अथवा मन्त्र-साक्षात्कार के नाम से जिसका उल्लेख किया गया है, यह वही अवस्था है। आत्म-दर्शन, इष्टदेव-दर्शन, ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन, शिवनेत्र का विकास, षोडशी कला का उन्मेष अथवा सांख्यवर्णित द्रष्टा पुरुष का स्वरूपावस्थिति के रूप में कैवल्य—ये सब इस पश्यन्ती-भूमि की विभिन्न अवस्थाएँ हैं; पश्यन्ती की अपेक्षा पराभूमि का पथ अत्यन्त गुप्त है। अतएव यहाँ पर उसकी आलोचना करना अप्रासंगिक और अनधिकार चर्चा होगी।

योगमार्ग और वियोगमार्ग—योग और वियोग (अथवा विवेक) मार्ग में परस्पर क्या भेद है, इस सम्बन्ध में साधारण पाठकों की कोई विशेष धारणा है, ऐसा मालूम नहीं होता। अवश्य ही आत्यन्तिक परमार्थ-दृष्टि से किसी प्रकार का भेद नहीं है, यह सत्य है; परन्तु व्यावहारिक भूमि में दोनों में परस्पर भेद दिखाई पड़ता है और उस भेद के अनुसार सिद्धि में भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्था में संसार में परिभ्रमण करता रहता है, उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर मिले हुए रहते हैं। केवल यही नहीं, सूक्ष्मभाव में स्थूल का अंश और स्थूलभाव में सूक्ष्म का अंश अनिवार्यरूप से ओतप्रोत है। सुतरां विशुद्ध-दृष्टि से यदि देखा जाय तो दोनों में से कोई एक-

दूसरे को छोड़ कर नहीं रह सकता। काठ के भीतर अग्नि के समान, तिल में तैल के समान, दूध में घी की तरह, स्थूल के भीतर सूक्ष्म-तत्त्व प्रच्छन्नरूप में निहित है। क्रिया-विशेष के द्वारा इसे स्थूल से अलग कर लेने की आवश्यकता होती है। सांख्यादि-शास्त्रा-नुमोदित साधन-प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेक-मार्ग का पक्षपाती है। वेदान्त का पञ्चकोष-विवेक भी एक प्रकार से विवेक-पन्थ के ही अन्तर्गत है। योगियों का कहना है कि इस वियोग के पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाने के बाद दोनों में योग स्थापित करना आवश्यक होता है। वियोग-साधना के द्वारा परस्पर पृथक् रूप में जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं हैं; वे दोनों मूलभूत एक परम पदार्थ के ही पृथक् अवभासमात्र हैं। इस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए योगप्रक्रिया का अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। स्थूल और लिङ्ग एक दूसरे के साथ आश्लिष्ट होकर जब चरम अवस्था में एक परम पदार्थ के रूप में परिणत हो जाते हैं, तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वयभाव से ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावों का विकास सम्पन्न हुआ है।

दृष्टान्त के रूप में यहाँ सर्वसाधारण के समझने योग्य भाषा में एक तत्त्व का उल्लेख किया जाता है। जिन्हें शास्त्र-ज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषय की कुछ भी जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि जीव के स्थूल-शरीर की तरह एक सूक्ष्म-शरीर भी है। यह सूक्ष्म-शरीर साधारणतया स्थूल शरीर के साथ इतनी घनिष्ठता से आश्लिष्ट है कि दीर्घ काल तक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल-शरीर से पृथक् नहीं कर सकता। परन्तु अलग न कर सकने पर भी वह अनेक कारणों से सहज ही उसके पृथक् होने का अनुभव कर सकता है। स्वप्नादि में अथवा जीवित दशा की किसी-किसी अनुभूति में, और सूक्ष्मदर्शियों द्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभव में, सूक्ष्म-शरीर की पृथक् सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह मन्थन की प्रक्रिया के द्वारा कोल्हू में पेरकर तिल से तैल निकाला जाता है, उसी तरह प्रक्रिया-विशेष द्वारा स्थूल-शरीर से भी सूक्ष्म-शरीर को अलग किया जा सकता है। सम्पूर्ण रूप में न सही, आंशिक रूप में प्रायः सभी अभ्यास करनेवाले इसे कर सकते हैं। इस अवस्था में स्थूल-शरीर अकर्मण्यवत् कंकड़-पत्थर की तरह पड़ा रहता है, और सूक्ष्म शरीर उससे बाहर निकलकर नाना स्थानों में घूम-फिरकर पुनः जब स्थूल-शरीर में घुस आता है, तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहले की तरह ही ज्ञान और क्रिया का सञ्चार हो जाता है। यह सूक्ष्म-शरीर भौतिक आवरण के द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं होता, और न स्थूल-जगत् का कोई भी नियम विशेष रूप से इस पर प्रभाव डाल सकता है। कोई-कोई योगी घर के अन्दर बन्द रहकर और स्थूल शरीर को जहाँ का तहाँ रखकर भी, सूक्ष्म-शरीर के द्वारा दीवाल आदि तथाकथित आवरणात्मक घेरे को भेद कर बहिर्जगत् में भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्था में उनका स्थूल-शरीर घर के अन्दर निष्क्रिय अवस्था में आबद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा इस स्थूल-शरीर का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घर में आबद्ध रहता है, वह स्थूल शरीर है और

जो निकलकर इधर-उधर विचरण करता है, वह सूक्ष्म-शरीर है। दोनों शरीरों के परस्पर सम्बद्ध होने पर भी पृथक् हैं। यह पार्थक्य वियोग-मार्ग के द्वारा उपलब्ध होता है। परन्तु एक ऐसी अवस्था भी होती है, जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह पूर्वलिखित देह स्थूल है या सूक्ष्म। क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि एक योगी घर के अन्दर बन्द रहकर जब घर से बाहर निकले तब घर में पहले के समान स्थूल-शरीर आसन पर नहीं रहा; अर्थात् वे समस्त शरीर लेकर ही बाहर निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे तथा किसी-किसी को दिखायी भी पड़े। जिस शरीर से वह घर से निकलकर दीवाल आदि आवरण भेदकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल-शरीर नहीं था, क्योंकि वैसा शरीर प्रतिघात-धर्म से विशिष्ट दीवाल को भेदकर आगे जाने में समर्थ नहीं होता। किन्तु साथ ही वह सूक्ष्म-शरीर भी नहीं है, यह भी निश्चित है। वह यदि सूक्ष्म-शरीर होता तो स्थूल-शरीर निष्क्रिय रूप में आसन पर पड़ा रहना चाहिये था। योगी लोग ऐसे देह को सिद्ध-देह कहते हैं। इस प्रकार की सिद्धि स्थूल और सूक्ष्म के परस्पर अत्यन्त घन-संश्लेषण से उत्पन्न होती है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों के धर्म दृष्टिगोचर होते हैं; इस कारण इसे एक हिसाब से स्थूल भी कह सकते हैं और साथ ही सूक्ष्म भी कह सकते हैं। परन्तु वास्तव में वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए योग-मार्ग का अवलम्बन आवश्यक है। कहना नहीं होगा कि आरम्भ में इस प्रकार का योग सम्भव नहीं होता। पहले वियोग-मार्ग की साधना के द्वारा मिश्र-सत्ता के अन्दर वर्तमान दोनों सत्ताओं को पृथक् कर लेना होता है और उसके बाद योगमार्ग की साधना के द्वारा उन दोनों को मिलाकर एक कर लेना होता है।

योग और वियोग-मार्ग का यही संक्षिप्त परिचय है। इससे अधिक यहाँ इसकी आलोचना करना अप्रासङ्गिक होगा।

नादानुसन्धान—पहले शब्दयोग की आलोचना करते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे नादानुसन्धान का तत्त्व भी कुछ अंश में समझ में आ जायगा। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वास के अधीन होकर निरन्तर इडा-पिङ्गला के मार्ग में चल रहा है, उसका सुषुम्ना-पथ प्रायः बन्द है। इसीलिए उसकी इन्द्रियाँ और चित्त सब बहिर्मुख हैं। जगत् के अन्तस्तल में, आकाशमण्डल में जो अखण्ड-नाद निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह चित्त और प्राणों की विक्षिप्तता के कारण सुन नहीं पाता। परन्तु जिस समय गुरु-कृपा से तथा क्रिया-विशेष के द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है, उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्था प्राप्त कर उसमें प्रविष्ट होता है और उस शून्य-पथ से मन अनाहत-ध्वनि का श्रवण करता है। निरन्तर इस ध्वनि का अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शान्त अवस्था प्राप्त करता है। मन जब पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नाद-ध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होकर बाह्य-प्रकृति के स्पर्श से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

नाद के मूलतः एक होने पर भी वह औपाधिक सम्बन्ध के कारण विभिन्न स्तरों में विभक्त है। योगियों ने साधारणतः इस प्रकार के सात स्तरों का उल्लेख किया है।

शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणव का स्वरूप कहते हैं, वही उपाधि-रहित शब्द-तत्त्व है। वैयाकरणों ने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक-सम्प्रदाय ने 'स्फोट' नाम से इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म-तत्त्व का वाचक है, अर्थात् इसी से ब्रह्मभाव की स्फूर्ति होती है। प्रणव ईश्वर का वाचक है, इस बात का भी तात्पर्य यही है। वाचक स्फोट-शब्द 'ब्रह्म' के रूप में और वाच्य-सत्ता 'परब्रह्म' के रूप में वर्णित है। अतएव एक तरह से ब्रह्म ही ब्रह्म का प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूप के अतिरिक्त और किसी पदार्थ के द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता, यह कहने की जरूरत नहीं। परन्तु स्फोट या शब्द-तत्त्व जब तक जीव के लिए अव्यक्त रहता है, तब तक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नाद का अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनी का उद्बोधन भी कुछ अंशों में इसी कार्य के समान है। मूलाधार से नाद का उठना आरम्भ होता है और सहस्रार में जाकर लीन हो जाता है। साधक का मन इस नाद के साथ युक्त होने पर अनायास परब्रह्म-पद तक उठकर चिन्मय-आकार धारण करता है और चैतन्य के अन्दर अपने-आप को मिला देता है।

हठयोग-प्रदीपिका, योगतारावलि तथा अन्यान्य अनेक ग्रन्थों में इस नादानुसन्धान का विस्तृत वर्णन मिलता है।

असम्प्रज्ञात-समाधि—पातञ्जल योगशास्त्र में असम्प्रज्ञात-समाधि दो प्रकार की बतलायी गयी है—भव-प्रत्यय और उपाय-प्रत्यय। चित्त-वृत्ति का सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है, यहाँ तक कि दोनों का सम्बन्ध स्व-स्वामि-भाव है। व्युत्थान अवस्था में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तियों से संकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियों का आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षी के रूप में अवस्थित होता है। अथवा गम्भीर अज्ञान से आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानों से शून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्स्वरूप की उपलब्धि से भी वञ्चित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति-लय अथवा जड-समाधि की अवस्था है। यह योगियों के लिये कदापि काम्य नहीं है। वृत्तिहीन होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत ही है तथापि ज्ञान का उन्मेष न होने के कारण यह योगावस्था नहीं है। पतंजलि इसी को भवप्रत्यय-असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीन की तरह ही विदेह देवता भी इसी अवस्था में रहते हैं।

साधक-समाज में योगियों की वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय-असम्प्रज्ञात-समाधि के रूप में ही परिचित है। यहाँ पर 'उपाय' का अर्थ प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध-ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक् ज्ञान के उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर जिस असम्प्रज्ञात-समाधि का आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञान के अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात-समाधि के साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय-अवस्था में कुछ समय तक चित्त के निरुद्ध रहने पर भी

कालान्तर में उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है; क्योंकि तब तक चित्त के संस्कार सम्पूर्ण-रूप में वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर क्रमशः संस्कारों का दाह करने से जो असम्प्रज्ञात-समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थान की कोई आशंका नहीं रहती। वास्तव में उसीको एक प्रकार से कैवल्य का पूर्वास्वाद कहा जा सकता है।

बौद्ध योगी प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध नाम से जो दो प्रकार के निरोध का वर्णन करते हैं, वे अधिकांश में उपायप्रत्यय-रूप असम्प्रज्ञात समाधि के ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश किये विना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी भी योगियों का प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशों का दाह न कर केवल वृत्तियों का निरोध कर लेने से ही पुरुष आत्म-स्वरूप में अवस्थित होने में समर्थ नहीं हो जाता। ज्ञान के अतिरिक्त अविद्या का बीज नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। क्रियायोग के द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान का अनुष्ठान यथाविधि करने पर भी अविद्या-संस्कार को दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है; क्योंकि क्रियायोग के प्रभाव से संस्कारों का स्थूलरूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि के प्रज्वलित होते ही वह दग्ध हो जाता है, और पुनः जाग्रत होने की शक्ति से रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात-समाधि की प्रत्येक भूमि में ही उसके आश्रय से ज्ञान का विकास होता है। फिर सास्मित भूमि में सालम्ब-ज्ञान की चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम ग्रहीत-समापत्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्ति का यही स्वाभाविक क्रम है। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' गीता के इस वचन में भी ज्ञान-प्राप्ति के मूल में श्रद्धा को ही स्थापित किया गया है। इसीलिये श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करने पर भी ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो पाता। भवप्रत्यय-रूप असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का निरोध होने पर भी अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहने पर आत्मा मुक्ति नहीं प्रा[illegible] कर सकता, यही योगशास्त्र का सिद्धान्त है।

निर्माणकाय और निर्माणचित्त—निर्माणकाय और निर्माणचित्त का विषय योगशास्त्र में विशेषरूप से आलोचित हुआ है। अनेक समय उच्च श्रेणी के योगी इसकी रचना करके आवश्यकतानुसार कार्य पूरा कर लेते हैं। लौकिक साहित्य में इस प्रकार की देह अथवा चित्त का वर्णन कहीं न होने के कारण साधारणतः बहुत-से लोग इससे अपरिचित हैं। संसार में हम साधारणतः जिस देह से परिचित हैं, वह भौतिक देह है। पञ्चभूत—उपादानरूप हों अथवा एक उपादान और अन्य सब उपष्टम्भक के रूप में हों—परस्पर संश्लिष्ट होकर स्थूल-देह की रचना करते हैं। इस रचना के मूल में अथवा भौतिक संयोग के मूल में देहधारी जीव के पूर्वजन्मार्जित प्रारब्धकर्म वर्तमान रहते हैं। प्रारब्ध-कर्म से देह उत्पन्न होती है। देह की आयु अथवा स्थितिकाल, और उस देह में जितने सुख-दुःख का भोग होता है, वह सब उस प्रारब्धकर्म के द्वारा ही नियन्त्रित होता है। परन्तु योगी केवल अपने संकल्पबल से अर्थात् प्रारब्धकर्म की सहायता के विना भी देह का निर्माण कर सकते हैं, और करते भी हैं। अवश्य ही इस प्रकार के देह-निर्माण की नाना

प्रकार की प्रणालियाँ हैं। मन्त्रबल से, द्रव्य-विशेष के प्रभाव से, तपस्या के फल से, और समाधि-सिद्ध योगी के योग-प्रभाव से इस प्रकार की देह बनायी जा सकती है। विशिष्ट और प्राक्तन कर्म रहने पर, केवल योनिविशेष में जन्म-ग्रहण करने से भी ऐसी देह प्राप्त हो जाती है। दृष्टि-भेद से इस निर्माणदेह को कोई-कोई निर्माणचित्त भी कहते हैं। न्यायकुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने प्रथम स्तबक के आरम्भ में पातञ्जल-सम्प्रदाय का निर्देश करते हुए 'निर्माणकाय' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध शास्त्र में भी सर्वत्र धर्म-काय, सम्भोगकाय के साथ निर्माणकाय का उल्लेख मिलता है। प्राचीन और मध्यकाल के बहुत-से बौद्ध विद्वानों ने अपने दार्शनिक ग्रन्थों में इस प्रकार के भिन्न-भिन्न देहों का विशेष वर्णन किया है। खोज करने की इच्छा रखनेवाले पाठकों को आर्य मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, हरिभद्र आदि आचार्यों के ग्रन्थों को देखने से इस विषय में बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें मालूम हो सकती हैं। पञ्चशिखाचार्य ने एक स्थान में लिखा है कि परमर्षि कपिल ने करुणावश निर्माणचित्त का अवलम्बन कर अपने शिष्य जिज्ञासु आसुरि को षष्टि-तन्त्र का उपदेश दिया था। निर्माणकाय और निर्माणचित्त में वास्तविक कोई भेद नहीं है। लौकिक देह और लौकिक-चित्त में जो भेद है, उस प्रकार का कोई भेद योगी के संकल्प-निर्मित देह और चित्त में नहीं रहता; क्योंकि सिद्ध-योगी के संकल्प से जिस आकार की उत्पत्ति होती है, वह देखने में देह के समान होने पर भी वास्तव से वह चित्त के सिवा और कुछ भी नहीं है। वह इच्छाशक्ति के प्रभाव से निर्मित होता है, ऐसा प्रसिद्ध है।

उक्त निर्माण-चित्त या निर्माण-देह एक होने पर भी व्यावहारिक-दृष्टि से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिपादित होता है। प्रयोजक-चित्त और प्रयोज्य-चित्त नामक जो निर्माणचित्त के दो पृथक्-पृथक् भेद बतलाये जाते हैं, वे व्यवहारमूलक हैं। योगी के योगबल से जो निर्माणचित्त बनता है, उसकी प्रधान विशेषता यह है कि उसमें शुक्ल, कृष्ण या अन्य किसी प्रकार का कर्माशय नहीं रहता। अन्यान्य उपायों से रचित होने पर निर्माणचित्त में किसी-न-किसी आकार का कर्म-संस्कार लगा ही रहता है। इसी कारण ज्ञानलिप्सु अधिकारी शिष्य को ज्ञान का उपदेश देते समय योगी इस प्रकार का चित्त-निर्माण करके उपदेश देते हैं। निर्माणदेह का अवलम्बन करके जो ज्ञानोपदेश आदि किया जाता है उसमें भ्रम, प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं रहती। वास्तव में यही गुरु-देह है। भौतिक देह से तत्त्वज्ञान का उपदेश संशय अथवा विपर्यय-शून्य रूप में नहीं दिया जा सकता। शुद्ध अस्मिता-तत्त्व से यह देह निर्मित होता है। जैनाचार्यों ने आचार्य-देह के रूप में जिस देह का वर्णन किया है, वह बहुत कुछ इसी प्रकार का है।

ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता—आध्यात्मिक साधना में उन्नति करने के लिये ब्रह्मचर्य का विशेषरूप से पालन करने की आवश्यकता है। वैदिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन एवं अन्यान्य देशों के अन्यान्य प्रकार के धर्म एवं सम्प्रदायों में भी इसकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जिन ऋषियों ने आश्रमचतुष्टय की व्यवस्था की थी, उन्होंने भी इसीलिए सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य को स्थान दिया था। ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, किसी प्रकार का बल संचित नहीं होता और बल का संचय हुए बिना कार्य में सिद्धि प्राप्त करने की आशा आकाश-कुसुममात्र है। शास्त्र में

कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्यके बिना आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह बतलाने के लिए अनेकों प्रकार की बातें कहनी चाहिये। परन्तु यह सोचकर कि वर्तमान प्रबन्ध में इस सम्बन्ध में विस्तार सहित आलोचना करना उचित नहीं, यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक दो-एक बातों का उल्लेख किया जायगा।

साधारणतः लोग वीर्यधारण को ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। वीर्यधारण ब्रह्मचर्य का एक [illegible] अंग है, इसमें सन्देह नहीं और इसके इस अंग का सम्यक् रूप से पालन कर[illegible] अन्यान्य अंग सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग अष्टांग-मैथुन के त्याग को ब्रह्मचर्य बताते हैं, वे भी इस वीर्यरक्षा की ओर ही अपना लक्ष्य रखकर इस प्रकार के लक्षण निर्धारित करते हैं। यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य योगशास्त्र में यम के अन्तर्गत माना गया है। बौद्धों ने भी शील-सम्पत्ति के अन्दर इसको प्रधान स्थान दिया है। जैन तथा अन्यान्य शास्त्रों में भी प्रायः उसी रूप में देखा जाता है। ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र तथा गृह्य और धर्मसूत्रादि में ब्रह्मचारी की आदर्श दिनचर्या के विषय में बहुत-सी बातें कही गई हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्य के तत्त्व की खोज करना चाहते हैं, वे थोड़ा सा अनुसन्धान करने पर सहज ही समझ सकते हैं कि बिन्दुका संरक्षण, संशोधन और उद्बोधन—ये तीन ही ब्रह्मचर्य के यथार्थ उद्देश्य हैं। ब्रह्म में अथवा ब्रह्म-पथ में जिसके द्वारा सञ्चार नहीं होता, वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं है। जो शास्त्र-सिद्ध ब्रह्मचर्य से सम्पन्न हैं, वस्तुतः वे एकमात्र ब्रह्मपथ में ही सञ्चरण करते हैं। क्योंकि वासना, मिथ्या-सङ्कल्प, इन्द्रिय-चाञ्चल्य और चित्तकी विक्षेप-वृत्ति निवृत्त होनेपर बिन्दु की जो आपेक्षिक साम्यावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा की प्रथम भूमि है। बिन्दुके क्षरण से संसार, और बिन्दु की स्थिरतासे अमृतत्व अथवा मोक्ष सिद्ध होता है। गणित शास्त्र में जिस तरह वृत्त और त्रिकोण आदि का केन्द्र ही बिन्दु कहलाता है, उसी तरह देहतत्त्व के वेत्तागण भी देह के अथवा कोष के केन्द्र को ही बिन्दु नाम देते हैं। अन्नमय-कोष या स्थूल-शरीर जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है, उसी को अन्नमय-कोष का केन्द्र या स्थूल बिन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह जिन प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष के आधार पर सूक्ष्म-शरीर गठित हुआ है, उनके भी कोषगत केन्द्र रूप में एक-एक बिन्दु है। वेदान्त की परिभाषा के अनुसार साधारणतः आनन्दमय-कोष को ही कारण-शरीर कहा जाता है। कहना नहीं होगा कि इसका भी केन्द्र है और यही अमृत-बिन्दु के नाम से परिचित है। ये सब बिन्दु वस्तुतः एक ही महाबिन्दु के देशगत और संस्कार-गत भेदमात्र हैं। जबतक औपाधिक भेद वर्तमान रहता है, तबतक यह भेद अनिवार्य है। इस भेद को मानकर ही क्रमशः इसके अतिक्रम करने की चेष्टा करनी होगी। जिस कारण से बिन्दु क्षरित होता है, उसको रोके बिना बिन्दुकी की ऊर्ध्वगति तो दूर रही, उसकी स्थिरता भी सम्भव नहीं। पहले स्थिररेता हुए बिना कोई भी ऊर्ध्वरेता-भूमि पर आरोहण नहीं कर सकता। जो लोग अप्राकृत कामबीज का रहस्य जानते हैं और जिन्होंने गुरूपदिष्ट

प्रणाली से रस-तत्त्व का सम्यक् रूप से परिशीलन किया है, वे इसे सहज ही समझ सकते हैं। साधारणतः हठयोगी कहा करते हैं कि बिन्दु के स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण के स्थिर होनेपर बिन्दु भी स्थिर हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार बिन्दुके साथ मनका और मन के साथ प्राण का परस्पर सम्बन्ध समझना चाहिये। कौशल से उनमें से किसी एक को भी बद्ध कर लेने पर शेष दो को अधीन करना सहज हो जाता है। हठयोग के शास्त्रोंमें तथा योगवासिष्ठ रामायण में इस सम्बन्ध में प्रासङ्गिक अन्यान्य बातें भी लिखी हैं। शास्त्र का यह सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भित है, क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि एक ही बिन्दु आधार-भेद से भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशित हुआ है। अतएव साधक के पूर्वसंस्कार तथा योग्यता के अनुसार चाहे जिस स्थान में संयम सम्भव हो, उसी से अन्यान्य स्थानगत विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है। एवं वहाँ-वहाँ के बिन्दु भी स्थिर-भाव को प्राप्त हो जाते हैं।

चक्षु जिस समय रूप देखता है, श्रोत्र जिस समय शब्द ग्रहण करता है और अन्यान्य इन्द्रियाँ जिस समय अपना-अपना विषय ग्रहण करती हैं, उस समय वास्तव में देह के मध्य में स्थित बिन्दु ही क्षरित होकर उस-उस स्थान में विषय-प्रतिभास के रूप में जन्म ग्रहण करता है। बिन्दु के क्षरण हुए बिना विषय-ग्रहण करना असम्भव है। अतएव जब तक हम इद्रियों के मार्गसे विषय ग्रहण करते हैं तब तक तथाकथित रूप में वीर्य रक्षा करने पर भी व्यभिचार होता ही है। विषय का भेद हट जाने पर जब सर्वत्र ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, तब समझना चाहिये कि व्यभिचार निवृत्त हो गया है और साधक ब्रह्मचर्य में स्थित हो गया है। बिन्दु क्षरित हुए बिना अखण्ड एवं कूटस्थ-ब्रह्म-तत्त्व अपने सामने स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्म की जो स्वयं-प्रकाश अवस्था है, जिस अवस्था में एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही अपने सामने आप प्रकाशित है, वह भी ब्रह्मचर्यकी अवस्था है। उस अवस्था में बिन्दु के क्षरित होने पर भी वह सरल मार्ग से सम्पन्न होता है, इस कारण अद्वैत-भाव में व्याघात नहीं पहुँचता, भेद-प्रतीति उत्पन्न नहीं होती और विषय की सत्ता भी भासमान नहीं होती। यह अवस्था रहस्य-दृष्टि से 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की अवस्था है। इस का अनुकरण करके समाज के अन्दर भी उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य की व्यवस्था की गयी है। गुण-भेद से उपकुर्वाण-ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं—शुक्ल, रक्त और कृष्ण। यहाँ पर इनकी आलोचना नहीं करनी है। परन्तु जिसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कहते हैं, उसमें बिन्दुक्षरण बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। बिन्दु का क्षरण नहीं हो सकता, इसी कारण उस निर्गुण ब्रह्मचर्यावस्था की गणना अव्यक्त-भाव के अन्दर होती है। सामाजिक दृष्टि से विवाह न करना और विवाह करके स्व-पत्नी के साथ संयत रहना, ये दोनों ही ब्रह्मचर्यके स्वरूप हैं। पर-स्त्री के प्रति तनिक भी चित्त में आसक्ति उत्पन्न हो जाने पर ब्रह्मचर्यावस्था से पतन हो जाता है, क्योंकि चित्त की वह अवस्था व्यभिचार के ही अन्तर्गत मानी गयी है। स्व-दारा के प्रति निरत रहने पर भी चित्त-संयम के तारतम्य के अनुसार गुण-भेद से गृहस्थ का ब्रह्मचर्य सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार का होता है।

बिन्दु का शोधन सम्यक् प्रकार से हुए बिना अन्य क्रिया-कौशल द्वारा उसे

स्थिर करनेपर भी उसमें स्थायित्व नहीं आता। क्योंकि संस्कारात्मक मल के आकर्षण से निर्दिष्ट स्थितिकाल के अतीत होने के बाद बिन्दु पूर्व की तरह नीचे की ओर गतिशील हो जाता है। वैदिक तथा तान्त्रिक साधना में बिन्दु-शोधन के अनेक प्रकार के उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। महायान-सम्प्रदाय के बौद्धों के अन्दर भी वज्रयान, मन्त्रयान, एवं सहज-यान के साधनमार्गों में इस प्रकार के सूक्ष्म तथा अकृत्रिम उपाय का वर्णन पाया जाता है। हठयोग में अपना विशेष अधिकार प्राप्त करने के लिए भी इस प्रकार बिन्दु-स्थिरता के उपायका अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। बिन्दु शुद्ध होने पर ही वह स्वभावतः स्थिर होता है। इस स्थिर बिन्दु को किसी अलौकिक प्रक्रिया द्वारा विक्षुब्ध कर लिया जाय तो यह स्वभावतः ही ऊर्ध्व दिशा में सञ्चरण शील हो जाता है। बिन्दुकी यह ऊर्ध्व-गति प्रबुद्ध कुण्डलिनी के सहस्रार के आकर्षण से ऊर्ध्व-प्रवाह का नामान्तर है। बिन्दु क्रमशः स्थूल-भाव छोड़कर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्था को प्राप्त होता है और अन्त में सहस्रदल-कमल की कर्णिका में स्थित महाबिन्दु के साथ मिल जाता है। यही चित्-चन्द्रमा का षोडशी कलारूप अमृत-बिन्दु है। नाभि-ग्रन्थि का भेद करके बिन्दुको ऊर्ध्वस्रोत में संश्लिष्ट कर देना ही उपनयन या दीक्षा का यथार्थ रहस्य है। नाभि-चक्र से ऊपर उठे बिना बिन्दु मध्याकर्षण के चक्र के अन्दर रहना संसार का ही दूसरा नाम है। ब्रह्मचर्य की साधना के द्वारा बिन्दु को विषय-जगत् से पृथक् करके, उसे पवित्र बनाकर, ब्रह्ममार्ग में लगाना ही संसार से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। बिन्दु के विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्व की ओर सञ्चरण करने पर ही नाद का विकास होता है। अतएव नाभि-चक्र से ऊपर स्वाभाविक खेल नाद एवं ज्योति के रूप में अनुभूत होता है। यही शब्द-ब्रह्म के सञ्चार की अवस्था है। इसके बाद नाद, ज्योति इत्यादि की पूर्णता से जो परम भाव का उदय होता है, वही निज-बोध रूप आत्मज्ञान का विकास है। इसका विशेष विवरण 'दीक्षा तत्त्व' तथा तत्सम्बन्धी षडध्व-शुद्धि की आलोचना के अङ्गीभूत है।

भगवान् पतञ्जलि ने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य-धारण करने से वीर्य की प्राप्ति होती है। वास्तव में ब्रह्मचारी की अवस्था का ही वर्णन योगसूत्र में प्रकारान्तर से श्रद्धा रूप में किया गया है। ब्रह्मचर्य-पालन से सम्भूत वीर्य की प्राप्ति होने पर देह के अन्दर दिव्य-तेज अथवा विद्युत्-शक्ति का विकास होता है। इस तेज की अधिकता के कारण चित्त की चञ्चलता नष्ट हो जाती है, प्राणों की गति स्थिर हो जाती है और ध्येय की ओर चित्त का एक तानप्रवाह उत्पन्न होता है। इसीका दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है। उपासना का यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके घनीभूत होते-होते चित्त की समाधि-अवस्था उत्पन्न होती है। चित्त के समाहित होने पर ध्येय वस्तु आवरण-विमुक्त होकर उज्ज्वल रूप में अपनी ज्योति से उद्भासित और प्रकाशित हो उठता है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एकमात्र ध्येय ही उसके अनुभव क्षेत्रमें जागरूक रहता है। कहना नहीं होगा कि यह ध्येय चित्तका ही एक आकार विशेष है, यह चित्त से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकाश को प्रज्ञा का उन्मेष अथवा ज्ञान-चक्षु का खुल जाना कहते हैं। इस प्रज्ञा के निरुद्ध होने के बाद

जिस असम्प्रज्ञात-समाधि का उदय होता है, वही वास्तव में योग कहलाने योग्य है। ब्रह्मचर्य योग की पूर्णावस्था प्राप्त करने के लिए नितान्त आवश्यक है, यह बात इस संक्षिप्त विवरण से सम्भवतः पाठकों को अवश्य मालूम हो जायगी।

सिद्धि से पारमार्थिक-हानि—आध्यात्मिक-मार्ग में सिद्धि का स्थान क्या है, इस विषय में विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालों में नाना प्रकार की बातें कही गयी हैं। यहाँ पर उन सबकी चर्चा करना अप्रासङ्गिक मालूम होता है, फिर भी सिद्धिकी सार्थकता क्या है, एवं कौन-सी सिद्धि किस समय में आध्यात्मिक-साधना में बाधक समझी जाने योग्य है, इसका यहाँ विवरण करना आवश्यक है। बहुत लोगों का ऐसा विश्वास है कि सिद्धि वांच्छनीय नहीं और उसकी प्राप्ति होने पर मुमुक्षु-योगी के योग-मार्ग में विघ्न उत्पन्न होता है। इस विश्वास के मूल में कुछ सत्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु अधिकांश में यह विश्वास भ्रान्त मालूम होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का सत्-असत् दो प्रकार का व्यवहार हो सकता है। व्यवहार के दोष से वस्तु-सत्ता आक्रान्त नहीं होती। अग्नि का स्पर्श करने से अबोध शिशु की सुकुमार-देह जल जाती है, इसी कारण अग्नि की निन्दा करना अथवा उसका त्याग करना बुद्धिमानी का काम नहीं। अग्नि अपने स्वभाव के अनुसार अवश्य कार्य करेगी। जो उसके स्वभाव को जानकर और उसे नियन्त्रित करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर सकता है, उसको चतुर कहना उचित है। अग्नि से अच्छा या बुरा दोनों प्रकार का कार्य सम्पन्न होता है, परन्तु इसी कारण अग्नि को उन सब कार्यों का दायी मान लेने से काम नहीं चलता। शक्तिमात्र को इसी प्रकार समझना चाहिए।

मधुमती-भूमि और योग के विघ्न—भगवान् पतञ्जलि का नाम जिस योग-सम्प्रदाय के साथ संश्लिष्ट है, उसमें चार प्रकार के योगियों का निर्देश मिलता है। उनमें प्रथम अवस्थापन्न योगियों को 'प्रथमकल्पिक' कहा गया है। ये लोग अष्टाङ्गयोग से सम्पन्न होने पर ही योगभूमि में सद्यः प्रवेश करते हैं, इसलिये इनकी गणना सबसे निम्नश्रेणी में होती है। ये स्थूल-समाधि-सिद्ध हैं, अर्थात् वितर्कानुगत-समाधि में अधिकार प्राप्त करने के कारण इनमें अन्तर्ज्योति का स्फुरण होना आरम्भ हुआ है। चित्त के समाहित हुए बिना ज्योति का उन्मेष नहीं हो सकता, परन्तु ज्योति का आविर्भाव होने पर भी उसकी क्रमशः शुद्धि अपेक्षित है। जब तक उसकी विशुद्धि नहीं होती तबतक तत्त्वों को जीतकर (अर्थात् अपने वश में करके) स्वयं योग की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथमकल्पिक अवस्था के बाद योगी 'मधुमती' नामक योग की दूसरी भूमि में पदार्पण करते हैं। इस समय उनका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है, इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि, अप्सरा आदि अनेकों उनके पास उपस्थित होकर नाना प्रकार के अलौकिक प्रलोभनों के द्वारा उन्हें भुलाने की चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्था में साधारणतः मनुष्य के हृदय में आसक्ति और अहंकार का भाव जाग उठना स्वाभाविक है। परन्तु जो योगी गुणातीत आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए उद्यत है, उनके लिये सब

क्षुद्र प्रलोभन सर्वथा उपेक्षा के योग्य हैं। जब ये संयत होकर चित्त में बल का सञ्चय करके साधन-पथ पर अग्रसर होते हैं, तब क्रमशः इन सब भयों से छुटकारा पा जाते हैं। यह मधुमती अवस्था ही योगियों की परीक्षा की अवस्था है। प्रथम भूमि में चित्त सम्यक् रूप से विशुद्ध न रहने के कारण देवता आदि के द्वारा इस तरह के प्रलोभन देने की सम्भावना नहीं रहती, तथा तृतीय अवस्था में योगियों के अपने सङ्कल्प के द्वारा समस्त प्रलोभन की वस्तुएँ निर्मित हो सकती हैं और योगी साधक स्वयं दिव्य-भावापन्न होते हैं, इस कारण उनके लिए भी विशेष आशङ्का की सम्भावना नहीं रहती।

तृतीय अवस्था में योगी विशोधित प्रज्ञा-ज्योति के द्वारा पञ्चभूतों की पाँच अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रिय की भी उसी प्रकार की पञ्चविध अवस्थाओं के ऊपर अधिकार प्राप्त करके भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय होने पर योगी वज्र के समान सिद्ध-देह प्राप्त करते हैं और साथ ही अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ भी प्राप्त करते हैं। ऐसे योगी की देह पर पञ्चभूतों के प्रभावसे आघात नहीं होता अर्थात् भौतिक पदार्थों के गुण योगी की देह में अपनी क्रिया नहीं करते। इन्द्रियजय द्वारा मनोजयित्व, विकरणभाव तथा प्रधान या मूल-प्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाती है। योगशास्त्र में इन सब सिद्धियों का वर्णन 'मधुप्रतीक' के नाम से किया गया है। जिन योगियों ने भूतजयी तथा इन्द्रयजयी होकर इस प्रकार अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं, वे अधिकांश में शक्ति और शुद्धि में देवताओं के स्तर से ऊपर उठ गये हैं, यह निश्चित है। अतएव साधारण देवता के द्वारा उन्हें लोभ में डाले जाने की कोई सम्भावना नहीं रहती। विशेषकर पञ्चभूत तथा पञ्चेन्द्रिय पर योगियों का अधिकार होने के कारण उन्हें सृष्टि, स्थिति और संहार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और उनके चित्त में विमल वैराग्य की छटा छिटकी होने के कारण वे ऐसा कोई भी अभाव अनुभव नहीं करते, जिसकी निवृत्ति के लिये किसी भी प्रलोभन में पड़ने की सम्भावना हो।

इस प्रकार साधना-क्रम से जब योगी भूतेन्द्रिय-राज्य का अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्व में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं। वे सर्वदा सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्र की भाषा में इसी का दूसरा नाम 'विशोका सिद्धि' है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त योगियों की अवस्था है। इसके बाद पर-वैराग्य के साथ-ही-साथ क्रमशः त्रिगुण का राज्य समाप्त हो जाता है और योगी समस्त दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थों की सीमा पार करके, ऊपर उठकर अव्यक्त परम-पद में स्थित हो जाते हैं। यही चौथे प्रकार के योगियों का स्वरूप है। भाष्यकार व्यास ने इस सर्वश्रेष्ठ योगभूमिको 'अतिक्रान्तभावनीय' नाम दिया है।

हठ योग—हठयोग के आदि आचार्य कौन थे, यह बतलाना बहुत कठिन है। हमारे भारतवर्षीय आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रों की प्रथम प्रवृत्ति

परमेश्वर से ही होती है। इस कारण हठयोग भी ईश्वरप्रोक्त कहा जाता है। हठयोगी कहा करते हैं कि आदिनाथ श्रीशिवजी ही हठयोग के प्रवर्तक हैं। जिस विचित्र उपाय से मत्स्येन्द्रनाथ ने इस विद्या को प्राप्त किया था, उसका ऐतिहासिक मूल्य कितना है; नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस सम्बन्ध में हठयोग के बहुत-से ग्रन्थों में एक दन्तकथा मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथ की तरह गोरखनाथ, चर्पटि, जलन्धर, कनेड़ी, चतुरंगी, विचारनाथ आदि नाथ सम्प्रदाय के आचार्यों ने हठयोग में निष्णात होकर संसार में इसका प्रचार किया था। इस सम्प्रदाय के इतिहास तथा शास्त्र की आलोचना करने पर हठ-विज्ञान की बहुत सी जानने योग्य आवश्यक बातें मालूम हो सकती है। गोरक्षशतक, गोरक्षसंहिता, सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रह, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, अमनस्क, योगबीज, हठयोगप्रदीपिका, हठतत्त्व-कौमुदी, घेरण्डसंहिता, निरञ्जनपुराण आदि बहुत-से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के पूर्व भी हठयोग का प्रचलन था, इसमें सन्देह नहीं। कहा जाता है कि प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि इस योग के साधक थे।

> द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधकैः।
> अन्यो मृकण्डपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥

गोरक्षोपदिष्ट हठयोग के छः अंग हैं—उसमें यम और नियम ग्रहण नहीं किये जाते, परन्तु मार्कण्डेय अष्टाङ्ग हठयोग के पक्षपाती थे। योगतत्त्व-उपनिषद् में भी हठ-योग के आठ प्रकार के अङ्ग बतलाये गये हैं।

हठयोग की पूर्ण परिणति राजयोग है। पातञ्जल-दर्शन में असम्प्रज्ञात-समाधि के नाम से इसी का वर्णन किया गया है। हठयोग की नियमित साधना के द्वारा राजयोग की सिद्धि होती है, इसी कारण आचार्यगण हठयोग का राजयोग के सोपान के रूप में वर्णन किया करते हैं। इस राजयोग के प्रभाव से ही साधनशील जीव काल के पराक्रम से छुटकारा पाने में समर्थ होता है। हठयोगप्रदीपिका के मतानुसार समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीव-न्मुक्ति, सहज, तुरीय—ये सब राजयोग के नामान्तर हैं। स्वात्माराम ने स्पष्ट ही कहा है कि कुम्भक द्वारा प्राण की गति रुद्ध हो जानेपर चित्त निरालम्ब हो जाता है। ब्रह्मानन्द ने भी अपनी टीका में स्पष्ट लिखा है कि जिस समय सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद ब्रह्माकार-स्थिति का उदय होता है, उस समय पर-वैराग्य धारण करके चित्तको सम्यक्-प्रकार से निरुद्ध करना जरूरी है। इससे यह स्पष्ट ही समझ में आ सकता है कि हठयोग से स्वभावतः राजयोग का विकास होता है।

देह-शुद्धि हठयोग का अव्यवहित उद्देश्य है। योगियों की पारिभाषिक भाषा में यह घट-शुद्धि के नाम से विख्यात है। घेरण्डसंहिता का मत है कि हठशास्त्रोक्त धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति—इस षट्कर्म के द्वारा देह की शुद्धि होती है। देह की दृढ़ता और स्थिरता आसन और मुद्रा का अभ्यास करने से सिद्ध होती है।

प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि के द्वारा क्रमशः दैहिक धीरता, लघुता आत्म-प्रत्यक्ष तथा निर्लेपता सुसम्पन्न होती है। अनेक आचार्य आसन, प्राणायाम अथवा कुम्भक, मुद्रा या करण तथा नादानुसन्धान—इस चारको हठयोग का प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहते हैं। इनमें आसन का अभ्यास विधिवत् करने से देह की स्थिरता, निरोगता तथा लघुता सम्पन्न होती है। 'आसनेन रजो हन्ति—यह सिद्धान्त योगिसम्प्रदाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीर्घ कालतक विधि के साथ आसन का अभ्यास करने से रजोगुण से जनित देह की चञ्चलता और मन की अस्थिरता दूर हो जाती है। रोग विक्षेप का एक प्रधान कारण है, आसन के अभ्यास से उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस अभ्यास से तमोगुण की क्रिया से उत्पन्न देह का भारीपन भी दूर होता है। देह में सात्त्विक तेज की वृद्धि होने से तमोगुण का ह्रास होता है और स्वभावतः ही देह हलकी हो जाती है। बार-बार अभ्यास करके आसन को स्थिर कर लेने पर प्राणायाम की क्रिया सहजसाध्य हो जाती है। परन्तु नाडी-चक्र नाना प्रकार से आच्छन्न रहने के कारण वायु सुषुम्ना-मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकती। इसी-लिए प्राण-संग्रह से पहले नाडी-शोधन की आवश्यकता होती है। नाडी के विशुद्ध हुए विना उन्मनी-भाव अथवा मनोनिवृत्ति की कोई आशा नहीं रहती। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से सुषुम्नानाडी के अन्दर का समस्त मल नष्ट हो जाता है। शाण्डिल्य उपनिषद् के मतानुसार नाडीशोधन-प्राणायाम कई महीने तक नित्य दो बार करना चाहिये।[१] देह की कृशता, कान्ति, इच्छानुसार वायुधारण करने का सामर्थ्य, अग्निवृद्धि, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य—ये सब लक्षण जब क्रमशः आविर्भूत हो जायँ, तब समझना चाहिये कि सब नाडियाँ शुद्ध हो गयी है।[२] त्रिशिखब्राह्मण-उपनिषद् में लिखा है कि यम, नियम और आसन सिद्ध हुए विना प्राणायाम यथार्थ रूप में नहीं किया जा सकता। अतएव उस अवस्था में नाडी-शुद्धि की चेष्टा अनुचित है। हठाचार्यों का कहना है कि सब साधकों के लिये षट्कर्म की आवश्यकता नहीं होती। वायु, पित्त या कफ, इन तीनों दोषों में से किसी एक या दो की अधिकता होने पर षट्कर्म की सहायता लेना आवश्यक है। घट-शुद्धि की तरह स्थूलता का नाश आदि भी हठयोग का एक अव्यवहित फल है। याज्ञवल्क्य-प्रभृति आचार्य कहते हैं कि जब एकमात्र प्राणा-याम के द्वारा ही समस्त मल की निवृत्ति हो जाती है, तब षट्कर्म की कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

---

१. टीकाकार कहते हैं कि ४३ दिन अथवा ३ मास, अथवा ४ मास, ७ मास या एक साल तक इस प्राणायाम का विधान है।

२. हठयोगप्रदीपिका में तथा दशम उपनिषद् में कृशता की बात आती है। शाण्डिल्य उपनिषद् में कृशता की जगह लघुता शब्द का प्रयोग हुआ है। योगतत्त्व-उपनिषद् में एक ही साथ कृशता और लघुता दोनों पाठ मिलते हैं। शिवसंहिता के मत से नाडी शुद्ध हो जाने पर दोष नष्ट हो जाते हैं, देह में साम्य, सुगन्धि और कान्ति प्रस्फुटित हो उठती है तथा स्वर में माधुर्य सिद्ध हो जाता है।

मुद्रासाधन का उद्देश्य यह है कि इससे ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना-मुख से निद्रिता कुल कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊपर की ओर उठती है। कुण्डलिनी के जागने पर चक्र, और ग्रन्थि सब का भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्ना में प्रवेश करता है, चित्त निरालम्ब होता है और मृत्यु-भय छूट जाता है। आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यास का मूल अवलम्ब है। मुद्रा आठ प्रकार की है और मुद्रा के अभ्यास का फल है अष्टैश्वर्य-प्राप्ति।

योग तथा योग-विभूति

सद्गुरु-प्रदर्शित प्रणाली का अवलम्बन कर दीर्घकालतक अनवच्छिन्नरूप से श्रद्धा और सत्कार के सहित योगक्रिया का अभ्यास करने पर चित्त शुद्ध होता है और क्रमशः संसार के निदानभूत समस्त क्लेशों का शमन होता है। चित्त की आत्यन्तिक शुद्धि का फल है—विवेकख्याति और पुरुष की कैवल्य-सिद्धि। सत्त्वगुण की उच्च अवस्था प्राप्त होने पर योगी को नाना प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। आत्मा वास्तव में ईश्वर स्वरूप है, अविद्या के आवरण के कारण उसका ईश्वरत्व प्रकट नहीं हो पाता; परन्तु जब तीव्र योगाभ्यास के फलस्वरूप प्रज्ञा का उन्मेष होता है और अविद्या की निवृत्ति होती है, जिस समय सत्त्वगुण का प्रबल होना आरम्भ होता है; उस समय उसका स्वाभाविक ऐश्वर्य अभिव्यक्त होता है। ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति से लेकर आत्मस्वरूप में उपसंहृत होने तक ही आत्मा 'ईश्वर' कहा जाता है, उसके बाद कैवल्य है।

जीवकी दृष्टिसे विचार करने पर, विभूति या ऐश्वर्य और कैवल्य में क्रम है, ऐसा मालूम होता है; परन्तु अवस्थाविशेष में ऐश्वर्य का विकास हुए बिना भी कैवल्य की प्राप्ति असम्भव नहीं। ईश्वर की दृष्टि से ऐश्वर्य और कैवल्य समकालीन हैं—आत्मा का सगुण और निर्गुण भाव एक समय में ही वर्तमान रहता है। एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण नहीं करना पड़ता। योगभाष्यकार व्यासदेव ने इसी से ईश्वर को 'सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः' कहा है। विशुद्ध-सत्व ईश्वर की नित्य-उपाधि है, इसमें रजोगुण और तमोगुण का संस्पर्श न होने के कारण ईश्वर में ज्ञान, ऐश्वर्य प्रभृति धर्मों का विकास सर्वदा ही रहता है। जीव की उपाधि मलिन-सत्त्व है, वह भी जब साधना द्वारा शुद्ध हो जाता है, तब ऐश्वर्य प्रस्फुटित करता है। परन्तु यह सत्त्व कितना भी शुद्ध क्यों न हो, वह कभी रजोगुण और तमोगुण के स्पर्श से सम्यक् रूप में विमुक्त नहीं होता। इसी से जीव का साधन से लब्ध ऐश्वर्य उसकी प्रकृति-सम्बन्ध से हीन कैवल्यावस्था में नहीं रहता। यही कारण है कि योगी इस ऐश्वर्य अथवा विभूति को कैवल्य-पथ में विघ्न बतलाया करते हैं। परन्तु अप्राकृत एवं विशुद्ध-सत्त्व से जनित ऐश्वर्य परमात्मा का स्वभाव है। भगवत्कृपा से जीव के अन्दर विशुद्ध-सत्त्व का सञ्चार होने पर इस ऐश्वर्य का स्फुरण होता है। यह मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं है, अपितु बद्धावस्था में इसका आविर्भाव ही नहीं होता। जीव जब अपने विशुद्ध परमात्म-भाव की उपलब्धि करता है, तब अपने-आप ही उसके स्वभावभूत इन अलौकिक ऐश्वर्यों की अभिव्यक्ति होती है। भगवान् शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वर 'मानसोल्लास' में कहते हैं—

ऐश्वर्यमीश्वरत्वं हि तस्य नास्ति पृथक्स्थितिः ।
पुरुषे धावमानेऽपि छाया तमनुधावति ॥[1]

योगविभूति को वर्तमान समय के शिक्षित-समाज के कोई-कोई पुरुष 'चमत्कार' (Miracle) कहा करते हैं। वे कहते हैं कि जगत् में 'चमत्कार' नहीं हो सकते, क्योंकि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कोई घटना नहीं घट सकती। बात एक तरह से बिल्कुल सत्य है, क्योंकि जगत्में जहाँपर जो कुछ घटित होता है, वह सब नियम के अधीन है, अतएव नियम या नियति का उल्लंघन कहीं भी सम्भव नहीं; इसमें सन्देह ही क्या है ? डाक्टर हर्नाक ने अपने 'Das Wesen des Christentums' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट ही कहा है कि यह बात ध्रुव सत्य है कि 'चमत्कार' (Miracle) हो नहीं सकते, जो कुछ देश और काल में घटता है वह क्रिया-संक्रान्त व्यापक नियम के अधीन है। प्रकृति की अविच्छिन्नता के भङ्ग होने की कल्पना नहीं की जा सकती; अतएव इस अर्थ में 'चमत्कार' (Miracle) या अप्राकृत घटना असम्भव है (पृ० १७)[2]। दार्शनिकप्रवर स्पिनोजा कहते हैं—'Nothing happens in nature, which is in contradiction with its universal laws.' अर्थात् प्रकृति में ऐसी कोई घटना सम्भव नहीं जो उसके व्यापक नियम के विरुद्ध हो। फिर भी हर्नाक ने विशद रूप से इस बात का निर्देश किया है कि जगत् में अप्राकृतिक घटना का स्थान न होने पर भी अलौकिक घटना का स्थान है। ऐसी घटनाएँ देखने में आती हैं, जो अत्यन्त आश्चर्यजनक होती हैं; जिनका कारण निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। वास्तव में प्रबल विश्वास तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति के प्रभाव से अनेक असाध्य व्यापार भी सुसिद्ध होते हैं, संसार में क्या और कितना सम्भव है, इसकी सीमा कोई निश्चित नहीं कर सकता[3]।

---

१. ईश्वर का स्वभाव ही ऐश्वर्य है—ऐश्वर्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं। जिस तरह छाया न चाहने पर भी दौड़नेवाले मनुष्य का पीछा करती है, उसी प्रकार न चाहने पर भी अविद्या के दूर होने पर स्वतः ही ऐश्वर्य का स्फुरण होता है। वास्तव में ऐश्वर्य का विकास ही परमात्मा की स्वरूप-स्फूर्त्ति या स्वभाव का विकास है।

२. किन्तु बॉनेट (Bonnet), यूलर (Euler), हॉलर (Haller), श्मीट (Schmidt) प्रभृति आचार्यों की दृष्टि में 'चमत्कार' (Miracle) प्रकृति में पहले से वर्तमान रहते हैं। यथासमय बाह्यालोक में उनका प्रकाशमात्र होता है। इनकी बात भी ठीक है। प्रकृति शब्द का अर्थगत भेद स्वीकार करने पर दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं दिखायी देगा।

३. "We see that a firm will and a convinced faith act even on the bodily life and cause appearances which appeal to us as miracles. Who has hitherto here with certainty measured the realm of the possible and the real ? Nobody. Who can say how far the influences of one soul on another soul and of the soul on the body reach ? Nobody. Who can still affirm that all which in this realm appears as striking rests only on deception and error ? Certainly no miracles occur, but there is enough of the wonderful and the inexplicable."

योग तथा योग-विभूति

सद्गुरु-प्रदर्शित प्रणाली का अवलम्बन कर दीर्घकालतक अनवच्छिन्नरूप से श्रद्धा और सत्कार के सहित योगक्रिया का अभ्यास करने पर चित्त शुद्ध होता है और क्रमशः संसार के निदानभूत समस्त क्लेशों का शमन होता है। चित्त की आत्यन्तिक शुद्धि का फल है—विवेकख्याति और पुरुष की कैवल्य-सिद्धि। सत्त्वगुण की उच्च अवस्था प्राप्त होने पर योगी को नाना प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। आत्मा वास्तव में ईश्वर स्वरूप है, अविद्या के आवरण के कारण उसका ईश्वरत्व प्रकट नहीं हो पाता; परन्तु जब तीव्र योगाभ्यास के फलस्वरूप प्रज्ञा का उन्मेष होता है और अविद्या की निवृत्ति होती है, जिस समय सत्त्वगुण का प्रबल होना आरम्भ होता है; उस समय उसका स्वाभाविक ऐश्वर्य अभिव्यक्त होता है। ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति से लेकर आत्मस्वरूप में उपसंहृत होने तक ही आत्मा 'ईश्वर' कहा जाता है, उसके बाद कैवल्य है।

जीवकी दृष्टिसे विचार करने पर, विभूति या ऐश्वर्य और कैवल्य में क्रम है, ऐसा मालूम होता है; परन्तु अवस्थाविशेष में ऐश्वर्य का विकास हुए बिना भी कैवल्य की प्राप्ति असम्भव नहीं। ईश्वर की दृष्टि से ऐश्वर्य और कैवल्य समकालीन हैं—आत्मा का सगुण और निर्गुण भाव एक समय में ही वर्तमान रहता है। एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण नहीं करना पड़ता। योगभाष्यकार व्यासदेव ने इसी से ईश्वर को 'सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः' कहा है। विशुद्ध-सत्व ईश्वर की नित्य-उपाधि है, इसमें रजोगुण और तमोगुण का संस्पर्श न होने के कारण ईश्वर में ज्ञान, ऐश्वर्य प्रभृति धर्मों का विकास सर्वदा ही रहता है। जीव की उपाधि मलिन-सत्त्व है, वह भी जब साधना द्वारा शुद्ध हो जाता है, तब ऐश्वर्य प्रस्फुटित करता है। परन्तु यह सत्त्व कितना भी शुद्ध क्यों न हो, वह कभी रजोगुण और तमोगुण के स्पर्श से सम्यक् रूप में विमुक्त नहीं होता। इसी से जीव का साधन से लब्ध ऐश्वर्य उसकी प्रकृति-सम्बन्ध से हीन कैवल्यावस्था में नहीं रहता। यही कारण है कि योगी इस ऐश्वर्य अथवा विभूति को कैवल्य-पथ में विघ्न बतलाया करते हैं। परन्तु अप्राकृत एवं विशुद्ध-सत्त्व से जनित ऐश्वर्य परमात्मा का स्वभाव है। भगवत्कृपा से जीव के अन्दर विशुद्ध-सत्त्व का सञ्चार होने पर इस ऐश्वर्य का स्फुरण होता है। यह मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं है, अपितु बद्धावस्था में इसका आविर्भाव ही नहीं होता। जीव जब अपने विशुद्ध परमात्म-भाव की उपलब्धि करता है, तब अपने-आप ही उसके स्वभावभूत इन अलौकिक ऐश्वर्यों की अभिव्यक्ति होती है। भगवान् शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वर 'मानसोल्लास' में कहते हैं—

ऐश्वर्यमीश्वरत्वं हि तस्य नास्ति पृथक्स्थितिः ।
पुरुषे धावमानेऽपि छाया तमनुधावति ॥[1]

योगविभूति को वर्तमान समय के शिक्षित-समाज के कोई-कोई पुरुष 'चमत्कार' (Miracle) कहा करते हैं। वे कहते हैं कि जगत् में 'चमत्कार' नहीं हो सकते, क्योंकि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध कोई घटना नहीं घट सकती। बात एक तरह से बिल्कुल सत्य है, क्योंकि जगत्में जहाँपर जो कुछ घटित होता है, वह सब नियम के अधीन है, अतएव नियम या नियति का उल्लंघन कहीं भी सम्भव नहीं; इसमें सन्देह ही क्या है ? डाक्टर हर्नाक ने अपने 'Das Wesen des Christentums' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट ही कहा है कि यह बात ध्रुव सत्य है कि 'चमत्कार' (Miracle) हो नहीं सकते, जो कुछ देश और काल में घटता है वह क्रिया-संक्रान्त व्यापक नियम के अधीन है। प्रकृति की अविच्छिन्नता के भङ्ग होने की कल्पना नहीं की जा सकती; अतएव इस अर्थ में 'चमत्कार' (Miracle) या अप्राकृत घटना असम्भव है (पृ० १७)[2]। दार्शनिकप्रवर स्पिनोजा कहते हैं—'Nothing happens in nature, which is in contradiction with its universal laws.' अर्थात् प्रकृति में ऐसी कोई घटना सम्भव नहीं जो उसके व्यापक नियम के विरुद्ध हो। फिर भी हर्नाक ने विशद रूप से इस बात का निर्देश किया है कि जगत् में अप्राकृतिक घटना का स्थान न होने पर भी अलौकिक घटना का स्थान है। ऐसी घटनाएँ देखने में आती हैं, जो अत्यन्त आश्चर्यजनक होती हैं; जिनका कारण निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। वास्तव में प्रबल विश्वास तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति के प्रभाव से अनेक असाध्य व्यापार भी सुसिद्ध होते हैं, संसार में क्या और कितना सम्भव है, इसकी सीमा कोई निश्चित नहीं कर सकता[3]।

---

१. ईश्वर का स्वभाव ही ऐश्वर्य है—ऐश्वर्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं। जिस तरह छाया न चाहने पर भी दौड़नेवाले मनुष्य का पीछा करती है, उसी प्रकार न चाहने पर भी अविद्या के दूर होने पर स्वतः ही ऐश्वर्य का स्फुरण होता है। वास्तव में ऐश्वर्य का विकास ही परमात्मा की स्वरूप-स्फूर्ति या स्वभाव का विकास है।

२. किन्तु बॉनेट (Bonnet), यूलर (Euler), हॉलर (Haller), श्मीट (Schmidt) प्रभृति आचार्यों की दृष्टि में 'चमत्कार' (Miracle) प्रकृति में पहले से वर्तमान रहते हैं। यथासमय बाह्यालोक में उनका प्रकाशमात्र होता है। इनकी बात भी ठीक है। प्रकृति शब्द का अर्थगत भेद स्वीकार करने पर दोनों मतों में कोई अन्तर नहीं दिखायी देगा।

३. "We see that a firm will and a convinced faith-act even on the bodily life and cause appearances which appeal to us as miracles. Who has hitherto here with certainty measured the realm of the possible and the real ? Nobody. Who can say how far the influences of one soul on another soul and of the soul on the body reach ? Nobody. Who can still affirm that all which in this realm appears as striking rests only on deception and error ? Certainly no miracles occur, but there is enough of the wonderful and the inexplicable."

जो लोग निरपेक्ष भाव से भारतीय और विदेशीय धर्मग्रन्थों का अध्ययन और महापुरुषों के जीवनचरितों की आलोचना करते हैं, वे विभूति-सम्बन्धी बहुत-सी बातें जानते हैं। प्राचीन काल, मध्ययुग और वर्तमान समय के विभूति-सम्पन्न योगियों या भक्तों के अनेक दृष्टान्तों से वे परिचित हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, शुकदेव, अगस्त्य, विश्वामित्र, वसिष्ठ, शंकराचार्य, महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य, वीरचन्द्र, कबीरदास, नानक साहब, तुलसीदास, जगजीवन, पलटू साहब, दरिया साहब, बुद्धदेव, महामौद्गल्यायन, पार्श्वनाथ, महावीर, सामन्तभद्र, नागार्जुन, असङ्ग, मिलारेपा, साधक कमलाकान्त, तैलंगस्वामी, रामदास, (काठिया बाबा) प्रभृति नाम भारत में सुप्रसिद्ध हैं। पाश्चात्य देशों में ऐपोलोनियस (टायना के) ईसा, मूसा, इजकारेल, इत्यादि का नाम कौन नहीं जानता[1] ? सूफी और अन्यान्य मुसलमान फकीरों के योगैश्वर्य का वर्णन बहुत से ग्रन्थों में मिलता है[2]। आज भी भारत में बहुत-से लोकोत्तर क्षमताशाली योगी विद्यमान हैं। किसी-किसी ने सौभाग्यवश उनमें से किसी-किसी के अचिन्तनीय ऐश्वर्यों को अपनी आँखों प्रत्यक्ष देखा भी है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि विभूति या सिद्धि विकृत मस्तिष्क की कल्पनामात्र है, वे यदि इस विषय में सरल मन से खोज करें तो उन्हें बहुत से रहस्यों का पता मिल सकता है[3]।

यहूदियों के प्राचीन धर्मग्रन्थ (Old Testament) में लिखा है कि मूसा ने समुद्र (Red Sea) में मार्ग बना लिया था, अमृत की वर्षा करायी थी। एलिक्षा[4]

१. डाक्टर ब्रुअर ने अपने 'Dictionary of miracles' नामक बृहद् ग्रन्थ में बहुसंख्यक प्राचीन और मध्ययुग के ईसाई महापुरुषों की अलौकिक शक्ति के प्रमाण संग्रह कर के प्रकाशित किये हैं। पाठक अपनी उत्सुकता दूर करने के लिये उस ग्रन्थ को देख सकते हैं।

२. बँगला की 'तापसमाला', निकल्सन (Nicholson) कृत 'Islamic Mysticism' आदि पुस्तकें देखनी चाहिये।

३. एक बार एक विख्यात प्राच्य पण्डित ने योगसूत्र और वृत्ति का अँगरेजी अनुवाद और व्याख्या करते हुए नास्तिक और अविश्वासी की तरह विभूति के विषय में कटाक्ष किया था। आजकल बहुत से लोग उन्हीं के मतावलम्बी हैं, इसमें सन्देह नहीं। इन लोगों की धारणा है कि शास्त्र-वर्णित विभूति या सिद्धि कल्पित वस्तु है। साधारण लोग ठगों के हाथों प्रतारित होकर इस बात पर सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते हैं। वैज्ञानिक लोग समझते हैं कि वह असम्भव है, इत्यादि।

४. ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन एक विधवा स्त्री ने महात्मा एलिक्षा के पास आकर आर्त्त स्वर में निवेदन किया कि ऋण-शोध के लिए महाजन मुझको और मेरी सन्तानों को बेंच देने का भय दिखा रहा है; कृपा कर ऐसा कोई उपाय करें जिससे हमारी रक्षा हो। महात्मा ने उससे पूछा—तुम्हारे घर में अपनी कोई सम्पत्ति है या नहीं ? उसने उत्तर दिया कि एक छोटे-से बर्तन में केवल थोड़ा-सा तेल है। महात्मा ने कहा—'जाओ, अपने पड़ोसियों के घरों से माँग कर बड़े-बड़े जितने बरतन मिल सकें, ले आओ, और अपने उस तेल के बरतन से तेल ढाल-ढालकर उन सब बरतनों को भर दो। देखोगी, जितना ही ढालोगी उतना ही बढ़ता जायगा। सब बरतन भर जायेंगे। फिर उस तेल को बेचकर ऋण चुका देना और जो कुछ बच रहे उसे अपने निर्वाह के लिए रख लेना।' ऐसा ही हुआ था। किंग्स ४. १-७

और एक समय बाल शालिशा (Baal Shalisha) से जौ की बीस रोटियाँ लेकर एक

ने मृत बालक को पुनर्जीवित किया था[1]। ईसामसीह ने अपने प्रचार-जीवन में बहुत-सी आश्चर्यजनक घटनाएँ दिखायी थीं, उन सबका वर्णन प्रसंगवश 'न्यू टेस्टामेण्ट' (New Testament) में किया गया है। उन्होंने, जब कि गेलिली के अन्तर्गत काना में विवाहोत्सव हो रहा था, निमन्त्रित व्यक्तियों के लिए विशुद्ध जल को मदिरा के रूप में परिवर्तित किया था[2] और केवल कर-स्पर्शके द्वारा कुष्ठरोग को दूर किया था। जन्मान्ध को मिट्टी का स्पर्श कराकर दृष्टि-प्रदान की थी[3] और पाँच जौ की रोटियों तथा दो छोटी-सी मछलियों के द्वारा पाँच हजार मनुष्यों को भोजन कराकर पूर्ण सन्तुष्ट किया था[4]। वह समुद्र के ऊपर पैदल चले थे[5], उन्होंने मृत व्यक्ति को प्राणदान दिया था[6]। इस प्रकार और भी उन्होंने कितने ही अद्भुत कार्य किये थे[7]। फारसी लोग (Pharisees) इन सब अलौकिक कार्यों में विश्वास नहीं करते थे। इसी कारण यह सब झूठ है, ऐसा किसीको नहीं मान लेना चाहिए। एपोलिनियस भी ईसा के समकालीन एक श्रेष्ठ योगी थे। उन्होंने भारतवर्षमें आकर सद्गुरु से योग-शिक्षा प्राप्त की थी। उनके साथी शिष्य उनकी यात्रा और शिक्षा-सम्बन्धी विवरण लिखकर रखते जाते थे। एपोलिनियस के बहुत-से जीवन-चरित्र लिखे गये हैं, उनसे बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं। इन्होंने भी मृत व्यक्तियों को जीवित किया था। वह भूत और भविष्य की घटनाओं को स्वच्छ-दर्पण के प्रतिबिम्ब की तरह देख सकते थे। वह कहा

आदमी एलिक्षाके पास आया। एलिक्षा ने उन बीस रोटियों से सात सौ मनुष्यों को सात सौ मनुष्यों को भर पेट भोजन कराया और फिर भी रोटियाँ बची रहीं। (किंग्स ४।४२-४४)

१. सुप्रसिद्ध औपन्यासिक स्व० बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के पिता यादवचन्द्र चट्टोपाध्याय को कई बार मृत्यु के बाद श्मशान घाट पर अलौकिक ढंग से आविर्भूत होकर एक महापुरुष ने कृपा कर पुनर्जीवन प्रदान किया था।

२. जॉन २।१-११। ईसा की उम्र उस समय ३० वर्ष से कुछ ऊपर थी।

३. [illegible]

४. मैथू० १४।१३-२३; मार्क० ६।३०-४६; लूक० ९।१०-१७; जॉन ६।१-१५।

५. मैथू० १४।२४-२६; मार्क० ६।४७-५६; जॉन ६।१६-२१।

६. यहूदी शासक जयरान की बारह साल की एकलौती कन्या, एक विधवा के पुत्र, एवं लाजेरस, इनको ईसा की कृपा से पुनर्जीवन प्राप्त हुआ था। गो० तुलसीदासजी ने भी एक मृतक को जीवन-दान दिया था।

७. एक बार ईसामसीह काना नगर में गये। वहाँ से केपरनॉम (Capernaum) प्रायः १६ या १८ मील दूर था। एक सेठ का लड़का वहाँ मुमूर्षु-अवस्था में था। ईसा ने काना में रहते हुए ही, इतनी दूरी पर से, रोगी का रोग दूर कर दिया था। जिस समय उन्होंने रोगनिवृत्ति की बात कही, ठीक उसी समय रोग दूर हुआ था। घर लौट कर जाते समय रास्ते में नौकरों से सेठ की मुलाकात हुई; नौकरों ने जिस समय रोग दूर हुआ था, उसे बतलाया, वह ईसा के बतलाये हुए समय से मिल गया। जॉन ४।४३-५४।

इसी स्थान (Capernaum) में उन्होंने साइमन के घर जाकर उसकी सास का ज्वर स्पर्श-मात्र से दूर कर दिया। उसी दिन और भी बहुत-से लोगों के रोग दूर किये। मैथू० ८।१४-१७; मार्क० १।२१-३४; लूक० ४।३३-४१।

५१

करते थे कि संयत जीवन ही इसका हेतु है[1]। ए० विल्डर (A. Wilder) ने अपने 'Neo-Platonism and Alchemy' नामक ग्रन्थ में इसको 'Spiritual photography' कहा है। स्पेन देश की राजधानी मैड्रिड नगर के अधिवासी महात्मा इसीडोर की असाधारण विभूति का वर्णन उनके चरित लेखक एडवर्ड किनेसमैन (Edward Kinnesman) ने किया है। (देखिये—"The Miraculous Life, etc. of St. Isidore, patron of Madrid, lately canonised by Gregory XV") यह महात्मा एक किसान थे। एक बार उन्होंने सारे दिन परिश्रम करने के बाद शाम को अपनी कुटी में आकर देखा कि एक दरिद्र मुसाफिर अन्न की आशा से द्वार पर बैठा है। महात्मा ने अपनी स्त्री से उस आदमी के लिए कुछ खाना लाने के लिए कहा, परन्तु घर में कुछ भी नहीं था। इसीडोर ने स्त्री से कहा—'जाओ, घर में जाकर अन्नपात्र को अच्छी तरह देखो कि कुछ है या नहीं।' स्त्री ने उत्तर दिया कि मैं उसे अभी तो धो-माँज कर रख आयी हूँ, वह एकदम खाली है। तब उन्होंने स्त्री से कहा कि उस बर्तन को तुम मेरे पास ले आओ। स्त्री जब घर में बर्तन लाने गयी तो छूते ही यह उसे बहुत भारी मालूम पड़ा। जब उसने उसका ढक्कन उठाया तो देखा कि पात्र तुरन्त पके हुए उष्ण और उपादेय खाद्य-पदार्थ से परिपूर्ण है। उसने उनके द्वारा भूखे अतिथि को भर पेट भोजन कराया, फिर भी वह समाप्त नहीं हुआ।

कहते हैं, छठी शताब्दी में लुक्का में फ्रिडियन नामक एक उच्च कोटि के साधु रहते थे। उन्होंने एक बार औसर (Auser) नामक नदीकी धाराको अपने सिद्धि-बल से बाढ़ के समय परिवर्तित कर दिया था। अगर वह ऐसा न करते तो बढ़ी हुई नदी के भीषण प्रवाह से समस्त देशका विध्वंस हो जाता। महात्मा ने २८ उपासनालय बनवाये थे। एक बार ऐसे एक घर के बनवाते समय एक बहुत बड़ी शिला को ऊपर उठाने की आवश्यकता हुई। जब बहुत से लोगों के द्वारा मिलकर चेष्टा करने पर भी वह ऊपर न उठ सकी तो पीछे महात्मा ने अनायास उसे ऊपर उठा दिया।[3]

---

१. शंकराचार्य ने दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में स्पष्ट ही कहा है कि 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीसदृशम्' है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरिने कहा है—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते॥

अर्थात् 'जब चित्त-सत्त्व तमःशून्य होकर प्रकाशमान होता है और रजःशून्य होकर स्थिर (अनुपद्रुत) होता है तब भूत और भविष्यके विषय प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं।' A. Wilder ने इस रहस्यकी व्याख्या इस प्रकार की है—

"The soul is the camera in which facts and events,—future, past and present are alike fixed, and the mind becomes conscious of them. Beyond our everyday world of limits, all is as one day or state, the past and future comprised in the present."

२. देखिये—Gregory: Dialogues, (पुस्तक ३, अध्याय ९)। कहते हैं, शङ्कराचार्यने भी अलवाई नदी की गति परिवर्तित कर दी थी।

३. देखिये—Ecclesiastical History of Lueca (1735).

एग्निस (Agnes) नाम्नी एक साधिका की असाधारण योगविभूति की कथा ईसाई धर्म-साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध है। एक दिन दो साधु उसकी क्षमता की बात सुनकर उससे मिलने के लिये आये। बहुत देरतक तीनों आदमियों ने आध्यात्मिक जीवन के सम्बन्ध में नाना प्रकार की आलोचनाएँ कीं। अन्त में साधिका ने दोनों आगन्तुक साधुओं को भोजन के लिये बैठाया। भोजन परोसने के पहले ही साधुओं ने देखा कि अकस्मात् एक थाली मेज के ऊपर आ गयी, उसमें एक सुन्दर खिला हुआ गुलाब का फूल था। साधिका ने कहा 'बाबाजी' प्रभु ईसा ने दया कर के भयकर शीतकाल में, जब कि अन्यान्य पार्थिव पुष्प अति शीत के कारण नष्ट हो गये हैं, स्वर्ग के बगीचे से इस गुलाब को हम लोगों के पास भेज दिया है। आप लोगों के साथ वार्त्तालाप करने से मेरे हृदय में जो आनन्द और तृप्ति का सञ्चार हुआ है, यह उसी का निदर्शन है[१]।' दोनों साधु इस विचित्र घटना को देखकर बड़े विस्मित हुए और अपने-अपने स्थान को लौट गये। इस साधिका ने पल्कियानो (Pulciano) नामक पर्वत-शिखर पर एक रमणीय विहार बनवाया था। उस जगह बीस तपस्विनी साधिकाएँ उसके साथ रहती थीं। एक बार तीन दिन तक घर में अन्न नहीं था, सब लोगों ने उपवास किया था। एग्निस ने प्रार्थना की, 'प्रभु, तुम्हारे ही आदेश से मैंने इस विहार को बनाया था। अब तुम क्या यह चाहते हो कि तुम्हारी सेविकाएँ अन्न बिना प्राण त्याग दें? प्रभु! हमारे लिये अन्न की व्यवस्था करो, अन्यथा हम सब मर जायँगी। हम लोगों के लिये पाँच रोटियाँ भेज दो। स्वामिन्! हमारी आवश्यकता बहुत ही साधारण है; परन्तु तुम्हारी शक्ति तो असाधारण है, और तुम्हारा प्रेम भी अनन्त है।' उसी समय एक साधिका घर में जा रही थी। एग्निस ने उससे कहा—'बहिन, जाओ, ऊपर के घर में से रोटी ले आओ, उन्हें अभी प्रभु ईसा ने भेज दिया है।' रोटी लाकर मेज पर रखी गयी। वह एक विचित्र वस्तु थी, उसमें से जितनी ही खाई जाती थी, उतनी ही द्रुत गति से अलक्ष्यरूप में वह बढ़ती जाती थी। बहुत दिनों तक आश्रम के सब लोगों की भूख उसीसे निवृत्त होती रही।[२]

पौलानिवासी महात्मा फ्रान्सिस की अलौकिक क्षमता का वर्णन उनके जीवन-चरित्र में[३] मिलता है। उनकी इच्छाशक्ति एक प्रकार से अपरिमित थी; भौतिक-द्रव्य के स्पर्श के बिना ही केवल उनके मुँह से निकली हुई वाणी के प्रभाव से टेढ़ा पेड़ सीधा हो गया था, कठोर लोहा कोमल होकर दूर देश में चला गया, गंभीर-गर्त्त तालाब बन गया। एक बार उन्होंने बिलकुल न चल सकने वाले एक पंगु व्यक्ति को एक बहुत बड़ा पत्थर का टुकड़ा छत पर ले जाने की आज्ञा दी और साथ-ही-साथ उसमें शक्ति का संचार किया। पत्थर इतना भारी था कि दो बैल भी उसे हिला नहीं सकते थे। वह आदमी अनायास उसे उठा ले गया और नीरोग हो गया। एक दिन एक लकवे से पीड़िता स्त्री कर्टोना नामक स्थान से उनके पास आयी। वह स्त्री तीस

१. देखिये—'Life of St. Agnes', by Raymond of Capua.
२. देखिये—La Vierge de Sienne: Dialogues, 149.
३. Le P. Giry: Life of St. Francis of Paula,

वर्षों से बीमार थी। उस समय महात्माजी आश्रम-गृह बनवा रहे थे। उन्होंने उस स्त्री से एक बड़ा पत्थर उठाकर राजमिस्त्री के पास पहुँचा देने के लिये कहा। स्त्री ऐसा करते ही रोग से मुक्त हो गई। कहते हैं, एक बार—जब वह अपना कालाब्रियाका आश्रम बनवा रहे थे तो समीपवर्त्ती पर्वतका एक बहुत बड़ा हिस्सा टूट कर बड़ी तेजीसे नीचेकी ओर खिसक पड़ा, ऐसा मालूम हुआ कि आश्रमके ही ऊपर आकर गिरेगा। आश्रम और कार्य करनेवाले आदमियोंके उस बड़े पत्थरकी चोटसे नष्ट होने की आशंका हुई, एक प्रकारका करुण आर्त्तनाद चारो ओर छा गया। परन्तु महात्मा फ्रान्सिसके स्थिर होकर शक्तिका प्रयोग करते ही पाषाणकी गति बन्द हो गयी। उन्होंने वहाँ जाकर अपने डंडेसे पत्थरपर प्रहार किया और पत्थरको आदेश दिया कि वह नीचे न गिरे। पत्थर वहीं रह गया। बहुतसे लोगोंने इस घटनाको प्रत्यक्ष देखा था। इस प्रकारकी असंख्य बातें उनके जीवन-चरितसे मालूम होती हैं।

हमारे देशमें भी ऐसी असंख्य घटनाएँ महापुरुषोंके जीवन में देखी जाती हैं। श्रीकृष्णकी बात हम छोड़ देते हैं, क्योंकि वह 'भगवान् स्वयं' कहकर सम्प्रदाय-विशेषके द्वारा पूजे जाते हैं[१]। बाल-ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता शुकदेवकी कथा चिर-प्रसिद्ध है। उन्होंने योग-बलसे सूर्यमण्डलमें प्रवेश किया था। महाभारतमें वर्णन है कि नारदका उपदेश सुनकर उन्होंने मन-ही-मन सोचा—

तत्र यास्यामि यत्रात्मा प्रशमं मेऽधिगच्छति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः॥
न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते॥
तस्माद् योग समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम्॥

उन्होंने सोचा कि चन्द्रमामें ह्रास-वृद्धि होती है, अतएव वहाँ जाना उचित नहीं। सूर्य 'अक्षयमण्डल' हैं, वह अपने उज्ज्वल रश्मिबलसे सब स्थानोंसे नित्य ही तेजको खींचते हैं। इसीसे शुकदेवने सूर्यलोकमें निःशङ्क होकर वास करनेका निश्चय किया। स्थूल-देह त्यागकर सूर्यमण्डलमें ऋषियोंके साथ जानेकी इच्छा की। उसके बाद सूर्योदय होनेपर गिरिशृङ्गपर निर्जन और समभूमिमें बैठकर उन्होंने पाद-प्रभृति समस्त शरीरमें आत्माको धारण किया तथा पूर्वमुख होकर आत्माका दर्शन किया। तत्पश्चात्—नारदकी प्रदक्षिणा करके उन्होंने उन्हें अपना योग दिखाया।

---

१. परन्तु जो लोग उन्हें मनुष्य मानते हैं, उनको भी उनकी अचिन्त्य लीलाओंको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये। दुःखका विषय है कि भगवान् श्रीकृष्ण और ईसाको जो लोग मनुष्य मानते हैं, वे लोग उनके जीवनके अलौकिक अंशको छोड़ देते हैं। रेनन (Renan), बंकिमचन्द्र प्रभृति कुछ अंशमें इसी प्रकारके भावुक विद्वान् हैं। ये समझते हैं कि मनुष्यके जीवनमें अलौकिक शक्तिका विकास होना सम्भव नहीं। पीछेसे ये सब बातें भक्तों द्वारा उनके जीवनीमें आरोपित कर दी गयी हैं।

स पुनर्योगमास्थाय मोक्षमार्गोपलब्धये।
महायोगेश्वरो भूत्वा सोऽत्याक्रामद् विहायसम्॥

फिर नारदकी आज्ञा लेकर 'पुनर्योगमास्थाय आकाशमाविशत्'—पुनः योगबलसे आकाशमार्गमें प्रवेश किया। वह कैलासशिखरसे उड़कर देवलोकमें गये। वह 'अन्त-रिक्षचर' और 'वायुभूत' थे। एकाग्र मनसे उड़ते जा रहे थे; ऐसी अवस्थामें मनुष्य, देवता, गन्धर्व, अप्सरा, ऋषि, सिद्धमण्डली सब लोग उन्हें देख रहे थे, और देखकर सब विस्मित हो रहे थे।

श्रीशङ्कराचार्यके असाधारण योगबलकी कथा आजकल बहुत-से लोग जानते हैं। परकाय-प्रवेश, नर्मदाका जल-स्तम्भन, आकाश-मार्गसे गमन[1] प्रभृति बातोंसे सब परिचित हैं। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके जीवनकी जिन्होंने पर्यालोचना की है, वे जानते हैं कि बहुत स्थानोंमें उनके योगैश्वर्यका परिचय मिलता है। सार्वभौम भट्टाचार्यके सामने षड्भुजमूर्ति धारण करके आविर्भूत होना, उनकी योगशक्तिमत्ताका सामान्य निदर्शनमात्र था। बुद्धदेवकी ऋद्धि-सिद्धि अलौकिक थी। बौद्ध-साहित्यके अन्तर्गत बुद्धदेवके जीवन-वृत्तान्तकी पर्यालोचना करनेपर इसका सविस्तर विवरण मालूम हो सकता है। षडभिज्ञ, दशबल इत्यादि नाम भी उनकी ऋद्धिमत्ताके ही सूचक हैं[2]। मौद्गल्यायन[3] और पिण्डोल भारद्वाज[4] भी ऋद्धिसम्पन्न थे। धम्मपदके १८० (१४।२) श्लोककी व्याख्यामें बुद्धघोषने पिण्डोल भारद्वाजके आकाश-गमनका एक विचित्र इतिहास दिया है। कहते हैं, एक बार राजगृहके एक सेठ गङ्गामें जलकेलि करनेके लिये गये। उन्होंने अपने बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र इत्यादि सुरक्षितरूपमें गङ्गातट पर एक पात्रमें रख दिये। कुछ दिनों पहले नदीतटसे एक रक्तचन्दनका वृक्ष जड़से उखड़-कर नदीमें गिर गया था और नदीके तीव्र स्रोतमें पत्थरसे घिस-घिसकर वह टूट गया था। उस वृक्षका जलमें निरन्तर घिस-घिसकर गोल और चिकना घड़ेके बराबर एक टुकड़ा हो गया था और बहते-बहते सेवारसे ढक गया था। वह काठ सेठके भूषण-पात्रसे आकर लग गया। सेठने काठके टुकड़ेको काटनेपर पहचान लिया कि यह रक्त-चन्दन है। वह उसे घर लेता गया और उसके द्वारा उन्होंने एक कमण्डलु बनवाया। एक दिन उन्होंने बाँसके दंडोंको जोड़कर ६० हाथ ऊँचा एक दंड बनाया और उसे जमीनमें गाड़कर उसके ऊपर उस कमण्डलुको टाँग दिया। उसके बाद उन्होंने चारों ओर घोषणा कर दी—'यदि कहीं कोई अर्हत् हों तो शून्यमार्गसे आकर इसे

१. माहिष्मती नगरीमें जाकर मण्डनके घरके किवाड़ बन्द देखकर शंकरने योगबलसे आकाशमार्गसे मण्डनके अन्तःपुरमें प्रवेश किया। 'योगशक्त्या व्योमाध्वनावातरदङ्गणान्तः।' (माधवकृत शङ्करदिग्विजय ८।९)।

२. श्रीकृष्णकी तरह बुद्धदेवके भी अलौकिक योगैश्वर्यका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया।

३. संजय नामक एक विभूति-सम्पन्न गुरुके मौद्गल्यायन और सारिपुत्र दो शिष्य थे। पीछे उन्हने बुद्धदेवका आश्रय ग्रहण किया था।

४. दिव्यावदानके मतसे पिण्डोल भारद्वाज अति दीर्घजीवी थे। वह राजा धर्माशोकके राज्यके अन्त समय तक जीवित थे।

ग्रहण करें[1]। वहाँपर बहुत-से साधु एकत्र हो गये। प्रथम छः दिन छः साधुओंके प्रयत्नके लिये निर्दिष्ट थे। वे सब विफल-मनोरथ हो गये। सातवें दिन महामौद्गल्यायन और पिण्डोल भारद्वाज राजगृहमें भिक्षाके लिये आये। वे लोग एक समतल पहाड़के ऊपर खड़े होकर कपड़े पहन रहे थे। वहाँपर कुछ शिकारी आपसमें बातें करते थे, आजकल कोई अर्हत् नहीं, सेठके कमण्डलुको शून्यपथसे आकर कोई भी ग्रहण न कर सका। आजकल जो लोग अपनेको अर्हत् बतलाते हैं, वे झूठे और कपटी हैं।" शिकारियोंकी बात सुनकर मौद्गल्यायन और पिण्डोलने मनमें सोचा कि बुद्धके धर्मका अपमान हो रहा है। अतएव वे समाधि-विशेषमें समाहित होकर व्युत्थित हुए और पादांगुलिद्वारा तीन योजन समतल शैलकी प्रदक्षिणा करके आसमानमें उठ गये, साथ ही-साथ पहाड़ भी रुईकी तरह हलका होकर उठ गया। फिर उस पहाड़के साथ राजगृह नगरके ऊपर शून्यपथसे उन्होंने सात बार परिक्रमा की। राजगृह तीन योजनमें फैला हुआ था। ऐसा मालूम हुआ, मानो नगरके ऊपर कोई ढकन आ पड़ा है। समस्त नगरवासी भयभीत हो गये। सातवीं बार प्रदक्षिणा करते समय पहाड़ फट गया और उसके बीचसे भारद्वाज लोगोंके सामने प्रकट हो गये। उन्होंने पादाघात करके पहाड़को यहाँसे हटाया, पहाड़ पूर्वस्थानमें जाकर स्थिर हो गया। पिण्डोल, सेठके अनुरोधसे, उनके घर उतरे और उनके दिये हुए आसन पर बैठ गये। शून्यसे भिक्षापात्र ग्रहण करके जब वह आश्रमकी ओर वापस जाने लगे तब बहुत-से लोगोंने जिन्होंने उस आश्चर्यजनक घटनाको देखा नहीं था, उसे पुनः दिखानेके लिए बार-बार अनुरोध किया। पिण्डोलने उनके अनुरोधके अनुसार कार्य किया। उसी समय उस पथसे भिक्षाके लिये बुद्धदेव आ रहे थे, चारों ओर सबके द्वारा पिण्डोलकी ऋद्धिकी प्रशंसा हो रही थी। बुद्धदेवको आनन्दसे पूछनेपर सब बातें मालूम हो गयीं। उन्होंने पिण्डोलको बुलाकर सब बातें पूछीं और कहा—'भारद्वाज! इस प्रकारका काम तुमने क्यों किया?' यह कहकर रक्तचन्दनके पात्रको उन्होंने टूक-टूक करके सब भिक्षुओंको चन्दन घिसनेके

---

१. शून्यमार्गसे चलनेका सामर्थ्य ही अर्हत्का बाह्य लक्षण है। मल-सम्बन्धके कारण जीव जड़त्वको प्राप्त होता है और ऊपर उठनेकी शक्ति खो बैठता है। धम्मपदमें (श्लोक १७५ = १३।९) लिखा है कि हंस सूर्यके मार्गसे जाता है, जो विभूतिशाली हैं, वे आकाशमार्गसे चलते हैं। इस श्लोककी बुद्धघोषकृत अट्ठकथा में ३० भिक्षुओं का आख्यान है। ये लोग विदेश से जेतवन में बुद्धदेव के दर्शन के लिये आये थे। उस समय बुद्ध के परिचारक आनन्द नामक स्थविर वहाँ उपस्थित थे। बुद्ध समागत भिक्षुओं के साथ वार्तालाप कर के सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उन्हें उपदेश प्रदान किया, फलस्वरूप वे अर्हत्-पद प्राप्तकर शून्यपथसे चले गये। किन्तु आनन्द उस समय भी बाहर रास्ता देख रहे थे, सोचते थे; भिक्षुओं के कार्य समाप्त कर बाहर चले जाने पर मैं बुद्धदेव के पास जाऊँगा। बहुत देर बाद भी उन्हें बाहर होते न देख, वह घर के अन्दर गये और वहाँ भी उन्होंने उन लोगों को नहीं देखा। उस समय बुद्धदेव से कारण पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया, 'वे लोग शून्यपथ से चले गये। उन लोगों ने मलशून्य होकर अर्हत्-पद प्राप्त कर लिया था।' उस समय कितने ही हंस शून्यपथ से जा रहे थे। उन्हें देख कर बुद्धदेव ने कहा, 'जो लोग चतुर्विध ऋद्धि का विकास करते हैं, वे हंस की नाईं शून्यमार्ग से जा सकते हैं।'

लिये दान दे देनेका आदेश दिया और यह नियम बना दिया कि भविष्यमें और कोई शिष्य इस प्रकार लौकिक कार्यके विषयमें कभी योगैश्वर्यको प्रकाशित न करे।

महाप्रभु नित्यानन्द के पुत्र वीरचन्द्र सिद्धिसम्पन्न थे। नित्यानन्ददास-कृत 'प्रेमविलास' (चौबीसवें विलास) में कहा गया है कि एक दिन वह गौड़ देश के बादशाह के पास गये। बादशाह ने मुसलमान रसोइये द्वारा बनवा कर उन्हें मांस खाने को दिया। वीरचन्द्र वैष्णव थे; अतएव निरामिष-भोजी थे। भोजन जिस थाल में लाया गया था वह सफेद कपड़े से ढका था। बादशाह ने वीरचन्द्र की परीक्षा करने के लिये ही ऐसा किया था। वीरचन्द्र भी इसे जानते थे। जिस समय थाली से कपड़ा हटाया गया, उस समय देखा गया कि वहाँ मास नहीं है; नाना प्रकार के सुगन्धित खिले हुए फूल सजाकर रखे गये हैं। बादशाह ने और भी दो बार इसी प्रकार मांस दिलवाया। दोनों ही बार सबके सामने पात्र खोलकर देखा गया; उसमें मांस नहीं था, पुष्प थे।[१]

ऐसी किंवदन्ती है कि पलटू साहब को जीवित अवस्था में ही जलाकर मार डाला गया था। परन्तु उन्हों ने उसी शरीर से और उसी समय पुरुषोत्तम-क्षेत्र में आविर्भूत होकर अपने लोकोत्तर सामर्थ्यका परिचय दिया था—

अवधपुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में, पलटू प्रगटे जाइ॥

महात्मा दरिया साहब (मारवाड़ी) मारवाड़ान्तर्गत मेड़ता परगने के अधीन रैन गाँव में निवास करते थे। उन्हों ने इच्छाशक्ति के बल पर राजा बख्तसिंह को उनके असाध्य रोग से मुक्त किया था, ऐसा प्रसिद्ध है।

पंडितवर्ग जैन संन्यासी काञ्चीवासी आचार्य स्वामी समन्तभद्र को रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गन्धहस्तिमहाभाष्य, युक्त्यनुशासन, जिनशतकालंकार, विजयधवलटीका और तत्त्वानुशासन के रचयिता के रूप में जानता है[२]। परन्तु वह एक विशिष्ट कोटि के योगी थे। इसे सम्भवतः बहुत-से लोग नहीं जानते। कहते हैं, एक बार काशी में रहते समय वहाँ के राजा ने उन्हें किसी देव-मूर्ति को प्रणाम करने के लिये कहा। उनका प्रणाम वह मूर्ति सहन नहीं कर सकेगी, ऐसा कह कर वह पहले प्रणाम के लिये सम्मत नहीं हुए। परन्तु उन्होंने जब देखा कि मेरी बात पर किसी को विश्वास नहीं है, तब

---

१. बादशाह ने सन्तुष्ट होकर उन्हें कुछ माँगने लिये कहा। वीरचन्द्र ने दो बातें माँगीं (क) मेरे जन्मस्थान खड़दा में मुसलमानों के द्वारा मन्दिर और मूर्तियाँ नष्ट न की जायँ। (ख) राजमहल में एक काले रंग का पत्थर है, वह मुझे दिया जाय।

उसी पत्थर के द्वारा खड़दा के प्रसिद्ध श्यामसुन्दर की मूर्त्ति निर्मित हुई और उनके पुत्र अच्युतानन्द द्वारा स्थापित हुई। स्वामिवन के नन्दलाल और वल्लभपुर के वल्लभजी की मूर्तियाँ भी उसी पत्थर से बनायी गयी थीं।

२. 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर विशाल टीकाग्रन्थ (१४००० श्लोकों का) था, यह अभी सम्पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं हुआ है। इसका केवल मङ्गलाचरणमात्र मिलता है, उसका नाम है 'देवागमस्तोत्र' या 'आप्तमीमांसा'। इसी अंश के ऊपर अकलंक की अष्टशती, विद्यानन्द की अष्टसाहस्री, वसुनन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती की देवागमवृत्ति नामक टीका है।

अन्त में उन्हें बाध्य होकर प्रणाम करना पड़ा। देखा गया कि प्रणाम करते ही मूर्ति टूट गयी[1] और उसके अन्दर से अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ भगवान् का प्रतिबिम्ब प्रकट हो गया। देखकर सब लोग आश्चर्यान्वित हो गये।

यहाँ इस प्रकार के बहुत से दृष्टान्त देने से कोई लाभ नहीं। वर्तमान समय में यहाँ भी और पाश्चात्य जगत् में अलौकिक घटनाओं का अभाव नहीं है। ये सभी निर्मूल हैं, ऐसा कोई न समझें। जगत् में शठता, प्रवञ्चना आदि का भी अभाव नहीं; बहुत-से धूर्त्त अपने स्वार्थसाधन के लिये सरल विश्वासी जनता को अनेक समय कृत्रिम ऐश्वर्य दिखा कर मोहित करते और ठग लेते हैं, तथापि उससे सत्य का गौरव कभी क्षुण्ण नहीं हो सकता। अवश्य ही यह भी ठीक नहीं कि अलौकिक विभूतिमात्र ही योग की विभूति है। क्योंकि योग के बिना भी अलौकिक रूप में खण्ड-विभूति के अनेकों कार्य दिखाये जा सकते हैं। साधारण लोगों के लिये दोनों का भेद समझना सहज नहीं। साथ-ही-साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि वास्तविक योग-विभूति तुच्छ वस्तु नहीं है। जिनके अन्दर इस प्रकार की विभूति उत्पन्न नहीं हुई, वे यदि इसे तुच्छ समझें तो अधिकांश स्थानों में 'अंगूर खट्टे हैं' की कहावत ही चरितार्थ होती है, ऐसा समझना होगा। विभूति का उदय होना जैसे योगी के लिये स्वाभाविक है, वैसे ही उसका उपसंहार भी परमावस्था के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अवश्य ही इसे द्वैत-दृष्टि से ही समझना होगा। क्योंकि मायाशक्ति की उपलब्धि जिस समय योगमाया या स्वरूप-शक्ति के रूप में की जाती है, उस समय योगविभूति का उदय या अस्त, आविर्भाव अथवा तिरोभाव, दोनों अलीक-वाक्यमात्र रह जाता है। कारण, स्वरूप का जैसे उदय-अस्त नहीं होता, वैसे ही स्वप्रकाश स्वरूप-शक्ति का भी वस्तुतः आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होता। श्रीभगवान् मंगलमय हैं, उनकी दिव्य-विभूति भी मंगलमयी हैं। पातञ्जलदर्शन-प्रभृति ग्रन्थों में जो विभूति को अन्तराय (विघ्न) कहा गया है, उसे कैवल्य या आत्मा की स्वरूपावस्था-प्राप्ति की प्रतिबन्धात्मक विभूति समझना चाहिये, क्योंकि श्रीभगवान् की दिव्य-विभृति शुद्ध-सत्त्व का कार्य है, वह कभी हेय नहीं समझी जा सकती। विश्वव्यापी प्राचीन और नवीन महापुरुषों की विभूति से यही प्रमाणित होता है।

वास्तव में सर्वात्मता या पूर्णाहंता ही महाविभूति है। आणिमादि सिद्धियाँ उसका अति क्षुद्र आंशिक विकासमात्र हैं। यह बात शंकर और सुरेश्वर ने स्पष्टरूप से कही है। बौद्धाचार्यों का कहना है कि स्रोत-आपन्न, सकृदागामी और अनागामी अवस्था के बाद जब अर्हद्-भावका आविर्भाव होता है; तब अर्थ, धर्म, निरुक्ति और प्रतिभान इस चार प्रकार के प्रतिसवित् एवं ऋद्धि, दिव्य-श्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, अपने और दूसरे के पूर्वजन्म की स्मृति और दिव्यदृष्टि, इस पाँच प्रकार[2] की अभिज्ञाओं का उदय हो जाता है।

---

१. इस प्रकार की घटना प्रसिद्ध तान्त्रिक योगिवर भास्करराय के जीवन में भी हुई थी। 'गुरुपरम्पराचरित्र' में इसका उल्लेख है।

२. किसी-किसी स्थान में 'आश्रव-क्षयकर-ज्ञान' नामक एक छठी अभिज्ञा के उदय की बात भी पायी

पहली पाँच प्रकार की अभिज्ञा ध्यान-चतुष्टय से उत्पन्न होती है, ध्यान की प्राप्ति होते ही अभिज्ञा उत्पन्न हो जाती है। साधक स्वयं जिस भूमि पर स्थित होता है, उस भूमिके और उससे नीची भूमि के विषयों को वह अभिज्ञा द्वारा प्राप्त कर सकता है। परन्तु अपने से ऊँची भूमि में अभिज्ञा का प्रयोग नहीं चलता। साधारणतः दीर्घ काल तक किये जाने वाले अभ्यास के फलस्वरूप अभिज्ञा उत्पन्न होती है। परन्तु बुद्ध-गण केवल वैराग्य के द्वारा ही अभिज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। उनके पूर्व जन्म के अभ्याससे जनित संस्कार सञ्चित रहते हैं, इसलिए उन्हें वर्तमान जन्म में अधिक अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। ऋद्धि दो प्रकार की है—आकाशगमन और निर्मित (या संकल्पबलसे विषय-निर्माण)। 'वहन गति' 'अधिमोक्ष-गति' और 'मनोवेग-गति' इन तीन प्रकार की गतियों का वर्णन बौद्ध योगियों के ग्रन्थों में मिलता है। आकाशचारी पक्षी जैसे अपने शरीर को आकाशमार्ग में वहन करके ले जाता है, वैसे ही योगी भी ऋद्धि के बल से आकाश में आरोहण और विचरण करते हैं। यह प्रथम प्रकार की गति है। श्रावक और प्रत्येकबुद्ध इस गति को प्राप्त करते हैं। यह अपने देह की गति है।[1]

जाती है। यही क्लेशनिवारक यथार्थ ज्ञान या बोधि है। इन्हीं छः अभिज्ञाओं के होने के कारण बुद्धका नाम 'षडभिज्ञ' पड़ा था। 'योगावतारोपदेश' नामक ग्रन्थ में (श्लोक ७ में) लिखा है कि संज्ञावेदितनिरोध नामक अवस्था का सम्यक् स्पर्श होने पर इन प्रथम पाँच अभिज्ञाओं का आविर्भाव होता है। योगी इनके द्वारा जगत् का कल्याण करते हैं—'तदभिज्ञयक्तो योगी जगदर्थं साधयत्यपरिमेयाम्।' अभिधम्मत्थसंगह में अभिज्ञाके नाम दिये हुए हैं। धम्मसंगणि में अभिज्ञा को 'विद्या' या 'प्रज्ञा' से अभिन्न बतलाया गया है। दिव्यश्रोत्र मानुषिक या अति-मानुषिक, सन्निहित और दूरवर्ती समस्त शब्दों को ग्रहण करने वाला है। दिव्यचक्षुद्वारा विशुद्ध और अतिमानुषिक तथा च्यवमान और उत्पद्यमान समस्त प्राणियों को देखा जा सकता है।

[यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि दिव्य-चक्षु की अपेक्षा प्रज्ञा-चक्षु श्रेष्ठ है। प्रज्ञाचक्षु के खुलने पर ही अर्हद्भाव का विकास होता है और सर्वदुःखों की निवृत्ति होती है ('इति वुत्तक' § ६१)। वास्तव में अर्हत् का ज्ञान प्रज्ञा-चक्षु का ही दूसरा नाम है। आनन्द को दिव्य-चक्षु प्राप्त था, परन्तु प्रज्ञा-चक्षु नहीं खुला था। बोधिमण्डल में प्रवेश करने का नाम धर्मचक्षु-प्राप्ति है। यह दीक्षा या शक्ति-प्राप्ति से अभिन्न है। इसका फल निर्वाण है]।

परचित्त-ज्ञान को बौद्ध लोग 'चेतःपर्यायज्ञान' कहते हैं। इसके द्वारा सबके चित्त की सब प्रकार की अवस्थाएँ प्रत्यक्ष जानी जा सकती है। पूर्वजन्मस्मृति सुख-बोध्य है। ऋद्धि आदि पाँच प्रकार की अभिज्ञा के द्वारा जीव संसार-समुद्र से उत्तीर्ण नहीं हो सकता। इसके लिए तारक-ज्ञान आवश्यक है। यही आस्रवक्षय-ज्ञान नामक छठी अभिज्ञा है। जिस समय जीव कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव से छूट जाता है, उस समय 'विमुक्तोऽस्मि' इस प्रकार के ज्ञान-दर्शन का उदय होता है। इन छः अभिज्ञाओं में से प्रथम पाँच अभिज्ञाएँ सभी को प्राप्त हो सकती हैं। साधना तथा वैराग्य के फलस्वरूप इनका आविर्भाव होता है। परन्तु छठी अभिज्ञा सबको नहीं होती। जो आर्य हैं, उन्हीं को होती है, पृथग्जन को नहीं होती। अनुसन्धित्सु पाठक इस प्रसंग में जैनाचार्यों के 'मनःपर्यायज्ञान', 'अवधिज्ञान' और 'केवलज्ञान' के स्वरूपकी पर्यालोचना करके देख सकते हैं। स्थानाभावके कारण इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा जा सका। कुल-कुण्डलिनी का तत्त्व समझे बिना इस सूक्ष्म विषय का रहस्य प्रस्फुटित नहीं हो सकता।

१. पातञ्जलदर्शन में आकाशगमन के प्रसंग में इस गति का वर्णन है। इसका पृथक् साधनक्रम पातञ्जलदर्शन में और योगवासिष्ठरामायण आदि में बतलाया गया है।

योगीकी संकल्प-शक्ति से दूर की चीजें उसी क्षण उसके समीप आ जाती हैं। इसका नाम 'अधिमोक्ष-गति' है।[१]

तीसरे प्रकार की गति[२] केवल बुद्ध के लिए ही सम्भव है, साधारण योगी के लिए नहीं। निर्मित या विषय-निर्माण भी दो प्रकार का है—'कामधातुग' और 'रूप-धातुगत।' कामधातु से जो निर्माण होता है, उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये चार अंश रहते हैं। यह अपने और पराये दोनों ही शरीरों के सम्बन्ध में सम्भव है। रूप-धातु के निर्माण में केवल रूप और स्पर्श ही रहता है, और कुछ नहीं रहता। निर्माण-चित्त[३] अभिज्ञाका फल है और वह चौदह प्रकार का हो सकता है। चार प्रकार के ध्यानों में प्रत्येक ध्यान में ही कामावचर निर्माण-चित्त और तत्तद् ध्यानानुरूप और उसके नीचे के ध्यानों के अनुरूप निर्माणचित्त उत्पन्न हो सकते हैं, अतएव प्रथम-ध्यान में कामावचर और प्रथमध्यानभूमिक, द्वितीय ध्यान में कामावचर और ध्यानद्वय भूमिक, तृतीय-ध्यान में कामावचर और ध्यानत्रयभूमिक और चतुर्थ-ध्यान में कामावचर और ध्यानचतुष्टयभूमिक, इस तरह चौदह (२ + ३ + ४ + ५) प्रकार का चित्त सम्भव है। हीन-ध्यानज चित्तके द्वारा ऊर्ध्वध्यानज चित्त की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ध्यानप्राप्त साधक ध्यान के प्राप्तिकाल में ध्यान के फलस्वरूप निर्माणचित्त को प्राप्त करता है।

---

१. पातञ्जलदर्शन में इस गति का पृथक् रूप से वर्णन नहीं है। यह गति 'भूतजय' से ही उत्पन्न होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। प्राप्तिसे इसमें कुछ विलक्षणता है जन्मान्तर के अभ्यासजनित संस्कार की प्रबलता से वर्तमान जन्म में बिना साधन के ही बाल्यावस्था में ही किसी-किसी में इस शक्ति का विकास देखा गया है। Dr. Von Schrenk Notzing नामक प्रसिद्ध पण्डित जर्मनी के म्युनिक नगर में Willy S. नामक एक अद्भुत शक्तिशाली बालक को देखा था। यह बालक किसी किसी वस्तु को स्पर्श किये बिना ही उसे दूसरे स्थान में पहुँचा सकता था, और अपनी दृष्टि से परे की जगह में भी किसी भी वस्तु को दूरसे ही शून्य में उठा सकता था। परीक्षा करने के समय वैज्ञानिकों ने बालक को किसी स्थान-विशेष में बन्द करके भी परीक्षा की थी। Sir Oliver Lodge ने अपने Phantom Walls' नामक ग्रन्थ में (पृ० १७१) इस घटना का उल्लेख किया है। साधारणतः वैज्ञानिक-गण व्याख्या करते समय कहा करते हैं कि इस प्रकार के शक्ति-सम्पन्न पुरुष की देह से एक तरह की भौतिक रश्मि निकल कर चारों ओर बिखर जाती है। इस विकीर्ण तेज को Ectoplasm, Teleplasm अथवा Bioplasm कहते हैं। इसका प्रसार जितनी दूर तक रहता है, उतनी दूर तक बिना ही स्पर्श के क्रिया हो सकती है। परन्तु इस तेजोमण्डल से बाहर के पदार्थ को सञ्चालित करना या उठाना सम्भव नहीं। कहना नहीं होगा कि यह भी अत्यन्त परिच्छिन्न 'अधिमोक्ष-गति' का ही निदर्शन है। साधक साधन बल से अपने चित्त-सत्त्व को शुद्ध करके जब विशुद्ध और व्यापक जगत्-सत्त्व के साथ उसे युक्त कर देता है, तब वह किसी भी स्थान से जगत् के किसी भी स्थानमें जाने की शक्ति (गति) उत्पन्न कर सकता है। यहाँ जिस तेजोविशेष के बिखरने की बात कही गयी है, वह तेज वस्तुतः लिङ्गशरीर से ही उत्पन्न होनेवाली एक प्रभा है।

२. पातञ्जलदर्शन में इसका नाम 'मनोजवित्व' है। यह 'प्रधान-जय' का फल है और मधुप्रतीक-सिद्धि' के अन्तर्गत है। पाशुपत-दर्शन में भी मनोजवित्व-सिद्धि का विशेष वर्णन मिलता है। भासर्व-कृत 'गणकारिका' और उसकी टीका देखनी चाहिए।

३. पातञ्जलदर्शनमें 'निर्माणचित्त' की उत्पत्ति 'अस्मिता' के द्वारा बतलायी गयी है।

वैराग्य से भी निर्माणचित्त का आविर्भाव हो सकता है। निर्माणचित्त-रूप यह ऋद्धि केवलमात्र भावना या ध्यानसे ही उत्पन्न होती हो, सो बात नहीं है। जो भावना या ध्यान से उत्पन्न है, उसमें 'कुशल' या 'अकुशल' कर्माशय नहीं रहता, इसलिए वह अव्याकृत है। देवता और नाग आदि की ऋद्धि, जन्म से ही प्राप्त होनेके कारण, सहज या उपपत्तिज कहलाती है। यह कुशल, अकुशल अथवा उभय-भावहीन अव्याकृत, इन तीनों ही प्रकारों की हो सकती है।[१] मन्त्र, ऋषि और कर्म से भी सिद्धि का अविर्भाव हुआ करता है।[२] 'महापरिनिर्वाणसूत्र' आदि ग्रन्थों में ऋद्धि के अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है। एक से अनेक होना, अनेक से एक होना, आविर्भूत होना, तिरोहित या अदृश्य होना, प्राचीर-पर्वतादि रूप कठिन वस्तुओं के अन्दर स्थूल-शरीर समेत उस वस्तु को स्पर्श किये बिना ही निकल जाने का या चलने का सामर्थ्य, जल की तरह पृथ्वी में उन्मज्जन-निमज्जन करना, आकाश में पक्षी की तरह सञ्चार, हाथों के द्वारा चन्द्र और सूर्य को स्पर्श करने की शक्ति, ब्रह्मलोक तक के समस्त का वशीकार—ये सभी ऋद्धि के ही अन्तर्गत है।

ऋद्धि की शक्ति का परिमाण बतलाना कठिन है। बौद्धों के महासांघिकों और स्थविरवादियों में इस विषय में कुछ मतभेद है[३]। महासांघिकगण कहते हैं कि ऋद्धि के प्रताप से कल्पान्त तक जीवित रहा जा सकता है। परन्तु स्थविरादि इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनका यह मत है कि आयु पूर्वकर्मके फलस्वरूप होती है, वह ऋद्धि का फल नहीं है। ऋद्धि द्वारा केवल अकाल-मृत्यु रोकी जा सकती है। काल-मृत्यु ऋद्धि द्वारा भी नहीं रुक सकती। परन्तु चित्त की भूमि के अनुसार काल का भान होता है। चित्त यदि योगबल से अपेक्षाकृत शुद्ध-भूमि में स्थापित या क्रियाशील कर दिया जाय तो एक हिसाब से आयुवृद्धि न होने पर भी दूसरे हिसाब से असम्भव प्रकार से आयु का परिमाण बढ़ जाता है। नेत्तिप्रकरण में बुढ़ापा रुकने और मृत्युकाल तक जवानी बनी रहने की सम्भावना बतलायी गयी है। किन्तु स्थविरवादियों का कहना है कि जन्मान्तर, जरा, रोग और मृत्यु का ऋद्धि के द्वारा निवारण नहीं किया जा सकता। पञ्चस्कन्धों में से कोई भी स्कन्ध ऋद्धि के द्वारा स्थिर नहीं हो सकता। जरा, मृत्यु आदि चारों अपरिहार्य हैं, यह बुद्ध ने कहा है।[४] ब्रह्मा, मार, श्रमण, ब्राह्मण—सभी के लिए यह सम रूप से सत्य है। यहाँ भी वस्तुतः कोई मतभेद नहीं है। कारण, देहका उपादान शोधित होने पर जरा आदि उसमें विशेष रूप से अनुभूत नहीं होते। उपादान के अत्यन्त विशुद्ध होने पर अर्थात् विशुद्ध सत्त्वरूप उपादान

---

१. 'तत्र ध्यानजमनाशयम्' सूत्र में महर्षि पतञ्जलि भी इसी बात को स्वीकार करते हैं।

२. पातञ्जलदर्शन, त्रिपुरारहस्य (ज्ञानखण्ड), अभिधर्म-कोश आदि ग्रन्थ देखने चाहिए।

३. टीकाकार के मत से कल्प = महाकल्प है। महासांघिकों का प्रमाण बुद्ध-वाक्य है। बुद्धदेव ने कहा है कि ऋद्धि की प्राप्ति के चार सोपान हैं, उन चारों की प्रतिष्ठा होनेपर योगी इच्छानुसार एक ही देह से कल्पान्त-काल या अवशिष्ट कल्पतक जीवित रह सकता है। बुद्ध के वचनों में 'कल्प' शब्द आया है। स्थविरगण इसकी 'आयुःकल्प' और महासांघिकगण 'महाकल्प' व्याख्या करते हैं।

४. 'अंगुत्तरनिकाय' २ पृ० १७२।

की प्राप्ति होने पर मलिन सत्त्व के सहभावी धर्म जरा आदि नहीं रह सकते। क्योंकि जरा शुद्ध-सत्त्व का धर्म नहीं है। इसीलिये शुद्धसत्त्व के कारण देवतागण निर्जर और अमर कहे जाते हैं। परन्तु जगत् में यह शुद्धि आपेक्षिक होने के कारण जरा और मृत्यु से रहित अवस्था को भी आपेक्षिक ही समझना चाहिये।[1]

'विनयपिटक' (२।६५) में लिखा है कि 'पिलिन्द-वच्छ' की इच्छाशक्ति के प्रभाव से राजा का महल सोने का हो गया था।[2] इस बात को देखकर अन्धक-गण विश्वास करते थे कि इच्छामात्र से ही सर्वदा और सर्वत्र ऋद्धि का विकास किया जा सकता है। परन्तु स्थविरवादी कहते हैं कि ऋद्धि की शक्ति अचिन्त्य होने पर भी उसके द्वारा सब कुछ हो सकने की बात सत्य नहीं है। ऐसी कई बातें हैं जो असाधारण ऋद्धि के प्रभाव से भी नहीं हो सकतीं। संसार की क्षणिकता, जीवन की दुःखमयता, अनात्मभाव और अन्यान्य स्वाभाविक नियमों का उल्लङ्घन ऋद्धि के द्वारा नहीं किया जा सकता। ऋद्धि के प्रभाव से 'जात्यन्तरपरिणाम' सिद्ध हो सकता है अथवा स्व-सन्तान में स्व-भाव रक्षित हो सकता है। भिक्षुओं को भोजन कराते समय जल को दूध और मक्खन के रूप में परिणत कर दिया गया था, यह 'जात्यन्तरपरिणाम' मात्र है। पिलिन्दवच्छने भी जो पत्थर के महल को सोने का बना दिया था, वह भी जात्यन्तर-परिणाममात्र ही है। इससे ऋद्धि का सर्वशक्तिमान् होना सिद्ध नहीं होता।[3]

पातञ्जल-दर्शनके विभूतिपाद में बहुत-सी खण्डसिद्धियों का स्वरूप और उनका उत्पत्तिक्रम बतलाया गया है। श्रीमद्भागवत, योगवाशिष्ठरामायण, महाभारत, पुराण, तन्त्र,[4] नाथसम्प्रदाय के ग्रन्थ, बौद्ध और जैनसाहित्य, ज्ञानेश्वर, कबीरदास आदि की

१. 'अपाम सोमममृता अभूम'—इस सोमपानजनित अमरत्व से यहाँ 'कल्पान्तस्थायित्व' समझना चाहिये। 'रसेश्वरदर्शन' में अठारह संस्कारों से संस्कृत पारद के प्रभाव से 'अभ्रक' का संयोग होने पर जिस 'हर-गौरीतनु' या सिद्ध-देह के विकास की बात कही गयी है, वह देह भी जरा और मृत्यु के अधीन नहीं मानी गयी है। वह देह देव-देह की अपेक्षा भी निर्मल है, इसमें कोई सन्देह नहीं। हठयोगिगण—खास कर के गोरख, जलन्धर आदि के शिष्यगण—'काया-साधन' की प्रक्रिया के द्वारा इस प्रकार शुद्ध-देह की प्राप्ति के लिये चेष्टा किया करते हैं। महायान-सम्प्रदाय के 'मान्त्रिक', 'वज्रपन्थी' और 'सहजिया' लोग भी स्कन्ध-सिद्धि के प्रति बड़ी ही श्रद्धा रखते थे। वैष्णवों का 'भावदेह' भी जराहीन और अमर है, परन्तु वह अप्राकृत देह है, विशुद्ध-सत्त्व का विलासमात्र है।

२. भामती में (ब्र० सू० २।१।३३ तथा ४।४। २२) वाचस्पति मिश्र ने राजा नृग के असाधारण योगैश्वर्य की बात दृष्टान्तरूप से और प्रसंगतः एकाधिक बार उल्लेख किया है।

३. पातञ्जल-सम्प्रदाय में भी सर्वसामर्थ्य के सम्बन्ध में दो मत हैं। पदार्थविपर्यास सम्भव है या नहीं, इस विषय में किसी-किसी आचार्य का कहना है कि वह सम्भव होने पर भी योगी उसे करते नहीं। कारण, वे अनादिसिद्ध परमेश्वर के संकल्प के विरुद्ध आचरण नहीं करते। कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि पदार्थ-विपर्यास हो ही नहीं सकता। विभूति के बल से जो कुछ होता हो, वह 'जात्यन्तरपरिणाम' मात्र अथवा 'धर्मविकल्पसंघटन' है।

४. द्वैत और अद्वैत दोनों ही प्रकार के तन्त्रों में सिद्धियों का प्रसंग मिलता है। काश्मीर-सम्प्रदाय और दक्षिण के सिद्धान्त-सम्प्रदाय के मूल और प्रकरण-ग्रन्थ देखने चाहिये। शाक्ततन्त्र, विशेषतः कौल-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर विभूति का वर्णन है।

रचनाएँ, इन सभी में सिद्धि की आलोचना न्यूनाधिकरूप में देखी जाती है। बहुत-से उपनिषदों में भी योग और योग-सिद्धि का वर्णन मिलता है। तत्त्वान्वेषी साधक के लिए प्रत्येक सिद्धि का स्वरूप, प्रकारभेद, अभिव्यक्ति की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ, सिद्धिप्रदर्शन के निदर्शन आदि बातें प्राच्य और पाश्चात्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भलीभाँति देखनी और विचारनी चाहिये। वस्तुतः ये सब खण्ड-सिद्धियाँ अखण्ड-विभूति के अनुदय तक साधारण होने पर भी अलौकिक कार्य-कारणभाव के अनुसरण द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। स्वातन्त्र्य-बल अथवा इच्छा-शक्तिका स्थान अवश्य ही सर्वोच्च है। जो यथार्थ भक्ति-सम्पन्न पुरुष है, वह अकिञ्चन और दीन होने के कारण अपने को सर्वदा ही भगवदाश्रित उपलब्ध करता है। इस प्रकार के भक्त की इच्छा सर्वातिशायिनी होती है। वस्तुतः ऐसे भक्त की शक्ति अपरिमेय है। (क्योंकि उसमें भगवान् की अपरिमेय शक्ति ही कार्य करती है)। 'Faith can work miracles' यह यथार्थ सत्य है। अग्नि के सम्बन्ध से लोहे में भी दाहिका शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार सर्वेश्वर के साथ योग प्रतिष्ठित होने पर जीव भी अपने आधार की धारणाशक्ति के अनुसार सर्वैश्वर्य का लाभ कर ले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? वस्तुतः जीव की साधना न तो ऐश्वर्यादिकी प्राप्ति के लिये है, और न ऐश्वर्यादि के त्याग के लिये। जीव की साधना का लक्ष्य तो है—'आत्मस्वरूप की उपलब्धि।' इस मार्ग में पहले ऐश्वर्य का उदय होता है, और फिर उसका उपसंहार होता है। पहले भोग फिर संन्यास, अन्त में भोग और त्याग का अद्वैत है। वहाँ फिर भोग भी नहीं रहता और त्याग भी नहीं रहता; जो रहता है, वह अनिर्वचनीय, अनाविल, अक्षुब्ध, अक्षोभ्य, आत्मस्वरूप है। पूर्णिमा के पश्चात् जैसे अमावस्या अपने आप ही आती है, वैसे ही ऐश्वर्य के पूर्ण विकास के पश्चात् क्रमशः ऐश्वर्य का पूर्ण रूप से विसर्जन अपने-आप ही हो जाता है। यही आत्म-समर्पणयोग है। यह प्रकृति का स्वाभाविक व्यापार है।

ॐकार-साधन

शास्त्र से ज्ञात होता है कि ब्रह्म एक, अखण्ड, अद्वैत होने पर भी पर-ब्रह्म और शब्द-ब्रह्म इन दो विभागों में कल्पित होता है। शब्द-ब्रह्म को भली भाँति जान लेने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।'

शब्दब्रह्म का स्वरूप जानना और उसे जान कर उसका अतिक्रमण करना, यही मुमुक्षु का एक मात्र लक्ष्य है। उसका अतिक्रमण किए बिना विशुद्ध परम-तत्त्व-रूप चैतन्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं है।

जिसे प्रणव या ॐकार कहते हैं, यही शब्द-ब्रह्म है। उपनिषत्, शाक्त-शैवागम और योग-शास्त्र आदि में लिखा है कि प्रणव को भली-भाँति जानना आवश्यक है, क्योंकि वह परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय तो है ही, साथ ही परब्रह्म से अभिन्न रूप भी है। माण्डूक्योपनिषत् में इसका काफी वर्णन है। ॐकार में मात्राएँ हैं और उसका अमात्रक अर्थात् मात्राहीन शुद्ध रूप भी है। उसकी मात्रायुक्त अवस्था के भी दो भेद हैं—एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। उसके मात्रायुक्त शुद्ध-रूप का परिचय योगियों को मिलता है। अमात्रक-अवस्था अप्रमेय, अखण्ड है, उसके आदि-अन्त का निर्णय नहीं हो सकता।

साधारणतः आगमशास्त्र में शब्द-ब्रह्म परा-वाक् नाम से प्रसिद्ध है। परावाक् का स्वरूप एक होते हुए भी द्वैत-दृष्टि तथा अद्वैत दृष्टि के भेद से बुद्धिजीवी मनुष्य को किञ्चित् भिन्न प्रतीत होता है। द्वैत-दृष्टि से कहा जाता है कि परमेश्वर का स्वरूप चिदानन्दात्मक है, शक्ति भी चिदानन्दरूपा है; उभय में 'शक्ति-शक्तिमान्' के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। चिद्रूपा शक्ति से भिन्न परमात्मा की अचिद्रूपा शक्ति भी है, जो बिन्दु है। इसी का दूसरा नाम महामाया है। यही चिदाकाश अथवा कुण्डलिनी है। इसे परिग्रह-शक्ति या उपादान-शक्ति भी कहते हैं। पहली शक्ति चिद्रूपा एवं समवायिनी-शक्ति है, जो परमेश्वर में अभिन्न रूप से वर्तमान रहती है। दूसरी ओर 'परिग्रह' परमेश्वर की शक्ति होते हुए भी परमेश्वर से भिन्न है। चिद्रूपा शक्ति की सक्रिय अवस्था में क्रिया के प्रभाव से बिन्दुरूपा परिग्रह-शक्ति में क्षोभ होता है। जैसे समुद्र में वायु के आघात से तरंग उठती हैं, वैसे ही बिन्दु में भी लहर उठती हैं। यह लहर ही बाहर नाद तथा ज्योति के रूप में प्रकट होती है। नाद का प्रकटीकरण वाक् के रूप में तथा ज्योति का प्रकटीकरण अर्थ के रूप में होता है। ये वाक् और अर्थ परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं—'वागर्थाविव संपृक्तौ'। इनमें से प्रत्येक की तीन अवस्थाएँ होती हैं—परम, सूक्ष्म तथा स्थूल। इसी क्रम से अवरोह होता है। इस दृष्टि से बिन्दु से वाक् के आविर्भाव के क्रम में परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी—ये चार प्रकार की वाक् शास्त्रों में कही गई हैं। परा-वाक् शुद्ध-ज्ञान में विकल्प-रूप से अनुगत होकर, शुद्ध यानी निर्विकल्पक-ज्ञान को अशुद्ध

यानी सविकल्पक बना देती है। साधक को चाहिए कि योग द्वारा ज्ञान के इस विकल्पांश को हटा दे और शुद्ध निर्विकल्पक-ज्ञान में स्थित हो। यह निर्विकल्पक-ज्ञान परा वाक् से भी अतीत है। परा-वाक् का लंघन किए बिना सर्वथा निर्विकल्प-स्थिति प्राप्त नहीं होती।

यहाँ तक हमने द्वैत-दृष्टि से विचार किया। परन्तु अद्वैत-दृष्टि इस से विलक्षण है। अद्वैत-दृष्टि-सम्पन्न लोग परा-वाक् को परमेश्वर की स्वाभाविक शक्ति या माहेश्वरी-शक्ति मानते हैं, 'परावाक् स्वरसोदिता' अर्थात् परावाक् स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं; उसी का विमर्श-भाव है। परावाक् भिन्न वस्तु नहीं, उसका कदापि अपाय नहीं होता, जब परमेश्वर विश्व लीला-रचना के लिए अपने स्वातन्त्र्य से अपने को परिच्छिन्न करते हैं, 'आणव-मल' ग्रहण करते हैं, तब ग्राहक-ग्राह्य-भाव का उदय होता है। पूर्ण स्थिति पर-प्रमातृ-रूप है, वहाँ प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण की त्रिपुटी नहीं है। किन्तु स्वातन्त्र्य के कारण परमेश्वर इस अद्वैत-स्थिति में द्वैत-भाव उत्पन्न करते हैं और तब ग्राहक-ग्राह्य-ग्रहण की त्रिपुटी उत्पन्न होती है। ग्राहक चिदणु या माया-प्रमाता है; यही 'चित्त' है। इसके सामने 'ग्रहण' का विषयभूत अंश है—विषय अथवा ग्राह्य। चित्तरूपी ग्राहक के सामने विषय रूप से निरन्तर विकल्पात्मक अर्थों का आविर्भाव होता रहता है। इस प्रतिक्षण आविर्भाव का हेतु है—परमेश्वर की पराशक्ति या परावाक्। जैसे वेदान्त में अविद्या का द्विविध कार्य है—स्वरूप का आवरण तथा विक्षेप का उद्भावन, उसी प्रकार परावाक् का भी कार्य द्विविध है—स्वरूप का आच्छादन और विकल्प को प्रकट करना यानी विक्षेप का आविर्भाव होने के पूर्व परमेश्वर का स्वरूप आच्छन्न हो जाना। जो 'माया-प्रमाता' अपने स्वरूप को विस्मृत कर जाता है, उसी के सामने विकल्पों का आविर्भाव होता है। यही विकल्प क्रमशः घनीभूत हो कर अष्टवर्ग के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए आठ शक्तियाँ—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी इत्यादि नामों से शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। इस अवस्था में देह का आविर्भाव होता है तथा देह में आत्मबोध का आविर्भाव होता है अर्थात् अनात्म में आत्मबोध तथा आत्मा में अनात्मबोध उदित होता है। वेदान्त-दृष्टि से यही अध्यास का रूप है। इसके बाद अष्टवर्गीय शक्ति और भी विभक्त होकर पञ्चाशत मात्रिकाओं के रूप में परिणत होती है। यही स्वर-व्यञ्जन भेद वर्णमाला के नाम से प्रसिद्ध है।

योगियों का परम प्रयोजन है—इस भेद-दृष्टि तथा विकल्पमयी सृष्टि का उल्लंघन करके शुद्ध बोधात्मक स्वात्म-स्थिति में प्रवेश। इसके लिए उपाय तो बहुत-से हैं, किन्तु सबसे सरल और सुगम उपाय नादानुसन्धान माना जाता है। यह नाद वस्तुतः और कुछ नहीं, वर्णों की समष्टि-भावापत्ति के अनन्तर तथा अष्टवर्गीय शक्तियों के एकीकरण अनन्तर अभिन्न रूप से स्फुरण है। मन्त्रशास्त्र में जिसे मन्त्र-चैतन्य कहते हैं, वह वस्तुतः इस प्राणमय नाद-शक्ति का ही आविर्भाव है। शास्त्र में कहा है कि यावत् मन्त्रों की परमा प्रकृति प्रणव या ॐकार ही है। इस प्रणव में अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना तथा उन्मना इतने अंश हैं। जप के द्वारा अथवा भावना के द्वारा या और किसी योग-क्रिया के द्वारा इस

उन्मना-पद तक आरोहण आवश्यक है। जब तक इस पद की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मनोराज्य का अवस्थान जानना होगा। इस मनोराज्य में शुद्ध-अशुद्ध दो विभाग हैं। अशुद्ध-विभाग मायिक है, और शुद्ध-विभाग शुद्ध-माया अर्थात् योगमाया का है। अशुद्ध-विभाग में प्रणव के प्रथम तीन अवयव कार्य करते हैं—अकार उकार और मकार। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीन भूमिकाओं में इन तीन अवयवों का कार्य होता है। मकार-भेद करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि शुद्ध ज्ञान का उदय मकार-भेद से होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थायें प्रणव की पहली तीन मात्राओं में विद्यमान हैं। तुरीय तथा तुरीयातीत अवस्था चतुर्थ अवयव से शुरू होती है और अन्तिम अवयव तक चलती है। प्रणव का चतुर्थ अवयव 'बिन्दु' नाम से प्रसिद्ध है। इस शुद्ध-राज्य में तीन विभाग हैं, एक बिन्दु का, दूसरा नाद का और तीसरा कला का। बिन्दु के विभाग में तीन, नाद के विभाग में दो तथा कला के विभाग में शेष सारे अवयव स्थित हैं, ऐसा समझना चाहिए। यह बिन्दु ज्योति-स्वरूप है। पातञ्जल-योगशास्त्र में जैसे संप्रज्ञात-समाधि के अनन्तर असंप्रज्ञात-समाधि का विवरण मिलता है, उसी प्रकार तान्त्रिक-योग में प्रणव के प्रथम तीन अवयवों के बाद अर्धमात्रारूपी चतुर्थ अवयव का विवरण है। वस्तुतः बिन्दु से समना-पर्यन्त अर्धमात्रा के ही अन्तर्गत है। यद्यपि बिन्दु ही वास्तव में अर्धमात्रा है, तथापि बिन्दु के अनन्तर प्रतिपद में उसके पूर्ववर्ती मात्रा का अर्धांश माना जाता है। जैसे बिन्दु में एक मात्रा का अर्धांश है, उसी प्रकार अर्धचन्द्र में बिन्दु का अर्धांश है, निरोधिका में अर्धचन्द्र का अर्धांश है, यही क्रम 'समना' तक चलता है। ये अंश या मात्रायें किसकी हैं? इस प्रश्न का उत्तर है कि ये वास्तव में मन की मात्रायें हैं। उन्मना वास्तव में अमात्र है, उसकी 'मात्रा' नहीं है, क्योंकि वहाँ मन भी नहीं है। मन की ही 'मात्रा' होती है, विशुद्ध-चैतन्य की मात्रा नहीं होती। योगी का परम उद्देश्य है कि वह स्थूल-मात्रा से क्रमशः सूक्ष्म-मात्रा में होते हुए अमात्रक-स्थिति में पहुँच जाय। यह सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि मात्रा में क्रमशः न्यूनता-संपादन करने से कभी अमात्रक-स्थिति का लाभ नहीं हो सकता। इसीलिये योगियों के समाज में यह विधान है कि मात्रांश जब अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, तब उसे वहीं पर समर्पण कर देना चाहिये। वस्तुतः यही योगी का आत्म-समर्पण है। समना पर्यन्त मात्रा का सूक्ष्म अंश माना जाता है। किसी मत में यह एक मात्रा का २५६ वाँ भाग है, और किसी मत में यह एक मात्रा का ५१ वाँ भाग है। कुछ भी हो, मात्रा का अर्थात् मन की मात्राओं का त्याग यहीं हो जाता है। इसके बाद मन का सम्बन्ध नहीं है। उन्मना में न मन है, न मात्रा है, न काल है, न देश है, न देवता है, न प्रपंच का कोई भी अंश है। वह शुद्ध चिदानन्द-भूमि है, वही परम लक्ष्य है।

पहले जो नाद कहा है, वह बिन्दु की परवर्ती अवस्था है। बिन्दु ज्योति-स्वरूप है, यह पहले कहा गया है। यह प्रपञ्चस्थित वाच्य अर्थों के महासमष्टि रूप में एकीभूत होकर प्रकाशमान है। भ्रू-मध्य के किञ्चित् ऊर्ध्व-देश में बिन्दु का साक्षात्कार होता है। इस बिन्दुरूप ज्योति में समग्र विश्व अभिन्न रूप से भासमान है। जिसे बिन्दुलाभ

हुआ है, उसके लिए त्रिकालदर्शन अथवा जगत् के यावत् अर्थों का साक्षात्कार कर-स्थित आमलकवत् है, क्योंकि योगी की इच्छाशक्ति के प्रभाव से उसी बिन्दुरूप ज्योति में अतीत, अनागत, वर्तमान, दूरस्थ तथा निकटस्थ, स्थूल तथा सूक्ष्म यावत् पदार्थ प्रकट होते हैं। यह हुआ वाच्य (अर्थ) की दिशा में विवरण, अब वाचक को लें।

वाचकों की महासमष्टिरूप से एकीभूत स्थिति का नाम नाद है। जैसे बिन्दुरूप ज्योति में इच्छानुसार अर्थ का साक्षात्कार होता है, क्योंकि उसी में अर्थ-समष्टि स्थित है; ठीक उसी प्रकार नाद में निखिल विश्व का, अनन्त वाचकों का, अनन्त मन्त्रों का साक्षात्कार होता है। इसीलिए कोई भी मन्त्र चेतन होने पर नाद की ही अवस्था में उपनीत हो जाता है। अतः बिन्दु तथा नाद जगत् के अनन्त वाच्य तथा वाचकों की एकीभूत समष्टि के द्योतक हैं। योगी कहते हैं कि इसे भी अतिक्रमण करना चाहिए। बिन्दु का अनुभव भ्रूमध्य के ऊर्ध्व में होता है तथा और भी ऊर्ध्व में ब्रह्म-रन्ध्र की अन्तिम सीमा तक नाद का अनुभव चलता है। नादान्त-भेद होने पर स्थूल-दृष्टि से देह का भेद हो जाता है। अतः इस नाद का अवलम्बन लेकर ही नाद के अन्त में पहुँचना चाहिए। नाद का अन्त हुए बिना देहात्मबोध छिन्न नहीं हो सकता। जब आत्मसत्ता का बोध देह के बाहर भी अनुभूत होने लगता है, तब शक्ति का साक्षात्कार होता है। यह शक्ति का साक्षात्कार साकार विश्व-प्रपञ्च के लंघन का सूचक-मात्र है। साकार जगत् के अतिक्रमण के साथ ही साथ महाशून्य का साक्षात्कार होता है। ध्यान रहे कि महाशून्य भी प्रणव के एक अंश में विद्यमान है, क्योंकि प्रणव के विभिन्न अवयवों में यह भी एक है। महाशून्य में सृष्टि नहीं है, सृष्टि का उदय नहीं हुआ है; यह भी सत्य है और उदित सृष्टि का अस्त हो गया है, यह भी एक सत्य है। महाशून्य-भेद किए बिना समना-रूप सृष्टि की बीजभूमि का दर्शन नहीं मिलता। वस्तुतः सृष्टि का आदि समना से ही समझना चाहिए। महाशून्य भी खण्डित सृष्टि के अन्तर्गत है, किन्तु वह भाव-सृष्टि नहीं, अभाव सृष्टि है। इस समना-शक्ति का साक्षात्कार और कुण्डलिनी-शक्ति का साक्षात्कार एक ही बात है। वह प्रसुप्त भुजंगवत् विद्यमान है, जिसके गर्भ में भावरूप तथा अभावरूप अनन्त सृष्टि निहित है। परन्तु योगी कहते हैं कि इसे भी भेद करना चाहिए, क्योंकि इस भूमि से ही मन का उद्गम होता है और मन ही क्रम का निदान है। जगत् का कार्य-कारण-भाव या पूर्वापरभाव या किसी और प्रकार के क्रम-विन्यास के भाव का मूल है—मन। मन के भी मूल का जब तक उल्लंघन न किया जाय, तब तक स्वयंप्रकाश चिदानन्द-संवित् का अधिगम नहीं हो सकता। अन्त में मन के द्वारा ही मन का उल्लंघन करना पड़ता है। अवश्य, मूल में परमेश्वर की अनुग्रहरूपा चित्-शक्ति का व्यापार तो है ही, क्योंकि शक्तिपात के बिना यह लंघन-कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता।

नाद के प्रकरण में इतना ही वक्तव्य है कि साधक चाहे किसी भी साधन-प्रक्रिया का अवलम्बन करे, उसे तुरीयावस्था में नाद का आश्रय-ग्रहण करना ही पड़ता है। कर्तृत्वाभिमान लेकर व्योम या आकाश में अग्रसर होना कठिन है। नाद-शक्ति का आश्रय लेने पर वह नाद-शक्ति ही साधक के मन, वाक् तथा बिन्दु (देह)

को अग्रसर होने में सहायता करती है। विशुद्ध चैतन्य की प्रबुद्ध अवस्था प्राणराज्य में नाद-रूप से आत्मप्रकाश करती है। यह नाद-साधना ही वस्तुतः ॐ कार की साधना है। इस साधना में पारंगत होने पर केवल नाद का ही अतिक्रमण नहीं होता, अपितु शून्य का भी अतिक्रमण होता है और अन्त में मन का भी अतिक्रमण होता है, जिसका फल है—परमेश्वर से तादात्म्य-लाभ तथा उस तादात्म्य की अनुभूति।

सूर्यविज्ञान

उपक्रम—बहुत दिन पहले की बात है। जिस दिन महापुरुष परमहंस श्रीविशुद्धानन्द जी महाराज का पता लगा था, तब उनके सम्बन्ध में बहुत-सी अलौकिक शक्तियों की बातें सुनी थीं। बातें ऐसी असाधारण थीं कि उन पर सहसा कोई भी विश्वास नहीं कर सकता। अवश्य ही 'अचिन्त्यमहिमानः खलु योगिनः' इस शास्त्र वाक्य पर मुझे विश्वास था और देश-विदेश के प्राचीन और नवीन युगों में विभिन्न सम्प्रदायों के जिन विभूति-सम्पन्न योगी और सिद्ध महात्माओं की कथाएँ ग्रन्थों में पढ़ता था, उनके जीवन में घटित अनेकों अलौकिक घटनाओं पर भी मेरा विश्वास था। तथापि, आज भी हम लोगों के बीच ऐसा कोई योगी महात्मा हैं, यह बात प्रत्यक्षदर्शी के मुख से सुनकर भी ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं कर पाता था। इसीलिए एक दिन सन्देह-नाश तथा औत्सुक्य-निवृत्ति के लिए मैं महापुरुष के दर्शनार्थ गया।

उस समय सन्ध्या प्रायः समीप थी, सूर्यास्त में कुछ ही काल अवशिष्ट होगा। मैंने जाकर देखा, बहुसंख्यक भक्तों और दर्शकों से घिरे हुए एक पृथक् आसन पर सौम्य-मूर्ति महापुरुष व्याघ्र-चर्म पर विराजमान हैं। सुन्दर लम्बी दाढ़ी, चमकते हुए विशाल नेत्र, पकी हुई उम्र, गले में शुभ्र यज्ञोपवीत, शरीर पर काषाय-वस्त्र और चरणों में भक्तों के चढ़ाये हुए पुष्प और पुष्प-मालायें; ये सब सुसज्जित थे। पास ही एक स्वच्छ काश्मीरोपल से बना हुआ गोल यन्त्र-विशेष भी पड़ा था। महात्मा उस समय योगविद्या और प्राचीन आर्यविज्ञान के गूढ़तम रहस्यों की, उपदेश के बहाने, सहज रूप से व्याख्या कर रहे थे। कुछ समय तक उनका उपदेश सुनने पर जान पड़ा कि इनमें अनन्य-साधारण विशेषता है। उनकी प्रत्येक बात पर इतना जोर था, मानो वे अपनी अनुभवसिद्ध बात कह रहे हैं, केवल शास्त्रवचनों की आवृत्तिमात्र नहीं है। इतना ही नहीं, वे प्रसङ्ग वश ऐसा भी कहते जाते थे कि शास्त्र की सभी बातें सत्य हैं, आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समय योग्य अधिकारी को मैं दिखला भी सकता हूँ। उस समय 'जात्यन्तर-परिणाम' का विषय चल रहा था। वे समझा रहे थे कि जगत् में सर्वत्र ही सत्ता-रूप में सूक्ष्मभाव से सभी पदार्थ विद्यमान रहते हैं। परन्तु जिसकी मात्रा अधिक प्रस्फुटित हो जाती है, वही अभिव्यक्त एवं इन्द्रियगोचर होता है; जिसका ऐसा नहीं होता, वह अभिव्यक्त नहीं होता, और नहीं हो सकता। अतएव इनकी व्यञ्जना का कौशल जान लेने पर जिस-किसी स्थान से किसी भी वस्तु का आविर्भाव किया जा सकता है। अभ्यासयोग और साधना का यही मूल रहस्य है। हम व्यवहार-जगत् में जिस पदार्थ को जिस रूप में पहचानते हैं, वह उसकी आपेक्षिक सत्ता है। हम जिस रूप में जिसे पहचानते हैं, उतना ही वह है, यह बात किसी को नहीं

समझनी चाहिए। लोहे का टुकड़ा केवल लोहा ही है, सो बात नहीं है; उसमें सारी प्रकृति अव्यक्त-रूप में निहित है; परन्तु लौह-भाव की प्रधानता से अन्यान्य समस्त भाव उसमें विलीन होकर अदृश्य हो रहे हैं। किसी भी विलीन भाव को (जैसे सोना) प्रबुद्ध करके उसकी मात्रा बढ़ा दी जाय तो उसका पूर्वरूप स्वभावतः ही अव्यक्त हो जायगा, और सुवर्णादि के प्रबुद्धभाव के प्रबल हो जाने से वह वस्तु फिर उसी नाम और रूप में परिचित होगी। सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिए। वस्तुतः लोहा सोना नहीं हुआ, वह तो अव्यक्त हो गया, और अव्यक्तता को हटाकर सुवर्णभाव प्रकाशित हो गया। आपाततः यही समझ में आवेगा कि लोहा ही सोना हो गया है; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।[१] कहना नहीं होगा कि यही योगशास्त्र का 'जात्यन्तर-परिणाम' है। पतञ्जलि जी कहते हैं कि प्रकृति के आपूरण से 'जात्यन्तरपरिणाम' होता है, एकजातीय वस्तु अन्यजातीय वस्तु में परिणत होती है ('जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्')। यह कैसे होता है, सो भी योगशास्त्र में बतलाया गया है।[२]

कुछ देरतक जिज्ञासुरूप से मेरे पूछताछ करने पर उन्होंने मुझसे कहा—'तुम्हें यह करके दिखाता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने आसन पर से एक गुलाब का फूल हाथ में लेकर मुझसे पूछा—'बोलो इसको किस रूप में बदल दिया जाय?' वहाँ जवा-

१. योगियों ने 'मूलपृथक्त्व' कहकर अव्यक्तभावसे बीज रूपमें भी पृथक्ता की सत्ता स्वीकार की है। ऐसा न करने से सृष्टि-वैचित्र्य का कोई मूल नहीं रह जाता। व्यासदेव ने कहा है, 'जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकम्।' इससे यह जाना जाता है कि जाति का उच्छेद प्रलय में भी नहीं होता, प्रलय और अव्यक्त अवस्था में भी जातिभेद रहता है, परन्तु वह अधिष्ठान-लोप के कारण अव्यक्त रहता है। सृष्टि के साथ-ही-साथ उसकी स्फूर्ति होती है। प्रलय की परमावस्था में समस्त प्रकृति पर ही आवरण पड़ जाता है, इसलिए उसमें विकारोन्मुख परिणाम नहीं रहता। साधारणतः जिसको सृष्टि कहा जाता है, वह आंशिक सृष्टि और आंशिक प्रलय होता होता है। आवरण जहाँ नहीं है, वहाँ निरन्तर विकार पैदा होता रहता है; जहाँ है, वहाँ कोई भी विकार नहीं होता। जहाँ कोई आवरण नहीं होता वहाँ प्रकृति सर्वतोभाव से मुक्त होकर अखिल परिणाम की ओर उन्मुख हो जाती है। युगपत् अनन्त आकारों का स्फुरण होता है, इसलिए किसी विशिष्ट आकार का भाव नहीं होता, उसको निराकार-स्फूर्ति कहते हैं, वही ब्रह्म है।

२. पतञ्जलि का सिद्धान्त है—'निमित्तमप्रयोजकम्' आदि। निमित्तकारण उपादानस्वरूपा प्रकृति को प्रेरणा नहीं कर सकता। वह प्रकृतिनिष्ठ आवरण को दूर करता है। आवरण दूर होने पर आच्छन्न प्रकृति उन्मुक्त होकर अपने आप ही अपने विकारों के रूप में परिणत होने लगती है। लोहे में जो सुवर्णप्रकृति है, वह आवरण से ढकी है और लौह-प्रकृति आवरण से मुक्त है, इसी से लौह-परिणाम चल रहा है; किन्तु यदि सुवर्ण-प्रकृति का यह आवरण किसी उपाय से (योग या आर्षविज्ञान से यह उपाय जानने में आता है उससे) हटा दिया जाय तो लौह-प्रकृति ढक जायगी और सुवर्ण-प्रकृति परिणाम की धारा में विकार उत्पन्न करेगी। यह स्वाभाविक है, यह कौशल ही प्रकृत विद्या है। परन्तु इसके द्वारा असत् को सत् नहीं किया जा सकता, केवल अव्यक्त को व्यक्त किया जा सकता है। वस्तुतः सत्कार्यवाद में सृष्टिमात्र ही अभिव्यक्ति है। जो कभी नहीं था, वह कभी होता भी नहीं (नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः)। इसी से ऋषि कहते हैं कि निमित्त प्रकृति को प्रेरित नहीं कर सकता, प्रवृत्ति नहीं दे सकता। प्रकृति में विकारोन्मुखता की ओर स्वाभाविक प्रेरणा विद्यमान है। प्रतिबन्धक रहने के कारण वह कार्य

फूल नहीं था, इसी से मैंने उसको जवाफूल बना देने के लिए उनसे कहा। उन्होंने मेरी बात स्वीकार कर के बायें हाथ में गुलाब का फूल लेकर दाहिने हाथ से उस स्फटिक यन्त्र के द्वारा उस पर विकीर्ण सूर्यरश्मि को संहत करने लगे। क्रमशः मैंने देखा, उनमें एक स्थूल परिवर्तन हो रहा है। पहले एक लाल आभा प्रस्फुटित हुई, धीरे-धीरे तमाम गुलाब का फूल विलीन होकर अव्यक्त हो गया और उसकी जगह एक ताजा हाल ही का खिला हुआ झूमका जवा प्रकट हो गया। कौतूहलवश इस जवापुष्प को मैं अपने घर ले आया था।[१]

स्वामीजी ने कहा—'इसी प्रकार समस्त जगत् में प्रकृति का खेल हो रहा है; जो इस खेल के तत्त्व को कुछ समझते हैं, वही ज्ञानी है। अज्ञानी इस खेल से मोहित होकर आत्म-विस्मृत हो जाता है। योग के बिना इस ज्ञान या विज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार विज्ञान के बिना वास्तविक योग-पद पर आरोहण नहीं किया जा सकता।'

मैंने पूछा, 'तब तो योगी के लिये सभी कुछ सम्भव है?' उन्हों ने कहा—'निश्चय ही है। जो यथार्थ योगी हैं, उनकी सामर्थ्य की कोई इयत्ता नहीं है; क्या हो

कर नहीं पाती। पूर्वोक्त कौशल या निमित्त (धर्माधर्म और इसी प्रकार का निमित्त) इन प्रतिबन्धकों को केवल हटा भर देता है। क्रान्तदर्शी कवि ने कहा है—

> शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
> स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्तास्ते ह्यन्यतेजोऽभिभवाद् दहन्ति॥

इससे जाना जाता है, जो शीतल (शमप्रधान) है। उसमें भी 'दाहात्मक तेज' या ताप है; परन्तु वह 'गूढ़' है। सभी जगह सभी वस्तुएँ हैं, परन्तु जो गूढ़ है (छिपी है), वह देखने में नहीं आती। उसकी क्रिया भी नहीं होती। जो व्यक्त है, उसी की क्रिया होती है; वही दृश्य है। 'गूढ़' धर्म की क्रिया न हो सकने का कारण 'व्यक्त' धर्म की प्रधानता है। यदि व्यक्त धर्म बाह्य तेज (अन्य तेज) के द्वारा अभिभूत कर दिया जाय तो विद्यमान धर्म जो अभी तक गुप्त था, वह अनभिभूत होने के कारण प्रकट हो जाता है और क्रिया करने लगता है।

१. घर लाने का कारण यह था कि आँखों द्वारा देखने पर भी उस समय मैं यह धारणा नहीं कर पाता था कि ऐसा क्यों कर हो सकता है। मुझे अस्पष्ट रूप से ऐसा भान होता था कि इसमें कहीं मेरा दृष्टि-भ्रम तो नहीं है। मैं कहीं सम्मोहनी विद्या (मेस्मेरिज्म) के वशीभूत कर जवापुष्प की कोई सत्ता न होने पर भी जवाफूल तो नहीं देख रहा हूँ। लोग optical illusion, hallucination, hypnotism आदि शब्दों के द्वारा ऐसी सृष्टिक्रिया को समझाने की चेष्टा किया करते हैं। ये लोग अज्ञ हैं; क्योंकि सम्मोहन-विद्या के प्रभाव से अथवा तज्जातीय अन्य कारणों से जिस सृष्टि का प्रकाश होता है, वह प्रातिभासिक होता है, स्थायी नहीं होती। वह वस्तु लौकिक व्यवहारों में भी नहीं आ सकती। परन्तु व्यावहारिक सृष्टि इससे अलग है। स्वप्न और जाग्रत् अवस्था में जैसे भेद है, वैसे ही प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता में भी पृथक्ता है। वेदान्तियों की जीव-सृष्टि और ईश्वर-सृष्टि का भेद भी इस प्रसङ्ग में आलोचनीय है। वस्तुतः मैंने अज्ञानवश ही सन्देह किया था। वह जवापुष्प जागतिक जवापुष्पों की तरह ही व्यावहारिक सत्तासम्पन्न पदार्थ था, द्रष्टा के दृष्टि-भ्रम से उत्पन्न आभासमात्र नहीं था। इस फूल को मैंने बहुत दिनों तक अपने पास पेटी में बड़े जतन से रक्खा और लोगों को दिखाता था, बहुत दिन बीत जाने पर वह सूख गया।

सकता है, और क्या नहीं, इसकी कोई निर्दिष्ट सीमारेखा नहीं है। परमेश्वर ही तो आदर्श योगी हैं; उनके सिवा महाशक्ति का पूरा पता और किसी को प्राप्त नहीं है, न प्राप्त हो ही सकता है। जो निर्मल होकर परमेश्वर की शक्ति के साथ जितना युक्त हो सकते हैं, उनमें उतनी ही ऐसी शक्तिकी स्फूर्ति होती है। यह युक्त होना एक दिन में नहीं होता, क्रमशः होता है। इसीलिये शुद्धि के तारतम्य के अनुसार शक्तिका स्फुरण भी न्यूनाधिक होता है। शुद्धि या पवित्रता जब सम्यक्प्रकार से सिद्ध हो जाती है, तब ईश्वर-सायुज्यकी प्राप्ति होती है। तब योगीकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं रहती। उसके लिये असम्भव भी सम्भव हो जाता है। उसकी इच्छाके उत्पन्न होते ही अघटन-घटना-पटीयसी माया पूर्ण कर दिया करती है।'

मैंने पूछा 'इस फूलका परिवर्तन आपने योगबल से किया या और किसी उपाय से?' स्वामीजी बोले—'उपायमात्र ही तो योग है। दो वस्तुओं को एकत्र करने को ही तो योग कहा जाता है। अवश्य ही यथार्थ योग इस से पृथक् है। अभी मैंने यह पुष्प सूर्यविज्ञान द्वारा बनाया है। योगबल या शुद्ध इच्छाशक्ति से भी सृष्टि आदि सब कार्य हो सकते हैं, परन्तु इच्छाशक्ति का प्रयोग न कर के विज्ञानकौशल से भी सृष्ट्यादि कार्य किये जा सकते है।' मैंने पूछा 'सूर्यविज्ञान क्या है?' उन्हों ने कहा, 'सूर्य ही जगत् का प्रसविता है। जो पुरुष सूर्य की रश्मि अथवा वर्णमाला को भलीभाँति पहचान गया है और वर्णों को शोधित कर के परस्पर मिश्रित करना सीख गया है, वह सहज ही सभी पदार्थों का संघटन या विघटन कर सकता है। वह देखता है कि सभी पदार्थों का मूल-बीज इस रश्मिमाला के विभिन्नप्रकार के संयोग से ही उत्पन्न होता है। वर्णभेद से, और विभिन्न वर्णों के संयोग-भेद से विभिन्न पद उत्पन्न होते हैं, वैसे ही रश्मि-भेद और विभिन्न रश्मियों के मिश्रण-भेद से जगत् के नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अवश्य ही यह स्थूलदृष्टि में बीज-सृष्टि का एक रहस्य है। सूक्ष्म-दृष्टि में अव्यक्त गर्भ में बीज ही रहता है। बीज न होता तो इस प्रकार संस्थानविशेष का जनक रश्मिविशेष के संयोग-वियोग से, और इच्छाशक्ति या सत्य-सङ्कल्प के प्रभाव से भी, सृष्टि होने की सम्भावना नही रहती। इसीलिये योग और विज्ञान के एक होने पर भी, एक प्रकार से दोनों का किञ्चित् पृथक्रूप में व्यवहार होता है। रश्मियों को शुद्धरूप से पहचान कर उनकी योजना करना ही सूर्यविज्ञान का प्रतिपाद्य विषय है। जो ऐसा कर सकते हैं, वे सभी स्थूल और सूक्ष्म कार्य करने में समर्थ होते हैं। सुख, दुःख, पाप, पुण्य, काम, क्रोध, लोभ, प्रीति, भक्ति आदि सभी चैतसिक वृत्तियाँ और संस्कार भी, रश्मियों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। स्थूल वस्तु के लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। अतएव जो इस योजना को और वियोजन की प्रणाली को जानते हैं, वे सभी कुछ कर सकते हैं, निर्माण भी कर सकते हैं और संहार भी; परिवर्तन की तो कोई बात ही नहीं। यही सूर्यविज्ञान है।'

मैंने पूछा, 'आप को यह कहाँ से मिला? मैंने तो कहीं भी इस विज्ञान का नाम नहीं सुना।' उन्होंने हँसकर कहा--'तुम लोग बच्चे हो; तुम लोगों का ज्ञान ही कितना है? यह विज्ञान भारत की ही वस्तु है, उच्च कोटि के ऋषिगण इसको जानते

थे, और उपयुक्त क्षेत्र में इसका प्रयोग किया करते थे। अब भी इस विज्ञान के पारदर्शी आचार्य अवश्य ही वर्त्तमान हैं। वे हिमालय और तिब्बत में गुप्तरूप से रहते हैं। मैंने स्वयं तिब्बत के उपान्तभाग में ज्ञानगञ्ज नामक बड़े भारी योगाश्रम में रहकर एक योगी और विज्ञानवित् महापुरुष से दीर्घकालतक कठोर साधना करके इस विद्या को और ऐसी ही और भी अनेकों लुप्त विद्याओं को सीखा है। यह अत्यन्त ही जटिल और दुर्गम विषय है, इसका दायित्व भी अत्यन्त अधिक है। इसीलिये आचार्यगण सहसा किसी को यह विषय नहीं सिखाते।'

मैंने पूछा, 'क्या इस प्रकार की और भी विद्याएँ हैं?' उन्होंने कहा 'है नहीं तो क्या? चन्द्रविज्ञान नक्षत्रविज्ञान, वायुविज्ञान, क्षणविज्ञान, शब्दविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि बहुत विद्याएँ हैं। केवल नाम सुनकर ही तुम क्या समझोगे? तुम लोगों ने शास्त्रों में जिन विद्याओं के नाममात्र सुने हैं, वे और उनके अतिरिक्त और भी न मालूम कितना क्या है!'

इस प्रकार बातें होते-होते सन्ध्या हो चली। पास ही घड़ी रक्खी थी; महापुरुष ने देखा, अब समय नहीं है, वे तुरन्त नित्यक्रिया के लिये उठ खड़े हुए और क्रिया-गृह में प्रविष्ट हो गये। हम सब लोग अपने-अपने स्थानों को लौट आये।

इसके बाद मैं प्रायः प्रतिदिन ही उनके पास जाता और उनका सत्सङ्ग करता। इस प्रकार क्रमशः अन्तरङ्गता बढ़ती गयी। क्रमशः नाना प्रकार की अलौकिक बातें मैं प्रत्यक्ष देखने लगा। कितनी देखी, उनकी संख्या बतलाना कठिन है। दूरसे, नजदीक से, स्थूलरूप से, सूक्ष्मरूप से, भौतिक जगत् में, दिव्य जगत् में,—यहाँ तक कि आत्मिक जगत् में भी; मैं उनकी असंख्य प्रकार की लोकोत्तर-शक्ति के खेलों को देख-देखकर स्तम्भित होने लगा। केवल मैंने निजमें स्वयं जो कुछ देखा और अनुभव किया है, उसीको लिखा जाय तो एक महाभारत बन सकता है।[1] परन्तु यहाँ उन सब बातोंको लिखने की आवश्यकता नहीं है और सारी बातें सर्वत्र प्रकट करने योग्य भी नहीं हैं। मैं यहाँ यथासम्भव निरपेक्षरूप से अनेकानेक महाशयोंके अनुरोध के सम्मानार्थ स्वामीजी महाराज के उपदिष्ट और प्रदर्शित विज्ञान के सम्बन्ध में दो-चार बातें लिखूँगा।

परमहंसजी की कुछ बातें—परमहंसदेव के जीवन चरित के सम्बन्ध में इस लेख में विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। तथापि सूर्यविज्ञान के साथ ज्ञानगञ्ज आश्रम का और परमहंसदेव का सम्बन्ध होने के कारण पाठकों की कौतूहल-निवृत्ति के लिये दो-चार बातें कहकर सूर्यविज्ञान के सम्बन्ध में कुछ लिखा जायगा। आपने ८० वर्षसे कुछ अधिक समय पूर्व बंगाल के बर्दवान जिले के बंडूल नामक गाँव के प्रसिद्ध चट्टोपाध्याय वंश में जन्म ग्रहण किया था। इनके पिता का नाम स्वर्गीय अखिल-चन्द्र चट्टोपाध्याय एव माता का नाम राजराजेश्वरी देवी था। लड़कपन में ही इनके

१. स्वामीजी के सम्बन्ध में इस लेखक के द्वारा सम्पादित 'श्रीश्रीविशुद्धानन्दप्रसङ्ग' नामक एक बँगला ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पाँच भागों में विभक्त है। उसमें स्वामीजी की चरित्र-कथा, तत्त्वकथा और लीलाकथा में स्वामीजी के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों का वर्णन किया गया है।

जीवन में बहुत-सी अलौकिक घटनाएँ हुई थीं। चरित्रबल, धैर्य, अध्यवसाय, मानसिक संयम एवं भगवान् पर निर्भरता आदि सद्गुणों के कारण छोटी उम्रमें ये अपने समवयस्क-बालकों में विशिष्ट बन गये थे। ये लड़कपन में खेलने के बहाने भगवान् की और देवताओं की पूजा करते, और मौका मिलते ही निर्जन और एकान्त स्थान में जाकर ध्यानस्थ हो कुछ समय बीताते, यह आपको बहुत अच्छा लगता। बहुत बार इनकी बिना जानकारी में ही लड़कपन में वाकसिद्धि और अन्यान्य अनेकों प्रकार के ऐश्वर्य इनके चरित्र में देखे जाते थे। एक बार खेल में ये मिट्टी के शिवजी बनाकर उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय इनके एक साथी ने अशिष्ट आचरण करके पूजा में विघ्न किया, जिससे इसके चित्त में क्रोध आ गया और अनजान में ही अकस्मात् इनके मुँह से निकल गया कि 'शिवजी का अपमान करने के कारण शिवजी का साँप तुम्हें डसेगा।' वास्तव में यही हुआ। उसको साँप ने डस लिया, परन्तु पीछे से डसे हुए अङ्ग पर इनके हाथ फेरते ही देह से विष की क्रिया दूर हो गयी और बालक जी उठा।

एक बार इनकी पूजनीया माताजी को हैजा हो गया। चिकित्सकों ने इनके जीवन की आशा छोड़ दी। ये शिशु-अवस्था से ही असाधारण मातृभक्त थे। स्नेहमयी जननी के परलोक गमन की आशङ्का से बालक का हृदय विह्वल हो गया। ये अपने गृहदेवता श्रीश्यामसुन्दर से माता की जीवनरक्षा के लिये प्रार्थना करने लगे। परन्तु निरन्तर प्रार्थना करने पर भी माता की अवस्था क्रमशः बिगड़ती ही गयी। तब तो ये रूठकर एक लोहे की साबल हाथ में लेकर गोशाला के ऊपर के मचान पर चढ़कर वहीं छिप गये। इन्होंने मन में सङ्कल्प कर लिया किया यदि श्यामसुन्दर मेरी माता के प्राणों की रक्षा नहीं करेंगे तो मैं इस लोहे की छड़ से उनकी मूर्ति को तोड़-फोड़ डालूँगा। भगवान् पर अत्यन्त निर्भरता तथा विश्वास होने के कारण ही बालक के कोमल हृदय में ऐसा मान पैदा हो गया था। कहना नहीं होगा कि श्यामसुन्दर ने अपने इस मानी भक्त को मना लिया और उस अवसर पर बड़ी ही अलौकिक रीति से इनकी माताजी के प्राण बच गये।

इस प्रकार की घटनाएँ इनके बाल्यजीवन में अनेकों हुई। छोटी ही उम्र में इन्हें नाना प्रकार के देवताओं के दर्शन होने लगे। कई बार तो उनके साथ इनकी बातचीत भी होती। उपनयन-संस्कार के बाद तो इस अवस्था का विशेष विकास हुआ। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है यह सब पूर्वजन्म की तपस्या का फल था। परन्तु जिस घटना ने इनके जीवन को पलट दिया और इन्हें असाधारण योग-शक्ति और ज्ञान-विज्ञान प्राप्ति के योग्य अधिकार-प्राप्ति की सूचना हुई, वह घटना इनकी किशोरावस्था में घटी। किसी पागल कुत्ते के काट खाने से इन्हें जलातंक रोग हो गया था और बहुत तरह के इलाज करने पर भी अच्छे होने की कोई आशा नहीं रह गयी थी। ऐसी अवस्था में ये भीषण यन्त्रणा भोगते हुए मौत की बाट देख रहे थे। इसी समय एक महापुरुष ने अपने योगबल से बहुत ही थोड़े समय में इन्हें आसन्न मृत्यु के मुँह से बचा लिया। इन महापुरुष का नाम श्रीश्रीनिमानन्द परमहंस था। ये यहाँ किसी निर्दिष्ट आश्रम में

नहीं रहते थे। अधिकांश समय हिमालय के ज्ञानगञ्ज नामक विराट् योगाश्रम में ही निवास करते थे। इनकी उम्र इतनी अधिक थी कि आजकल के समय में साधारण मनुष्य उस पर विश्वास भी करना नहीं चाहेंगे। कुछ दिनों के बाद यही महात्मा इन्हें अलौकिक उपायों से अपने साथ आकाशमार्ग के द्वारा बंगाल से बहुत दूर हिमालय ले गये और मानसरोवर के समीप अपने गुरुदेव के चरणों में उपस्थित कर दिया। मानसरोवर के समीप निवास करनेवाले श्रीनिमानन्दजी के गुरुजी-महाराज हजार से भी अधिक वर्षों की उम्र होने पर भी आज तक स्थूल-शरीर से ही विद्यमान हैं। इन्होंने बालक को यथाविधि शक्ति-सञ्चारपूर्वक दीक्षा देकर योग-शिक्षा और ब्रह्मचर्यव्रत-पालन के लिए ज्ञानगञ्ज आश्रम में भेज दिया। इस विराट् आश्रम में योगशिक्षा के साथ-ही-साथ नाना प्रकार के प्राकृतिक विज्ञानशिक्षा की भी व्यवस्था है। 'विज्ञान' शब्द से साधारणतः हम जो कुछ समझते हैं और जिसका समुन्नत रूप आजकल पाश्चात्य जगत्-में दिखायी पड़ता है, ज्ञानगञ्ज-आश्रम का विज्ञान ठीक उसी प्रकार का नहीं है। यहाँ वे विज्ञान हैं, जो प्राचीन काल के ऋषियों को अवगत थे और आवश्यक होने पर जिनके द्वारा वे अनेकों प्रकार के कार्य-साधन करते थे। ज्ञानगञ्ज-आश्रम में श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस नामक एक महापुरुष इस विज्ञान-विभाग के अधिष्ठाता थे। बाबा विशुद्धानन्द-जी ने महायोगी श्रीभृगुराम परमहंसदेव से योग के समस्त अंगों का, और विज्ञान-विद् श्री श्यामानन्द परमहंस से प्राकृतिक विज्ञान का रहस्य प्राप्त कर, यथासमय ब्रह्म-चर्यव्रत का उद्यापन किया था। ब्रह्मचर्य अवस्था के बाद दण्डी और संन्यासी अवस्था में तत्तत् साधनभूमियों के अनुसार सब साधनों का अभ्यास करके और नियमपूर्वक परीक्षा में उत्तीर्ण होकर गुरुदेव की आज्ञा से आपने पुनः लोकालय में लौटकर जीवों के कल्याण-साधन का व्रत लिया। दीर्घसमय तक लगातार ज्ञानगञ्ज आश्रम में रहने के बाद आपने भारतवर्ष के बहुत-से तीर्थों में पर्यटन किया। यह लम्बी कथा है, यहाँ विस्तार की आवश्यकता नहीं। यहाँ आकर तीर्थस्वामी अवस्था में आपने बर्दवान जिले के गुष्करा नामक गाँव में निवास किया। तदनन्तर अपने गाँव बण्डूल में एक आश्रम बनाया और वहाँ इनके गुरुप्रदत्त शिवलिङ्ग की बण्डूललेश्वर के नाम से स्थापना की गयी[1]। इसके अनन्तर बर्दवान, काशी, झालदा, पुरीधाम और कलकत्ता आदि स्थानों में उन-उन प्रदेशों के भक्त और साधकों की साधन-सुकरता के लिए आश्रमों की स्थापना की गयी।

परमहंसदेव साधारणतः अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित समाज में 'गन्धबाबा'

---

१. यह शिवलिङ्ग अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न है। हिमालय के बहुत-से योगी वर्षों तक इसका आश्रय लेकर योगक्रिया किया करते थे। परमहंसदेव पर प्रसन्न होकर इनके गुरुदेव ने अपनी इच्छा से यह लिङ्ग इन्हें उपहार रूप में दिया था। ये इसे मस्तक में रखते थे। केवल उपासना के समय मस्तक से मुख आदि द्वारों से बाहर निकाल लेते और उपासना के बाद फिर मस्तक में यथास्थान रख लेते थे। गुरुदेव के आदेश से बण्डूल में आश्रम स्थापित होने के बाद उक्त शिवलिङ्ग भी वहीं स्थापित कर दिया गया। बाद में परमहंसदेव के मस्तक में जो शिवलिङ्ग था, वह बण्डूलेश्वर से भिन्न था। वह भी अत्यन्त ज्योतिःसम्पन्न और प्रबल शक्तिशाली था।

के नाम से विख्यात थे। जिनका इनसे बहुत दिनों का परिचय है, वे जानते हैं कि इनके शरीर से कैसी एक अपूर्व दिव्य-गन्ध सदा निकलती रहती थी। यह मूलतः विशुद्ध पद्मगन्ध के समान होने पर भी मर्त्यलोक में इस गन्ध की कोई उपमा नहीं है। इनके अनजान में इसी गन्ध से वायु और भावों के स्पन्दनानुसार कभी चन्दन, कभी खस, कभी गुलाब और कभी अन्य किसी प्रकार की दिव्य-गन्ध का आविर्भाव हो जाया करता था। ब्रह्मचर्य के परिणामस्वरूप देह के सम्यक् प्रकार से शुद्ध होने पर शरीर से इस प्रकार की दिव्य गन्ध स्वाभाविक ही निकला करती थी। पहले परमहंसदेव जहाँ बैठते, वहाँ से बहुत दूर तक—यहाँ तक कि सारे आश्रम में उनके शरीर की सुवास फैली रहती थी।[१]

इनकी योगशक्ति और विज्ञानशक्ति का वर्णन करना असम्भव है। जिनका इनके साथ थोड़ा-बहुत अन्तरङ्ग सम्बन्ध हुआ है, वे हजारों प्रकार से इनके अलौकिक ज्ञान, विभूति, करुणा और वात्सल्यगुणों से परिचित हैं। इस निबन्ध के लेखक ने इनसे बहुत दूर रहकर, और इनके निकट बैठकर जिन लोकातीत कार्यों को अपनी आँखों से देखा है, उनको एक-एक करके लिखने से साधारण पाठक उनमें से किसी को भी सम्भव नहीं मानेंगे और सहसा उन पर विश्वास करने में भी समर्थ नहीं होंगे। ये सारी बातें इनके जीवन में इतनी अधिक संख्या में और इतने विचित्र ढंग से प्रकट हुई, कि धीरज के साथ विचार करने पर अत्यन्त कठोर शुष्क नास्तिक-हृदय में भी भगवान् की मङ्गलमय विभूति और अहैतुकी अपार-करुणा पर विश्वास हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु इन सब व्यक्तिगत बातों को लेकर लोगों के सामने प्रकट होना अशोभन मालूम होता है, इसीलिए विशेष विवरण न देकर थोड़े में कुछ खास-खास बातें लिखी जाती हैं।

परमहंसदेव अपने मस्तक के भीतर शालग्राम और शिवलिङ्ग को धारण किये रहते थे। साथ ही वहाँ १०८ स्फटिक मणियों की एक माला भी है। पूजा आदि के समय उक्त शालग्राम और शिवलिङ्ग को मुख आदि द्वारों से बाहर निकालकर यथाविधि पूजा कर चुकने पर पुनः यथास्थान उन्हें रख देते थे। एक बार एक भक्त जमाये हुए पारे से बना हुआ एक शिवलिङ्ग लाये और उसे बाबा को दिखलाया। बाबा ने कहा 'तुम कहो तो मैं इस पारद से बने हुए शिवलिङ्ग को निगल जाऊँ।' शिष्य घबरा उठा। लगभग एक पाव पारा खा लेने पर कहीं ऐसा न हो कि बाबा का शरीर ही न रहे। उनको उसका डर हो गया। इसीलिये वे इधर-उधर ताकने लगे। आखिर अन्यान्य गुरुभाइयों के उत्साह दिलाने पर वे राजी हो गये। तब परमहंसजी

---

१. परमहंसदेव का स्थूल देह किसी एक निर्दिष्ट स्थान में रहते हुए ही जब कभी वे अलौकिक रूप से दूर देश में भक्तों के सामने उपस्थित होते थे, तब सबसे पहले उनकी इस सुगन्धि का ही स्पष्टरूप से भक्तों को अनुभव होता था। इस गन्ध में ऐसी पवित्र मादकता की शक्ति थी कि जिसको यह एक बार भी प्राप्त हुई है, वह कभी इसे भूल नहीं सकता। इनके भक्तगण जानते हैं कि दूर से इनका चिन्तन करने पर थोड़ी ही देर में इनकी दिव्य गन्ध चारों ओर छा जाती है।

ने सबके सामने उस शिवलिंग को मुख में लेकर मस्तक पर चढ़ा लिया और उसे वहीं स्थापन कर दिया। फिर एक बार उन्होंने इस पारे के शिवलिङ्ग को भी मुख से निकालकर उसकी पूजार्चना करने के बाद पुनः मस्तक में चढ़ा लिया था।

इनके शरीर में इतना अधिक तेज था और बिजली की इतनी अधिक क्रिया होती थी कि मच्छर, मधुमक्खी, हड्डे, भँवरे आदि जीव दंशन करते ही उसी क्षण मरकर राख हो जाते थे। अवश्य ही दंशन न करें, हिंसाभाव न दिखलावें तो उनकी कोई हानि नहीं होती। हिंसा करने पर उसकी प्रतिक्रिया उसी समय होती है। मामूली कीड़ों की तो बात ही क्या है, बाबा के शरीर को डंसने की चेष्टा करनेवाले साँप भी उसी क्षण मर जाते थे। ऐसी घटनाएँ बहुत बार देखी गयी हैं। इस तीक्ष्ण तड़ित् (बिजली) के प्रभाव से ही बाबा यदि सिंह-बाघों की ओर कहीं ताक लेते थे, तो वे भी उसी क्षण सिर झुकाकर मृदु बन जाते थे।[१]

परमहंसदेव के शरीर में बहुत से स्फटिक-गोलक (Crystal balls) हैं। तीव्र योगक्रिया के प्रभाव से शरीर में जब बहुत अधिक गरमी बढ़ती थी, तब इन स्निग्ध वस्तुओं के संसर्ग से वह बहुत कुछ शान्त हो जाती थी। इन स्फटिकों के अतिरिक्त, मोती, हीरा आदि वस्तुएँ भी इनके देह के अन्दर स्थानविशेष में सुरक्षित थीं। शीत के समय शरीर के सङ्कोच होने के कारण कभी-कभी दो एक स्फटिक अपने-आप ही लोमकूप के द्वारा शरीर से बाहर निकल पड़ते थे। कई बार प्रसङ्गवश वे स्वयं ही किसी तत्त्व की व्याख्या करते समय देह से स्फटिक निकालकर दिखाया करते थे। रोमछिद्रों से स्फटिकों के बाहर निकलते समय न तो किसी प्रकार का कष्ट होता है और न खून ही निकलता है। शरीर से निकलते ही स्फटिकों में अति पवित्र दिव्य गन्ध आती थी। आप शरीर के अन्दर भी एक जगह से दूसरी जगह स्फटिकादि को ले जाते थे। साधारण लोगों की तो बात ही क्या है, देहतत्त्व के पण्डित भी अपने अपूर्व-ज्ञान से इस बात को नहीं समझ सकते कि यह सब कैसे होता है। योगी की देह बाह्यदृष्टि से साधारण देह की तरह प्रतीत होने पर भी, उसमें निश्चय ही एक अचिन्त्य वैशिष्ट्य रहता है। एक बार परमहंसदेव ने अपने विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों को एक-दूसरे से अलग कर के दिखलाया था, और आश्चर्य यह कि उसी समय वे अदृश्य रूप से शून्य में से बोलते हुए शिष्य को समझा भी रहे थे। फिर किसी अपूर्व शक्ति के प्रभाव से वे सब अलग-अलग हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुनः अपने-आप ही परस्पर जुड़ गये और शरीर पूर्वपरिचित आकार में प्रकट हो गया।

एक दिन कुछ जिज्ञासु भक्तों को आपने अपने हाथ का एक परत चमड़ा

---

१. इस प्रसङ्ग में यह उल्लेख करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि बाबाजी जब गुष्कारा में रहते थे तब कई विषधर सर्पों को अपने साथ रखते थे। गरमी के दिनों में क्रिया के समय साँपों को शरीर पर लपेटे रहते थे, जिससे इनका शरीर ठण्डा रहता था। फिर झालदा में रहने के समय कुछ दिन बाघ आपके पास रहे थे। भीषण हिंस्र जीव होने पर भी बाघ आपके समीप शान्त और स्थिरभाव से ही रहते थे। जाड़े के दिनों में रात को कई बार आप बाघ से चिपटे रहते थे, जिससे शरीर खूब गरम रहता था।

अलग कर के फिर उसे हाथ से ज्यों-का-त्यों लगा कर समझाया था कि पाश्चात्य शारीर-विज्ञानियों की लौकिक विद्या के द्वारा योगियों के स्वरूप का निरूपण सम्भव नहीं है। एक बार आपका शरीर नवजात शिशु के आकार में बदल गया था। इसको कई लोगों ने अपनी आँखों देखा था। इस लेखक को एक दिन आप पुराणवर्णित श्रीविष्णु भगवान् के नाभिकमल से ब्रह्माजी के उत्पन्न होने की बात समझाते हुए कहने लगे कि पुराणों का यह वर्णन 'रूपक' नहीं है, किन्तु अक्षर-अक्षर सत्य है। कुण्डलिनी-शक्तिका विकास होने पर जब योग के अन्तराकाश में परम दिव्य-स्वरूप ज्योतिर्मय तेजःपुञ्ज का उदय होता है, तब सूर्योदय के समय के कमल की भाँति उसका नाभिकमल अपने-आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। जो वास्तव में योगी है, उनको ऐसा अवश्य होता है। हाँ, परन्तु जो नाभि-धौति आदि दुरूह क्रियाओं में पूर्णरूप से निष्णात नहीं हैं, उनके कमल का विकास नहीं हो सकता।' इतना कह कर वे फिर बोले कि 'साधारण बद्ध जीवों की नाभि में ग्रन्थि लगी है, इस ग्रन्थि का मोचन न होने तक ऊर्ध्व-रति असम्भव है।' इसके बाद दोनों हाथों से नाभिप्रदेश के दो-चार बार सञ्चालन करते ही नाभि-प्रदेश एक गड्ढे के रूप में परिणत हो गया। उपस्थित भक्तगण यह देख कर चकित हो गये। क्रमशः उस गड्ढे में से एक अति सुन्दर नाल का आविर्भाव हुआ और उसके ऊपर अत्यन्त लावण्य-युक्त दिव्य कमल दिखलायी पड़ा। हाल के खिले हुए कमल की पवित्र गन्ध से सारा घर और आँगन सुगन्धित हो उठा। यहाँ तक कि उस समय जो लोग दर्शन के लिये बाहर से आ रहे थे, उनको भी घर में प्रवेश करने के पूर्व से ही सुगन्धि आने लगी। कुछ क्षणों के बाद नाभि को हिलाते ही कमल नालसहित संकुचित होकर भीतर प्रवेश कर के अदृश्य हो गया।

परमहंस देव की शक्ति की तुलना नहीं थी यह बात पहले ही कही जा चुकी है। मनुष्य की शक्ति कहाँ तक विकसित हो सकती है, इस बात को परमहंसजी के साथ अन्तरङ्गभाव से परिचित होने पर ही जाना जा सकता था। उनके वस्तुनिर्माण की बात कहने की तो विशेष आवश्यकता ही नहीं है। कारण, इस बात को तो बहुत लोग जानते हैं। हमारे अपने घर में अत्यन्त कठिन रोग के समय, उनको किसी तरह की खबर न देने पर भी, बहुत बार उन्होंने स्थूल या सूक्ष्म शरीर से आविर्भूत होकर रोगी को उपदेश दिया है और औषध देकर भी अथवा न देकर भी तत्काल ही उसे रोगमुक्त कर दिया है। पाँच-सात मील दूर से क्षणभर में आविर्भूत होकर स्थूल और पंचभूतात्मक औषध प्रदान करना आदि कार्य साधारण बुद्धि के अगोचर हैं। कभी-कभी तो ऐसी घटना हुई है कि एक सेकंड असावधानी की जाती तो भयङ्कर परिणाम हो जाता, परन्तु उस एक सेकंड के बीतते-बीतते ही उन्हों ने आविर्भूत होकर अपनी मङ्गलमयी रक्षाशक्ति का प्रयोग किया। ऐसी घटनाओं का विस्तृत वर्णन मेरे पास है, परन्तु यहाँ उसके प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है।

एक बार मेरी जपकी माला टूट गयी। मैं उसको ठीक शास्त्रीय ढंग से गूँथ देने के लिये बिखरे हुए रुद्राक्ष के दाने और थोड़े-से रेशम को लेकर बाबा के पास पहुँचा और उनसे मैंने प्रार्थना की। उन्हों ने रुद्राक्ष के दानों को और रेशम को

गोमुखी में रख कर उसे अपनी मुट्ठी में भींच लिया। फिर दो-तीन बार उस पर हाथ फिरा कर गोमुखी मुझे दे दी। ऐसा करने में तीन-चार सेकंड से अधिक समय नहीं लगा था। मैं गोमुखी से निकाल कर देखता हूँ तो माला बड़ी सुन्दरता में गूँथी हुई है। यहाँ तक कि सुमेरु तक विधिपूर्वक लगा है। गाँठें भी शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार ही लगी हैं। पूछने पर उन्हों ने कहा कि 'यह वायु-विज्ञान का कार्य है। जिसको तुमलोग अल्प-समय कहते हो, वह वास्तव में अल्प नहीं है। सूक्ष्म स्तर में चले जाने पर उसी में दीर्घकाल का भी कार्य हो सकता है।

परमहंसदेव में ऐश्वर्य और माधुर्य इन दोनों भावों का अत्यन्त अपूर्व सम्मिश्रण था। योग अथवा विज्ञान किसी भी दिशा में उनकी शक्ति की सीमा नहीं बाँधी जा सकती थी। इसके सिवा योगज्योतिष, दैवज्योतिष, स्वरोदय आदि विद्याओं पर पूर्ण अधिकार होने के कारण वे योग और विज्ञान की शक्ति के बिना ही एक प्रकार से सर्वज्ञान-शक्ति पर अधिकार किये हुए थे। परन्तु इतनी शक्तियों के होते हुए भी उनमें जिस अपूर्व संयम और माधुर्य-गुण का विकास देखा जाता था, वह अतुलनीय है। ज्ञान का विकास होने पर पराभक्ति और प्रेम की गम्भीरता में द्रुतिमय रसतत्त्व का आविर्भाव होता है; उससे करुणा, स्नेह, वात्सल्य आदि दिव्य गुणों की स्फूर्ति होकर अपने-आप ही कार्य होता रहता है। कर्तव्यनिष्ठा, संयमशीलता, उद्यम, अध्यवसाय, गुरुभक्ति और निर्भरता आदि गुणों के समन्वय से उनका जीवन योगमार्ग मे अप्रविष्ट साधारण मनुष्य के लिये भी आदर्श था। परमहंसजी का प्रधान उपदेश यह है कि 'प्रेम के बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, शुद्धा-भक्ति की परिणति से ही प्रेम का उदय होता है। जिस भक्ति को दृष्टि स्वार्थसाधन की ओर है, जिसकी जड़ में कामना का बीज है, वह कभी प्रेम के रूप में परिणत नही होती। वस्तुतः उसको भक्ति कहना ही उचित नहीं है। ऐसी भक्ति से तो यथासम्भव दूर रहना ही साधक का कर्तव्य है। शुद्धा-भक्ति के उदय के लिये ज्ञान का विकास आवश्यक है। केवल ग्रन्थों के अध्ययन से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह तो शुष्क-ज्ञान है। उसे असली ज्ञान नहीं कहना चाहिये। यथार्थ ज्ञान का उद्भव चित्तशुद्धि हुए बिना नहीं होता और चित्तशुद्धि कर्म-सापेक्ष है। अतएव यथाविधि सद्गुरु के आदेश को सिर चढ़ाकर उनके दिखलाये हुए मार्ग से निष्ठा, संयम और श्रद्धा के साथ अपने चरित्रबल को पवित्र बनाये रखते हुए जो अग्रसर हो सकता है, उसको अवश्य ही असली ज्ञान प्राप्त होता है। इस कर्म को ही योगिगण योग कहते हैं। इसके विपरीत अन्य कर्मों को योग नहीं कहा जाता और वे चित्तशुद्धि में सहायक भी नहीं होते। अतएव नीति और चरित्रशुद्धि की ओर लक्ष्य रख कर सद्गुरु के उपदिष्ट मार्ग से निरन्तर योगाभ्यासरूप दीर्घकालव्यापी कर्म कर सकने पर हो चित्तशुद्धि और आत्मज्ञान का विकास होता है। तब हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय छूट जाते हैं और जन्म जन्मातर को संचित कर्मराशि का क्षय हो जाता है। इस अवस्था में अविद्या की आंशिक निवृत्ति के कारण उसी के अनुसार आत्मशक्ति का स्फुरण आरम्भ होता है। यही योगविभूति की सूचना है। इसके बाद परमात्मा के अहैतुक एवं नित्य आकर्षण के प्रभाव से विशुद्ध जीव क्रमशः आगे बढ़ता

हुआ उनके निकट पहुँचता रहता है और परम मङ्गलमय ऐश्वरिक विभूति का आस्वादन प्राप्त करता है। ज्ञान का परिपाक अथवा भक्ति का विकास इस एक ही भूमि के नामान्तर हैं। इसके बाद आत्मसमर्पण के पूर्ण होते ही प्रेम का आविर्भाव होता है। इसी से भगवत्प्राप्ति की सूचना मिलती है। पूर्ण साधनमार्ग के किसी भी अंश की उपेक्षा करने से काम नहीं चलता। अवस्था और अधिकारभेद से सभी की उपकारिता है। अतएव साधनामात्र का ही मूलमन्त्र कर्म है। कर्म या पुरुषार्थ का आश्रय लेने पर दैवबल अपने-आप ही आ जाता है। तब फिर भगवान् के अनुग्रह के लिये प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं रहती। अवश्य ही पूर्वजन्म में किये हुए कर्म के फल से किसी-किसी के प्रथम अवस्था में ही उन्नतभाव का विकास देखने में आता है। परन्तु इससे सिद्धान्त में कोई व्यतिक्रम नहीं होता। इतनी बात याद रखनी चाहिये कि भगवान् की इच्छा ही मूल है। अतएव कर्म को मूल बतलाने पर भी प्रकारान्तर से कर्म के मूल में भी उन्हीं का अनुग्रह होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु अज्ञान अवस्था में अनुग्रह की अनुभूति नहीं होती, इसलिये आत्माभिमान प्रबल रहता है; अतएव कर्म के भाव को ही प्रबल मानकर चलना पड़ता है। ज्ञान का उदय होने पर यह बात समझ में आ जाती है कि समस्त विश्व ही उनकी लीला है अर्थात् उनकी इच्छाशक्ति का खेल है। जीव केवल इस अभिनय का एक निष्क्रिय द्रष्टामात्र है।'

सूर्यविज्ञान का रहस्य—यद्यपि कालधर्म के कारण हम सौर-विज्ञान या सावित्री-विद्या को भूल गये हैं, तथापि यह सत्य है कि प्राचीन काल में यही विद्या ब्राह्मण-धर्म की और वैदिक-साधना की भित्ति-स्वरूप थी। सूर्यमण्डल तक ही संसार है, सूर्यमण्डल का भेद किये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। यह बात ऋषिगण जानते थे। वस्तुतः सूर्यमण्डल तक ही वेद या शब्द-ब्रह्म है—उसके बाद सत्य या परब्रह्म है।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।

—यह बात जो लोग कहा करते थे वे जानते थे कि शब्द-ब्रह्म का अतिक्रमण किये बिना या सूर्यमण्डल को लाँघे बिना सत्य में नहीं पहुँचा जाता। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥
(११।१२।२१-२२)

'यह कर्मात्मक संसार वृक्ष है—जिसके दो बीज, १०० मूल, ३ नाल, ५ स्कन्ध, ५ रस, ११ शाखाएँ हैं; जिसमें २ पक्षियों का निवासस्थान है; जिसके ३ वल्कल और २ फल हैं[1]—यह संसार-वृक्ष सूर्यमण्डलपर्यन्त व्याप्त है।' श्रीधर स्वामी और विश्वनाथ दोनों ने कहा है—

१. बीज = पुण्य-पाप। मूल = वासना (शत = असंख्य)। नाल = गुण। स्कन्ध = भूत। रस = शब्दादि विषय। शाखा = इन्द्रिय। फल = सुख-दुःख। सुपर्ण या पक्षी = जीवात्मा और परमात्मा। नीड = वासस्थान। वल्कल = धातु अर्थात् वात, पित्त और श्लेष्मा।

अर्कं प्रविष्टः सूर्यमण्डलपर्यन्तं व्याप्तः।
तन्निर्भिद्य गतस्य संसाराभावात्।

प्रकृति का रहस्य जानने के लिए यह सूर्य ही साधन है। श्रुति में आया है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्.....।

(मैत्री-उपनिषद् ६।३५)

सूर्य से ही चराचर जगत् उत्पन्न होता है, यह श्रुतिने स्पष्ट रूप में निर्देश किया है। मैत्री उपनिषद् (६।३५) में लिखा है कि प्रसवधर्म के कारण ही सूर्य का 'सविता' नाम सार्थक हुआ है (सवनात् सविता)।[1] बृहत्-योगि याज्ञवल्क्य में स्पष्ट तौर पर लिखा है—

सविता सर्वभावानां सर्वभावांश्च सूयते।
सवनात् प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते॥

(९।५५-५६)

सूर्योपनिषद् में सूर्य के जगत् की उत्पत्ति का हेतु होने का वर्णन आया है—

सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च॥

आचार्य शौनक ने बृहद्देवता में उच्च स्वर से कहा है कि एक मात्र सूर्य से ही भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त स्थावर और जङ्गम पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। यही प्रजापति तथा सत् और असत् के योनि-स्वरूप हैं, यह अक्षर, अव्यय, शाश्वत ब्रह्म हैं। ये तीन भागों में विभक्त होकर तीन लोकों में वर्तमान हैं—समस्त देवता इनकी रश्मि में निविष्ट हैं—

भवद् भूतं भविष्यच्च जङ्गमं स्थावरं च यत्।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेषा प्रजापतिः।
तदक्षरं चाव्ययं च यच्चैतद् ब्रह्म शाश्वतम्॥
कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति।
देवान् यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु॥

सूर्यसिद्धान्त नामक ज्योतिष-ग्रन्थ में लिखा है कि ये सब जगत् के आदि हैं, इस कारण ये आदित्य हैं; जगत् को प्रसव करते हैं, इस कारण सूर्य और सविता हैं। ये तमोमण्डल के उस पार परम ज्योतिःस्वरूप हैं—

आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते।
परं ज्योतिः तमःपारे सूर्योऽयं सवितेति च॥

---

१. षूङ् प्राणिप्रसवे इत्यस्य धातोरेतद्रूपम् सुनोति सूयते वा उत्पादयति चराचरं जगत् स सविता। षु प्रसवैश्वर्ययोः—सर्ववस्तूनां प्रसवः उत्पत्तिस्थानं सवैश्वर्यस्य च।

यह जो परम ज्योति की बात कही गयी, वह शब्द-ब्रह्ममय मन्त्रज्योति है, यही अखण्ड अविभक्त प्रणवात्मक वेदस्वरूप है, इसी से विभक्त होकर ऋक्, यजुः और सामरूप वेदत्रय का आविर्भाव होता है। सूर्य पुराण में इसीलिए स्पष्ट रूप में कहा गया है—

नत्वा सूर्यं परं धाम ऋग्यजुःसामरूपिणम्।

इत्यादि।

विद्यामाधवकार ने भी इसीलिए सूर्य को 'त्रयीमय' और 'अमेयांशुनिधि' के नाम से निर्देश किया है और कहा है कि ये तीनों जगत् के 'प्रबोधहेतु' हैं। उन्होंने कहा है कि सूर्य के बिना 'सर्वदर्शित्व' सम्भव नहीं, इसीसे मानो शङ्कर ने उन्हें नेत्र रूप से धारण किया है। सूर्य से ही सब भूतों के चैतन्य का उन्मेष और निमेष होता है। यह श्रुति में भी लिखा है—

यौऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति।
असौ योऽस्तमेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायास्तमेति।

विष्णुपुराण के याज्ञवल्क्यकृत सूर्यस्तोत्र (अंश ३, अध्याय ५) में सूर्य को 'विमुक्ति का द्वार' 'ऋग्-यजुः-सामभूत' 'त्रयीधामवान्' 'अग्नीषोमभूत' 'जगत्के कारणात्मा' और 'परम सौषुम्नतेजोधारणकारी' कहकर क्यों वर्णन किया गया है, यह बात अब समझ में आवेगी। अग्नि और सोम मूलतः सूर्य से अभिन्न हैं, यह श्रुति से भी मालूम होता है।

उद्यन्तं वादित्यमग्निरनुपमारोहति सुषुम्नः सूर्यरश्मिः चन्द्रमा गन्धर्वः।

श्रुति में आया है कि सूर्य पूर्वाह्ण में ऋक्द्वारा मध्याह्न में यजुःद्वारा और अस्तकाल में सामद्वारा युक्त होते हैं—

ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्य अह्नः।
सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः॥

सूर्यसिद्धान्तकार कहते हैं कि ऋक् ही सूर्य का मण्डल और यजुः तथा साम उनकी मूर्त्ति हैं, यह कालात्मक, कालकृत्, त्रयीमय, भगवान् हैं।

ऋचोऽस्य मण्डलं सामान्यस्य मूर्तिर्यजूंषि च।
त्रयीमयोऽयं भगवान् कालात्मा कालकृद् विभुः।

वस्तुतः प्रणव या ॐकार या उद्गीथ ही सूर्य हैं, ये नादब्रह्म हैं, ये निरन्तर रव करते हैं, इस कारण 'रवि' नाम से विख्यात हैं। छान्दोग्य-उपनिषद् (१।४।१-५) में है कि त्रयीविद्या या छन्दोरूप तीन वेदों ने इस उद्गीथ को आवृत कर रखा है। इसके बाहर मृत्यु-राज्य है। देवताओं ने मृत्यु-भय से डर कर सबसे पहले वेद की शरण ग्रहण की और छन्दों द्वारा अपने को आच्छादित किया, उन्होंने अपनी गोपन या रक्षा (गुप्=रक्षा) की। तथापि मृत्यु ने उन लोगों को देख लिया था, जिस तरह जल के अन्दर मछली दिखायी पड़ती है, उसी तरह जल के दृष्टान्त से मालूम होता है कि

वेद-त्रय जलवत् स्वच्छ आवरण है। मधुविद्या में भी वेद को 'आपः' या जल कहा गया है। एक हिसाब से यही पुराणवर्णित कारण-वारि है।[1] देवताओं ने उस समय वेद से निकल कर नाद का आश्रय ग्रहण किया। इसी से वेद-अन्त में नाद का आश्रय लिया जाता है। यही अमर अभय-पद है। उसके बाद (छा० १।५।१-५) स्पष्ट कहा गया है कि उद्गीथ या प्रणव ही सूर्य हैं, ये सर्वदा नाद करते हैं। इस प्रणव-सूर्य की दो अवस्थाएँ हैं। एक अवस्था में इनकी रश्मिमाला चारों ओर विकीर्ण हुई है;[2] दूसरी अवस्था में समस्त रश्मियाँ संहृत होकर मध्यविन्दु में विलीन हुई हैं। यह द्वितीय अवस्था ही प्रणव की कैवल्य या शुद्धावस्था है। ऋषि कौषीतक प्राचीन काल में इसके उपासक थे। प्रथम अवस्था प्रणव सूर्य की सृष्ट्युन्मुख अवस्था है। उन्होंने अपने पुत्र से प्रथम उपासना की बात कही। उद्गीथ या प्रणव ही अधिदेव रूप में सूर्य हैं, यह कह कर अध्यात्म-दृष्टि से यही प्राण है, यह समझाया गया है।

प्रश्नोपनिषद् (५।१-७) में लिखा है कि ॐकार का अभिध्यान प्रयाणकाल तक करने से अभिध्यान के भेद के कारण भिन्न-भिन्न लोक अधिकृत होते हैं (लोकजय होता है)। यह ॐकार ही पर और अपर ब्रह्म है। एक मात्रा के अभिध्यान के फलस्वरूप जीव उसके द्वारा संवेदित होकर शीघ्र ही जगती को यानी पृथिवी को प्राप्त होता है। उस समय ऋक् उसको मनुष्यलोक में पहुँचा देते हैं। वहाँ वह तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा द्वारा सम्पन्न हो कर महिमा का अनुभव करता है। द्विमात्रा के अभिध्यान के फल से मनःसम्पत्ति उत्पन्न होती है, उस समय यजुः उसको अन्तरिक्ष में ले जाते हैं। वह सोम-लोक में जाता है, और विभूति का अनुभव कर पुनरावर्तन करता है। त्रिमात्र के—अर्थात् ॐअक्षर के—द्वारा परम पुरुष के अभिध्यान के प्रभाव से तेजः या सूर्य में सम्पत्ति उत्पन्न होती है, उस समय साधक सूर्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। जिस तरह साँप की बाह्य त्वचा या केंचुल खिसक पड़ती है

---

१ वेद से ही सृष्टि होती है। यह इस प्रसंग में स्मरण रखना चाहिए।

२. ये रश्मियाँ ठीक मार्गों के समान हैं। जिस तरह मार्ग एक गाँव से दूसरे गाँव तक फैला रहता है, उसी तरह सब रश्मियाँ भी इहलोक से परलोक पर्यन्त फैली हुई हैं। इनकी एक सीमा पर सूर्य-मण्डल है और दूसरी सीमा पर नाडी-चक्र। सुषुप्ति-काल में जीव इस नाडी के अन्दर प्रवेश करता है, उस समय स्वप्न नहीं रहता, शान्ति उत्पन्न होती है। वह तेजःस्थान है। देहत्याग के बाद जीव इन सब रश्मियों का अवलम्बन लेकर, ॐकारभावना की सहायता से ऊपर उठता है। सङ्कल्पमात्र से ही मन में वेग होता है और उसी वेग से सूर्य-पर्यन्त उत्थान होता है। सूर्य ब्रह्माण्ड के द्वार-स्वरूप है, ज्ञानी इस द्वार को भेद कर सत्य में और अमर-धाम में पहुँच सकते हैं, अज्ञानी नहीं पहुँच सकते। हृदय से चारों ओर असंख्य नाडियाँ या पथ फैले हुए हैं। केवल एक सूक्ष्म-पथ ऊपर मूर्द्धा की ओर गया हुआ है। इसी सूक्ष्म-पथ से चल सकने पर सूर्य-द्वार अतिक्रम किया जाता है। अन्यान्य पथों से चलने पर भुवन कोश में ही आबद्ध रहना पड़ता है। यद्यपि भुवनकोश का केन्द्र सूर्य होने के कारण समस्त भुवन एक तरह से सौर-लोक के ही अन्तर्गत है, तथापि केन्द्र में प्रविष्ट न हो सकने के कारण सौर-मण्डल के बाहर जाना असम्भव हो जाता है।

—सूर्यमण्डलस्थ आत्मा भी उसी तरह समस्त पापों या मल से विमुक्त हो जाता है।[१] वहाँ से साम उसे ब्रह्मलोक में ले जाते हैं। साधक सूर्य से—'जीवघन' से—परात्पर पुर में सोये हुए पुरुष का दर्शन करता है। तीनों मात्राएँ पृथक् -पृथक् विनश्वर और मृत्युमती हैं; परन्तु एकीभूत होने पर ये ही अजर और अमरभाव को प्राप्त करानेवाली हैं।

इससे मालूम होता है कि वेदत्रय पृथक् रूप में लोकत्रय को प्राप्त करानेवाले हैं, ऋक् भू-लोक को, यजुः अन्तरिक्ष-लोक को और साम स्वर्ग-लोक को प्राप्त करानेवाला है। ये तीनों लोक पुनरावर्तनशील हैं। ये ही प्रणव की तीन मात्राएँ हैं। वेदत्रय को घनीभूत करने पर ही ॐकाररूप का ऐक्य का स्फुरण होता है। उसके द्वारा पुरुषोत्तम का अभिध्यान होता है। वेदत्रय जब सूर्य हैं, एवं प्रणव जब वेद का ही घनीभूत प्रकाश है, तब सूर्य प्रणव का ही बाह्य विकास है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

हमारे ऋषियों का कहना है कि शुद्ध आत्मतेज अंशतः सूर्यमण्डल भेदकर जगत् में उतर आता है। शुद्ध-भूमि से जगत् में अवतीर्ण होने के लिये, और जगत् से शुद्ध-धाम में जाने के लिये सूर्य ही द्वार-स्वरूप हैं। पिथागोरस (Pythagoras) ने कहा है कि सूर्य एक तेजोधारक lens मात्र है, इसीमें से होकर आत्मज्योति जगत् में उतरती है। प्लेटो (Plato) का कहना है कि ज्योतिः Kabalist और अन्यान्य तत्त्वदर्शियों के मत से परम पदार्थ का प्रथम विकास है।[२] अपनी रश्मि से ईश्वर ने जो तेज प्रज्वलित किया है, वही सूर्य है (देखो—Timaeus)। सूर्य प्रकाश या ताप की प्रभा नहीं है, बल्कि focus है—यह एक lens मात्र है, जिसके प्रभाव से आदिम ज्योति का रश्मिसमूह स्थूल (Material) बन जाता है हमारे सौर-जगत् में एकत्र हो जाता है और नाना प्रकार की शक्ति उत्पन्न करता है।

सूर्यरश्मियाँ अनन्त हैं, जाति में और संख्या में अनन्त हैं। मूल-प्रभा एक ही है, यह शुक्ल-वर्ण है। यही मूल शुक्लवर्ण लाल-नील-प्रभृति विभिन्न वर्णों के रूप में, एवं लाल, नील इत्यादि के परस्पर मिलने के कारण और भी विभिन्न उपवर्णों के रूप में प्रकाशित होता है। शुक्ल से सर्वप्रथम लाल, नील प्रभृति प्रथम स्तर का आविर्भाव होता है। शुक्ल से अतीत जो वर्णातीत तत्त्व है, उसके साथ शुक्ल का संघर्ष होने से इस प्रथम भूमि का विकास होता है। यह अन्तःसंघर्ष का फल है। यह वर्णा-

---

१. श्रीवैष्णव भी इसे स्वीकार करते हैं। सूर्यमण्डल में प्रवेश किये बिना जीवका लिङ्गशरीर नष्ट नहीं होता। लिङ्गशरीर के मुक्त हुए बिना जीव की मुक्ति कहाँ? जीव रश्मिमण्डल में आने पर ही पवित्र होता है और उसके सब क्लेश दग्ध हो जाते हैं। ऐसा महाभारत में भी कहा है। पिथागोरस (Pythagoras) के मत से भी शुद्धि-मण्डल सूर्य में स्थित है, सूर्य जगत् को मध्य में अवस्थित है। जीवमात्र ही यहाँ आने पर अपने आत्मभाव को प्राप्त करते और पवित्र होते हैं। अरस्तू (Aristotle) का भी कहना है कि पिथागोरस के मत से शुद्धि-मण्डल या phere of fire सूर्यस्थ है, इसीका नाम jupiter's prison है।

२. इसका नाम Sephira Divine Intelligence है।

तीत तत्त्व ही चिद्रूपा शक्ति है। इस प्रथम स्तर से परस्पर संयोग या बहिःसंसर्ग होने के कारण द्वितीय स्तर का आविर्भाव होता है। आपेक्षिक दृष्टि से पहली शुद्ध-सृष्टि है, और दूसरी मलिन-सृष्टि है।

दूसरे प्रकार से भी यही बात मालूम होती है। ब्रह्म एक और अखण्ड है। ये अविभक्त रहते हुए भी पुरुष और प्रकृति रूप में द्वेधा विभक्त होते हैं, यही आत्म-विभाग (Self division) या अन्तःसंघर्ष से उत्पन्न स्वाभाविक सृष्टि है। निम्नवर्त्ती सृष्टि पुरुष और प्रकृति के परस्पर-सम्बन्ध या बहिःसंघर्ष से आविर्भूत हुई है, यही मलिन मैथुनी-सृष्टि है।

सूर्य-विज्ञान का मूल सिद्धान्त समझने के लिये इस अवर्ण, शुक्ल-वर्ण, मौलिक विचित्र वर्ण और यौगिक विचित्र उपवर्ण—सबको समझना आवश्यक है, विशेषतः अन्त के तीनों को।

ऊपर जो शुक्लवर्ण की बात कही गयी है, यही विशुद्ध-सत्त्व है, इस सादे प्रकाश के ऊपर जो अनन्त वैचित्र्यमय निरन्तर रंग का खेल हो रहा है, वही विश्वलीला है, वही संसार है। जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर भी; एक ही व्यापार है। पहले गुरूपदिष्ट क्रम से इस सादे प्रकाश के स्फुरण को प्राप्त करके, उसके ऊपर यौगिक विचित्र उपवर्ण के विश्लेषण से प्राप्त मौलिक विचित्र वर्णों को एक-एक करके अलग अलग पहचानना होता है। मूल वर्ण को जानने के लिये सादे की सहायता अत्यावश्यक है। क्योंकि जिस प्रकाश में रंग पहचानना है, वह प्रकाश यदि स्वयं रंगीन हो तो उसके द्वारा ठीक-ठीक वर्ण का परिचय पाना सम्भव नहीं। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि रंगीन चश्मे के द्वारा जो कुछ दिखाई देता है, वह दृश्य का रूप नहीं होता। योग-शास्त्र में जिस तरह चित्त-शुद्धि हुए बिना तत्त्वदर्शन नहीं होता, सूर्यविज्ञान में भी उसी तरह बिना वर्ण-शुद्धि हुए वर्ण-भेद का तत्त्व हृदयङ्गम नहीं हो सकता। हम जगत् में जो कुछ देखते हैं सब मिश्रण है, उसका विश्लेषण करने पर संघटक शुद्ध वर्ण का साक्षात्कार होता है। उन सब वर्णों को अलग-अलग सादे वर्ण के ऊपर डालकर पहचानना होता है। सृष्टि के अन्दर शुक्लवर्ण कहीं भी नहीं है। जो है, वह आपेक्षिक है। पहले कौशल से विशुद्ध शुक्लवर्ण को प्रस्फुटित कर लेना होगा। यह प्रस्फुटित करना और कुछ नहीं है। पहले ही कहा है कि समस्त जगत् सादे के ऊपर खेल रहा है, इस रंगों के खेल को स्थान विशेष में अवरुद्ध कर देने से ही वहाँ पर तुरन्त शुक्ल-तेज का विकास हो जाता है। इस शुक्ल को कुछ काल तक स्तम्भित करके उससे पूर्वोक्त विचित्र वर्णों का स्वरूप पहचान लेना होता है। इस प्रकार वर्ण-परिचय हो जाने पर सब वर्णों के संयोजन और वियोजन को अपने अधीन करना होता है। कुछ वर्णों के निर्दिष्ट क्रम से मिलने पर निर्दिष्ट वस्तु की सृष्टि होती है, क्रम-भङ्ग करने से नहीं होती। किस वस्तु में कौन कौन से वर्ण किस क्रम से रहते हैं, यह सीखना होता है। उन सब वर्णों को ठीक उसी क्रम से सजाने पर ठीक उस वस्तु की उत्पत्ति होगी, अन्यथा नहीं। जगत् के यावत् पदार्थ ही जब मूलतः वर्ण-संघर्ष से जन्य हैं, तब जो पुरुष वर्ण-परिचय तथा वर्ण-संयोजन और वियोजन की प्रणाली

जानते हैं, उनके लिये उन पदार्थों की सृष्टि और संहार करना सम्भव न होने का कोई कारण नहीं।

साधारणतः लोग जिसे वर्ण कहते हैं, वह सूर्यविज्ञानविद् की दृष्टि में ठीक वर्ण नहीं, वर्ण की छटामात्र है। शुद्ध सत्त्व का आश्रय लिये बिना वास्तविक वर्ण का पता पाने का कोई उपाय नहीं। काकतालीयन्याय से भी पाना कठिन है, क्योंकि एक ही वर्ण से सृष्टि नहीं होती, एकाधिक वर्ण के संयोग से होती है; इसी से एकाधिक शुद्ध वर्णों के संयोग की आशा काकतालीय-न्याय से भी नहीं की जा सकती। भारतवर्ष में प्राचीन काल में वैदिक लोगों की तरह तान्त्रिक लोग भी इस विज्ञान का तत्त्व अच्छी तरह जानते थे। इसे जानकर ही तो वे मन्त्र, मन्त्रेश्वर महामहेश्वर के पद पर आरोहण करने में समर्थ होते थे, क्योंकि षडध्वशुद्धि का रहस्य जो जानते हैं, वे समझ सकते हैं कि वर्ण और कला नित्यसंयुक्त हैं। वर्ण से मन्त्र एवं मन्त्र से पद का विकास जिस तरह वाचक-भूमि पर होता है, उसी तरह वाच्य-भूमि पर कला से तत्त्व और तत्त्व से भुवन तथा कार्य-पदार्थ की उत्पत्ति होती है। वाक् और अर्थ के नित्यसंयुक्त होने के कारण जिन्होंने वर्ण को अधिकृत किया है, उन्होंने कला को भी अधिकृत कर लिया है। अतएव स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् में उनकी गति अबाधित होती है।[1] ऊपर शुक्ल-वर्ण या शुद्ध-सत्त्व की जो बात कही गयी है, वही आगमशास्त्र का बिन्दु-तत्त्व है। यह चन्द्रबिन्दु है। यही कुण्डलिनी और चिदाकाश है, यही शब्दमातृका है। इसके विक्षोभ से ही नाद और वर्ण उत्पन्न होते हैं। अकारादि वर्णमाला इस शुद्ध सत्त्वरूप चन्द्रबिन्दु से ही —शुक्लवर्ण से क्षरित होती है।[2] जो इन सब वर्णों के उद्भव और विस्तार-क्रम नहीं जानते, जो सब वर्णों के अन्योन्य सम्बन्ध को नहीं समझते, जो सम्बन्ध स्थापित करने और तोड़ने में समर्थ नहीं हैं, वे किस प्रकार से मन्त्रोद्धार कर सकते हैं?

---

१. देवाधीनं जगत् सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवताः॥

समस्त जगत् देवताओं द्वारा सञ्चालित है। जो कुछ जहाँ होता है, उसके मूल में देवशक्ति है। देवता मन्त्र का ही अभिव्यक्त रूप है। वाचक मन्त्र ही साधक के प्रयत्नविशेष से अभिव्यक्त होकर देवतारूप में आविर्भूत होता है। बीज के बिना जिस तरह वृक्ष नहीं, उसी तरह मन्त्र के बिना देवता नहीं। जो वर्णतत्त्वविद् पुरुष वर्ण-संयोजन के द्वारा मन्त्र का गठन कर सकते हैं, सुतरां जो मन्त्रेश्वर हैं, वे देवता के भी नियामक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। समग्र जगत् इस प्रकार मन्त्रज्ञ, मन्त्रेश्वर ब्राह्मण के अधीन हो जायगा, इसमें संशय करने का कोई कारण नहीं।

२. अ, आ प्रभृति वास्तव में अक्षर नहीं, क्योंकि ये सब वर्ण या रश्मियाँ सहस्रारस्थ सादे चन्द्रबिम्ब के पिघलने से क्षरित होती हैं। मूलाधार की प्रसुप्त अग्नि क्रिया-कौशल से उद्बुद्ध होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होती है और अन्त में चन्द्रबिन्दु को स्पर्श कर गला देती है। इसी से रश्मियाँ विकीर्ण होती हैं। परन्तु मूल के साथ योग अक्षुण्ण रहता है, इसी से उनको अक्षर कहते हैं। सब वर्णों के मूल में जो 'अ' कार रहता है, वही उस मूल वर्ण का प्रतीक है।

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।

सूर्यविज्ञान के मत से, सृष्टि का आरम्भ किस प्रकार होता है, यह हमने बतला दिया। वैज्ञानिक-सृष्टि मूल-सृष्टि नहीं है, यह स्मरण रखना चाहिये। इसके बाद सृष्टि का विस्तार किस प्रकार होता है, यह बतलाना है।

परन्तु विषय को और भी स्पष्टरूप में समझने की चेष्टा करें। दृष्टान्तरूप से ले लें कि हमें कर्पूर की सृष्टि करनी है। मान लीजिये कि सौरविद्या के अनुसार क, म, त, र इन चार रश्मियों का इस प्रकार क्रमबद्ध संयोग होने से कपूर उत्पन्न होता है। अब उद्बुद्ध श्वेत-वर्ण के ऊपर क्रमशः क, म, त और र, इन चार रश्मियों को डालने से कपूर की गन्ध मिलेगी। परन्तु एक ही साथ चारों रश्मियाँ नहीं डाली जा सकतीं, डालने से भी कोई लाभ नहीं। सृष्टि काल में ही सम्पन्न होती है। क्रम काल का धर्म है, सुतरां क्रम-लंघन असम्भव है। इसलिये सत्त्व-शोधन कर के उसके ऊपर पहले 'क' वर्ण डालने से ही स्वच्छ सत्त्व 'क' के आकार में आकारित और वर्ण में रंजित हो जायगा। शुद्ध सत्त्व ही वास्तविक आकर्षण-शक्ति का मूल है। इसी से वह 'क' को आकर्षित कर के रखता है और स्वयं भी उसी भाव में भावित हो जाता। इसके बाद 'म' डालने पर वह भी उसमें मिल कर उसके अन्तर्गत आ जायगा। इसी प्रकार 'त' और 'र' के विषय में भी समझना चाहिये। 'र' अन्तिम वर्ण है, इसी से इसके डालते ही कर्पूर अभिव्यक्त हो जाता है। अव्यक्त कर्पूर-सत्ता की अभिव्यक्ति का यही आदि क्षण है। यदि क, म, त और र, इन रश्मियों के उस सघात को अक्षुण्ण रक्खा जाय तो वह अभिव्यक्ति अक्षुण्ण रहेगी; अव्यक्त अवस्था नहीं आवेगी। परन्तु दीर्घकाल तक उसे रखना कठिन है। इसके लिये विशिष्ट चेष्टा चाहिये, क्योंकि जगत् गमनशील है। यहाँ पर एक गम्भीर रहस्यमय बात है। अव्यक्त कर्पूर ज्यों ही व्यक्त हुआ, त्यों ही उसको पुष्ट करने के लिये, धारण करने के लिये, यन्त्र चाहिये। इसी का दूसरा नाम योनि है। वह व्यक्त सत्ता लिङ्गमात्र है। योनिरूपा-शक्ति प्रकृति की अन्तर्निहित लालिमा है। उसका आविर्भाव भी शिक्षासापेक्ष है। यद्यपि सारे वर्ण की तरह यह लालिमा भी विश्वव्यापी है तथापि इसकी भी अभिव्यक्ति है। अन्तिम वर्ण के संघर्ष से जिस समय कर्पूर-सत्ता केवल लिङ्गरूप में अलिङ्ग, अव्यक्त-सत्ता से आविर्भूत होती है, उस समय यह लालिमा ही अभिव्यक्त होकर उसको धारण करती है और उसको स्थूल कर्पूररूप में प्रसव करती है। विश्वसृष्टि में यवनिका की आड़ में यह गर्भाधान और प्रसव-क्रिया निरन्तर चल रही है। सूर्यविज्ञानवेत्ता प्रकृति के इस कार्य को देख कर उस पर अधिकार करने की चेष्टा करता है। संयोग की तीव्रता के अनुसार सृष्टि-विस्तार का तारतम्य होता है। कर्पूर का सत्तारूप से आविर्भाव qualitative (विलक्षण, अभिनव) सृष्टि है, उसका परिमाण या मात्रा की वृद्धि quantitative (पूर्वसृष्ट पदार्थ की मात्राविषयक) सृष्टि है। मात्रावृद्धि अपेक्षाकृत सहज कार्य है। जो एक बूँद कर्पूर निर्माण कर सकते हैं, वे सहज ही उसे क्षणभर में लाख मन में परिणत कर सकते हैं। क्योंकि प्रकृति का भाण्डार अनन्त और अपार है, उसके साथ संयोजन कर के दोहन कर सकने पर चाहे जिस वस्तु को चाहे जिस परिणाम में आकर्षित किया

जा सकता है[१]। परन्तु वस्तु की विशिष्ट सत्ता का आविर्भाव कठिन कार्य है। वही स्थूल-जगत् की बीज-सृष्टि है।

यह बीज-सृष्टि भी प्रकृत बीज की सृष्टि नहीं है, मूल-बीज की सृष्टि नहीं है। ऊपर जो अव्यक्त कर्पूर-सत्ता की बात कही गयी है, वही मूल बीज है। और जो लिङ्गरूप से बीज की बात कही गयी है, वही गौण या स्थूल-बीज है। स्थूल-बीज विभिन्न रश्मियों के क्रमानुकूल संयोग-विशेष से अभिव्यक्त होता है। परन्तु मूल बीज अलिङ्ग, अव्यक्त, प्रकृति का आत्मभूत और नित्य है। इस प्रकार के अनन्त बीज हैं। प्रत्येक बीज में एक आवरण है, उससे वह विकारोन्मुख नहीं हो सकता, मूल बीज स्थूल बीज के रूप में परिणत नहीं हो सकता। सूर्यविज्ञान रश्मि-विन्यास के द्वारा उस मूल बीज को व्यक्त कर के सृष्टि का आरम्भ दिखा देता है।

परन्तु उस बीज को व्यक्त करने के और भी कौशल हैं। वायुविज्ञान, शब्द-विज्ञान इत्यादि विज्ञान-बल से, चेष्टापूर्वक रश्मि-विन्यास किये बिना भी अन्य उपायों से वह अभिव्यक्ति का कार्य संघटित किया जाता है। पूज्यपाद परमहंसदेव ने उन सब विज्ञानों के द्वारा भी सृष्टि-प्रभृति प्रक्रिया किस प्रकार साधित हो सकती है, यह योग्य अधिकारियों को प्रत्यक्ष दिखा दिया है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी सौभाग्यवश उसे कई बार देखा है।

सृष्टि की आलोचना करते हुए साधारणतः तीन प्रकार की सृष्टि की बात कही जाती है। उनमें पहली परा-सृष्टि, दूसरी ऐश्वरिक-सृष्टि और तीसरी ब्राह्मी-सृष्टि या वैज्ञानिक-सृष्टि है। सूर्यविज्ञान के बल से जिस सृष्टि की बात कही गयी है, उसे तीसरे प्रकार की सृष्टि समझनी चाहिये।

---

१. शून्य को किसी भी बड़ी-से-बड़ी संख्या के द्वारा गुणन करने पर भी एक बिन्दुमात्र भी सत्ता का उद्भव नहीं होता। परन्तु अति क्षुद्र सत्ता को भी संख्या द्वारा गुणन करने पर मात्रावृद्धि होती है। किसी के भी हृदय में सरसों बराबर भी पवित्रता होने पर कृपाबल से महापुरुषगण उसका उद्धार कर सकते हैं; क्योंकि कुछ रहने पर उसे बढ़ाया जा सकता है। परन्तु जहाँ पर कुछ नहीं है, अर्थात् अभिव्यक्तरूप में नहीं है, वहाँ बाहर की सहायता बेकार है। उस समय साधक को अपनी चेष्टा के द्वारा उसे भीतर से जाग्रत् करना पड़ता है। यही पौरुष का क्षेत्र है। फिर बिन्दुमात्र भी उद्बुद्ध होते ही बाह्यशक्ति कृपारूप से उसको बढ़ा देती है। इस पौरुष के बिना केवल कृपाद्वारा कोई फल नहीं होता। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी के पात्र से बिन्दु बराबर अन्न लेकर उसके द्वारा हजारों ऋषियों को तृप्त कर दिया था। देश और विदेश में महापुरुषों के चरित्रों से ऐसे अनेक दृष्टान्त मिल जायँगे।

भक्ति-साधना

अध्यात्म-साधना के विभिन्न मार्ग हैं, यह प्रायः सभी जानते हैं। कर्म, योग, ज्ञान, भक्ति आदि उपायों की चर्चा भी अनेकों ने अत्याधिक सुनी ही है। इन सब साधनाओं में क्रम है, यह भी सत्य है। और एक साथ एक ही महासाधना के अङ्गरूप में इनमें से प्रत्येक का स्थान निर्दिष्ट है, यह भी सत्य है। क्रमिक साधना में भी साधक के दृष्टिकोण के भेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के भेद जैसे दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही महासाधना के प्रकार-भेद भी बहुत स्थानों में दिखाई देते हैं।

इस समय महासाधना के रूप में ही भक्ति साधना की एक झलक प्रदर्शित करने की चेष्टा की जा रही है। भक्तिसाधना से भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश पाकर अनन्त काल तक उनके किङ्कर के रूप में अपने अधिकारानुसार उनकी सेवा करना और लीला का संभोग करना, यही उद्देश्य है। यदि इस पथ का पथिक बनना हो तो सर्वप्रथम पथप्रदर्शक सद्‌गुरु का सहारा लेना नितान्त आवश्यक है। क्योंकि सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त हुए बिना अपने स्वरूप का आवरण नहीं हटता, एवं मुक्त-स्वरूप का आविर्भाव भी नहीं होता। अविद्या ही आवरण है एवं शुद्ध-विद्या के द्वारा इस आवरण की निवृत्ति होने पर ज्ञानमय-शरीर की अभिव्यक्ति होती है। शुद्ध-विद्या सद्‌गुरु के कृपा-कटाक्ष के बिना प्राप्त नही होती।

सद्‌गुरु का मिलना अत्यन्त कठिन है। जब तक जन्मजन्मान्तरों के पुण्य-संस्कार परिपक्व न हों तथा अनादि संचित-मल (पापों) के क्षीण होने का अवसर न आवे, तब तक सद्‌गुरु का साक्षात्कार एवं उनकी शरण मिलना किसी प्रकार संभव नहीं है। इसी लिए गुरुप्राप्ति के इच्छुक साधक धर्मजीवन-लाभ के लिए कटिबद्ध होकर भगवान् के अनन्त नामों में से अपनी अभिरुचि के अनुसार किसी एक नाम का अवलम्बन करते हैं। एवं भावना द्वारा नाम और नामी का अभेद मान कर निरन्तर व्याकुल चित्त से, शुद्ध और संयत चित्त से, उस नाम का अवलंबन कर पुकारते रहते हैं। यदि चित्त में लौकिक भोगों की आकांक्षा क्षीण हो जाय तथा आभास रूप से वैराग्य का बीज पड़ा हो, तो यह नाम-साधना क्रमशः अकृत्रिम ज्ञान-साधना के पूर्व अङ्ग के रूप में परिणत हो जाती है। दूसरे प्रकार से कहा जा सकता है कि नाम-साधना से विश्वगुरु किसी एक मूर्ति को धारण कर दीन साधक की व्याकुल दृष्टि के सामने आविर्भूत होते हैं। एवं साधक को आनन्द-राज्य में ले जाने के लिए सर्वप्रथम उसमें अनुग्रह-रूप ज्ञानशक्ति का संचार करते हैं।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि साधक का कारण-शरीर अज्ञान-कल्पित है। इसलिए गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा का प्रभाव सर्वप्रथम इस अज्ञानमय कारण-शरीर के ऊपर ही

पड़ता है। गुरु द्वारा दिया गया बीज मन्त्र वास्तव में शुद्ध ज्ञान-शरीर का बीज है। वह अंकुरित होकर समय पर साधक की अकृत्रिम साधना के उपाय रूप में नित्य शरीर का अभिव्यंजक होता है। जैसे बीज अंकुरित होकर क्रम से वृक्ष, पत्ते, पुष्प और फल के रूप में परिणत होता है एवं फल में. परिपाक होने से, क्रमशः रस का उद्गम होता है, वैसे ही यह गुरुद्वारा प्रदत्त ज्ञानबीज भी साधक के हृदयरूपी खेत में पड़ कर क्रमशः विशुद्धज्ञानदेह का रूप धारण करता है। साथ ही साथ अज्ञान और अज्ञान के कार्य निवृत्त हो जाते हैं। गुरुप्रदत्त मन्त्र की साधना इसलिए एक प्रकार से ज्ञान की ही साधना है। किन्तु यह शुष्क-ज्ञान नहीं है, यह क्रमशः समझ में आ सकेगा। ज्ञान-साधना पूरी होने पर अज्ञान के उपादान विनष्ट हो जाते हैं, एवं अपना स्वरूप उज्ज्वल स्वभाव में पर्यवसित होता है। अशुद्ध अचिदंश का विनाश होने पर दैहिक प्रकृति त्रिगुणमयी अवस्था से शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था में व्यक्त होने की योग्यता प्राप्त करती है।

जिन लोगों के मत में केवल मलिन अचित् धर्मों से छुटकारा पाना ही परम लक्ष्य नहीं है, वे सीधे पथ से अखण्ड-चैतन्य की ओर अग्रसर न होकर भाव के पथ से पूर्णत्व के अभिमुख दौड़ लगाते हैं। चित्त का उपादान सत्त्वगुणप्रधान है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। चित्तशुद्धि होने के बाद इस चित्त में रजोगुण और तमोगुण का अंश निश्चेष्ट या स्तम्भित हो जाता है, यह भी सत्य है, किन्तु यह शुद्ध-सत्त्व प्रकृति के भेद से विभिन्न योग्यतासम्पन्न होता है। दर्पण स्वच्छ है, इसलिए उसके सामने जो कोई चीज आती है, वह उसमें ज्यों-की-त्यों प्रतिबिम्बित होती है, यही स्वच्छता का लक्षण है। किन्तु दर्पण के स्वच्छ होने पर भी बिम्ब यदि हटाया जाय तो ऐसी स्थिति में प्रतिबिम्ब का आभास नहीं पड़ता, दूसरे पक्ष में उसी स्वच्छ दर्पण में किसी वस्तु का संमिश्रण रह सकता है, जिसके कारण बिम्ब के स्वच्छ होने पर भी दर्पण में पड़ा प्रतिबिम्ब अङ्कित रहता है। चित्त दर्पण की नाईं स्वच्छ पदार्थ है, उसमें वस्तु का आकार प्रकाशित होने पर भी स्थायी नहीं रहता। किन्तु विशेष अवस्था में वह स्थायी रहता भी है। चित्तक्षेत्र में भाव की सत्ता निहित है, यही इसका कारण समझना चाहिये। भावरहित चित्त शुष्क ज्ञानमार्ग का उपयोगी है। किन्तु भावयुक्त चित्त भावसाधना में अग्रसर होने को बाध्य होता है।

गुरुदत्त ज्ञान प्राप्त कर जब साधक सिद्ध अवस्था में पहुँचता है तब एक प्रकार से उसका साधन कार्य आपेक्षिक रूप से समाप्त हुआ कहा जा सकता है। अवश्य साधना की वास्तविक समाप्ति पूर्ण तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर ही होती है, वह उस समय भी शेष रहती है, किन्तु चित्त स्वच्छ और विमल होने पर भी भाव-युक्त रहने से पूर्वोक्त विशुद्ध ज्ञानदेह भावदेह के रूप में अपने को व्यक्त न करे ऐसा नहीं हो सकता। यही निराकार से साकार साधना के क्षेत्र में पदार्पण है। भावदेह अशुद्ध मायिक देह नहीं है, यह स्वभाव की देह है। एक हिसाब से इसे स्वरूप-देह कहा जा सकता है। भावगत विशिष्टता के कारण यह भेद दिखाई देता है। यह भाव आगन्तुक और विनश्वर भाव नहीं है। किन्तु निजभाव या स्वभाव है। भावसाधना भावदेह में ही निष्पन्न होती है। पहले जिस साधना की चर्चा की गई है वह कृत्रिम साधना है,

किन्तु भाव की साधना स्वाभाविक और अकृत्रिम है। इस साधना को सिखाने के लिए पृथक् गुरु की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जिनकी भाव-देह की अभिव्यक्ति नहीं हुई पर भाव-साधना में रुचि है, उनमें कृत्रिम उपाय से भावना-योग से भावदेह की रचना कर उस देह के अवलम्बनपूर्वक रागानुगा-मार्ग से भाव-साधना करने की व्यवस्था है। भक्ति-साधना का एक यह भी विशिष्ट मार्ग है, एवं वैधी-भक्ति अथवा मर्यादा-भक्ति से इसका स्थान उत्कृष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं। तथापि इसमें कुछ कृत्रिमता है, क्योंकि सचमुच भावदेह की अभिध्यक्ति एवं प्राकृत देह में स्थित होकर कल्पना द्वारा भावदेह का आविर्भाव, ये दोनों ठीक एक नहीं हैं। दोनों साधनाएँ यद्यपि भावसाधनाएँ हैं तथापि एक साधना में शास्त्र का निर्देश और गुरु-परम्परा विद्यमान है, किन्तु दूसरी में किसी की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि इस लीलानुगामिनी भक्ति-साधना में चार मुख्य दशाएँ या अवस्थाएँ विद्यमान रहती हैं, इन चार दशाओं का ज्ञान, वरण, प्राप्ति और अनुभव के नाम से वर्णन किया जा सकता है। सद्गुरु को प्राप्त कर उनकी शरण गहने पर ज्ञात होगा कि जिस प्रथम दशा का आविर्भाव हुआ, उसका नाम 'आचार्य-प्रपत्ति' है। इस अवस्था में गुरु के शरणागत होकर सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा, परमात्मा और जगत् के तत्त्व का निरूपण करना पड़ता है। यह एक प्रकार की ज्ञान की ही साधना कही जा सकती है। किन्तु यह परोक्ष-ज्ञान है, आचार्य के अनुगत रूप से, उन्हीं की कृपा से, इस ज्ञान का उदय होता है। किसी किसी ने इस ज्ञान की दृष्टि से ही इस दशा का ज्ञानदशा के रूप से वर्णन किया है। इसके बाद दूसरी दशा यानी वरण-दशा में भक्त और भगवान् का परस्पर जो नित्य-सम्बन्ध है, उसकी अभि-व्यक्ति होती हैं। यह भाव-देह का उदय न होने तक पूर्ण रूप से नहीं हो सकती। आचार्य इसका सम्बन्ध-दीक्षा के नाम से उल्लेख करते हैं। जीव जब तक अपनी भावदेह में प्रतिष्ठित न हो, तब तक भगवान् के साथ अपना नित्य-सम्बन्ध उसे ज्ञात नहीं हो सकता। ज्ञानदशा का अन्त होनेपर जब भाव का उदय होता है, तब गुरुकृपा से एवं अपनी अनादि-सिद्ध रुचि के अनुसार भगवान् के साथ भावदेही साधक का नित्य सम्बन्ध खुल जाता है। इस सम्बन्ध के ज्ञात न होने पर जीव सेवक रूप से आराध्य भगवान् की सेवा करने में समर्थ नहीं होता। जीवों के अनन्त और भगवान् के एक होने पर भी, मूल में प्रत्येक जीव के साथ अभिन्न होने पर भी, भाव-दृष्टि से प्रत्येक जीव के साथ विलक्षण-विलक्षण सम्बन्ध है। जीव जब तक स्वभाव में प्रतिष्ठा-लाभ नहीं करता, तब तक उसके हृदय में इस सम्बन्ध की स्मृति नहीं जागती, एवं उसके जागे बिना अकृत्रिम भाव-साधना नहीं हो सकती। भगवद्धाम में प्रवेश कर उनके साथ नित्य-लीला में योगदान करना, सेव्य-सेवक-भाव के ऊपर निर्भर है। प्रत्येक भक्त जीव की सेवा उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार होती है। प्रत्येक की सेवा पृथक्-पृथक् है, जिनकी जो सेवा है, उनके लिए वही स्वाभाविक है। नित्य-धाम में भगवान् को केन्द्र बनाकर जो नित्य आनन्दमय उत्सव चल रहा है, उसमें प्रत्येक जीव का एक विशिष्ट और निर्दिष्ट स्थान है। केवल यही नहीं उसकी एक सेवा भी है, विशिष्ट दृष्टिकोण भी

है, एवं उसी के अनुरूप एक प्रकार के रस का आस्वादन भी है। सम्बन्ध-दीक्षा के सुसम्पन्न हुए बिना कोई जीव भगवत्सम्बन्ध में अपना निज स्थान स्पष्टतः नहीं देख पाता। यह जो वरण की बात कही गई है, यह वस्तुतः स्वाभाविक होने से दोनों पक्षों में निष्पन्न होती है। ईश्वर द्वारा जीव का वरण और जीव द्वारा ईश्वर का वरण, ऐसा हुए बिना इष्ट-साधना में व्याघात हो जाता है।

भावदेह में भाव-साधना के परिपक्व होने पर, भाव के पूर्ण परिपाक-वश प्रेम का उदय होता है। भाव के तुल्य प्रेम की भी पूर्णता आवश्यक है। प्रेम का चरम उत्कर्ष-सम्पादन ही साधना का उद्देश्य है। श्रीभगवान् का नित्य-किंकर-जीव साक्षात् सेवा करने की योग्यता प्राप्त करने पर नित्य-लीला में प्रवेश करता है। नित्य-लीला-चक्र में भी प्रत्येक का अपने-अपने भाव के अनुकूल सेवा का स्थान निर्दिष्ट है। जिसका जो स्थान है, उसके लिए वही उत्कृष्ट है; क्योंकि वहीं से वह अपने धर्म का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है। नित्य-लीला में प्रविष्ट कोई भी जीव स्वधर्म का त्याग कर परधर्म के प्रति आकृष्ट नहीं होता, अर्थात् अपनी विशिष्ट सेवा का त्याग कर अन्य की सेवा ग्रहण करने की अभिलाषा नहीं करता। इस तृतीय दशा का "प्राप्ति" के नाम से वर्णन किया जाता है। सेवा के बाद जो रसास्वाद होता है, वही अनुभव-दशा नाम की चौथी दशा है, यह लीलारस का आस्वादन है। रसिक भक्तों के मतानुसार ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भी लीलारस की मिठास अनन्त-गुण अधिक है। पर स्वरूपतः दोनों एक ही हैं। यह परम रसास्वादन ही भक्ति-साधना का चरम लक्ष्य है।

अखण्ड-भगवत्स्मृति

स्मृति किसे कहते हैं ? भगवत्स्मृति क्या है ? अखण्ड भगवत्स्मृति का स्वरूप किस प्रकार का है ? एवं इस प्रकार की भगवत्स्मृति का फल क्या है ? इन सब विषयों की यथाशक्ति आलोचना करना ही प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य है।

स्मृति शब्द से साधारणतः स्मरण की प्रतीति होती है। अनुभूत विषय का ही स्मरण होता है। जो विषय कभी भी अनुभूत न हुआ हो, उसका स्मरण नहीं होता। शास्त्रोक्त, गुरूपदिष्ट या महापुरुषों द्वारा प्रदर्शित प्रणाली से अथवा आन्तरिक तत्त्व के विचार से जो बोध उदित होता है, उसे ही यहाँ अनुभव कहा जा रहा है। इस अनुभव से संस्कार का उद्दीपन होने पर स्मरण-क्रिया होती है। स्मरण की उत्पत्ति साधारणतः इसी तरह बतलाई गई है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने कहा है—श्रद्धा से जो वीर्य उत्पन्न होता है, उसके धारण से ही स्मृति की उत्पत्ति होती है, उसका शास्त्रों में कहीं कहीं पर उपासना नाम से भी उल्लेख किया गया है। इसी की परिपक्व अवस्था समाधि है। समाधि से प्रज्ञा का उन्मेष होता है। स्मृति ध्यान अथवा एकतानता की अवस्था है। यह एकाग्रता का पूर्वाभास है। इसके मूल में श्रद्धा अथवा विश्वास का रहना आवश्यक है। सन्तान पर वात्सल्य रखने वाली जननी जैसे गोद के बच्चे की सदा रक्षा किया करती है, वैसे ही मातृरूप श्रद्धा देवी भी श्रद्धालु साधक की विघ्न और विपदाओं से रक्षा करती हैं।

प्राचीन बौद्ध दार्शनिक कहते थे कि श्रद्धा के प्रभाव से चित्त के निर्मल होने पर उसमें श्रद्धास्पद वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है। चित्त की जो पाँच प्रसिद्ध नीवरण या आवरण-ग्रन्थियाँ हैं, वे श्रद्धा के आविर्भाव के साथ ही साथ खुल जाती हैं। यदि अन्तर में श्रद्धा का भाव न रहे तो किसी प्रकार के पुण्य-कर्म का अनुष्ठान ही नहीं हो सकता। यह श्रद्धा युक्तिविहीन अन्ध-विश्वासमात्र नहीं है। यह केवल मान लेना भी नहीं है। बौद्ध साधकों का इसके सम्बन्ध में यह भी कहना था कि साधना-क्षेत्र में स्मृति शब्द का अभिप्राय साधारण-स्मृति से नहीं है, किन्तु सम्यक्-स्मृति से है, अर्थात् कुशल आलम्बन का स्मरण करना, अकुशल का स्मरण नहीं करना। जिसे स्मृति कहते हैं, उसके यथार्थरूप से निष्पन्न होने पर चित्त में अकुशल-अवस्था जाग्रत् होने के लिए स्थान ही नहीं पाती। बुद्धदेव ने स्मृति को सर्वार्थिका कहा है, क्योंकि वह सम्पूर्ण कुशल-धर्मों की सिद्धि की मूल है। आलम्बन में निमग्न होना अर्थात् डूब जाना, स्मृति का मुख्य लक्ष्य है। प्रमाद-नाश अथवा अविस्मृति अर्थात् लक्ष्य के सम्बन्ध में सदा सजग रहना (awareness), इसका मुख्य कार्य है। एवं इसका मुख्य-फल है—आलम्बन की ओर अभिमुख होना। स्मृति अविच्छिन्नरूप

से अनुशीलन का विषय है। यदि वैसा न हो तो वह यथार्थतः निष्पन्न ही नहीं होती। श्रुति में आया है—आहारशुद्धि से चित्त की शुद्धि होती है, एवं चित्त के शुद्ध होने पर ध्रुवास्मृति का उदय होता है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों का आहरण ही आहार है। फलतः विषयों का आहरण या ग्रहण शुद्ध होने पर अनायास ही चित्तशुद्धि हो जाती है। तब स्मृति ध्रुव या अविच्छिन्न रूप धारण करती है। अविच्छिन्न-स्मृति का फल है—सब प्रकार के बन्धनों से मुक्ति की प्राप्ति।

स्मृति भगवद्विषयक होनी चाहिये, एवं अखण्ड होनी चाहिये; तभी उससे महान् फल की उत्पत्ति हो सकती है। जप, अर्चन, नामकीर्तन, भजन, ध्यान आदि भगवत्स्मृति के अन्तर्गत हैं, क्योंकि ये सब कार्य भगवत्प्राप्ति में सहायक हैं। साधक अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार इनमें से कोई भी कार्य क्यों न करे यदि वे मन और हृदय से भगवान् के अभिमुख होकर उन्हीं को हृदय-देवता के रूप से, हृदय में बैठाकर, सब अनुष्ठान करें तो उन्हें स्मृति-साधक कहा जा सकता है। स्मृति के मूल में श्रद्धा, भक्ति और विश्वास तो रहना ही चाहिये, इनके सिवा आन्तरिकता और सहृदयता भी रहनी चाहिये। स्मृति के अनुष्ठान में भावना का ही प्राधान्य है। वह क्रियागत अर्चनादि से यहाँ तक कि स्थूल जपादि से पहले ही यदि परिस्फुट न हो, तब भी पीछे अवश्य ही होती है, जब कि सब कुछ भावरूप में परिस्फुट हो उठता है। वैष्णवों की क्रिया-भक्ति जैसे भाव-भक्ति में रूपान्तरित हो जाती है, यह भी अनेक अंशों में उसी प्रकार की है। स्मृति की अखण्डता का अर्थ है—भावना की अविच्छिन्नता। क्रिया के स्तर में इसका भली-भाँति सम्पन्न होना कठिन होने पर भी भाव के स्तर में पहुँचने पर यह अवश्य होती है, क्योंकि भाव के पहले संचारी अथवा अस्थायी रहने पर भी अनुशीलन (अभ्यास) से वह स्थायी बन जाता है। वह तब अन्तःसलिला वेगवती फल्गुधारा के समान समग्र चित्त को आच्छन्न कर डालता है। यद्यपि प्रारम्भ में अहोरात्र के भीतर कोई एक विशिष्ट समय अभ्यास के लिए निर्दिष्ट है, तथापि प्रतिदिन उस विशिष्ट समय का उल्लंघन न करने पर नियमित अभ्यास से एक शुभ संस्कार उत्पन्न होकर क्रमशः गाढता को प्राप्त होता है। गाढता के प्रभाव से स्वभावतः ही अभ्यास का क्रियांश अलक्ष्यरूप से भाव का रूप धारण करता है। तब पूर्वोक्त विशिष्ट समय के अतिरिक्त समय में भी उस नवोदित भाव के द्वारा आच्छन्न रहता है। अर्थात्, अन्य समयों में चर्या और क्रिया का अभाव रहने पर भी भाव का अभाव नहीं रहता। सम्पूर्ण अहोरात्र ही तब उस अविच्छिन्न भाव से भावित हो जाता है। यह स्वभाव के नियम से ही हो जाता है। तब खण्ड-खण्ड क्रियाओं में अखण्डरूप से एक व्यापक भाव सूत्र-रूप में प्रकट होता है। जिस रीति से अहोरात्र के २४ घण्टे एक भाव के अधिष्ठान बनते हैं, उसी रीति से एक दिन अन्य दिनों का, एक मास अन्य मासों का, तथा एक वर्ष अन्य वर्षों का कालगत व्यवधान इस प्रकार जब मिट जाता है, तब एक अखण्ड-दण्डायमान महाकाल का प्रकाश होता है। वस्तुतः वह खण्डभाव के अन्तर में स्थित योगरूपी महाभाव का ही आविर्भाव

है। महाभाव का उदय होने पर फिर भावातीत को दूर कहना, नहीं बनता। यद्यपि वास्तविक रूप में भावातीत काल के अतीत, देश के अतीत और सर्व लीलाओं के अतीत होकर भी, सदा सर्वत्र सब लोगों के सन्निहित हैं, तथापि खण्डभाव के महाभाव में परिणत हुए बिना, वह सन्निहित रहते हुए भी और स्वप्रकाश होते हुए भी, खण्डभाव की दृष्टि में अप्रकट ही रहते हैं।

हमने ऊपर जो कहा है वह व्यक्तिगत किसी एक साधक की दृष्टि से विचार कर रहा है। एक महाशक्ति के इशारे से बहुत से साधकों के सम्मिलित प्रयत्न से उस अहोरात्रव्यापी एक अविच्छिन्न भाव का उदय अपेक्षाकृत सहज होता है, यदि उन विशेषतः निर्दिष्ट समयखण्डों में परस्पर व्यवधान न रहे। अर्थात्, एक व्यक्ति के द्वारा न होने पर भी बहुत से व्यक्तियों के सामूहिक उद्योग से रातदिन का समग्र समय पूरा होना आवश्यक है। इससे सब कर्मरत साधकों की शक्तियों को परस्पर मिलकर परस्पर के ऊपर कार्य करने का अवसर मिल सकता है, जिससे प्रत्येक ही कम उद्यम से अधिक फलभागी बनने में समर्थ होते हैं। ऐसा होना असम्भव नहीं है, क्योंकि सबकी आत्मा के मूल में एक ही महाशक्ति की प्रेरणा कार्य कर रही है। इसके अतिरिक्त और भी एक बात है। वह यह कि एक क्षेत्र में क्रिया के भाव-रूप में परिणत होने पर दूसरे क्षेत्र में भी इस परिणाम का शुभ फल फैलता है। इसीलिए वहाँ भी स्वल्प आयास में क्रिया से भाव की अभिव्यक्ति का सूत्रपात होता है। अन्य-निरपेक्ष प्रयत्न में अधिक प्रयास आवश्यक होता है। उसके सिवा और भी एक विचारणीय विषय है। जिस महाशक्ति के इशारे से बहुत से साधक इस कर्म में प्रवृत्त होते हैं, उनका आदेश यथाशक्ति पालन कर सकने पर कम से कम सरल हृदय से उसका पालन करने की चेष्टा करने पर, महाकृपा के अवतरण का अनुभव अवश्यम्भावी है।

उपर्युक्त विवेचन से अखण्ड-भगवत्स्मृति का कितना महान् फल है, यह बात प्रकारान्तर से कही गई है। यह फल अपने को स्वयं जानना, अर्थात् आत्मा की ज्ञान-प्राप्ति के सिवा और कुछ नहीं है। आत्मा ही भगवान् हैं, आत्मा ही परमेश्वर हैं, आत्मा ही पूर्ण ब्रह्म हैं। सबकी आत्मा एक ही आत्मा है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञान का अर्थ है—पूर्णत्व का ज्ञान अर्थात् मैं ही पूर्ण हूँ, यह प्रतीति।

आत्मा का स्वरूप है—निरवच्छिन्न और निरावरण-प्रकाश। उस प्रकाश में अनन्त शक्तिचक्रों से संघटित महाशक्ति अभिन्न सत्ता प्राप्तकर विद्यमान है। यह आत्मा की स्वातन्त्र्यशक्ति है। यह है इसीलिए आत्मा शिवरूपी और चैतन्यस्वरूप है। इसके न रहने पर प्रकाशरूपी आत्मा को भी अप्रकाशरूपी कहना पड़ेगा। किन्तु इसके न रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह आत्मा की स्वरूपशक्ति है। स्वभाव से ही चिदानन्दस्वरूपा है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया इसी के केवल प्रसार हैं।

यह जो पूर्ण स्वातन्त्र्य या महाशक्ति है, यही आत्मा की पूर्ण भगवत्ता है। इस महाप्रकाश की गोद में किसी भी अवस्था में अखण्ड शक्तिराशि से चुम्बित अनन्त भावों के द्वारा अभिव्यक्त अनन्त खण्ड-प्रकाश निरन्तर आविर्भूत और तिरोहित हो रहे हैं।

ये सब भाव बीजस्वरूप या कारण हैं और ये सब खण्ड-प्रकाश अंकुर-स्वरूप या कार्य हैं। ये सब खण्ड-प्रकाश शुद्ध महाप्रकाश के बिना खण्ड शक्तियों द्वारा अनुप्राणित भाव रूप से मायिक अहं के निकट प्रकाशित हो रहे हैं, जिस से मायिक अहं की दृष्टि में शुद्ध प्रकाश या आत्मा स्फुटित नहीं हो रहे हैं। इन अवान्तर प्रकाशों ने व्यवधानों का रूप धारण कर शुद्ध प्रकाश को मानों ढक रखा है। जड़, चेतन आदि सब भेद वहाँ भासित हो उठते हैं। पर यह भी सत्य है कि इसके भी मूल में महाशक्ति की स्वातन्त्र्य-लीला कार्य करती है, भले ही वह गुप्तरूप से करे, क्योंकि प्रकटरूप से बाह्यशक्ति या भाव की ही कारणता देखी जाती है। मूल कारण मायिक प्रमाता की दृष्टि में ढका रहता है। लौकिक-व्यवहार में हम लोग जो यह देखते हैं कि एक निष्पाद्य और दूसरा निष्पादक है अथवा एक अभिव्यङ्ग्य और दूसरा अभिव्यंजक है, यह इस मायिक राज्य की विशिष्टता है। किन्तु ऐसी स्थिति भी है, जहाँ अपनी आत्मा का प्रकाश या महा-प्रकाश अकुण्ठित, अवारित और अप्रतिहत है। इस शुद्ध प्रकाश में मायिक अवान्तर प्रकाश का व्यवधान नहीं रहता। वहाँ जागतिक कार्य-कारणभाव का खेल नहीं है, नियति नहीं है तथा कार्य-कारण-श्रृङ्खला भी नहीं है। वहाँ आत्मरूपी भगवान् की महती इच्छा या स्वातन्त्र्य ही एकमात्र कारण है। अवान्तर शक्ति का खेल वहाँ चल ही नहीं सकता। श्रीभगवान् का अनुग्रह-व्यापार इस परमस्थिति का वैशिष्ट्य है।

अखण्ड या निरावरण प्रकाश ही चरम साक्षात्कार है। वही परम दर्शन है। यही स्वरूपस्थिति है। उस प्रकाश में आवरण नहीं रहता, इसलिए आवरण का भी प्रकाश उसी से होता है एवं अप्रकाश का भी उसी से प्रकाश होता है। आवरण को आवरण के रूप में, अप्रकाश को अप्रकाश के रूप में, दूर को दूर के रूप में और अतीत को अतीत के रूप में जो प्रकाशित करते हैं, जो मायिक और खण्डप्रमाता होता है, वह भी उस महाप्रकाश में नित्य वर्तमान है। वहाँ अणु नहीं है, महान् नहीं है, एक महा-प्रकाशमात्र है और उस प्रकाश में प्रकाश की अखण्डता अव्याहत रहने पर भी अणु और महान् का एवं तद्गत व्यवधान का भी प्रकाश रहता है। यह विषय और भी स्पष्टरूप से यों कहा जा सकता है, परमेश्वररूपी आत्मा ही समस्त तत्त्वों के रूप में और तत्त्वातीतरूप में, ज्ञाता के रूप में, ज्ञेय के रूप में, और ज्ञान के रूप में, फिर इन सबके अतीतरूप में एक ही साथ भासमान हो रहे हैं। अनन्त वैचित्र्यमय और भावमय विश्व भी वे ही हैं, फिर वैचित्र्यहीन, अद्वितीय भावातीत, विश्वातीत प्रकाश भी वे ही हैं। उनमें या उस महाप्रकाश में विश्व और विश्वातीत, इस कल्पित भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। सामान्यरूप से भी उनका प्रकाश है और विशेषरूप से भी उन्हीं का प्रकाश है, उनका अर्थात् अपना अथवा स्वीय आत्मा का। कहीं भी लेशमात्र आवरण नहीं है, फिर जहाँ अनन्त प्रकार के आवरण हैं, वहाँ ये सब आवरण भी इस अनावरण-प्रकाश से ही प्रकाशमान हैं।

उस महाप्रकाश के खुल जाने पर सभी स्थितियाँ परमस्थिति हैं। क्योंकि एक ही सत्ता एक रह कर भी, अनन्त सत्ताओं के रूप में विराजमान हो रही है और तदनु-कूल अनन्त भावों से खेल कर रही है। वह सत्ता ही हर एक की अपनी सत्ता है, यह

बात तब स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है। तब विश्व अपना हो जाता है। वस्तुतः तब प्रतीत होता है कि स्वयं ही अपनी अप्रतिहत इच्छा से विश्व बना है और पर हुआ है। सब खेल आनन्द के ही खेल हैं, अपने साथ अपने ही खेल हैं, यह सब एक विचित्र अभिनय है। स्वयं ही पर बने हैं, फिर पर को निज बना कर गोद में ले रहे हैं। विरह भी रस की पुष्टि करता है, मिलन भी वही करता है। रस के आस्वाद के लिए लीला का अभिनय होता है और मूल में देखने पर एक ही एक है—मिलन कहाँ है अथवा विरह ही कहाँ है।

सत्य का खेल है, इसी लिए सत्य है। मिथ्या के रूप में जो प्रतीति है, वह भी सत्य का अवगुण्ठन हटने पर सत्य का ही प्रकाश है, ऐसा ज्ञात होता है। भावातीत के शान्त वक्षस्थल पर और अचल गोद में महाभाव का प्रकाश रहता है, जिसका आश्रय लेकर अनन्त-खण्ड-भावलहरियाँ क्रीड़ा करती हैं। अवश्य पहले खण्ड-भाव से त्याग के मार्ग में महाभाव में उठना पड़ता है। महाभाव में भोग की चरम सिद्धि होती है। उसके बाद भावातीत में सबका समाधान हो जाता है। वहाँ महाभाव है, खण्डभाव है, फिर कोई भी भाव नहीं है। इतना ही नहीं कि नहीं है, बल्कि नहीं था, होगा भी नहीं; ऐसी भी एक अवस्था है कि एक साथ सभी हैं। एक साथ भी ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक और बहुत के द्वन्द्व का प्रश्न ही वहाँ नहीं उठता।

यह जो अपने को पाना है, यही प्रेम की अभिव्यक्ति है, जो महाज्ञान की परिपक्व दशा में अवश्य ही होती है। सर्वात्मभाव न होने, अथवा सर्वत्र आत्मभाव की प्रतीति न हो सकने, अर्थात् सबका अपने रूप में ग्रहण न कर सकने पर, प्रेम के उदय और विलास का अवसर कहाँ? उस समय ज्ञान और प्रेम का भेद नहीं रहता। निराकार में जो ज्ञान है, वही साकार में प्रेम है। एक ही सत्ता एक ही समय में जैसे निराकार और साकार दोनों है, वैसे ही एक ही समय में दोनों का ही अभिन्नरूप से स्फुरण होता है। यही चित् और आनन्द का अभेदानुभव है।

ऊपर जिस आत्मा की चर्चा की गई है, वही ईश्वर या भगवान् हैं। कहा गया है कि ये स्वातन्त्र्यमय मौजी पुरुष हैं। अनन्त भावों में ही इनका प्रकाश हो रहा है, इसलिए अप्रकाशरूप में भी इन्हीं का प्रकाश है। इस अप्रकाशरूप स्थिति में किसी का भी प्रकाश नहीं है, एकमात्र जड़शून्यता है। यही महाशून्य की अवस्था है। किन्तु किसी का भी जो प्रकाश नहीं है, वही अप्रकाश का भी प्रकाश है। यदि न रहे तो अप्रकाश का पता कहाँ से प्राप्त हो रहा है। अथवा अप्रकाशरूप में जो प्रकाश है, वह प्रमेयरूप में अर्थात् ज्ञान के विषय घट, पट आदि के रूप में, प्रकाश है। फिर प्रकाशरूप में भी इन्हीं का प्रकाश है। यह अविभक्त अखण्ड प्रकाशरूप में भी हो सकता है या विभक्त खण्ड-प्रकाश के रूप में भी हो सकता है। अविभक्त-प्रकाश का नामान्तर ही शिव है, जो अखण्ड चित्स्वरूप हैं। यह केवल प्रकाश ही प्रकाश है। इस स्थिति में अप्रकाश कुछ नहीं रहता, किन्तु यह अखण्ड-प्रकाश होने पर भी पूर्ण नहीं है, शिव होने पर भी परमशिव नहीं है, तथा परम-तत्त्व होने पर भी, तत्त्वातीत नहीं है। विभक्त-प्रकाश में भी दो अवस्थाएँ हैं, एक है—परस्पर भिन्न रूप में। इस श्रेणी के अन्तर्गत जीवमात्र ही प्रमाता

के रूप में हैं, क्योंकि वे भेदज्ञान की मूल माया के आश्रित होने से अपने-अपने परस्पर भेद का अनुभव करते हैं। प्रत्येक को अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार प्रमेय या ज्ञेय पदार्थों के भेद का अनुभव होता है। अपनी आत्मा से ज्ञेय का भेद, अपनी आत्मा से दूसरी आत्मा का भेद, एक एक ज्ञेय से अन्य ज्ञेय का भेद, परमात्मा से ज्ञेय का भेद एवं परमात्मा से निज आत्मा और पर आत्मा दोनों का भेद, इन्हें अनुभवसिद्ध है। केवल मनुष्य नहीं, ऊर्ध्व-लोक में देवता और नीचे के लोकों में असुर स्थूलतः चौदह प्रकार के भूतों की सृष्टि, इस श्रेणी में गिनी जाती है। विभक्त-प्रकाश की दूसरी अवस्था में जो प्रकाश होता है, वह परस्पर अभिन्नरूप से होता है। मन्त्र, महेश्वर आदि शुद्ध-जगत् के उर्ध्व लोकों के निवासी महापुरुष इस श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये लोग सभी अभेददर्शी हैं, पूर्वोक्त श्रेणी के समान भेददर्शी नहीं हैं। इन चार प्रकार की स्थितियों से अतिरिक्त और भी स्थितियाँ हैं। पञ्चम स्थिति में किन्हीं-किन्हीं को अंशतः भिन्नरूप से प्रकाश होता है। ये लोग विद्येश्वर कहे जाते हैं। इनकी अपनी आत्मा के विषय में भेद-दृष्टि नहीं रहती, यह सत्य है; किन्तु ज्ञेय विषय के सम्बन्ध में भेद-दृष्टि रहती है; क्योंकि इन्हें सभी ज्ञेय विषयों का अपने स्वरूप से भिन्नरूप में दर्शन होता है। फिर एक ऐसी भी स्थिति है, जिसमें किसी-किसी का अंशतः अभिन्न रूप में प्रकाश हो जाता है। ये लोग परस्पर भिन्न होने पर भी सभी ज्ञेयसत्ता को शुद्ध बोधरूप और स्वाभाविक भेदशून्य देखते हैं। ये ही केवली पुरुष हैं। प्राचीन सिद्ध-सम्प्रदाय की परिभाषा के अनुसार इस प्रकार के मुक्त पुरुष विज्ञानाकल नाम से वर्णित हैं। इनको दिव्यज्ञान नहीं है, यह ठीक है; किन्तु जड़ प्रकृति या माया से आत्मस्वरूप का विवेक-ज्ञान इन्हें है। अशुद्ध-स्थिति में भी ये लोग कर्म-पाश से मुक्त एवं जन्म-मृत्यु के चक्कर से रहित हैं। शुद्धावस्था में ये लोग यद्यपि महामाया नामक विशुद्ध अचित्-तत्त्व से मुक्त हो चुके हैं। किन्तु फिर भी इनमें से सभी को शिवज्ञान का अभाव है। ये लोग सभी विदेही हैं। इस श्रेणी की षष्ठ-स्थिति के रूप में गणना की जा सकती है। इसके अनन्तर जो स्थिति है, वही परम स्थिति है। वही पूर्णत्व या परम परम शिव की अवस्था है। पूर्ण में सम्पूर्ण खण्ड स्थितियों के निहित होने पर भी पूर्ण-पूर्ण ही है, क्योंकि वह अपनी महिमा से सदा उज्वल है।

ये सब स्थितियाँ स्वातन्त्र्यमय आत्मा की ही स्थितियाँ हैं। अपना स्वरूप पहचान कर अपने स्वरूप को प्राप्त होने पर ही अपने ही विश्वरूपता के दर्शन होते हैं, एवं इसके साथ ही साथ अपनी विश्वातीत परम-सत्ता भी जाग जाती है। अखण्ड भगवत्-स्मृति का यही फल कहा गया है।

राम-नाम की महिमा

श्रीभगवान् के रूप, लीला और गुणोंकी भाँति ही उनका नाम भी अप्राकृत और चिदानन्दमय है। नाम अलौकिक शक्ति-सम्पन्न है। नाम के प्रभाव से ऐश्वर्य, मोक्ष और भगवत्प्रेम तक की प्राप्ति हो सकती है। नामाभास को छोड़कर गुरुप्रदत्त शक्ति से सम्पन्न नामका यदि विधिपूर्वक अभ्यास किया जाय तो उससे जीव के सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं। नाम के जाग्रत् होने पर उसके प्रभाव से सद्‌गुरु की प्राप्ति और तदनन्तर सद्‌गुरु से इष्ट मन्त्ररूपी विशुद्ध-बीज की प्राप्ति हो सकती है। बीज के क्रम-विकास से चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है और देह एवं मन की सारी मलिनता दूर होकर सिद्धावस्था का उदय हो जाता है। मन्त्रसिद्धि वस्तुतः भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि के फलस्वरूप होती है। इस अवस्था में स्व-भाव की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये समस्त अभावों की निवृत्ति हो जाती है। यद्यपि यह अवस्था सिद्धावस्था के अन्तर्गत मानी जाती है; परन्तु यही भगवद्भजन की प्रारम्भिक अवस्था है। माता के गर्भ से उत्पन्न मलिन देह से यथार्थ भगवद्भजन नहीं होता। इसलिये और राजमार्ग के भगवद्भजन की सुलभता के लिये मायिक अशुद्ध देह के उच्च स्तर पर भावदेह की अभिव्यक्ति आवश्यक होती है। भावदेह में जो भजन होता है, वह स्वभाव का भजन होता है, वह विधिमार्ग की नियमबद्ध उपासना नहीं है। मन्त्र-चैतन्य के बाद, विधिमार्ग की कोई सार्थकता नहीं रह जाती।

भक्तके भावदेह के विकास के साथ-साथ उसकी भाव-रञ्जित दृष्टि के सम्मुख इष्ट देवता का ज्योतिर्मय-धाम अपने आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। इसके पश्चात् भजन के प्रभाव से भावरूपा भक्ति के प्रेमभक्ति में परिणत होने पर पूर्ववर्णित ज्योतिर्मय धाम में इष्ट-देवता का स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है। यही प्रेम की अवस्था है। इसके बाद भक्त और उसके इष्ट की पृथक् सत्ता विगलित होकर दोनों के एकीभूत हो जाने पर रस की अभिव्यक्ति होती है। यही अद्वैत अवस्था है। इसी अवस्था में भक्त के स्थायी भाव के अनुरूप अनन्त प्रकार की नित्य लीलाओं का अविर्भाव हुआ करता है। यही भक्ति-साधना की सिद्धावस्था है।

श्रीभगवान् का नाम इस प्रकार रस के स्वरूप में अपने को प्रकट करता है। श्रीरामनाम श्रीभगवान् का एक विशिष्ट नाम है। इसकी महिमा अनन्त है। शास्त्रों ने इसी को 'तारक-ब्रह्म' कहा है। यह प्रणव से अभिन्न है, इस बात को भी ऋषि-मुनियों ने बार-बार बतलाया है। कहा जाता है कि परम भागवत श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी को देहत्याग के कुछ दिनों पूर्व अलौकिक भाव से श्रीमन्महावीर जी ने

रामनाम का रहस्य बतलाया था। उन्होंने कहा कि विश्लेषण करने पर राम-नाम में पाँच अवयव या कलाओं की प्राप्ति होती है। इनमें प्रथम का नाम 'तारक' है और पिछले चारों नाम क्रमशः—'दण्डक' 'कुण्डल' 'अर्धचन्द्र' और 'विन्दु' हैं। मनुष्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहको लेकर इस मायिक जगत् में विचरण करता रहता है। जबतक माया का भेद नहीं होता, तबतक महाकारण-देह की प्राप्ति नहीं हो सकती। साधक को गुरूपदिष्ट क्रम के अनुसार स्थूल-देहके समस्त तत्त्वों को नाम के प्रथम अवयव 'तारक' में लीन करना पड़ता है। स्थूल देह एवं अन्यान्य तीनों देह पाञ्चभौतिक हैं। स्थूल में अस्थि, त्वक् आदि पाँच पृथ्वी के; मेद, रक्त, रेतः आदि पाँच जलके; क्षुधा, तृष्णा आदि पाँच तेज के; दौड़ना, चलना आदि पाँच वायु के; काम, क्रोध, लोभ आदि पाँच आकाश के कार्य हैं। अन्य तीनों देहों में ही इसी प्रकार पंचभूतों के अंश हैं। प्रत्येक तत्त्व की पाँच प्रकृति होती है। इसी से स्थूल देह में पाँच तत्त्वों की पच्चीस प्रकृति हैं। इसी प्रकार अन्य तीनों देहों में पच्चीस प्रकृति हैं।

साधना के प्रभाव से स्थूल-देह के पाँचों तत्त्व जब तारक में लीन हो जाते हैं, तब सूक्ष्म-देह के पाँचों तत्त्वों को नाम के दूसरे अवयव 'दण्डक' में लीन करना पड़ता है। इधर पूर्वोक्त तारक भी स्थूल तत्त्वों को अपने अन्दर लेकर 'दण्डक' में लीन हो जाता है। इसके बाद कारण-देह के 'तत्त्व' नाम के तीसरे अवयव 'कुण्डल' में लीन हो जाते हैं, साथ ही दण्डक भी कुण्डल में लीन हो जाता है। कारणदेह की निवृत्ति के पश्चात् शुद्ध सत्त्वमय महाकारण-देह को नाम के चतुर्थ अवयव 'अर्धचन्द्र' में लीन करना पड़ता है। महाकारण-देह तक जड का ही खेल समझना चाहिये। हाँ, महाकारण देह जड होने पर भी शुद्ध है; परन्तु स्थूल, सूक्ष्म और कारण जड एवं अशुद्ध हैं। महा-कारण-देह के अर्धचन्द्र में लीन हो जाने के बाद 'कैवल्य' देहमात्र बच रहता है। यह विशुद्ध चित्-स्वरूप और जड सम्बन्ध से रहित है। अर्धचन्द्र के बाद पाँचवाँ अवयव या कला विन्दु-रूप से प्रसिद्ध है। विन्दु पराशक्ति श्रीजानकीजी का स्वरूप है। विन्दुरूपा श्रीजानकीजी का आश्रय लिये बिना कलातीत श्रीराघव का सन्धान नहीं मिल सकता। विन्दु के अतीत रेफ ही परब्रह्म श्रीरामचन्द्र हैं। विन्दुरूपिणी सीताजी और रेफरूपी श्रीरामचन्द्रजी में दृढ़ अनुराग जब अचल हो जाता है, तब भव-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। तभी सिद्ध पञ्चरसों का आस्वादन हो सकता है, इससे पहले नहीं। शान्त-रस के रसिक प्रह्लाद आदि, दास्य के हनूमान् आदि, सख्य के सुग्रीव-विभीषणादि, वात्सल्य के दशरथ आदि और शृङ्गार-रस के मूर्त-स्वरूप जनकपुर की युवतियाँ—विशेषतः श्रीजानकीजी स्वयं हैं।

कैवल्य-देह में चित्-तत्त्व का स्फुरण वर्तमान है। उसके बाद तत्त्वातीत ब्रह्म वस्तु है, जो शक्तिरूप में श्रीजानकीजी के नाम से और शक्ति के आश्रयरूप से श्रीराम के नाम से भक्तों के लिये सुपरिचित है। महावीरजी ने जो उपदेश दिया है, उसका तात्पर्य यही है कि विन्दु का आश्रय लिये बिना निष्कल परब्रह्म को ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता।। अन्यथा-प्रयत्न से बड़े अनर्थ की सम्भावना है।

तुलसी मेटैं रूप निज विंदु सीय को रूप।
देखि लखै सीता हिये राघव रेफ अनूप॥
तुलसी जो तजि सीय को विंदु रेफ में चाहु।
तौ कुम्भी महँ कल्पशत जाहु जाहु परि जाहु॥

अतएव जो रामनाम के रसिक हैं, वे अर्धचन्द्र-विन्दु और रेफको एक कर डालते हैं, पृथक् नहीं होने देते। इस एक में ही उनके आस्वादन के लिये अचिंत्य विचित्र लीलाएँ स्फुटित हो उठती हैं।

देहतत्त्व और मुक्ति

देह किसे कहते हैं, देह की उत्पत्ति कैसे होती है, देह का धर्म एवं स्वरूप क्या है, वह देह कितनी तरह की है एवं आत्मा से इसका सम्बन्ध किस प्रकार का है ! साधारणतः अधिकांश जिज्ञासु-मनुष्यों के चित्त में ये प्रश्न एवं इसी तरह के अन्यान्य प्रश्न उठते ही नहीं, क्योंकि प्रायः सब लोगों का ही विश्वास है कि यह सर्व साधारण का सुपरिचित विषय है। इसके सिवा, बहुतों की यह धारणा भी है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए आत्म-तत्त्व की उपलब्धि आवश्यक है, सुतरां परमार्थलिप्सु के लिए छानबीन के साथ देहतत्त्व को जानने की चेष्टा करना, काकदन्त-परीक्षा के समान ही निष्फल है।

परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जिनकी पारमार्थिक आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की सच्ची उत्कण्ठा है, उनके लिए देहतत्त्व का प्रकृष्ट ज्ञान आवश्यक है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह अति गम्भीर सत्य है। किसी भी प्रकार से हो जीव जब से किसी अनादि और अनिर्वचनीय शक्ति के प्रभाव द्वारा संसार-पाश से बँधा है, तभी से देहाध्यास-वश उसका आत्मबोध देह को आश्रय करके ही अभिव्यक्त होता है। वस्तुतः जीव आत्म-विस्मृत हो गया गया है, एवं उसकी विशुद्ध-चेतना मलिन और परिच्छिन्नवत् होकर देश-काल और कार्यकारण-भाव के अधीन रूप में प्रतीत होती है। 'देह कोई वस्तु नहीं है, यह अनित्य एवं नश्वर है' इस प्रकार सोचकर देह-सम्बन्धी विचारों को दूर करने की इच्छा करने पर भी, प्राकृतिक शक्ति के अव्यर्थ आघात से जीव का देहात्म-बोध निरन्तर जागृत होता रहता है। साधारण-जीव के लिए आत्मा और देह को परस्पर पृथक्-भाव से ग्रहण करना सम्भव नहीं है। लोकायत सम्प्रदाय अर्थात् चार्वाक मतावलम्बी जड़वादी गण भी यह अच्छी तरह समझते हैं। नहीं तो बृहस्पति को आत्मा के इस लक्षण सूत्र 'चैतन्यविशिष्टकायः पुरुषः' की रचना करने की आवश्यकता न होती। पक्षान्तर में विशुद्ध आत्मवादी दार्शनिक को भी विदेह-कैवल्य प्रमाणित करते समय, नाना प्रकार से देह की सत्ता को अङ्गीकार नहीं करना पड़ता। जो विदेह-मुक्तिरूप मोक्ष को स्वीकार करते हैं, उनके मोचक-ज्ञान का उद्भव भी देहावच्छेद-काल में ही होता है। सुतरां लौकिक-ज्ञान वाले जीव के लिए विशुद्ध जड़ या विशुद्ध चैतन्य, इनमें से किसी भी एक पक्ष का ग्रहण करना, सम्भव नहीं है। प्रस्थान-भेद से शास्त्रीय परिभाषा का तारतम्य रहने पर भी वस्तुस्थिति सर्वत्र प्रायः एक प्रकार की ही देखी जाती है। शास्त्र-दृष्टि से देह कहने से साधारण मनुष्य जो समझते हैं, वह स्थूल देह का ही प्रकारमात्र है, वस्तुतः वह देहतत्त्व के भौतिक विकास के सिवा दूसरी कोई चीज नहीं है। रज और वीर्य के संयोग से हो, या उस संयोग के बिना हो, भौतिक अणुराशि किसी एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित होकर विन्दु-भाव को प्राप्त होती है,

तब उसे ही स्थूल-देह का बीज समझना चाहिए। यह देह-बीज बाह्य उपादान ग्रहण करके पुष्टि प्राप्त करता है और यथासमय कार्यक्षम रूपसे अभिव्यक्त होता है। रज और वीर्य रूप रक्त और शुक्ल विन्दु-द्वय प्राकृतिक अथवा आहार्य-काम के प्रभाव से विक्षुब्ध होकर परस्पर मिलते हैं एवं बीज-रूप में आत्म-प्रकाश करते हैं। जब तक मनुष्य ब्रह्मचर्य-साधन के क्रमिक उत्कर्ष के द्वारा स्थिररेता और ऊर्ध्वरेता अवस्था की उपलब्धि नहीं कर पाता, तब तक उसकी अधोरेता अवस्था स्वाभाविक है। साधारणतः मनुष्य मात्र की यही स्थिति है, इस अवस्था में काम-जय न होने के कारण विक्षोभ के द्वारा वीर्य की गति अधोमुखी या बाह्य हुए बिना नहीं रह सकती। इस गति-वेग से शक्त्यात्म व्यापक विन्दु-सत्ता वाष्पराशि के संघात से उत्पन्न हुए घनीभाव के समान घनीभाव को प्राप्त होती है और क्रमशः अधोभूमि में अवतीर्ण होते-होते तैजस एवं तरल अवस्था प्राप्त कर नाभि के निम्न देश में आ जाती है। वहाँ से रेतोवहा नाड़ी के द्वारा मध्याकर्षण-शक्ति के नियमानुसार बाहर निकल जाती है। यही प्रकृत काम का सृष्टि-रहस्य है। परन्तु जो ब्रह्मचारी और जित-काम हैं, उनको स्थूल सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त होने की आवश्यकता होने पर पहले इच्छाशक्ति के द्वारा या क्रिया-कौशल से काम को विक्षुब्ध करना पड़ता है, क्योंकि बिन्दु-क्षोभ हुए बिना किसी प्रकार की गति का विकास सम्भव नहीं है। गति न होने से सृष्टि आकाश-कुसुम के समान है। ऊर्ध्वरेताओं का निष्काम-भाव सांसिद्धिक है, इसलिये प्राकृत मनुष्यों के समान उनमें कामप्रवृत्तियों की सम्भावना नह है। इस सृज्यमान काम को आहार्य-काम कहते हैं।

प्राचीन समय में ब्रह्मचर्य-सिद्धि के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश होने पर, प्रजा-तन्तु की रक्षा के लिये इसी प्रकार काम का आवाहन करके कार्यसिद्धि करनी पड़ती थी। बाह्यदृष्टि से दोनों ही सृष्टि के भेद प्रायः एक से ही हैं, क्योंकि दोनों में ही शुक्र-शोणित के मिलन की आवश्यकता है। यही मैथुन-सृष्टि अथवा योनिज-देह की उत्पत्ति का विवरण है।

यह कोई नियम नहीं है कि स्थूलदेह सर्वत्र योनिज ही हो, अयोनिज-देह भी होती है। सीता जैसे अयोनि-सम्भवा थीं; वैसे ही और भी अनेक देवता-मुनि-ऋषियों की देह भी अयोनिज सुनने में आयी है। शुद्ध सङ्कल्प से परमाणु आकृष्ट होकर यथावत् स्थान में स्थित हो, देह का उत्पादन करते हैं। प्रलय के बाद सृष्टि के आरम्भ में जो देह निर्मित होती हैं, वे एक हिसाब से अयोनिज स्थूल-देह के ही उदाहरण हैं। इस प्रकार की देह सृष्टिकर्ता के संकल्पवश परमाणुपुञ्ज के संघटन से उत्पन्न होती हैं।

हम पहले ही लिख चुके हैं कि ऊर्ध्वरेता का शक्ति-स्रोत ऊपर की ओर प्रवहन-शील होने पर भी आहार्य-काम के प्रभाव से कुछ समय के लिये अधोवृत्त हो जाता है। यह ठीक है कि काम का आहरण करना या न करना अपनी स्वतन्त्रता है। जो काम का आवाहन नहीं करते, अथवा इस तरह आहरण करने की स्वतन्त्रता जिनको नहीं है, वे इस प्रकार की मैथुनी-सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होते, परन्तु शुद्ध-काम के आश्रय

में केवल नाभि, हृदय और मस्तक प्रभृति का अंगुलि से स्पर्श करते हैं अथवा देह सम्बन्ध के बिना भी योगीजन गर्भ-सञ्चार कर सकते हैं। यह भी एक प्रकार की रजोवीर्य-संघातकी प्रक्रिया है, परन्तु यह पूर्ववर्णित प्रक्रिया से अत्यन्त सूक्ष्म है। जो कामाश्रय के अत्यन्त विरोधी हैं, वे इस सूक्ष्म-प्रक्रिया का भी अवलम्ब लेने की इच्छा नहीं करते।

पूर्वोक्त आलोचना द्वारा यह समझ में आ जायगा कि स्थूल-देह एक प्रकार की नहीं होती। हम लोग प्रतिदिन लौकिक-व्यवहार में जिस प्रकार की स्थूल देह देखते हैं, वे अधःस्रोत वीर्य द्वारा उत्पन्न होने के कारण स्वभावतः अशुचि और अशुद्ध हैं। साधना-विशेष के प्रभाव से इस कामांश को शरीर से शोधित किये बिना देहशुद्धि नहीं होती। यह सर्वत्र प्रसिद्ध स्थूलदेह प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ऊर्ध्वरेता जीव के सङ्कल्प-प्रभाव से आहार्य-काम के सम्बन्ध द्वारा अधोवृत्ति उदित होकर जो देह उत्पन्न होती है, वह द्वितीय श्रेणी की स्थूल देह है। यह अपेक्षाकृत शुद्ध होने पर भी मलिन है, क्योंकि यह भी मैथुन से उत्पन्न हुई है। ऊर्ध्वरेता जीव के सङ्कल्प से शुद्ध काम का आहरण करके अंगुलिद्वारा स्त्री के नाभि, हृदय, मस्तक प्रभृति के स्पर्श से जो स्थूल उत्पन्न होती है, वह तृतीय श्रेणी का स्थूल-देह हैं। स्पर्श न करके केवल दर्शन और चिन्तन के द्वारा जहाँ गर्भ-सञ्चार होता है, एवं उसके फलस्वरूप जो देह उत्पन्न होती है, वह चतुर्थ श्रेणी की स्थूलदेह है। तीसरी और चौथी स्थूलदेह स्त्री-पुरुष के बाहरी मिथुन-भाव से उत्पन्न न होने के कारण शुद्ध है। फिर भी तीसरी की अपेक्षा चौथी देह और अधिक शुद्ध है। जिस देह के उत्पन्न करने में बाह्य स्त्री-पिण्ड की अथवा उसके गर्भ-यन्त्र की आवश्यकता नहीं होती, वह और भी अधिक पवित्र देह है। यह ठीक है कि सूक्ष्म योनि-तत्त्व की आवश्यकता सर्वदा ही रहती है, क्योंकि 'योनेः शरीरम्' इस नियम के अनुसार योनि की सहायता के बिना केवल लिङ्ग ज्योतिःसृष्टि कार्य में व्यापृत नहीं हो सकता। योगी के सङ्कल्प-प्रभाव से भौतिक उपादानराशि आकृष्ट होकर सम्मिलित होती है एवं देह निर्मित करती है, यह देह पाँचवीं प्रकार की है, एवं अत्यन्त शुद्ध है। बौद्ध एवं पातञ्जलगण की निर्माणदेह, जैन लोगों की आहारक-देह प्रभृति कुछ अंशों में इसी प्रकार की देह हैं। किसी-किसी स्थान पर शास्त्र में इसको औपपादिक-देह कहकर भी वर्णना की गयी है। निर्माणदेह एवं औपपादिक-देह में परस्पर अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी किसी-किसी अंश में समानता होने के कारण ये एक श्रेणी के अन्तर्भुक्त की गयी हैं।

इनके सिवा और भी एक प्रकार की देह है। जैसे पहले स्त्री-पिण्ड के बिना भी देहोत्पत्ति की बात कही-गयी है, वैसे ही अवस्था-विशेष में पुरुष-पिण्ड के बिना भी देह उत्पन्न हो सकती है। शक्ति-सिद्धान्त की मूल बात यही है। मानवीय भाषा में इस तत्त्व को प्रकट करना हो तो कहना होगा कि यह देह अक्षत-योनि कुमारी से उत्पन्न सन्तान-देह है। खीस्ट्रीय धर्मसाहित्य में जो Immaculate Conception प्रभृति मतवाद की सुनने में आती हैं, वे केवल मतवाद ही नहीं हैं। इनका गम्भीर रहस्य सूक्ष्मदर्शी तत्त्वविदों के सिवा अन्य लोगों के बोध-गम्य नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि ईशु खीस्ट की माता मेरी (Virgin Mery) कुमारी थी। श्रीकृष्ण, बुद्ध-प्रभृति

अवतारों अथवा महापुरुषों का आविर्भाव भी किसी किसी अंश में इसी के अनुरूप है। स्त्री कुमारी रहकर भी, अर्थात् विकृत न होकर भी, सन्तान की जननी हो सकती है। हिन्दू तंत्र-शास्त्र में जगदम्बा का कुमारी रूप से वर्णन करने का यही तात्पर्य है, क्योंकि ऐसा होने से विश्व-जगत् प्रसूत होने पर भी, उनकी स्वरूप-स्थिति और निर्विकार भाव नष्ट नहीं होता। यह ठीक है कि उनका सधवा रूप भी है, यहाँ तक कि विधवा रूप भी है, (जैसे धूमावती), पर उसका रहस्य स्वतन्त्र है।

अयोनिज-देह के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसके द्वारा आपाततः यह विचार आ सकता है कि योनि की सहायता के बिना भी देह की उत्पत्ति सम्भव है। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। यहाँ 'योनि' शब्द का साधारण प्रचलित अर्थ ही समझना चाहिये। सूक्ष्म अर्थ के अनुसार सोचने पर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि किसी प्रकार की भी देह अयोनिज नहीं हो सकती। ऊर्ध्व-मुख त्रिकोण एवं अधोमुख त्रिकोण, ये दोनों त्रिकोण ही योनि-स्वरूप हैं। लिङ्गज्योति-रूप बिन्दु के क्षुब्ध होकर गतिशील होते ही योनि में आकर्षण-शक्ति का उदय होता है। यदि बिन्दु अधोगतिशील होता है, तो यह प्राकृत या निम्न योनि में प्रविष्ट होकर सृष्टि का विकास करता है। परन्तु क्षोभ-प्राप्त बिन्दु ऊर्ध्वगतिशील भी हो सकता है। इस अवस्था में उसका समावेश अप्राकृत या ऊर्ध्वयोनि में होता है, प्राकृतयोनि में नहीं होता। इसके फल-स्वरूप अप्राकृत, दिव्य एवं विशुद्ध देह का उद्भव होता है। यह ऊर्ध्वयोनि-स्थान एवं शुद्धि के भेद से कई प्रकार की है। इसमें जो सबसे ऊर्ध्व है, वह मनुष्य के शिरोदेश में अवस्थित है। वह योगिसमाज में ब्रह्म-योनि के नाम से प्रसिद्ध है। इसी योनि से विशुद्ध-ज्ञान-देह की सृष्टि होती है। परन्तु कहना नहीं होगा कि यह भी एक प्रकार के स्थूल-देह के सिवा और कुछ नहीं है।

लौकिक स्थूल-देह (वेदान्त-दर्शन का अन्नमय-कोश) षाट्कौशिक देह के नाम से परिचित है। इनकी रचना में पञ्चभूतों की उपयोगिता ही रहती है। दार्शनिकों में इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है कि इसका उपादान कारण एक ही भूत है या पाँचों भूत हैं। पर एक भूत को उपादान या समवायी कारण मानने पर भी, अन्य भूतों की उपष्टंभकरूप से निमित्तता माननी ही पड़ेगी। सारांश, इसमें सारे भूत ही हैं। हाँ, पृथिव्यादि भूतविशेष का प्राधान्य होने का कारण यह पार्थिव आदि नाम से प्रसिद्ध होती है।

जिस प्रकार इस देह के सम्बन्ध के बिना जीव का कर्तृत्व निष्फल है, उसी प्रकार भोक्तृत्व भी निष्फल ही है। अर्थात् जो जीव स्थूल देहधारी है, उसीका कर्म में अधिकार है, अतएव वही कर्ता होता है। एवं भोग का आश्रय या भोक्ता भी वही हो सकता है, क्योंकि इस देह का अभिमान रहने तक ही एक ओर कर्तृत्व एवं दूसरी ओर भोक्तृत्व प्रकट होता है। जिस प्रकार कार्य के साथ कारण का अथवा हेतु के साथ फल का सम्बन्ध है, उसी प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्व का भी परपस्पर सम्बन्ध है। 'मैं कर्म का कर्त्ता हूँ' इस प्रकार का कर्तृत्वाभिमान नष्ट होने के बाद सुख-दुःख भोग की आवश्य-कता ही नहीं रहती, क्योंकि वास्तव में उस समय कर्म ही नहीं होता। अभिमान-

हीन पुरुष के लिये कर्म और उसका फल नहीं के बराबर हैं। परन्तु देह का अभिमान रहते कर्म करने ही पड़ते हैं, एवं उसी के अनुसार फल-भोग भी जरूरी है। देहाभिमान का मूल अविद्या है, अतः अविद्या ही कर्म-फलमय संसार-चक्र की प्रवर्तक है। ज्ञानोदय के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने से अभिमान का नाश होता है, तब जीव कर्म और भोग की बेड़ी से छुटकारा पाता है।

स्थूल देह को भोगायतन इसलिये कहते हैं कि इस देह का आश्रय लेकर ही पूर्व कर्मों का फल-भोग सम्भव है। सूक्ष्म और कारण-देह भोगायतन नहीं हैं। जिस देह से कर्म होता है, वह कर्म-देह है, एवं जिसके द्वारा भोग होता है, वह भोग-देह है। जिस देह के द्वारा कर्म एवं भोग दोनों ही होते हैं, वह उभयात्मक देह है। कहने की जरूरत नहीं कि ये सब स्थूल-देह के ही भेद हैं।

चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर के जीव स्थावर, उद्भिज्ज, स्वदेज, अण्डज प्रभृति अवस्थाओं के ग्रहण एवं परिहारपूर्वक क्रमशः स्वभाव के स्रोत से अन्त में जरायुज-श्रेणी प्राप्त होता है। फिर क्रमशः जरायुज-श्रेणी की अर्ध्वतम सीमा पर पहुँच कर दुर्लभ मनुष्य-देह पाता है। एक-एक श्रेणी में नानाप्रकार की क्रमोत्कृष्ट देह की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार नदी का स्रोत स्वभावतः ही समुद्र की ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार पुरुष-संसर्ग के वश विक्षुब्ध-प्रकृति का अन्तः-स्रोत भी पुरुष की ओर ही प्रवाहित होता है। इसीलिये जीव बीजरूप से प्रकृति के गर्भ में आविर्भूत होकर क्रमशः ऊँचा उठता रहता है, एवं क्रमशः उत्कृष्टतर देह प्राप्त करता रहता है। यह कृत-कर्म का फल नहीं है। प्राकृतिक-स्रोत के स्वाभाविक परिणाम का ही फल है। अहं-भाव की स्फूर्ति न होने तक जीव का कर्माधिकार नहीं होता। अतएव मनुष्य-देह पाने के पूर्वतक चौरासी लाख देहों में संचरण केवल प्राकृतिक व्यापार ही है, उसके मूल में व्यक्तिगत इच्छा या कर्म-प्रेरणा नहीं है। परन्तु मनुष्य-देह के साथ संसर्ग होते ही कर्तृत्वाभिमान उत्पन्न हो जाता है, एवं इसीलिये कर्माधिकार की उत्पत्ति एवं फल-भोग आवश्यक होता है। उस समय प्राकृतिक स्रोत का प्रभाव नहीं रहता एवं जीव स्वकृत कर्मों के ऊर्ध्व या अधोगति प्राप्त करता है। प्राकृतिक गति सरल और ऊर्ध्वमुखी है; पर कर्म की गति वक्र, चक्राकार एवं अनन्त वैचित्र्यमयी है, क्योंकि अभिमान के विकास से अनन्त प्रकार की लीलामय इच्छा का स्फुरण होता रहता है। इस अभिमान की निवृत्ति से ही स्वाभाविक सरल-गति का सूत्रपात होता है। इस सरल स्वाभा-गति को फिर पाने के लिये ही दीक्षा ग्रहण कर के योगादि साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है।

मनुष्य-देह की विचित्रता सूक्ष्मदर्शी साधकों के सिवा दूसरों से गोचर नहीं होती। शक्ति यन्त्र द्वारा नियमित होकर प्रकाशित होती है। मुक्त-शक्ति अव्यक्त है, उसका स्फुरण नहीं होता। उसी प्रकार पुरुष-संसर्गवश चेतनशक्ति जड-प्रकृति के गर्भ में प्रविष्ट होकर उससे निकलते समय जड का संस्कार आकर्षण करके प्रकाशित होती है। जिस प्रकार दीपक तैल आदि के बिना प्रकाशमान नहीं होता, उसी प्रकार सत्त्व

से रहित चेतन भी प्रकाशित नहीं होता। यह सत्त्व जड के साथ सम्बन्धित है। चेतन-शक्ति इसका क्रमशः उद्धार करके इसके संसर्ग द्वारा स्वयं पुष्टि-लाभ करती है।

चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण बाह्य प्रकृति का सत्तांश जागृत होकर उसी के अनुरूप चेतन-शक्ति के साथ योग-युक्त होता है, प्राण, मन और बुद्धि के विकास का यही मूल सूत्र है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय-कोश के विकाश का यही क्रम है। चित् और सत् का मिलन भलीभाँति सम्पादन कर लेने पर उससे आनन्द की अभिव्यक्ति स्वभावतः ही होती है, तब दिव्य-भाव का उदय होता है एवं आनन्दमय-कोश का विकास होता है। क्रमशः षोडशी कला का आविर्भाव होकर खण्ड-जीव फिर पूर्ण ज्ञानमय पुरुषोत्तम की गोद में, यहाँ तक की पुरुषोत्तम-रूप की ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। पर उसके पहले यह सम्भव नहीं है।

हम साधारणतः जिस स्थूल-देह को देखते हैं, उसका परिचालन शक्ति के द्वारा ही होता है। स्थूल-देह के संचार के मूल में ज्ञान और क्रियाशक्ति अवस्थित है। ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान-शक्ति की धारा है। दोनों धाराएँ ही अन्तःकरण में समान भाव से सम्मिलित रहती हैं। यह तेजोमयी शक्ति देह के अन्दर बहुत-सी सूक्ष्म नाड़ियों के आश्रय से प्राणादि वायु-तत्त्व का अवलम्ब लेकर काम करती है। यद्यपि सारी इन्द्रियाँ स्थूल देह का आश्रय लिए हुए ही जान पड़ती हैं, पर तो भी, वे वास्तव में स्थूल-देह की अंश नहीं है। क्योंकि मृत्यु अथवा दूसरे के शरीर में प्रवेश करने के समय जब लिङ्ग-शरीर स्थूल-देह का त्याग करके बाहर चला जाता है, तब वे भी स्थूल-देह में वर्तमान नहीं रहती। वास्तव में इन्द्रियाँ आदि तेजोमय शक्ति-विशेष ही की देहगत-स्फूर्ति हैं, इस तेज को ही लिङ्ग-शरीर कहते हैं। यह अविभक्त होकर भी, आधार के अनुसार विभक्त के समान प्रतीत होता है। यह स्थूल-देह के साथ ओत-प्रोत भाव से व्याप्त होकर रहता है। जैसे काठ के टुकड़े में सुप्त अग्नि विद्यमान रहती है परन्तु दिखलायी नहीं पड़ती, क्रिया-विशेष के द्वारा उसे जागृत करना पड़ता है, वैसे ही यह लिङ्गात्मक तेज या ज्योति भी समस्त स्थूल-देह में व्याप्त है, संघर्षण द्वारा इसको प्रज्वलित करके इससे इच्छानुरूप काम लिया जा सकता है। सांख्यमत से लिङ्ग-शरीर सप्तदश या अष्टादश अवयव वाला है। अथवा वेदान्त मत से प्राणादि—त्रिकोशमय है। यहाँ इन पारिभाषिक शास्त्रीय विचारों की आवश्यकता नहीं है। लिङ्ग के साथ साक्षात् परिचय हुए बिना ये सब बातें सरलता से बोधगम्य नहीं होतीं। यह स्पष्ट ही समझ में आता है कि जिसको हम लोग अन्तःकरण कहते हैं, वह भी इस लिङ्ग-ज्योति के ही अन्तर्गत है; यह लिङ्ग संसार में किसी का भी विशुद्ध नहीं है। क्योंकि नाना प्रकार के संस्कार वासना प्रभृति इसमें सञ्चित होकर इसको धूल लगे दर्पण के समान मलिन किए हुए हैं। किसी विषय का आश्रय लेने से चित्त पर जो दाग पड़ती है, वही वासना है। यह कर्म अथवा लौकिक-ज्ञान दोनों से उत्पन्न हो सकती है। इस वासना नामक संस्कार का विश्लेषण करने पर जिस प्रकार एक ओर अन्तःकरण की सत्ता मिलती है, उसी प्रकार दूसरी ओर विषय का अंश भी उपलब्ध होता है।

आसक्ति के प्रभाव से चित्त में विषय का आकर्षण होता है। सकाम-भाव से जो कुछ किया या सोचा जाता है, वहाँ सर्वत्र ही विषय का अंश आकर अन्तःकरण में संलग्न हो जाता है। जन्म-जन्मान्तरों से कितने संस्कार इस प्रकार इकट्ठे हो रहे हैं, उनका कोई हिसाब नहीं है। ये सब स्वभावतः स्वच्छ हृदय-दर्पण को मलिन कर देते हैं। इन सबको लिङ्ग से दूर कर सकने पर ही लिङ्ग निर्मल (शुद्ध) होता है, बिना दूर किये नहीं।

मृत्यु के उपरान्त जब स्थूल-देह को त्यागकर लिङ्ग बाहर चला आता है, तब इन सारे संस्कारों और उनके साथ सूक्ष्म भूत-समूह को भी साथ ले जाता है। जीवित अवस्था में भी यही होता है। मृत्यु के समय जो संस्कार या भाव प्रबल हो जाते है, वे पूर्व सञ्चित दूसरे भावों को उद्‌बुद्ध करके अपने में मिला लेते हैं, एवं पिण्डीभूत होकर प्रारब्ध कर्मों की सृष्टि करते हैं। जीव उसी के अनुसार गति पाता है। फलतः अधिकांश स्थलों में इस फल-भोग के लिये फिर स्थूल-देह ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ती है। अतएव मरने पर भी छुटकारा नहीं है। क्योंकि अभुक्त कर्मों के फल-भोग के लिये जीव को स्थूल-देह धारण करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

अतएव जब इन सञ्चित संस्कारों का पुंज कोई काम नहीं कर सकता एवं अभिनव अर्थात् नये कर्म और उत्पन्न नहीं होते, तब चित्त-शुद्धि होती है। इसका एक मात्र उपाय ज्ञान है। अन्य किसी भी उपाय से चित्त की सम्यक्-रूपेण शुद्धि नहीं हो सकती। देहादि से अलग विशुद्ध आत्मस्वरूप को साक्षात् रूप से जान लेने पर अभिमान नष्ट हो जाता है, एवं इसीलिये नवीन कर्मों का बीज भी नष्ट हो जाता है और देहात्म-बोध के अभाव से प्राक्तन कर्म दग्धवत् हो जाते हैं।

किन्तु ज्ञानोदय का मार्ग क्या है? लिङ्ग-शरीर से निरन्तर चारों ओर रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं। फलतः लिङ्ग सदा ही विक्षुब्ध रहता है। यदि किसी कौशल से इन विक्षुब्ध रश्मियों को एकत्र कर किया जाय तो लिङ्ग स्थिरता को प्राप्त होकर उज्ज्वल एवं अखण्ड-ज्योति के आकार में विकसित होगा। यही ज्ञानमयी अथवा ज्ञानरूपी सिद्धि है। साधारणतः मनुष्यमात्र की लिङ्ग-देह असिद्ध है, क्योंकि मनुष्य प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों का चिन्तन करता रहता है। वह जिस समय जिस विषय का चिन्तन करता है, उस समय उसका चित्त तदाकार हो जाता है, एवं वह उसी विषय का उपादान-संग्रह करता है, किन्तु वह स्थायी नहीं होता। तुरन्त दूसरे विषय के चिन्तन से पहले का आकार नष्ट न हो जाता है एवं दूसरा स्वरूप बन जाता है। इस तरह आकार का टूटना-बनना चित्त में बराबर चलता रहता है। वास्तव में यही दुर्बलता का चिह्न है, परन्तु जब किसी उपाय-विशेष के आश्रय से चित्त एक ही विषय को ग्रहण करके सदा के लिये उसी के आकार में आकारित हो जाता है, तब वह वज्र के समान कठिन हो जाता है। उसकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है, एवं वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

इस अवस्था में जीव अपने आधार के अनुसार सर्वज्ञ और सर्वशक्ति सम्पन्न हो जाता है। चित्त की यह एक प्रकार की अद्वय-अवस्था है। परन्तु चित्त शान्त न होने

तक यथार्थ अद्वैत-स्थिति नहीं आ सकती। चित्त की यह अवस्था उसी हालत में प्रतिष्ठित होती है, जब उसमें सूक्ष्म-रूप से भी दूसरा विषय लेशमात्र विद्यमान नहीं रहता। दृष्टान्त रूप से सोचिये कि एक व्यक्ति निरन्तर श्रीकृष्ण की भावना करता है। गुरुदत्त कौशल के अनुसार भावना करते-करते एक ऐसी परिबाधित अवस्था का उद्भव होता है कि उसका चित्त उसकी भावना के विषय के साथ ओत-प्रोत होकर एकीभूत हो जाता है। दृष्टान्तस्थल में, जब चित्त श्रीकृष्ण का आकार धारण करके अवस्थित हो, उस समय यह समझना चाहिये कि इसकी भावना का उत्कर्ष हुआ है। यदि चित्त में श्रीकृष्ण के सिवा अन्य किसी प्रकार का संसर्ग भी न रहे तो फिर चित्त के श्रीकृष्ण-भाव से हट जाने की संभावना नहीं रहती। अर्थात् उस समय चित्त में अन्य भावना या विकल्प का उदय नहीं होता, चित्त और कोई नया आकार धारण नहीं करता।

उस समय चित्त का आकार श्रीकृष्णमय और स्थायी हो जाता है। वास्तव में यह सायुज्य-मुक्ति की अवस्था है। जिसकी ऐसी अवस्था हो गयी हो, उसके चित्त या लिङ्ग को सिद्ध कहा जा सकता है। सूक्ष्मदर्शी योगी इस प्रकार के मनुष्य को देखकर समझ जाते हैं कि इसको श्रीकृष्ण-भाव की सिद्धि हो गयी है। इस उदाहरण के अनुसार ही अन्यत्र भी समझना चाहिये।

चित्त अत्यन्त स्वच्छ है। यह आलम्बन के सम्बन्ध से तदाकार हो जाता है। वास्तव में यह जो श्रीकृष्ण का आकार है, वह सच्चा श्रीकृष्ण नहीं है। यह साधक-जीव का श्रीकृष्णाकार चित्त है। इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। यही लिङ्गसिद्धि है। इस प्रकार लिङ्ग-शरीर की सिद्धि के बिना उज्ज्वल ज्ञान-ज्योति का विकास नहीं होता। एवं संसारबीज-स्वरूप अन्तःकरण में अवस्थित संस्कारादि भी नष्ट नहीं होते।

लिङ्गसाधना की प्रथम अवस्था ज्योतिःसिद्धि है। यही सालोक्य-मुक्ति है। समानलोकता ही सालोक्य है। लोक से मतलब है—आलोक अथवा ज्योति, या ध्येय-देवता की अङ्गप्रभा। जिसको जो आलम्बन इष्ट है, उसके लिये उसी की ज्योति निकट है। यद्यपि मूल ज्योति एक ही है, फिर भी पहले-पहल उसका साक्षात्कार सबको नहीं होता, अतएव श्रीकृष्ण का तेज, श्रीरामचन्द्र का तेज, श्रीगणेश का तेज, पारमार्थिक दृष्टि से एक होते हुये भी, व्यावहारिक भूमि में परस्पर विभिन्न हैं। साधक जब इस इष्ट-तेज से अपने लिङ्ग-तेज को मिला लेता है, तभी उसकी सालोक्य-मुक्ति सिद्ध होती है। यह सर्वदा ही स्मरण रखना चाहिये, कि जिसको साधारणतः कृष्णलोक, रामलोक, गणपतिलोक कहा जाता है, वह वास्तव में उन श्रीकृष्णादिरूप मध्य-बिन्दु से निःसृत उनकी मण्डलाकार प्रभाराशि ही है। सुतरां सालोक्य-अवस्था में उन-उन देवताओं के लोकों में ही स्थिति होती है। लोक के बाद रूप है, एवं रूप के बाद शक्ति या ऐश्वर्य है। चित्त क्रमशः तद्रूपता प्राप्तकर उसकी शक्ति का अधिकारी होता रहता है। यदि अग्नि का आकार धारण करके भी उसकी दाहिका शक्ति को न प्राप्त किया, तो समझना होगा कि अभी अग्नि का स्वरूप दूर है। यह शक्ति-लाभ ही सार्ष्टि-मुक्ति की अवस्था है। इसके उपरान्त, शक्ति या ऐश्वर्य

को अतिक्रान्त करने के बाद सामीप्य-भाव का उदय होता है। ऐश्वर्य-अवस्था में अधिक घनिष्ठता नहीं होती, किन्तु सामीप्य अवस्था में नित्य सान्निध्य रहने के कारण माधुर्यभाव का विकास होता है। इसके बाद इष्ट के साथ सर्वथा योग-सम्पत्ति हो जाती है, यही सायुज्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब लिङ्ग की ही क्रम-श्रेष्ठ सिद्धियाँ हैं।

परन्तु लिङ्ग सिद्ध होने पर भी, अर्थात् परमात्मा के सगुण रूप के समभावापन्नवत् हो जाने पर भी, गुणातीत परा-सत्ता में प्रवेश प्राप्त नहीं होता। लिङ्ग की सर्वथा निवृत्ति हुये बिना निर्गुण अवस्था की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। कहना नहीं होगा कि लिङ्ग-निवृत्ति ही परामुक्ति है। साक्षात् भगवत् कृपा एवं तदुद्भूत जीव का आत्मसमर्पण होने से ही पूर्णावस्था उदित होती है।

वास्तव में लिङ्ग की निवृत्ति ही आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति है। लिङ्ग के पीछे लिङ्ग का प्रयोजन अविद्यामय कारण-शरीर वर्तमान रहता है। जब तक ब्रह्म-विद्या के प्रभाव से इस कारण-शरीर का नाश नहीं होता, तबतक पूर्ण अद्वैत-सिद्धि की आशा बहुत दूर है। इस कारणात्मक मूल-अज्ञान को अक्लिष्ट जानकर भक्तगण त्याग करना नहीं चाहते। बौद्धसम्प्रदाय में भी सम्यक्सम्बोधिमय बुद्धत्व-लाभ के पूर्व तक इस अक्लिष्ट-अज्ञान की सत्ता स्वीकृत हुई है। परन्तु यह मुक्तावस्था के ही अन्तर्गत है, क्योंकि दोनों आवरणों में क्लेशावरण के दूर होने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु अज्ञानावरण की निवृत्ति न होने तक अद्वय-भाव में स्थिति नहीं होती।

लिङ्गदेह सिद्ध करने के कई उपाय हैं। सहजियागण एवं वैष्णव आचार्यगण जिसको भाव-देह कहते हैं, वह सिद्ध-लिङ्गदेह के सिवा और कुछ नहीं है। सिद्ध होने के कारण इसमें लौकिक संस्कार एवं कर्माशय नहीं रहते। स्थूल-देह सिद्ध करने का कौशल भी साधकों को अविदित नहीं है। रासायनिकों के मत में अष्टादश संस्कार से संस्कृत पारे के द्वारा देह-वेध होता है। लौह-वेध के फलस्वरूप जैसे लौह सुवर्णत्व प्राप्त कर लेता है, वैसे ही देह-वेध के द्वारा अशुद्ध-देह वज्र-पञ्जर के समान सिद्धि प्राप्त करती है।

पातञ्जल सम्प्रदाय में भूत-जय से काय-सम्पत् अथवा देह-सिद्धि की बात है। गोरखनाथ आदि नाथगण एवं बौद्धगण भी काय-सिद्धि के सम्बन्ध में अनेक आदेश दे गये हैं। सुना जाता है कि शुक्राचार्य जलन्धरनाथ, गोविन्द भगवत्पाद आदि सिद्ध-देह सम्पन्न थे। इस देह में वृद्धत्व का आविर्भाव नहीं होता। नित्य ही किशोरावस्थापन्न एवं रमणीय दिखलायी पड़ती है। किसी प्रकार का भी विकार इस देह में लक्षित नहीं होता। मृत्यु का आघात भी इससे एक प्रकार से दूर ही रहता है। परन्तु यह आपेक्षिक है। यहाँ मृत्यु-जय से कल्पान्त-स्थिति समझनी चाहिये। जिन उपादानों से इस कल्प का उदय हुआ है, उन उपादानों के साथ देह के उपादानों का साम्य हो जाने के कारण कल्पक्षय के पहले इस देह का लय भी सम्भव नहीं है।

अग्नि और सोम के रहस्य का उद्घाटन इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है। परन्तु

यहाँ यह कह देना उचित है कि सोम-कला से यह देह उत्पन्न होती है, एवं अग्नि-रूपी काल इसे भक्षण करता है। यदि सोमकला अग्नि से, यहाँ तक कि कालाग्नि से भी प्रबल होती है, तो वैसी देह का कल्पान्त में भी विनाश सम्भव नहीं है। सोम-पान से जनित अमरत्व की प्राप्ति का यही तात्पर्य है। किसी भी साधना के द्वारा देहस्थ सोमतत्त्व को प्रधान करके यदि अग्नि को अभिभूत किया जा सके तो आपेक्षिक मृत्युंजय की प्राप्ति अवश्य ही होगी। स्थूल-देह की अथवा पिङ्गलदेह की दीर्घ अवस्थिति का कारण यही है।

हमने पहले जो आलोचना की है, उससे यह समझ में आ जाता है, कि देह-तत्त्व पर पूर्णरूप से अधिकार नहीं कर सकने से देहातीत, विशुद्ध एवं अद्वैत आत्मभाव की सिद्धि कभी सम्भव नहीं है। देह का अवलम्बन लेकर ही विदेह-अवस्था को पाना होगा। यही शास्त्रों का एवं महाजनों का एकमात्र सिद्धान्त है। अतएव मुक्तिकामी के लिये भी देह-तत्त्व का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

मृत्यु-विज्ञान और परम-पद

एक कहावत प्रचलित है कि 'जप-तप में क्या धरा है, मरना सीखो।' बात सीधी-सी होने पर भी अत्यन्त सत्य है। जप, तपस्या, सदाचार आदि जीवन की सभी प्रकार की साधनायें व्यर्थ हो जाती हैं, यदि मनुष्य मरना नहीं जानता, उसके लिये पृथक् रूप में किसी साधना का आवश्यकता नहीं होती। ऐसे कई साधकों का इतिहास पुराणादि में मिलता है, जो जीवन भर कठोर नियमों का पालन और उग्र साधना करते रहने पर भी मृत्युकाल की लौकिक-भावना के प्रभाव से मृत्यु के बाद उसी भावना के अनुसार अपेक्षाकृत निकृष्ट गति का प्राप्त हुए। इसके विपरीत ऐसे लोग भी पाये जाते हैं, जो जीवन काल में अत्यन्त साधारण रूप से रहने पर भी प्राणत्याग के समय दृढ़ भावना के फलस्वरूप उस उच्च भावना के अनुसार उच्च-गति को प्राप्त हुए हैं। मरणोत्तर-गति मृत्युकाल में भावना पर ही निर्भर करती है। श्रीभगवान् ने कहा है—

> यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
> तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ (गीता ८।६)

'मनुष्य जिस भावका स्मरण करता हुआ अन्तकाल में देहत्याग करता है, उसी भाव से भावित होकर सदा उसी भाव को प्राप्त होता है।' राजा भरत मृत्युकाल में हरिण के बच्चे की भावना करते हुये देहत्याग करने के कारण हरिण योनि को प्राप्त हुए थे, यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। इसीलिये सभी देशों में आस्तिक लोग मुमूर्षु (मरते हुये मनुष्य) में सात्त्विक भावों को जगाकर उनकी रक्षा करने के लिये मृत्यु के समय नाना प्रकार की बाहरी व्यवस्था करते हैं। मरने वाले मनुष्य के देह को अशुद्ध और अपवित्र वस्तु के स्पर्श से यथासम्भव बचा कर रखना, भगवद्भाव और अन्य प्रकार के सद्भावों को उद्दीप्त करने वाले वचनों को उसे सुनाना, साधुओं का संसर्ग कराना, सद्भाव से पूर्ण होकर मुमूर्षु के समीप बैठना आदि ये सारे उपाय एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये होते हैं।

मृत्युकालीन भावना का इस प्रकार असाधारण प्रभाव है, इसलिये अन्त समय में शुद्ध भावना बनी रहे; इसका उपाय प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष को सीख रखना चाहिये। किसी योग्य उपदेष्टा के आदेश के अनुसार इस एक ही उद्देश्य को लेकर समस्त जीवन की सारी चेष्टायें यदि हों, तो मृत्यु के समय मनुष्य निश्चय ही इष्ट-भावना को प्राप्त कर सकता है, और मृत्यु के बाद उसी के अनुसार इष्टगति भी पा सकता है। उपासक की अन्य कर्मों की गति अलग होने पर भी दोनों एक ही मूल-विज्ञान की आलोचना के विषय हैं। अतएव मृत्यु-विज्ञान का मूल-सूत्र समझ लेने पर मरण के बाद होने वाली सभी गतियों का रहस्य समझा जा सकता है।

मृत्यु-विज्ञान का माहात्म्य पढ़ कर कोई यह न समझ बैठें कि जीवन में साधना की आवश्यकता नहीं है। साधना की बड़ी ही आवश्यकता है, वस्तुतः साधना का अभ्यास इस प्रकार से करना चाहिये, जिसमें जीवित दशा में ही मृत्युकाल की अभिज्ञता प्राप्त हो जाए और मृत्यु के अन्दर से नित्य-जीवन का पता लग जाय।

जो जीते ही मरना जानता है, वह मृत्यु से नहीं डरता। मृत्यु को अतिक्रम किये बिना अतिमृत्यु-अवस्था प्राप्त नहीं होती और पूर्ण-सत्य की यथार्थ उपलब्धि किये बिना मृत्यु का अतिक्रम नहीं किया जा सकता। जो जीवन काल में पूर्ण सत्य की उपलब्धि कर पाते हैं, मृत्युकाल में भगवत्कृपा से उनकी वह उपलब्धि अपने-आप अनायास ही आविर्भूत हो जाती है।

यह कहा जा चुका है कि गति मृत्यु के अन्तिम भाव पर निर्भर करती है। साधारणतः परा और अपरा भेद से गति दो प्रकार की है। जिस गति में पुनरावर्तन नहीं है, वही परमा गति है। जिस गति में ऊर्ध्व अथवा अधः लोकों में जाकर कर्मफल भोगने के पश्चात् पुनः मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करना पड़ता है, वह 'अपरा गति' है। देवता मनुष्य, प्रेत, नरक. तिर्यक् आदि योनियों के भेद से गति-भेद हुआ करता है। अर्थात् कर्मवश कोई देवलोक को जाता है और देव-देह प्राप्त कर के नाना प्रकार के दिव्य भोगों का आस्वादन करता है। कोई 'यातना-देह' पाकर नरक-यन्त्रणा भोगता है। उन-उन लोकों में इन सब भोगों के द्वारा कर्मक्षय होने पर शेष कर्मों के कारण फिर मनुष्य-देह में आना पड़ता है।

परागति एक होने पर भी उसमें भेद हैं। अवश्य ही सभी भेदों में सर्वत्र एक ही वैशिष्ट्य दिखलायी पड़ता है। मृत्यु के साथ ही भगवान् के परम धाम में प्रवेश किया जाता है। अथवा मृत्यु के बाद कई स्तरों में होते हुए, वहाँ पहुँचा जाता है। यह दूसरे प्रकार की गति भी परमा-गति ही है। कारण, इस स्तर से अधोगति नहीं होती, क्रमशः ऊर्ध्व-गति ही होती है और अन्त में परमपद की प्राप्ति हो जाती है। तथापि यह परम गति होने पर भी अपेक्षाकृत निम्न अधिकारी के लिये ही है।

इनमें पहली मृत्यु के बाद सद्योमुक्ति है, और दूसरी क्रम-मुक्ति। एक अवस्था और है, जिसमें गति ही नहीं रहती। इस अवस्था में जीवन-काल में ही परमपद का साक्षात्कार हो जाता है। यही जीवन-काल को सद्योमुक्ति अथवा जीवन्मुक्ति है। जो पुरुष यथार्थ में इस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, उनके लिये फिर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। प्रारब्धवश शरीर चलता है और कर्म का क्षय होने पर शरीर का पात हो जाता है, उस समय अन्तःकरण, बाह्यकरण और प्राणादि सभी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं, लिङ्ग की निवृत्ति हो जाती है; उत्क्रान्ति नहीं होगी। देह-त्याग के साथ ही साथ विदेह-कैवल्य का लाभ हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्ति का भेद केवल उपाधिगत ही है, वास्तविक नहीं।

जन्मान्तर में अथवा मरने के बाद किसी अन्य देह की प्राप्ति न होने से ही जीव को परमपद की प्राप्ति हो जाती है, ऐसी बात नहीं है। क्रम-मुक्ति में, परमपद की ओर जाने के मार्ग में, मध्यम अधिकारी की साधारणतः यही अवस्था होती है। उसको जिन

स्तरों अथवा धामों को लाँघकर जाना पड़ता है, वे शुद्ध हैं; उनमें वासना होने पर भी वह शुद्ध-वासना है; वे समस्त स्तर मायातीत होने पर भी, महामाया के अन्तर्गत हैं। उनमें अशुद्ध-वासना नहीं है, इसलिये वहाँ अशुद्ध स्तरों का अधः-आकर्षण नहीं होता। विशुद्ध-साधना का आस्वादन इन्हीं सब स्तरों में हुआ करता है। ये सब शुद्ध-धाम होने पर भी भगवान् के परमधाम नहीं हैं। इन स्थानों से अधोगति अवश्य ही नहीं होती, परन्तु यहाँ अपूर्णता का बोध रहता है। यहाँ मिलन एवं विरह है, उदयास्त है, आविर्भाव तथा तिरोभाव है। यहाँ भगवान की नित्योदित सत्ता का पूर्ण साक्षात्कार नहीं मिलता। मनुष्य का जन्म क्यों होता है? मलिन भोग-वासना ही जन्म के कारण है। कर्तृत्वाभिमान के साथ सकाम-भाव से कर्म करने पर चित्त में नयी-नयी वासनाओं का उदय होता रहता है। उसके प्रभाव से प्राचीन संस्कार जाग्रत् होकर उन्हें पुष्ट करते रहते हैं। कालभेद से विभिन्न वासनायें क्रियमाण-कर्म के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण, साधारणतः विक्षिप्त-चित्त में पूर्वक्षणवर्ती और परक्षणवर्ती वासनाओं में परस्पर विजातीय-भेद होने के कारण, कोई भी वासना प्रबल आकार धारण करके फलोन्मुख नहीं हो सकती। कोई भी पहली वासना आगामी विजातीय वासना के द्वारा दबकर किसी योग्य उद्दीपक-कारण की प्रतीक्षा करती हुई, अव्यक्त-भूमि में सञ्चित रहती है। मन की क्रिया के साथ वासना-भावनादि का स्वाभाविक सम्बन्ध है, परन्तु मन की क्रिया प्राण की क्रिया के साथ सम्बन्धित है। प्राण के निश्चल होने पर मन कार्य नहीं कर सकता। इसी तरह प्राण के सूक्ष्म हो जाने पर मन की क्रिया भी अपेक्षा-कृत सूक्ष्म हो जाती है। इसी के फलस्वरूप जो वासनायें व्यक्त होती हैं या भावनाएँ उदित होती हैं, वे भी सूक्ष्म स्तर की होती हैं। देहस्थ प्राण प्राणवाहिनी शिरा का आधार लेकर कार्य करता है। इसी प्रकार मन भी मनोवहा नाड़ी का अवलम्बन लेकर क्रिया करता है। इसीलिये वासना या भावना के तारतम्य के अनुसार विभिन्न नाड़ियों में क्रियाशीलता देखी जाती है। मनुष्य मृत्यु के पूर्वक्षण जो चिन्तन करता है अर्थात् उस समय उसके चित्त में जिस भावना का उदय होता है, वहीं उसकी अन्तिम चिन्ता या भावना होती है; क्योंकि उसके बाद ही देहगत प्राणों की क्रिया निरुद्ध हो जाती है। इसलिये कोई नई भावना उदय लेकर उस अन्तिम भावना को दबा दे, ऐसी सम्भावना नहीं रहती। अतएव वह अन्तिम भावना ही एकाग्र होकर प्रबल आकार धारण कर लेती है। देहाश्रित विक्षिप्त करण-शक्ति की मृत्युकालीन स्वाभाविक एकाग्रता से भी इस तन्मयता को विशेष पुष्टि मिलती है। एकाग्रता के फलस्वरूप हृदय में एक दिव्यप्रकाश का उदय होता है। मुमूर्षु का (मरनेवाला का) अन्तिम भाव इस ज्योतिर्मय प्रकाश में स्पष्ट विकसित हो उठता है और दृष्टिगोचर होता है। तदनन्तर वह अभिव्यक्त भाव ही जीव को यथोचित नाडी-मार्ग अथवा द्वारपथ से निकालकर बाहर ले जाता है और कर्मानुसार भोगायतन-शरीर ग्रहण करवाकर निर्दिष्ट काल के लिये सुख दुःख का भोग करवाता है।

मृत्युकाल में जिस भाव का उदय होता है, उसका तत्त्व-विश्लेषण करने पर कई बातें जानने में आती हैं। उच्चाधिकार विशिष्ट पुरुष अपने पुरुषार्थ-बल से इष्ट-

भाव-विशेष को प्राप्त करके उसे बनाये रख सकते हैं। मध्यमाधिकारी पुरुष की स्वतन्त्रता परिच्छिन्न होने के कारण मृत्यु के समय हृदय में उस भाव-विशेष को उद्दीपित करने के लिये अथवा जिसमें वह भाव पहले से ही अविच्छिन्न भाव से जाग्रत् रहे, इसके लिये उसकी जीवन भर निर्दिष्ट साधन के द्वारा चेष्टा करनी पड़ती है। प्रतिकूल दैव न होने पर भगवान् के मङ्गल-विधान से उसकी वह चेष्टा सफल हो सकती है। दैवशक्ति अथवा महापुरुषों का अनुग्रह होने पर मृत्यु के समय अपनी ओर से किसी प्रकार की विशेष चेष्टा न होने पर भी, निश्चय ही सद्भाव का जागृति हो सकती है। प्रबल आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न पुरुष की, इष्ट देवता की, सद्गुरु की अथवा ईश्वर की दया को इस अनुकूल दैव-शक्ति के अन्तर्गत ही समझना चाहिये। निम्नस्तर के मनुष्य अधिकांश स्थलों में पूर्व कर्म के अधीन होकर जड़ की भाँति काल के स्रोत में बह जाते हैं।

भाव की जागृति किसी भी प्रकार से हो, भाव के वैशिष्ट्य से ही मृत्यु के बाद जीव की गति निर्दिष्ट होती है। 'जैसा भाव वैसी ही गति' 'अन्त मति सो गति।' जो पुरुष जीवन काल में ही भाव से अतीत हो गये हैं, जो सचमुच जीवन्मुक्त हैं, उनकी कोई गति नहीं है। वासना-शून्य होने पर गति नहीं रहती, वही श्रेष्ठतम परम गति है। गीता में भगवान् कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ (८।५)

'अन्तकाल में भगवद्भाव का स्मरण करते हुए देहत्याग कर सकने पर भगवान् का सायुज्य-लाभ किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

यहाँ एक रहस्य की बात कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक भावोदय के साथ मन, प्राण आदि की अवस्था और नाड़ी-विशेष की क्रिया का सम्बन्ध है। इसी प्रकार मन, प्राण आदि को निर्दिष्ट प्रकार से स्पन्दित कर सकने पर तदनुसार ही भाव का उदय हुआ करता है, फलतः गति के ऊपर उसका प्रभाव कार्य करता है। आसन, मुद्रा, प्राण, क्रिया प्रभृति दैहिक और प्राणिक चेष्टाओं से मनकी क्रिया और भाव आदि नियन्त्रित होते है, इस बात को सभी जानते हैं और क्रिया-रूप में उसका प्रयोग भी किया करते हैं। हमारे यहाँ उसका ज्ञान शास्त्रों में और कुछ थोड़े से महापुरुषों में ही सीमित रह गया है। साधारण लोगों को न उसका कुछ पता है और न उससे कोई लाभ ही उठाते हैं।

गीता के अष्टम अध्याय में दो जगह (श्लोक ९, १० और १२, १३ में) इस विज्ञान का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है। यथा—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(८।९—१०)

अर्थात् 'यदि कोई मृत्यु के समय भक्ति-युक्त होकर स्थिर-चित्त से योगबल के द्वारा सम्यक् प्रकार से भ्रुवों के मध्य में प्राणों को आविष्ट कर के उस तम से अतीत, सूर्य की भाँति दीप्तिशील, समस्त जगत् के कर्ता और उपदेष्टा, परमसूक्ष्म, प्रज्ञानघन, दिव्य-पुराण-पुरुष का स्मरण करता है, वह उनको प्राप्त होता है।'

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्धय च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥

(८।१२—१३)

अर्थात्—'सब द्वारों को संयत करके मन को हृदय में निरुद्ध करके, योगधारणा के द्वारा प्राणों को मूर्द्ध-देश में अथवा मस्तिष्क में स्थापन करके एकाक्षर शब्द-ब्रह्म ॐ कार का उच्चारण और भगवान् का स्मरण करते-करते जो देह-त्याग कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।'

किस प्रकार से देह-त्याग करने पर साक्षात् भाव से भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति की जा सकती है, गीता के उपर्युक्त श्लोकों में उसी का वर्णन किया गया है। विचार-शील पाठक देखेंगे कि इस वर्णन में संक्षेप में अष्टाङ्गयोग, मन्त्र, भक्ति, ज्ञान आदि भगवत्प्रापक सभी साधनाओं का सार उपदेश भरा हुआ है। भगवत्कृपा से इस विज्ञान-रहस्य को जितना कुछ मैं समझ सका हूँ, उसी का किञ्चित् आभास थोड़े शब्दों में देने की चेष्टा की जाती है। मेरी जड़ता के कारण जो त्रुटियाँ दिखलाई पड़ें, सुधीजन दया करके उनके लिए मार्जना करें।

गीता के वचनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ॐ कार के उच्चारण से पूर्व सर्व द्वारों का संयम, हृदय में मन का निरोध और प्राणों का भ्रूमध्यादि (मूर्धापर्यन्त) देश में स्थापन होना आवश्यक है। द्वार-संयम अवश्य ही नवद्वारों का नियन्त्रण है।

मनुष्य का शरीर नव द्वारों वाला है। मृत्यु के समय साधारणतः उन्हीं नव द्वारों में से किसी एक द्वार से प्राण बाहर निकलते हैं। अपने अपने कर्मानुसार पुण्यवान् पुरुष ऊपर के द्वारों से, पापी नीचे के द्वारों से, और मध्य-श्रेणी के पुरुष बीच के द्वारों से जाते हैं (महाभारत-शान्तिपर्व, अध्याय २९८)। जीव जिस प्रकार के द्वार-पथ से बाहर निकलता है, उसकी उत्तर-कालीन गति भी उसी के अनुसार हुआ करती है। अथवा जो जीव जिस प्रकार की गति प्राप्त करने वाला होता है, कर्मदेवता की प्रेरणा से परवश होकर उसे तदनुकूल द्वार से ही बाहर निकलना पड़ता है। परन्तु पुण्यवान् अथवा पापी कोई भी दशम द्वार से अथवा ब्रह्मरन्ध्र-पथ से नहीं निकल सकता। ब्रह्मरन्ध्र उत्क्रमण का मार्ग है। इस पथ से बाहर निकलने पर फिर मानव-आवर्त में पुनरागमन नहीं होता। मृत्युकाल में नौ द्वारों के रोकने का प्रधान उद्देश्य यही है कि उन मार्गों से निकलने पर पुनरावर्तन अवश्यम्भावी है। उनके बन्द कर देने पर अपुनरावृत्ति-द्वार का अथवा ब्रह्म-पथ का खुलना सहज हो जाता है। घड़े के छेद

बन्द न करके उसमें यदि जल भरा जाय, तो जैसे उसमें जल नहीं भरा जा सकता, वैसे ही इन सब बाहरी द्वारों को रोके बिना अन्तर्द्वार के खोलने की चेष्टा व्यर्थ होती है। बाह्य द्वारों के रुक जाने पर निश्चिन्त होकर भीतर का पथ ढूँढ़कर प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु इन द्वारों को किस प्रकार से संयत करना चाहिये, इसके सम्बन्ध में गीता में स्पष्ट उपदेश नहीं दिया गया है। योगी लोग कहते हैं कि यद्यपि नवद्वारों में से किसी एक द्वार का अवलम्बन करके क्रिया के कौशल से इन द्वारों को रोका जा सकता है, तथापि मुद्रा-विशेष के द्वारा गुद-द्वार को रोक दिया जाय तो सहज ही फल प्राप्त हो सकता है। कुछ ही देर तक उस विशिष्ट मुद्रा का अभ्यास करने पर एक आवेश का भाव उत्पन्न होता है, तब बाह्य-ज्ञान लुप्त हो जाता है और सारे द्वार-पथों में ताला सा लग जाता है। यही इन्द्रियों का प्रत्याहार है। परन्तु याद रखना चाहिये कि इस मुद्रा का कार्य करने से पहले पूरक और तदनन्तर कुम्भक प्राणायाम कर लेना आवश्यक है। वायु को स्तम्भित करने के बाद ही मुद्रा का साधन करना पड़ता है। कुम्भक अच्छी तरह कर सकने पर समान-वायु की तेजोवृद्धि होती है। तब प्रबल समान-वायु के द्वारा आकर्षित होकर देह-स्थित सभी नाड़ियाँ (तिर्यक्, ऊर्ध्व और अधःस्थ) मध्यनाड़ी या सुषुम्ना में एकीभूत हो जाती हैं और उन-उन नाड़ियों में सञ्चरणशील वायु-समूह भी समरस होकर एकमात्र प्राण के रूप में परिणत हो जाता है। यही नाड़ी का सामरस्य है। इसके बाद, सुषुम्ना-नाड़ी ऊर्ध्व-स्रोतस्विनी है, या वह ऊपर की ओर बह रही है, इस प्रकार की भावना करनी पड़ती है। सुषुम्ना देह-स्थित सब नाड़ियों के बीच में है। यह नाभि से लेकर मस्तकस्थ ब्रह्म-रन्ध्र का भेद करके शक्ति-स्थान पर्यन्त विस्तृत है। इस साधन के फलस्वरूप सभी नाड़ियाँ और हृदयादि समस्त ग्रन्थि-कमल (कुम्भक और मुद्रा के प्रभाव से) रुककर (भावना के बल से) सर्वतो भाव से विकसित हो जाते हैं, ऊपर की ओर बहने लगते हैं।

हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य आदि स्थानों में प्राण-शक्ति सरल-गति से रहित होकर कुटिल या वक्र हो गयी है। इसी से उन सब स्थानों को ग्रन्थि कहते हैं। ये ग्रन्थियाँ सङ्कोच-विकासशील होने के कारण इन्हें पद्म या कमल भी कहते हैं।

द्वार संयम या प्रत्याहार सिद्ध होने पर, अर्थात् इन्द्रिय और प्राणों के प्रत्याहृत होने पर, मन की बहिर्मुखी प्रेरणा निवृत्त हो जाती है। कारण, इन्द्रिय ही वायु की सहकारिता से मन का बाह्य-जगत् के साथ सम्बन्ध करती है। द्वार-संयम सिद्ध हो जाने पर योग का बहिरङ्ग सम्पन्न हो जाता है।

अन्तरङ्ग-अंश तब भी शेष रहता है, वह मनोनिरोध के द्वारा सम्पन्न होता है। धारणा, ध्यान और समाधि नामक अन्तरङ्ग-योग वस्तुतः मनोनिरोध के ही क्रमिक उत्कर्ष के नाम हैं। मन के निरोध का स्थान है—हृदय। द्वार-संयम के बाद इन्द्रिय-पथ रुक जाने के कारण यद्यपि बाह्य-जगत् में नहीं जाया जा सकता, तथापि वह देह के अन्दर प्राणमय राज्य में अबाध सञ्चरण करता रहता है। इस सञ्चरण के फल-

स्वरूप सुप्त संस्कार-समूह जाग्रत् होकर स्वप्न की भाँति दृश्य एवं दर्शन के कारण बन जाते हैं। स्थिरता-प्राप्ति के मार्ग में यह एक बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। यह पहले कहा जा चुका है कि मन के सञ्चरण-मार्ग का नाम मनोवहा नाड़ी प्रसिद्ध है। देह पूरे में व्याप्त अति सूक्ष्म आध्यात्मिक-वायु के सहारे सूत के तन्तुओं से बने जाल की भाँति एक बहुत ही जटिल नाड़ी-जाल फैला हुआ है। यह देखने में अनेकांश में मछली के जाल के समान है और बीच-बीच में कूट-ग्रन्थियों के द्वारा संयोजित है।[1]

मन सूक्ष्म-प्राण की सहायता से वासनानुसार इन स्थानों में भ्रमण करता है और नाना प्रकार के दृश्य देखता है। इन दृश्यों का देखना और तज्जनित भावों का उदय होना, पूर्व संस्कार का ही पुनः अभिनय है। इन्द्रिय-पथ के द्वारा जो आत्मतेज अबतक बाह्य-जगत् में फैला हुआ था, वही इन्द्रियों के रुक जाने के साथ-साथ उपसंहृत होकर अन्दर संस्कार-राज्य में फैल जाता है। उस समय बाह्य-अनुभव, यहाँ तक कि बाह्य-स्मृति तक लुप्त हो जाती है। इसी से इन संस्कारों के दर्शन अत्यन्त स्पष्ट और जीवित के सदृश अनुभूत होते हैं। साधारणतः बहुत से लोग इनको ध्यान जनित दर्शन कहा करते हैं, परन्तु वास्तव में इनका बहुत अधिक मूल्य नहीं है। विक्षिप्त-चित्त में ही ऐसा हुआ करता है। बाह्य-ज्ञान लुप्त होने के साथ ही इन सारे दर्शनों का उदय होता है। सत्य की खोज में लगे हुए योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह इस प्रकार के दर्शनों से यथासंभव अपने को बचाकर चले, इनमें फँस न जाय। मन की चञ्चलता या चलन-शक्ति के रुके बिना, ऐसा होना संभव नहीं।

परन्तु प्राण को स्थिर किये बिना मन की इस चञ्चलता को दूर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिये द्वार-संयम के बाद और मनोनिरोध के पहले प्राणों को स्थिर करने की आवश्यकता का अनुभव होता है। योग-धारणा के द्वारा देह के अन्दर नाना प्रकार के कार्य करने वाली प्राण-शक्ति को भ्रूमध्य में और भ्रू-मध्य से

---

१. मनोवहा नाड़ी की अनेकों प्रकार की शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा यह जाल बना हुआ है। मन की एक-एक प्रकार की वृत्ति या भाव एक-एक प्रकार की नाड़ी के मार्ग में घूमने फिरने लगता है। ये सभी मार्ग सामान्यतया मनोवहा-नाड़ी होने पर भी, इनमें परस्पर वर्णादिगत अनेकों प्रकार के अवान्तर-भेद हैं। रूप-वाहिनी, शब्द-वाहिनी आदि नाड़ियों के साथ मनोवहा नाड़ी का संयोग है। पञ्चभूत के सार-तेज के द्वारा ही मन का प्रकाश होता है। मनके वृत्ति-भेद में भी पञ्चभूतों का सन्निवेशमूलक तारतम्य है—जैसे क्रोध में तेज और काम में जल इत्यादि का प्राधान्य है (यद्यपि प्रत्येक वृत्ति में ही पञ्चभूतों का अंश है)। पूर्व के अनेक जन्मों की वासनारूपी सूक्ष्म वायु के कण या रेणुओं के द्वारा यह जाल भरा हुआ है। यही सब मनको चञ्चल करते हैं। हृदय के बाहर इस प्रकार एक बड़ा भारी जाल है। इस प्राणमय नाड़ी-जाल के द्वारा सारा शरीर व्याप्त है। यह वायुमण्डल मनका सञ्चार-क्षेत्र है। इसी के अन्दर यथा-स्थान लोक-लोकान्तर भासित होते हैं। चञ्चल मन इसमें सर्वत्र सञ्चरण करता रहता है। इस व्यष्टि-देह की ही भाँति ब्रह्माण्ड में भी सूर्य-मण्डल के बाहर इसी प्रकार का जाल सारे विश्व में व्याप्त है। एक-एक नाड़ी एक-एक रश्मि है, इन रश्मियों के मार्ग से ही प्राण या मन सञ्चरण किया करते हैं, देह के भीतर के लोकों में भी करते हैं और बाहर के लोकों में भी।

मूर्धापर्यन्त स्थापन करना पड़ता है। प्राण-शक्ति के संचार-क्षेत्र असंख्य नाड़ियों को एक नाड़ी में परिणत किये बिना असंख्य प्राण-धाराओं को एकमार्ग पर चलाना और समस्त-प्राणों को एक स्थान में एकत्र करना सहज नहीं होता। श्रीभगवान् ने योग-बल और योग-धारणा के द्वारा इसी योजनात्मक कार्य की ओर सङ्केत किया है। इसे किस प्रकार करना पड़ता है, इसका कुछ आभास ऊपर दिया जा चुका है।[१] द्वार-संयम या प्रत्याहार द्वारा जैसे मन की इन्द्रियाभिमुखी बहुमुखी-धारा रुकती है, वैसे ही इस योग-धारणा के प्रभाव से प्राण की बहुमुखी धाराएँ एकत्र होकर मिल जाती हैं। प्राण की विभिन्न धाराएँ इडा और पिंगला के मार्ग से द्विधा विभक्त होकर सहज ही भ्रू-मध्य में गुप्त धारा सुषुम्ना के साथ मिल कर एक हो जाती हैं, यही ऊर्ध्व में त्रिवेणी-सङ्गम है। अथवा पहले मूलाधार में, अधःस्थ त्रिवेणी-क्षेत्र में, ये दोनों धाराएँ सुषुम्ना के साथ सङ्गत होती हैं। इसके बाद वह एकीभूत हुई धारा क्रमशः ऊपर उठकर भ्रू-मध्य में पहुँच कर स्थिर हो जाती है। इधर विक्षिप्त मनःशक्ति भी चञ्चलता छोड़कर हृदय-प्रदेश में सो जाती है। मन स्थिर होने पर वह नाड़ी-मार्ग में नहीं रहता। नाड़ियाँ मन के सञ्चरण के मार्ग मात्र हैं। मन जितना ही स्थिर होता जाता है, उतना ही नाड़ी-चक्रस्थ वायुमण्डल संकुचित होकर हृदयाकाश में प्रविष्ट हो जाता है। तब मन की चञ्चलता शान्त हो जाती है, मन निरुद्ध-वृत्तिका होकर स्थित रहता है।

यह हृदय या दहर आकाश ही स्थिर मनके रहने का स्थान है।

यतो निर्याति विषयः यस्मिंश्चैव प्रलीयते।
हृदयं तद्विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम् ॥

हृदय पुरीतत्-नाड़ी के द्वारा घिरा हुआ शून्यमय अवकाश है। जब मन इस अवकाश को प्राप्त हो जाता है, तब वह निर्वात-देश में स्थित होने के कारण अचल हो जाता है। यही मन का निरोध है। मन की क्रियाओं का अभाव होने के कारण उस समय वृत्ति-ज्ञान नहीं रहता। इसलिए सुषुप्ति में मानसिक वृत्ति-रूप ज्ञान का अभाव होता है। द्वार-सयम और मनोरोध होने पर सुषुप्ति की अवस्था ही द्योतित होती है। द्वार-सयम हो जाने से इन्द्रियों के विषयों का सन्निकर्ष नहीं रहता, इस कारण जाग्रत्-ज्ञान नहीं होता और मन की वृत्तियों के स्तम्भित हो जाने के फल-स्वरूप स्वप्न-ज्ञान भी नहीं होता। अतएव यह जाग्रत् और स्वप्न नामक दोनों अवस्थाओं से अतीत सुषुप्ति के सदृश एक अवस्था है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

केवल सुषुप्ति के सदृश ही नहीं, यह जड़वत् अवस्था है। कारण, सुषुप्ति में मन के कार्य न करने पर भी, प्राण निष्क्रिय नही रहता। मनुष्य अज्ञान में निमग्न रह सकता है, ज्ञान, और ज्ञानमूलक कोई वृत्ति नहीं रह सकती; किन्तु उस समय भी देह-रक्षण के उपयोगी श्वास-प्रश्वास आदि की प्राण-क्रिया तो होती ही रहती है। परन्तु इस

१. कुम्भक के प्रभाव से समान वायु उत्तेजित होकर सब नाड़ियों को एक नाड़ी में परिणत (नाड़ी साम्यरस्य) और समस्त वायु-समूह को प्राण की धारा में पर्यवसित कर देती है, यही संयोजन की क्रिया है।

अवस्था में प्राण भी अपने-अपने कार्यों से छुट्टी लेकर स्थान-विशेष में स्थिर हो जाते हैं। अतएव ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की भाँति मन और प्राण के भी निस्तब्ध हो जाने के कारण, उस समय मनुष्य एक तरह से शव-अवस्था को प्राप्त हो जाता है, परन्तु मन की यह जो सुषुप्तिवत् स्थिरता है, यह वास्तविक स्थिरता नहीं है। यह तमोगुण का आवरणमात्र है। यह यथार्थ निरोध नहीं है। एकाग्रता के बाद ही निरोध होता है, एक के बाद एक एकाग्रता की समस्त सूक्ष्म-भूमियों को लाँघ जाने पर निरोध अपने-आप ही आ जाता है, इसीलिए योगी लोग सम्प्रज्ञात-समाधि के बाद ही निरोधात्मक असम्प्रज्ञात-समाधि को योग पद पर वरण करते हैं। यही 'उपाय-प्रत्यय' है। सम्प्रज्ञात के हुए बिना प्राकृतिक कारण वश यदि मन का निरोध हो जाता है, तो वह असम्प्रज्ञात होने पर भी 'भव-प्रत्यय' योग-पद का वाच्य नहीं है।

मन को संस्कृत या शुद्ध किये बिना उसे स्थायी रूप में निरुद्ध नहीं किया जा सकता, कारण; उसमें बीज का ध्वंस नहीं होता। डूबी हुई चीज के पुनः ऊपर उठ आने की भाँति उसका फिर व्युत्थान होता है, पुनरावृत्ति होती है। प्रज्ञा का उदय होकर क्रमशः उसका निरोध होना ही आवश्यक है। जैसे पूर्णिमा के बाद चन्द्रकला का क्रमशः क्षय होते-होते बिलकुल कलाहीन अमावस्या हो जाती है, वैसे ही इसको भी समझना चाहिये।

इसलिये हृदय से मन को चेतन करके उठाना होगा। वस्तुतः चेतन करना और उठाना एक ही चीज है। सुषुम्ना का स्रोत ही चैतन्य की धारा है, मन को जगाकर ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना की धारा में डाल देना होगा। यह जाग्रत् मन ही मन्त्र स्वरूप है, जिसको एक तरह से प्रबुद्ध-कुण्डलिनी की स्फूर्ति भी कहा जा सकता है। शिवसूत्र में एक सूत्र है—चित्तं मन्त्रः। इस सूत्र में इसीलिये चित्त या मन को मन्त्र कहा गया है। प्राण सुषुम्ना के स्रोत में बहकर ऊपर चले गये हैं। मन को भी उसी स्रोत का सहारा पकड़ना होगा, तभी प्राण और मन का पूर्ण मिलन सम्भव होगा। इस मिलन से ही दिव्य-ज्ञान का उदय होता है। अतएव हृदय में जिस मन के रोकने की बात कही गयी है, उसे अशुद्ध-मन का रोध ही समझना चाहिये। इसके बाद विशुद्ध सत्त्वात्मक मन का विकास (ऊर्ध्वारोहण मार्ग से), उसका क्रमिक क्षय और गीता के ॐ कार के उच्चारण का कार्य होता है।

और एक बात है। हृदयरूपी शून्य में जैसे असंख्य नाड़ियों का पर्यवसान होता है, वैसे ही असंख्य नाड़ियों के एकीभूत होने पर जिस ऊर्ध्वस्रोता महानाड़ी का विकास होता है, उसका भी पर्यवसान एक महाशून्य में हुआ करता है। हृदयाकाश में जैसे सञ्चार नहीं है, वैसे ही इस महाकाश में भी सञ्चार नहीं है। परन्तु हृदयाकाश जैसे गतागत के अतीत नहीं है, कारण; बहुमुखी मन यहाँ आकर लीन होने पर भी व्युत्थित हो, फिर बहुमुखी होकर दौड़ता है। वैसे ही यह महाकाश भी गतागत से अतीत नहीं है। यहाँ एकीभूत मन विलीन होने पर भी वह फिर उठकर एकमुखी होकर चलता रहता है। यद्यपि यहाँ मन की बहुमुखी गति पहले ही निवृत्त हो चुकी है, पर उसकी एकमुखी गति तो है ही, गति का सर्वथा निरोध नहीं है। यह नित्य स्थिर निर्वि-

कार अवस्था नहीं है। इसलिये इस महाकाश से भी मन को ऊपर उठाना होगा। इसके ऊपर उठाने पर वहाँ न नाड़ी है और न गति ही है। यह निरोधावस्था है। परन्तु गति न होने पर भी, वहाँ भी मन का कम्पन रहता है; वह है—विकल्प या मन का स्वभाव। इस विकल्प का भी उदयास्त है। जब इस कम्पन का भी पर्यवसान हो जाता है, तभी विकल्प-हीन चैतन्य-सूर्य का साक्षात्कार होता है। यह विकल्प मन की अतीत भूमि है। इसका उदयास्त नहीं है, इसलिये यह नित्योदित है, नित्य प्रकाशमान है। यह पूर्ण प्रकाश-स्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। विकल्प-हीन मन तब इस प्रकाश के साथ अभिन्न होकर विमर्श-रूप में अथवा चिदानन्दमयी स्वरूप-शक्ति के रूप में स्थित रहता है। यह स्वरूप-विमर्श ही ब्रह्म-विद्या है। परावाक् अथवा शब्द-ब्रह्मरूप ॐकार है। यह निष्कल होकर भी समस्त विद्यास्वरूपा है।

अतएव हृदय से मूलमन्त्रस्वरूप इस ॐकार का उच्चारण ही पूर्ण ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का सोपान है। निष्कल ॐकार में उसकी ग्यारह कलायें भासती हैं। उच्चारण के प्रभाव से एक के बाद एक कला का विकास होता है और तत्तत् अनुभूतियों की जागृति होती है। क्रम-विकास के मार्ग में निम्नस्थ कला की अनुभूति ऊर्ध्वस्थ कला की अनुभूति में स्थित हो जाती है। योगी लोग ग्यारह कलाओं को अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना--इन ग्यारह नामों से पुकारते हैं। ॐ कार की इन ग्यारह कलाओं के अनुभव के बाद ही उसके निष्कल अनुभव का उदय होता है, वही परमानुभूति है। ये दोनों अनुभूतियाँ मिलकर ही पूर्ण ब्रह्मविद्या कहलाती हैं। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जो मार्ग गया है, उसी मार्ग को पकड़ कर साधक को चलना होता है। प्रणव की सारी कलाओं, उनसे सम्बन्धित देवताओं और स्तरों का अनुभव इसी मार्ग में हुआ करता है। हृदय, कण्ठ और तालुमूल—ये तीन स्थान अ, उ और म इन तीन कलाओं के केन्द्र हैं। तालु माया-ग्रन्थि का स्थान है, हृदय और कण्ठ भी ग्रन्थि-स्वरूप हैं। भ्रू-मध्य-विन्दु ग्रन्थि का स्थान है, यहाँ ज्योति के दर्शन होते हैं। यह ज्योति अ, ऊ और म—इन तीन मात्राओं के मन्थन से निकला हुआ, उन्हीं का सारभूत तेज है। इन तीन मात्राओं में जगत् के सारे भेद और वैचित्र्य भरे हैं और विन्दु उनका संक्षिप्त, अविभक्त ज्ञानात्मक स्वरूप है। अतएव समस्त मायिक जगत् इन पहली तीन कलाओं में ही स्थित है। इसमें कोई सन्देह नहीं। स्थूल, पुर्यष्टक (लिङ्ग) और शून्य अथवा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन भागों में विभक्त समग्र द्वैत-जगत्, इन तीन कलाओं में प्रतिष्ठित है। चतुर्दश-भुवनान्तर्गत ब्रह्माण्ड इसी का एक देशमात्र है। माया-ग्रन्थि का भेद होने के साथ ही मायिक जगत् और उसकी कारणभूता माया अतिक्रान्त हो जाती हैं। मायिक जगत् में मन्त्र और देवता अथवा वाच्य और वाचक का भेद रहता है। इस जगत् में द्रष्टा दृश्यमात्र को अपने से अलग देखता है। यह भेद-दर्शन माया का कार्य है और सभी मायिक स्तरों में इसकी उपलब्धि होती है। विन्दु में इस वैचित्र्य के अनुगत केवल अभेद के दर्शन होते हैं। यही अनन्त भेदों का एकीभूत भाव में अथवा अविभक्त रूप में दीखना है। अनन्त ज्ञेय पदार्थ यहाँ एक ज्ञान के आकार में

प्रतिभासित होते हैं, यही ज्योति रूप में उनका दृष्टिगोचर होना है। यह ज्योतिरूप बिन्दु ही ईश्वर-तत्त्व की अधिष्ठान-भूमि है। ईश्वर योगीश्वर हैं। साधक बिन्दु का साक्षात्कार कर के एक प्रकार से अखिल स्थूल प्रपञ्च के ही दर्शन करता है। बिन्दु ध्यान के फलस्वरूप त्रिकालदर्शी होने का यही कारण है। ध्यान के उत्कर्ष से ईश्वर-सायुज्य तक प्राप्त हो सकता है। इस बिन्दु-सिद्धि को ही लौकिक-दृष्टि में दिव्य-चक्षु अथवा तीसरे नेत्र का खुल जाना कहते हैं।

योगी लोग 'बिन्दु' से समना तक आठ पदों का परिचय प्राप्त करते हैं ये सब[1]

१. बिन्दु-भेद होते ही एक प्रकार से भेदमय संसार का उल्लङ्घन हो जाता है, तब साधक स्थूल और सूक्ष्म-देह से मुक्त हो जाता है। स्थूल-देह प्रसिद्ध षाट्कौशिक-देह है। सूक्ष्म-देह दो प्रकार की है—एक· पुर्यष्टक स्वरूप, पाँच तन्मात्रायें और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार इन आठ अवयवों वाली (इसीको सांख्य-दर्शन में सतरह या अठारह अवयव-युक्त लिङ्गशरीर कहा गया है।) दूसरी शून्य-देह के नाम से प्रसिद्ध है, यह निरवयव है। जाग्रत्-काल में प्राण स्थूल-देह में, स्वप्न-काल में पुर्यष्टक में और सुषुप्ति में शून्य-देह में रहते हैं। बिन्दु के अतिक्रम कर जाने पर जीव इन तीन देहों से और जाग्रत् स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं से अतीत हो जाता है। बिन्दु ईश्वर-वाचक है, स्वयं ईश्वर है। इसके ऊपर ललाट-देश में **अर्धचन्द्र** और उसके कुछ ऊपर **निरोधिका** है। यह निरोधिका-कला साधारण योगी की ऊर्ध्व गति में प्रतिबन्धक है। एक बिन्दु-ज्योति ही अर्धचन्द्र और निरोधिका-पर्यन्त व्याप्त है। बिन्दु में ज्ञेय का प्राधान्य रहता है, यद्यपि ज्ञेय अविभक्त एकाकार ज्योति-मात्र है। अर्धचन्द्र में ज्ञेय-प्राधान्य बहुत कम है। निरोधिका में ज्ञेय-प्राधान्य बिलकुल नहीं रहता। बिन्दु आदि तीनों कलाओं में प्रत्येक में पाँच अवान्तर कलाएँ हैं। इसीसे उस ज्योति में पन्द्रह कलाएँ भासती हैं। यह बिन्दु आवरण ही प्रथम आवरण है। इस आवरण में तीन सूक्ष्म स्तर हैं। इसके बाद मन्त्रस्रोत महारन्ध्र या शक्ति-स्थान की ओर प्रवाहित होकर पहले **नाद** और फिर **नादान्त** भूमिमें पहुँचता है।

ललाट से मूर्धा पर्यन्त यह भूमि-व्याप्त है। बिन्दु-तत्त्व में जिस ज्ञेय-प्राधान्य का परिचय पाया जाता है, वह निरोधिका में शान्त हो जाता है; इसलिए नाद-भूमि में समस्त वाचकों या मन्त्रों की अभिन्नता का अनुभव प्रधानतया हुआ करता है। बिन्दु में वाच्य और वाचक का भेद लुप्त होने पर भी, विभिन्न वाचकों के पारस्परिक भेद लुप्त नहीं होते। नाद और नादान्त में वे भी लुप्त हो जाते हैं। यहाँ सभी मन्त्रों की अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है। इस भूमि के अधिष्ठाता सदाशिव हैं। इस नादावरण में पाँच, और नादान्त में एक सूक्ष्मस्तर है, नादान्त में जो सूक्ष्म-स्तर है, उसके साथ सुषुम्ना नाडी का साक्षात् सम्बन्ध है। यहाँ नादका विश्राम होता है।—इसीको ब्रह्म-रन्ध्र कहते हैं।

यही देह का ऊर्ध्व-छिद्र है। इसको भेद करना अत्यन्त कठिन है। मूर्धा के मध्यदेश में **शक्ति का** स्थान है—यहाँ श्वास-प्रश्वास के अथवा प्राणायाम के मिलने का कारण एक अनिर्वचनीय स्पर्शमय तीव्र आनन्द की अनुभूति है। यहाँ केवल सुषुम्ना की क्रिया रहती है, यहाँ सृष्टि-प्रलय का द्वन्द्व नहीं है, केवल सृष्टि भासती है, दिन-रात एकाकार होकर दिन मात्र रह जाता है। हृदय से सूक्ष्म प्राणों का सञ्चरण इस शक्ति स्थान तक हुआ करता है। इस शक्त्यावरण में परा शक्ति का एक स्तर है, अत्यन्त दुर्भेद्य इस शक्ति-कला को भेद करके योगी ऊर्ध्व प्रवेश-मार्ग में **व्यापिनी** अथवा महाशून्य में प्रवेश कर करते हैं। वहाँ प्राणों का सञ्चरण नहीं है, सुषुम्ना की क्रिया भी अस्तमित है। नित्य-सर्ग का अन्त है; महादिन भी नहीं है; कलनात्मक काल यहाँ साम्यरूप में स्थित है। यह महाशून्य ही शक्ति-पर्यन्त नीचे

आज्ञा-चक्र से सहस्रार की कर्णिका तक फैले हुए विशाल-मार्ग के अन्तर्गत हैं। यह मार्ग माया से अतीत होने पर भी, महामाया की सीमा के अन्तर्गत है। जो लोग अशुद्ध विकल्प-जालरूपी भेदमय जगत् से मुक्त होना ही वाञ्छनीय समझते हैं, वे आज्ञा-चक्र का भेद कर के महामाया के राज्य में प्रवेश करने को ही मुक्ति मानते हैं। परन्तु वस्तुतः यही मुक्तिपद नहीं है। यद्यपि यहाँ कर्मजाल उपसंहृत है, माया क्षीण है; तथापि विशुद्ध-विकल्प तो है ही। परम-पद के यात्री के लिये यह भी बन्धन-स्वरूप है। महामाया के राज्य में भेदाभेद-मय अभेद-दर्शन होने के कारण इसके उपादेय होने पर भी, परम उपादेय नहीं है। कारण, भेद-दर्शन का सम्यक् रूप से अन्त हुए बिना अर्थात् निर्विकल्प-पद पर अधिरूढ़ हुये बिना पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती।

मायिक जगत् में जैसे विविध लोक हैं, महामाया के शुद्ध-राज्य में भी वैसे ही अनेकों धाम हैं। प्रत्येक स्तर में उस स्तर के उपयोगी जीव हैं, भोग्यवस्तु हैं, और भोगों के उपकरण हैं। प्रत्येक स्तर की अनुभूति विलक्षण है, जितना ही ऊँचा आरोहण किया जाता है, उतना ही अभेदानुभव बढ़ता जाता है। ऐश्वर्य और शक्ति प्रबल होती जाती है। व्याप्ति बढ़ती जाती है और देशकाल-गत परिच्छेद घटता जाता है।

'अ' कार की मात्रा १, 'उ' कार की मात्रा २, और 'म' कार की ३, सब मिलकर ६ मात्रायें हैं। बिन्दु अर्धमात्रा है, अर्धचन्द्र आदि की मात्रा क्रमशः और भी कम है। बिन्दु से 'समना' तक मात्रांश को जोड़ देने पर १ मात्रा होती है।[१] यद्यपि मायाजगत् में मन्त्र की ६ मात्राएँ हैं, परन्तु मायातीत-पद में वह केवल एक ही मात्रा है। वह एक मात्रा भी सूक्ष्म है और सूक्ष्मतर होते-होते सर्वत्र व्याप्त होकर कार्य करती है।

हम पहले ही कह आये हैं कि बिन्दु में ज्ञेय और ज्ञान अथवा वाच्य और वाचक अभिन्नरूप में ज्योति के आकार में स्फुरित होते हैं। यह अभिन्नता ऊपर और भी परिस्फुट होती है। जितना ही उपर चढ़ा जाता है, उतना ही ज्ञानात्मक ज्ञेयभाव

के समस्त विश्व में व्यापक है। स्मरण रखना चाहिये कि यह महाशून्य भी ॐ कार की ही एक कला है, इसमें पाँच अवान्तर कलाएँ हैं और उनमें प्रत्एक में एक एक स्तर हैं, विशेष प्रक्रिया के बिना इस महाशून्य को भेद करना और परागति प्राप्त करना संभव नहीं। इस प्रक्रिया को योगीलोग दिव्य-करण कहते हैं। दिव्यज्ञान का उन्मेष होता है। इस महाशून्य के बाद की अवस्था में महामाया का साक्षात्कार होता है। यही प्रणव की अंतिम कला है। योगी लोग इसी को मनस्वरूप वा इच्छाशक्ति कहा करते हैं। इसके बाद ही निष्कल परमपद है, जहाँ ॐ कार परब्रह्म के साथ अभिन्न है।

१. भागांश इस प्रकार हैं :—

बिन्दु	१/२ मात्रा	जोड़—१ मात्रा
अर्धचन्द्र	१/४ मात्रा	
निरोधिनी	१/८ मात्रा	
नाद	१/१६ मात्रा	
नादान्त	१/३२ मात्रा	
शक्ति	१/६४ मात्रा	
व्यापिनी	१/१२८ मात्रा	
समना	१/१२८ मात्रा	

क्रमशः चला जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनों में प्रथमावस्था में (माया की भूमि में) परस्पर स्पष्ट ही अत्यन्त पार्थक्य दिखलायी देता है। फिर अनन्त ज्ञेय-राशि एक विशाल ज्ञान में पिण्डित होकर उसके साथ अभिन्न-भाव से प्रकाशित होती है, तब एक ही अभेद-ज्ञान रह जाता है; उसीके अन्दर सारे भेद निहित रहते हैं। यह ज्ञान और वह प्राथमिक ज्ञान एक नहीं है। प्राथमिक ज्ञान अशुद्ध विकल्परूप था और यह ज्ञान विकल्परूप होने पर भी, विशुद्ध है। इसके बाद क्रमशः यह विशुद्ध-विकल्प भी शान्त होता जाता है। महामाया की ऊर्ध्व-सीमा का अतिक्रमण करने के साथ-साथ यह विशुद्ध-विकल्प भी बिल्कुल शान्त हो जाता है। अर्थात् यह विशुद्ध-विकल्प ज्ञाता में अस्तमित हो जाता है। तब एक मात्र ज्ञाता ही रह जाता है। यही शुद्ध आत्मा की द्रष्टारूप में स्वरूपावस्थिति है। कहना नहीं होगा कि पूर्वावस्था का ज्ञाता और यहाँ का ज्ञाता या द्रष्टा, एक-सा नहीं है। उस ज्ञाता में विकल्प का संस्पर्श था, उसके ज्ञान से विकल्प हट नहीं गया था; परन्तु यह ज्ञाता विकल्प से अतीत है। इस अवस्था में द्रष्टा आत्मा समग्र मनोराज्य और विकल्पमय विश्व से उत्तीर्ण होकर अपने बोधमात्र-स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। यह विश्वातीत आत्मा निर्विकल्प-ज्ञान के प्रभाव से समना-भूमि को लाँघ कर अपने को निर्मल और निर्विकल्प समझता है। परन्तु इसमें भी पूर्णता नहीं है। कारण; इस अवस्था में विश्व अथवा विकल्प से अपने शुद्ध विकल्पातीतरूप का भेद वर्तमान रहता है। इसमें भी पूर्णता का संकोच है। इसके बाद पराशक्ति के अथवा उन्मना-शक्ति के आश्रय से केवली पुरुष परमावस्था या पूर्ण ब्रह्मरूप में स्थिति प्राप्त करता है, तब विकल्प और निर्विकल्प का भेद भी मिट जाता है। इसीलिये पूर्ण सत्य ही अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति में या अपनी स्वरूप-महिमा में अपने निरंजन-स्वभाव से अच्युत रहता हुआ ही, विश्वरूप में प्रतिभासित होता है।

ॐकार की ग्यारहवीं कला की अनुभूति ही समस्त अनुभूतियों में चरम महामाया अथवा समना-शक्ति की अनुभूति है। इसमें नीचे की समस्त स्तरों की अनुभूतियाँ अंगीभूतरूप से वर्तमान रहती हैं। यही आत्मा का भिन्नाभिन्नरूप में विश्व-रूप-दर्शन है। पूर्ण निर्विकल्प-ज्ञान से पूर्व इसका निश्चय ही उदय होता है। ॐकार की यह अन्तिम कला या महामाया ही विकल्प या इच्छाशक्तिरूपिणी है, यही विशुद्धतम मन का स्वरूप है। इस अवस्था में जो मननात्मक बोध अवशिष्ट रहता है, उसमें कोई भी विषय नहीं रहता, सारे विषय पहले ही क्षीण हो जाते हैं। यह मन्तव्यहीन मनन इसीलिये अविकल्प है। पर इस मनन का भी त्याग करना पड़ता है। अविकल्प-मन के द्वारा ही इस अविकल्पात्मक शुद्ध-मन का परिहार होता है। शुद्ध-मन एकाग्रता का प्रकर्ष प्राप्त करते ही त्यक्त हो जाता है। मन के त्याग का अर्थ आत्मा या जीव के सङ्कोचात्मक ज्ञानका प्रशमन समझना चाहिये। इस सङ्कोचात्मक ज्ञान का स्वरूप है—ज्ञेयाभ्यास के ग्रहण की इच्छा। इस इच्छा के त्याग से ही आत्मा, सत्ता या चिन्मात्र स्वरूप में स्थित होता है। यह विशुद्ध कैवल्य-दशा है, मन की अतीत इच्छाहीन अवस्था है। परन्तु यह

भी परम-पद नहीं है, भगवत्साधर्म्य नहीं है, पूर्णाहंता और चिदानन्द-रसघन-स्वातन्त्र्य-मय रूप इसका नहीं है। इसीलिये आत्मा विश्वातीत रहने पर भी, अपूर्ण रहता है; मुक्त होने पर भी, भगवद्धर्म से वञ्चित रहता है। यहीं पर भगवान् की स्वतन्त्र-भूता नित्य-समवेता स्वरूपाशक्ति या उन्मनाशक्ति की उल्लासरूपिणी 'पराभक्ति' आवश्यक होती है। 'भक्त्या युक्तः' (गीता ८।१०) से भगवान् ने पराभक्ति का ही लक्ष्य कराया है। उन्मनाशक्ति एक ही साथ अशेष विश्व के अभेद-दर्शन में स्फुरित होती है। आत्मा इस शक्ति के आश्रित होकर भगवान् के साथ एकात्मकता या पूर्णता प्राप्त करता है, फिर चलन नहीं रह जाता। सङ्कोच बिल्कुल ही मिट जाता है। आत्मा व्यापकत्व प्राप्त कर के एक ही साथ विश्वरूप में प्रकाशित होता है। अर्थात् पहले आत्मा विश्व को अतिक्रम कर के अपने निर्विकल्प-पद को पहुँचता है, फिर भगवान् की परमा शक्ति के अनुग्रह से अपने पूर्णत्व को उपलब्ध करता है, भगवान् से अभिन्नता का अनुभव करता है। तब वह अनुभव करता है कि उस पूर्ण सामरस्यमय स्वरूप में एक ओर जैसे अनन्त-शक्ति का सामरस्य है, दूसरी ओर वैसे ही शक्ति और शक्तिमान् का भी सामरस्य है। उसमें विश्व और विश्वातीत एक अखण्ड-बोध या प्रकाश के रूप में स्फुरित होता है। बन्धन-मोक्ष का भेद, सविकल्पक-निर्विकल्पक का भेद, मन और आत्मा का भेद एवं दृश्य और द्रष्टा का भेद; सदा के लिये सर्वथा मिट जाता है। इस अवस्थातीत-अवस्था की उपलब्धि ही परा-गति है। गीता में भगवान् कहते हैं—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (८।२२)

परम पुरुष ही समग्र विश्व में व्यापक हैं, उन्हीं के अन्दर सर्वभूत (विश्व) विद्यमान है, इस बात का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। अनन्य-भक्ति और पराभक्ति के अतिरिक्त उनके इस परम स्वरूप को प्राप्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह विश्वरूप ही उनका 'परमरूप' है, इस बात को भगवान् ने अर्जुन से स्पष्ट ही कहा है (गीता ११।४७)। यह 'तेजोमय' शुद्ध चिन्मय रूप है; वेत्ता और वेद्य, ज्ञाता और ज्ञेय इसके अन्तर्गत हैं (गीता ११।३८) यही 'परमधाम' है (गीता ११।३८)।

मृत्युकाल में प्रणव का उच्चारण करते-करते कला-त्याग होने पर निष्कल परा-विद्या या दिव्य-ज्ञान का आविर्भाव होता है, तब भगवान् की अनन्य-भक्ति के प्रभाव से उनका परमरूप प्रकाशित हो उठता है। यही मरणोत्तर परमा गति है।

वस्तुतः यह मृत्युकालीन 'निर्बीज' वैज्ञानिक-दीक्षा का फल है। शास्त्रों में इसकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है।

परम-पद

प्राचीन संस्कृत-साहित्य के विभिन्न स्थलों में वर्णित है कि परम-पद मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। परन्तु उसका स्वरूप क्या है, इस विषय में सर्वत्र स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता। वेद में आया है—'तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्'। इससे प्रतीत होता है कि दिव्य सूरिगण विष्णु के परम-पद को निरन्तर निर्निमेष-दृष्टि से देखते हैं, इसका स्वरूप ठीक एक चक्षु के आकार के सदृश है। द्युलोक में व्याप्त चक्षु का आकार जैसा है, इसका आकार भी ठीक वैसा ही समझना चाहिये। 'सदा पश्यन्ति' इस वाक्यांश से प्रतीत होता है कि इस पद का दर्शन निमेष-उन्मेषयुक्त-दृष्टि से हो नहीं सकता। जब तक दृष्टि की निमेष तथा उन्मेष-क्रिया निवृत्त नहीं होती, तब तक परम-पद का दर्शन दुर्घट है। दृष्टि के उन्मेषादि-व्यापार वस्तुतः प्राण तथा मन के चंचल होने के कारण होते हैं। जब प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं तब केवल ज्ञान-नेत्र से इस प्रकार के दर्शन होते हैं। ज्ञान-नेत्र ही मनुष्य के तृतीय नेत्र के रूप से प्रसिद्ध है। जब तक इस ज्ञान-नेत्र का उन्मीलन नहीं होता, तब तक अर्थात् अज्ञानावस्था में परम-पद का दर्शन नहीं हो पाता। इस पद में प्रवेश हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर इस मन्त्र में नहीं है; किन्तु इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर हो सकते हैं। निम्नाङ्कित परिलेख से यह विषय विशेष रूप से स्पष्ट होगा।

परम-पद (सूरियों की दृष्टि में सदा प्रकाशमान)

प्रवेश योग्य				प्रवेश योग्य नहीं (५)
देहावस्था में		देहान्त में		
प्रवेश करने पर देहपात होता है, निर्गम नहीं होता। यह अपक्व-देह की बात है। (१)	प्रवेश करने पर भी देह रहती है, परन्तु देह का बोध नहीं रहता। निर्गम के साथ ही साथ देह-बोध का उदय होता है। यह पक्व या सिद्ध-देह की बात है। (२)	स्वेच्छा से देह-बोध त्याग करने पर प्रवेश होता है। (३)	मृत्युकाल में देह-बोध निवृत्त होने पर प्रवेश होता है। (४)	

ऊपर अङ्कित तालिका में पाँच विकल्पों का निर्देश मिलता है। पहले तो यह मान लिया गया है कि परम-पद में प्रवेश नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि आज तक कोई उसमें प्रवेश नहीं कर सका। यह पंचम-कोटि का सिद्धान्त है, परन्तु दिव्य सूरिगण परम-पद का दर्शन करते हैं। यदि ऐसा न होता तो इस विषय में किसी प्रकार की समीक्षा ही नहीं हो सकती। उक्त सूरियों की देह त्रिगुणात्मक नहीं है, परन्तु अप्राकृत, विशुद्ध-सत्त्वमय है। किसी-किसी सूरि की देह में उसके साथ ही साथ प्राकृत गुणों का समावेश भी रहता है। जिनकी देहमें प्राकृत गुणों का सम्बन्ध बिल्कुल नहीं रहता, उनका नाम 'दिव्य-सूरि' है; और लोग केवलमात्र 'सूरि' कहे जाते हैं।

१. यह उस अवस्था का नाम है, जिसमें प्राकृत-देह का पाक नहीं हुआ तथा अप्राकृत-अवस्था का उन्मेष भी नहीं हुआ। इस अवस्था में, उक्त पद में प्रवेश करने पर प्राकृत देह छूट जाती है तथा अनुदित अप्राकृत-देह परम-धाम में ही रह जाती है, लौटती नहीं।

२-३—यह पक्व-देह की बात है। इस देह का यथार्थ नाम है—सिद्ध-देह। इसमें प्रवेश करने पर सिद्ध-देह प्रणव-देह के रूप में परिणत हो जाती है।

निर्गम होने पर सिद्ध-देह रह जाती है, मृत्यु नहीं होती। द्वितीय तथा तृतीय दोनों ही अवस्थाओं में ही अमरत्व की प्राप्ति है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् के परम-धाम का वर्णन है—'तद्धाम परमं मम।' इस धाम का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें प्रवेश होता है, परन्तु इससे प्रत्यावर्तन नहीं होता। इसीलिए कहा गया है—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते'। यह स्थान चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि के नियन्त्रण से ऊपर है। इससे सिद्ध होता है कि यह व्युत्थानहीन निरोध के सदृश एक अवस्था-विशेष है। निरोध तथा व्युत्थान एक ही पर्याय की दो अवस्थायें हैं। परन्तु ऐसी अवस्था भी है, जब निरोध के बाद व्युत्थान होता ही नहीं; इसे प्रत्यभिज्ञाहृदय में नित्योदित-समाधि कही गयी है। इस अवस्था में तथाकथित व्युत्थान होने पर भी समाधि का एकरस भाव छूटता नहीं। क्रमसूत्र में इसके स्वरूप के विषय में विवरण मिलता है। अवश्य, उसके बाद निरोध भी नहीं होता। यह ज्ञान-संप्रसाद, वैराग्य या धर्ममेघ-समाधि की अवस्था है। दश बोधिसत्त्व-भूमियों की स्थिति में यही दशम या अन्तिम भूमि के रूप में है। प्राचीन बौद्धों के संज्ञावेदना-निरोध के साथ इसकी तुलना हो सकती है। अस्पर्शयोग भी इसके ही अनुरूप योग-स्थिति है।

गीता में स्थानान्तर में प्रवेश की बात भी है। यथा—'विशते तदनन्तरम्।'

जब विष्णु का पर-पद है, तब अपर-पद भी मानने पड़ेंगे। वे भी भगवद्धाम हैं, परन्तु उनमें से अवतरण होता है अर्थात् उनमें प्रवेश करने के बाद उन से प्रत्यावर्तन हो सकता है।

वैष्णव-सम्प्रदाय में, विशेषकर श्रीसम्प्रदाय में परम-पद वास्तव में पर-व्योम, परम-व्योम, वैकुण्ठ आदि विभिन्न नामों से भी अभिहित होते हैं। भगवान् की यही नित्यविभूति है। उनकी लीलाविभूति भी है। उनके चार चरणों में त्रिपादविभूति

नित्य है और एकपाद-विभूति लीलारूप है। नित्य-विभूति[१] अप्राकृत, अरञ्चित, उदयास्त-हीन और स्वयंप्रकाश है।

इस परम पद के विषय में आलोचना के योग्य विभिन्न तत्त्व हैं। यहाँ जो वैकुण्ठ शब्द का प्रयोग किया गया है, यह सामान्य अर्थ में समझना चाहिये। मध्व-सम्प्रदाय के आचार्यगण अनन्तासन, श्वेतद्वीप और वैकुण्ठ में भेद मानते हैं। इनके मत में परम-पद 'दिवः परः' अर्थात् द्युलोक के ऊपर हैं। पृथ्वी में द्युलोक है महामेरु, उसके परवर्ती जो अनन्तासन है, वे ही 'दिवः परः' हैं। परन्तु आकाश में द्युलोक सूर्य-मण्डल है, उसके परवर्ती श्वेतद्वीप है—'दिवः परः'। द्युलोक में द्युलोक है—इन्द्रसदन। उसके परवर्ती वैकुण्ठ है—'दिवः परः'। इस प्रकार एक ही 'दिवः परः' को दृष्टिकोण के भेद के अनुसार तीन नामों से अंकित किया गया है। परम-पद एक ही है, परन्तु लोकत्रय के अन्तर्गत प्रतिलोक के द्युलोक से वह दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए उसे 'दिवः परः' कहा गया है। ये तीनों नाम अलग-अलग हैं।

ऋग्वेद में भी उसको परव्योम या परमव्योम कहा गया है, यथा—'ऋचोऽक्षरे परम व्योमन्'। इस परव्योम के तीन चन्द्र हैं, जिनका वर्णन महानारायणोपनिषद् में है।

पहले जो 'दिवः परः' के प्रसंग में श्वेतद्वीपादि तीन नामों का उल्लेख मिलता है, उनके साथ इन तीन विभागों का कोई विशेष सम्बन्ध है, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

ब्रह्म की नित्य-विभूति त्रिपाद है और लीला-विभूति एकपाद है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डसमन्वित प्रकृति इस एकपाद-विभूति के अन्तर्गत है। बीच में जो व्यवधान है, उसका नाम विरजा है। यह कारण-सलिलात्मक है। जीव की कारणदेह इसी स्थान में विगलित होती है। सूर्यमण्डल का भेद किये बिना विरजा की प्राप्ति नहीं होती। सूर्यमण्डल में लिंग-देह निवृत्त हो जाता है। उत्क्रमणकाल में ब्रह्म-रन्ध्र का भेद करने के बाद स्थूल-देह का त्याग किया जाता है। सुषुम्ना-रश्मि से चलते-चलते सूर्यमण्डल में प्रवेश होता है। उसके बाद विरजा में अवगाहन होता है। उसके प्रभाव से कारण-सत्ता का लय हो जाता है। वहाँ से व्युत्थान-लाभ करने के बाद विशुद्ध-देह की प्राप्ति होती है, जिसके साथ वैकुण्ठ में प्रवेश होता है। यह शुद्ध देह पंच-ब्रह्ममय या पंच-उपनिषन्मय दोनों समझना चाहिये। यह अप्राकृत विशुद्ध-सत्त्वमय दिव्यदेह है।

यह ब्रह्माण्ड चतुर्दश भुवनात्मक है। इसके बाहर दशगुण व्यवधान में स्थित विचित्र आवरण है। सबसे बाहर परमव्योम माना जाता है। इसका स्वरूप कैसा है वह ब्रह्मादिकों के भी वाक् और मन का अगोचर है। वैकुण्ठ ही दिव्य-लोक है। समग्र कार्य-कारण से यह अतीत है।

आचार्य वेदान्तदेशिक का मत है कि विशुद्ध-सत्त्व या परम-व्योम ही परम पद के नाम से अध्यात्मशास्त्र में प्रसिद्ध है। उपनिषद् में 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' कह कर संदर्भ में इसी का ही निर्देश किया गया है। यह पद है अर्थात् स्थान-विशेष

१. द्रष्टव्य—१ 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' २ 'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः' ३ 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके'—यही सब नित्य-विभूति के वैदिक प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत में (२-९-१०) भी इसकी चर्चा है।

है, स्वरूप से भिन्न है। यह सर्वदा दृश्यमान है और नित्य-दर्शन करने वाले बहुसंख्यक सूरियों से विशिष्ट है। यह किसी प्रदेश में अनन्त और किसी में अवच्छिन्न भी है। यह स्वयंप्रकाश होने पर भी, अचेतन है। निर्विषयक-ज्ञान तथा अकर्ता है, यही शास्त्र-सिद्धान्त है। इस विषय में वर्णना मिलती है—

तत्रानन्दमया भोगाः लोकाश्चानन्दलक्षणाः ।
आनन्दं नाम तं लोकं परमानन्दलक्षणम् ॥
तयो नौं परमव्योम निर्द्वन्द्वसुखमुत्तमम् ।
षाड्गुण्यप्रसरो नित्यस्वाच्छन्द्यात् देशतां गतः ॥

श्रीभगवान् का दिव्य मंगल-देह जैसे ज्ञानात्मक है, यह भी ठीक उसी प्रकार ज्ञानात्मक है। परंतु यह धर्मभूत-ज्ञान के अनुरूप पराक् या बहिर्मुख है, प्रत्यगात्मक नहीं है। जिस वस्तु का प्रकाश दूसरे के निकट होता है, वह स्वभावतः ही पराक्-भावापन्न हुआ करता है। सुषुप्तिकाल में जैसे धर्मभूत-ज्ञान का प्रकाश नहीं रहता, उसी प्रकार बृद्धावस्था में शुद्ध-सत्त्व का भी प्रकाश नहीं रहता। परंतु बंधनावस्था में इसी की सिद्धि ज्ञान के विषय रूप में होती है। मुक्त पुरुषों के वैभव का उत्कर्ष सर्ववादियों ने स्वीकार किया है, परंतु शुद्ध-सत्त्व में उसकी भी अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा जैसा ज्ञान का विषय होने पर भी स्वप्रकाश है, यह भी वैसा ही समझना चाहिये।

किसी-किसी का मत यह भी है कि शुद्ध-सत्त्व निरतिशय दीप्तिमान् होने से स्वयंप्रकाश कहा जाता है। यह ज्ञान का आवरण करने वाला नहीं है, इसलिए इसे भी ज्ञान कहा जाता है। यह अत्यन्त अनुकूल रूप-रस-गन्धादिकों से विशिष्ट है, इसीलिए आनन्दादि-पदों से भी व्यपदेश-योग्य है। यह पञ्चोपनिषत्-प्रतिपाद्य पंच-भूतेन्द्रियमय है और नित्यमुक्त-पुरुष तथा नित्यसिद्ध-परमेश्वर की इच्छा के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय, प्राण तथा विषयरूप में अवस्थित है।

किसी का यह भी मत है—जैसे त्रिगुण में २४ तत्त्व होते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध सत्व में भी २४ तत्त्व ही होते हैं। परन्तु इन तत्त्वों का प्रकृति-विकृतिभाव नहीं है। इसीलिए श्रुति में लिखा है—दिव्य-मंगल-विग्रहादि नित्य हैं। दिव्य-विभूति में शरीरादि का संस्थान प्रायः प्राकृत के अनुरूप दिखाई पड़ता है। कोई-कोई विषय ऐसे भी हैं, जो परिणामहीन और नित्य हैं, जैसे—दिव्य पुरुषों का भूषण, आयुध, आसन, परिवार, आयतन, उद्यान-वाटिका, क्रीडा, पर्वत आदि हैं। किसी-किसी विषय का परिणाम भी होता है, जैसे वृक्षों में पल्लव कुसुमादि का परिणाम होता है। नदियों में फेन-तरंगादि परिणाम होता है, तथा विग्रहों में विभवादि-परिणाम होता है। ये सब परिणाम अनित्य हैं, परन्तु अनित्य होने पर भी यह परिणाम न काल से उद्भूत है और न कर्मों के अधीन ही हैं। इन परिणामों का मूल कारण है—श्रीभगवान् का संकल्प।

नित्य-जीव तथा ईश्वर का शरीर—नित्य तथा अनित्य दोनों ही हो सकता है। नित्य इच्छा से जिस शरीर का परिग्रह होता है, वह नित्य है और जिसका परिग्रह अनित्य इच्छा से होता है, वह है अनित्य। परन्तु मुक्त पुरुषों का शरीर ऐसा नहीं होता।

यह सामान्यतः अनित्य ही होता है। मुक्तगण कदाचित् अशरीर भी रहते हैं और कदाचित् शरीर का ग्रहण भी करते हैं। नित्य-धाम में इन्द्रियमात्र ही नित्य हैं, क्योंकि वे आकाशादि के समान उपादान-निरपेक्ष हैं। इन इन्द्रियों में नित्य-जीव तथा ईश्वर से नित्य-परिगृहीत इन्द्रियाँ भी अन्तर्गत हैं, परन्तु मुक्त-पुरुषों का इन्द्रिय-परिग्रह शरीर-ग्रहणवत् है। प्रश्न हो सकता है कि नित्य अथवा मुक्त पुरुष कभी इंद्रियादि ग्रहण क्यों करते हैं ? इसका उत्तर यह हो सकता है कि श्रीभगवान् का अभिमत भगवत् के कैंकर्य-रूप भोग के लिए यह होता है, अर्थात् भगवान् का अपने भोग के लिए, भगवदाश्रित नित्य-मुक्त पुरुषों को आनंद देने के लिए, और मुमुक्ष-जन की उपासना से सहायता के लिए, होता है। परन्तु इस प्रकार के शरीरादि का परिग्रह श्रीभगवान् के संकल्प मात्र से संपन्न होता है। भक्त पराशरपाद का मत है कि परमेश्वर का भी मन है। श्रुति में भी है—(१) मनसा एतान् पश्यन् रमते, (२) मनोऽस्य दिव्यं चक्षुः (३) सोऽन्यं कामं मनसा ध्यायीत, (४) मनसैव जगत्सृष्टं, आदि। पाणि-प्रभृति इंद्रिय भी हैं। भूषणायुधादि विषय भी है। पहले ही कहा गया है—नित्य तथा मुक्त पुरुषों का परिग्रह कभी केवलमात्र परमपुरुष के संकल्प से, कभी परम संकल्प के अनुसारी आत्मसंकल्प से होता है।

वेदान्तदेशिक आचार्य ने 'परमपद-सोपान' नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें परमपद-मार्ग में ९ अवस्थाओं का विवरण दिया हुआ है। इन अवस्थाओं में ५ उपायात्मक है और ४ आरोहात्मक। उपायात्मक ५ अवस्थायें ये हैं—१. विवेक—यह भगवान् को अंगी समझ कर अपने को अंग समझना है। २. निर्वेद—यह कर्म तथा पाप से उद्भूत अनुताप है। ३. विरक्ति—ऐहिक तथा पारत्रिक भोग से वैराग्य है। ४. भीतिभाव—इसका तात्पर्य है—संसार का भय। ५. उपाय-भक्ति तथा प्रपत्ति से भगवान् और श्रीगुरु की कृपा से परलोक में अहंकार का नाश है। आरोहात्मक ४ हैं—१. उत्क्रमण, २. अर्चिरादि, ३. दिव्य-देश का प्रभाव और ४. प्राप्ति।

मुक्ति का उद्देश्य अज्ञान, पाप तथा दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति तो है ही, परन्तु परम-पद का पुनर्लाभ भी है। आत्मा मुक्त होकर ब्रह्म में लीन नहीं होता, किन्तु ब्रह्मरूप, ब्रह्मरस, तथा ब्रह्मगन्ध होता है। स्मरण रखना चाहिए कि परम-पद में काल नहीं होता। महाभारत शान्तिपर्व में है—'कालं स पचते तत्र न कालः तत्र वै प्रभुः'। परम-पद अप्राकृत परमाकाशरूप आनन्द-लोक है। यह जड़ नहीं है, परन्तु ज्ञान के सदृश स्वप्रकाश है और आत्मा के भोग के लिए निर्दिष्ट है। वहाँ देश तथा काल रूपान्तर प्राप्त होता है। यह परम स्थान कोटि-कोटि सूर्य से भी उग्र है। इसीलिये उपनिषद् में इसे 'आदित्यवर्ण' कहा गया है। कौषितकी उपनिषद् तथा रामानुजकृत वैकुण्ठ-गद्य में इसका आंशिक वर्णन है। पाश्चात्यदेश में प्लेटो तथा प्लतिनस ने भी इसके वर्णन के लिए प्रयत्न किए थे, परन्तु ठीक वर्णन नहीं हुआ। श्रीमद्भागवत में भी कहीं-कहीं इसका विवरण मिलता है। श्रीभगवान् के रूपवर्णन प्रसंग में प्रतीत होता है कि आचार्यों के मत से श्रीविग्रह का श्रीवत्सचिह्न वस्तुतः प्राकृत जगत् अर्थात् अचित्

का सूचक है, तथा उनका कौस्तुभ अप्राकृत-जगत् अथवा आत्मा का द्योतक है। परम-पद में देहधारण करना बन्धनरूप नहीं होता। वह आनन्दमय लीलामात्र है। नित्य सूरिवर्ग परम-पद में नित्य वर्तमान महाकाल का अनुभव करते हैं।

पहले कहा गया है—विशुद्ध सत्त्व परमपद का ही नामान्तर है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में—योऽस्य अध्यक्षः परमे व्योमन्—संदर्भ में इसका इङ्गित मिलता है। इस परव्योम के सम्बन्ध में पहले भी संक्षेप में कुछ कहा गया है। रामायण में—'तच्चाकाशं सनातनम्' इस परमाकाश का ही द्योतक मालूम पड़ता है। महाभारत में—'दिव्यं स्थानमजं चाप्रमेयं' भी परम-पद का ही नामान्तर है। यह नित्य-विभूति ऊपर की तरफ अनन्त है परन्तु निम्न प्रदेश में परिच्छिन्न है। अचेतन होने पर भी यह स्वयंप्रकाश है, और आनन्ददायक होने के कारण इसे भी आनन्द कहा जाता है। प्रसिद्ध है कि इसमें अप्राकृत पंचशक्ति का मिश्रण हमेशा हुआ करता है। इसीलिए इसे कहीं-कहीं पञ्चशक्ति-मय भी कहा जाता है। किसी किसी आचार्य के मत में यह प्रकृति का ही एक देश है। परन्तु यह ठीक नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि इस नित्य-विभूति में भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सब कुछ है। परन्तु वे अप्राकृत हैं। इसको चेतन तो नहीं कहा जाता, परन्तु ठीक-ठीक जड़ भी नहीं कहा जाता। इसी उद्देश्य से किसी किसी ग्रन्थ में इसे ज्ञानात्मक कहा गया है। यह नित्य विभूति चार प्रकार की है—(क) आमोद, (ख) प्रमोद, (ग) संमोद और (घ) वैकुण्ठ। इसके बाद अनन्त है। इस विभूति में द्वादश आवरणों के साथ गोपुर, प्राकार आदि से आवृत वैकुण्ठ नामक नगर विद्यमान है। इसमें आनन्ददायक दिव्य-आलय है, जिसके भीतर रत्नमय सहस्र स्तम्भों से विरचित महामणिमंडप नामक सभा है। इसमें सहस्र-फण-मणि तेज से विराजमान अनन्त भगवान् विराज रहे हैं। इस अनन्त के धर्मादिमय दिव्य-सिंहासन है। उसके ऊपर हस्त में चामर लेकर विमलादि अष्ट सखियाँ अष्टदलकमल की सेवा कर रही हैं। उसके ऊपर प्रकृष्ट विज्ञानमूलक शेष अवस्थित हैं। उसके भी ऊपर वाक् तथा मन के भी अगोचर परमाद्भुत वस्तु है।

श्रीभगवान् के अस्त्र-भूषणादि सभी दिव्य हैं, यह पहले भी कहा गया है, तथा कौस्तुभ-मणि पुरुष तथा श्रीवत्स प्रकृति है, यह भी कहा गया है। बुद्धि गदा है। सात्त्विक अहंकार है—शंख। तामस अहंकार—शार्ङ्ग है। ज्ञान खड्ग है। अज्ञान उसका आवरण-कोश है। मन चक्र है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय का स्वरूप बाण हैं। स्थूल सूक्ष्मभूत वनमाला है।

कौषीतकी उपनिषद् में पर्यंक-विद्या में है—'सहस्रस्थूणे विभाते दृढ उग्रे यत्र देवानामपि देव आस्ते'। शाट्यायनी शाखा में प्रसिद्ध है—'क्षयन्तमस्य रजसः पराके'। यह सब विवरण षडर्थसंक्षेप में मिलता है। यादवप्रकाश का मत है कि—श्रुति वाक्य में 'अक्षरे परमेव्योमन्' इस स्थल में अव्यक्त और तम इन दोनों के बीच ईश्वर तथा मुक्त पुरुषों का भोगस्थान निर्दिष्ट है। यह त्रिगुण के परिणामस्वरूप है। यही परम-पद है। परन्तु इस मत को वेदान्तदेशिक आचार्य ने तत्त्वमुक्ताकलाप की टीका सर्वार्थ-सिद्धि में स्वीकार नहीं किया।

नाथ-संप्रदाय में भी परम-पद की चर्चा आती है। गोरक्षनाथ ने पंच पिंड का सिद्धान्त स्वीकार किया है। तदनुसार नीचे का प्रकृतिपिंड नर-नारी का रूप है। ऊपर का महासाकार पिंड अष्टमूर्तिमय शिव का स्वरूप है। महासाकार पिंड से ऊपर आद्यपिंड है। यह पिंड परमानन्द से सोऽहंभाव पर्यन्त फैला हुआ है। इसके ऊपर है अनाद्यपिंड, जिसमें पाँच अवस्थाएँ हैं। इसमें सब से ऊपर है अपरम्पर और सब से नीचे परमात्मा है। अनाद्यपिंड के ऊर्ध्व में परपिंड रूपी शिव पंचशक्तिमय है। परन्तु यह अवस्था पंचशक्तिपिंड आकार में न रहकर विभक्त रहती है। इस अवस्था का नाम है 'अनामा'। इसमें अनाद्यपिंड के द्वितीय अवयव को परम-पद नाम दिया गया है। यह अपरम्पर के नीचे और शून्य के ऊर्ध्व में है। शून्य है—निरंजन के ऊर्ध्व में, और निरंजन है—परमात्मा के ऊर्ध्व में। सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में इसका विस्तार दिया गया है।

इष्ट-रहस्य

सभी उपासक इष्टदेवता की उपासना करते हैं; परन्तु उसके स्वरूप के विषय में उत्तम ज्ञान बहुतों को नहीं होता। इष्ट-साधन का प्रयोजन क्या है, साधक के आत्मा के साथ इष्ट का क्या सम्बन्ध है, गुरु और इष्ट परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न? इस प्रकार के अनेकों प्रश्न स्वभावतः जिज्ञासु के मन में उठते हैं। इसी जिज्ञासा के समाधान के लिये यथाशक्ति अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर संक्षेप में कुछ विचार किया जाता है।

जो इच्छा का विषय है, वही इष्ट है, तथा जो इच्छा का विषय नहीं, वह अनिष्ट है। मनुष्य जो इच्छा करता है, उसकी प्राप्ति ही उसकी साधना का लक्ष्य होता है। इस प्राप्ति के मार्ग में जो रुकावटें आती हैं, वे चाहे साक्षात् रूप में हों, या परम्पराजनित हों, अनिष्टरूप में उनकी गणना होती है। इन सारी रुकावटों को दूर करके इष्ट वस्तु को प्राप्त करना ही, जीवन का उद्देश्य कहलाता है।

जो इच्छा का विषय है, उसका स्वरूप क्या है? अर्थात् किसी-न-किसी रूप में जिसको सभी प्राप्त करना चाहते हैं, उसका स्वरूप क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है—आनन्द। अतएव आनन्द की प्राप्ति ही है—इष्ट-प्राप्ति, क्योंकि ज्ञात अथवा अज्ञातरूप से सभी एकमात्र आनन्द की ही इच्छा करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आनन्द क्या कोई पृथक् वस्तु है। साधक आनन्द की कमी के कारण ही आनन्द-प्राप्ति की कामना करते हैं। जिनके पास जिस वस्तु की कमी होती है, वह उसी की प्राप्ति की कामना करता है। अतएव साधक से उसका आनन्द पृथक् वस्तु है। यह बात स्वभावतः मनमें उठती है। यदि यही बात है तो 'यह आनन्द है क्या वस्तु? रहती कहाँ है, तथा किस प्रकार इसकी उपलब्धि होती है?' इस प्रकार की जिज्ञासा होती है।

वस्तुतः साधक के आत्मस्वरूप से पृथक् कोई आनन्द नाम की वस्तु नहीं है। इसी कारण से सब लोग अपने आत्मा को ही सर्वापेक्षया प्रियतम वस्तु समझते हैं, क्योंकि आनन्द की अपेक्षा अधिकतर प्रिय कोई वस्तु नहीं हो सकती। किसी को चाहे कोई भी वस्तु प्रिय क्यों न हो, वह आत्मा के लिये ही प्रिय होती है। जगत् के समस्त पदार्थों में उपाधिजनक प्रीति होती है। परन्तु एकमात्र आत्मा ही निरुपाधिक प्रीति का विषय है। अतएव आत्मा, आनन्द और इष्ट मूलतः एक ही वस्तु है। चाहे कोई किसी वस्तु की इच्छा क्यों न करे, अज्ञातभाव से वह अपने को ही चाहता है, किसी दूसरी वस्तु को नहीं चाहता, तथा चाहने की कोई दूसरी वस्तु है भी नहीं। परन्तु अज्ञानवश, अर्थात् समझ न सकने के कारण प्रत्येक आदमी यह समझता है कि उसकी

चाह की वस्तु उससे पृथक् है। जबतक द्वैत-ज्ञान है, तबतक यही स्वाभाविक है, और इसी के आधार पर व्यावहारिक जगत् प्रतिष्ठित है।

जब साधक अपने स्वरूप से भिन्न किसी दूसरी वस्तु को आनन्दास्पद समझता है, तब यह वस्तु ही उसके लिये इष्ट-स्वरूप में प्रतीत होती हैं। यद्यपि मूल में अज्ञान रहता है, यह बात सत्य है; तथापि बाह्य-वस्तु को प्रिय अथवा इष्ट कहने में कोई बाधा नहीं। परन्तु देखा जाता है कि यह बाह्य वस्तु कालभेद, स्थानभेद और अवस्थाभेद से अलग-अलग हो सकती है। इसीलिये जो वस्तु एक समय इष्ट जान पड़ती है, दूसरे समय वही चित्त को आकर्षित करने में समर्थ नहीं होती है। इसी प्रकार एक स्थान में अथवा एक अवस्था में जो इष्टरूप में गिनी जाती है, वही वस्तु दूसरी अवस्था अथवा स्थान में अनिष्टरूप में दीख पड़ती है।

व्यावहारिक दृष्टि में इष्ट का निरूपण करना बहुत ही कठिन जान पड़ता है, क्योंकि कोई वस्तुविशेष या भावविशेष किसी साधक विशेष के लिये देश, काल और अवस्था से निरपेक्ष होकर समानरूप से आनन्ददायक नहीं होती। इसका रहस्य तथा वास्तविक इष्ट-निरूपण के उपायों को जानना आवश्यक है। जब आत्मा ही मूल इष्ट है, तो अज्ञानावस्था में उसे आत्मस्वरूप में, इष्टरूप में न पहचान सकने पर भी, बाह्य-रूप से एक आधारविशेष में क्यों नहीं प्राप्त किया जा सकता। इस प्रश्न की मीमांसा आवश्यक है।

इसका उत्तर यही है कि एकमात्र आत्मा ही इष्ट है, यह सत्य है; परन्तु जब तक आत्मस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती, तब तक वह समझ में नहीं आता। यही अज्ञान की आवरणशक्ति की क्रीड़ा है। स्वरूपानन्द के आच्छन्न होने के बाद, अज्ञान की विक्षेपशक्ति के प्रभाव से वह आनन्द समस्त जगत् में बिखर गया है। जीव के स्वरूपगत वैशिष्ट्य तथा विक्षेपशक्ति के तारतम्य के कारण विक्षिप्तता में भी तारतम्य होता है। प्रत्येक जीव का स्वरूपानन्द खण्ड-खण्ड होकर अनन्त विश्व में सर्वत्र न्यूना-धिकभाव में फैला हुआ है। जब तक ये बिखरे हुए आनन्द के कण समष्टिभाव में समवेत होकर घनीभूत न होंगे, तब तक जीव को अपने स्वरूपानन्द की झलक नहीं मिल सकती। साधना का उद्देश्य है—आनन्द के इन कणों को सञ्चित कर, उन्हें एक आकृति प्रदान करना।

प्रसंगवश यहाँ एक सूक्ष्म प्रश्न उठता है। यदि प्रत्येक जीव आनन्दस्वरूप ही है, तो सारे जीवों के आनन्द एक ही प्रकार के होंगे ?

वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। ब्रह्मस्वरूप में सामान्य-भाव और विशिष्टभाव के आनन्द विद्यमान हैं। यद्यपि प्रत्येक जीव ब्रह्मस्वरूप है तथापि उसमें कुछ वैशिष्ट्य होता है। साधारणतः एक जीव दूसरे जीव से पृथक् नहीं होता, क्योंकि दोनों की मूल सत्ता एक ही है। परन्तु विशेष-दृष्टि से देखने पर प्रत्येक जीव में विलक्षणता दीख पड़ती है, जिसके फलस्वरूप किसी भी दो जीव में सदा ही अनन्त प्रकार की पृथक्ता रहती है। इसी कारण, एक आदमी को जो अच्छा लगता है, दूसरे को वह अच्छा नहीं लग सकता, क्योंकि प्रत्येक जीव की प्रकृति अलग-अलग है। सृष्टि के बाद से ही

प्रत्येक जीव अपने-अपने आनन्द के अन्वेषण में लगे हुए हैं। अर्थात् वे निरन्तर जन्म-जन्मान्तर नाना रूप में, नाना प्रकार से आनन्द के सञ्चय में लगे हुए हैं। अब तक उनके अन्वेषण का अवसान नहीं हुआ है। और जिस ढंग से वे चल रहे हैं, उसके अवसान की आशा भी नहीं की जा सकती। नेत्रों में रूप-तृष्णा तथा समस्त देहव्यापी त्वचा में स्पर्श-तृष्णा एवं प्रत्येक इन्द्रिय में अपने-अपने विषय की तृष्णा सदा ही जाग्रत रहती है। भोग्य पदार्थों की प्राप्ति तो होती ही रहती है, परन्तु उनसे तृप्ति नहीं होती।

कवि कहते हैं—

जनम अवधि हम रूप नेहारिनु नयन ना तिरपित भेल।

जन्म से ही चक्षु चारों ओर अनन्त प्रकार से रूप का दर्शन करती है, फिर भी पुनः-पुनः रूप देखने की तृष्णा से मुक्ति नहीं हो पाती। इसी प्रकार अन्यान्य बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के विषय में भी समझना चाहिये। नेत्रों के सामने इस प्रकार का अलौकिक रूप प्रकट नहीं हुआ, जिसका दर्शन कर उन्हें तृप्ति मिल सके, तथा दूसरे किसी रूप को देखने के लिये फिर बहिर्मुख-वृत्ति न हो। रूप को देखकर उन्हें जो तृप्ति मिलती है, वह सामयिक होती है, स्थायी नहीं होती। नेत्र के लिये रूप इष्ट है, क्योंकि नेत्र रूप चाहते हैं। परन्तु अग्नि में आहुति पड़ने से जैसे अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है, उसी प्रकार निरन्तर रूपदर्शन करने से नेत्रों की रूपतृष्णा बढ़ती ही है। क्षणिक-तृप्ति केवल उद्दीपन का ही कार्य करती है। अतएव नेत्र आदि किसी भी इन्द्रिय ने आजतक स्थायीरूप से इष्ट-प्राप्ति करने में सफलता नहीं प्राप्त की। क्योंकि इष्ट की प्राप्ति होने पर तृष्णा मिट जाती है, बहिर्मुखी वृत्ति नहीं रहती और खोज भी नहीं होती। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक इन्द्रिय के विषय अलग-अलग होते हैं। नेत्र के लिये जो इष्ट होता है, वह कान के लिये इष्ट नहीं होता, एवं कान के लिये जो इष्ट होता है, वह नेत्र के लिये इष्ट नहीं होता। उसी प्रकार बाह्य-इन्द्रियों के लिये जो इष्ट होता है, अन्तःकरण के लिये वह इष्ट नहीं होता। एवं अन्तःकरण के लिए जो इष्ट होता है, बाह्य-इन्द्रियाँ उससे तृप्त नहीं होतीं। अतएव पूर्ण इष्ट वही एक वस्तु हो सकती है, जो बाह्य-इन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय तथा आत्म-प्रकृति तक की तृप्ति प्रदान करती हो। वास्तविक इष्ट की प्राप्ति होने पर देह, इन्द्रिय, प्राण और मन—सब के अभाव सदा के लिये मिट जाते हैं।

क्या इस प्रकार की कोई वस्तु है कि जिसके द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय, मन तथा आत्म-प्रकृति की तृष्णा सदा के लिये निवृत्त हो जाय? इसके उत्तर में कहना होगा कि ऐसी वस्तु निश्चय ही है। उस वस्तु को प्राप्त करने पर किसी दूसरी वस्तु के प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। वह एक ही वस्तु एक ओर जहाँ अपने अलौकिक रूप आदि के द्वारा नेत्रादि प्रत्येक इन्द्रिय को आनन्द प्रदान करती है, उसी प्रकार दूसरी ओर अपने अलौकिक गुण और महिमा के द्वारा साधक के चित्त को आकर्षित करती है। उसका निराकार-स्वरूप साधक की निराकार आत्म-प्रकृति को आनन्द से आह्लादित कर देता है। ऐसी स्थिति में यह समझा जा सकता है कि

साधक की अन्तःप्रकृति और बाह्य-प्रकृति के प्रत्येक अङ्ग इस वस्तु को धारण करने के लिये सृष्ट हुए हैं। यह वस्तु ही अमृतस्वरूप है, तथा साधक की प्रत्येक इन्द्रिय रूपी प्रकृति मानो उसको प्राप्त करने के लिये पात्ररूप में निर्मित हुई है। अतएव इन्द्रियों को सुखाकर नष्ट कर देना, इष्ट साधना का लक्ष्य नहीं है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन प्रभृति सब को सरसता प्रदान करना ही, इष्ट-लाभ का फल है। खोज के समय कठोरता और नीरसता वाञ्छनीय होती है, परन्तु सिद्धिकाल में ये कभी स्थायी नहीं होतीं।

साधना का उद्देश्य है—इष्ट का गठन करना, अथवा नित्य-सिद्ध इष्ट को प्रकाशित करना। वस्तुतः नित्य-सिद्ध इष्ट को अभिव्यक्त करना ही साधना का उद्देश्य है। परन्तु इस अभिव्यक्ति का एकमात्र उपाय है—इष्ट के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना कर, उसे आकार प्रदान करना। जब इष्ट वस्तु आकार धारण कर साधक की दृष्टि के सामने प्रकाशित होती है, तब उस आकार के पृष्ठदेश में चैतन्यमय इष्टस्वरूप आत्म-प्रकाश करता है। आकार की सृष्टि तथा नित्यसिद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति एक ही बात है। आकार अपने असंख्य अवयवों के सञ्चय के प्रभाव से समष्टिबद्ध रूप में प्रकाशित होता है। अवयव की अभिव्यक्ति के साथ-साथ निराकार-चैतन्य की सत्ता उसके साथ जुड़ी होती है। आकार-रचना का मुख्य रहस्य यही है कि आनन्द के असंख्यों कण, जो समग्र विश्व में बिखरे हुए फैले हैं, उनको एक स्थान में आकर्षण कर घनीभूत करना।

ये सारे बिखरे हुए आनन्द-कण निर्मल नहीं हैं। कोई वस्तु जब आघात लगने से टूट-फूट जाती है, तो उसमें अनेकों भाग हो जाते हैं; और उन प्रत्येक भागों में मलिनता का आविर्भाव होता है। जब तक यह मलिनता अनेकों भागों में बिखरी होती है, तबतक दूर नहीं होती, परन्तु जब ये सभी खण्ड पुनः एक स्थान में आकर सञ्चित हो जाते हैं, तब यह मलिनता दूर हो जाती है। अनेक भागों में विभक्त होने के समय मलिनता क्यों आती है, यह प्रश्न उठ सकता है। इसका उत्तर यह है—कि चैतन्य-शक्ति की स्वेच्छा से ही न्यूनता अथवा सङ्कोच के कारण एक अनेक में परिणत हो जाता है, अतएव यह अकाट्य सत्य है कि विपरीत क्रम से चैतन्य-शक्ति के उन्मेष अथवा स्फुरण के बिना ये समस्त असंख्य खण्ड पुनः एक अखण्ड में परिणत नहीं हो सकते। अतएव जिस क्रिया में अनेक एक हो जाते हैं, उसमें चैतन्यशक्ति की क्रिया अवश्य ही रहेगी, तथा इसी कारण एक होने के साथ-साथ एक ओर जहाँ विक्षिप्तता दूर हो जाती है, दूसरी ओर उसी प्रकार मलिनता दूर होकर रजोगुण और तमोगुण को निवृत्त करती है तथा शुद्ध-सत्त्व की प्रतिष्ठा होती है।

अतएव आनन्द के कणों को एक स्थान में सञ्चय करना, अथवा शुद्ध-सत्त्व में स्थित होना—दोनों एक ही बात समझी जा सकती है। परन्तु यहाँ एक बात याद रखने योग्य है कि प्रकृति-भेद के कारण प्रत्येक जीव को अपने स्वरूपानन्द के आस्वादन में भी पृथक्ता होती है। इस पार्थक्य को जब जीव के स्वरूप-गत वैशिष्ट्य की दृष्टि से देखते हैं, तो उसे नित्य कहना ही ठीक जान पड़ता है। जब जीव का स्वरूपगत भेद परमात्मा के स्व-गत भेद के रूप में परिणत होगा, उस समय दृष्टि और

ही हो जायगी। आपाततः यह जानना चाहिये कि समग्र विश्व में प्रत्येक स्थल में अनन्त जीवों के अनन्त स्वरूपानन्द अपने-अपने चित्त के अंशरूप में बिखरे हुए हैं, अर्थात् प्रत्येक स्थान में मात्रा-तारतम्य के अनुसार प्रत्येक जीव के आनन्द के कण विद्यमान हैं। वे परस्पर पृथक् होते हुए भी अपृथक्-रूप में मिले हुए रहते हैं। अतएव सभी वस्तुएँ सर्वात्मक हैं। परन्तु फिर भी इसमें हमारा कोई लाभ नहीं, क्योंकि हमारे अपने आनन्द-कण ही हमारे आस्वादन की वस्तु हैं। उसे पृथक्रूप में यदि आस्वादन न किया जाय तो हमारे लिए उस प्रकार की वस्तु की आस्वादन-शीलता कोई मूल्य नहीं रखती।

इस आनन्दकण के आकर्षण और आस्वादन की दो क्रियाएँ हैं, एक है—लौकिक और दूसरी है—अलौकिक। अपने इन समस्त आनन्दकणों को दूसरों के आनन्दकणों के साथ मिलाकर आस्वादन करना लौकिक प्रक्रिया है, इसे ही विषयभोग कहते हैं। परन्तु अपने समस्त आनन्दकणों को दूसरे लोगों के आनन्दकणों से अलग कर के शुद्ध-भाव से आस्वादन करना ही, इष्ट-सिद्धि और इष्ट-सम्भोग कहलाता है। लौकिक भोक्ता अपनी वस्तु को अलग नहीं कर सकता, इसी कारण उसका भोग अशुद्ध-भोग होता है। उसमें मलिनता रहती है। इसीलिये इस भोग से स्थायी तृप्ति नहीं मिलती। विषयभोग बन्धन का ही हेतु होता है। वस्तुतः भोग विषय का नहीं होता, बल्कि विषय में स्थित अपने आनन्दकणों का होता है।

गुरुकृपा प्राप्त कर के साधक विषय से अपने-अपने आनन्दकणों को अलग खींचकर सम्भोग करने में समर्थ होते हैं। जगत् की समस्त भोग्य वस्तुओं से मन्थन द्वारा अपनी प्रकृति के अंशभूत आनन्दकणों को बाहर करना पड़ता है। जिस प्रकार तिल से तेल, दूध से नवनीत और काष्ठ से अग्नि उद्भूत होती है, यह बात भी ठीक उसी प्रकार की है। विश्वव्यापिनी अखिल-प्रकृति से अपने उपादान-रूप आनन्द कणों को निकाल लेना आवश्यक है। जब तक विश्व की किसी वस्तु में यह उपादान थोड़ा भी वर्तमान है, तबतक उसके प्रति आसक्ति अनिवार्य है, परन्तु इस उपादान अंश को हटाकर अलग कर लेने पर, उसके प्रति फिर आसक्ति नहीं रह जाती। अपने आनन्द-अंश को खींच लेने के बाद, वह वस्तु फिर चित्त को मुग्ध नहीं कर सकती।

जगत् की समस्त वस्तुएँ प्रकृत आनन्द के रूप हैं। किन्तु अलौकिक और विशुद्ध आनन्द प्रत्येक को अपनी-अपनी चेष्टा के द्वारा गठित करना पड़ता है। गठन शब्द से यहाँ अभिप्राय नित्यसिद्ध वस्तु की अभिव्यक्ति समझना चाहिये। आनन्दकणों की समष्टि से ही इस शुद्ध आनन्दमूर्ति की रचना हुआ करती है। प्रत्येक जीव के लिये यह आनन्दमूर्ति पृथक्-पृथक् होती है, इसी का दूसरा नाम इष्टमूर्ति है; जिसके बारे में पहले कहा जा चुका है।

पहले कहा जा चुका है कि एक के अनेक बनने के समय आवरण और मलिनता की सृष्टि होती है। इसका कारण है—चैतन्य का सङ्कोच या ह्रास। उसी प्रकार चैतन्य के विकास से ही अनेक फिर अनेक नहीं रह जाते, क्रमशः एक में पर्यवसित हो जाते हैं। जब यह समष्टिभाव की प्रक्रिया परिसमाप्त हो जाती है, तब उन-उन

आकारों में एकमात्र आनन्द ही अवशिष्ट रहता है। यह जो बिखरे हुए आनन्दकणों का एकत्र आकर्षण होता है, इसके मूल में चुम्बक-शक्ति की क्रिया काम करती है। चुम्बक-शक्ति जिस वस्तु के आश्रय होती है, उस वस्तु के सारे अणुओं को आकर्षित करना, उसका स्वभाव होता है। दीक्षाकाल में गुरु-कृपा से जीव जब इस चुम्बक-शक्ति को प्राप्त करता है, तभी से यह शक्ति निरन्तर कार्य करने लगती है। शक्ति के विकास के साथ-साथ अपने समस्त आनन्दकण क्रमशः एकत्र होने लगते हैं। जिस चित्त में गुरुशक्ति पड़ती है, वही चित्त चुम्बकरूप में परिणत होता है। तब वह चित्त स्वयं पूर्ण होने के लिये अपने अंशों का यथाशक्ति आकर्षण करने लगता है। यदि इस प्रक्रिया में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता है, तो यथासमय समस्त कण चुम्बक-आकर्षण से आकृष्ट होने के कारण घनीभूत होकर एक आकार धारण कर लेते हैं।

जिस आकार का उल्लेख किया गया है, उसकी स्थिति और अभिव्यक्ति एक प्रकार से हृदयाकाश में होती है, परन्तु जब विकास पूर्ण होता है, तब हृदय के चारों ओर के समस्त द्वार बन्द हो जाते हैं, तथा ऊर्ध्वद्वार खुल जाता है। इसी खुले द्वार का सहारा लेकर चैतन्यमय आनन्द-राज्य में प्रवेश प्राप्त होता है। इस अवस्था में इष्ट केवल मानसिक ज्ञान के विषयरूप में ही नहीं रहता, बल्कि समस्त इन्द्रियों के लिये प्रत्यक्ष स्थूल सत्तामय मूर्तिविशेष में प्रकट होता है। स्थूलमूर्ति होने पर भी वह जागतिक दृष्टि के लिये प्रत्यक्षीभूत नहीं होता। जबतक जगत् के लोग अपने देह, इन्द्रिय आदि को संस्कृत नहीं करेंगे, तबतक यह चिदानन्दमय मूर्त्ति उनकी इन्द्रियों के लिए प्रत्यक्ष न होगी। इसे यद्यपि स्थूल तो कहते हैं, परन्तु यह जागतिक स्थूल नहीं है, यह सिद्धभूमि का स्थूल है। साधक अपने देह, इन्द्रिय आदि के साथ संस्कार उपलब्ध करने के कारण इस स्थूलमूर्ति का सर्वदा आस्वादन कर सकता है, और उसके साथ सब प्रकार के व्यवहार भी चला सकता है। परन्तु, फिर भी कहना पड़ेगा कि इस स्थूल में ही आनन्द का उत्कर्ष है। यह सृष्टि का एक महा-रहस्य है।

यह प्रश्न उठाया जा चुका है कि वह इष्ट वस्तु उस समय कहाँ रहती है? इसका उत्तर यह है कि इष्ट या आनन्द पूर्णरूप से अभिव्यक्त होने पर साधक के साथ अभिन्न-भाव से रहता है, उस समय इसकी पृथक्-सत्ता नहीं रहती, पर रहती भी है। एक त्रिभुज के ऊपर, ठीक उसके बराबर ही दूसरा त्रिभुज आरोपित होनेपर जैसे दोनों त्रिभुज दो नहीं जान पड़ते, एक ही जान पड़ते हैं, उसी प्रकार इष्ट भी पृथक् होते हुए भी अपृथक् के समान अवस्थित होता है। साधक या योगी इच्छा करते ही दो होकर प्रकट हो सकते हैं, इस प्रकार प्रकट होकर सब प्रकार के आस्वादन और व्यवहार करने में समर्थ होते हैं, फिर इच्छा करते ही ये दोनों रूप एक ही स्वरूप में पर्यवसित हो जाते हैं। इष्ट के साथ साधक की अपनी अनन्त माधुर्यमयी लीलाएँ इसी प्रकार सम्पादित होती हैं।

उपासना के फल-स्वरूप इष्ट का आविर्भाव होता है, और फिर इष्ट के आविर्भाव के फलस्वरूप उपासना आरम्भ होती है। ये दोनों एक ही सत्य हैं। एक दृष्टि से देखने पर उपासना क्रमशः परिपक्व होने पर आनन्दकणों के एकीकरण द्वारा इष्ट-मूर्ति

की रचना पूर्ण करती है। यह मूर्ति ही इष्ट-स्वरूप की अभिव्यञ्जना करती है। इस प्रकार देखने पर जान पड़ता है कि इष्ट-साक्षात्कार उपासना का फल है। दूसरी दृष्टि से जबतक इष्ट साक्षात्कार नहीं होता, तबतक वास्तविक उपासना का सूत्रपात नहीं होता। द्रष्टा के रूप में स्थिरभाव से समीप में बैठने का नाम उपासना है। जिसके समीप बैठना है, वह यदि प्रकट न हो तो उसकी उपासना कैसे स्थिर होगी? इसलिये प्रथम को गौण कहकर दूसरी को मुख्य-उपासना कहा जा सकता है। जप आदि गौण उपासना के स्वरूप हैं, और ध्यान मुख्य उपासना का स्वरूप है। जप के द्वारा इष्ट-साक्षात्कार तथा उत्तरकालीन इष्टविषयक-ध्यान से इष्ट-प्राप्ति और इष्ट के साथ मिलन होता है। इष्ट का रूप-दर्शन न होने पर ठीक तौर पर इष्ट का ध्यान नहीं किया जा सकता। इसी कारण ध्यान के पहले इष्ट-दर्शन की आवश्यकता रहती है। परन्तु कल्पित इष्ट-दर्शन वास्तविक इष्ट-दर्शन नहीं होता। प्रकृत इष्टरूप का दर्शन करने के लिये बीज से ही दर्शन करना आवश्यक है, बीज के बिना यथार्थ-रूप स्फुटित नहीं होता। उपासना के प्रसंग में इस विषय की विशेषरूप से आलोचना की जा सकती है। इष्ट-दर्शन के बाद इष्ट को स्थायीरूप में प्रतिष्ठित करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा न करने से बीच-बीच में यदि इष्ट-स्वरूप का अभाव या अदर्शन हो तो सर्वदा इष्ट-दर्शन सम्भव नहीं होता। इष्ट को सर्वदा सामने रखकर उसका दर्शन करना ही मुख्य उपासना का तात्पर्य है। मुख्य उपासना के फल से द्रष्टा या उपासक साधक एवं उपास्य (इष्ट साध्य) इन दोनों का व्यवधान क्रमशः कम हो जाता है। तब उपास्य-उपासक का मिलन होता है, यही योग है। इसके बाद दो सत्ता एक रूप में प्रकाशित होती है, इसी का नाम ज्ञान है। उस समय एक ही चैतन्य-स्वरूप में दोनों की समाप्ति होती है। जबतक इष्ट सम्मुख रहता है, तबतक साधक इष्ट के अधीन रहता है, परन्तु जब मन में इष्ट नहीं रहता, तब एक स्वयंप्रकाश आत्मा ही अखण्डरूप में विराजमान रहता है।

पहले कहा जा चुका है कि सबके अपने-अपने समस्त आनन्दकण समग्र विश्व में बिखर कर व्याप्त रहते हैं। सबके ये आनन्दकण अपने-अपने चित्त को आश्रय करके रहते हैं। यह बात कहे बिना भी समझ में आ सकती है। यदि यह सत्य है, तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक जीव के चित्त विकल (अपूर्ण) हैं, किसी का भी चित्त पूर्ण नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि समस्त अपूर्ण (विकल) चित्तों के शून्य अंश रिक्त रहते हैं, अथवा अन्य किसी वस्तु के द्वारा पूर्ण (भरे हुए) होते हैं।

प्रकृति का कोई भी स्थल रिक्त नहीं रह सकता, चित्त के अंश बाह्य-जगत् के जिन-जिन स्थानों में आविष्ट रहते हैं, उन्हीं-उन्हीं स्थानों से उसके (बाह्य जगत् के) सारे अंश लौट कर चित्त के रिक्त स्थान को भर देते हैं। बाह्य जगत् भौतिक सत्तामय होता है। चित्त के अंश जिस प्रकार समस्त भौतिक जगत् में व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार भौतिक जगत् के सत्तांश भी चित्त के रिक्त स्थान में आविष्ट होते हैं। प्रत्येक मनुष्य के चित्त में इस प्रकार भौतिक अंश विद्यमान रहते हैं। इसको वासना कहते हैं। चित्त के शुद्ध होने पर यह वासनारूपी भौतिक अंश उसमें नहीं रहता। वह यथास्थान

पृथक् हो जाता है, तब इस वासना के स्थान में चित्त के अपने अंश लौट आते हैं। चित्त के अपहृत समस्त अंश जब लौट आते हैं, तो चित्त शुद्ध और पूर्ण हो जाता है। दूसरी ओर, भौतिक-सत्ता में भी उसका अपहृत अंश लौट जाता है। भौतिक-सत्ता से चित्तांश के चले जाने के कारण जो रिक्तता होती है, वह भी, भौतिक सत्ता के अपने अंश के लौटने पर, शुद्ध और पूर्ण हो जाती है। पूर्वोक्त प्रक्रिया का नाम चित्त-शुद्धि और शेषोक्त प्रक्रिया का नाम भूत-शुद्धि है। दोनों प्रक्रिया एक ही साथ सम्पादित होती है।

हमारा शरीर पञ्चभूतों के सम्मिलन से सृष्ट हुआ है। उसके साथ चित्त का संयोग है। उसी प्रकार हमारे चित्त में भी पञ्चभूतों के अंश विद्यमान हैं। स्थूलदेह और विश्वदेह में एक ही व्यापार चल रहा है। चित्त और भूतों के परस्पर मिलने और घुलमिल जाने से ही—देह का आविर्भाव होता है। अवश्य ही इनके अन्तराल में, केन्द्रस्थान में, आत्मा रहता है; इसके तो कहने की आवश्यकता ही नहीं। भूतों से चित्त के अंश दूर हो जाते हैं, तो भूतों में अपहृत भूतांश, एवं चित्त से भूतों के अंश दूर हो जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में चित्त में अपहृत चित्तांश, लौट आते हैं; तब पञ्चभूत अपने-अपने केन्द्र में प्रविष्ट होते हैं, उनका बिखरना बन्द हो जाता है। यही भूत-शुद्धि कहलाती है। चित्त का बिखरना भी उस समय बन्द हो जाता है, उसे चित्त-शुद्धि कहते हैं। इस प्रकार पञ्चीकरण की अतीतावस्था में जाकर देहतत्त्व की साधना से षट्-चक्रभेदन की क्रिया निष्पन्न होती है। इसी अवस्था में तृतीय नेत्र खुल जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में पूर्ववर्णित इष्ट-साक्षात्कार कहेंगे। इस अवस्था में बिन्दु में स्थिति होती है। कुण्डलिनी के जागरण के साथ-साथ नाद-स्थान के फलस्वरूप बिन्दु की प्राप्ति होती है। बिन्दु से महाबिन्दु की ओर गमन करना ही, महामिलन की प्राप्ति का उपाय है। महाबिन्दु शब्द से हमारा अभिप्राय सहस्रार की कर्णिका है। कहना न होगा कि इसके परे भी दीर्घपथ रहता है। उसके वर्णन का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। पूर्व-वर्णित गौण उपासना का उद्देश्य षट्चक्रों का भेदन करना ही है। आज्ञाचक्र से आगे सहस्रार की ओर जाना और उसे प्राप्त करना ही, मुख्य उपासना का लक्ष्य है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि वास्तव में इष्ट-वस्तु क्या है, उसका द्रष्टा कौन है, तथा दोनों में क्या सम्बन्ध है? इष्ट की अभिव्यक्ति और इष्टदर्शन, दोनों में सम्बन्ध कहाँ है? किस प्रकाश से अथवा किस नेत्र से इष्टदर्शन होता है, अथवा उसका विकास ही किस प्रकार होता है?

वस्तुतः जो इष्ट है, वही द्रष्टा भी है। अपने-आपका साक्षात्कार करना ही इष्ट-दर्शन कहलाता है। परन्तु जबतक यह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तबतक यह कहना नहीं बनता। चिदानन्दस्वरूप आत्मा का चिदंश द्रष्टा है और आनन्दांश इष्ट है, चिदंश पुरुष है और अनन्दांश प्रकृति है, चित्से आनन्द का वास्तविक भेद न होने पर भी, एक कल्पित भेद है। इस अवस्था में चित् से पृथक् रूप में चित्त का आविर्भाव होता है, तथा इस चित्त में आनन्द प्रतिबिम्बित होता है।

चित् ही इस आनन्द का आस्वादन भोग्यरूप में अभिन्न-भाव से करता है। यह भोग स्वरूपानन्द का भोग होते हुए भी, भोग ही है। चित् और आनन्द में जब वैकल्पिक भेद नहीं रहता, तब इसका नाम 'रस' होता है, और तब इसे भोग नहीं कहा जा सकता। यह जो आनन्द का आस्वादन है, यह अपनी शक्ति रूपी दर्पण में अपने स्वरूप का प्रतिबिम्ब-मात्र है। यह चित्त में प्रतिबिम्बित-रूप में ही अनुभूत होता है। चित्त चित् की समीपस्थ बहिर्मुख अवस्था-मात्र है, उसे ठीक चित् कहना नहीं बनता। फिर भी वह सदा ही चिदालोक से आलोकित रहता है। वह जागतिक दृष्टि से अचित् न होते हुए भी, अचित्-पद का वाच्य है। उसे ही सत्त्व (शुद्ध सत्त्व) कहते हैं। यह जो चिदालोकित चित्त-सत्त्व-रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित आनन्द है, यही चित् की आस्वादनीया प्रकृति है, तथा इस आनन्द का आस्वादन करने वाला चित् है। यह आनन्द ही इष्ट है। यहाँ सृष्टि के रहस्य का वर्णन करने का अवसर नहीं है, परन्तु जान लेना होगा कि सृष्टिकाल में यह मूल चित्त ही अनन्तभाव में विभक्त हो जाता है, तथा आनन्द वस्तुतः एक होने पर भी अनेक होने के साथ-साथ अनन्त आनन्दकणों के रूप में बिखर जाता है। चिद्रूपी द्रष्टा एक होने पर भी क्षण-भेद से अनन्तरूप में प्रकाशित होता है। तदनुसार एक ही परमपुरुष अनन्त-पुरुष में पर्यवसित होता है, तथा आनन्दात्मिका प्रकृति मूल में एक होते हुए भी, विभिन्न पुरुषों की अनुगामिनी रूप से अनन्त-प्रकृति-भाव में स्फुरित होती है। जब सृष्टिकाल में एक सत्ता से अनेक सत्ता का आविर्भाव होता है, तब महाप्रकृति के समान खण्ड-प्रकृति भी अनन्त भावों में विभक्त होकर कणों के रूप में फैल जाती है। इसी को विश्वव्याप्त अनन्त आनन्द-कण कहते हैं।

प्रत्येक साधक की अपनी-अपनी दृष्टि होती है। वे जब तक मूल द्रष्टा में अवस्थित नहीं हो जाते, तब तक उनकी प्रकृति भी पृथक्-पृथक् होती है। जब उनके अपने आनन्दांश गठित होते हैं, तो उसके सामने इष्टरूप में प्रकट होते हैं। इसी कारण वस्तुतः इष्ट के एक होने पर भी भावभेद से प्रत्येक का इष्ट पृथक्-पृथक् होता है। भाव-भेद न रहने पर इष्ट एक ही है, और वह महाभाव की अवस्था है। महाभाव की अतीतावस्था में इष्ट भी नहीं रहता और द्रष्टा भी नहीं रहता, अर्थात् दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। उस समय शुद्ध द्रष्टा-मात्र अवशिष्ट रहता है।

इष्ट का आविर्भाव तभी सम्भव है, जब बिखरे हुए आनन्दकणों के सम्मिलन की क्रिया समाप्त हो जाती है। जब तक समाप्त नहीं होती, तब तक इष्ट वस्तु की आकार-सिद्धि नहीं होती। आकार सिद्ध न होने पर उसमें चैतन्य का सञ्चार नहीं हो सकता। चैतन्य-सञ्चार का अभिप्राय है—चिद्रूपी द्रष्टा की दृष्टि में आविर्भूत होना। इसी को इष्ट-साक्षात्कार कहते हैं।

समस्त आनन्दकणों का सञ्चय जिस अनुपात से होता है, ठीक उसी अनुपात से चैतन्य से आवरण-शक्ति क्रमशः अपसारित होती जाती है। साकारत्व-साधन जिस प्रकार दीर्घकाल का व्यापार होते हुए भी, वह एक क्षण अर्थात् अन्तिम क्षण का व्यापार होता है, उसी प्रकार चैतन्य की अभिव्यक्ति भी होती है। जिस क्षण समस्त आनन्दकण

पूर्णतः बाहर से आकृष्ट होकर एक स्थान में घनीभूत होते हैं, जब बाहर और कुछ आकर्षण के योग्य नहीं रह जाता; ठीक उसी क्षण चैतन्य भी शुद्ध रूप में अभिव्यक्त हो उठता है। यही कहलाता है—ज्ञानचक्षु का उन्मीलन। आनन्द के दृश्यरूप में उपनीत होने पर द्रष्टारूपी चित् आवरण-मुक्त होकर उसी क्षण उसे धारण कर लेता है। इष्ट का आविर्माव, तथा जिस दृष्टि के द्वारा इष्ट-दर्शन होता है, उसका आविर्भाव एक ही समय सम्पन्न होता है। यही चित्-चक्षु, ज्ञान-नेत्र अथवा द्रष्टारूपी पुरुष है। चित् अपने ही प्रकाश में आनन्द का साक्षात्कार करता है। बाह्यालोक और इन्द्रिय, तथा आन्तर आलोक और अन्तःकरण, किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती। यह जो चिदालोक है, सो दर्पण-रूप है। इसमें प्रतिबिम्बित आनन्द-रूप में अपना ही दर्शन होता है। प्रकृत इष्ट-दर्शन के समय आकाश नहीं रहता तथा देश-काल भी नहीं रहते। आकाश, देश, काल तथा अन्यान्य वैचित्र्य इष्ट के अन्तर्गत और अनुगतरूप में ही उपलब्ध होते हैं। इष्ट आकाशादि से व्यापक होता है, आकाशादि इष्ट से व्यापक नहीं होते।

जिसे इष्ट-दर्शन हो जाता है, उसके सामने संसार पूर्व-परिचितरूप में फिर वर्तमान नहीं होता, उस समय एकमात्र इष्ट ही उस सिद्ध-साधक के सामने भासमान होता है। यदि बाहर जगत् है, तो फिर इष्ट-दर्शन क्या हुआ ? हम जो बाह्य दृश्य और प्रपञ्च देखते हैं, उसे पूर्ववत् देखते रहें तो फिर इष्ट-दर्शन कहाँ हुआ ? देश-काल-जगत् प्रभृति सभी रहते हैं, परन्तु इष्ट से बाहर नहीं, इष्ट के अन्तर्गत रहते हैं। अतएव एक बार इष्ट-दर्शन हो जाने पर जगत् की प्रत्येक वस्तु में ही उसका दर्शन होता है। केवल यही बात नहीं है, इष्ट में भी जगत् की प्रत्येक वस्तु का दर्शन होता है। पश्चात् दोनों को ही अभिन्नरूप में एक साथ देखा जा सकता है। उसके बाद फिर दो नहीं रह जाते, एक ही वस्तु रहती है, यद्यपि वह एक ही अनन्त होती है, तब उसका दर्शन होता है। सब के अन्त में द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति होती है, उस समय फिर द्रष्टा-दृश्य का भेद नहीं रहता।

इष्ट-दर्शन शब्द से किसी देवता-विशेष का दर्शन समझ में नहीं आता और आता भी है। किसी देवता-विशेष का भाव यदि चित्त में प्रबल होता है, तो उस देवता-विशेष के रूप में ही इष्ट का स्फुरण हो सकता है। वस्तुतः यह रूप देवता का नहीं होता, इष्ट का होता है। इस प्रकार रूप का कोई बन्धन नहीं रहता है। जिस किसी आकार में इष्ट की स्फूर्ति हो, इष्ट इष्ट ही है; देवता नहीं। इष्ट को जाग्रत् किये बिना जैसे देवता की आराधना हो सकती है, वैसे ही देवताभाव के बिना भी इष्ट की आराधना हो सकती है। इष्ट शब्द से केवल किसी एक निर्दिष्ट आकार-विशिष्ट वस्तु का ही बोध होता हो, ऐसी बात नहीं है। तथापि निर्दिष्ट आकार इष्ट का ही है, इसमें भी कोई संदेह नहीं है। वस्तुतः इष्टदर्शन का नाम ही ज्ञानचक्षु का उन्मीलन है।

यह जान लेना चाहिये कि इष्ट के साथ गुरुप्रदत्त बीजमन्त्र का वाच्य-वाचक या अभेद सम्बन्ध है। गुरुप्रदत्त बीजमन्त्र ही साधक के क्षेत्र (खेत) में गिरकर इष्ट-

रूप में परिणत होता है। बीज के साथ वृक्ष का जो सम्बन्ध है, गुरु-प्रदत्त मन्त्र के साथ इष्ट का भी ठीक वही सम्बन्ध है। बीज से जिस प्रकार प्राकृतिक नियमानुसार अपने आप ही वृक्ष प्रकट होता है, उसी प्रकार गुरुशक्ति से इष्ट का आविर्भाव हुआ करता है। साधारणतः जैसे नाम और नामी में अभेद माना जाता है, वैसी ही बात यहाँ भी है। इष्ट-साधना की विशेषता यह है कि इस मार्ग में कर्म, भक्ति और ज्ञान का अनुशीलन एक ही साथ होता है।

भगवद्-विग्रह

श्रीभगवान् के देहतत्त्व के सम्बन्ध में बहुत से प्रश्न होते हैं, जैसे—श्रीकृष्ण के देह के सम्बन्ध में आलोचना करते समय स्वभाव से ही भगवद्-विग्रह के विषय में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि भगवान् का विग्रह है या नहीं? और है, तो वह किस प्रकार का है? यही मुख्य प्रश्न है। श्रीकृष्ण यदि भगवान् के अवतार अथवा स्वयं भगवान् थे, तो उनकी जिस देह को संसार के लोग प्रत्यक्ष देखते थे, उसका क्या स्वरूप था। उस देह के अतिरिक्त उनकी और कोई देह थी या नहीं? और थी, तो वह किस प्रकार की थी? ऐसे बहुत से अवान्तर प्रश्नों के समाधान की आवश्यकता प्रतीत होती है।

वस्तुतः भगवान् की देह है और धाम भी है, यह वर्णन शास्त्रों में मिलता है। साथ ही भगवान् निराकार विशुद्ध-चैतन्यमात्र हैं, उनमें किसी प्रकार के आकार का आरोप नहीं हो सकता, उनके नाम-धाम-प्रभृति सभी कल्पित हैं, यह भी शास्त्रीय सिद्धान्त है। ईश्वर साकार है या निराकार, इस बात को लेकर विवाद करने की आवश्यकता नहीं। जो अन्तर्दर्शी हैं, वे जानते हैं कि ईश्वर को साकार भी कहा जा सकता है, निराकार भी; पर वस्तुतः वे साकार और निराकार, इन दोनों प्रकार की कल्पनाओं से ही अतीत हैं।

प्रश्न उठता है कि—गीता में 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' कहकर श्रीकृष्ण ने अपने जन्म और कर्म दोनों को दिव्य बतलाया है। अवश्य ही, यह लीला-तत्त्व का विषय है। इससे यह मालूम होता है कि भगवान् के अवतार-रूप जन्म अथवा कर्म दोनों ही असाधारण एवं अप्राकृत हैं। जन्म शब्द से अवश्य ही देह-ग्रहण समझना होगा।

उत्तर स्पष्ट है कि—भगवान् का जन्म भी नहीं है और उनका कर्म भी नहीं है। कारण, उनके अदृष्ट (प्रारब्ध-कर्म) नहीं है। जीव अपने प्राक्तन कर्म एवं संस्कारवश तदनुरूप देह-ग्रहण कर कर्म-फल का भोग करता है, और नवीन कर्मों का सम्पादन करता है। भगवान् में कर्म-संस्कार न रहने के कारण, वे भोग-देह ग्रहण नहीं करते, इसलिए उनमें कर्तृत्वाभिमान भी नहीं है। इसीलिये वे किसी नवीन कर्म के सम्पादक भी नहीं बनते। वे ऐसा कर्म नहीं करते, जिससे फल उत्पन्न होता हो। भगवान् क्यों, मुक्तपुरुष भी जन्म-कर्म से रहित ही होते हैं, तथापि शास्त्रों में भगवान् के भी देह-ग्रहण और कर्म के सम्बन्ध में वर्णन पाये जाते हैं। सुतरां यह कहना नहीं होगा कि उनके जन्म-कर्म इतर जीवों के सदृश नहीं है। इसीलिये गीता में 'दिव्य' शब्द के प्रयोग द्वारा यह सूचित किया गया है। दुःखमग्न जीवों के कल्याणार्थ कभी भगवान् और कभी उनके परिकर-गण देह-ग्रहण कर अवतीर्ण हुआ करते है। उनके जीवन के कर्म साधारण

जीवों के कर्म से पृथक् होते हैं। वस्तुतः, एक तरह से उनको कर्म न कहने में भी कोई क्षति नहीं है। जिसके मूल में अदृष्ट की प्रेरणा नहीं है और फल का भोग नहीं है, वह प्रचलित कर्म-जातीय कर्म नहीं है, इसमें सन्देह ही क्या है। 'लीला' शब्द के द्वारा अनेक लोग इसी विलक्षणता को समझाया करते हैं।

किन्ही जिज्ञासुओं के प्रश्न होते हैं कि—भगवान् के जन्म या कर्म हो ही नहीं सकते। जो सर्वव्यापक अखण्ड-सत्ता-स्वरूप हैं, किसी भी देश-काल में जिनके अभाव की सम्भावना नहीं है, जो निष्क्रिय चैतन्य-स्वरूप हैं और सर्वदा एक रूप हैं, उनमें जन्म और कर्म कैसे हो सकते हैं। इसीसे उनका अवतार नहीं हो सकता। विचार करके देखने पर ऐसा कहना असंगत भी नहीं प्रतीत होता।

इसका उत्तर है कि—जिस दृष्टि से भेद या अभेद मूलक किसी भी वैशिष्ट्य की प्रतीति नहीं होती, वहाँ न तो कोई शंका है और न किसी समाधान की ही आवश्यकता है। जहाँ भेद और अभेद दोनों का ग्रास करके स्वप्रकाश-तत्त्व, प्रकाशित हो रहा है, वहाँ भी शंका नहीं है। जहाँ काल का विकास और माया का विस्तार है, अतएव जहाँ भेद और अभेद का परस्पर वैषम्य प्रकट हो रहा है, वहीं संशय की उत्पत्ति होती है और इसी द्वन्दमय अवस्था में शंका और समाधान हुआ करते हैं। श्रीभगवान् का जो रूप सर्वातीत है, अव्यक्त है, निरंजन है, उसका यहाँ आलोचन उद्देश्य नहीं है, उनका जो सर्वात्मक और स्वप्रकाश-रूप है, वह भी आलोचना से अतीत है। परन्तु जिस रूप से वे नियामक हैं और जीव नियम्य है, वे आनन्दमय हैं। जीव् दुःख-मग्न है, वे कर्म-फल-दाता और जीव कर्मफल का भोक्ता है, उसी की यहाँ आलोचना करनी है। इस आनन्दमय और करुणामय-रूपके ही अवतार हुआ करते हैं। जो आत्मा इस आनन्दपुर में आनन्दमय भगवत्-साधर्म्य को प्राप्त है, उनके भी अवतार हो सकते हैं; होते भी हैं।

प्रश्न उठता है कि—भगवान् का यह आनन्दमय-रूप क्या नित्य है? जब वे अवतीर्ण होते हैं, तब क्या इस नित्य-रूप को त्याग कर मायिक-रूप ग्रहण करते हैं? यदि ऐसा ही होता है, तो फिर उस परिगृहित-रूप का वैशिष्ट्य ही क्या है?

उत्तर है कि—भगवान् का यह आनन्दमय-रूप नित्य है, उसका त्याग एवं ग्रहण नहीं है, उदयास्त भी नहीं है; वह कालातीत और निर्विकार है। शास्त्रकार और महापुरुषगण उसे चिद्घन-विग्रह कहते हैं। इस रूपको सभी नहीं देख सकते, जो देख पाते हैं, वे धन्य हैं। नारदजी श्वेतद्वीप में गये थे, नारायण को देख भी सके थे; तथापि वे नारायण के स्वरूप को नहीं देख पाये। शास्त्र में ऐसा ही वर्णन है। स्वयं नारायण ने कहा था कि नारद मेरे स्वरूप को नहीं देख सके, उन्होंने मेरा मायिक-रूप ही देख पाया है। नारद के सदृश भक्त भी सहसा जिस रूप को नहीं देख सकते, कहना नहीं होगा कि उसका दर्शन सुलभ नहीं है।

प्रश्न है कि—भगवान् का रूप अतीन्द्रिय होने के कारण ही क्या सब उसे नहीं देख सकते?

यह बात नहीं हैं। अतीन्द्रिय पदार्थ तो बहुत से हैं। उन सबके देखने की

योग्यता हो जाने पर भी भगवद्-दर्शन का अधिकार प्राप्त नहीं होता। साधन-राज्य में धीरता के साथ प्रविष्ट होकर चलने से बहुत से लोगों को न्यूनाधिक रूप में उन सबके अतीन्द्रिय-दर्शन भी हो सकते हैं। परन्तु इससे भगवत् साक्षात्कार की योग्यता नहीं आ जाती। देहाश्रित इन्द्रियाँ परिच्छिन्न क्षमताओं से ही विशिष्ट हैं। जब ये इन्द्रियाँ साधना के प्रभाव से निर्मल होने लगती हैं, तब ये पहले की भाँति देहाधीन नहीं रहतीं। अर्थात् लिंग-देह की आपेक्षिक शुद्धता के फलस्वरूप जब लिंगदेह स्थूल-देह से आंशिक रूप में पृथग्-भूत प्रतीत होता है, तब उससे सम्पृक्त इन्द्रियाँ भी फिर उतनी स्थूल-जगत् के नियमाधीन नहीं रहतीं। हाँ, दोनों में कुछ सम्बन्ध अवश्य ही रहता है।

अब इस विषय को भलीभाँति समझने की चेष्टा करें। चक्षु के द्वारा हम देखते हैं। कहना नहीं होगा कि यह स्थूल भौतिकरूप है। इसे देखने के लिये अनेक नियमों के पालन करने की आवश्यकता होती है। दृश्य-पदार्थ का स्फुट-आलोक में रहना, इन्द्रिय-गोलक की निर्विकारता, दृश्य-पदार्थ के परिमाणगत आत्यन्तिक अणुत्व या महत्व का अभाव, चक्षु और दृश्य के मध्य में किसी प्रकार के व्यवधान का न होना इत्यादि चाक्षुष-ज्ञान के लिए आवश्यक हैं। चक्षु जब तक स्थूल-देह के अधीन और उसके द्वारा अभिभूत रहता है, तबतक प्रतिबन्धकों के कारण उसके साथ बाह्यरूप का सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु इन्द्रिय और देह का परस्पर सम्बन्ध शिथिल होने पर इन्द्रियाँ बहुत कुछ स्वतन्त्र हो जाती हैं, फिर पूर्वोक्त प्रति-बन्धक उनकी गति को नहीं रोक सकते। सुतरां उस समय, विप्रकृष्ट और व्यवहित-वस्तु स्पष्ट देखी जा सकती है। सूक्ष्म वस्तु भी दृश्य होती है। साधारण मनुष्य इन्द्रिय के द्वारा जिसे नहीं देख सकता, उसे इस प्रकार की योग्यता विशिष्ट व्यक्ति देख सकता है। यह एक प्रकार का अतीन्द्रिय-दर्शन ही है।

इन्द्रिय और देह का सम्बन्ध कैसे शिथिल होता है? यह विचारणीय है, किन्तु, यहाँ उसकी आलोचना नहीं करनी है, क्योंकि यह विषय योग-तत्त्व की आलोचना का अंग है। परन्तु यह जान रखना चाहिये कि चित्त-शुद्धि के फल से लिंग और देह का आपेक्षिक पार्थक्य प्रतिष्ठित होता है, ऐसी अवस्था में इन्द्रियाँ भी देह से पृथक् की भाँति काम कर सकती हैं।

जिज्ञासुओं का प्रश्न होता है कि—इस प्रकार की चित्त-शुद्धि से जो तथाकथित अतीन्द्रिय-दर्शन होता है, वह भी भगवत्-रूप के दर्शन के अनुरूप नहीं है!

निश्चय ही। क्या देवर्षि नारद अतीन्द्रियदर्शी नहीं थे? तथापि वे भगवद्-रूप का दर्शन नहीं कर सके। भगवद्-रूप अतीन्द्रिय अवश्य है, परन्तु अतीन्द्रिय-वस्तुओं के भी स्तर हैं। इन्द्रिय के अगोचर राज्य में जाते ही, भगवद्धाम में प्रवेश नहीं हो जाता। परन्तु यह बात भी नहीं है कि भगवत् का रूप इन्द्रिय गोचर ही नहीं होता।

इन विषयों की विशेष आलोचना करने से पहले जीव-देह के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है। जीव-देह का रहस्य समझ में आ जाने पर भगवद्देह के रहस्य को समझना सहज होगा। जीव के कितने देह हैं? साधारणतः जीव के तीन देह हैं; यद्यपि इसके अन्दर भी बहुत-सी सूक्ष्म बातें हैं। जीव के स्थूल, सूक्ष्म और कारण

तीन प्रकार की जड-देह हैं। अवश्य ही, इसके परे जीव की स्वरूप-देह भी है, जो चैतन्यमय है।

प्रश्न उठता है कि क्या भगवान् की भी इसी तरह की देह है?

वस्तुतः, भगवत्-स्वरूप ही भगवद्-देह है। वह चिदानन्दमय है, यह बात पहले कही जा चुकी है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण यह त्रिविध जड या मायिक-देह उनके नहीं हैं। जड-देह धारण करने के लिए अभिमान चाहिये; वह भगवान् में नहीं है; सुतरां जड-द्रव्य भगवद्देह नहीं हो सकता। परन्तु अभिमान न होने पर भी आवश्यक होने पर वे अभिमान की रचना करके, उसके आश्रयरूप में जड-देह ग्रहण कर सकते हैं। इतना स्मरण रखना चाहिये कि यह अभिमान आगन्तुक है, और देह भी ऐसी है। स्वरूपतः जीव की भी जड-देह नहीं है। जीवका स्वरूप भी चिन्मय है। परन्तु जीव भेद-दृष्टि से भगवदंश होने के कारण आत्मविस्मृति की अवस्था में जड-देह का अभिमान कर सकता है। अभिमान की निवृत्ति न होने तक जीव की जड-देह रहेगी ही। अवश्य ही, भगवत्-परिकर-भावसम्पन्न जीवों के सम्बन्ध में यह नियम सर्वदा लागू नहीं होता। भगवान् की भाँति वे भी आहार्य या आगन्तुक अभिमान का आश्रय कर नवसृष्ट या पूर्वसृष्ट देह में अनुप्रविष्ट हो सकते हैं। साधारण जीव जो कि भगवद्धाम के साथ संसृष्ट नहीं हैं, वह माया के प्रभाव से आत्म-विस्मृत होकर प्राकृत-जगत् में पतित होते हैं, और प्राकृत-देह में अभिमान करते हैं। उनका अभिमान ज्ञानोदय के पूर्व-क्षण तक वास्तविक होता है। आत्मज्ञान उदय होने पर वह कट जाता है, साथ ही साथ देह-सम्बन्ध भी टूट जाता है।

एक सामान्य शंका होती है कि—वेदान्त-शास्त्र में जो व्यष्टि और समष्टि-भाव से स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देह का विचार पाया जाता है, वह भी क्या जीवदेह है?

निश्चय ही। व्यष्टि-भाव से स्थूल-आदि देह का अभिमानी जीव वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ के नाम से कहा जाता है। समष्टि-भाव का अभिमान रहने से विश्व, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये तीन नाम दिये जाते हैं। परमार्थतः दोनों ही जीव हैं। यहाँ जिसे ईश्वर कहा गया है, वह भी नित्य-ईश्वर नहीं है, कार्य-ईश्वर है। तत्त्व-दृष्टि से ये भी जीव ही हैं। ब्रह्मा की त्रिमूर्ति इन्हीं की है। ये भी त्रिगुण-सम्बन्धी हैं। नित्य ईश्वर त्रिगुणातीत है, विशुद्ध या अप्राकृत सत्त्वगुण को आश्रय करके, वे आत्म-प्रकाश करते हैं। विशुद्ध-सत्त्व के नित्य-वस्तु होने से परमेश्वर की उपाधिभूत देह भी नित्य और अप्राकृत है। इस विषय की क्रमशः आलोचना की जायगी।

प्रश्न होता है कि—क्या भगवान् के व्यष्टि-समष्टि विभाग नहीं हैं? उनके देह भी नहीं है?

वस्तुतः, शुद्ध-जीव भगवान् का अंश है; नित्य, अव्यक्त (अतीन्द्रिय), आनन्दरूप, स्वप्रकाश, चिदात्मक, निरवयव और निर्विकार है। जीव का परिमाण अणुमात्र है, परन्तु अणु होनेपर भी वह स्व-गुण एवं ज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्यापक है। ज्ञान इसके आश्रित है। आत्माका जैसे स्वरूप है, वैसे ही उसका ज्ञान भी नित्य, अजड, आनन्दरूप द्रव्य-विशेष है। प्रत्येक जीव का स्वरूप जीवभाव से पृथक् है, परन्तु वह

पार्थक्य समझाया नहीं जा सकता। जब कुछ भी औपाधिक भेद नहीं रहता, तब भी वह पार्थक्य लुप्त नहीं होता। किन्तु उस स्वरूप की अभिव्यक्ति भगवान् की विशेष कृपा बिना नहीं होती।

कारण-जगत् में जो बीजभूत जीवदेह है, वही कारण-शरीर है; वह जीव का-स्वरूप नहीं है। जीवका स्वरूप वस्तुतः कार्यकारण-चक्र के भी अतीत है। कारण-देह भी एक प्रकार नित्य है। वह प्रवाह-रूप से नित्य है, बीजका ध्वंस नहीं है; उत्पत्ति भी नहीं है। जिस प्रवाह से समग्र-जगत् चल रहा है, वह जबतक है, तबतक यह जगत् भी है। कारण अलिंग है, परन्तु इसीसे लिङ्ग आविर्भूत होकर भौतिक आवरण से पुष्टि और स्थूलता प्राप्त करता है। प्रयोजन-बोध या कामना से ही कारण कार्यरूप में परिणत होता है। जब, जिस मात्रा में वह प्रयोजन सिद्ध होता है और कामना निवृत्त होती है, तब उसी परिमाण में जीव मुक्त होता है। प्रयोजन और कामना के पूर्णरूप से पूरा हो जाने पर, फिर सृष्टि-चक्र में रहना नहीं पड़ता। जीव जब कारण-जगत् में अपने कारण-देह में अहं-बोध करता है, तब वह अपने देह (कारण) से विद्युत्-स्फुलिंग के सदृश लिङ्ग-ज्योति का आविर्भाव देखता है। कारण का जो अंश निकल कर लिङ्गरूप में प्रकट होता है, वह अंश अपने उद्भव-स्थान कारण को नहीं देख सकता। स्वाभाविक सृष्टि के इस मार्ग में लिंग जिस आकार को प्राप्त होता है, वह लिंग का आपेक्षिक नित्य आकार है, किन्तु यह आकार भी सृष्टि-प्रवाह में सहायक है। जीव लिंग-देह का आश्रय कर अपने को तद्रूप ही समझता है। शुद्ध-लिंग से एक या एकाधिक प्रभाएँ निकल कर भौतिक-क्षेत्र में आती हैं और भौतिक-आच्छादन से आच्छन्न होकर स्थूल-देह के रूप में पुष्टि-लाभ करती हैं। शुद्ध-लिंग स्वाभाविक नियम से अपनी इस सृष्टि-लीला को देखा करता है, परन्तु उसका जो अंश स्थूल-देह में बँध जाता है, वह अपने उद्भव-स्थान को नहीं जान सकता, यह अज्ञान का ही प्रभाव है।

जीव स्थूल-देह में अभिमान कर के अपने को देह-स्वरूप ही समझता है। फिर क्रमशः साधन के बल से, जब स्थूल-देह से आच्छन्न-लिङ्गदेह उससे कुछ मुक्ति प्राप्त करता है; तब यह समझ में आ सकता है कि स्थूलदेह जीव नहीं है और यह लिंग भी विशुद्ध-लिंग नहीं है। कारण, उसमें स्थूल-वासना रहती है। यह लिंग ही कर्मानुसार स्थूलदेह ग्रहण करता है और छोड़ता है। असंख्य-बार इस प्रकार जन्म-मरण हो गया है, अतः असंख्य प्रकार की स्थूल देहों का ग्रहण और त्याग हो चुका है; तथापि लिंग मूल में एक ही प्रकार का बना हुआ है। इस लिंग का आकार स्थूल-भाव के अनुरूप है, परन्तु अस्थायी है। इसका कारण यही है कि यह स्थूल-सम्बन्ध स्थायी नहीं है। साधना करते-करते अन्त में लिंगदेह का शोधन होने पर विशुद्ध-लिंग का प्रतिभास होता है। विशुद्ध-लिंग में अभिमान के समर्पित हो जाने पर स्थूल-जगत् का जन्म-मरण छूट जाता है। कारण, लिंग में स्थूल-वासना न रहने से भौतिक आच्छादन नहीं होता। विशुद्ध-लिंग का आकार अपूर्व ज्योतिर्मय, मनोनयनाभिराम, लावण्य-मण्डित और दिव्य-भावापन्न है। जितनी देव-भूमियाँ हैं, वे सभी विशुद्ध-लिंग की ही अवस्थायें हैं। परन्तु यहाँ से भी जीव को लौटना पड़ेगा। लिंग विशुद्ध होने पर फिर वह बाहर रहना

नहीं चाहता। कारण बाहर की ओर उसका आकर्षण नहीं रह जाता। वह जिस कारण-भूमि से उतरा था, फिर अपने-आप वहीं लौट जाता है। लिंग का आकार अधिकाधिक पूर्णता-लाभ करने पर कारण-रूप में प्रकट होता है। कारण-देह का सौन्दर्य अवर्णनीय है। समस्त शास्त्रों में जो कामदेव या कन्दर्प की अनुपम रूप-राशिका वर्णन मिलता है, वह इस कारण-देह के मूल उत्सव के सम्बन्ध में ही है। इस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कहनी हैं। यहाँ इस विषय की चर्चा संगत नहीं होगी, परन्तु इतना जान रखना चाहिये कि कारण-देह भी जडदेह है। इसके ऊपर जीव का स्वरूप है। जब कारण-रूप का ही वर्णन नहीं हो सकता, तब स्वरूप का वर्णन तो कौन करेगा? भगवान् के अनुग्रह के बिना इस स्वरूप की उपलब्धि का और कोई उपाय नहीं है।

यहाँ शंका होती है कि क्या कारण-मण्डल को अतिक्रम किये बिना, माया के अधिकारसे छुटे बिना, भगवद्-देह या भगवत्-स्वरूप के दर्शन नहीं किये जा सकते?

यही बात है। भगवान् का जो परमरूप है, जिसको शास्त्रकारों ने नित्यरूप कहा है, वह नित्य मुक्तों के द्वारा ही देखा जा सकता है।

यह विचारणीय है कि पांचरात्र-आदि किसी-किसी सम्प्रदाय के द्वारा भगवान् के जो पंचविध स्वरूपों का वर्णन किया जाता है, उनमें क्या तारतम्य है?

वस्तुतः, उनमें तारतम्य न होने पर भी, तारतम्य है ही। जो उनका परमरूप है, उसका केवल नित्य और युक्त पुरुषगण ही अनुभव कर सकते हैं। अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन-आदि जो अनादि-काल से स्वभावतः ही असंकुचित-ज्ञानवान् हैं, वे नित्य हैं। जो संसार से निवृत्त होकर ज्ञान के संकोच को दूर कर सके हैं, वे मुक्त हैं, ये भी परमपद पर विराजते हैं। भगवान् का परमरूप केवल इन्हीं के ज्ञान और नेत्रों का विषय होता है। यह नित्यरूप जिस देश में सर्वदा विराजते हैं, उस देश में कालकृत परिणाम नहीं है, आनन्द का अंत नहीं है; वह देश भगवान् की नित्य-विभूति-स्वरूप है।

परन्तु भगवान् का दूसरा रूप—जो ब्यूह के नाम से परिचित है, वह इससे पृथक् है। नित्य-विभूति के बाहर लीला-विभूति में भगवान् व्यूह-रूप धारण कर के अवस्थित हैं। सृष्टि, पालन और संहार करने के लिये, संसारीजनों का संरक्षण करने के लिये, और उपासकों पर अनुग्रह करने के लिये यह रूप ग्रहण किया जाता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये चार व्यूह हैं। वस्तुतः संकर्षणादि तीन ही ब्यूह हैं, वासुदेव तो ब्यूह-मण्डल में आकर व्यूह रूप में केवल गिने जाते हैं।

जिज्ञासा होती है कि—क्या परमरूप और व्यूह में यथेष्ट पार्थक्य है? परमरूप जगत् के अतीत है, वहाँ सृष्टि आदि व्यापार नहीं है, संसार ही नहीं है, क्योंकि इससे संसारीजनों का उद्धार भी नहीं है। सभी के कृतकृत्य होने के कारण कोई उपासक नहीं है, इसलिये अनुग्रह भी नहीं है, व्यूहरूप तो कालराज्य में ही स्थित प्रतीत होता है।

ठीक है। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज—इन छः अप्राकृत गुणों का एक ही साथ प्रादुर्भाव भगवान् के ही विग्रह में प्रकाशित होता है। इसीलिये

शास्त्रों में भगवान् को षाड्गुण्य-विग्रह कहा गया है। भगवान् के जिस स्वरूप में ये छः गुण पूर्णरूप से एक ही साथ स्थित हैं—उसीका नाम 'वासुदेव' है। ज्ञान और बल इन दो गुणों की प्रधानता से संकर्षण, ऐश्वर्य तथा वीर्य की प्रधानता से प्रद्युम्न, और शक्ति तथा तेज के प्राधान्य से अनिरुद्ध, नामक व्यूहका आविर्भाव होता है। याद रखना चाहिये कि वासुदेव रूप ही त्रिविध विषमता को प्राप्त होकर व्यूह-त्रय बन गया है। अतएव संकर्षणादि प्रत्येक विग्रह ही षड्गुणात्मक है। परन्तु तत्तत् कार्य-साधन के लिये उनमें केवल दो-दो गुण ही प्रधानरूप से भासते हैं। इसलिए संकर्षणादि भी भगवान् के ही स्वरूप हैं, इनमें सन्देह नहीं करना चाहिये। भगवान् का परम-रूप नित्योदित नित्य-वासुदेव है, वह नित्य गुणों के द्वारा सेव्य हैं। व्यूहादि रूप—शान्तोदित व्यूह वासुदेव हैं। इन दोनों को एक समझ कर कभी-कभी व्यूह को त्रिविध कहा जाता है।

संकर्षण जीव-तत्त्व के-अधिष्ठाता हैं, ईश्वर के अधिष्ठान बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। जब भगवान् की सिसृच्छा होती है, तब वे प्रकृति में विलीन जीव-तत्त्व के अधिष्ठाता होकर प्रकृति के अन्दर से जीव को अलग करके निकाल देते हैं। इसी के साथ ही अव्याकृत-प्रकृति से नाम-रूप जाग्रत् हो उठता है।

प्रद्युम्न मन के अधिष्ठाता हैं। प्रद्युम्न से वीर्य द्वारा सर्व धर्मों का प्रवर्तन होता है, और ऐश्वर्य द्वारा शुद्ध-सृष्टि का विधान होता है। संहार प्रद्युम्न से होता है। शुद्ध-सर्ग के अन्दर एक मनु के मुख से और एक-एक मनु की बाहु, उरु एवं पादसे सृष्टि होना ही, प्रधान-सृष्टि है। इन चारों मनुओं को ब्राह्मणादि प्रतिवर्ण की एक-एक युगल-मूर्ति के रूप समझना चाहिये। इस मनु-चतुष्टय से क्रमशः मानव, मानव-मानव और मनुष्य उत्पन्न होते हैं। ये सभी शुद्ध-सत्वस्थ, निष्काम, भगवत्-परायण और अध्यात्म-चिन्तक होते हैं।

अनिरुद्ध अनन्त जगत् के (शक्ति के द्वारा) रक्षक एवं तत्त्वज्ञ हैं और (तेजके द्वारा) कालसृष्टि एवं मिश्रसृष्टि के विधाता हैं। यही ब्राह्मा के सृष्टि-कर्ता हैं। ब्रह्मा से चार प्रकार के रजो-बहुल भूत-सर्ग (ब्राह्मण आदि) की उत्पत्ति होती है। ये सकाम और कर्मासक्त होते हैं। अनिरुद्ध स्वयं ही अण्ड और अण्ड का कारण उत्पन्न करते हैं। एवं चेतन के अन्तर्यामी होकर अण्ड के अन्तर्गत वस्तु-समूह की सृष्टि करते हैं। इसीलिये वे अपने संकल्प-बल से सारी समष्टि-सृष्टि साक्षात् रूप से, और व्यष्टि-सृष्टि किसी द्वार का अवलम्बन करके करते हैं। इस अण्ड में जो बद्धात्मा समष्टिरूप-ब्रह्मा जन्म-ग्रहण करते हैं, यही उनकी साक्षात् सृष्टि का निदर्शन है। फिर उस ब्रह्मा के द्वारा जो सृष्टि होती है, वह दूसरी प्रकार की सृष्टि है।[१]

भगवान् के तीसरे रूपका नाम विभव है। उसे अनन्त होने पर भी मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार का समझना चाहिये। भगवान् का जो प्रादुर्भाव (भगवत् रूपसे) अन्य की भाँति होता है, वही विभव है। मुख्य विभव साक्षात्-

१. कोई-कोई समझते हैं कि शुद्ध-सृष्टि साक्षात्-रूपसे सम्पन्न होती है। परन्तु मिश्र-सृष्टि किसी द्वार को अवलम्बन करके होती है। इन बातों को सब स्वीकार नहीं करते।

अवतार है, और गौण विभव आवेशावतार है। शक्तिका भी आवेश हो सकता सकता है, स्वरूप का भी। स्वरूपावेश में भगवान् अपने असाधारण-विग्रह के साथ चेतन-स्वरूप में प्रविष्ट होते हैं, जैसे—परशुराम। यदि कार्यकाल में शक्ति-मात्र का ही स्फुरण होता है, तब वह शक्त्यावेश है, जैसे—ब्रह्मा आदि। जो अवतार मुख्य और साक्षात् होते हैं, उनके विग्रह दिव्य और अप्राकृत होते हैं, तथा स्वभाव अच्युत अर्थात् अंशीके सदृश होता है। ये अवतार मुमुक्ष-गणों के लिये उपास्य हैं। दीपक से जैसे सम-स्वभावविशिष्ट दीपकान्तर आविर्भूत होता है, वैसे ही मुख्य अवतार जगत् की रक्षा के लिये प्रकट हुआ करते हैं। इनमें किसी का आकार मनुष्य के सदृश होता है, तो किसी का पशु के समान और किसी का स्थावर के जैसा। इसमें केवल भगवदिच्छा ही कारण है और कोई भी कारण नहीं है, कर्मादि इसमें कारण नहीं हैं।

परन्तु जो गौण अवतार होते हैं, वे मुमुक्षुओं के उपास्य नहीं होते। कारण, वे स्वातन्त्र्यरूपी अहंकार-युक्त जीवों के अधिष्ठाता होते हैं, केवल भोगार्थी प्रवृत्ति-मार्गी ही इनकी उपासना करते हैं। ये शक्त्यावेशावतार होते हैं। गौणावतारों में बहुत प्रकार के भेद हैं।

भगवान् स्वेच्छासे ही नानारूप धारण करते हैं। रूप-धारण करके वे साधु-परित्राण, दुष्कृतों का विनाश और धर्म-संस्थापन करते हैं। अवतार का कारण कर्म नहीं है। भृगु-शाप आदि जो सुनने में आते हैं, वे छलमात्र हैं। वस्तुतः भगवान् लीला-वश इच्छामात्र से ही अवतीर्ण होते हैं। कोई बाह्य कारण उनको अवतीर्ण होने के लिये विवश नहीं कर सकता।

भगवान्‌का चतुर्थरूप अन्तर्यामी है। इस रूप से वे जीव के हृदय में प्रविष्ट होकर उसकी सब प्रकार की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करते हैं। अन्तर्यामी दो प्रकार के होते हैं—एक भगवान् अपने मङ्गलमय-विग्रह के साथ जीव से सखारूप मे उसके हृदय-कमल में विराजित रहते हैं, उद्देश्य है—उसकी रक्षा करना, और उसके ध्येय-रूप में साथ-साथ अवस्थित रहना। दूसरा, अन्तरात्मरूप से। ये जीव की सभी अवस्थाओं में—स्वर्ग, नरक यहाँ तक की गर्भावस्था में भी; उसके अन्तर में रहकर उसकी सत्ता की रक्षा और सहायता करते हैं। वे जीव का त्याग कदापि नहीं कर सकते, इसलिये उसके अन्तरात्मरूप से अवस्थान करते हैं।

इसके बाद भगवान् का पाँचवा रूप है—अर्चावतार, अर्चाप्रतीक; यह पुरुष के आकार का होता है। भगवान् अनुग्रह करके अपने आश्रित भक्त-जीवों के अभिमतानुसार किसी भी द्रव्य को अपना विग्रह मानकर उसमें विराजने लगते हैं। इसमें देश-नियम नहीं है—अयोध्या, मथुरा आदि देश न होने पर भी, हानि नहीं है। काल-नियम भी नहीं है। जब तक इच्छा हो, तभी तक रह सकते हैं। अधिकारी का नियम नहीं है, दशरथ आदि की भाँति अधिकार-विशिष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। अवतार के रूप से यह रूप भिन्न और विलक्षण है। अर्चक जिस किसी स्थान में और जिस किसी समय उनको प्राप्त करना चाहता है, वहीं, उसी समय वह प्राप्त कर सकता है। भगवान् अर्चक के सभी अपराधों की उपेक्षा करते

हैं। अर्चक जब जिस भाव से उनके स्नान, भोजन और शयनादि की व्यवस्था करता है, वे उसी को तदधीन-भाव से स्वीकार करते है।

स्वभावतः भगवान् प्रभु हैं, जीव उनका आश्रित दास है।

परन्तु यहाँ अर्चावतार में, इस सम्बन्ध में, विपरीतता आ जाती है। भगवान् अज्ञ, अशक्त, अस्वतन्त्रवत् होकर अपार-करुणावश भक्त की सारी वाञ्छा पूर्ण करते हैं, उसे मोक्ष तक दे देते है, इस प्रकार वे सबके बन्धु और भक्त-वत्सल हैं।

पतित दृष्टि में इन पाँच प्रकार के रूपों में उत्तरोत्तर उत्कर्ष रहता है, यह ठीक है; परन्तु वस्तुगत-भेद कहीं नहीं है। भक्ति के प्रभाव से स्थूलाभिमानी जीव अर्चावतार का साक्षात् कर सकते हैं। सूक्ष्म-भाव में उन्नत होने पर भक्ति के बल से सविग्रह-अन्तर्यामी के दर्शन भी हो सकते हैं। कारण-भाव में व्यूह-वासुदेव भी दृष्टिगोचर होते हैं। उसी के ऊपर परमरूप है। विभव साधारणतः स्थूल-जगत् में प्रकट होते हैं, कभी-कभी सूक्ष्म जगत् में भी होते हैं, किन्तु भगवान् के परम-रूप के दर्शन मायातीत हुए बिना नहीं होते।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीव का परमरूप भी इसी प्रकार का है। पर भगवान् के विशेष अनुग्रह बिना जीव अपने परमरूप को प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उनके अनुग्रह बिना माया से उत्तीर्ण नहीं हुआ जाता। जो जीव ज्ञान-योग से प्रकृति से विमुक्त होकर कैवल्य या स्वात्मानुभव करते हैं, वे परम-रूप नहीं पाते। वे अर्चिरादि-मार्ग से परमपद में पहुँचकर भगवदनुभव नहीं पा सकते। वे केवल स्वात्मानुभव ही पाते हैं। इनकी अवस्था भक्त की दृष्टि में पतित्यक्ता पत्नी की भाँति कृपा के योग्य होती है। ये सब जीव प्राकृत-देह और ब्रह्माण्ड को छोड़कर अवश्य चले जाते हैं, परन्तु अप्राकृत-देह को प्राप्त नहीं होते। कोई-कोई समझते हैं कि ये प्रकृति में ही किसी स्थान पर स्वात्मानुभव करते हैं, परन्तु ऐसा असम्भव है।

जो जीव भक्ति या प्रपत्ति का आश्रय लेकर चलते हैं, वे मोक्ष पाते हैं।

साधन और साध्य भेद से भक्ति दो प्रकार की है। भक्त का उपाय भक्ति है और प्रपन्न का एकमात्र अवलम्बन स्वयं भगवान् हैं, दोनों ही प्रकृति के पास विराट को भेदकर सूक्ष्मदेह को त्याग कर अमानव-स्पर्श के द्वारा अप्राकृत दिव्य-विग्रह प्राप्त करते हैं और भगवद्धाम में प्रवेश-लाभ करते हैं। मुक्त पुरुष स्वेच्छा से ही समस्त लोकों में संचरण कर सकते हैं। अवश्य ही, उनकी इच्छा भगवदिच्छा के अधीन होती है। जो जीव नित्य हैं, उनके ज्ञान का संकोच कदापि नहीं होता। कारण, वे कभी भगवान् के अप्रिय और विरुद्ध आचरण नहीं करते। अनादि काल से ही उनके नाना प्रकार के अधिकार रहते हैं, इसका मूल भी भगवान् की नित्य इच्छा ही है।

प्रश्न उठता है कि—शास्त्रों के अनुसार देवता मन्त्रात्मक है। कोई-कोई कहते हैं कि देवता की तरह भगवान् के भी विग्रह नहीं है। इधर यह भी शास्त्रों के ही वाक्य हैं कि देवता के विग्रह हैं। इन दोनों की संगति कैसे हो सकती है?

शास्त्रों में कहीं भी वास्तविक विरोध नहीं है, हो भी नहीं सकता। मीमांसकों की दृष्टि में देवता विग्रहवान् हैं, परन्तु दोनों में कोई भेद नहीं है। अन्तर्दृष्टि खुल जाने

पर इस तत्त्व का पता लगेगा। वस्तुतः मन्त्र ही देवता का आकार है। यहाँ बिन्दु, नाद और कला-तत्त्व की आलोचना नहीं करनी है, परन्तु इतना जानना आवश्यक है कि बिन्दु जब विक्षुब्ध होकर नाद की सृष्टि करता है, तभी उसी के साथ-साथ कला का विकास भी हुआ करता है। इसीके बाद की अवस्था में सावयव आकार की उत्पत्ति होती है। शुद्धचेतना, जो बिन्दु के अतीत अथवा बिन्दु-श्लिष्ट होकर भी बिन्दु के द्वारा अस्पृष्ट है, उस समय साकार-रूप में प्रतिभासित होता है। चिदाभासवश वह आकार उज्ज्वल होकर भासता है, जगत् में उसीको देवता कहते हैं। कहना नहीं होगा कि यह नाद की ही एक अवस्था है। परन्तु इस अवस्था में नाद ज्योतिरूप में स्थित है, यही विशेषता है। वैयाकरण लोग इसीको 'पश्यन्ती-वाणी' कहा करते हैं। मन्त्र-सिद्धि अथवा देव-साक्षात्कार होने पर इस प्रकाश-बहुल विशुद्ध सात्त्विक 'पश्यन्ती बाणी' का ही विकास हुआ करता है। शब्द और अर्थ वाचक-वाच्य रूप में नित्य सम्बन्धित हैं, इसी से देवता-तत्त्व में दोनों ही एकात्मभाव से स्थित रहते हैं। मन्त्ररहस्य समझने पर यह धारणा स्पष्ट होगी कि मीमांसा और वेदान्त के सिद्धान्त में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार साकार-निराकार के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

श्रीमद्भागवत (१।५।३८) में श्री भगवान् को 'मन्त्रमूर्तिममूर्तिकम्' कहा गया है, इससे भी प्रतीत होता है कि मन्त्र उनकी मूर्ति है तथापि वे अमूर्त हैं। भगवान् के मन्त्र या शब्द-ब्रह्ममय रूप का वर्णन भागवत के अन्य स्थलों में स्पष्टरूप से मिलता है। सिद्धावतार कपिलदेव के पिता प्रजापति कर्दम ऋषि के दीर्घकाल तपस्या करने पर प्रसन्न होकर भगवान् उनके सामने शब्द-ब्रह्मात्मकरूप धारण करके आविर्भूत हुए थे।

तावत्प्रसन्नो भगवान् पुष्कराक्षः कृते युगे।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥
(श्रीमद्भा० ३।२१।८)

रामानुज-सम्प्रदाय उनको 'पञ्चोपनिषत्तनु' कहते हैं। इसका भी अभिप्राय यही है कि शब्द-ब्रह्ममय नाद ही भगवान् का विग्रह है। वैष्णवाचार्यों ने जो विशुद्ध-सत्त्व को भगवद्-देह माना है, वह भी यही है। कारण, शैव और शाक्त-शास्त्रों में जिसको बिन्दु बतलाया गया है, वैष्णव भक्तों का शुद्ध-सत्त्व उसके अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अक्षर-बिन्दु और क्षर-बिन्दु बिन्दु के ही अवस्था-भेद-मात्र है, बिन्दु के क्षरण से ही वर्ण की उत्पत्ति होती है। साकार-जगत् इस वर्ण की रचना-विशेष है। बिन्दु-तत्त्व के साथ कुण्डलिनी-तत्त्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सम्भवतः सभी जानते हैं कि जाग्रत्-कुण्डलिनी से ही देवता का आविर्भाव होता है। कुण्डलिनी के जागरण का अर्थ—शब्द-ब्रह्म का परावस्था से पश्यन्ती-अवस्था में आविर्भाव है।

प्रश्न हो सकते हैं कि बिन्दु के क्षोभ-जनित रूप क्या नित्यरूप हो सकते हैं? बिन्दु का क्षोभ ही क्यों होता है, और बिन्दु-क्षोभ के पूर्व क्या रूप नहीं था? इन

सब प्रश्नों का समाधान जानना आवश्यक है। बिन्दु-क्षोभ जनित रूप अवश्य ही नित्यरूप नहीं है, परन्तु उसकी भी आपेक्षिक नित्यता तो है ही। कल्पान्त स्थायी रूप को भी एक प्रकार से नित्य कहा जा सकता है, पर वह भी वास्तविक नित्य नहीं है। कारण, प्रलय-काल में वह नहीं रहता। वस्तुतः उसकी उत्पत्ति है और विनाश भी है। सूक्ष्म-भाव से निरीक्षण करने पर यह पता लगता है कि क्षोभ के पूर्व भी रूप था। यदि न होता तो, क्षोभ ही न हो सकता और शुद्ध-अवस्था में रूप का आविर्भाव होना भी सम्भव न होता। बिन्दुक्षोभ से जन्य अवयवों से घटित रूप को तन्त्रशास्त्र में वैन्दव-रूप कहा है। यह जगत् के समस्त रूपों का मूल है। परन्तु सबका आदिरूप होने पर भी, यह रूप अनादिरूप नहीं है। जो रूप बिन्दु से अतीत है, परम-व्योम से भी अतीत है, जो किसी अचिन्त्य कारण से बिन्दु के साथ संश्लिष्ट होकर बिन्दु, कला और नादरूप में परिणत हो, वैन्दवरूप का आविर्भाव कराता है, वही अनादिरूप है, वही शाक्त और चिन्मय है। भगवत्-शक्ति चिन्मयी होने के कारण इस रूप को चिद्विग्रह भी कह सकते हैं। परन्तु यह जान रखना चाहिये कि अभिव्यक्त-जगत् की दृष्टि में यह अव्यक्त है, न इसका ध्यान हो सकता है और न वर्णन ही किया जा सकता है। शाक्तरूप अक्षुब्ध-बिन्दु के सान्निध्य में रहने पर उसके स्वप्रकाशमय नित्यरूप का स्फुरण होता है। शाक्तरूप नित्य है, बिन्दु भी नित्य है, अतएव उभय सान्निध्य-निमित्तक प्रकाशमयरूप भी नित्य हुए बिना नहीं रह सकता।

जिन लोगों ने चिद्विलासमय पर-व्योम तत्त्व की आलोचना की है, वे सहज ही में इस बात को समझ सकते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से होना ही स्वाभाविक है। शक्ति और बिन्दु में शक्ति चिदात्मिका है, और बिन्दु विशुद्ध-सत्त्वमय, अतएव जड है। इस प्रकार समझने पर, प्रणवात्मक, मन्त्रात्मक अथवा नादमय रूप को नित्य चैतन्योज्ज्वल शुद्ध-जडरूप ही कहना पड़ता है। चेतनांश की ओर लक्ष्य करके उसे चिन्मय भी कहा जा सकता है, परन्तु शाक्तरूप सर्वथा जडत्वहीन है, वह नित्य और अव्यक्त है। परन्तु देवता और अधस्तन जगत् का जो आकार है, वह तो बिन्दु-क्षोभ से उत्पन्न कला द्वारा संकल्पवश गठित होने के कारण, जड और अनित्य ही है। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ ब्रह्मरूप को अभिव्यक्त-शब्दमय कहा गया है, वहाँ उक्त व्यञ्जना के अनुसार भगवान् के ग्रहण किये हुए वैन्दव अथवा तज्जातीय ही किसी अन्य रूप को समझना चाहिये, स्वरूप को नहीं। परन्तु यदि पराशक्ति अथवा चैतन्य को भी शब्द-ब्रह्म समझकर ग्रहण करने की योग्यता आ जाय तो, शाक्तरूप भी शब्दमय है, यह समझा जा सकता है।

ऋषियों के अनुभव और वर्णन की विशेषताओं के कारण भगवान् के रूप के सम्बन्ध में नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न हो गये हैं। परन्तु वस्तुतः भगवत्-तत्त्व में देह और देही का कोई पार्थक्य न होने के कारण मूल में किसी प्रकार के विकल्प का स्थान ही नहीं है। कारण, भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, इसलिये उनका विग्रह या रूप भी सच्चिदानन्दमय ही है। सुतरां उसकी नित्यता स्वभावसिद्ध है। महावाराह-पुराण में कहा है—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
परमानन्दसन्दोहाः·····························।

अन्यान्य स्थलों में भी भगवद्-विग्रह को स्पष्ट रूप से नित्य और चिन्मय बतलाया गया है।

प्रश्न होता है कि—श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् थे, श्रीमद्भागवत में कहा गया है—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। यदि यही बात है तो उनकी देह भी अप्राकृत और नित्यानन्दमय ही होनी चाहिये। परन्तु नित्य-देह का उन्होंने त्याग किस प्रकार किया, क्योंकि उनके देह-त्याग का वर्णन महाभारत और पुराणों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

श्रीकृष्ण की देह अप्राकृत थी, इसमें सन्देह ही क्या है? अप्राकृत देह का त्याग नहीं हो सकता, परन्तु उसके त्याग का भान होता है; वह भी लोक-दृष्टि में इन्द्र-जालवत् समझना चाहिये। स्कन्दपुराण में कहा गया है—

पृथिवीलोकसन्त्यागो देहत्यागो हरेः स्मृतः।
नित्यानन्दस्वरूपत्वादन्यन्नैवोपलभ्यते॥
दर्शयञ्जनमोहाय महतीं मृत्तिकाकृतिम्।
नटवद्भगवान् विष्णुः परक्तानाकृतिः स्वयम्॥

अर्थात् मर्त्यलोक त्याग करने का नाम ही भगवान् का 'देह-त्याग' है, वस्तुतः भगवद्-देह नित्यानन्दमय होने के कारण कभी त्यक्त नहीं हो सकती। जहाँ देह और देही पृथक् होते हैं, वहीं देह-त्याग की बात उठ सकती है, देह और देही अभिन्न होने पर त्याग कैसे हो सकता है? सुतरां श्रीकृष्ण ने न तो वस्तुतः देह का त्याग ही किया था और न देह का ग्रहण ही किया था। हाँ, वे मायिक या प्राकृत-देह ग्रहण कर सकते हैं, करते भी हैं; और उसी का त्याग होता है। कारण, वह आगन्तुक होती है।

सब लोग श्रीकृष्ण को नहीं पहचान सकते थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो ज्ञानी और भक्त थे, जिनकी अन्तर्दृष्टि पूर्ण रूप से खुल गयी थी, वे ही उनकी भगवत्ता को समझ सकते थे, श्रीकृष्ण का स्वरूप उन्हीं के सामने प्रकट होता था। मूढ व्यक्ति उन्हें साधारण मनुष्य समझकर अवज्ञा करते थे। इसका कारण यही है कि जब-तक दृष्टि के ऊपर से मोह का आवरण दूर नहीं होता, अर्थात् ज्ञान-चक्षु उन्मीलित नहीं होते, तब-तक दिव्य-देह दृष्टि-गोचर नहीं होती। केवल श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही नहीं, भगवत्-साधर्म्य प्राप्त किसी भी महापुरुष के सम्बन्ध में यही बात जाननी चाहिये।

श्रीकृष्ण के प्रपञ्चातीत नित्य-रूप का वर्णन करने की सामर्थ्य चौदह भुवनों में किसी में भी है, ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। योगमाया की कृपा बिना उस रूप का दर्शन किसके भाग्य में सम्भव हो सकता है! शास्त्रों में जो वर्णन है, वह तो ध्यान की सुकरता के लिये, उनके रूप का आभास-मात्र है। कर्दम ऋषि ने जो

रूप देखा था, वह चतुर्भुज था; ध्रुव, अर्जुन और अन्यान्य अनेक भक्तों ने भी यही रूप देखा था। यद्यपि सभी रूप बिल्कुल एक-से नहीं थे, तथापि एक ही थे; ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु यह उनकी ऐश्वर्य-भूमि का रूप है, माधुर्य-मण्डल में तो उनकी द्विभुज-मूर्ति ही प्रकट होती है। पद्मपुराण के निर्वाण-खण्ड में कहा है कि भगवान् ने ब्रह्मा को अपने वेदगोप्य-स्वरूप के दर्शन कराये थे।

यह नवकिशोर नटवर-मूर्ति है, गोप-वेश है; कदम्ब के नीचे हाथ में वंशी लिये विराजमान् हैं। वर्ण मेघ के सदृश श्यामल है, पीतवसन पहने हैं, गले में वनमाला सुशोभित है, बदन पर स्मित-हास्य है, चारों ओर गोप-बालक और गोप-बालिकायें खड़ी हैं। ऐसा रूप अप्राकृत-वृन्दावन में नित्य विराजमान है। किसकी क्षमता है कि इस अनन्त सौन्दर्य के चैतन्यमय आधार को भाषा के द्वारा विकसित कर सके ? ऐसी चेष्टा करनी ही व्यर्थ है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी श्रीकृष्ण के अनन्त प्रकार के रूप हैं, देखने की शक्ति प्राप्त होने पर किसी दिन निश्चय ही उनका दर्शन किया जा सकता है, उनकी कृपा के बल से सभी कुछ हो सकता है।

लिङ्ग-रहस्य

पाश्चात्य पण्डित तथा पाश्चात्य विचारों से प्रभावित आजकल के कोई-कोई नवशिक्षित भारत-सन्तान भारतवर्षीय उपासना की बात चलने पर कहते हैं कि यद्यपि दर्शन और धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में भारतवर्ष में ऐसे गम्भीर तत्त्वों का आविष्कार हुआ था, जो समस्त जगत् के लिये विस्मयजनक है, परन्तु उपासना के सम्बन्ध में सब समय वैसी प्रशंसा नहीं की जा सकती। वे कहते हैं कि लिङ्ग-उपासना भारतवर्ष का एक कलङ्क है। उनके विचार से वर्तमान सभ्य-युगमें इस प्रकार की अश्लील और असभ्यकालोचित आदिम-उपासना का प्रचलित रहना उचित नहीं है। उनकी इस आलोचना पर धीरता पूर्वक विचार करने से लिङ्गोपासना के सम्बन्ध में स्वभावतः हृदय में कुछ-कुछ संशय उत्पन्न होता है। हम बाल्यकाल से ही लिङ्गरूप शिव की उपासना देखते आ रहे हैं, इसी संस्कार की दृढ़ता से इसकी अश्लीलता हमारे मन को वैसी अश्लील नहीं लगती। परन्तु पूर्वसंस्कारों को त्यागकर विचार करने से ज्ञात होता है कि विदेशीय समालोचक स्वाभाविक प्रेरणावश ही इस प्रकार की उपासना की निन्दा करते हैं।

प्राचीन इतिहास की आलोचना से ज्ञात होता है कि पृथिवी की अधिकांश अति प्राचीन सभ्य जातियों में लिङ्ग-उपासना किसी-न-किसी रूप में प्रचलित थी। भारतवर्ष में भी प्राग्-ऐतिहासिक युग से लिङ्ग-उपासना प्रचलित है। 'मोहन जो-दड़ो' में प्राप्त प्राचीन निदर्शनों का अवलोकन करने से स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि उस समय भी लोग ठीक आजकल के समान ही, विशेष आकार के शिव-लिङ्ग की पूजा करते थे। जो उपासना या साधना एक समय जगद्व्यापक थी तथा परवर्ती युग में भी भारतवर्ष में जो भगवत्कल्प श्रीशङ्कराचार्य-प्रभृति असंख्य ज्ञानी और योगैश्वर्य-सम्पन्न मनीषियों के द्वारा अनुष्ठित होती आ रही है, वह अज्ञ-जनोचित उपहासवचनों का विषय होने योग्य कदापि नहीं है, बिना तीव्र-साधना के किसी भी तत्त्व का सम्यक् रूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं है।

श्लील और अश्लील का विचार नव्य-रुचि से सम्पन्न युवकों की दृष्टि के निर्णय के अनुसार नहीं हो सकता। व्यक्तिगत संस्कार तथा सामाजिक मनोभावों से संवेष्टित प्रकृति के अनुसार आपेक्षिक-रूप से श्लील और अश्लील का निर्धारण हो सकता है। नग्न-काय पवित्र-चित्त छोटे से शिशु की दृष्टि में संसार में कहीं कुछ भी अश्लील नहीं देखा जाता है। यही बात ज्ञान-सम्पन्न परमहंस की दृष्टि में भी समझनी चाहिये, अन्यत्र जिसका जिस प्रकार का संस्कार होता है, वस्तु-सत्ता उसके निकट उसी प्रकार प्रतिभात हुआ करती है। भगवान् की सृष्टि में अपवित्र कहलाने

वाली कोई भी वस्तु नहीं है, परन्तु कलुषित-हृदय-द्रष्टा अपने अन्दर की कालिमा का आरोपण कर वस्तु-विशेष को अपवित्र समझ लेता है। शुद्ध-चित्त से जिस ओर देखें, उसी ओर सत्य की उज्ज्वल-मूर्ति देखकर आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। फिर किसी भी स्थान में सङ्कोच का कारण नहीं प्रतीत होगा। लिङ्ग और योनि—ये दो ही सृष्टि के मूल-रहस्य हैं। पुरुष और स्त्री के पारस्परिक संयोग के बिना सृष्टि-प्रभृति कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। शिव और शक्ति, ईश्वर और माया, पुरुष और प्रकृति, प्रस्थान-भेद से चाहे जिस नाम को लिया जाय, सर्वत्र ही दो मूल-शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष से सृष्टि-कार्य सम्पन्न होते हैं।

अब विचारणीय है कि क्या ये ही वास्तविक मूल-शक्तियाँ हैं, अथवा इनके पीछे कोई और भी अद्वितीय-शक्ति है?

उत्तर स्पष्ट है कि—जब तक द्वैत-जगत् का अतिक्रमण नहीं किया जाता, तब-तक इन दो शक्तियों को ही मूल-शक्ति मानना पड़ता है। कार्यक्षेत्र में मूलतः यही प्रतीत होता है और युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है। ईरानी, यहूदी, तथा अन्य किसी भी प्राचीन धर्म में यही मौलिक द्वैत स्वीकृत हुआ है। परन्तु याद रखना चाहिये कि वस्तुतः इस द्वैत के मूल में नित्य अनुस्यूत-भाव से अद्वैत-सत्ता ही है। सृष्टि के प्रारम्भ में यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों पृथक् रूप में उपलब्ध होते हैं, तथापि यह जान लेना चाहिये कि सृष्टि की आदिभूत बीजावस्था में, ये दोनों ही शक्तियाँ अभिन्न-रूप में ही, विराजमान रहती हैं। इसे चाहे ईश्वर कहो, या महाशक्ति; उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उस अवस्था में एक ओर जैसे प्रकृति और पुरुष परस्पर भेद-रहित और एकाकार हैं, वैसे ही दूसरी ओर वह अद्वैत ईश्वर-सत्ता भी निरञ्जन एवं निष्कल-सत्ता के साथ एकीभूत है। यह अव्यक्त-अवस्था है, इसको एक ओर सृष्टि का बीज कहा जाने पर भी, दूसरी ओर यह नित्य-सृष्टि से अतीत, प्रपञ्चहीन, शान्त और निःस्पन्द शिव-भावमात्र है। इसी की स्वतन्त्रता के उन्मेषवश इस अक्षोभ्य चित्-सत्ता के ऊपर वाक् और अर्थ के समान नित्य-सम्पृक्त, परन्तु भेदयुक्त; पुरुष और प्रकृति-रूप तत्त्व-द्वय का आविर्भाव होता है। ये पुरुष और प्रकृति एक होते हुए भी, भिन्न हैं; और भिन्न होते हुए भी, एक हैं। इनमें से एक को छोड़कर दूसरा अपनी सत्ता का संरक्षण नहीं कर सकता। पारमार्थिक दृष्टि से वह अव्यक्त अवस्था न होने पर भी, सांसारिक-दृष्टि से सृष्टि की अभिव्यक्ति न होने के कारण, इसको एक प्रकार से अव्यक्त कहा जा सकता है। शास्त्र के मत से यह अलिङ्ग-अवस्था है, किन्तु पारमार्थिक-दृष्टि से निष्कल-अवस्था अलिङ्ग है; अतः इसको महालिङ्ग-अवस्था कहा जा सकता है। लिङ्ग और अलिङ्ग इन दो शब्दों का तात्पर्य आपेक्षिकभाव से ही समझना पड़ेगा। परिचायक चिह्न को 'लिङ्ग' कहते हैं। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं है, उसका कोई भी निदर्शन नहीं दिखलाया जा सकता। किन्तु इस अव्यक्त-सत्ता से जो तेजोमय और ज्योतिर्मय तत्त्व आविर्भूत होता है, वह स्वयं आविर्भूत होता है; इसीलिये उसे स्वयम्भू कहा जाता है। यही अव्यक्त-अवस्था का परिचायक है। इसीलिये यह लिङ्ग-पद का वाच्य है।

योनितत्त्व की कुछ धारणा न होने से लिङ्ग-रहस्य सम्यक् प्रकार से नहीं जाना

जा सकता है। अतः प्रसङ्गतः संक्षेप में योनिरहस्य के सम्बन्ध में भी दो-चार बातें जानना आवश्यक है, जिससे प्रस्तावित विषय को अच्छी तरह समझा जा सके।

यद्यपि यह विषय अत्यन्त जटिल है, एवं सिवा अन्तःप्रविष्ट साधक के दूसरे के लिये नितान्त दुर्बोध्य है, तथापि आलोचना का विषय होने के कारण संक्षेप में दो-चार बातें कह देना आवश्यक समझता हूँ।

जिस प्रकार आधार और आधेय परस्पर सम्बन्ध-विशिष्ट हैं, उसी प्रकार एक प्रकार से लिङ्ग एवं योनि को भी समझना चाहिये। परन्तु ध्यान रहे कि यह सादृश्य सर्वाङ्गीण नहीं है। जब आद्या-शक्ति या श्रीभगवान् परम-साम्यावस्था में रहते हैं, उस समय उनमें लिङ्ग या योनि, किसी प्रकार के भी द्वैत-भाव की कल्पना सम्भव नहीं है। परन्तु जहाँ अनादि द्वैतभाव प्रकाशित है, वहाँ एक के बिना दूसरे की उपलब्धि नहीं की जा सकती। तन्त्रशास्त्र में योनिको त्रिकोणरूप से एवं लिंग को उसके केन्द्रस्वरूप या मध्य-बिन्दु-रूप बतलाया गया है। सृष्टि की अतीत अवस्था में जहाँ सर्वशक्ति नित्य-प्रकाशमान अथवा नित्य-अवगुण्ठित है, वहाँ बिन्दु-मण्डल और बिन्दु से मण्डल-पर्यन्त निःसृत किरणधारा, ये तीनों ही अभिन्नरूप से प्रकाशित होती हैं। इस अभेदात्मक-सत्तामें मण्डल को योनि के एवं बिन्दु को लिंग के पूर्वरूप होने की कल्पना की जा सकती है। परन्तु सृष्टि की आदिम अवस्था के समय, यद्यपि यह आदिम अवस्था भी अनादि काल से ही वर्तमान है; बिन्दु एवं उसके आवरण—इन दोनों में एक भेदाभास जाग उठता है। इसके फलस्वरूप जो आवरणरूप मण्डल बिन्दु के साथ अभिन्न-रूप से वर्तमान था, वह भेद-सृष्टि से पहले त्रि-रेखांकित त्रिकोण-समन्वित क्षेत्र-रूप से प्रकट होता है। यद्यपि बिन्दु से अनन्त किरणमालाएँ विकीर्ण होती हैं, तथापि संकुचित अवस्था के समय सृष्टि के आरम्भकाल में तीन किरणें ही प्रधानतः ग्रहण करने योग्य हैं। ये तीनों रश्मियाँ सरल रेखाओं के रूप में परस्पर समान दूरी पर रहकर, तीन ओर बढ़ती हैं। महाशून्य के वक्षस्थल पर यह विकिरण-लीला सम्पन्न होती है, इसलिये यह सर्वत्र समानभाव से ही होती है। उस समय आकर्षण या विकर्षण करने की कोई भी शक्ति वर्तमान नहीं है। इसलिये ये तीनों रेखाएँ परस्पर सम-भावापन्न ही होती हैं। एक ही मूल-स्थान से निर्गत होने के कारण, जब ये तीनों रेखाएँ प्राथमिक गति के निरोध के समय स्थिरता प्राप्त करती हैं, तब इनके अग्रभाग परस्पर मिलने के लिये पुनः गतिविशिष्ट हो जाते हैं। फलतः तीन बाह्य-रेखाओं का विकास होता है, एवं एक समबाहु और समकोण-त्रिभुज का आविर्भाव होता है। उस समय ये तीन बाह्य रेखाएँ ही केन्द्र-स्वरूप बिन्दु का आवरण मानी जाती हैं। कहना नहीं होगा कि यही प्रथम आवरण है। कम-से-कम बिना तीन सरल रेखाओं के किसी भी वस्तु का वेष्टन नहीं किया जा सकता। तन्त्रशास्त्र में इसी त्रिकोण या त्रिभुज को 'मूल-त्रिकोण' कहा गया है। बिन्दु के स्पन्दन के तारतम्य के कारण इस त्रिकोण के रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, क्योंकि बाहु या कोण का परस्पर असंख्य प्रकार का वैषम्य संघटित हो सकता है। किन्तु मूल-त्रिकोण साम्यभावापन्न होने से सर्वदा एक ही प्रकार का रहता है। यह मूल त्रिकोण ही विश्व की उत्पत्ति का कारण

महायोनि-स्वरूप है। जब इसका मध्यवर्ती बिन्दु विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगतिशील ज्योतिर्मय रेखा के रूप में परिणत होता है, तब इसको उज्वल प्रकाशपुञ्जके स्तम्भ-रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कहना नहीं होगा कि यही वह पूर्ववर्णित स्वयम्भू नामक ज्योतिर्लिंग है। अन्तर्दृष्टि खुल जाने पर भीतर और बाहर सभी जगह यह लीला प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती है। बाइबिल और अन्यान्य धर्म-ग्रन्थों में जिस अग्नि-स्तम्भ (pillar of fire) का वर्णन मिलता है, वह भी इस लिंग-ज्योति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब तक जिस प्रकार वर्णन किया गया, उससे तो आपाततः यही समझ में आता है कि योनि से ही लिंग का विकास होता है।

यद्यपि यह धारणा निर्मूल नहीं है, परन्तु अभी तक लिंग और योनि के पारस्परिक सम्बन्ध हृदयंगम नहीं किया जा सकता। सरलतापूर्वक समझने के लिये इस विषय पर और भी कुछ स्पष्ट कहने की चेष्टा करता हूँ। जिस योनि के सम्बन्ध में कहा गया है, उसके मूलतः एक होने पर भी, द्वैत-जगत् में उसे द्विविध जानना चाहिये। एक ब्रह्म-योनि और दूसरी मातृ-योनि। इसीलिये त्रिकोण भी ऊर्ध्वमुख और अधोमुख-भेद से दो प्रकार का है। दोनों के ही केन्द्रस्थल में बिन्दु वर्तमान है। बिन्दु विक्षुब्ध होकर जब रेखारूप में गतिशील होता है, तब वह भी ऊर्ध्व और अधो-भेद से दो प्रकार का हो जाता है। इनमें एक का नाम ऊर्ध्वलिंग और दूसरे का नाम अधोलिंग है। साधारण अवस्था में जगत् के यावत् जीव-जन्तु अधोलिंगविशिष्ट ही हैं, परन्तु साधना के द्वारा कुण्डलिनी-शक्ति के प्रबुद्ध होनेपर, वे ऊर्ध्वलिङ्ग के रूप में आ सकते हैं।

बिन्दु जब विसर्ग के रूप में परिणत होता है, अर्थात् जब द्वैतजगत् का मूलभूत द्वन्द्व आविर्भूत होता है; तब एक बिन्दु ऊपर एवं दूसरा नीचे गिर जाता है। इन दोनों बिन्दुओं की संयोजक रेखा ही अक्षरेखा या ब्रह्मसूत्र है। ऊपर का बिन्दु एक त्रिकोण का मध्यबिन्दु है, इसी प्रकार नीचे का बिन्दु भी एक दूसरे त्रिकोण का मध्यबिन्दु है। जब ऊर्ध्व त्रिकोण एवं तन्मध्यस्थ-बिन्दु विक्षुब्ध होता है, तब उस बिन्दु से अधोमुखी (नीचे की ओर) शक्ति-धारा निकलती है। यही सृष्टि-अवस्था की सूचना है। इसी प्रकार जब अधःस्थित बिन्दु और त्रिकोण विक्षुब्ध होते हैं, तब उस बिन्दु से ऊर्ध्वमुखी शक्ति-धारा निःसृत होती है। यह संहार की अवस्था है। जो शक्ति-धारा सृष्टि के समय ऊर्ध्वबिन्दु से नीचे की ओर उतर जाती है, एक त्रिकोण क्षेत्ररूप से उसे अपने वक्षस्थल पर धारण कर लेता है। इसी के फलस्वरूप प्राकृतिक देह निर्मित होते हैं, एवं अज्ञानमय-प्रपञ्च का आविर्भाव होता है। दूसरी ओर, जब अधोबिन्दु ऊर्ध्वलिंग अवस्था को प्राप्त होकर ऊर्ध्वमुखी-शक्ति का सञ्चार करता है, तब दूसरा त्रिकोण क्षेत्रस्वरूप होकर, उसको बीजरूप से धारण करता है। इसी के फलस्वरूप अप्राकृतिक या दिव्य-प्रपञ्च का आविर्भाव होता है। देवता का देह-निर्माण या साधक को दिव्यभाव की प्राप्ति इसी से हुआ करती है। दिव्य-सृष्टि के मूल में प्राकृत-सृष्टि के संहार की आवश्यकता है, एवं प्राकृत-सृष्टि के मूल में दिव्य-सृष्टि का

तिरोभाव आवश्यक है। अतएव सृष्टि और संहार—ये दोनों ही क्रियाएँ परस्पर अनुस्यूत हो रही हैं, दोनों के ही मूल में लिंग एवं योनि का परस्पर संयोग विद्यमान है।

तन्त्रशास्त्र में जिस मध्यबिन्दु से विशिष्ट षट्कोण का वर्णन मिलता है, उसे इस ऊर्ध्वमुख और अधोमुख त्रिकोण के परस्पर संयोग से ही उत्पन्न समझना चाहिये। मध्यबिन्दु दोनों त्रिकोणों के लिये ही समान है। यह षट्कोण ही शिव-शक्ति का मिलित रूप है। हिन्दू, बौद्ध और जैन—सभी सम्प्रदायों के उपासकगण किसी-न-किसी रूप में इसको स्वीकार कर चुके हैं।

मैंने यहाँ जिस योनि और लिंग की बात कही है, वैदिक-साधना में इसी ने यज्ञकुण्ड और यज्ञाग्नि का स्थान प्राप्त किया है। आचार्यों ने अनेकों जगह स्पष्ट निर्देश किया है कि कुण्ड ही प्रकृति या योनि है, एवं अग्नि ही रुद्र या शिवज्योति है। देहतत्त्व-विद् योगियों द्वारा वर्णित आधार-चक्र भी यह कुण्ड या योनि-स्वरूप ही है। तन्मध्यस्थ ज्योति जब प्रकाशित होकर ब्रह्म-मार्ग पर सञ्चार करती है, तब उसी को 'लिंग' कहते हैं।

लिंग कितने प्रकार के हैं और योनि कितने प्रकार की हैं? एवं उनके मौलिक भेद क्या-क्या हैं? इन विषयों पर यहाँ विचार कर लेना चाहिये।

लिंग एक होते हुए भी, योनि या आधारभेद से असंख्यरूपों में आविष्कृत होता है। स्वयंभूलिंग, बाणलिंग, इतरलिंग-प्रभृति सारे भेद केवल एक ही लिंग के विभिन्न प्रकार के विकास हैं। उसी प्रकार यह भी सत्य है कि मूल योनि भी एक ही है, पर लिंग की विचित्रता के कारण वह भी खण्ड-खण्ड योनियों के रूप में आविर्भूत होती है। शास्त्रों में चौरासी लाख योनियों का जो वर्णन है, उसका यही एक मात्र कारण है। अतएव एक दृष्टि से लिंग भी एक है और योनि भी एक ही है, परन्तु दूसरी दृष्टि से देखने पर दोनों ही का वैचित्र्य अनन्त प्रकार का है। जीव-देह में जिन मूलाधारादि षट्संख्यक आधार-कमलों का वर्णन आता है, वह भी वस्तुतः योनिका ही प्रकार-भेदमात्र है। सर्वत्र ही बिन्दुरूप में लिंग अनुस्यूत है। इसकी अतीत अवस्था में बिन्दु निराधार होकर अव्यक्त हो जाता है, लिंग का अलिंग में पर्यवसान हो जाता है, एवं द्वैत-भाव शान्त होकर अद्वैत-भाव आविर्भूत हो जाता है। उस समय लिंग और योनि में किसी प्रकार के पार्थक्य का अनुभव नहीं किया जा सकता। यही निरालम्ब या निर्विकार-अवस्था है। वेदान्त-सूत्रकार ने कहा है—'योनेः शरीरम्'। यह बिल्कुल सच है, क्योंकि लिंग-ज्योति योनि में प्रविष्ट होकर यदि पुनः उत्थित न हो तो, किसी प्रकार देह का निर्माण-कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। हम जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सहयोग से दर्शन-श्रवणादि भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादन करते हैं, यह भी सृष्टि-कार्य का ही एक अंग है। अतः इसके मूल में भी लिंग-योनि का सम्बन्ध वर्तमान है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इसलिये जगत् के स्वरूप का भलीभाँति विश्लेषण करने पर यह लिंग और योनि-तत्त्व क्षुद्रतम परमाणु के गठन से लेकर बृहत्तम ब्रह्माण्ड के संस्थान तक, सर्वत्र दिखलायी पड़ेगा। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये तीन प्रकार के शब्द ही त्रिकोण की तीन रेखाओं के रूप में कल्पित हैं। इन्हीं का दूसरा

नाम इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति है, अथवा निम्न स्तर में सत्त्व, रज और तम है। मध्यस्थ बिन्दु परा-वाक् या शब्द की तुरीय-अवस्था का निदर्शन है। अतः बिन्दुयुक्त त्रिकोण मायासहित ईश्वर अथवा शक्ति-युक्त शिव का ही नामान्तर है। यही सम्मिलितरूप से चतुर्विध वाक्-तत्त्व की समष्टि है, अर्थात् शब्द-ब्रह्म-स्वरूप है। इस पर यथार्थ अधिकार होने से शब्दातीत, वेद के अगोचर, अप्रमेय, निष्कल और निरंजन, तत्त्वातीत सत्ता का साक्षात्कार होता है। जिसको ॐकार या प्रणव कहा जाता है, वह अर्द्धमात्रायुक्त इस त्रिकोण का ही नामान्तर है। यही योगशास्त्र की कुण्डलिनी या शब्द-मातृका है। इस त्रिकोणात्मक योनि की तीनो रेखाएँ जब एक सरल एवं सम-रेखा में परिणत होंगी, जब वह रेखा अर्धमात्रा में पर्यवसित हो जायगी और जब अर्धमात्रा बिन्दु में विलीन होकर अव्यक्त हो जायगी, तब मध्यस्थ बिन्दु आवरण-मुक्त होकर बिन्दु-भाव से अतीत, सर्वविकल्प-रहित अद्वैत-सत्ता में विलीन हो जायगा।

लिंग-रहस्य के सम्बन्ध में मैंने अभी संक्षेप में यहाँ दो-चार बातें बतलायी हैं। इस समय इसकी विस्तृत आलोचना सम्भव नहीं है, परन्तु यह निश्चय समझना चाहिये कि गौरीपीठ पर शिवलिंग-उपासना में अश्लीलता रत्तीमात्र भी नहीं है। इसके असली तत्त्व से अनभिज्ञ लोग ही इस प्रकार अश्लीलता की कल्पना कर दिल्लगी उड़ाया करते हैं। मैंने जो कुछ कहा है, उससे लिंग के तत्त्व का बहुत थोड़ा-सा विवेचन हुआ है। यह लिंगोपासना स्थूल जगत् में किस प्रकार एवं किन-किन प्राकृतिक नियमों से चली, इस विषय की आलोचना यहाँ नहीं की गयी है। लिंगोपासना में मृत्तिका, सुवर्ण एवं रजतादि धातु प्रभृति उपादानों के भेद में क्या रहस्य है और इसकी अन्यान्य आनुषङ्गिक क्रियाओं का क्या रहस्य है, एवं दैव-जगत् में विष्णु-प्रभृति देवताओं की अपेक्षा शिव-तत्त्व से इसका अधिकतर घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों है, ये सब बातें इस लेख में नहीं उठायी गयी हैं। लिंग-रहस्य यथार्थरूप से बुद्धिगोचर होने पर ये सब स्थूल-विषय और भी सहज ही समझ में आ सकेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तान्त्रिक बौद्ध-साधना—(क)

यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि प्राचीन भारतीय पण्डित-गण अपना मत स्थापित करने के लिए परमत की आलोचना करते थे। प्राचीन काल में अर्थात् खीष्ट द्वितीय-शतक से द्वादश-शतक तक विरुद्ध मतों में बौद्ध-मत का ही मुख्य स्थान रहा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। न्याय, वैशेषिक, पातंजल योग, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त प्रस्थान की समकालीन दार्शनिक विचारधाराओंकी आलोचना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति-आदि सुप्रसिद्ध आचार्यों का नाम कौन नहीं जानता। सौगत-दर्शन के चार प्रस्थानों का परिचय किसे नहीं है। यह बात सत्य है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि बौद्ध-दर्शन एवं धर्म का परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। पूर्वकाल में भी इसका ज्ञान सब लोगों को नहीं था। साधारण जनता की बात तो दूर रही, बड़े-बड़े पण्डित भी इससे वंचित थे। इसलिए प्राचीन समय में भी कोई-कोई आचार्य बौद्धमत के पूर्व-पक्ष-स्थापन के प्रसङ्ग में निरसनीय मत के सम्यक् ज्ञान से अभिज्ञ न थे। अवश्य ही, उदयनाचार्य या वाचस्पति मिश्र इनके अपवाद हैं। इस दृष्टि से वर्तमान समय की स्थिति और भी शोचनीय है। इसका प्रधान कारण बौद्धों के प्रामाणिक ग्रन्थों का अभाव है। ग्रन्थों के उपलब्ध होने पर भी दूसरा कारण है—व्यक्ति-गत कुसंस्कारों के कारण सहृदय आलोचन का अभाव।

वर्तमान समय में दुर्लभ ग्रन्थों का अभाव कुछ कम हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि आज भी बहुत से अमूल्य ग्रन्थ अप्राप्य हैं, और प्राप्य ग्रन्थों में भी सबका प्रकाशन नहीं हुआ है। परन्तु अब आशा हो चली है कि अनुसन्धान के क्रमिक वृद्धि के फलस्वरूप बहुत से अज्ञात ग्रन्थों का परिचय प्राप्त होगा और अप्राप्त-ग्रन्थ प्राप्त होंगे। यह भी आशा है कि दार्शनिकों का चित्तगत संकोच दूर होगा, रुचि परिवर्तित होगी। इससे प्राचीन एवं अभिनव ग्रन्थों के तथ्य-निर्णय की ओर दृष्टि आकर्षित होगी। इससे बौद्ध-धर्म और दर्शन सम्बन्धी मिथ्या-ज्ञान अनेक अंशों में दूर होगी।

बौद्ध-धर्म का उद्भव, उसका भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में तथा भारत से बाहर के देशों में प्रसार, एक ऐतिहासिक व्यापार है। एक ही मूल-उपदेश श्रोताओं और विचारकों के आशय-भेद से नानारूप में विभिन्न निकायों में विकसित हुआ है। यह ऐतिहासिक घटना है, इसलिए धर्म तथा दर्शन की क्रमशः विकसित धाराएँ इसमें प्रदर्शित हैं। अन्य भारतीय साधन-धारा के अनुरूप यह भी भारतीय ही है। प्रस्थान-भेद के कारण अवान्तर-भेद के होते हुए भी, सर्वत्र ही निगूढ़-साम्य लक्षित होता है। वर्तमान समय में इस प्रकार का यह साम्य-बोध अत्यन्त आवश्यक है। वैषम्य जगत् का स्वभाव है, किन्तु इसके हृदय में साम्य प्रतिष्ठित रहता है। बहु में एक, विभक्त में

अविभक्त तथा भेद में अभेद का साक्षात्कार होना चाहिए, इसी के लिए ज्ञानी का सम्पूर्ण अध्यवसाय है। साथ-ही-साथ इस अध्यवसाय के फलस्वरूप एक में बहु, अविभक्त में विभक्त तथा अभेद में भी भेद दृष्टिगोचर होगा। ऐसी अवस्था में अवश्य ही भेदाभेद के अतीत, वाक् और मनस् के अगोचर, निर्विकल्पक परमसत्य का दर्शन होगा। प्रतिव्यक्ति के जीवन में जो सत्य है, जातीय जीवन में भी वही सत्य है। इतना ही नहीं, यही बात समग्र मानव के लिए भी सत्य है। विरोध से अविरोध की ओर गति ही, उद्देश्य बनाना चाहिये।

बौद्ध-धर्म में जीवन के आदर्श के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही दो मत हैं। ये दोनों मत उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट होते गये। प्रथम—मलिन वासना के क्षय का सिद्धान्त है। इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निर्वाण है। दूसरा—वासना का शोधन है। इससे शुद्ध-वासना का आविर्भाव होता है और देह-शुद्धि होती है। देह-शुद्धि के द्वारा विश्व-कल्याण या लोक-कल्याण का सम्पादन किया जा सकता है। अन्त में शुद्ध-वासना भी नहीं रहती। उसका क्षय हो जाता है और उससे पूर्णत्व-लाभ होता है। इसे ये लोग बुद्धत्व कहते हैं। इसे आपेक्षिक दृष्टि से परा-मुक्ति कह सकते हैं। उपर्युक्त दोनों स्थितियोंमें काफी मतभेद है। संक्षेप में कह सकते हैं कि पहला आदर्श हीनयान का, और दूसरा महायान का है। किन्तु यह भी सत्य है, कि हीनयान में भी महायान का सूक्ष्म-बीज निहित था। श्रावक-गण अपने व्यक्तिगत दुःख का नाश या निर्वाण चाहते थे। प्रत्येकबुद्ध का लक्ष्य दुःख-नाश तथा व्यक्तिगत बुद्धत्व था। इसका अर्थ है—स्वयं बुद्धत्व-लाभ कर, विश्व की दुःख-निवृत्ति में सहायता करना। प्राचीन समय में दश संयोजनों का नाश करके, अर्हत्व की प्राप्ति करना लक्ष्य था। प्रचलित भाषा में इसे जीवन्मुक्ति का आदर्श कह सकते हैं। बौद्धमत में यह भी एक प्रकार का निर्वाण है, इसे सोपधिशेष-निर्वाण कहते हैं। इसके बाद स्कन्ध-निवृत्ति अर्थात् देहपात होनेपर अनुपधिशेष-निर्वाण या विदेह-कैवल्य प्राप्त होता है। इस मार्ग में क्लेश ही अज्ञान का स्वरूप है। पातञ्जल योग-दर्शन में जैसे अविद्या को मूल क्लेश माना गया है, उसी प्रकार प्राचीन बौद्धों में क्लेश-निवृत्ति को ही मनुष्य-जीवन का परम पुरुषार्थ समझा जाता था। वस्तुतः क्लेश-निवृत्ति हो जाने पर भी प्रतिक्षेत्र की वासना निवृत्त नहीं होती; क्योंकि मलिन-वासना का नाश होने पर भी शुद्ध-वासना की सम्भावना रहती ही है। इनमें सन्देह नहीं कि जिसमें शुद्ध-वासना नहीं है, उसके लिए क्लेश-निवृत्ति ही चरम लक्ष्य है। परन्तु पूर्णत्व या बुद्धत्व का आदर्श इससे भी बहुत उच्च है। बोधिसत्व से भिन्न दूसरा कोई बुद्धत्व-लाभ नहीं कर सकता। शुद्ध-वासना वस्तुतः परार्थ-वासना है। बोधिसत्व इस वासना से अनुप्राणित होकर क्रमशः बुद्धत्व-प्राप्त करने का अधिकारी होता है। बोधिसत्व की अवस्था भी एक प्रकार से अज्ञान की अवस्था है। परन्तु यह क्लिष्ट नहीं, अक्लिष्ट है। बोधिसत्व की भिन्न-भिन्न भूमियों को क्रमशः भेद करके आगे चलना पड़ता है। इस प्रकार क्रमशः शुद्ध-वासना निवृत्त हो जाती है। बोधिसत्व की अन्तिम अवस्था में बुद्धत्व का विकास होता है, जैसे शुद्ध-अध्वा में संचरण करते हुए जीव को क्रमशः शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु जबतक चिद्रूपा

शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती, तबतक शिवत्व का आभास होने लगने पर भी, शिवत्व की सम्यक्-अभिव्यक्ति नहीं होती। यहाँ तक कि विशुद्ध-विज्ञान-रूप कैवल्य की स्थिति में अवस्थित होने पर भी, पूर्ण शिवत्व का लाभ नहीं होता। ठीक इसी प्रकार बोधिसत्व की अवस्था दश या उससे अधिक भूमियों में विभक्त है। 'भूमि-प्रविष्ट-प्रज्ञा' का विकास होते-होते अक्लिष्ट-अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, और अन्तिम अवस्था में पूर्णाभिषेक की प्राप्ति होती है। उस समय बोधिसत्व बुद्ध-पद पर अधिरूढ़ होते हैं। बुद्धत्व अद्वय-स्थिति का वाचक है। पुद्गल-नैरात्म्य सिद्ध होने पर समझना चाहिये कि क्लेश-निवृत्ति हो गई है किन्तु द्वैत-भान नहीं छूटता। इसके लिए धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान आवश्यक होता है। शुद्ध-वासना के निवृत्त होने पर धर्म-नैरात्म्य की भी सिद्धि हो जाती है। उस समय नैरात्म्य-दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय समरस हो जाते हैं, यही पूर्ण नैरात्म्य है। वैदिक तथा आगमिक आदर्श में बाह्य-दृष्टि से किंचित् भेद प्रतीत होता है। वह वैसा ही भेद है जैसा कि ओल्डटेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेण्ट में ला (विधि) तथा लव (प्रेम) इन लक्ष्यों के आधार पर किंचित् भेद प्रतीत होता है।

बुद्धत्व का आदर्श प्राचीन समय में भी था। जनता के लिए बुद्ध होना आपाततः शक्य नहीं था, परन्तु अर्हत्-पद में उत्थित होकर निर्वाण-लाभ करना, अर्थात् दुःख का उपशम करना; सभी को इष्ट था। किन्तु यह स्थिति जब आती है कि अपना और दूसरे का दुःख समान प्रतीत होने लगे और अपनी सत्ता का बोध विश्व-व्यापी हो जाय, अर्थात् जब समस्त विश्व में अपनत्व आ जाता है, उस समय सबकी दुःख-निवृत्ति ही अपने दुःख की निवृत्ति में परिणत हो जाती है। क्लिष्ट-वासना के उपशम से जो निर्वाण प्राप्त होता है, वह यथार्थ नहीं है। महानिर्वाण की प्राप्ति के पहले साधक को बोधिसत्व अवस्था में आरूढ़ होकर क्रमशः उच्चतर भूमियों का अति-क्रम करना पड़ता है। क्रम-विकास के इस मार्ग में किसी-किसी का शत-शत जन्म बीत जाता है।

सांख्य-योग के मार्ग में जैसे विवेक-ख्याति से विवेकज-ज्ञान का भेद दृष्टिगत होता है, ठीक उसी प्रकार श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा से भूमि-प्रविष्ट-प्रज्ञा का भी भेद है। विवेक-ख्याति कैवल्य का हेतु है, परन्तु विवेकज-ज्ञान कैवल्य के अविरोधी ईश्वरत्व का साधक है। ईश्वरत्वकी भूमि तक साधारण लोग उठ नहीं सकते किन्तु विवेक-ज्ञान प्राप्त करने पर कैवल्य-प्राप्ति का अधिकार सब को मिल जाता है। विवेकज-ज्ञान तारक, अक्रम, सर्वविषयक, सर्वथा-विषयक तथा अनौपदेशिक है। अर्थात् यह प्रातिभ-ज्ञान है या स्वयंसिद्ध महाज्ञान है। यह सर्वज्ञत्व है, किन्तु कैवल्य-स्थिति नहीं है। योगभाष्य में लिखा है कि सत्व और पुरुष के पूर्ण शुद्ध हो जाने पर कैवल्य-लाभ होता है। परन्तु विवेकज-ज्ञान की प्राप्ति या ईश्वरत्व-लाभ हो या न हो, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैन-मत में भी केवल-ज्ञान सभी को प्राप्त हो सकता है, किन्तु तीर्थंकरत्व सबके लिए नहीं है। तीर्थंकर गुरु तथा दैशिक है। इस पद पर व्यक्ति-विशेष ही जा सकते हैं, सब नहीं। तीर्थंकरत्व त्रयोदश गुण-स्थान में प्रकट होता है, परन्तु सिद्धावस्था की प्राप्ति चतुर्दश-भूमि में होती है। द्वैत-शैवागम में योगी के शुद्ध-अध्वा में प्रविष्ट होने पर

उसकी क्रमशः शुद्ध अधिकार-वासना और शुद्ध भोग-वासना निवृत्त हो जाती है। ये दोनों ही शुद्ध-अवस्था के द्योतक हैं। इसके बाद लयावस्था में शुद्ध भावों के भी अभाव से शिवत्व का उदय होता है। अधिकार-वासना तथा भोग-वासना अशुद्ध नहीं है, परन्तु इसकी निवृत्ति भी आवश्यक है। अधिकारावस्था ही शास्ता का पद है। शुद्ध विद्या का अधिष्ठाता होकर दुःख-पंक में मग्न जगत् को ज्ञान-दान करना तथा जीव और जगत् को शुद्ध-अध्वा में आकर्षण करना; यही विद्येश्वरगण का कार्य है। यह विशुद्ध परोपकार है। इस वासना का क्षय होने पर शुद्ध-भोग हो सकता है, किन्तु इसके लिए वासना का रहना आवश्यक है। इस प्रकार ईश्वर-तत्त्व से सदाशिव-तत्त्व तक का आरोहण होता है। जब शुद्ध आनन्द से भी वैराग्य होगा, तब अन्तर्लीन अवस्थाभूत शिवत्व का स्फुरण होगा। किन्तु इसमें उपाधि रहती है। इसके बाद निरुपाधिक शिवत्व का लाभ होता है। उसमें व्यक्तित्व नहीं होता, क्योंकि शुद्ध-वासना का क्षय होने पर व्यक्तित्व नहीं रह सकता। उस समय महामाया से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है। अद्वैत-शैवागम में भी भगवत्-अनुग्रह के प्रभाव से शुद्ध-मार्ग में प्रवेश होता है, पश्चात् क्रमशः परम शिवत्व की स्थिति का विकास होता है। दीक्षा का भी यथार्थ रहस्य यही है कि इससे पाश-क्षय और शिवत्व-योजना दोनों का लाभ होता है।

प्राचीन काल में बुद्धत्व का आदर्श प्रत्येक जीव का नहीं था, यह किसी-किसी उच्चाधिकारी का था। उसके लिए उसे विभिन्न जन्मों से विभिन्न प्रकार के संघर्षण के प्रभाव से जीवन का उत्कर्ष साधन करना पड़ता था। इस साधना को पारमिता की साधना कहते हैं। पुण्य-संभार तथा ज्ञान-संभार दोनों से बुद्धत्व निष्पन्न होता है। पुण्य-संभार कर्मात्मक, ज्ञान-संभार प्रज्ञात्मक है। इन दोनों की उपयोगिता थी। अद्वैत भाव के विस्तार के साथ-साथ बुद्धत्व का आदर्श व्याप्त हो गया था। पहले गोत्र-भेद का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता था किन्तु लक्ष्य बड़ा होने के कारण यह क्रमशः उपेक्षित होने लगा। अभिनव-दृष्टि के अनुसार बुद्ध-बीज सभी के भीतर है। परन्तु एकमात्र मनुष्यदेह का ही यह वैशिष्ट्य है कि यह अंकुरित होकर विकसित हो सकता है, तभी बुद्धत्व-लाभ हो सकता है। जिस समय से बुद्धत्व के आदर्श का प्रसार हुआ उस समय से बोधिसत्व की चर्या आवश्यक हो गयी। इस अवस्था में निर्वाण का प्राचीन आदर्श मलिन हो गया और इसका आदर्श महानिर्वाण या महापरिनिर्वाण के रूप में परिणत हो गया।

साधक तथा योगी के जीवन में अन्य धर्मों के विकास के सदृश करुणा का विकास भी आवश्यक है। जगत् के विभिन्न आध्यात्मिक प्रस्थानों में इस धर्म का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। करुणा ही सेवा का मूल है। यह प्रसिद्धि ठीक है— सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः। जिनके चित्त में सेवावृत्ति का उन्मेष नहीं होता और जिनका हृदय करुणा से प्रभावित नहीं होता, ऐसे पुरुषों का हृदय अवश्य ही संकुचित है। सब प्रकार से अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि ही इनका लक्ष्य होता है। जब इनका अधिकार स्वल्प होता है, तब ये अपने लिये ऐहिक या पारत्रिक अभ्युदय चाहते हैं—वह या तो जागतिक ऐश्वर्य चाहेंगे या पारलौकिक स्वर्गादि का आनन्द-

लाभ। जब अधिकार का उत्कर्ष होता है, तब इनका लक्ष्य होता है—व्यक्तिगत जीवन के दुःखों की निवृत्ति अर्थात् मुक्ति। यदि किसी क्षेत्र में इनका लक्ष्य आनन्द का अभिव्यंजन भी हो, तो भी ये व्यक्ति-जीवन की सीमाओं से आबद्ध ही रहते हैं। विश्व-कल्याण या परार्थ-सम्पादन इनके जीवन का ध्येय नहीं होता। कभी किसी क्षेत्र में किंचित् परार्थपरता का भी आभास मिलता है, किन्तु वह वस्तुतः स्वार्थसिद्धि का उपाय-रूप ही होता है। इसके उदाहरण में दया-वृत्ति का नाम लिया जा सकता है। इस वृत्ति को कार्यरूप में परिणत करने पर या भावना के रूप में ग्रहण करने पर उससे कार्यकर्त्ता या भावक का चित्त शुद्ध होता है। उससे ज्ञान-प्राप्ति तथा मुक्ति में सहा[illegible] मिलती है। इस स्थल में दया दूसरे के लिये मालूम होती है, किन्तु वस्तुतः अपने ही कल्याण की साधक है।

भक्ति तथा प्रेम-साधन के क्षेत्र में जैसे साधनरूप भक्ति और साध्यरूप प्रेमाभक्ति में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार करुणा संबन्धी अनुशीलन के क्षेत्र में साधन तथा साध्य करुणा में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है।

योग-दर्शन में चित्त के परिकर्म के रूप में मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा के नियमित परिशीलन की उपयोगिता दिखाई गई है। प्राचीन पालि-साहित्य में भी ब्रह्म-विहार नाम से इन्हीं वृत्तियों का निर्देश है। योग-दर्शन में करुणा का जो परिचय दिया गया है, उससे सर्वांशतः भिन्न करुणा का एक अन्य रूप है। इसी के अवलंब से अर्थात् उसे ही जीवन का साध्य बनाने से महायानी अध्यात्म-साधना का मार्ग प्रवर्तित हुआ है। इस प्रकार की करुणा का प्रतिबन्धक व्यक्तिगत-मुक्ति है, इसीलिये ऐसी मुक्ति उपादेय नहीं मानी जाती। उपनिषत्-कालीन प्राचीन-साधना में जीवन्मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-सम्पादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत हैं। जीवन्मुक्त-ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दुःख की निवृत्ति के लिये उपाय-रूप में ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालियाँ गौण समझी जाती थीं। जीवन्मुक्त महापुरुष ही संसार-ताप से पीड़ित जीवों के उद्धार के लिये अधिकारी थे। वर्तमान जगत् में करुणा के जितने भी आकार दिखाई पड़ते हैं, ये आवश्यक होने पर भी, मुख्य करुणा के निदर्शन नहीं हैं। हाँ, दोनों ही सेवाधर्म है, इसमें सन्देह नहीं। जब-तक भोग से प्रारब्ध-कर्म समाप्त नहीं होता, तब-तक देह रहती है। इसलिये जीवन्मुक्ति ही सेवा के लिये योग्य समय है। किन्तु यह परिमित है, क्योंकि देहान्त होने पर सेवा का अवसर नहीं रहता। यही कारण है कि जीवन्मुक्ति-विवेक में विद्यारण्यस्वामी ने ज्ञान-तन्तु के संरक्षण को ही जीवन्मुक्ति का मुख्य प्रयोजन बताया है।

जीवन्मुक्ति में ज्ञान की आवरण-शक्ति नहीं रहती, इसलिये स्वरूप-ज्ञान अनावृत रहता है, परन्तु विक्षेप-शक्ति के कारण उपाधि रहती है। इसीलिये इस समय में जीव तथा जगत् की सेवा हो सकती है। जीवन्मुक्त ही यथार्थ गुरु है। एक मात्र वह गुरु ही तारक-ज्ञान का संचारक एवं यथार्थ रूप में दुःखमोचक तथा सेवाव्रती है।

परन्तु इस सेवा का क्षेत्र देशगत-दृष्टि से परिमित है और काल-गत दृष्टि से भी संकुचित है। परिमित इसलिये कि है एक व्यक्ति का कर्म-क्षेत्र विशाल होने पर भी, सीमा-बद्ध है। सेवक के लिये सेवा का अवसर तभी-तक रहता है, जब-तक वह देह से सम्बद्ध रहता है। देह छूटने पर या कैवल्य-लाभ होने पर सेवा करने की संभावना ही नहीं रहती। उसका प्रयोजन भी नहीं रहता, क्योंकि व्यष्टि-चित्त की शुद्धि ही तो उसका प्रयोजन है, उसके लिए सेवा-व्रत सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। उस समय अपने-आप कैवल्य प्राप्त हो जाता है। उस समय जीवन्मुक्त-गुरु परम्परा-क्रम से सेवा-व्रत का भार अपने योग्य-शिष्य को देकर परम-धाम में प्रयाण करते हैं। यह स्वाभाविक ही है।

जिसके चित्त में पर-दुःख की प्रहाणेच्छा अत्यन्त प्रबल है, वह ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे शीघ्र स्कन्ध-निवृत्ति न हो। उनका यह प्रयत्न भोग या विलास के लिये नहीं, बल्कि जीव-सेवा का अवसर बढ़ाने के लिये है। जिसके चित्त में स्वल्प-भाव या संकोच नहीं हैं, उसमें इस प्रकार की इच्छा का उदय होना स्वाभाविक है। सभी चित्तों में इस प्रकार की इच्छा नहीं होती, यह सत्य है; परन्तु किसी-किसी में अवश्य होती है, यह भी सत्य है। यही उसके महत्त्व का निदर्शन है। गोत्र-भेद मानने वालों की यहीं मूल युक्ति है। भक्ति-साधना के मार्ग में भी ठीक इसी प्रकारके विचार देखने में आते हैं। इसी लिये किसी-किसी के मत से आवश्यक होने पर भी भक्ति चिर-स्थायी नहीं है, क्योंकि अभेद-ज्ञान या मोक्ष-लाभ करने पर उसका अवकाश नहीं रहता। यह भक्ति-साधन या उपाय-रूप है, यहाँ उपेय (साध्य) ज्ञान या मुक्ति है। जिनके चित्त में संकोच कम है, उन्हें नित्य-भक्ति की आकांक्षा होती है। वह फलरूपा भक्ति है, वह या तो मुक्ति से अभिन्न है या ऊर्ध्व। इस प्रकार की भक्ति ही पञ्चम पुरुषार्थ है। कितने मुक्त-पुरुष भी इसके लिये लालायित रहते हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ है।

किन्तु नश्वर, परिणामी एवं मलिन-देह में इस प्रकार के महान् आदर्श की प्राप्ति असंभव है। इस लिये मर्त्य-देह को स्थिर तथा निर्मल करने के लिये प्रयत्न आवश्यक है। वैष्णवों का भाव-देह, प्रेम-देह तथा रस-देह इसी प्रकार के सिद्ध-देह हैं। ये जरा-मृत्यु से अतीत हैं। इसी का नामान्तर पार्षद-तनु है। इसके द्वारा नित्य-धाम में नित्य-भक्ति का योजन होता है। ज्ञानी के विषय में भी इसी प्रकार की बात है। साधारण-दृष्टि से ज्ञान अज्ञान का निवर्तक है, किन्तु वह अज्ञान के आवरणांश का ही निवर्तक है, विक्षेपांश का नहीं। इसी लिये कहा जाता है कि ज्ञान के उदय होने पर भी प्रारब्ध का नाश नहीं होता। परन्तु ऐसा भी विशिष्ट ज्ञान है, जिससे विक्षेप की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार के ज्ञान के उदय के साथ ही साथ देह-पात हो जाता है। परन्तु एक ऐसा भी ज्ञान है, जिसके प्रभाव से इस कर्म जन्य मलिन-देह का नाश नहीं होता, बल्कि रूपान्तर की प्राप्ति होती है, इससे देह चिन्मय हो जाता है। पहले वह विशुद्ध सत्वमय होता है। उस समय उसकी जरा-मृत्यु से निवृत्ति हो जाती है। उसके बाद साक्षात् चिन्मयत्व का लाभ हो जाता है। आगम की परिभाषा में पहले देह का नाम 'वैन्दव' द्वितीय का 'शाक्त' है। शाक्त-देह वस्तुतः चित् शक्तिमय देह है, उसमें बिन्दु या महामाया लेश भी नहीं रहता। इस वैन्दव-देह का नाम ही सिद्ध-देह है। बौद्ध-शैव

तथा शाक्त सिद्धाचार्य इस वैन्दव या सिद्ध देह को प्राप्त कर अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करते हैं। यह प्राकृतिक नियमों की श्रृंखला से बद्ध नहीं है। वे इस देह में अवस्थान करते हुए जीव-सेवा करते हैं। इस देह में मृत्यु का भय नहीं है। इसीलिये सुदीर्घ काल तक इस देह में रह कर जगत्-कल्याण की चेष्टा की जा सकती है। किन्तु अत्यन्त दीर्घ काल के बाद इसकी भी एक सीमा आती है। यह तो ठीक है कि इस समय भी देह का पात नहीं होता, परन्तु प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर योगी उसे संकुचित करके परमधाम में प्रवेश करता है। कोई-कोई इस देह का दिव्य-तनु नाम से भी वर्णन करते हैं। नाथ-संप्रदाय, रसेश्वर-योगी-सम्प्रदाय तथा महे सम्प्रदाय में इस विषय में विस्तृत आलोचना है। सेन्ट जॉन के एपोकलिप्स में भी इस विषय में बहुत कुछ इंगित है। खीष्टीय मत के रिशेलेक्शन बॉडी तथा एसेन्सन-बाड़ी का भेद इस प्रसंग में आलोच्य है।

बौद्ध योगियों के आध्यात्मिक-जीवन में करुणा का क्या स्थान है, इस विषय की आलोचना के लिये पूर्वोक्त विवरण का उपयोग प्रतीत होता है। श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्धयान में सर्व सत्वों का दुःख-दर्शन ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम सत्वावलम्बन-करुणा है। मृदु तथा मध्य कोटि के महायान-मत में अर्थात् सौत्रान्तिक तथा योगाचार-सम्प्रदाय में जगत् का नश्वरत्व या क्षणिकत्व ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम धर्मावलम्बन-करुणा है। उत्तम महायान अर्थात् माध्यमिक-मत में करुणा का मूल कुछ नहीं है, अर्थात् उसकी पृथक्-सत्ता नहीं है। इस मत में शून्यता से अभिन्न करुणा ही बोधि का अंग है। एक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि शून्यता जैसे लोकोत्तर है, वैसे ही करुणा भी लोकोत्तर है। यह अहेतुक करुणा है। अनंग-बज्र कहते हैं, कि करुणावान् कभी किसी सत्व को निराशः (विमुख) नहीं करते।

सत्वानां मस्तिनास्तीति न चैवं सविकल्पकम्।

स्वरूप निष्प्रपञ्च है, इसलिये प्रज्ञा-रस चिन्तामणि के सदृश अशेष सत्वों का अर्थात् निखिल जीवों का अर्थ-करण या अर्थक्रिया-कारित्व है। इसी का नामान्तर कृपा है।

निरालम्बपदे प्रज्ञा निरालम्बा महाकृपा।
एकीभूता धिया सार्धं गगने गगनं यथा॥

मनोरथनन्दि ने प्रमाणवार्तिक की वृत्तिमें कहा है—

दुःखाद्दुःखहेतोश्च समुद्धरणकामता करुणा।

वार्तिककार धर्मकीर्तिने करुणा को भगवान् बुद्धके प्रामाण्य के लिए साधन माना है, और कहा है, कि यह अभ्यास से सम्पन्न होती है।

साधनं करुणाभ्यासात् सा बुद्धेर्देहसंश्रयात्।
असिद्धोऽभ्यास इति चेन्नाश्रयप्रतिषेधतः॥

'अभ्यासात्सा' इसकी व्याख्या में मनोरथनन्दि ने कहा—

गोत्र-विशेषात् कल्याणमित्रसंसर्गात् अनुशयदर्शनाच्च कश्चिन्महासत्वः कृपायामुपजातस्पृहः सादरनिरन्तरानेकजन्मपरम्पराप्रभावाभ्यासेन सात्मीभूतकृपया प्रेर्यमाणः सर्वसत्वानां समुदयहान्या दुःखहानाय मार्गभावनया निरोधप्रापणाय च

देशनां कर्तुंकामः स्वयमसाक्षात्कृतस्य देशनायां विप्रलम्भसम्भावनात् चतुरार्य-सत्यानि साक्षात्करोतीति भगवति साधनं कृपा प्रामाण्यस्य । १।३६ ॥

श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध से बुद्धों का यही वैशिष्ट्य है। धर्मकीर्त्ति ने लिखा है—

परार्थवृत्तेः खङ्गादेर्विशेषोऽयं महामुनेः ।
उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम् ॥ १।१७६ ॥

प्रत्येक-बुद्ध एवं श्रावक-प्रभृति का लक्षण वासना-हानि है। परन्तु सम्यक्-सम्बुद्ध के परार्थवृत्ति का होने के कारण वह सर्वोत्तम है।

यह दया सत्वदृष्टि-मूलक नहीं है, किन्तु वस्तुधर्म है। इसीलिए यह दोषावह नहीं है। वार्तिककार ने कहा है—

दुःखज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी ।
वस्तुधर्मादयोत्पत्तिर्न सा सत्वानुरोधिनी ॥ १।१७७ ॥

दुःख का ज्ञान होने पर पूर्व-संस्कार के प्रभाव से दया स्वभावतः ही उत्पन्न होती है। यह सर्वत्र अप्रतिहत है। पूर्व-संस्कार का अर्थ प्राक्तन अभ्यास की प्रवृत्ति है। वस्तु-धर्म का तात्पर्य, वस्तु का अर्थात् कृपाविषयी-भूत दुःख का धर्म। यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिनकी आत्मदृष्टि सर्वथा उन्मूलित है, ऐसे महापुरुषों को दुःख के सम्मुख होते ही दया उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि उन्होंने दुःख को कृपा के विषय-रूप में ग्रहण करने का अभ्यास कर लिया है। सब दुःखों का मूल कारण मोह है। बौद्धमत में सत्व-ग्राह या आत्म-ग्राह ही मोह का मूल है। जब इसका उन्मूलन हो जाता है तो किसी के प्रति द्वेष नहीं होता। क्योंकि जिसे आत्म-दर्शन नहीं है; उसे किसी के द्वारा अपकार-प्राप्ति की भ्रांति नहीं होगी, अतः वह किसी से द्वेष क्यों करेगा ? इस प्रकार यह कृपा दोषों के मूलभूत आत्म-ग्राह के अभाव से ही उत्पन्न होती है, इसलिये वह दूषणीय नहीं है। धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदयः ।१।१७८॥

पूव कर्मों के आवेश के क्षीण हो जाने से, और दुःखजनक अन्य कारणों के अत्यन्त नष्ट हो जाने से, अप्रतिसंधि के कारण मुक्ति अवश्य होती है। किन्तु जो महाकृपा से सम्पन्न हैं, उनका जन्माक्षेपक कर्म-प्रणिधान परिपुष्ट है, अतः उनके संस्कार की शक्ति क्षीण नहीं होती, इसीलिये वह सम्यक्-सम्बुद्ध हैं। ये यावत्-आकाश चिरस्थायी हैं। परन्तु श्रावकों का कर्म ऐसे देह का आक्षेपक है, जिसकी स्थिति का काल नियत है। उनमें करुणा अत्यन्त मृदु है, अतः देह-स्थापन के लिये उनमें अपेक्षित महान् यत्न भी नहीं है, इसीलिये उनकी सदा स्थिति नहीं है। परन्तु इसके विपरीत वे महामुनि जो दूसरों के उपकार-साधन के लिये ही हैं, और अकारण-वत्सल हैं, वे वस्तुतः कृपामय हैं। इस अर्थ में ये पराधीन हैं। इस विशिष्ट पराधीनता के कारण ये लोग चिरस्थितिक हैं। धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

'तिष्ठन्त्येव पराधीना येषां तु महती कृपा ।१।२०१॥

अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली में कहा है कि श्रावक और प्रत्येकबुद्ध की करुणा सत्वावलम्बन है। सत्वों के दुःख-दुःखत्व तथा परिणाम-दुःखत्व का अवलम्बन करके इनकी करुणा उत्पन्न होती है। श्रावक की देशना वाचिकी है, किन्तु प्रत्येकबुद्ध की देशना कायिकी है, क्योंकि सम्बुद्धों के अनुत्पाद से और श्रावकों के परिक्षय से प्रत्येकबुद्धों का ज्ञान असंसर्ग से ही उत्पन्न होता है। यहाँ असंसर्ग से अभिप्राय अपने में एक प्रकार की ऐसी विशिष्ट पात्रता के सम्पादन से है, जिसमें सूर्य-ज्योति के समान स्वभाव-काय या धर्म-काय के स्वभावतः प्रसरणशील रश्मियों का स्वतः ही आधान होता है। श्रावक और सम्यक्सम्बुद्ध से प्रत्येकबुद्ध की यही भिन्नता है। बौद्ध-साधना का प्रत्येक अंश ही प्रज्ञा तथा करुणा की दृष्टि से विचारणीय है। देशना भी इसी के अनुरूप है।

श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्सम्बुद्ध इन तीन प्रकार के साधकों के बीच महायान ही योग-पथ है। यद्यपि उसमें अवान्तर-भेद हैं, परन्तु मुख्यतः दो धारायें हैं—१. पारमिता-नय २. मन्त्र-नय। सभी सौत्रान्तिक मृदु-पारमिता-नय स्वीकार करते हैं। योगाचार और माध्यमिकों में कोई पारमिता-नय और कोई मन्त्र-नय ग्रहण करते हैं। ज्ञान के साकार या निराकार मानने के कारण योगाचार दो प्रकार के हैं। साकारवाद में परमाणु को षडंश नहीं माना जाता। ˉ पत में सभी चित्त-मात्र हैं। इसमें ग्राह्य और ग्राहक-भाव नही है। कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु तीनों चित्त-मात्र हैं। ये चित्त निरपेक्ष एवं विचित्र प्रकाशात्मक है। चित्त जब विकल्प-शून्य होता है, तब उसे ही अद्वैत-साक्षात्कार कहते हैं। निराकारवाद में चित्त अनाकार-संवेदन-रूप है। वासनायुक्त चित्त अर्थाभास के रूप में प्रवृत्त होता है। आभासमात्र ही माया है। जो तत्त्व है, वह निराभास है; वह शुद्ध अनन्त आकाशवत् है। बुद्ध-काय या धर्म-काय निष्प्रपञ्च तथा निराभास है। उससे दो रूपकायों (सम्भोग-काय, निर्माण-काय) का उद्भव होता है। दोनों ही मायिक हैं।

अन्य मत में किसी-किसी का लक्ष्य मायोपम-अद्वयवाद है। अन्य आचार्य इस प्रकार का अद्वयवाद नहीं मानते। उनके मत में सर्वधर्माप्रतिष्ठान-वाद ही युक्ति-सिद्ध है। मायोपम-समाधि, महाकरुणा तथा अनाभोग-चर्या के द्वारा बोधिसत्व सर्व का दर्शन और ज्ञान करते हैं। किन्तु इस ज्ञान तथा दर्शन को मायावत् या छायावत् माना जाता है। चित्त के बाहर जगत् नहीं है, उनका जीवन बिना किसी निमित्त के क्रमशः उच्च-उच्च भूमियों का लाभ-मात्र है। अन्त में त्रिधातु की चित्तमात्रता प्रतीत होने लगती है। यही मायोपम-समाधि है। परन्तु जो लोग सब धर्मों का अप्रतिष्ठान मानते हैं, उनके सिद्धान्त में विश्व न सत् है, न असत्; और न उभयात्मक है, न अनुभयात्मक। इसीलिये इस मत में संसार को सत्, असत्, सदसत् तथा सदसत्-भिन्न चार कोटियों से विनिर्मुक्त माना जाता है। अध्यात्मिक-दृष्टि से साधन-जीवन की दो अवस्थायें हैं—१. हेतु-रूप या साधन-रूप, २. फल-रूप या साध्य-रूप। ज्ञान तथा भक्ति-मार्ग में जैसे साधनरूप-ज्ञान-भक्ति या साध्य-रूप ज्ञान-भक्ति दोनों का परिचय मिलता है, उसी प्रकार बौद्धों के साधन की चरम-दृष्टि से भी साधन-रूप करुणा और साध्य-रूप करुणा में भेद है। साधनावस्था में भगवान् के चित्तोत्पाद से लेकर बोधिमण्ड-उपक्रम, मार-विध्वंसन तथा

वज्रोपम-समाधि पर्यन्त मार्गस्वरूप है। यह मार्ग पारमिता-नय है। फलावस्था में एकादश-भूमि का आविर्भाव माना जाता है। आशय तथा प्रयोग के भेद से हेतु भी दो प्रकार के हैं। सर्वसत्वों का त्राण आशय है, तथा क्षयानुत्पाद ज्ञानरूप-बोधि का अवलम्बन-प्रयोग है। प्रयोग के भी दो प्रकार हैं। एक का विमुक्ति-चर्या से सम्बन्ध है, दूसरे का भूमि से। पहला—दानादि-विमुक्ति में प्रायोगिक है। दूसरा—पारमिता-विमुक्ति में वैपाकिक है। द्वितीय के भी दो अवान्तर-भेद हैं। एक में अभिसंस्कार है, द्वितीय में अभिसंस्कार नहीं है। प्रथम में सात भूमियाँ हैं, क्योंकि आभोग तथा निमित्त के प्रभाव से समाधि की प्रवृत्ति होती है। सप्तम-भूमि में निमत्त नहीं रहता, किन्तु आभोग रहता है। अष्टम में आभोग भी नहीं रहता। शुद्ध-भूमि की प्राप्ति होने पर निमित्त और आभोग दोनों का अभाव होता है। इसी लिये इसमें स्वभाव-सिद्ध-समाधि का उदय होता है। इसी के प्रभाव से निखिल जगत् के यावत् अर्थों का सम्पादन हो जाता है। उस समय परार्थ-सम्पादन होता है और सर्व-संवित् के लाभार्थ सर्वानुशासन हो सकता है।

एक दृष्टि से देखा जाय तो यह भी साधकावस्था ही है। इसमें चार सम्पत् का उदय होता है। चारों संस्काररूप ही हैं—१. अशेष पुण्य तथा ज्ञान-संभार का अभ्यास, २. नैरन्तर्य का अभ्यास, ३. दीर्घकाल का अभ्यास, ४. सत्कार का अभ्यास। पतञ्जलि के योगसूत्र में 'स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढभूमिः' में अन्तिम तीनों का उल्लेख है।

सिद्धावस्था दशम-भूमि के बाद होती है। उसमें भी चार सम्पदों का उल्लेख मिलता है—१. प्रहाण, २. ज्ञान, ३. रूपकाय, ४. प्रभाव। प्रत्येक के अवान्तर भेद हैं, जिनका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। प्रकृत में वही अपेक्षित है, जो रूपकाय में सम्पत्-चतुष्क के नाम से निर्दिष्ट है। उसके अन्तर्गत महापुरुष के बत्तीस लक्षण, अशीति अनुव्यञ्जन, बल तथा वज्राङ्ग अथवा स्थिर-देह है। पातञ्जल योग-सूत्र में काय-सम्पत् के नाम से पञ्चरूप विशिष्ट पञ्चभूत-जय का जो फल उक्त है, वही यहाँ सिद्ध-पुरुष के रूपकाय को स्वाभाविक-सम्पत् कहकर माना गया है। इसमें जो प्रभाव शब्द उल्लिखित है, उसका तात्पर्य है—विशिष्ट ऐश्वर्य अथवा ईश्वरत्व। किसी-किसी बौद्ध आचार्य के अनुसार इसमें बाह्य विषयों का निर्माण, परिणाम-सम्पादन तथा वशित्वरूपी सम्पत् तथा भिन्न-भिन्न विभूतियों का अन्तर्भाव है।

कोई-कोई परवर्ती आचार्य पूर्ववर्णित हेतु और फल की अवस्थाओं के अतिरिक्त सत्वार्थ-क्रिया नाम की पृथक् अवस्था भी मानते हैं। इससे एक महत्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है कि आध्यात्मिक-जीवन में मनुष्य का मुख्य लक्ष्य केवल फल-प्राप्ति या सिद्धावस्था का लाभ ही नहीं है। इस प्राप्ति को सर्वसाधारण के लिए सुलभ करने का प्रयत्न ही सर्वोत्तम लक्ष्य है। इसीका नाम जीव-सेवा है। बौद्ध दार्शनिक इसी को सत्वार्थ-क्रिया नाम से वर्णित करते हैं। इस मत के अनुसार बोधिचित्तोत्पादसे बोधिमण्ड-निवेदन-पर्यन्त जितनी अवस्थाएँ हैं, वे सब साधन या हेतु के अन्तर्गत हैं। सम्यक्-सम्बोधि की उत्पत्ति से सर्व क्लेशों के प्रहाण-पर्यन्त फलावस्था है। इसके बाद प्रथम

धर्म-चक्र-प्रवर्तन से शासन के अन्तर्धान-पर्यन्त तृतीय अवस्था है। इससे यह प्रतीत होता है कि जीव या जगत् की सत्वार्थ-क्रिया-रूप-सेवा यावत् जीवन का लक्ष्य है, यह सृष्टि-पर्यन्त रहेगा। यदि सर्व की मुक्ति हो जाय तब शासन, शास्ता और शिष्य कोई नहीं रहेगा। उस समय प्रयोजन का भी अभाव हो जायगा। जब तक सबकी मुक्ति नहीं होती, तब-तक जीव-सेवा अवश्य रहेगी। इस मत के अनुसार हेतु-अवस्था—आशय, प्रयोग और वशिता के भेद से तीन प्रकार की हैं। सत्वानिर्मोक्ष-प्रणिधान—आशय है। प्रयोग दो प्रकार के हैं—१. सप्त पारमितानय २. दश पारमितानय। सप्त पारमिताओं में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा तथा उपाय हैं। ये लोग भूमि-प्राप्त चतुर्विध सम्पत् से सम्पन्न हैं। इन सम्पदों का नाम है—आशय, प्रयोग, प्रतिग्राहक तथा देह-सम्पत्। साधनावस्था में सभी प्रकार के 'आदिकर्म' करने पड़ते हैं, किन्तु सत्वार्थ-क्रियारूप फलावस्था में अनाभोग से ही प्रवृत्ति होती है। अर्थात् इस अवस्था में अपने-आप ही कर्म निष्पन्न होते हैं, अभिमानमूलक कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। दश पारमितावादी सात के बाद प्रणिधान, बल और ज्ञान इस प्रकार अन्य तीन परमिताओं को भी स्वीकार करते हैं।

बौद्धों के धार्मिक-जीवन के उद्देश्य का पर्यालोचन पहले किया गया है। उसका संक्षेप में पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है। प्राचीन बौद्ध-धर्म के मुमुक्षुओं में तीन आदर्श प्रधान रूप से प्रचलित थे—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और सम्यक्-सम्बुद्ध। पूर्वापेक्षया पर पद श्रेष्ठ हैं। श्रावक का आदर्श अपेक्षाकृत न्यून होने पर भी, पृथग्-जन से उत्कृष्ट था। यद्यपि श्रावक और पृथग्जन दोनों का समान लक्ष्य व्यक्तिगत दुःख-निवृत्ति था, तथापि पृथग्-जन को उपायज्ञान नहीं था, किन्तु श्रावक उपायज्ञ थे। श्रावक दुःख-निवृत्ति के मार्ग से परिचित थे। यह मार्ग बोधि अथवा ज्ञान है। चार आर्य सत्यों में यह मार्ग-सत्य है। बोधि या ज्ञान उन्हें स्वतः प्राप्त नहीं होता है, उसके उदय के लिये बुद्धादि शास्ताओं की देशना अपेक्षित थी। इसीलिये इसे औपदेशिक-ज्ञान कहते हैं। पृथग्-जन धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग की सिद्धिमें व्यापृत रहते हैं, किन्तु श्रावक इससे अतीत होते हैं। श्रावकों में किसी का दुःखनिरोध पुद्गल-नैरात्म्य के ज्ञान से और किसी-किसी का प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान से होता था। धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान किसी श्रावक को नहीं होता था। इसीलिये उन्हें श्रेष्ठ निर्वाण का लाभ नहीं होता था। फिर भी, इतना तो सत्य है कि ये लोग अधःपात की आशंका से मुक्त हो जाते थे, क्योंकि, ज्ञानाग्नि के द्वारा इनके क्लेश या अशुद्ध वासनात्मक-आवरण दग्ध हो जाते थे। इसलिये त्रिधातु में इनके जन्म लेने की संभावना नहीं रहती थी। वे जन्म-मृत्यु के प्रवाह-रूप प्रेत्य-भाव से मुक्त हो जाते थे।

प्रत्येकबुद्ध का आदर्श श्रावक से श्रेष्ठ है। यद्यपि इनका साधन-जीवन वैयक्तिक स्वार्थ से ही प्रेरित है, फिर भी आधार अधिक शुद्ध है। आधार-शुद्धि के कारण इन्हें स्व-दुःख की निवृत्ति के लिये उपाय या ज्ञान के लिये दूसरे से उपदेश प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती। ये लोग पूर्व श्रुतादि-अभिसंस्कारों के द्वारा स्वयं ही बोधि-

लाभ करते थे। बोधि-लाभ का फल बुद्धत्व-प्राप्ति है। योगशास्त्र जिसे अनौपदेशिक या प्रातिभ-ज्ञान कहता है, उससे प्रत्येकबुद्धों का ज्ञान प्रायः समान है। किसी अंश में यह विवेकोत्थ प्रातिभ-ज्ञान का ही एक रूप है। यह लौकिक शाब्द-ज्ञान नहीं है। प्रत्येकबुद्ध अपने बुद्धत्व के लिये प्रार्थी होते हैं, उसे प्राप्त भी करते हैं; किन्तु सर्व के बुद्धत्व के लिये उनकी प्रार्थना नहीं है।

श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध के ज्ञान में भी भिन्नता है। श्रावकों का ज्ञान पुद्गल-नैरात्म्य का अवबोध-रूप है, अतः पुद्गलवादियों के अगोचर है। प्रत्येकबुद्धों का ज्ञान मृदु-इन्द्रिय है, इसीलिए वह श्रावकों के भी अगोचर है। श्रावकों को क्लेशावरण नहीं होता, इसीलिए उनका ज्ञान सूक्ष्म है। प्रत्येकबुद्ध में ज्ञेयावरण का एक देश अर्थात् ग्राह्यावरण भी नहीं रहता, इसलिए वह और भी अधिक सूक्ष्म है। श्रावक का ज्ञान परोपदेशहेतुक है, अतः षोडशाकार से प्रभावित है; इसीलिए वह गम्भीर है। परन्तु प्रत्येकबुद्ध का ज्ञान स्वयंबोध-रूप है और तन्मयतामात्र से उद्भूत है, अतः पूर्व से अधिक गम्भीर है। एक बात और भी है। प्रत्येकबुद्ध का ग्राह्य-विकल्प परिहृत है, अतः वह शब्द-उच्चारण किये बिना ही, धर्म का उपदेश देते हैं। प्रत्येकबुद्ध अपने अधिगत-ज्ञानादि के सामर्थ्य से दूसरों को कुशलादि में प्रवृत्त करते हैं। उनके साधन को इसीलिए अति गम्भीर कहा जाता है कि वह उच्चार-रहित है, अतः दूसरे से उसका प्रतिघात सम्भव नहीं है।

तीसरा सम्यक्-सम्बुद्ध का आदर्श है। यही श्रेष्ठ आदर्श है। इसका भी प्रकार-भेद है। सम्यक्-सम्बुद्ध को ही बुद्ध भगवान् कहते हैं। यह अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त हैं। इनका लक्ष्य अत्यन्त उदार है। कोटि-कोटि जन्मों की तपस्या और अशेष विश्व की कल्याण-भावना ही, इनका मूलाधार है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होनेमात्रसे बुद्धत्व का लाभ नहीं हो जाता। यह ठीक ही है कि श्रावक का द्वैत-बोध नहीं छूटता, प्रत्येकबुद्ध का भी पूरा द्वैत-बोध नहीं छूटता, केवल सम्यक्सम्बुद्ध ही अद्वय-भूमि में प्रतिष्ठित होते हैं और द्वैतभाव से निवृत्त होते हैं। यह भी ठीक है कि ज्ञेयावरण के निवृत्त न होने पर अद्वैत-भाव का उदय नहीं होता। पतञ्जलि ने भी कहा है कि 'ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्'। ज्ञान के अनन्त होने से ज्ञेय अल्प है। बुद्धावस्था अनन्त-ज्ञान की अवस्था है इसीलिये आचार्यों ने इस ज्ञान को बोधि न कहकर महाबोधि कहा है। इस अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त करुणा भी रहती है। सत्वार्थ-क्रिया या परार्थापादन का भाव ही बुद्धों का बीज है, यही बुद्धत्व-लाभ का प्रधान कारण है। निर्वाण या स्वदुःख-निवृत्ति में लीन न होकर, निरन्तर जीव-सेवा में निरत रहना; बोधिसत्व के जीवन का आदर्श है। इसी आदर्श को लेकर बोधिसत्व बुद्धत्व का लाभ कर सकते हैं।

महाश्रावक सोपधि तथा निरुपधि बोधि का लाभ कर सकते हैं, किन्तु प्रज्ञा में तीव्र करुणा का समावेश नहीं है। इसी से वह संसार से त्रस्त होते हैं। जो यथार्थ कारुणिक है, वह दुःख-भोग करते घबराते नहीं, क्योंकि उनके दुःख-भोग से दूसरों के दुःखों का उपशम होता है। ये महाश्रावक अपने-अपने आयुष्य-संस्कार के क्षीण हो जाने के

कारण निर्वाण न पाने पर भी, प्रदीप-निर्वाणवत् त्रैधातुक जन्मों से मुक्त हो जाते हैं और मरणोत्तर परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्र में अर्थात् अनाश्रव-धातु में समाहित होकर कमल के पुट में जन्म लेते हैं। मातृगर्भ में उनका पुनः प्रवेश नहीं होता। अमिताभ-प्रभृति सम्बुद्ध-सूर्य इस कमलयोनि में समाधिस्थ सत्वों को अपनी किरण से अक्लिष्ट-तम के नाश के लिए प्रबोधित करते हैं। इस समय यह गतिशील होते हैं और क्रमशः बोधि-संभार (पुण्य तथा ज्ञान) का संचय करते हुए जगद्गुरु का पद प्राप्त करते हैं। यह सब आगम की बात है।

श्रावक-यान में मुख्य मोक्ष नहीं होता, इसका सद्धर्मपुण्डरीक, लङ्कावतार, धर्म-मेघसूत्र, नागार्जुन के उपदेश आदि में सर्वत्र प्रतिपादन है। इसके लिए ये लोग क्रमशः महायान में आकृष्ट होते हैं और उसमें आकर मुक्त हो जाते हैं। श्रावकों का यह विश्वास अवश्य है कि उनके सम्प्रदाय में ही बोधि-लाभ करने से निर्वाण-प्राप्त हो जाता है, किन्तु वस्तुतः वह निर्वाण नहीं है, त्रिलोक से निर्गम-मात्र होता है। किसी का यह भी कहना है कि एक यान का उपदेश नियत-गोत्र के लिए है, किसी का आकर्षण किया जाता है और किसी का धारण। जो यथार्थ में महायानी हैं, वह पहले ही प्रमुदिता-भूमि को प्राप्त कर क्रम से अनुत्तर-बोधि का लाभ करते हैं।

केवल शुद्ध-बोधि से महाबोधि का लाभ नहीं होता, उसके लिए भगवत्ता से योग होना आवश्यक है। पारमिता-संभार के पूर्ण न होने तक भगवत्ता का उदय नहीं होता। बोधिसत्व चरम जन्म में पारमिता पूर्ण करके भगवान् हो जाते हैं, किन्तु बुद्ध नहीं होते। कोई भगवत्ता के साथ बुद्ध भी होते हैं, यही भगवान् बुद्ध हैं। बोधि और भगवत्ता की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं। बोधि की धारा में बुद्धत्व है, किन्तु संबुद्धत्व नहीं है। क्योंकि दूसरे के प्रति करुणा नहीं है, इसलिए महाबोधि भी नहीं है। महाबोधि का लाभ तब-तक नहीं होगा, जब-तक निखिल विश्व को अपना समझ कर करुणा-विगलित-भाव से उनकी सेवा न की जाय। सेवा-कर्म—चर्या है। बोधि-भाव—प्रज्ञा है। एक आश्रय में दोनों के युगपत्-अवस्थान से बुद्धत्व और भगवत्ता का अभेद से प्रकाशित होता है। यही मानव-जीवन का चरम आदर्श है, यही बुद्ध की भगवत्ता है और भारतीय-संस्कृति का रहस्य यही है। श्रीमद्भागवत में इसी को ब्रह्मत्व एवं भगवत्ता कहा गया है :—

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

अर्थात् एक अद्वय ज्ञानात्मक-तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् कहा जाता है। एक तत्त्व को ही ज्ञान-दृष्टि से ब्रह्म, योग-दृष्टि से परमात्मा, भक्ति-दृष्टि से भगवान् कहते हैं। योग कर्मात्मक है—योगः कर्मसु कौशलम्। अतः ज्ञान, कर्म तथा भक्ति या भाव इन तीनों का एक में महासमन्वय है। ब्रह्म-निर्गुण, निःशक्ति तथा निराकार है। परमात्मा-सगुण, सशक्ति एवं ज्ञानाकार है। भगवान्-सगुण, सशक्ति और साकार है। तीनोंका यह लक्षण-भेद है, किन्तु तीनों एक ही तत्त्व हैं। भागवत

में जो अद्वय-ज्ञान उल्लिखित है, उसका विवरण वज्रयान-सम्प्रदाय के अद्वयवज्रसिद्धि नामक ग्रंथ में भी है :—

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते।
तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥

[चर्याचर्यविनश्चय की संस्कृत टीका में उद्धृत]

भागवत में भक्ति का जो स्थान है, बौद्धागम में करुणा का वही स्थान है। प्रज्ञापारमिता तथा करुणा के सामरस्य का तात्पर्य है—प्रज्ञा के प्रभाव से सास्रव धातुओं का अतिक्रम करना। करुणाके प्रभाव से इनका निर्वाण में प्रवेश नहीं होता, प्रत्युत जगत् कल्याण के निमित्त अनास्रव-धातु में स्थिति होती है।

प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः।

अर्थात् प्रज्ञावश संसार में स्थिति नहीं होती और कृपा वश निर्वाण में स्थिति नहीं होती, सत्त्वार्थ-करण-रूप पारतंत्र्यके प्रभाव से बोधिसत्त्व-गण भव या शम किसीमें अवस्थान नहीं करते।

पहले पारमिता-नय तथा मंत्र-नय का उल्लेख किया गया है। बुद्ध से ही दोनों नय प्रवर्तित हुए थे। दोनों का प्रयोजन भी अभिन्न है। फिर भी विभिन्न दृष्टिकोणों से मन्त्र-शास्त्र का प्राधान्य माना जाता है। अद्वयवज्र ने लिखा है—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

मन्त्र-नय अत्यन्त गम्भीर एवं विशिष्ट है। उच्चकोटि के अधिकार-प्राप्त न हो जाने तक, इसमें प्रवेश नहीं होता। मन्त्र-विज्ञान अति प्राचीन काल से भारत में प्रचलित था। उसकी तीव्र शक्तिमत्ता के कारण दुरुपयोग की आशंका से आचार्य-गण मंत्रमूलक साधना को जनसाधारण के समक्ष प्रकाशित नहीं करते थे। गुप्तभाव से ही इसका अनुष्ठान होता था। प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन की बात सर्व-प्रसिद्ध है। द्वितीय तथा तृतीय धर्म-चक्र-प्रवर्तन के अधिक प्रसिद्ध न होने पर भी, वह अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। जैसे आगम के गम्भीर तत्त्वों का उपदेश कैलाश आदि के शिखर पर या मेरुशृंगादि के उच्च प्रदेश पर शंकरादि-गुरुमूर्ति ने शिष्यरूपा पार्वती आदि को किया था, ठीक उसी प्रकार राजगृह के निकटस्थ गृध्रकूट-पर्वत पर बुद्धदेव ने अपने जिज्ञासु-भक्तों के समक्ष पारमिता-मार्गका प्रकाशन किया। गृध्रकूट में जिस समय बुद्ध ने समाधि ली, उस समय उनके देह से दशों दिशाओं में तेज निःसृत हुआ, और सर्व-प्रदेश आलोकित हो उठा। मुँह खोलते ही देखा गया कि उसमें अगणित सुवर्णमय सहस्रदल-कमल प्रकाशित हुए हैं। उनके देह के प्रभाव से लोक के विभिन्न दुःखों का उपशम हो गया। इस उपदेश का विवरण महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र में निबद्ध है। कहा जाता है कि नागार्जुन ने इसकी एक टीका भी लिखी थी। इसग्रन्थ के विभिन्न संस्करण विभिन्न समय में संकलित हुए थे। कुछ संस्करणों के कुछ अंशों का भाषान्तर भी हुआ था। अति प्राचीनकाल से ही सब देशों में इसका प्रचार हुआ।

महायान में शून्यता, करुणा, परार्थ-सेवा प्रभृति विषयों का तथा योगादि का सविशेष वर्णन उपलब्ध होता है। यह प्रज्ञापारमिता वस्तुतः जगन्माता महाशक्तिरूपा महामाया है। महायान-धर्म के विकास में शाक्तागम का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। यह महाशक्तिरूपा प्रज्ञा बोधिसत्त्वों की जननी तो है ही, बुद्धों की भी जननी है। जैसे शिव तथा शक्ति में चन्द्र और चन्द्रिका के समान अभेद-सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार बुद्ध और प्रज्ञापारमिता का सम्बन्ध है। विश्व के दुःख के निर्मोचन-कर्म में बोधिसत्व-गण इसी जननी की प्रेरणा से और सामर्थ्य से अग्रसर होते हैं। पारमिता तथा मंत्र का यह नय सर्वत्र ही स्वीकृत है। इस महाशक्ति के अनुग्रह के बिना लोकार्थ-सम्पादन का कार्य नहीं किया जा सकता।

पारमिता-नय का लक्ष्य बुद्धत्त्व-लाभ है, और वही मंत्र-नय का भी। पारमिता-नय में अवान्तर-भेद भी हैं। इसका यहाँ विशेष वर्णन नहीं हो सकता। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि ध्यान, ध्यान-फल, दृष्टि, करुणा का स्वरूप, तथा त्रिकाय-विषयक विचारों में दोनों धाराओं में कहीं-कहीं मतभेद है। मायोपम-अद्वयवाद का लक्ष्य एक विशेष प्रकार का है, किन्तु सर्वधर्माप्रतिष्ठान-वाद का लक्ष्य उससे कुछ भिन्न है। उभयत्र पारमिताओं की पूर्ति आवश्यक है। दोनों ही नयों में साधना के क्षेत्र में योगाचार अर्थात् योग-चर्या का प्राधान्य है। किन्तु दोनों के योग में परस्पर-भेद है। दोनों यान बोधिसत्त्व-यान हैं। पारमिता-नय में करुणा, मैत्री आदि की चर्या प्रधान है। माध्यमिक तथा योगाचार दोनों संप्रदायों में पारमिता-नय का समादर था। नागार्जुन का प्रवर्तित माध्यमिक-मत कालिक-दृष्टि से कुछ प्राचीन है। इसका उद्भव-क्षेत्र वही है, जहाँ मंत्र-नय का उद्भव माना जाता है। श्रीधान्यकटक नामक यह स्थान दक्षिण में अमरावती के निकट है। तांत्रिक-साधना के इतिहास में श्रीशैल या श्रीपर्वत का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह ज्योतिर्लिंग मल्लिकार्जुन का क्षेत्र है। बौद्ध तांत्रिक-सम्प्रदाय के विश्वास के अनुसार भगवान् बुद्ध ने धान्यकटक में मंत्र-नय का तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था। नागार्जुन के कुछ समय बाद असंग का काल है। योगाचार-संप्रदाय के इतिहास-प्रसिद्ध प्रवर्तक असंग ही हैं। यह आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। उस समय के महायोगियों में यह प्रसिद्ध थे। इनके महायानसूत्रालंकार में तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रसिद्धि है कि मैत्रेय के उपदेश से असंग का धार्मिक-जीवन आमूल परिवर्तित हुआ था। वर्त्तमान अनुसंधान से प्रतीत होता है कि मैत्रेय एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनका नाम मैत्रेयनाथ था। वस्तुतः महायान-सूत्रालंकार की मूलकारिका इन्हीं की रचित है। यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म पर तंत्र का प्रभाव असंग से पहले ही पड़ चुका था। मंजुश्रीमूलकल्प नामक ग्रंथ का परिचय प्रायः सभी को है। इसके अतिरिक्त उस समय अष्टादश पटलात्मक गुह्यसमाज की भी बहुत प्रसिद्धि थी। परवर्ती बौद्ध तांत्रिक-साधना के विकास में गुह्यसमाज का प्रभाव अतुलनीय था। इस पर नागार्जुन, कृष्णाचार्य, लीलावज्र, शान्तिदेवप्रभृति विशिष्ट आचार्यों का भाष्य था। इतना ही नहीं, परवर्ती काल के दीपंकरश्रीज्ञान, कुमारकलश, ज्ञानकीर्ति, आनन्दगर्भ, चन्द्रकीर्ति, मंत्रकलश, ज्ञानगर्भ तथा दीपंकरभद्र प्रभृति

बहुसंख्यक सिद्ध और विद्वान् बौद्धपण्डितों ने इस ग्रन्थ में उक्त तत्त्वों के विषय में महत्त्वपूर्ण नाना ग्रन्थों की रचना की थी। असंग के छोटे भाई पहले वैभाषिक थे, बाद में असंग के प्रभाव से परिपक्व योगाचारी बन गये थे। असंग गुह्यसमाज के रचयिता थे या नहीं, कहना कठिन है। किन्तु दोनों में घनिष्ट संबंध अवश्य था। प्राचीन शैव तथा शाक्त आगमों के सूक्ष्म तथा व्यापक आलोचन से ज्ञात होता है कि असंग, नागार्जुन आदि आचार्य उनके प्रभाव से मुक्त नहीं थे। कामाख्या, जालंधर, पूर्णगिरि, उड्डियान, श्रीपर्वत, व्याघ्रपुर-प्रभृति स्थान तांत्रिक-विद्या के साधन-केन्द्र थे। मातृका-साधन के उपयोगी क्षेत्र भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में फैले हुए थे। मंत्र-साधन प्राचीन वाग्-योग का ही एक विशिष्ट प्रकार मात्र है।

पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध-मत में पारमिता-नय के सदृश मंत्र-नय के भी प्रवर्तक बुद्ध ही हैं। क्रमशः मन्त्रमार्ग में अवान्तर भेद—वज्र-यान, कालचक्र-यान तथा सहज-यान आविर्भूत हुए। इनमें किंचित् भेद है, किन्तु बहुत अंशों में सादृश्य है। वस्तुतः सभी मंत्रमार्ग के ही प्रकार-भेद हैं, इस दृष्टि से भेद नहीं है। मालूम होता है, एक ही साधन-धारा विभक्त होकर भाव के गौण एवं प्रधान भाव से विभिन्न रूप में व्याप्त हो गई। पारमिता-नय का प्रायः समस्त साहित्य विशुद्ध संस्कृत में है, किन्तु मन्त्र-नय का मूल कुछ संस्कृत, कुछ प्राकृत और कुछ अपभ्रंश में है। शाबर-आदि म्लेच्छ-भाषाओं में भी मंत्र-रहस्य का व्याख्यान होता है! यह लघुतंत्रराजटीका विमल प्रभा में है। मंत्र-नय की तीनों धाराएँ परस्पर मिलती हैं। वस्तुतः यही बौद्ध-तान्त्रिक-धर्म है। यदि महाशक्ति की आराधना ही तान्त्रिक-साधना का वैशिष्ट्य माना जाय, तो इसमें संदेह नहीं कि पारमिता-नय भी तान्त्रिक-कोटि में गिना जायगा।

वज्रयान की साधना में मंत्र का प्राधान्य रहता है। इसी कारण कभी-कभी वज्र-यान को मंत्र-यान भी कहते हैं। सहज-यान में मंत्र पर जोर नहीं दिया गया है। परन्तु वज्रयान तथा कालचक्र-यान की योग-साधना में मंत्र का ही प्राधान्य माना जाता है। प्रसिद्धि है कि गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्ध दीपंकर इस मार्ग के आदि उपदेष्टा थे। वज्र-मार्ग काल-क्रम से लुप्त हो गया, जैसे सुना जाता है कि सांख्य 'कालार्क' भक्षित हुआ था, और गीतोक्त योग दीर्घकाल से लुप्त हो गया था (योगो नष्टः परन्तप); बाद में कृष्ण ने गीतोक्त योग का पुनः प्रवर्तन किया। इसी प्रकार वज्रयान का भी प्रवाह विच्छिन्न हो गया था। यह ठीक है कि किसी-किसी स्थान में यह विद्यमान था, इसका आभास मिलता है; किन्तु जन-चित्त पर उसका प्रभाव नहीं था। उत्तर काल में वज्र-यान वज्रयोग के रूप में प्रकट हुआ। उसके प्रवर्तक राजा सुचन्द्र थे। यह एक विशाल राज्य के स्वामी थे। इनकी राजधानी संभल-नगरी थी। यह सीता नदी के तट पर थी। कालतंत्र में इसका विवरण मिलता है। यह राजा सुचन्द्र वज्रपाणि बुद्ध के निर्माण-काय थे। इन्होंने ऊर्ध्व-लोक में जाकर संबुद्ध गौतम से अभिषेक-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये थे। उनके प्रश्न से प्रसन्न होकर गौतम ने श्रीधान्यकटक में एक सभा का आह्वान किया। जगत् में किसी नवीन मत के

प्रचार के लिए प्रायः ऐसा ही हुआ करता है। इसके पहले गृध्रकूट-पर्वत पर सभा हुई थी और उस समय मन्त्र-मार्ग का उपदेश हुआ था।

अधिकार-सम्पत्ति अच्छी न रहने से वज्रयान में प्रवेश नहीं होता। पारमिता-नय का साधन नीति तथा चर्या की शुद्धि पर प्रतिष्ठित हुआ था, किन्तु मन्त्र-नय की साधना आध्यात्मिक योग्यता पर निर्भर थी।

पारमिता-नय का विश्लेषण सौत्रान्तिक-दृष्टि से होता है, किन्तु मन्त्र-नय का व्याख्यान योगाचार तथा माध्यमिक-दृष्टि से ही हो सकता है। सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को अनुमेय मानते हैं, उनके मत में उसका कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। माध्यमिक विज्ञान को भी नहीं मानते। इसी से समझ में आता है कि मन्त्र-साधना का अधिकार प्राप्त करने के लिए दृष्टि का कितना प्रसार तथा उत्कर्ष होना चाहिए।

मन्त्र-यान का लक्ष्य वज्रयोग-सिद्धि है। जब-तक साधक का आधार या क्षेत्र योग्य नहीं होता, तब-तक इसका साधन नहीं किया जा सकता। पूर्णता के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए यही योग श्रेष्ठ है। इस महामार्ग के चार स्तर हैं। एक-एक स्तर में पूर्ण योग का एक-एक रूप आवरण से उन्मुक्त होता है। चारों स्तरों के साधन में पूर्णता-लाभ करने पर योग पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक स्तर में योग-लाभ से पहले विमोक्ष-लाभ करना पड़ता है। विमोक्ष-लाभ का उद्देश्य कल्पनादिक से तथा आवर्जनाओं से मुक्त होना है। ध्यान से विमोक्ष की प्राप्ति होती है, और विमोक्ष से योग सिद्ध होता है। चार स्तरों के कारण विमोक्ष भी चार प्रकार के हैं—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसंस्कार। प्रत्येक योग में विमोक्ष के प्रभाव से एक-एक शक्ति का विकास होता है, अर्थात् एक-एक वज्रयोग से एक-एक प्रकार की शक्ति पूर्ण होती है। शक्ति के पूर्ण विकास हो जाने पर वज्र-भाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से अपनी सत्ता को चार भागों में विभाजित किया जाता है—काय, वाक्, चित्त और ज्ञान। प्रथम वज्रयोग में 'काय-वज्रभाव' का उदय होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अवस्थाओं का उदय होता है। जिसे काय-वज्र कहा गया है, वह एक दृष्टि से स्थूल-जगत् की पूर्णता है। शेष तीन भी इसी प्रकार के हैं। ये चारो समष्टि-रूप हैं।

पहले वज्रयोग का नाम विशुद्ध-योग है। इसके लिए पहले शून्यता नाम का विमोक्ष प्राप्त करना पड़ता है। शून्यता शब्द से स्वभाव-हीनता समझनी चाहिए। शून्यता अतीत और अनागत ज्ञेयों से शून्य है। इसका दर्शन शून्यता है। यह गम्भीर और उदार है। गम्भीर इसलिए कि अतीत और अनागत नहीं है। उदार इसलिए कि अतीत और अनागत का दर्शन है। जिस ज्ञान में इस शून्यता का ग्रहण होता है, वही शून्यता-विमोक्ष है। इसे प्राप्त करने पर तुरीय-अवस्था का क्षय हो जाता है, और अक्षर महासुख का उदय होता है। करुणा का लक्षण ज्ञान-वज्र है। इसी का नामान्तर सहजकाय है, जो प्रज्ञा और उपाय की साम्यावस्था है। इसी का नामान्तर विशुद्ध-योग है।

द्वितीय योग का नाम धर्म-योग है। इसके लिए जिस विमोक्ष की अपेक्षा है,

उसे अनिमित्त कहा जाता है। बुद्ध एवं बोधि-प्रभृति विकल्पमय चित्त ही निमित्त है। जिस ज्ञान में इस प्रकार का विकल्प-चित्त नहीं होता, उसे ही अनिमित्त-विमोक्ष कहते हैं। इसे प्राप्त कर लेने पर सुषुप्ति-दशा का क्षय हो जाता है। नित्य-अनित्यादि-द्वय से रहित मैत्रीरूप चित्त उदित होता है। यह चित्त-वज्र धर्मकाय नाम से प्रसिद्ध है। यह दो कायों का स्फुरण है। वस्तुतः यह जगत् के कल्याण-साधक निर्विकल्पक-चित्त से भिन्न और कुछ नहीं है। यह योग भी प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। चित्त-वज्र ही ज्ञान-काय नामसे प्रसिद्ध है।

तृतीय योग का नाम मन्त्र-योग है। इसके लिए अप्रणिहित नाम का विमोक्ष आवश्यक है। निमित्त के अभाव से तर्क का अभाव होता है। वितर्क-चित्त के अभाव से प्राणिधान का उदय नहीं होता। इसीलिए यह अप्रणिहित है। अप्रणिधान शब्द से 'सम्बुद्ध हूँ' आदि आकार का भाव समझा जाता है। इस प्रकार के विमोक्ष से स्वप्न-क्षय होता है, और भीतर से अनाहत-ध्वनि सुन पड़ती है। यही मंत्र या सर्व-भूत-रुत नाम से प्रसिद्ध है। मुदिता इसीका नामान्तर है। सर्वसत्व-वरुत से तात्पर्य—मंत्र द्वारा सर्वसत्वों में मोदन (आनन्द) का संचार करना है। यही मुदिता का तात्पर्य है। मन का त्राण हो जाता है, यही मंत्र का उपयोग है। यही वाग्वज्र या संभोग-काय है। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही मंत्र-योग है। यह सूर्य-स्वरूप है।

चतुर्थ योग का नाम संस्थान-योग है। इसके लिए अनभिसंस्कार नाम का विमोक्ष अपेक्षित है। प्रणिधान न रहनेसे अभिसंस्कार नहीं रहता। श्वेत, रक्त, प्राणायाम तथा विज्ञान ये अभिसंस्कार हैं। इस विमोक्ष के प्रभाव से विशुद्धि होती है। उससे जाग्रत् अवस्था का क्षय होता है, और अनन्त-अनन्त निर्माण-कार्यों का स्फुरण होता है। इससे उपेक्षारूप काय-वज्र का लाभ होता है। रौद्र-शान्तादि रूपों से इसका सांकर्य नहीं है। निर्माण-काय या प्रज्ञोपाय का सामरस्य ही संस्थान-योग का रूप है। यह 'कमल-नयन' नाम से प्रसिद्ध है।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि चार योगों से चार अवस्थाओं का अतिक्रम होता है। वज्र-योग का मुख्य फल पूर्ण निर्मलत्व या स्वच्छत्व आयत्त करना है। तुरीय-प्रभृति चार अवस्थाओं में किसी-न-किसी प्रकार का मल है। जब तक इन मलों का संशोधन न हो, तबतक पूर्णत्व-लाभ नहीं हो सकता। तुरीय के मल से अभिप्राय—रागविशिष्ट इन्द्रिय-द्वय से है। सुषुप्ति का मल तम और स्वप्न का मल श्वास-प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास का अभिप्राय प्राणोत्पादादि तथा सत्-असत् आदि विकल्प से है। जाग्रत् का मल है—संज्ञा अर्थात् देह-बोध।

तांत्रिक योगियों का कहना है कि वैदिक-योग से मलों की पूर्णतया निवृत्ति नहीं होती। किन्तु तांत्रिक-क्रिया के प्रभाव से मल रह ही नहीं सकता। इस मत में वस्तुमात्र ही शून्य अर्थात् निःस्वभाव है। अतीत नहीं है, अनागत भी नहीं है। यह जानकर ध्यान करने से मनोभाव शून्यात्मक होता है। यह अत्यंत गंभीर है। और देश-कालादि से अपरिच्छिन्न है। इसके आधार पर जिस ज्ञान की प्रतिष्ठा है, उसी का नाम शून्यता-विमोक्ष है। इसके प्रभाव से मोहनाशक निर्विकार आनन्द की

अभिव्यक्ति होती है। विश्व-करुणा से युक्त ज्ञान शुद्ध होता है। इसी का नाम सहज-काय है और इसी का नामान्तर विशुद्ध-काय भी है।

ऊपर चार वज्रयोगों का जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है, वह गुह्यसमाज और विमलप्रभादि ग्रन्थों के आधार पर है। चैतन्य को आवरण से मुक्त करना ही योग का उद्देश्य है। एक-एक वज्रयोग-रूप चैतन्य से एक-एक आवरण का उन्मीलन होता है। इससे समग्र विश्व-दर्शन का एक-एक अंग खुल जाता है। इसका पारिभाषिक नाम अभिसंबोधि है। चार योगों से चार प्रकार की अभिसंबोधि उदित होती है, और पूर्णता की प्राप्ति के अन्तराय दूर हो जाते हैं।

इस संबोधि का आलोचन दो तरह से किया जाता है—१. उत्पत्ति-क्रम तथा २. उत्पन्न-क्रम। वैदिक-धारा की साधना में भी इन दोनों का परिचय मिलता है, किन्तु दोनों के प्रकार भिन्न हैं। सृष्टि-क्रम और संहार-क्रम अथवा अवरोह-क्रम और आरोहक्रम का अवलंबन किये बिना सम्यक्-रूपेण विश्वदर्शन नहीं किया जा सकता। श्रीचक्र-लेखन की प्रणाली में केन्द्र से परिधि की तरफ या परिधि से केन्द्र की तरफ जैसे गति हो सकती है, अथ च दोनों में तत्त्व-दृष्टि तथा कार्य-दृष्टि से भेद है; ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति-क्रम से उत्पन्न-क्रम का भी भेद है।

उत्पत्ति-क्रम में चार संबोधियों को इस क्रम से समझना चाहिए। सबसे पहले है—एकक्षण-अभिसंबोधि। यह स्वभाविक या सहजकाय से संश्लिष्ट है। जन्मोन्मुख आलय-विज्ञान जिस समय मातृगर्भ में माता और पिता के समरसीभूत बिन्दु-द्वय के साथ एकत्व-लाभ करता है, वह एक महाक्षण है। इस क्षण में जो सुख-संवित्ति होती है, उसका नाम एक-क्षण-संबोधि है। उस समय गर्भस्थ काया रोहित-मत्स्य के सदृश एकाकार रहती है। उसमें अंग-प्रत्यंग का विभाग नहीं रहता।

इसके बाद पंचाकार-संबोधि होती है। पहले की काया सहज-काय से संश्लिष्ट थी, किन्तु यह काय धर्म-काय से संश्लिष्ट है। मातृगर्भ में जब रूपादि वासनात्मक पाँच संवित्तियाँ होती हैं, तब वह आकार कूर्मवत् पंच स्फोटक से विशिष्ट होती है। यह पंचाकार-महासंबोधि की अवस्था है।

तदनन्तर उक्त पञ्च ज्ञान में से प्रत्येक ज्ञान पंच-धातु, पंच-इन्द्रिय तथा तथा पंच-आयतनों के वासना-भेद से बीस प्रकार का है। काय भी बीस अंगुलियों से परिपूर्ण होता है। यह विंशत्याकार-संबोधि है। इसका सम्बन्ध संभोग-काय के साथ है। यहाँ तक का विकास मातृ-गर्भ में होता है।

इसके बाद गर्भ से निष्क्रमण अर्थात् प्रसव होता है। उसी समय मायाजाल के सदृश अनन्तभावों की संवित्तियाँ होती हैं। ज्ञान में विंशति भेदों के स्थान पर अनन्त प्रकार के भेदों का स्फुरण होता है। इसका नाम मायाजाल-अभिसंबोधि है। यह निर्माणकाय से संश्लिष्ट है।

मायाजाल के ज्ञान के उदय होने पर ही समझ लेना चाहिए कि उत्पत्ति-क्रम समाप्त हो गया। परम शुद्धसत्ता से मायाराज्य में अवतरण का यही इतिहास है। वस्तुतः मायागर्भ में ही रचना होती है। काम-कला-तत्त्व का भी यही रहस्य है। शुक्ल-बिन्दु

तथा रक्त-विन्दु नाम के दो कारण-बिन्दु कार्य-विन्दु के रूप में परिणत होते हैं। आगे की सृष्टि इस कार्य-विन्दु का ही क्रम-विकास है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रारंभ में आनन्द ही आनन्द है। इसका नाम केवल सुख-संविचि है। उपनिषद् में भी 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' के द्वारा यही कहा गया है। यह वस्तुतः महाक्षण की स्थिति है। सृष्टि में मायाजाल के अनन्त नाग-पाश का विस्तार है। आनन्द टूटता है, और नाना प्रकार के दुःखों का आविर्भाव होता है। इस प्रत्यावर्त्तन-काल में माया को छिन्न कर, पुनः उस एक महाक्षण में लौटना पड़ता है। निर्माण-काय से सहज-काय तक का आरोहण होता है। प्रत्यावर्त्तन की धारा में एक-क्षण-संबोधि को अन्तिम विकास माना जाता है। वस्तुतः इसी क्षण में विश्वातीत महाशक्ति अवतीर्ण होती है, और लौटती भी है। योगी गर्भाधान-क्षण को ही उत्पत्ति-क्षण मानते हैं। परन्तु अयोगी की दृष्टि में गर्भ से निष्क्रमण-क्षण या नाडीच्छेद-क्षण ही उत्पत्ति-क्षण है। उसी क्षण में माया अर्थात् वैष्णवी-माया का स्पर्श होता है।

इसके बाद ही श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्रारंभ होती है। देह-रचना के मूल में है—क्षर-विन्दु अथवा आलय-विज्ञान। यह अशुद्ध-विज्ञान है। यही जन्म लेता है। दो कार्य-विन्दु एक साथ रहकर देह-रचना करते हैं।

उत्पन्न-क्रम वस्तुतः आरोह-क्रम है। एक दृष्टि से इसे संहार-क्रम कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से इसे ही सृष्टि-क्रम भी कह सकते हैं। जैसे माया से ब्रह्म में स्थिति-लाभ करना एक धारा है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मावस्था का भी एक विकास-व्यापार है। इससे परमात्मा तथा भगवान्-पर्यन्त भावों की व्यंजना होती है। प्रकृत में भी प्रायः ऐसा ही समझना चाहिए। माया के प्रभाव से प्रतिदिन २१ हजार ६ सौ श्वास-प्रश्वासों की क्रिया होती है। प्रत्यावर्त्तन की अवस्था में भी ठीक उसी प्रकार एक-क्षण-अभिसंबोधि की अवस्था होती है। इस अवस्था में प्राणवायु शान्त होती है। इसीलिए चित्त महाप्राण में स्थिर होता है और स्थूल-इन्द्रियों की क्रिया नहीं रहती। इस अवस्था में दिव्य-इन्द्रियों का उदय होता है। स्थूल देहाभिमान नहीं रहता। दिव्य-देह का आविर्भाव होता है। इस समय एक ही क्षण में विश्व-दर्शन हो जाता है—ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले। यह ज्ञान वज्र-योग है, और स्वभाव-काय की अवस्था है।

क्षर-विन्दु की देह-रचनात्मक सृष्टि बतायी गयी है। अक्षर या अच्युत-विन्दु की सृष्टि विशुद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक है। यह एक-क्षणाभिसंबुद्ध स्थिति ही सर्वार्थदर्शी वज्रसत्व की स्थिति समझनी चाहिये। इस स्थिति में श्वास-चक्र की क्रिया नहीं रहती। इस महाक्षण को ही बुद्ध का जन्म-क्षण कहा जाता है। इसी महाक्षण में मनुष्यमात्र ही बुद्धत्व या पूर्णत्व का लाभ करते हैं। इसी का नाम द्वितीय जन्म है। मूल-तन्त्र में कहा गया है 'जन्मस्थानं जिनेन्द्राणामेकस्मिन् समयेऽक्षरे'। यह स्वभाव-काय की अवस्था है।

इसके बाद चित्त-वज्रयोग होता है। पहले जो वज्र-सत्त्व थे, वही महासत्त्व के रूप में प्रकट होते हैं। उस समय परम अक्षर-सुख का अनुभव होता है। इसका नाम पंचाकार-अभिसंबोधि है। आदर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान, प्रत्यवेक्षण-ज्ञान, कृत्यानुष्ठान-ज्ञान

और पूर्ण विशुद्ध धर्म-धातु का ज्ञान, ये ही मुख्य ज्ञान हैं। द्रव्यादि पञ्चधातु और रूपादि पंच-स्कन्ध ये दोनों प्रज्ञा और उपायात्मक हैं। ये पञ्च मंडल निरोध-स्वभाव हैं। यह धर्म और काल की अवस्था है। इस समय श्वास-चक्र पुनः कर्म में प्रवर्तित होता है।

जब संभोग-काय की अभिव्यक्ति होती है, तो वाग्-बज्र रूप से उसका निरुपण किया जा सकता है। यह महासत्त्व है, इसी का परिणाम है—बोधिसत्त्व। यह द्वादशाकार सत्त्वार्थ बोधिसत्त्वों का अनुग्राहक है। यह सर्वसत्त्व-रुत् के द्वारा धर्म-देशना करते हैं। यह विंशत्याकार-अभिसंस्कार की दशा है। इसमें ५ इन्द्रिय, ५ विषय, ५ कर्मेन्द्रिय, निरावरण-लक्षण द्वादश-संक्रान्तियाँ हैं।

सब के अन्त में कायबज्र-योग का निरुपण होता है। यह निर्माण-काय है। समय सत्त्व षोडशाकार-तत्त्व-वेदनों से अनुग्राहक है। अनन्त मायाजालों से काय का स्फुरण होता है। यहाँ की समाधि भी मायाजाल-अभिसंबोधि है। इस अवस्था में एक ही समय में अनन्त तथा अपर्यन्त नाना प्रकार की माया का निर्माण-लक्षण षोडश आनन्दमय-विन्दु का निरोध है।

इस समय प्रसंगतः आनन्द के रहस्य के सम्बन्ध में दो चार बातें कहना आवश्यक है। स्थूल दृष्टि से आनन्द के चार भेद हैं—१. आनन्द २. परमानन्द ३. विरमानन्द ४. सहजानन्द। जिस समय काम के द्वारा मन में क्षोभ होता है, वही समय आनन्द के उद्गम का है। वस्तुतः यह भाव का ही विकास है। शक्ति की अभिव्यक्ति से इसका आविर्भाव होता है। इसके बाद जब अभिव्यक्त-शक्ति के साथ मिलन का पूर्णत्व सिद्ध होता है, तब बोधि-चित्त भी पूर्ण हो जाता है। इस पूर्णत्व का स्थान ललाट है। इस आनन्द का नाम परमानन्द है। यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध तान्त्रिक-परिभाषा में शरीर का सारांश विन्दु ही है, जो बोधिचित्त नाम से अभिहित होता है। उत्तमांगों से बोधि-बिन्दु का क्षरण होता है। यही अमृत-क्षरण है। इस अवस्था को ज्वाला-अवस्था कहते हैं। यह विरमानन्द है। इसके बाद वाक् तथा चित्त-बिन्दु के अवसान में जब चतुर्बिन्दु का निर्गम होता है, उस काल में सहजानन्द का आविर्भाव होता है।

योगी लोग कहते हैं कि प्रत्येक पक्ष में प्रतिपद् से पञ्चमी-पर्यन्त तिथियां, जो चन्द्रमा की कलायें हैं, वे आकाशादि पञ्चभूत के स्वरूप हैं। इन्हीं का नाम नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता तथा पूर्णा है। इनके प्रतीक स्वरादि वर्ण हैं। इन पाँचों में आनन्द पूर्ण होता है। षष्ठी से दशमी तक की तिथियाँ भी पूर्ववत् आकाशादि पञ्चभूत के स्वरूप हैं। इनमें परमानन्द पूर्ण रहता है। एकादशी से पूर्णिमा तक भी आकाशादि पञ्चभूत रूप ही हैं। ये विरमानन्द से पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार आनन्द—परमानन्द तथा विरमानन्द की साम्यावस्था षोडशी कला है। इसी का नाम सहजानन्द है। इसमें सब धातुओं का समाहार होता है। प्रत्येक आनन्द में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय के भेद से काय, वाक् चित्त तथा ज्ञान के योग से चार प्रकार के योग उदित होते हैं—कायानन्द, वागानन्दादि। तदनुसार प्रति आनन्द से संश्लिष्ट योग भी चार प्रकार के हैं। इस प्रकार चार बज्रयोग ही षोडश योग में परिणत होते हैं। इन सोलहों के नाम पृथक्-पृथक्

हैं। पहले का नाम काम है। अन्तिम का नाम नाद है।

तान्त्रिक-उपासना शक्ति की उपासना है। बौद्धों की दृष्टि से प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इसी का प्रतीक त्रिकोण है, इसमें विशुद्ध छ धातु विद्यमान हैं। इसीलिये इनके छ गुण प्रसिद्ध हैं—ऐश्वर्य, समग्रत्व, रूप, यश, श्री, ज्ञान, तथा अर्थवत्ता। यथा वैष्णव चतुर्व्यूह के प्रसङ्ग में भगवत्-स्वरूप अर्थात् वासुदेव का षाड्गुण्य-विग्रह मानते हैं, और संकर्षणादि तीन व्यूह में प्रत्येक का द्विगुण-विग्रह मानते हैं, वही प्रकार बौद्धागम एवं बौद्धेतर शैव-शाक्तागम में भी है। शक्ति के प्रतीक त्रिकोण के तीन कोणों में तीन बिन्दु हैं। केन्द्र में मध्य-बिन्दु है, जिसमें तीनों का समाहार होता है। कोण के प्रति-बिन्दु में दो गुण माने जाते हैं। इसीलिये समष्टि षड्-गुण होता है। शाक्तों के चतुष्पीठ का मूल भी यही है। अस्तु, यह त्रिकोण क्लेश-मार-प्रभृति का भंजन करने वाला है, अतः भग नाम से प्रसिद्ध है। हेवज्र-तन्त्र में प्रज्ञा को भग कहा गया है। इसका नाम वज्रधर-धातु-महामण्डल है। यह महासुख का आवास है, यह 'एकार' या धर्मधातु-पद का वाच्य है। यह अजड, स्वच्छ आकाश के सदृश है, और अनवकाश एवं प्रकाशमय है। वज्रालय या वज्रासन इसी का नामान्तर है। यह अखण्ड, अपरिमित, अनन्त प्रकाशमय है। इसको सिंहासन बनाकर जो आसीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है; उन्हें ही महाशक्ति या अधिष्ठाता कहते हैं।

बौद्धेतर आगम शास्त्रों में 'ए' कार शक्ति का प्रतीक है। यह त्रिकोण है। अनुत्तर, पर-स्पन्द 'अ' तथा उच्छलित आनन्द 'आ' अनुत्तर है, चित् तथा आनन्द-चित्—इच्छारूप 'इ' में नियोजित होकर त्रिकोण को रचना करते हैं। इसी का नाम 'ए' कार है। यह विसर्गानन्दमय सुन्दर रूप में वर्णित होता है। स्मरण रहे कि अशोक की ब्राह्मी लिपि में भी 'ए' कार त्रिकोणाकार ही है।

त्रिकोणमेकादशकं, वह्निगेहञ्च योनिकं।
शृङ्गाटञ्चैव 'ए' कारनामभिः प्रकीर्तितम्॥

इच्छा, ज्ञान, तथा क्रिया ये तीनों त्रिकोण के रूप में परिणत होते हैं। विसर्ग-रूप पराशक्ति के आनन्दोदय-क्रम से लेकर क्रिया-शक्ति पर्यन्त रूप वाले ये त्रिकोण ही उल्लसित हैं। यहाँ की शक्ति नित्योदिता है। इसीलिये यह परमानन्दमय है। इस योगिनी जन्माधार-त्रिकोण से कुटिलरूपा कुण्डलिनी-शक्ति का प्राकट्य होता है।

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया-कोणं तन्मध्ये चिञ्चिनीक्रमम्॥

बौद्धों का सिद्धान्त भी ऐसा ही है।

'ए'काराकृतियद्दिव्यं मध्यं 'वं'कार भूषितम्।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकम्॥

बाहर दिव्य 'ए'कार है। त्रिकोण के मध्य में 'वं' कार है। इसके मध्य-बिन्दु में सर्वसुख का आलय बुद्ध-रत्न निहित रहता है। यह प्रज्ञा ही रत्नत्रय के अन्तगत

धर्म है। इसीलिये 'ए'कार को धर्मधातु कहते हैं। बुद्धरत्न इस त्रिकोण के भीतर या या षड्कोण के भी मध्यबिन्दु में प्रच्छन्न है।

तान्त्रिक बौद्ध जिसे मुद्रा कहते हैं, वह शक्ति की ही अभिव्यक्ति या बाह्यरूप है। मुद्रा के चार प्रकार है—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा, समयमुद्रा। गुरु-करण के बाद साधना के लिये शिष्य को प्रज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है। प्रज्ञा ही मुद्रा या नायिका है। यह एक प्रकार विवाह का ही व्यापार है। इसके बाद अभिषेक की क्रिया होती है। तदनन्तर साधक तथा मुद्रा दोनों का मण्डल में प्रवेश होता है, तथा योग-क्रिया का अनुष्ठान होता है। इस समय आन्तर तथा बाह्य विक्षेप दूर करने के लिये समन्त्रक क्रिया की जाती है। इसके बाद बोधि-चित्त का उत्पाद आवश्यक होता है। प्रज्ञा तथा उपाय के योग से, अर्थात् साधक तथा मुद्रा के सम्बन्ध से, बोधिचित्त का उद्भव होता है। इस उत्पन्न बोधिचित्त को निर्माण-चक्र में, अर्थात् नाभिप्रदेश में, धारण करना पड़ता है। यह क्रिया अत्यन्त कठिन है, क्योंकि स्खलन होने पर योग-भ्रष्ट होने की सम्भावना है, और नरकगति निश्चित है। नाभि में इस बिन्दु को स्थिर न कर सकने से सत्-असदात्मक द्वन्द्व का बन्धन अनिवार्य है। मन की चञ्चलता तथा प्राण की चञ्चलता बिन्दु की चञ्चलता के अधीन है। चञ्चल-बिन्दु ही संवृति-बोधिचित्त है। बिन्दु स्थिर हो जाने पर उसकी ऊर्ध्वगति हो सकती है, अन्त में उष्णीष-कमल में, अर्थात् सहस्रदल-कमल में, महाबिन्दुस्थान में जाने पर मुक्ति या नित्य आनन्द का आविर्भाव होता है। बिन्दु की स्थिरता ही ब्रह्मचर्यानुष्ठान का फल है। बिन्दु के स्थिर हो जाने पर योगक्रिया के द्वारा क्षोभण से, उसमें स्पन्दन कराया जाता है। वैदिक सिद्धि के बाद विवाहोत्तर गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' का भी यही अभिप्राय है। उसके बाद उसमें क्रमशः ऊर्ध्वगति होती है। इस गति की निवृत्ति ही महासुख का अभिव्यञ्जक है।

कर्ममुद्रा प्रारम्भिक है। कर्म-पद का वाच्य है—काय, वाक् तथा चित्त की चिन्तादि-रूप क्रिया। इस मुद्रा के अधिकार में क्षण के भेद से चार प्रकार के आनन्दों की अभिव्यक्ति होती है। इनके क्रम के विषय में अद्वयवज्र के अनुसार तृतीय का नाम सहजानन्द चतुर्थ विरमानन्द है। यह क्रम इसलिये है कि परम और विरम के मध्य में लक्ष्य दर्शन होता है। चार क्षणों के नाम है—विचित्र, विपाक, विलक्षण और विमर्द। धर्ममुद्रा धर्मधातु-स्वरूप है। यह निष्प्रपञ्च, निर्विकल्प, अकृत्रिम, अनादि अथच करुणा-स्वभाव है। यह प्रवाहेण नित्य है, इसलिये सहज-स्वभाव है। धर्ममुद्रा की स्थिति में अज्ञान या भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। साधारण योग-साहित्य में देहस्थित वाम-नाडी तथा दक्षिण-नाडी को आवर्तमय मानकर सरल मध्य-नाडी को अर्थात् सुषुम्ना या ब्रह्मनाडी को योग या ज्ञान का मार्ग माना जाता है। आगमिक बौद्ध-साहित्य में भी ठीक इसी प्रकार ललना तथा रसना नाम से, पार्श्ववर्त्ती नाडीद्वय को प्रज्ञा और उपायरूप माना है और मध्य-नाड़ी को अवधूती कहा जाता है। अवधूती का नामान्तर धर्म-मुद्रा है। तथता के अवतरण के लिये यही संनिकृष्ट कारण है, अतः यही मार्ग है। मध्यमा-प्रतिपत् यही है। आदर के सहित निरन्तर इसके अभ्यास से

निरोध का साक्षात्कार होता है। हान और उपादान-वर्जित जो स्वरूप-दर्शन है, वही सत्य-दर्शन है। इस मध्य-मार्ग में ज्ञानान्तरवर्ती ग्राह्य तथा ग्राहक-विकल्प छूट जाते हैं। तृतीय मुद्रा का नाम महामुद्रा है। यह निःस्वभाव है और सर्व प्रकार के आवरणों से वर्जित है। मध्याह्न-गगन के सदृश निर्मल और अत्यन्त स्वच्छ है। यही सर्व-सम्पत् का आधार है। एक प्रकार से यह निर्वाणस्वरूप है। यहाँ अकल्पित-संकल्प का उदय होता है। यह अप्रतिष्ठित मानस की स्थिति है। यह पूर्ण निरालम्ब अवस्था है। योगी लोग इसे अस्मृत्य-मनसिकार नाम से वर्णन करते हैं। इसका फल समय-मुद्रा या चतुर्थ-मुद्रा है। यह समय अचिन्त्य-स्वरूप है। इस अवस्था में जगत्-कल्याण के लिये स्वच्छ एवं विशिष्ट सम्भोग-काय तथा निर्माणकाय-स्वभाव होकर बज्रधर के रूप में इसका स्फुरण होता है। इस विश्व-कल्याणकारी रूप को तिब्बती-बौद्ध हेरुक् नाम देते हैं। आचार्य-गण इस मुद्रा को ग्रहण कर चक्राकार में पाँच प्रकार के ज्ञान की पाँच प्रकार से परिकल्पना करके आदर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान आदि का प्रकाश करते हैं।

अभिषेक के विषय में कुछ न कहने से योग-साधन का विवरण असम्पूर्ण ही रहेगा, अतः इस विषय में संक्षेप से कुछ कहा जा रहा है। बज्रयान के अनुसार अभिषेक सात प्रकार के हैं, यथा—उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक, पट्टाभिषेक, बज्रघण्टाभिषेक, बज्रव्रताभिषेक, नामाभिषेक और अनुज्ञाभिषेक। इनमें पहले दो देह-शुद्धि के लिये हैं। तृतीय और चतुर्थ से वाक्-शुद्धि होती है। पञ्चम और षष्ठ से चित्त-शुद्धि होती है। सप्तम से ज्ञान-शुद्धि होती है। अभिषेक के सम्बन्ध में बाह्य-विवरण बज्रयान के बहुत से ग्रन्थों में है। उसकी यहाँ चर्चा अनावश्यक है। देह पंच-धातुमय है। उष्णीष से लेकर कटि-सन्धि तक पंच जन्म स्थानों में यथा विधि समन्त्रक अभिषेक के द्वारा पञ्च-धातुओं की शुद्धि की जाती है। इससे काय-शुद्ध हो जाता है। इसी का नाम उदकाभिषेक है। मुकुटाभिषेक से पञ्च-स्कन्ध या पञ्च तथागत की शुद्धि होती है। इस प्रकार प्रथम तथा द्वितीय से धातु तथा स्कन्धों के निर्मल हो जाने के कारण काय की सम्यक्-शुद्धि हो जाती है। पट्टाभिषेक और बज्रघण्टाभिषेक के द्वारा दश पारमिताओं की पूर्ति होती है। इससे चन्द्र, सूर्य का शोधन होता है। पञ्चम से रूपादि-विषय तथा चक्षुरादि-इन्द्रियों का शोधन होता है। इससे प्राकृत विषयों के नियन्त्रण तथा महामुद्रा की सिद्धि में सहायता मिलती है। षष्ठ से रागद्वेष का शोधन होता है और मैत्री-आदि ब्रह्म-विहारों की पूर्ति होती है। षष्ठाभिषेक के बाद की अवस्था का बज्र-शब्द से अभिधान होता है। सप्तम अभिषेक धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिये या बुद्धत्व-लाभ के लिये है। अपरिमित सत्वों के आशय के अनुसार परमगुह्य बज्रयान के रहस्य का उपदेश करने के लिये संवृति-सत्य तथा परमार्थ-सत्य का विभाग किया जाता है। इस प्रकार के बुद्धत्व के निष्पादन के लिये सप्तम अभिषेक का उपयोग है। इन सात अभिषेकों से शिष्य के कायादि चार बज्र शुद्ध हो जाते हैं। उस समय उनके हाथ में धारण करने के लिये बज्र या बज्र-घण्टा होता है। अभिषेक का संवृति तथा परमार्थ दो रूप हैं। संवृति भी दो प्रकार की है। लोक-संवृति तथा योगि-संवृति। लोक-संवृति को अधर-संवृति तथा योगि-संवृति को उत्तर-संवृति कहा जाता है। पहले उदकादि सप्त सेकों का नाम कहा गया है। ये लौकिक-सिद्धि के सोपान हैं। ये सब

पूर्व-सेक हैं, उत्तर-सेक नहीं। योगि-संवृति-रूपसेक कुम्भादि तीन प्रकार के हैं—कुम्भाभिषेक या कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक और प्रज्ञाभिषेक। ये उत्तर-सेक लोकोत्तर सिद्धियों के मूल हैं। यद्यपि ये सांवृत हैं किन्तु परमार्थ के अनुकूल हैं। परमार्थ सेक ही अनुत्तर-सेक है। पूर्व-सेक के लिये मुद्रा आवश्यक नहीं है, उत्तर-सेकके लिये मुद्रा आवश्यक है। अनुत्तर के लिये कुछ कहना ही नहीं है।

अब तान्त्रिक बौद्धों के षडङ्ग-योग के सम्बन्ध में दो चार बातें कही जायेंगी। हठयोग या राजयोग षडङ्ग, अष्टाङ्ग दोनों ही प्रसिद्ध हैं। बौद्धों का षडङ्ग-योग इससे विलक्षण है। इसका प्राचीन विवरण गुह्य-समाज में तथा मंजुश्री-कृत कालचक्रोत्तर में पाया जाता है। परवर्ती साहित्य में विशेषतः नडपाद के सेकोद्देश टीका में मर्मकलिकातन्त्र में इसका वर्णन है। बहुत से लोग इसे बौद्ध-योग के नाम से भी वर्णन करते हैं, यह सत्य भी है। ब्रह्मसूत्र के भाष्य-कार भास्कराचार्य भी अपनी गीता-टीका में ठीक इसी क्रम से षडङ्ग-योग का उल्लेख करते हैं। यह टीका अभी तक प्रकाशित नहीं है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाण, धारणा, अनुस्मृति, समाधि ये षडङ्ग-योग हैं। सिद्धि दो प्रकार की है—१. सामान्य और २. उत्तम। यौगिक विभूतियाँ सामान्य-सिद्धि के अन्तर्गत हैं। सम्यक्-सम्बोधि या बुद्धत्व उत्तमा सिद्धि है। समाजोत्तरतन्त्र के अनुसार षडङ्ग-योग से ही बुद्धत्व या सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त हो सकती है। इसके चार उपाय हैं—१. सेवा विधान, २. उपसाधन, ३. साधन, ४. महासाधन। महोष्णीष-बिम्ब की भावना सेवा-विधान के अन्तर्गत है। यह अशेष त्रैधातुक बुद्ध-बिम्ब है। अमृत-कुण्डलिनी रूपसे बिम्ब की भावना उपसाधन है। देवता-बिम्ब की भावना साधन है। बुद्धाधिप तथा विभु-रूप से बिम्ब की भावना महासाधना है। दश इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के प्रति वृत्ति आहरण है। इन इन्द्रियों का अन्तर्मुख होकर अपने अपने स्वरूप-मात्र में अनुवर्तन प्रत्याहार है, प्रत्याहार के समय इन्द्रियों की विषय-भावापत्ति या विषयग्रहण नहीं रहता। प्रत्याहार का फल—वैराग्य, त्रिकालदर्शन, धूमादि दश निमित्तों के दर्शन की सिद्धि है। शुद्ध-आकाश में धूम, मरीचि, खद्योत, दीप-कलिका, चन्द्र-सूर्य, या बिन्दु का दर्शन निमित्त-दर्शन है। इस दर्शन के स्थिर होनेपर मन्त्र साधक के अधीन हो जाता है, उसे वाक्-सिद्धि होती है।

प्रत्याहार से बिम्ब-दर्शन होने पर ध्यान का प्रारम्भ होता है। यह योग का द्वितीय अङ्ग है। स्थिर तथा चर अर्थात् यावत् चराचर भावों को पंच-काम कहा जाता है। पंच बुद्ध के प्रयोग से सब भावों में यह कल्पना करना कि 'सभी बुद्ध हैं' यह ध्यान है।

ध्यान के बाद तृतीय अङ्ग प्राणायाम है। मनुष्य का श्वास पंच ज्ञानमय है, और पंचभूत-स्वभाव है। इसको पिण्डरूप में निश्चल करके नासिका के अग्र-देश में कल्पना करनी चाहिये। यह अवस्था महारत्न नाम से प्रसिद्ध है। अक्षोभ्य-प्रभृति पंच-बुद्ध पंच-ज्ञान-स्वभाव हैं। विज्ञानादि-पंचस्कन्ध ही इनका स्वरूप है। वाम तथा दक्षिण नासापुट में श्वास का प्रवाह होता है। इन दोनों प्रवाहों के एकीभूत होनेपर वह पिण्डाकार हो जाते हैं। इसी पिण्ड को नासाग्र पर स्थिर करना पड़ता है।

पहले प्राणवायु को मध्य-मार्ग में निश्चल करना चाहिए, उसके बाद नासिकाग्र में। इसे नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीष-कमल की कर्णिका में स्थिर करना चाहिये, क्योंकि नासाग्र और कमल का विन्दु समसूत्र है। महारत्न पंचवर्ण कहा जाता है। वाम तथा दक्षिण प्रवाह का निरोध करके केवल मध्यमा में उसे प्रवाहित करना चाहिए। इस प्रकार निरुद्ध प्राण-वायु पंचवर्ण-महारत्न कहा जाता है। वज्रयानी लोग इस प्राणायाम को वज्र-जप कहते हैं। दो विरुद्ध धाराओं को सम्मिलत करके मध्य-नाडी का अवलम्बन लेते हुए, उत्थापन करना चाहिए और नासाग्र में स्थिर करना चाहिये। साधारण मनुष्यों का प्राणवायु अशुद्ध प्रवृत्तियों का वाहन है। यह संसार का कारण है। यहीं पंच-क्रमका रहस्य भी है।

चतुर्थ अङ्ग धारणा है। अपने इष्ट-मन्त्र प्राण का हृदय में ध्यान करते हुए, उसे ललाट में निरुद्ध करना चाहिये। मन का त्राणभूत होने के कारण प्राण ही मन्त्र पद का वाच्य है। हृदय से अर्थात् कर्णिका से हटाकर कर्णिका के मध्य में स्थापित करना चाहिए। इसके बाद विन्दु-स्थान ललाट में उसका निरोध किया जाता है। इसी का नाम धारणा है। उस समय प्राण का संचरण अर्थात् श्वास-प्रश्वास नहीं रहता। प्राण एक-लोल हो ललाटस्थ-विन्दु में प्रवेश करते हैं। निरुद्ध इन्द्रिय रत्न-पद का वाच्य है। चित्त के अवधूती-मार्ग में प्रविष्ट होने पर पूर्व वर्णित धूमादि निमित्तों का प्रतिभास होता है। धारणा का फल बज्र-सत्व में समावेश है। इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न या प्राणवायु नाभिचक्र से चाण्डाली को अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को उठाता है। वज्रमार्ग से मध्यधारा का अवलम्बन करते हुए क्रमशः यह उष्णीष-चक्र तक पहुँचाता है। यह उष्णीष कमल की कर्णिका तक पहुँच कर कायादि-स्वभाव चार विन्दुओं को उस निर्दिष्ट स्थान-विशेष में ले जाता है, जिसका निर्देश गुरु ने पहले ही किया है। धारणा सिद्ध होने पर चाण्डाली-शक्ति स्वभावतः उज्वल हो जाती है।

पंचम अंग अनुस्मृति है। प्रत्याहार तथा ध्यान से त्रिधातु को प्रतिभासित करनेवाले संवृति-सत्य की भावना निश्चल की जाती है। अनुस्मृति का उद्देश्य है—संवृति-सत्य की भावना का स्फुरण करना। इसके प्रभाव से एक देश-वृत्तिक आकार जो संवृति-सत्याकार है, वह समग्र आकाशव्यापी रूप से परिदृष्ट होने लगता है। उससे त्रिकालस्थ समग्र भुवन का दर्शन होता है। यही अनुस्मृति है। अनुस्मृति का फल प्रभा-मण्डल का आविर्भाव है। चित्त के विकल्पहीन होने से इस विमल प्रभा-मण्डल का आविर्भाव होता है। इस समय रोम-कूप से पंचरश्मियों का निर्गम होता है।

इस योग का षष्ठ अंग समाधि है। प्रज्ञोपाय-समापत्ति के द्वारा सर्वभावों का समाहार करके पिण्ड-योग से बिम्ब के भीतर भावना करनी पड़ती है। ठीक-ठीक भावना करने पर अकस्मात् एक महाक्षण में महाज्ञान की निष्पत्ति हो जाती है। यही समाधि है। निष्पन्नादि-क्रम से व्योम-कमल का उद्गम होने पर अक्षर-सुख का उदय होता है। ज्ञेय और ज्ञान के एकल्लोलीभूत होने से विमल-अवस्था का आविर्भाव होता है। उस समय प्रतिभास-स्वरूप स्थावर-जंगम यावत् भावों को उपसंहृत अर्थात्

संकुचित करके पिण्ड-योग से, अर्थात् परम अनाश्रव महासुखात्मक प्रभा-स्वरूप से बिम्ब के भीतर भावना करनी पड़ती है। जैसे लौह आदि सब रसों को भक्षण करने पर एकमात्र सिद्ध-रस रहता है, इसे भी ठीक इसी प्रकार का समझना चाहिए। इस परम अनास्रव महासुखमय प्रभास्वर के भीतर संवृति-सत्यरूप बिम्ब की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार की भावना या साक्षात्कार का फल परम महा ज्ञान का आविर्भाव है। इसमें संवृति-सत्य तथा परमार्थ-सत्य का द्वैधीभाव छूट जाता है, और दोनों अद्वयरूप में प्रकाशमान् होते हैं। युगनद्ध-विज्ञान का यही रहस्य है। यही बुद्ध का परम-स्वरूप है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा का परम स्वरूप है। समाधि-वशिता से निरावरण-भाव उदित होता है।

मंजुश्री ने कहा है—प्रत्याहारादि छह अंगों से वस्तुतः शून्यता-भावना ही उक्त है। धूम-आदि निमित्तों के क्रम से आकाश में त्रैधातुक बिम्ब-दर्शन को प्रत्याहार के अंगरूप में स्थिर करके जब बिम्ब-दर्शन की स्थिति सिद्ध की जाती है, तब योगी सब मन्त्रों का अधिष्ठाता होता है। ध्यान के प्रभाव से बाह्य-भाव छूट जाते हैं, चित्त दृढ होता है, और बिम्ब से चित्त के लग्न होने पर अनिमेष या दिव्य-चक्षु का उदय होता है। इसी प्रकार दिव्य-श्रोत्रादि तथा पंच-अभिज्ञाओं का लाभ होता है। जब योगी चन्द्र-सूर्य के मार्ग से मध्यमा में प्रवेश करते हैं और प्राणायाम से शुद्ध होते हैं, तब बोधिसत्व-गण उन्हें निरीक्षण करते है, धारणा के प्रभाव से ग्राहक-चित्त या बज्र-सत्त्व शून्यता-बिम्ब-स्वरूप ग्राह्य का समावेश करते हैं। बिन्दु में धारणा का फल प्राण गतिशून्य हो एकाग्र होता है, तब विमल प्रभा-मण्डल प्रकाशित होता है। रोम-कूप से पंच रश्मियों का निःसरण होता है, यह महारश्मि-रूप है। ग्राह्य तथा ग्राहक-चित्त के एक होने पर अक्षर-सुख होता है, यही समाधि है। समाधि के आयत्त होने पर अचल या निरावरण-भाव आता है। इस परमाक्षर-ज्ञान को प्रभास्वर-ज्ञान कहा जाता है। इसके द्वारा आवरण के सर्वथा निःशेष होने से, सत्य-द्वय के एकीभाव होने पर अद्वय-भाव की प्रतिष्ठा होती है।

साधक पूर्ववर्णित षडङ्ग-योग के प्रथम अङ्ग प्रत्याहार से धूमादि-निमित्त आदि दश ज्ञानों का लाभ करता है। यह अकल्पित विज्ञान-स्कन्ध है। इस अवस्था में विज्ञान-शून्यता-विम्ब में प्रवृत्ति होती है। ध्यान में ये दश-विज्ञान-रूप विश्व-बिम्ब दश प्रकार के विषय-विषयी के साथ एकीभूत होते हैं, इसे अक्षोभ्य-भाव कहा जाता है। इस समय शून्यता-बिम्ब का अवलोकन होता है। यही प्रज्ञा है। भाव-ग्रहण—तर्क है। उसका निश्चय—विचार है। बिम्ब में आसक्ति—प्रीति है। बिम्ब के साथ चित्त का एकीकरण सुख है। ये पाँच अंग हैं। पाँच प्रकार के प्राणायाम संस्कार-स्कन्ध हैं। इस समय वाम तथा दक्षिण मण्डल समरस हो जाते हैं। यह खण्ड-भाव है। इस स्थिति में उभय-मार्ग का परिहार होता है और मध्य-मार्ग में प्रवेश होता है। यहीं से निरोध का सूत्र-पात होता है। दश प्रकार की धारणायें वेदना-स्कन्ध हैं। नाभि से उष्णीष-कमल पर्यन्त प्राण की गतियाँ और उष्णीष से नाभि तक पाँच आगतियाँ हैं। इस प्रकार दश धारणा हैं। इसे रत्नपाणि कहा जाता है। मध्य-नाडी में काम की चिन्तादि

दश अवस्थायें अनुस्मृति कही जाती हैं। चिन्ता से लेकर तीव्र मूर्च्छा-पर्यन्त दश दशायें आलंकारिक तथा वैष्णव-साहित्यों में सुप्रसिद्ध हैं। वहाँ दशम दशा को मृत्यु नाम दिया गया है। यह भावों के विकास की दश अवस्थायें हैं। बौद्ध-मत में ये अवस्थायें वज्र-सत्वावस्था-प्राप्त योगी के सत्त्व-विकास की द्योतक हैं। अनुस्मृति के प्रभाव से आकाश में चाण्डाली का दर्शन होता है। दश प्रकार की वायुओं के निरोध से समाधियाँ भी दश प्रकार की हैं। समाधि से ज्ञेय तथा ज्ञान के अभेद होने पर अक्षर-सुख का उदय होता है और उसी से ज्ञान-विम्ब में पूर्ण समाधान हो जाता है। यह षडङ्ग-योग ही विश्वभर्त्ता काल-चक्र का साधन है। मन्त्र-मार्ग के अनुसार बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये यही मुख्य द्वार है।

काल-चक्र क्या है? काल-चक्र—अद्वय, अक्षर, परमतत्त्व, का नामान्तर है। काल करुणा से अभिन्न शून्यता की मूर्ति है। चक्र पद का अर्थ संवृति-रूप शून्यता है। प्रकारान्तर से कहा गया है—

> का-कारात् कारणे शान्ते ल-काराल्लयोऽत्र वै।
> च-कारात् चलचित्तस्य क्र-कारात्क्रमबन्धनैः॥

अर्थात् जाग्रत्-अवस्था के क्षीण होने के कारण बोधिचित्त-काय शान्त या विकल्प-हीन होता है, यही 'का' से अभिप्राय है। काय-बिन्दु के निरोध से ललाट में निर्माण-काय नाम का बुद्ध-काय प्रकट होता है। स्वप्नावस्था का जो क्षय होता है, यही प्राण का लय है। इस अवस्था में वाग्-बिन्दु का निरोध होता है। इससे कण्ठ में संभोग-काय का उदय होता है, जो 'ल' से अभिप्रेत है। सुषुप्ति के क्षय होने पर चित्त-बिन्दु का निरोध होता है। उस समय हृदय में धर्म-काय का उदय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्दादि विषयों में विचरण करता है। इसीलिये चंचल रहता है और तम से अभिभूत रहता है। अट्ठारह प्रकार के धातु-विकारों से वह विकृत होता है। इनके अपसारण से हृदय में चित्त-निरुद्ध हो जाता है, यही 'च' का अभिप्राय है। इसके बाद तुरीयावस्था का भी क्षय हो जाता है, तब कायादि सभी बिन्दु सहज-सुख के द्वारा अच्युत हो जाते हैं। उसी समय तुरीयावस्था का नाश होता है। स्वर-गत ज्ञान-बिन्दु के निरोध से नाभि में सहज-काय का आविर्भाव होता है, यही 'क्र' का अभिप्राय है। अतएव काल-चक्र चार बुद्ध कायों का समाहार है। यह प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। एकाधार में यही ज्ञान है और यही ज्ञेय भी है। ज्ञान का तात्पर्य है—अक्षर-सुख का बोध। इससे सब आवरणों का क्षय होता है। ज्ञेय से अभि-प्राय है—अनन्त भावमय त्रैधातुक जगत्-चक्र, अर्थात् समग्र विश्व। प्रज्ञा शून्यात्मक है और उपाय करुणात्मक तथा षडभिज्ञात्मक है। प्रज्ञा शून्याकार है, परन्तु करुणा सर्वा-कार है। दोनों का एकत्व ही काल-चक्र है, यही यथार्थ युगनद्ध है। कालचक्र तंत्र में लिखा है कि शुद्ध तथा अशुद्ध-भेद से अनन्त विश्व ही चक्र-स्वरूप है। किन्तु अनन्त होकर भी यह एक ही है। बुद्ध या शम्भु जैसे एक हैं, उनका चक्र भी वैसे ही एक है। वस्तुतः बुद्ध और चक्र अभिन्न हैं। अनन्त बुद्ध-क्षेत्र, अनन्त-गुण, आकाशादि सर्वधातु,

उत्पत्ति-स्थिति-विनाशात्मक तीन प्रकार के भव, छः गतियों में विद्यमान सकल-सत्व, बुद्धगण, क्रोधगण, सुरादिवर्ग, करुणा, बोधिसत्वगण ये सभी इस अखंड महाचक्र के अन्तर्भूत हैं। यह कालचक्र ही आदि-बुद्ध है। नाम-संगीति-तंत्र में कहा है—

अनादिनिधनो बुद्धः आदिबुद्धो निरन्वयः।

ऐतिहासिक बुद्ध-गण इन्हीं के बहिःप्रकाश हैं।

साधक के दृष्टि-कोण से देखने पर इस काल-चक्र में तीन मात्रायें तथा तीन मुद्रायें लक्षित होती हैं। बोधि-चित्त ही क्षर-गति मृदु-मात्रा है। स्पन्द-गति है—मध्यमात्रा, निष्पन्द-गति है—अधिमात्रा। जिससे अक्षर-सुख का उदय होता है, वह कर्ममुद्रा है। जिससे स्पन्दसुख का उदय होता है, वह ज्ञान-मुद्रा है, जिससे निस्पन्द-सुख का उदय होता है, वह महामुद्रा है। षडंग-योग के द्वारा इन तीन मुद्राओं की भावना बौद्धतंत्रों में उपदिष्ट हुई है।

शून्यता-बिम्बसाधन के अनुकूल दृष्टि के साधन के रहस्य से प्राचीन लोग परिचित थे। सेवा ही इसका मुख्य उपाय है। धूमादि दश निमित्तों की भावना ही, सेवा है। इस अवस्था में चित्त आकाश में निमित्त-दर्शन करता है। यह उष्णीष की क्रोध-दृष्टि या ऊर्ध्व-दृष्टि से होता है। यह अनिमेष-दृष्टि है। रात्रि में चार प्रकार की, दिन में छः प्रकार की, सेवा का विधान है। जब-तक बिम्ब का साक्षात्कार नहीं होता, तब-तक सेवा करनी चाहिये। यह ज्ञान-साधन का प्रथम अङ्ग है। क्रोध-दृष्टि के बाद ही अमृत-दृष्टि का अवसर आता है। यह ललाट की दृष्टि है, इसी का नाम अमृत-पद है। यह अमृत-कुण्डली नामक विघ्नेश्वर की दृष्टि है। इसके प्रभाव से प्राण-बिम्ब का दर्शन होता है।

प्राण-बिम्ब के दर्शन के अनन्तर प्राणायाम तथा धारणा की आवश्यकता पड़ती है। श्रद्धा-राग से सृष्ट बोधि-चित्तरूप बिन्दु इस समय अक्षर-योग का लाभ करता है। गुह्य, नाभि, तथा हृदय इनमें क्रमशः यह योग प्रतिष्ठित होता है। ज्ञान-साधन का यह तृतीय अंग है। वर्तमान सौख्य के साथ बोधिचित्त के एक क्षण की वर्तमानता—यही शान्त या सहज-स्थिति है। इस समय चित्त अक्षर-सुख के साथ एक हो जाता है। यह ज्ञान-साधन का चतुर्थ अंग है।

तान्त्रिक बौद्ध-साधना में दो प्रकार का योगाभ्यास होता है। मन्त्र-यान में आकाश में, तथा पारमिता-यान में अभ्यवकाश में। प्रथम मार्ग में आवश्यक है कि साधक रात्रि में छिद्रहीन तथा अन्धकारपूर्ण-गृह में आकाश की तरफ दृष्टि लगाकर और सर्व चिन्ताओं मुक्त होकर एक दिन परीक्षा के लिये बैठे। वहाँ देखना चाहिये कि धूमादि-निमित्तों का दर्शन हो रहा है या नहीं। नयन को अनिमिष रखना चाहिये और वज्र-मार्ग में मध्यमा-मार्ग में प्रविष्ट होना चाहिये। तब शून्य से पूर्वोक्त धूम, मरीचि, खद्योत तथा प्रदीप दृष्टिगोचर होंगे। जब-तक यह न हो, तब-तक रात्रि में इस अभ्यास को चलाना चाहिये। उसके बाद मेघ-मुक्त निर्मल-आकाश में गगन से उद्भूत महाप्रज्ञा का दर्शन होगा। यह दीप्त अग्नि-शिखा के समान

होगा। इस ज्ञान-ज्योति का नाम वैरोचन है। चन्द्र और सूर्य का दर्शन भी होगा। प्रभास्वर विद्युत् तथा परम कमल का दर्शन भी होगा। अन्त में बिन्दु का साक्षात्कार होगा। ये सब निमित्त किसी सम्प्रदाय के अनुसार रात्रि में, किसी के अनुसार दिन में दर्शनीय हैं। अन्त में सर्वाकार घटपटादि-बिम्ब का दर्शन होता है। इस बिम्ब के भीतर बुद्ध-बिम्ब का दर्शन होता है। इस अवस्था में विषय नहीं रहता, दृश्य नहीं रहता, और कल्पना भी शून्य हो जाती है। यहाँ अनेक संभोग-काय हैं। इस बिम्ब के साथ योग होने पर यथार्थ अनाहत-ध्वनि का श्रवण होता है।

इससे प्रतीत होता है कि रूपावभास से निर्माण-काय तथा शब्दावभास से संभोग-काय होता है।

दिन के समय योगी को स्तब्ध-दृष्टि से पूर्वाह्न तथा अपराह्न में मेघ-हीन आकाश को देखना चाहिये, सूर्य की तरफ पृष्ठ रखना चाहिये, अन्यथा सूर्य-रश्मि से तिमिर होने की आशंका रहेगी। तब-तक प्रतिदिन इसका अभ्यास होना चाहिये, जब-तक बिन्दु के भीतर काल-नाडी में अवधूती के अन्दर कृष्ण-रेखा दृष्टिगोचर न हो। इससे अमल-किरणों का स्फुरण होता है। यह रेखा केश-प्रमाण है, परन्तु इसमें अशेष-त्रैधातुक सर्वज्ञ-बिम्ब दीख पड़ता है। यह जल में सूर्य-प्रतिबिम्ब के समान है। यह बिम्ब वस्तुतः स्वचित्त है, अर्थात् अनाविल, अनन्तवर्ण-विशिष्ट, सर्वाकार, विषयहीन, स्व-चित्त हैं; यह पर-चित्त नहीं है। यह स्वचित्ताभास पहले स्थूल-दृष्टि से अर्थात् मांस-चक्षु से दृष्ट होता है, बाद में दिव्य-चक्षु, बुद्ध-चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु, ज्ञान-चक्षु-प्रभृति का विकास होता है। भावना के प्रभाव से सूक्ष्म-चक्षुओं के द्वारा ही परचित्त का साक्षात्कार होता है।

प्रसिद्धि है कि वज्रपाणि ने भी अपने दृष्टिकोण से अडङ्ग-योग का उपदेश दिया था। उसमें किसी-किसी अंश में वैलक्षण्य भी है।

जिस समय प्रत्याहारादि अंगों से बिम्ब-दर्शन का प्रभाव-हेतुक अक्षर-क्षण का उदय होता है, तब नाद के अभ्यास से बलपूर्वक प्राण को मध्य-नाडी में गतिशील करके प्रज्ञा-कमलस्थित वज्र-मणि में बोधिचित्त-बिन्दु को निरुद्ध करके निष्पन्द-भाव से साधन करना पड़ता है। इसी का नाम तान्त्रिक-हठयोग है। यह योग मार्कण्डेय प्रवर्तित हठयोग से भिन्न है, तथा मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ-प्रभृति सिद्धों द्वारा प्रचारित नवीन हठयोग से भी भिन्न है।

जो शक्ति नाभि के भीतर द्वादशान्त नामक परमपद-पर्यन्त चलती है, उसे निरुद्ध करने पर वैद्युतिक-अग्नि के सदृश दण्डवत् उपस्थित होती है, और मध्यनाडी में मृदु-गति से चालित होकर चक्र से चक्रान्तर में गमन करती है। इस प्रकार जब उष्णीष-रन्ध्र का स्पर्श होता है, तब अपान-वायु को ऊर्ध्व-मार्ग में प्रेरित करनां पड़ता है। इसके प्रभाव से उष्णीष-कमल का भेद हो जाता है और पर-पुर में गति होती है। दोनों वायुओं का निरोध आवश्यक है। इसी का नाम वज्र-प्रबोध है। इससे विषय सहित मन खेचरत्व-लाभ करता है। इतना होने पर योगियों की विश्व-माता पंच-अभिज्ञा स्वभाव धारण करती है। चित्त-प्रज्ञा ज्ञानरूप होती है, उसका आभास दश प्रकार से होता है। यही सेक का रहस्य है। इसे विमल चन्द्र के सदृश या आदर्श

बिम्ब के सदृश समझना चाहिये। इसमें मज्जन होता है। इसका फल होता है—निर्वाण-सुख में अच्युत, सहज, चतुर्थ-अक्षर। प्रज्ञा ग्राहक-चित्त है, और ज्ञान ग्राह्य-चित्त है। ग्राहक-चित्त के दश ग्राह्य- -आदर्श, आभास, ज्ञान यां ग्राह्य चित्त है। दर्पण में जैसे अपने चक्षु का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, यह भी उसी प्रकार है। ग्राह्य-चित्त में ग्राहक चित्त का प्रवेश ही सेक है। उसमें मज्जन करना चाहिये। इससे ग्राह्य-विषय में अप्रवृत्ति होती है। षडंग-योग में इसे ही प्रत्याहार कहते है। ध्यान, प्राणायाम, और धारणा इन तीनों का नाम मज्जन है। इस मज्जन से निर्वाण-सुख का उदय होता है। यह अच्युत होकर भी सहज है और अक्षर या चतुर्थ सुख है। यह शून्यताकार सर्वाकार-प्रतिभास लक्षण है। इसमें कर्म-मुद्रा या ज्ञान-मुद्रा रूप हेतु नहीं है। इसमें किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। यह बाल-प्रौढ़ादि स्पन्द के अतीत है। यह बुद्ध-वक्त्र या ज्ञान-वक्त्र है। यह जिस आचार्य को हृदय-गत होता है, वही यथार्थ वज्रधर गुरु नाम से अभिहित होने के योग्य है। मध्यनाडी में प्राण के प्रवेश से निमित्त-दर्शनादि बुद्ध-वक्त्र का प्रथम रूप है। इसका नाम काय-वज्र-वक्त्र है। नाडीद्वय की गति से रुद्ध होने पर प्राण बद्ध होता है। उस समय के बुद्ध-वक्त्र का नाम वाग्वज्र-वक्त्र है। वज्र-सम्बोधन, और बोधि-चित्त के द्रुति-काल में बुद्ध-वक्त्र का नाम चित्तवज्र-वक्त्र हैं। अन्त में ज्ञान-वज्र-वक्त्र का अविर्भाव होता है।

बौद्धयोग वाग्-योग का ही प्रकार-भेद है, यह कहा गया है। प्राकृतिक शक्तियों को जगाने का श्रेष्ठ उपाय शब्द-बीज है। वर्णमात्रिका या कुण्डलिनी-शक्ति प्रति आधार में सुप्त है। इसे प्रबुद्ध करने करने से जाग्रत्-शक्ति साधक की अन्तःप्रकृति के गुण के साथ वैचित्र्य-लाभ करती है। इसलिये साधक के भेद से मन्त्र का भी भेद होता है। जैसे बीज अंकुरित और विकसित होकर वृक्ष, पुष्प-फलस्वरूप धारण करते हैं, उसी प्रकार शब्द-बीज भी मूर्त होने से देव-देवियों के आकार का एक परिग्रह करता है। मीमांसा के मत में मन्त्रात्मिका देवता है। वेदान्त-मत में देवता विग्रहवती है। दोनों मत सत्य हैं। वाचक तथा वाच्य के अभिन्न होने से तथा नाम या रूप के अभिन्न होने के कारण मन्त्र और दिव्य-विग्रह तात्त्विक-दृष्टि से अभिन्न ही हैं। निरुक्त के दैवत काण्ड में देवता की साकारता और निराकारता का कुछ संकेत है। सर्वत्र ही ऐसा देखा जाता है, साधक की प्रकृति के विचार के आधार पर ही मन्त्र-विचार प्रतिष्ठित हैं। रोग का निर्णय किये बिना भेषज निर्णय नहीं होता। पञ्चस्कन्ध पञ्चभूत-मूलक है। इसीलिये मूल में पाँच प्रकार के भेद लक्षित होते हैं। पारिभाषिक नाम 'कुल' है। हेवज्र-तन्त्र में कुल का विवरण है। देवता के प्रकट होने पर उसका आवाहन करना होता है। अव्यक्त अग्नि से जैसे प्रदीप जलाया नहीं जाता, वैसे ही अप्रकट-देवता का आवाहन नहीं होता। आवाहन का करण और साधन ही मुद्रा है। एक-एक प्रकार के आकर्षण के लिए एक-एक प्रकार की मुद्रा की आवश्यकता होती है। देवता प्रकट होकर, आकृष्ट होकर अपने-अपने गुणानुसार निर्दिष्ट स्थान ले लेती है, इसी का नाम मण्डल है। मण्डल के केन्द्र में अधिष्ठातृ-देवता रहती है। चारो ओर वृत्ताकार में असंख्य देवी-देव निवास करते हैं।

बौद्ध-धर्म के ज्ञान, योग और चर्चा आदि में आगम का प्रभाव कब और किस

रूप में पड़ने लगा, इसे कहना कठिन है। विश्वास है कि बीजरूप से यह प्राचीन काल में भी था और कुछ विशिष्ट अधिकारी अति प्राचीन काल में भी इसका अनुशीलन करते थे। किसी का विश्वास है—कि यह गुप्त-साधना है और इसकी धारा अति-अति प्राचीन है, और प्रागैतिहासिक काल से ही प्रचलित थी। भारतवर्ष और इसके बाहर मिश्र, एशिया-माइनर, क्रीट, मध्य-एशिया-प्रभृति भूखण्डों में इसका पहले प्रादुर्भाव हो चुका था। वैदिक साहित्य तथा उपनिषदादि में भी इसका इंगित मिलता है। वज्रयान के विषय में बौद्ध-समाज में जो किंवदन्ती प्रचलित है, उसका उल्लेख पहले किया गया है। ऐतिहासिक विद्वान् तारानाथ का विश्वास था कि तंत्रों के प्रथम प्रकाशन के बाद दीर्घ काल तक गुरु-परम्परा-क्रम से यह साधन गुप्त रूप में प्रचलित था। इसके बाद सिद्ध और वज्राचार्यों ने इसे प्रकाशित किया। चौरासी सिद्धों के नाम, उनके मत, तथा उनका अन्यान्य परिचय भी कुछ-कुछ प्राप्त है। नाम-सूची में मतभेद है। रस-सिद्ध, महेश्वर-सिद्ध, नाथ-सिद्ध प्रभृति विभिन्न श्रेणियों के सिद्धों का परिचय मिलता है। सिद्धों की संख्या केवल ८४ ही नहीं है, प्रत्युत इससे बहुत अधिक है, इसमें संदेह नहीं। किन्हीं सिद्धों की पदावलियाँ प्राचीन भाषा में ग्रथित मिलती हैं। इनमें से बहुत से लोग वज्र-यान या कालचक्र-यान मानते थे। सहज-यान के मानने वाले भी कुछ थे। प्रायः सभी अद्वैतवादी थे। तिब्बत तथा चीन में प्रसिद्धि है कि आचार्य असंग ने तुषित-स्वर्ग से तन्त्र की अवतारणा की। उन्होंने मैत्रेय से तन्त्र-विद्या का अधिकार प्राप्त किया था। यह मैत्रेय भावी बुद्ध हैं या मैत्रेयनाथ नाम के कोई सिद्ध पुरुष हैं, यह गवेषणीय है। बहुत लोग मैत्रेय को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि वह सिद्ध थे। इस प्रसङ्ग में नागार्जुन की भी चर्चा होती है। यह भी स्मरणीय है कि उनका वासस्थान श्रीपर्वत और धान्य-कटक तान्त्रिक-साधना के प्रधान-केन्द्र थे। आगमीय गुरु-मण्डली के भीतर ओघ-त्रय में मानवौघ से ऊपर दिव्य तथा सिद्ध ओघ का परिचय मिलता है। यह माना जा सकता है कि मैत्रेय नाथ उस प्रकार के सिद्धों में थे या उसी कोटि के कोई अन्य महापुरुष थे। ऐतिहासिक पंडितों के अनुसार बौद्ध-साहित्य में गुह्यसमाज में ही सर्वप्रथम शक्ति-उपासना का मूल लक्षित होता है। अतएव असंग से भी पहले शक्ति-उपासना की धारा सुदृढ हो चुकी थी। मातृ-रूप में कुमारी-शक्ति की उपासना उस समय चारों ओर प्रचलित थी।

इन बहिरंग आलोचनाओं का कोई विशेष फल नहीं है। वस्तुतः तन्त्र का अवतरण एक गम्भीर रहस्य है।

शैवागमों के अवतरण के विषय में तात्त्विक दृष्टि से आचार्यगण ने जो कहा है, उससे यह समझ में आता है कि यह रहस्य सर्वत्र ही उद्घाटित करने योग्य नहीं है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने कहा है कि परावाक् परम परामर्शमय बोधरूप है। इसमें सभी भावों का पूर्णत्व है। इसमें अनन्तशास्त्र या ज्ञान-विज्ञान पर-बोधरूप में विद्यमान हैं। पश्यन्ती-अवस्था परावाक् की बहिर्मुखी अवस्था है। इस दशा में पूर्वोक्त पर-बोधात्मक शास्त्र 'अहंपरामर्श' रूप से अन्तर में उदित होता है। इसमें विमर्श के स्वभाव से वाच्य-वाचक-भाव नहीं रहता। यह आन्तर-प्रत्यवमर्श है। यह असाधारण

रूप में होता है। इसलिए इस अवस्था में प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमान वाच्यार्थ अहन्ता से आच्छादित होकर स्फुरित होता है। वस्तुनिरपेक्ष व्यक्तिगत-बोध के उद्भव की प्रणाली यही है। इसलिये भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ।

आर्ष-ज्ञान या प्रातिभ-ज्ञान के मूल में भी आगम विद्यमान है। जिसको हृदय का स्वतःस्फूर्त-प्रकाश समझा जाता है, वह भी वस्तुतः स्वतः-स्फूर्त नहीं है, क्योंकि उसके मूल में भी आगम है। मध्यमा-भूमि में आन्तर-परामर्श अन्तर में ही विभक्त हो जाता है। उस समय यह वेद्य-वेदक प्रपञ्चोदय से भिन्न वाच्य-वाचक स्वभाव में उल्लसित हो जाता है। इस मध्यमा-भूमि में ही परमेश्वर चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया से अपने पंचमुखत्व का अभिव्यंजन करते हैं, और सदाशिव और ईश्वर दशा का आश्रय लेते हैं, एवं गुरु-शिष्यभाव का परिग्रह करते हैं। इस पंचमुख के मेलन से ही पंचस्रोतोमय निखिल शास्त्रों का अवतरण करते हैं। यही शास्त्र का अवतरण है। अस्फुट होने के कारण यह इन्द्रिय का अगोचर है। किन्तु वैखरी-भूमि में इन्द्रिय-गोचर होता है और परिस्फुट होता है।

नागार्जुन, असंग या अन्य किसी आचार्य से किसी भी शास्त्र के अवतरण की एक मात्र प्रणाली यही है। ऋषियों के मंत्र-साक्षात्कार की प्रणाली भी यही थी। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि धारक पुरुष के व्यक्तिगत मानस के संस्कार उस अवतीर्ण ज्ञानशक्ति के साथ संश्लिष्ट न हो जाँय। यदि ऐसा हो जाय तो श्रुति स्मृति में परिणत हो जाती है, तथा प्रत्यक्ष परोक्ष में परिणत हो जाता है। ऐसी दशा में अवतीर्ण ज्ञान का प्रामाण्य कम हो जाता है। मानव के दुर्भाग्य से कभी-कभी अनिच्छया भी ऐसा हो जाता है।

इस विषय में एक दो और भी बातें कहनी है। साधक-वर्ग आध्यात्मिक उत्कर्ष की किसी-किसी भूमि में व्यक्तिगत-भाव से दिव्य-वाणी प्राप्त करते हैं। सभी वाणियों का मूल्य समान नहीं है। इनके उद्गम के स्थान भी एक नहीं होते। स्पेन देश की सुप्रसिद्ध ईसाई साधिका सन्त टेरेसा नामक महिला ने अपने जीवनव्यापी अनुभूतियों के आधार पर जिन सिद्धान्तों को प्रकट किया है, उनके अनुसार अलौकिक-श्रवण के तीन भाग किये जा सकते हैं—

१. स्थूल श्रवण—स्थूल होने पर भी साधारण श्रवण से यह विलक्षण है, क्योंकि यह ध्यानावस्था में होता है। लौकिक-श्रवण से ध्यानज क्षुब्ध इन्द्रियज-बाह्य श्रवण भिन्न है, क्योंकि वह बाहरी शब्द का नहीं है। वह प्रातिभासिक-मात्र है। प्रतीत होता है कि यह शब्द कण्ठोच्चारित है, और स्पष्ट है, फिर भी अवास्तव एवं विकल्प-जन्य है।

२. श्रवण—इन्द्रिय सम्बन्धहीन कल्पनामात्र-प्रसूत शब्द है। इन्द्रिय क्रिया से कल्पना-शक्ति में जैसी छाप लगती है, यहाँ क्रिया न रहने पर भी वही प्रकार है। किन्तु यह भ्रम विकार है। धातु-वैषम्य जनित दैहिक-विकार से यह विकार उत्पन्न होता है। पहले स्मृति-शक्ति में विकार होता है पश्चात् पूर्व संस्कारों में विकार होता है।

३. प्रामाणिक श्रवण—इसे टेरिस ने इंटिलेक्च्युअल लाक्यूशन नाम से वर्णन किया है। यह चिन्मय शब्द है। इसमें न बुद्धि का न इन्द्रियों का और न कल्पना-शक्ति का प्रभाव है। यह सत्य का साक्षात् प्रकाशक है और संशय का निवर्तक है। यह भगवत्-शक्ति के प्रभाव से हृदय में उदित होता है तथा संशय-विकारादि से यह सर्वथा मुक्त है।

अब अन्त में बौद्धतन्त्र तथा योग-विषयक साहित्य का किंचित् परिचय देना उचित प्रतीत होता है। इस विषय के बहुत से ग्रन्थ तिब्बत तथा चीन में विद्यमान हैं। कुछ इस देश में भी हैं। सभी ग्रन्थों का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ और निकट भविष्य में होने की सम्भावना भी नहीं है। किन्तु विशिष्ट ग्रन्थों में कुछ का प्रकाशन हुआ है और किसी-किसी का हो भी रहा है। भारतीय पुस्तक संग्रहों में अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या भी उल्लेख-योग्य है।

गुह्य-समाज, उसकी टीका और भाष्यों के कुछ नाम पहले दिये गये हैं। मंजुश्रीमूलकल्प का नाम भी दिया गया है। उन अतिरिक्त ग्रन्थों के नाम निम्न-लिखित हैं—

१. कालचक्र-तन्त्र और उसकी विमल-प्रभा टीका।
२. श्रीसम्पुट (यह योगिनी तन्त्र है)।
३. समाजोत्तर-तन्त्र।
४. मूलतन्त्र।
५. नाम-संगीति।
६. पंच-क्रम।
७. सेकोद्देश (तिलोपाकृत)।
८. सेकोद्देश-टीका नरोपाकृत।
९. गुह्यसिद्धि-पद्मवज्र अथवा सरोरुह-वज्रकृत।

प्रसिद्धि है कि ये आचार्य हेवज्र साधन के प्रवर्तक थे। सरोरुहवज्र के शिष्य अनंग-वज्र थे, अनंगवज्र के प्रज्ञोपाय-विनिश्चय-सिद्धि प्रभृति ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हेवज्र-साधन विषय के भी इन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। अनंगवज्र के शिष्य इन्द्रभूति थे। इन्होंने श्रीसम्पुट की टीका लिखी थी। इनके अतिरिक्त ज्ञान-सिद्धि सहज-सिद्धि प्रभृति अन्य ग्रन्थ भी इनके नाम से उपलब्ध होते हैं। यह उड्डियान सिद्ध अवधूत थे। इनकी छोटी भगिनी तथा शिष्या लक्ष्मींकरा ने इनके साहित्य के प्रचार करने में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली प्रभृति अनेक ग्रन्थों की रचना की। डाकार्णव एक विशिष्ट ग्रन्थ है, जिसका प्रकाशन हो चुका है। वर्तमान समय में विनयतोष भट्टाचार्य, शशिभूषणदासगुप्त, प्रबोधचन्द्र बागची, अध्यापक तुच्ची, मेरियो करेली डा० गुन्थर प्रभृति कई विद्वान् इस कार्य में दत्त-चित्त हैं। सिल्वाँलेवी प्रभृति ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया था, जिससे तन्त्र के अध्ययन में बड़ी सुविधा मिल रही है।

मैं यहाँ बौद्धतन्त्र की संक्षेप में आलोचना करना चाहा। किन्तु आलोच्य विषय इतना जटिल एवं विशाल है, कि छोटे कलेवर में सभी आवश्यक बातों का संन्निवेश

करना सम्भव नहीं है। केवल कुछ मुख्य विषयों की चर्चा करने की चेष्टा की गयी है। योग-विज्ञान का गम्भीर रहस्य आगम-साधना में ही निहित है। एक समय था जब भारत की यह गुप्त-विद्या चीन-तिब्बत-जापान आदि बहुप्रदेशों में समादर के के साथ गृहीत होती थी। इसी प्रकार इसका धीरे-धीरे नानास्थलों में प्रचार हुआ था। एक तरफ जैसा बुद्धि के विकास का क्षेत्र गम्भीर दार्शनिक एवं न्यायशास्त्र के आलोचन से मार्जित होता था, और उत्तरोत्तर दिग्गज-विद्वानों के उद्भव से दर्शन-शास्त्र की पुष्टि होती थी, तो दूसरी तरफ उसी प्रकार योग-मार्ग में बोधि के क्षेत्र में बड़े-बड़े सिद्ध एवं महापुरुषों का भी उद्भव होता था। ये लोग प्राकृतिक तथा अतिप्राकृत-शक्ति-पुंजों को अपने वश करके लोकोत्तर-सिद्धि-सम्पत्तियों से अपने को मण्डित करते थे। यदि किसी समय इनका प्रामाणिक इतिहास लिपिबद्ध होना सम्भव हुआ, तो अवश्य ही वर्तमान युग उन विद्वान् सिद्धों के गौरवपूर्ण जीवन का आभास पा सकेगा।

तान्त्रिक योग के मार्ग में अयोग्य लोगों का प्रवेश जब अवारित हो गया, तो स्वभावतः नागार्जुन या असंग का महान् आदर्श सब लोग समानरूप से संरक्षित नहीं रख सके। इसीलिये अन्यान्य धार्मिक प्रस्थानों के सदृश बौद्ध-प्रस्थान में भी नीति-लंघन और आचारगत शिथिलता में क्रमशः वृद्धि हुई। बौद्धधर्म के अवसाद के कारणों में यह एक मुख्य है, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि नीतिधर्म के ऊपर ही जगत् का सामाजिक प्रतिष्ठान विधृत है। व्यक्तिगत सामाजिक स्खलन देखकर मूल आदर्श का महत्त्व विस्मृत नहीं होना चाहिये।

तान्त्रिक बौद्ध-साधना—(ख)

महायान बौद्ध-मत में अन्तर्भूत तांत्रिक-ग्रंथ अभ्युदय की दृष्टि से अपेक्षाकृत परवर्ती होते हुए भी, अनेक हैं। उनमें से कुछ प्रमुख मूल ग्रंथ अब प्राप्य भी हैं। उनमें से कुछ के अनुवाद तथा टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। यह भी अच्छा ही हुआ है कि इन ग्रंथों के कुछ विद्वानों की कृतियाँ अब प्रकाशित भी हो चुकी हैं। उन कृतियों से आगे के लोगों के लिये मार्ग भी प्रशस्त हुआ है। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री तथा उन्हीं की तरह उनके योग्य पुत्र और उत्तराधिकारी डा० बिनय-तोष भट्टाचार्य के कार्य इस क्षेत्र में स्तुत्य हैं। डा० प्रबोधचन्द्र बागची, डा० शहीदुल्ला, डा० शशिभूषण दासगुप्त, डा० तुसी, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य लोगों ने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया है। अतः ऐसा अवसर आ गया है कि हम अब उनका संग्रह करें तथा यह देखें कि नवीन उद्घाटित विस्तृत साहित्य से हम लोगों ने क्या संकलित किया है।

वस्तुतः हिंदी में अभी इस विषय पर कुछ नहीं है। आचार्य नरेन्द्रदेव अपने 'बौद्ध धर्म-दर्शन' नाम के स्मरणीय एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ में बौद्ध-साधन के इस पक्ष पर बहुत कम कह सके हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-साधना के दर्शन का गंभीर, सतर्क और व्यवस्थित अध्ययन अभी तक किसी भाषा में नहीं किया गया है। समय-समय पर इस विषय में महत्वपूर्ण लेख अवश्य ही प्रकाशित होते रहे हैं। अभी तक जो कुछ भी किया गया है वह साधना के ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा तथा उसके कुछ (पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती) रूपों का विवरण मात्र है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अभी तक बौद्ध-धर्मान्तर्गत तांत्रिक-साधन के पूर्ण विश्लेषण का प्रयत्न नहीं किया गया है। प्राचीन बौद्ध-साधन का रहस्य शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा सम्यक्-आचार, ध्यान तथा ज्ञान में निहित है। ये तीनों निर्वाण तक ले जानेवाली सीढ़ी के तीन क्रमिक सोपान मान लिए गए हैं। प्राचीन बौद्धों का लक्ष्य निर्वाण था, जिसका अर्थ था—तृष्णा या वासना का सर्वथा प्रणाश। तृष्णा को व्यक्तिगत और समष्टिगत दुःखों का मूल माना गया था। इस प्रकार, तृष्णा का प्रणाश दुःख-निरोध का अवश्यंभावी हेतु है। तृष्णा का स्वरूप समग्र विश्व में व्याप्त है, केवल-मात्र निम्नतम काम-धातु या जड-जगत् में ही नहीं, अपितु मध्यवर्ती रूप-धातु नामक ज्योतिर्मय साकार तथा अरूप-धातु नामक निराकार लोकों में भी वह व्याप्त है। सर्वोच्च भूमि की तृष्णा को भव-तृष्णा कहते हैं। इन तीन लोकों (कामधातु, रूपधातु, तथा अरूपधातु) में से प्रत्येक में तृष्णा के आश्रय-स्वरूप एक चित्त रहता है, जिसे लौकिक-चित्त कहते हैं। लौकिक-चित्त और

लोकोत्तर-चित्त का अंतर समझ लेना चाहिए। इन दोनों का अंतर इस तथ्य में निहित है कि प्रथम की उत्पत्ति बाह्य-वस्तु तथा उसके संस्कारों से प्रभावित आलंबन से होती है, किन्तु जब यही चित्त इस आलम्बन का तिरस्कार विवेक-बुद्धि से अथवा संन्यास के कारण कर लेता है तथा उसके स्थान पर निर्वाण को आलंबन के रूप में स्वीकार कर लेता है, तब उसे लोकोत्तर-चित्त कहते हैं। चित्त का यह स्रोत नित्य-शान्ति की ओर स्वतः प्रवाहित होता रहता है।

प्राचीन-साधन में ध्यान अथवा चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया को प्रधान सहायक के रूप में स्वीकार किया जाता था। किन्तु यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि ध्यानों में भी अंतर है। यह सर्वविदित है कि कामधातु से संबद्ध निम्नतम चित्त, ध्यान के अनुकूल नहीं होता, किन्तु सभी उत्तर चित्त, चाहे वे लौकिक हों या लोकोत्तर, ध्यानचित्तों के अंतर्गत ही हैं। लौकिक और लोकोत्तर चेतना के स्रोत में मुख्य-भेद यह है कि प्रथम में (यदि वह कुशल है तो) जन्म और मृत्यु की परंपरा अबाध रहती है, जब कि दूसरे में यह स्रोत क्रमशः निर्बल होते हुए, अंत में, निर्वाण में समाप्त हो जाता है।

कामधातु के निम्नतम चित्त का उत्कर्ष उचित उपदेश से, सोत्साह परिश्रम से, तथा उपचार-समाधि के माध्यम से, उच्चतर ध्यानचित्त में परिणत हो सकता है। ध्यान, जिसे उपचार-ध्यान कहते हैं, स्थिर और अचंचल प्रतिभाग-चित्त से निष्पन्न होता है; परिकर्म या उद्ग्रह-निमित्त से नहीं। प्रत्यक्ष स्थूल-दृष्टि के विषयी-भूत आलंबन को परिकर्म कहते हैं किन्तु उद्ग्रह अभ्यास की परवर्ती अवस्था की ओर संकेत करता है, जिसका अर्थ है—मानस दृष्टि का विषय। द्वितीय निमित्त पर एकाग्रता के परिणाम-स्वरूप यथासमय उसमें एक ज्योतिर्मय शुभ्र-प्रकाश का दर्शन होता है। यही पूर्ववर्णित प्रतिभाग-निमित्त का स्वरूप है। ज्यों ही इस निमित्त की यह द्युति प्रकट होती है, चित्त के पाँच प्रकार के आवरण (नीवरण) शक्तिहीन और क्षीण होने लगते हैं। इसके बाद समाधि की वह अवस्था आती है, जिसे पारिभाषिक शब्दों में उपचार-समाधि कहते हैं। यह ध्यान-चित्त इस अवस्था में भी कामधातु की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता।

लौकिक कामचित्त से निर्वाण और चिर शान्ति को लक्ष्य के रूप में स्वीकार करनेवाले लोकोत्तर-चित्त में परिणति का क्रम ऊपर कहे हुए क्रम के अनुरूप है। यहाँ भी उपचार-समाधि के माध्यम से ही अग्रगति होती है। भवांग-स्रोत के सूत्र के टूट जाने पर कामधातु के विशिष्ट प्रकार का कुशल-चित्त (कुछ क्षणों क्षणों के लिये—चार क्षण अयोग्य लोगों के लिये, तथा तीन क्षण योग्य लोगों के लिये) क्षणिक परिणामों (जवन) का अनुभव करता है। इस श्रेणी में 'गोत्रभू-जवन' नाम का अन्तिम क्षण निर्वाण को आलम्बन के रूप में स्वीकार करता है। यह चतुर्थ क्षण है। इसके पूर्व परिकर्म, उपचार तथा अनुलोम-क्षण होते हैं। लौकिक चेतना से लोको-त्तर चेतना में परिणति का विश्लेषण ही, इन क्षणों का विचार-विषय है। पृथग्जन का आर्य होना तब तक संभव नहीं, जब तक उनका चेतना-स्रोत इन मध्यवर्ती क्रमिक

सोपानों का अतिक्रमण न कर ले। अर्थात्, पृथग्जन इस मनोवैज्ञानिक क्रम के अवलम्बन से ही आर्य हो सकता है। गोत्रभू के अनन्तर आनेवाले क्षण अर्पणा के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो चेतना की परिणति के सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, इस रूपान्तर के परिणाम-स्वरूप पृथग्-जन जहाँ तक उसके आध्यात्मिक रूपान्तर का प्रश्न है, एक नवीन चेतना के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इसके बाद एक लोकोत्तर-गोत्र का आविर्भाव होता है, जो पूर्व के जीवन के सभी प्रकार के सम्बन्धों का विच्छेद कर देता है। इसके बाद भी उस क्षण का आविर्भाव और तिरोभाव होता है, जिसे पारिभाषिक शब्दों में मार्ग-क्षण कहते हैं। इस महा क्षण में चार आर्य-सत्यों का साक्षात्कार होता है। इससे यह प्रकट होता है कि उस महाक्षण में सभी धातुओं के, सभी प्राणियों के, सभी प्रकार के दुःखों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, साथ ही साथ दुःख का हेतु अज्ञान भी आनुषंगिक उपसर्गों के साथ लक्षित होता है। उसी समय, साथ ही, सभी प्रकार के दुःखों का निवृत्ति-रूप-निर्वाण तथा दुःखनिरोधगामी-मार्ग अर्थात् अष्टांग-मार्ग का भी दर्शन होता है। उसी एक क्षण में, एक साथ, एक समय ही, इन चारों आर्यसत्यों का साक्षात्कार उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार बिजली की एक चमक में विभिन्न दृश्यों का। जब चित्त बलात् निर्वाणगामी-स्रोत में आपन्न हो जाता है, तब किसी प्रकार के भविष्यत्-पतन (अपाय) की आशंका भी नहीं रहती। इस प्रकार स्रोतापन्न की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति होती है। मार्ग के इस परिशीलन से क्लेशों का उन्मूलन होता है। योग-सूत्रों के व्यास-भाष्य के "चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च" वाक्य से भी यही बात स्पष्ट होती है। स्रोतापन्न को—जो स्रोत में आपन्न हो चुका है, वह कल्याण की ओर ले जाती है, संसार की ओर नहीं। पतञ्जलि के श्रद्धा वीर्य आदि उपाय, वास्तव में प्राचीन बौद्धों की परिभाषा में, बोधिपक्षीय धर्म हैं। मार्ग-चित्त के बाद फल-चित्त का उदय होता है और उस समय मार्ग में विघ्न भी आ सकते हैं, किन्तु तब लक्ष्य की प्राप्ति में संशय नहीं रह जाता, और अकुशल-चित्त के पुनः आविर्भाव की आशंका भी नहीं रह जाती।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन साधन निर्वाण-मार्ग के आविष्कार और अनुसरण को ही लक्ष्य मानता था। यह निर्वाण अपने व्यक्तिगत दुःख और अनर्थ से मुक्ति के रूप में स्वीकार किया गया था। यह मुक्ति, जैसा औपनिषदिक और सांख्य-मत में है; अंशतः इस देह में अवस्थान करते हुए तथा पूर्णतया देहांत में प्राप्त की जा सकती है। जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति तथा कैवल्य के आदर्श प्राचीन बौद्ध-धर्म के प्रचारकाल में देश में प्रचलित थे। बौद्ध-धर्म में इन आदर्शों का रूप सभी बन्धनों से मुक्त देह-विशिष्ट जीवित अर्हत् में तथा स्कन्ध-मुक्त अर्थात् विदेह निर्वाण-प्राप्त में देखा जा सकता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यह सिद्धि वैयक्तिक थी, तथा एक अर्थ में श्रेष्ठ जीवन में भी स्वार्थमय तथा स्वाभिमान-युक्त भाव से मुक्त न थी। प्रत्येक-बुद्ध की अवस्था यद्यपि निश्चय ही अपेक्षाकृत उत्तम थी, तथापि जहाँ तक उसके लक्ष्य का प्रश्न है, उसमें हृदय के विस्तार तथा उदारता का परिचय अधिक नहीं मिलता। महायान का लक्ष्य अधिक उदार था, क्योंकि वह उस बोधिसत्त्व के आदर्श को अधिक

महत्त्व देता था, जिसका जीवन प्रेम, करुणा और सेवा के लिए उत्सृष्ट है। बोधिसत्त्व वास्तव में बुद्ध की प्रारम्भिक अवस्था है। बुद्ध शास्ता हैं, शिक्षक हैं, गुरु हैं, ज्ञान के दाता हैं। ये अज्ञान का नाश तथा जीवन के दोषों तथा अनर्थों का अपसारण करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती साधना का लक्ष्य था—श्रेष्ठ श्रावक या शिष्य के जीवन की रचना। परन्तु परवर्ती साधना ने पारमिता-नय और मन्त्र-नय की पद्धतियों से साधन-मार्ग का उद्देश्य सम्पूर्ण चेतन-प्राणिवर्ग के निर्वाण के लिये उद्यम करनेवाले शास्ता या गुरु के जीवन को माना। महायानी दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति प्रसुप्त बुद्ध है। ऐसी बात नहीं है कि वह केवल निर्वाण का अधिकारी होता है, अपितु यह अपेक्षाकृत अधिक विकसित एवं ऊँची अवस्था का अधिकारी हो सकता है, जिसे विश्वगुरु कह सकते हैं। सत्य ही, स्वभावतः इस गोत्र-भेद के उलझे प्रश्न पर उस समय मतभेद था।

वस्तुतः, एक जटिल प्रश्न है। किन्तु यह प्रश्न केवल बौद्धमत के लिये ही नहीं है। यह मनुष्य के स्वरूपगत मौलिक भेदसम्बन्धी सामान्य प्रश्न है। कुछ लोग इस भेद को स्वीकार करते हैं, कुछ नहीं। जैनों में भी हमें इसी प्रकार की विचार-परम्परा तीर्थंकर तथा केवलज्ञानी के भेद में मिलती है। इसी प्रकार का विचार हमें प्राचीन युग में वेदों के अध्यापन के अधिकारी तथा केवल अध्ययन के अधिकारी द्विजों में मिलता है। यह सम्पूर्ण प्रश्न व्यक्ति-विशेष में शक्ति का विकास तथा उसके उपयोग-सामर्थ्य के ऊपर निर्भर करता है।

महायान की साधना में अक्लिष्ट-अज्ञान का स्थान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें अविद्या या अज्ञान को सांख्य-योग के सदृश क्लेश से अभिन्न तो माना ही जाता है, साथ ही क्लेश का लोप हो जाने पर भी, अज्ञान-सत्ता की सम्भावना स्वीकार की जाती है। यही अक्लिष्ट-अज्ञान है, जो बोधिसत्त्व में उसकी सभी अवस्थाओं में वर्तमान रहता है। ज्यों-ज्यों वह बुद्धत्व की ओर अग्रसर होता है, त्यों-त्यों इसका क्षय होता जाता है। बोधिसत्त्व के जीवन में क्रमशः इसका क्षय हो उसकी विभिन्न अवस्थाओं को विशिष्टता प्रदान करता है। बुद्धत्व का आविर्भाव अज्ञान के पूर्ण नाश तथा धर्म-नैरात्म्य की प्रतिष्ठा के साथ होता है।

पारमितानय और मन्त्रनय की साधना के पूर्व बोधिचित्तोत्पाद आवश्यक है। यह उत्पत्ति सहानुभूति की प्रवृत्ति, सद्गुरु (जिसे बौद्धमत में सन्मित्र, कल्याणमित्र आदि भी कहते हैं) के प्रभाव, स्वाभाविक करुणा या दुःख से, तीव्र-परावृत्ति से, सम्भव होती है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का विभाजन सामान्यतः दो या उचित रूप में तीन कालों में किया जा सकता है। प्रथम काल—साधक का है, जो पथ पर आरूढ़ हो जाता है और क्रमिक सिद्धि की अवस्थाओं में अग्रसर होता है। बोधिचित्त की उत्पत्ति या चित्तोत्पाद आध्यात्मिक परावृत्ति के समान ही है। दूसरा काल—सिद्ध का है, जिसमें वह क्लेशनिरोधयुक्त सम्यक्-सम्बोधि को प्राप्त कर लेता है। तीसरा काल—सिद्धगुरु का है, जिसमें वह सम्पूर्ण प्राणिजगत् की सेवा में उद्यम करता है। ये तीन काल हेतु, फल और सत्त्वार्थ-क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। परम ज्ञान को प्राप्त करने के पूर्व साधक को अपने साधनात्मक जीवन की दो या तीन स्थितियों को पार करना पड़ता

है। प्रथम स्थिति आशय की है, जब साधक का चित्त विश्व की दुःख की भावना से पूर्ण होता है तथा इस दुःख से मुक्ति देने के लिये दृढ़-प्रतिज्ञ होता है। दूसरी-स्थिति वास्तव प्रयोग की है, जिसमें पारमिता-साधन का अनुरूप-स्थान है। अधिमुक्त चित्त की अवस्था में केवल सात पारमिताओं की, तथा अधिमुक्त चरित्र की अवस्था में सम्पूर्ण दश पारमिताओं की साधना में अग्रसर होना पड़ता है। प्रमाणवार्तिक की टीका में मनोरथनन्दि ने इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को बोधि पर आधृत माना है, जिसका अर्थ है कि साधक-अवस्था बोधि के क्रम-विकास की अवस्था है; जिसमें बोधि क्रमशः अन्त में सिद्धा-वस्था में सम्यक्-सम्बोधि को प्राप्त करता है।

पारमिता की साधना बोधिसत्त्व की विभिन्न भूमियों में होती है। प्रथम सात भूमियों में प्रयोग अशुद्ध, सापेक्ष और अभिसंस्कार-युक्त होता है। प्रथम छः भूमियों में समाधि के आभोग और निमित्त नाम के दोनों कारण-तत्त्व रहते हैं, किन्तु सप्तम-भूमि में यद्यपि निमित्त नहीं रहता तथापि आभोग रहता है। आठवीं भूमि आभोग से भी मुक्त रहती है, इसीलिये इसे शुद्धभूमि कहते हैं; जिसमें समाधि को अपने उद्बोध के लिये न आभोग की आवश्यकता रहती है न निमित्त की। इन स्तरों पर समाधि आग-न्तुक न होकर प्राकृतिक (स्वरसवाही) हो जाती है।

केवल इसी प्रकार की समाधि से 'जगदर्थसंपादन' संभव है और इसी से कोई यथार्थ सर्वानुशासक भी हो सकता है। यह अवस्था दसवीं भूमि तक रहती है। इस उच्च साधकावस्था का आरम्भ बुद्ध के मार-विजय से होता है, तथा अन्त दश पार-मिताओं की पूर्णता और सद्यः-वर्णित सहज वज्रोपम-समाधि की प्राप्ति से होता है।

इस दृष्टि से सिद्धि की अवस्था ग्यारहवीं भूमि की है। यह पूर्ण ज्ञान और पूर्ण क्लेश-क्षय की एक स्थिति है। इसके अनन्तर सत्त्वार्थ-क्रिया का आगम होता है, जो सिद्ध-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। यह धर्मचक्र-प्रवर्तन से अभिन्न है। सत्यज्ञान के लिये बुद्ध का यह नैसर्गिक सेवा-कार्य उनके आध्यात्मिक शासन के अन्त तक रहता है।

तान्त्रिक साधना की बहुत-सी दिशाएँ हैं। इस साधना का मुख्य लक्ष्य है—बिन्दु-सिद्धि। बौद्ध-तान्त्रिक-परिभाषा में बिन्दु ही बोधि-चित्त नाम से प्रसिद्ध है, मनो-मय-कोष का सारांश मन है। प्राणमय-कोष का सारांश प्राण या ओजस् है तथा अन्नमय-कोश का सारांश वीर्य या शुक्र-धातु है। अज्ञानी जीव के ये तीनों चंचल तथा मलिन होते हैं। साधना के प्रस्थान-भेद के अनुसार कोई मन पर प्राधान्य आरोपित करता है, कोई प्राण पर और कोई बिन्दु पर। इस प्रकार आपेक्षिक प्राधान्य के ऊपर ही योग-क्रिया का अनुरूप अनुमान होता है। क्रिया के प्रभाव से बिन्दु की निर्मलता तथा स्थिरता की सिद्धि होती है। वैदिक युग में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रम की रहस्यसाधना में बिन्दुसाधना का स्थान ही सर्वोच्च था। पहले आश्रम का लक्ष्य था—बिन्दु-शोधन तथा बिन्दु-प्रतिष्ठा। उस समय सभी प्रकार से बिन्दु-क्षोभ निषिद्ध था, क्योंकि अशुद्ध-बिन्दु क्षुब्ध होने पर प्राकृतिक नियम से अधोगति की ओर उन्मुख होता है। इसी का नाम च्युति या पतन है, जिसका फल है—मृत्यु। इस बिन्दु को धारण करके यदि कोई इसे ऊर्ध्वगामी कर सके, तो वह अनिवार्य रूप से अमरत्व-लाभ कर सकता है।

'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'—यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है। ऊर्ध्वरेता की अवस्था का लाभ करने के लिये बिन्दु का ऊर्ध्वगामित्व होना चाहिए। ऊर्ध्वरेता की अवस्था में मनुष्य का अन्तःस्रोत सदैव ऊर्ध्वगामी रहता है। यही दिव्य अवस्था है। प्राचीन समय में गृहस्थ आश्रम में परिणीता धर्मपत्नी के साथ यह साधना चलती थी। 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्'—इस वचन का आन्तरिक तात्पर्य यही है। उस समय पारिवारिक-जीवन रस-साधन के अनुकूल था। आधार-भेद से नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये यह साधन आवश्यक नहीं होता था। संयम तथा कठोर ब्रह्मचर्य के मार्ग से चलने से ही रस-साधना में सिद्धि-लाभ हो सकता है, अन्यथा नहीं। बौद्धों का महा-सुख-साधन इस गुप्त रस-साधन का प्रकार-भेदमात्र है। औपनिषद साधन-राज्य में पंचाग्नि-विद्या का नाम प्रसिद्ध है। उसका भी तात्पर्य रस-साक्षात्कार छोड़कर और कुछ नहीं है। अन्नमय-कोष से आनन्दमय-कोष-पर्यन्त ऊर्ध्वगति विभिन्न अग्नियों में आहुति दिए बिना हो नहीं सकती। प्रतिस्तर की सत्त्व; वस्तु या सारांश को उसी स्तर की अग्नि में आहुति-रूप में अर्पण करने से, वह पावक-सम्बन्ध से शुद्ध होकर ऊर्ध्वोन्मुख होता है। वस्तुतः यह शुद्धि आपेक्षिक मात्र है, क्योंकि निम्न स्तरों में कुछ न कुछ मल रह ही जाता है। अंत में जब शुद्धि पूर्ण हो जाती है, तब मल नहीं रहता और आहुति का प्रयोजन भी नहीं रहता। वस्तुतः वहाँ अग्नि की क्रिया समाप्त हो जाती है। वहीं विशुद्धतम अमृत का लाभ होता है। पाँचों स्तर में पाँच प्रकार के अमृत मिलते हैं। परन्तु वह पंचम अमृत ही मुख्य माना जाता है, जो आनंदमय-कोष का उपादान तथा उपजीव्य है। भक्ति-संप्रदाय के साधक इस अमृत का त्याग नहीं करते। यही भक्तिरस, प्रेम एवं मातृ-अंक है। शब्दान्तर से इसे कुछ भी कह सकते हैं। परन्तु शुद्ध ज्ञानी लोग इससे भी विरक्त तथा विविक्त होकर स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं। वह भी आनन्द है। वस्तुतः वही स्वरूपानंद है। वह कदापि हेय नहीं है। तान्त्रिकों के रहस्य-साधन में भी यही क्रम दीख पड़ता है—पहले पशुभाव में संयम, ब्रह्मचर्य, यम, नियमादि आवश्यक रहते हैं। इस भूमि में बिन्दु की शुद्धि तथा स्थिरता सिद्ध हो जाती है। उसके अनंतर वीर-भाव में प्रकृति-संयोग या प्रकृति-संभोग का अधिकार आता है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम का जो स्थान है, पशुभाव के बाद वीरभाव का स्थान भी प्रायः वैसा ही है। वीरभाव का प्रयोजन है। इस अवस्था में प्रकृति के साथ पुरुष का संघर्ष होता है, जिसमें वीरत्व की आवश्यकता होती है। वस्तुतः प्रकृति को पराजित कर ही वीरत्व सिद्ध होता है। जो वीर है, वह प्रकृति का स्वामी, भर्त्ता या अधिष्ठाता होता है। प्रकृति वीर के अधीन रहती है। प्रकृति की पराजय न होने पर प्रकृति अपने बल से साधक को गिरा देती है। तब साधक भ्रष्ट हो जाता है। वीरभाव के अनंतर प्रकृति के साथ सहयोग करते हुए साधक क्रमशः दिव्य-भाव की ओर अग्रसर होता है। दिव्यभाव ही महाभाव है। यहाँ अद्वैत को छोड़कर द्वैत का कुछ भी संस्कार नहीं रहता। पहली दशा में प्रकृति का त्याग जैसे आवश्यक है, दूसरी दशा में योग्यता-लाभ होने पर प्रकृति का ग्रहण भी वैसे ही आवश्यक है। तृतीय अवस्था में न त्याग होता है, न ग्रहण। उस समय प्रकृति के अधीन होने पर पुरुष और

प्रकृति दोनों सम्मिलित होकर एक अखंड-सत्ता में प्रवेश करते हैं। इस परम भाव में पुरुष और प्रकृति का भेद नहीं रहता। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है।

बौद्धों का बिंदु-साधन भी रस-साधना का ही एक विशिष्ट अंग प्रतीत होता है। जिसको बिंदु- क्षोभ कहा गया है, वह वास्तव में उपाय तथा प्रज्ञा के योग से बोधि-चित्त का उद्भव है। बिंदु का उद्भव होने पर, जिससे बिंदु का पतन न हो, अर्थात् वज्रमणि में उसका स्खलन न हो; इसके लिये उसे नाभिस्थित निर्माणचक्र में धारण करना पड़ता है। यह निरोध कृत्रिम है। स्वाभाविक अवस्था में यह भी नहीं रहता। बिंदु पारद के समान सदा चंचल रहता है। परन्तु योगबल से इसे स्थिर करना आवश्यक है। तान्त्रिक परिभाषा में चंचल-बिंदु, संवृत-बोधिचित्त है; परन्तु जब इसे योगाभ्यास से स्थिर किया जाता है, तब यह संवृत न रहकर विवृत बन जाता है। संवृत का अर्थ है—संकुचित, विवृत का अर्थ है—फैला हुआ। बोधिचित्त जब विवृत हो जाता है, तब वही महासुख-रूप में परिणत हो जाता है। जैसे अन्नमय-कोष का सार या सत्त्व—शुक्र बिंदु, आनंदमयकोष के परमानंद के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। दोनों ही समरूप हैं। कुंदपुष्प-निभ संवृत-बोधिचित्त ही योगप्रभाव से ऊर्ध्व-गति-लाभ करने पर महासुख-रूप में परिणत होता है। यही रस है। इसीलिये एकमात्र महासुख-चक्र या उष्णीष-कमल में ही बिंदु स्थिर होता है, अन्यत्र नहीं। अन्यत्र गतिरोध हो सकता है, परन्तु ऐसी स्थिति नहीं हो सकती, जिसमें सहजानन्द की अभिव्यक्ति हो सके।

बौद्ध तान्त्रिक-साहित्य में षडङ्ग-योग का उपयोग विशेष रूप से किया गया है। षडङ्ग-योग नाथ-संप्रदाय में था और भास्कराचार्य की गीता की टीका से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन वैष्णव-संप्रदाय में भी था, परंतु इन षडङ्ग योगों से कहीं कहीं बौद्ध षडङ्ग-योग विलक्षण है। गुह्यसमाज तथा सेकोद्देश-टीका में इस योग के विवरण में छः अंगों का नाम निर्देश तथा क्रम दिया गया है, जैसे—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि। यह कहने की बात नहीं है कि योगी का चरम लक्ष्य है—निरावरण प्रकाश की प्राप्ति। किसी प्रकार का आवरण यदि रह जाय तो समझना चाहिए कि अन्तिम लक्ष्य की उपलब्धि नहीं हुई। परन्तु तान्त्रिक आचार्य-वर्ग का सिद्धान्त यह है कि सभी प्रकार के आवरण से मुक्त होने के लिये प्रभा-मण्डल का उदय और योगी का उसमें प्रवेश अपेक्षित है। परन्तु प्रभा-मण्डल में प्रवेश सामान्य साधक के लिये तो दूर की बात है ही, अति उच्च स्तर के योगियों के लिये भी यह साध्य नहीं है। योग-मार्ग में जब तक वज्रसत्व-नामक अवस्था का उदय न हो, तब तक प्रभा-मण्डल में प्रवेश कदापि नहीं हो सकता। परन्तु पहले बोधिसत्त्व-लाभ न होने पर वज्रसत्त्व-अवस्था की प्राप्ति असम्भव है। बोधिसत्त्व होने के लिये पाँच अभिज्ञाओं का उदय होना चाहिए। षड्भिज्ञ बुद्ध का नामान्तर है, परन्तु अभिज्ञा-पंचक बोधि-सत्त्व का लक्षण है। इन अभिज्ञाओं का आविर्भाव तब-तक नहीं हो सकता, जब-तक मन्त्र-सिद्धि न हो। इसीलिये तान्त्रिक योगी सबसे पहले मन्त्र-सिद्धि के लिये उद्यम करते हैं। प्रत्याहार नामक पहले योगाङ्ग के द्वारा मन्त्र-सिद्धि होती है। अनन्तर ध्यान से

अभिज्ञाओं का उदय होता है। प्राणायाम से बोधिसत्त्व-भाव तथा धारणा से वज्रसत्त्व-भूमि की प्राप्ति होती है। अनुस्मृति का फल है—प्रभामण्डल में प्रवेश, तथा षष्ठ अंग समाधि का फल है—निखिल आवरणों का क्षय या बुद्धत्व।

बिन्दु को उद्‌बुद्ध कर निर्माणचक्र से उष्णीष-कमल तक ले जाना पड़ता है। बिन्दु का उद्बोध और कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण, वस्तुतः एक ही व्यापार है। तान्त्रिकों की परिभाषा में इस जागरण को निर्माण-चक्र में स्वशक्ति चाण्डाली का जागरण कहा जाता है। जिस क्षण में चाण्डाली का जागरण होता है, उसी क्षण में मस्तकस्थ चन्द्र-बिन्दु से अमृत-क्षरण होना आरम्भ होता है। जब प्रज्ञा अथवा चित्त-कमल और सहजानन्द का उपाय, ये दोनों परस्पर मिलित होकर साम्य-लाभ करते हैं, तभी यह जागरण होता है। यह जागरण या जलन वस्तुतः महासुख-राग का उदय है। इस अनल से भाव तथा अभाव दोनों ही निर्मूल हो जाते हैं।

जो लोग कामकला-रहस्य जानते हैं, वे कहते हैं कि अग्नि और सोम नाम के प्रसिद्ध दो विक्षुब्ध कलाओं का सम्बन्ध यही है कि अग्नि के प्रज्वलित होते ही उस जाग्रत्-शक्ति के प्रभाव से वह सोम-बिन्दु गलकर झरने लगता है। यही अमृत-स्राव है। हठयोग-शास्त्र में वर्णित है कि यह सोम-धारा स्वभावतः अग्नि-कुण्ड में ही गिरती है और शोषित हो जाती है, जिससे देह का क्षय, विकार, जरा तथा मृत्यु होती है। यदि किसी कौशल से इस अमृतधारा को अग्नि में प्रक्षिप्त न होने दिया जाय और खेचरी-मुद्रा या और किसी उपाय से रसना-गोचर किया जा सके, तो देह का परिवर्तन हो जाता है। इस प्रक्रिया से समग्र मानव-देह चन्द्रकला से पूर्ण हो जाता है। आत्यन्तिक रूप से इससे सम्पन्न होने पर देह-सिद्धि या काया-संपत् का लाभ होता है और जरा-मृत्यु से सदैव के लिये अव्याहत-मुक्ति होती है।

बिन्दु के निर्माणचक्र से स्खलित होकर नीचे उतरने से देह की रचना हो सकती है, परन्तु जब बिन्दु की ऊर्ध्वगति होती है, तब निम्न-सृष्टि का यह मार्ग रुद्ध हो जाता है। निर्माण-चक्रस्थ बिन्दु पंचभूतात्मक है, परन्तु उसमें पृथ्वी का अंश अधिक परिमाण में है। इसीलिये वह मध्याकर्षण के प्रभाव से आकृष्ट होता है। परन्तु जब वह बिन्दु मध्यमार्ग का अवलम्बन करता हुआ ऊर्ध्वोन्मुख होता है, तब उसमें जलीय अंश प्रधान हो जाता है। पृथ्वी-तत्त्व के जल-तत्त्व में लीन होने से, उसका काठिन्य छूट जाता है। यह निर्माणचक्र के ऊपर के चक्र की बात है। बिन्दु का उत्थान और भी अधिक होने पर वह तेजः-प्रधान होता है। उसका जलीय अंश प्रायः शुष्क हो जाता है। उसके बाद और भी ऊपर उठने पर वह वायु-प्रधान और अन्त में चित्त-मात्र अथवा शुद्ध-ज्योतिमात्र रूप में परिणत होकर उष्णीष-कमल में स्थित होता है। उष्णीष कमल में बिन्दु के स्थिर होने के साथ ही साथ देह सिद्ध होता है और दिव्यदृष्टि तथा दिव्यश्रुति का उदय होता है, तथा सर्वज्ञत्व और विभुत्व गुण का भी। इसे एक प्रकार से बुद्धत्व-लाभ कहा जा सकता है। परिभाषा भिन्न होने पर भी आगमशास्त्र में भी यही सिद्धान्त मिलता है। पहले प्राण तथा अपान नाम की दो विरुद्ध शक्तियों का खेल चलने लगता है। उसके बाद दोनों का साम्य हो जाता है।

तब समान-शक्ति का उदय होता है। प्राण और अपान के साम्य से मध्य-शक्ति जाग जाती है और मध्य-मार्ग के उल्लास से ऊर्ध्वगमनशील उदान-शक्ति का स्फुरण होता है। मध्यशक्ति के जागरण की पूर्वावस्था जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति रूप संसार की अवस्था है, जिसमें देह, प्राण तथा पुर्यष्टक कलाओं के द्वारा जीव मोहित रहता है। जब उदान-शक्ति का विकास होता है, तब तुरीय-दशा का उदय होता है। ऊर्ध्वशक्ति की चरम स्थिति, मस्तक-स्थित ऊर्ध्व-बिन्दु में है। जब इसका भी भेद हो जाता है, तब वह विश्वव्यापक होता है। यही व्यान-शक्ति का व्यापार है। इसी का नाम तुरीयातीत-अवस्था है। इस समय विभुत्व-सर्वज्ञत्व-प्रभृति बुद्धत्व के अनुरूप अवस्थाओं का प्राकट्य होता है।

एक बात यहाँ कहना आवश्यक है। पहले कहा गया है कि प्राचीन साधन का लक्ष्य था—सत्-शिष्य या श्रावक बनकर निर्वाण प्राप्त करना। परन्तु नवीन साधना का लक्ष्य है—केवल सत्शिष्य होना नहीं, अपितु सद्गुरु होने की योग्यता का अर्जन करना। पारमिता-नय से मन्त्र-नय अधिक गम्भीर है। मन्त्र-नय से सहज-मार्ग और भी गम्भीर है, परन्तु यह सर्वापेक्षा सरल भी है; अवश्य ही—यदि सद्गुरु की कृपादृष्टि मिल जाय। प्राचीन मत में पृथग्जन-गोत्र का त्याग करके लोकोत्तर-गोत्र में आवर्तित न होने से मार्ग-क्षण का उत्पाद और निरोध नहीं होता था। मार्ग-क्षण ही साक्षात्कार का क्षण है। इसी एक क्षण में ही, एक ही समय में, युगपत् चारो आर्य-सत्यों का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। इसके प्रभाव से साधक का चित्त निर्वाण-गामी स्रोत में आपन्न होता है। इसके बाद वही स्रोत उस चित्त को आगे ले चलता है और अर्हत् या जीवन्मुक्त की अवस्था तक पहुँचा देता है। परन्तु यह वैयक्तिक मुक्ति है, सामूहिक नहीं। मन्त्र-नय में बिना दीक्षा के यथार्थ साक्षात्कार या दिव्य-ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। वस्तुतः यह दिव्यज्ञान श्रावक के पूर्वोक्त निर्वाण-प्रापक ज्ञान से विलक्षण है। यह शैवागम में भी है। पहले सद्गुरु-विहित दीक्षा के प्रभाव से आणव-मल या पौरुष-अज्ञान की निवृत्ति होती है। यह कृपा का व्यापार है। इसके बाद साधना या उपासना के प्रभाव से बौद्ध-ज्ञान का उन्मेष होता है और तज्जन्य बौद्ध-अज्ञान की निवृत्ति भी। यह साधक के अपने उद्यम का फल है। उस समय 'शिवोऽहं' रूप से जीवन्मुक्ति होती है। देहान्त में शिवत्व-लाभ होता है।

तान्त्रिक-साधना का गुप्त उपदेश यह है कि बिना दीक्षा के सत्य-ज्ञान का उदय नहीं होता है, और बिना अभिषेक के उस ज्ञान के संचार की सामर्थ्य भी नहीं आती। इसीलिये जिसका यथार्थ पूर्णाभिषेक नहीं हुआ है, वह गुरुपद में आसीन होने के योग्य नहीं है। धर्मचक्र-प्रवर्तन ही गुरुकृत्य है। सम्बुद्ध-गण भी अभि-षेक द्वारा इसका संपादन करते हैं।

वस्तुतः अभिषेक-तत्व एक गहन रहस्य है, जिसका उद्घाटन न यहाँ उचित है, न सम्भव ही। पारमार्थिक अभिषेक अनुत्तर-अभिषेक नाम से प्रसिद्ध है। यह अत्यन्त दुर्लभ है। संवृति-रूप में अभिषेक दो प्रकार का है—पहला निम्न-स्तर का है, जिसका नाम है—पूर्वसेक या पूर्वाभिषेक, तथा दूसरा ऊर्ध्व स्तर का है, जिसका नाम है—

उत्तरसेक या उत्तराभिषेक। उदकादि सात सेक अधर-संवृति या पूर्वसेक हैं। इससे लौकिक सिद्धि का उदय होता है। उच्च स्तर के कुम्भ आदि तीन सेक योगि-संवृति नाम से प्रसिद्ध हैं। यही उत्तर-सेक है। यह लोकोत्तर-सिद्धि का मूल है और परमार्थ के अनुकूल भी। यहाँ कहना चाहिए कि उत्तरसेक के लिये मुद्रा की आवश्यकता होती है, पूर्वसेक के लिये नहीं; अनुत्तरसेक के लिये भी नहीं। उत्तर-सेक क्षर, अक्षर और स्पन्द भेद से तीन प्रकार का है। अनुत्तर या पारमार्थिक सेक निस्पन्द है। कुंभ-सेक में चतुर्दल उष्णीष-कमल से बिन्दु अवतीर्ण होकर ललाटस्थ सहस्रदल की कर्णिका में आता है। इसका फल है—आनन्द-लाभ (काय, वाक्, चित्त तथा ज्ञान में)। गुह्य-सेक में बिन्दु कंठस्थ द्वात्रिंश-दल-कमल से हृदय की अष्टदल-कमल की कर्णिका में आ जाता है। इसका फल है—परमानन्द-लाभ (काय-चतुष्टय में)। यह आनन्द अधिकतर तीव्र है। प्रज्ञा-सेक में बिन्दु नाभिस्थ चतुःषष्टिदल-कमल से द्वात्रिंश-दल-गुह्य-कमल में उतर जाता है। यहाँ तक कि वज्र-मणि के रन्ध्र में पहुँच जाता है। इसका फल है—विरमानन्द-लाभ। यही तृतीय आनन्द है। यह परमानन्द से भी उत्कृष्ट है।

पूर्वोक्त विवरण से सिद्ध होता है कि बिना उत्तर-सेक के उष्णीष-कमल में स्थिरीकृत बिन्दु नीचे नहीं आ सकता है। पहले सेक में बिन्दु का अवतरण थोड़ी दूर तक होता है। द्वितीय सेक में और भी अधिक होता है। तृतीय सेक में बिन्दु अवतीर्ण होते-होते वज्रमणि के अग्र-भाग तक पहुँच जाता है, परन्तु फिर भी बिन्दु का स्खलन नहीं होता।

इसके बाद अनुत्तर-सेक में बिन्दु के पतन की आशंका नहीं रहती। यद्यपि प्रज्ञासेक में बिन्दु का पतन नहीं होता, उस समय बिन्दु स्पंदहीन नहीं रहता, परन्तु अनुत्तर-सेक में बिन्दु सर्वथा निस्पंद हो जाता है। उस समय बिन्दु की ऊर्ध्वगति तथा अधोगति का कर्म समाप्त हो जाता है। समाप्त होकर आवर्तन पूरा हो जाता है। यही सहजानन्द की अवस्था है।

बिन्दु को उष्णीष-कमल में स्थिर करने का जैसा प्रयोजन है, वैसा ही स्थिर-बिन्दु के उतारने का प्रयोजन है। आरोह तथा अवरोह दोनों ही आवश्यक हैं। अनन्तर किसी की आवश्यकता नहीं रहती। धर्मचक्र-प्रवर्तन-व्यापार में गुरु-कृत्य करना पड़ता है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। लेकिन पिता जैसे सन्तान के प्राकृत-देह का जनक है, सद्गुरु वैसे ही सन्तान के अप्राकृत-देह का जनक है। इसीलिये आध्यात्मिक-दृष्टि से गुरु पितृ-तुल्य है। इस ज्ञान-दान व्यापार को प्राचीन समय में लोग एक प्रकार का गर्भाधान समझते थे। बिना शुद्ध बिन्दु के अवतरण के शुद्ध-देह की रचना या द्वितीय जन्म हो नहीं सकता। ऋषि लोग इस शुद्ध-देह को ज्ञान-देह, वैंदव-देह प्रभृति विभिन्न नामों से वर्णन करते थे।

सद्गुरु की कृपा की अपार महिमा है। स्वाधिष्ठान-रूप तृतीय-शून्य में वज्रगुरु का अधिष्ठान होने पर चतुर्थ-शून्य आप ही आप आकर उससे मिलित होता है। उस समय युगनद्ध-मूर्ति के दर्शन का अवसर आता है। उसके प्रभाव से विचित्रादि क्षणों

के द्वारा चतुर्थ आनन्द को संबोधित करके स्थितिलाभ करना पड़ता है। इसके बाद मध्यमा का भी निरोध हो जाता है तथा अशेष प्रकार के प्रकृति-दोष और समाधि-मल का ध्वंस होता है। इससे अनुत्तर-बोधि का उदय होता है, जिसको हमने पहले षडङ्ग-योग के वर्णन प्रसंग में निरावरण प्रकाश की अभिव्यक्ति कहा है। उस समय ज्ञान में से ग्राह्य तथा ग्राहक, ये दोनों ही विकल्प निवृत्त हो जाते हैं। यही निर्विकल्प-ज्ञान है, जिससे सब धर्मों का अनुपलम्भ होता है। जिस बिन्दु से जन्म होता है, विषय-विकल्प-हीन उसी बिन्दु में जाकर उसको जानना पड़ता है। इसके बाद निज-बिन्दु की शक्ति में प्रतिष्ठित रहकर उस शक्ति की सहायता से चतुर्थ आनन्द के संवेदन की सब बाधाओं को दूर करना पड़ता है। तब साकार तथा निराकार का शाश्वत-विरोध सदा के लिये निवृत्त हो जाता है। यही तथता है।

बौद्ध-तान्त्रिक साधना का मर्म-विश्लेषण करना इस प्राक्कथन का उद्देश्य नहीं है। भूमिका में यह हो नहीं सकता और उसकी योग्यता भी हम में नहीं है। मैं समझता हूँ, इस क्षेत्र में बहुकर्मी साधकों की दीर्घकाल व्यापी गवेषणा आवश्यक है। जैसे-जैसे अधिकाधिक ग्रन्थों का प्रकाशन होगा, वैसे-वैसे उसी प्रकार अधिकाधिक मनीषी विद्वज्जन भी नव प्रकाशित साहित्यों के द्वारा अर्जित ज्ञान के आलोक से पूर्व संवित्-ज्ञान-भंडार को आलोकित और समृद्ध करेंगे। दीर्घकाल, नैरंतर्य और सत्कार के साथ उद्यम करने पर यह उपेक्षित क्षेत्र भी किसी समय माहैश्वर्य की प्रसूति रूप में परिणत हो सकता है। केवल घृणा से दिव्य-सम्पद् का लाभ नहीं होता। विभिन्न कारणों से तन्त्र-साधना कलंकित हो पड़ी, यह साधना का स्वकीय अपराध नहीं है। परन्तु अनधिकारी साधक के द्वारा किए गए साधन के दुरुपयोग का फलमात्र है।

एक अलौकिक भक्त सिद्धिमाता

यह बहुत दिनों की बात है। शायद संवत् १९८९ या उसके आस पास का समय होगा। मैं उस समय बड़ादेव मुहल्ले में (सर्वमङ्गलालेन में) रहता था। एक दिन श्रीस्वामी शङ्करानन्दजी और वीरेश्वर चट्टोपाध्याय मुझसे भेंट करने आये। स्वामीजी ने बातचीत के सिलसिले में कहा कि खालिसपुरा मुहल्ले में एक माताजी हैं। उनकी आध्यात्मिक उन्नति और निष्ठा, भक्ति और तन्मयता को वर्तमान समय में यदि असाधारण कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। उनके दर्शन कर मैंने वास्तविक साधु के दर्शन किये, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। उनकी इच्छा और आग्रह से मैं उन्हीं के साथ एक दिन माताजी के दर्शन करने गया, वहाँ पहुँचकर जो कुछ मैंने देखा; उससे मुझे आश्चर्य और आनन्द दोनों हुए। माँ उस समय खालिसपुरा के शिवालय के मकान में रहती थीं। मैंने माँ को एक छोटी-सी कोठरी में एक आसन पर बैठी हुई देखा। सिर से पैर तक लम्बा घूँघट काढ़ा था, इसलिए मुखश्री-दर्शन करने का कोई उपाय न था। हम लोगों के जाने के बाद वे हम लोगों की ओर पीठ करके बैठीं। नवागत दर्शकों के समीप में संकोचवश यथाशक्ति आत्म-गोपन करना ही उनका उद्देश्य था, यह समझने में हमें देर नहीं लगी। मुख-दर्शन न देने पर भी हम लोगों के प्रश्नों का उत्तर देने में उन्हें संकोच प्रतीत नहीं हुआ। उनका कण्ठ-स्वर कोमल होने पर भी दृढ़ तथा करुणाव्यञ्जक प्रतीत हुआ। उनके दर्शन पाकर तथा सत्-चर्चा सुनकर, मुझे अत्यन्त आनन्द हुआ। सरलता, एकाग्रता, अटूट निष्ठा और एकमात्र भगवान् के चिन्तन में सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग—यही उनके जीवन की विशेषता थी। उन्होंने भगवद्-भक्ति की सहायता से अपने जीवन को सुदृढ़ वैराग्य के ऊपर प्रतिष्ठित किया था।

इसके उपरान्त अवसर मिलते ही, मैं उनके निकट जाता और नाना प्रकार की भगवत्-चर्चाओं की मीमांसा करता था। शास्त्रों की जानकारी न होने पर भी सुदीर्घ कालव्यापी साधना के प्रभाव से भगवत्तत्त्व के सम्बन्ध में वे पूर्ण अनुभूति रखती थीं। उस अनुभूति की सहायता से ही वे मेरे सब प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न करतीं थी। भगवान् के सिवा और कुछ वे न तो जानती थीं और न मानती ही थीं। उन्होंने अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया कि भगवान् ही उनके पथ-प्रदर्शक हैं और भगवान् ही उनके एकमात्र लक्ष्य हैं। वे शास्त्र के उपदेश, महात्माओं की सीख अथवा ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध का अनुशासन कुछ भी न जानती थीं। प्रतिक्षण भगवान् ही उनको प्रेरणा करते थे। भगवान् थे उनके साथ के संगी, उनके उपदेशक, उनको सान्त्वना देने वाले, उनके बल-भरोसा, उनके ऐश्वर्य, उनके ज्ञान-विज्ञान और उनके सर्वस्व। भगवान् उनसे जब जिस तरह से चलने को कहते थे, वे तब उसी तरह चलने की चेष्टा करती थीं। भगवान् उनके एकमात्र इष्ट और गुरु थे।

माँ खालिसपुरा के शिवालय के मकान से हाड़ारबाग गुरु-माँ के मकान तक जब जहाँ रही हैं, मैंने यथाशक्ति वहीं अवकाशानुसार उनके दर्शन किये हैं। क्रमशः एक के बाद एक जो बहुत-सी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उन्हें प्राप्त हुई थीं, उनका वर्णन भी मैंने उनके श्रीमुख से सुना एवं उनके सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर के बहाने विचार करने का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ। मैं सोचता हूँ कि उनके इस सुदुर्लभ अध्यात्म-विज्ञान का विवेचन आनुषङ्गिक रूप से यदि थोड़ा न किया जाय, तो उनकी जीवनी अपूर्ण रह जायगी। बाह्य जीवन का विवरण तथा आनुषङ्गिक अन्यान्य वृत्तान्त मूल जीवन-चरित ग्रन्थ में थोड़े बहुत हैं। विचारशील पाठक उसी से उनकी जीवन धारा पहिचान लेंगे। वर्तमान समय में नाना स्थानों में नाना साधक दिखाई देते हैं, पर वे सर्वत्यागी होकर एकान्तवासी और भोग-निःस्पृह होने पर भी, अत्पाधिक मात्रा में व्यावहारिक जगत् से परिचित रहते हैं। किन्तु सिद्धिमाता इस बीसवीं शताब्दी में तथा बनारस जैसे नगर में रहकर भी यथार्थ में उस प्राचीन देश और प्राचीन युग में ही मानों रहती थीं। वर्त्तमान सभ्यता के आडम्बर को वे एक प्रकार से नहीं पहचानती थीं, यह कहना ही पड़ता है। इस प्रकार की साधिका के जीवन में बाहरी घटनाओं की प्रचुरता क्या रह सकती है?

अतएव जिस महाप्रस्थान के पथ पर वे पूर्ण मनोयोग से अग्रसर हुई थीं, उस पथ का विवरण जान सकने पर उनका परिचय घनिष्ठरूप से पाना संभव है। स्थूल दृष्टि से प्रतीत हो सकता है कि माँ भक्ति-पथ की पथिक थीं। वास्तव में यह सत्य बात है, क्योंकि वे कहतीं थीं—साधना के पहले भी भक्ति, अन्त में भी भक्ति—भक्ति ही साधना का प्राण है। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि ज्ञान, महाज्ञान आदि को उन्होंने पूर्णरूप से हस्तगत किया था, एवं अन्तिम अवस्था में उनको परम-पद का साक्षात्कार हुआ था। वे जिस अद्वैतभूमि में पहुँची थीं, वह शास्त्रविचारजनित नहीं थी, वह थी अपनी सुदीर्घ कालव्यापी साधना का सुमधुर-फल।

जिस समय उनके शरीर का परिवर्तन आरम्भ हुआ, उस समय वह पहले स्पष्ट रूप से प्रकाश में नहीं आया। काया-भेदी वाणी काया के आश्रय से प्रकाशित होने के पूर्व आभास रूप से शरीर में बहुत कुछ स्फुट हो उठती। इसी अवस्था में मिनू अथवा प्रभात के साथ मेरा परिचय हुआ। संभवतः यह संवत् १९९० वि० की बात है। प्रभात अपने पिता-माता के साथ काशी आया था, एवं यथावकाश साधु-दर्शन और सत्प्रसंग का विवेचन करता था। उस समय मैं उसे साथ लेकर माँ के समीप गया, एवं माँ के साथ मैंने उसका परिचय करा दिया। माँ का संग मिलने से प्रभात के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया। प्रभात निरन्तर माँ का संग करने लगा एवं उसका प्रत्यक्ष-फल भी अपने जीवन में अनुभव करने लगा। वह श्रीअरविन्द का एक परम भक्त था, एवं उस समय उसकी चिन्तनधारा श्रीअरविन्द की अतिमानस-साधना का अनुसरण करके चलती थी। यद्यपि प्रभात विश्वविद्यालय का एक उपाधिधारी तथा विद्वान् और विद्यानुरागी व्यक्ति था, तथापि उसकी वास्तविक विशेषता आत्मानुसन्धान तथा भगवदुन्मुखता में दिखाई देती थी। उसके पास श्रीअरविन्द के अप्रकाशित बहुत से पत्रों का संग्रह था। इन पत्रों में से कई पत्र उस समय से बहुत पीछे मुद्रित होकर

प्रकाशित हुए हैं। उन पत्रों के आलोच्य विषय के सम्बन्ध में वह सदा ही विचार करता एवं दूसरों के साथ विचार-विनिमय करता था। माँ का सत्संग प्राप्त होने के बाद से मैं देखता कि उसके मन की गति दूसरी दिशा में संचालित होने लग गई। माँ के साथ घनिष्ठता के फल-स्वरूप माँ की ही अहेतुक-कृपा से वह माँ की कायाभेदी वाणी तथा काया से प्रकाशित प्रणव और पाद-पद्म आदि अपनी आँखों से देख सका। केवल यही नहीं, वाणी जैसे-जैसे प्रकाशित होती थी, वह यदि उपस्थित रहता (प्रायः सदा ही वह उपस्थित रहता था) तो उसे धैर्यपूर्वक यथासम्भव शुद्धरूप में कापी में प्रतिलिपि करके रख लेता था। साथ ही साथ वाणी के आविर्भाव का सटीक समय भी लिख लेता था। कुछ दिनों के बाद संगृहीत वाणी की एक प्रतिलिपि मुझे भी दे जाता था। इस तरह समग्र कायाभेदी वाणी आदि से अन्त तक मेरे पास संगृहीत हो गई थी। श्रीसिद्धमाता नाम की पुस्तक में जो कायाभेदी वाणी प्रकाशित हुई है, वह मूलतः मेरे संग्रह से ही ली गई है। कायाभेदी वाणी के साथ-साथ कभी-कभी भिन्न देवताओं के मन्त्र और गायत्री भी प्रकट हुई थी। उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ कर प्रभात मुझे नहीं देता था, अपने ही पास रख लेता था। वर्तमान पुस्तक में उनका भी प्रकाशन किया गया है।

साधनपथ अत्यन्त रहस्यमय है। एक ही गुरु से शक्ति प्राप्त करने पर भी भिन्न भिन्न साधक भीतर गुप्त रूप से स्थित असाधारण-तारतम्य के कारण विभिन्न पथों में संचालित होते हैं। श्रीसिद्धिमाता स्वयं जिस क्रम का अवलम्बन कर अग्रसर हुई थीं, वह तथा श्रीयुक्त प्रभात शक्ति-प्राप्ति के अनन्तर जिस क्रम को प्राप्त हुए थे, वह सर्वांश में एक-सा नहीं है। मूल में सादृश्य रहने पर भी शाखा-प्रशाखाओं में भेद दिखाई देता है। श्रीकृष्णा माँ सिद्धिमाताजी से शक्ति प्राप्त करने पर भी ठीक गुरु के अनुरूप पथ पर चली नहीं। उन्होंने जब जो अवस्था प्राप्त की है, उसका एक क्रमबद्ध विवरण स्वयं ही अपनी 'कणिका माला' पुस्तक में लिखा है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। इसका एकमात्र कारण है—प्रत्येक साधक का अपना-अपना व्यक्तिगत संस्कार और प्रतिभा।

सिद्धिमाँ वास्तव में भक्त थीं, योगी नहीं। वे बाल्यावस्था से ही अपने नैसर्गिक भक्तिभाव से सिद्ध थीं। देव-देवी के दर्शन उनके सहज संस्कार के फल हैं। जो अलौकिक उत्कर्ष उन्हें उत्तर जीवन में प्राप्त हुआ था, उसका एकमात्र मूल कारण उनका स्वाभाविक वैराग्य और सरल भक्ति है। उनकी दीक्षा कुलक्रमागत नियम के अनुसार ही हुई थी, किन्तु उस दीक्षा से वे जाग्रत् न हो सकीं। वह एक लौकिक प्रथा का पालन-मात्र हुआ था। क्योंकि उनके जीवन का वास्तविक महत्त्व, जब-तक उनकी भक्ति के विकास से भगवान् की विशिष्ट कृपा प्राप्त नहीं हुई, तब-तक नहीं हुआ। उन्होंने कभी भी योगाभ्यास नहीं किया, साधु-संग भी नहीं किया। काशी आने के बाद वे अन्यान्य काशीवासी भक्तों के तुल्य नियम से गंगास्नान और काशीस्थ देव-देवी दर्शन करती थीं, एवं शेष समय में एकान्त में भगवद्भजन करती थीं। उनके जीवन में किसी विषय में आडम्बर नहीं रहा। इसीलिए दिन पर दिन अद्भुत निष्ठा

और धैर्य से वे जो भजन किये जाती थीं, एक समय उसी के प्रभाव से उनका जीवन ऊषर मरुभूमि से सस्य-श्यामल, स्निग्ध और सरल-क्षेत्र के रूप में बदल गया। मैंने उनके मुँह से सुना है, जिस समय वे भिन्न-भिन्न मन्दिरों में यात्रा करती थीं, उस समय साधना के अन्तस्तर में प्रवेश नहीं कर सकती थीं। बाहरी दृष्टि से भक्ति की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप देवदेवियों का आविर्भाव एवं उनकी बहुत सी लीला-क्रीडाएँ अवश्य ही होती थीं। किन्तु यह केवल बाहरी व्यापार था। इससे वे वास्तविक आत्मज्ञान का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकीं। इसके अनन्तर जब देह-तत्त्व जानने के कारण देह में उन्होंने प्रवेश प्राप्त किया अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति के जागरण के बाद जब वे देह में चक्र के बाद चक्र का भेद कर आगे बढ़ने लगीं, तभी से उनकी वास्तविक उन्नति का पथ खुल गया। उनकी साधना का क्रमिक इतिहास का विवेचन करते समय इस विषय में विशेष रूप से विचार किया जायगा।

मनुष्य देहधारी प्रत्येक जीव के मूलाधार-चक्र में कुण्डलिनी-शक्ति सोयी रहती है। इस शक्ति को जगाये बिना साधन-भजन जो भी कुछ किया जाय, उसका अल्पाधिक मात्रा में बाहरी व्यापार में ही, पर्यवसान होता है। साधना का उद्देश्य मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में अथवा अन्यान्य ऊपर के लोकों में आरोहण कर वहाँ के उपभोग ऐश्वर्य और आनन्द का सम्भोग करना नहीं है, क्योंकि उस तरह का भोग पुण्य-कर्मों के प्रभाव से जीव को साधना के बिना ही प्राप्त हो सकता है। वह अनुष्ठित कर्मों का फलभोग-मात्र है, वास्तविक साधना का फल नहीं है। जिस साधना से जीव मोहनिद्रा से जाग-कर अपने शिवत्व का अनुभव करते हुए पूर्ण-तत्त्व की ओर अग्रसर नहीं हो सकता, वह वास्तविक साधना नहीं है। इसलिए कुण्डलिनी का जागरण होने पर ही, वास्तविक साधना का सूत्रपात होता है। सिद्धिमाँ को अपने जीवन में गहराई के साथ इस सत्य की उपलब्धि हुई थी। जीव का आत्मा शिव-स्वरूप है, मोह और अज्ञान से आच्छन्न होकर वह मूच्छित सा रहता है। यह शिव रूपी आत्मा व्योम-तत्त्व में अर्थात् विशुद्ध-चक्र में शव-रूप से स्थित रहता है। यह गहरी नींद है। इस सुप्त आत्मा को अर्थात् शवरूपी शिव को जगाये बिना, आत्मज्ञान के पथ पर अग्रसर होना कठिन ही नहीं; असंभव है। किन्तु शक्ति के बिना इस सुप्त-शिव को जगाने का दूसरा उपाय नहीं है। शक्ति स्वयं निद्रा से आक्रान्त होकर आधार-चक्र में जड-पिण्ड के तुल्य पड़ी है। इसलिए साधक का सर्वप्रधान और सर्वप्रथम कर्तव्य है—इस सुप्त शक्ति को जाग्रत् कर उसकी सहायता से शवरूपी शिव को प्रबुद्ध करना। मूलाधार से विशुद्ध-चक्र तक पाँच चक्र पाञ्चभौतिक तत्त्वों के केन्द्र हैं। शक्ति व्यापक भाव से सर्वत्र ही गुप्त रहती है। शक्ति यद्यपि एक और अभिन्न है, तथापि विभिन्न चक्रों में उसकी स्थिति पृथक्-पृथक् है। मूलाधार-चक्र में यदि शक्ति जाग्रत् हो, तो उसके प्रभाव से स्वाधिष्ठान-चक्र में स्थित शक्ति जाग्रत् होती है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम चक्र की शक्ति का जागरण भी समझना चाहिये। सारांश यह है कि एक ही शक्ति जाग्रत् होकर जैसे-जैसे सुषुम्ना-मार्ग में ऊपर को उठती रहती है, वैसे-वैसे उसका जागरण क्रमशः अधिक उज्वल और सुस्पष्ट होता है; एवं परमावस्था में शक्ति के पूर्ण जागरण-काल में

पाँचों चक्र मुक्त हो जाते हैं। तब कहीं पर भी लेशमात्र भी जडता का आभास नहीं रहता है। इस अवस्था में अर्थात् आकाश-तत्त्व की शक्ति का पूर्ण जागरण होने से शवरूपी शिव जाग्रत् होते हैं, आत्मा की अनादि-निद्रा टूट जाती है। उस समय शिव-शक्ति दोनों ही जाग्रत् होने से कोई किसी को भी छोड़कर रह नहीं सकता अर्थात् परस्पर के आकर्षण से आकृष्ट होकर युगलरूप में सम्मिलित होने के लिए वे दोनों ऊपर को उठते हैं। आज्ञा-चक्र में, भ्रूमध्य-स्थल में, शिव और शक्ति का यह सम्मिलन सम्पन्न होता है।

सम्मिलन होने पर भी इस मिलन में अपूर्णता रहती है, क्योंकि यह खण्ड-मिलन है; महामिलन नहीं है। आज्ञाचक्र से सहस्रार तक महामिलन का पथ बतलाया गया है। जब-तक खण्ड-मिलन महामिलन में परिणत नहीं होता, तब-तक शुद्ध 'अहम्' प्राप्त नहीं होता। आज्ञाचक्र में शिव और शक्ति के मिलन से जिस अहंभाव का उन्मेष होता है, वह खण्ड 'अहम्' है; इसलिए उसे 'शुद्ध-अहम्' नहीं कहा जा सकता। शुद्ध-अहम् ही अखण्ड-अहम् है। उसी एक अहम् में असंख्य एवं अनन्त खण्ड-अहम् एक हो जाते हैं। इस एक होने में एक गंभीर रहस्य है।

चिदाकाश सहस्रार के ही अन्तर्गत है। इस आकाश में अन्दर के सूर्य और बाहर के सूर्य परस्पर मिल कर अभिन्नरूप से प्रकाशित होते हैं। महामिलन के पूर्णरूप से सिद्ध होने के पूर्व आत्म-दर्शन होता है एवं महामिलन के बाद विशुद्ध अहम् प्रतिष्ठित होता है। अतएव आत्मदर्शन, महामिलन और विशुद्ध-अहम् में स्थिति से ये तीनों उपलब्धियाँ क्रम के अनुसार होती हैं। यदि कोई साधक आत्मदर्शन के बाद देह-त्याग करता है, तो वह शिवलोक में प्रवेश पाता है; किन्तु महामिलन-तक हस्तगत करके देह-त्याग करने पर शिवत्व-प्राप्ति अवश्य होती है। महामिलन के अनन्तर शुद्ध अहम् को प्राप्त कर देह-त्याग करने पर वैकुण्ठ-लोक में गति होती है। यह अवस्था अत्यन्त अद्‌भुत है, क्योंकि 'विशुद्ध-अहम्' ही मूल 'अहम्' है; यह एक और अखण्ड है। स्पष्ट ही दिखाई देता है कि इस 'अहम्' में केवल निम्नस्तर के देवता ही नहीं, उच्चस्तर के ब्रह्मादि सब देवता; यहाँ तक कि सारा जगत् बाहर निकलता है, एवं फिर सारा विश्व उस 'अहम्' में प्रविष्ट होकर लीन हो जाता है। 'अहम्' जैसे था, वैसा ही रहता है; उसका लय नहीं होता। यह साकार अवस्था—एक प्रकार से साकार-सत्ता की चरम-स्थिति है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् नित्य-लीला तभी तक रहती है। इसके अनन्तर फिर लीला नहीं रहती। लीला उस समय ब्रह्म में लीन हो जाती है। उस समय एकमात्र ब्रह्ममय तथा उनके साथ अभिन्नरूप में विराजमान ब्रह्ममयी विद्यमान रहती है, और रहता है—एक विशाल अहम्। साकार और निराकार के बीच में यह विशाल 'अहम्' साक्षि-स्वरूप में विद्यमान रहता है। इसकी परमावस्था शुद्ध ब्रह्म है। उस समय ब्रह्ममयी भी ब्रह्मसत्ता में अभिन्न हो जाती है। इस अवस्था में भी 'अहम्' रहता है, यह कहना अनावश्यक है। ब्रह्मावस्था-प्राप्त करने के बाद यदि किसी साधक का शरीर छूट जाय तो ऐसी स्थिति में वह साधक मृत्यु के बाद वैकुंठ-धाम में न जाकर, एकदम सीधे

गोलोक-धाम में प्रवेश पाता है। स्थूल-देह में ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए बिना गोलोक में प्रवेश पाने का अधिकार नहीं होता।

इस ब्रह्मभाव में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं। पहले जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह शान्त-ब्रह्म तथा ज्योतिःस्वरूप है। इसके अनन्तर पूर्णब्रह्म का उदय होता है। पूर्णब्रह्म की परावस्था परब्रह्म है, ये नील-ज्योति या कृष्ण-तेज द्वारा उपलक्षित हैं। यह कहना निरर्थक है कि जागतिक श्रीकृष्ण परब्रह्म से अभिन्न हैं। यहीं तक एक तरह से देह की सीमा है। इसके उपरान्त महाशून्य का उदय होता है। दिगन्तव्यापी महाशून्य में स्थिति के समय साधक अपने पूर्व-पूर्व जन्म के सब कर्मों का प्रत्यक्ष-दर्शन कर सकता है। उस अवस्था में उसके सब कर्म-संस्कार शिथिल होकर उसे छोड़ देते हैं। ब्रह्म-ज्ञान आरम्भ होने के साथ ही साथ कर्मक्षय होना आरम्भ होता है। महाशून्य में कर्म प्रायः पूर्णरूप से क्षीण हो जाते हैं, परन्तु कर्म का बीज उस समय भी रहता है। महाशून्य के अनन्तर परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में ब्रह्माग्नि का उदय होने पर कर्म-बीज जल जाते हैं, तब कर्म एकदम शान्त हो जाते हैं तथा माया की भी समाप्ति हो जाती है। परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में पराभक्ति, परम-ज्ञान आदि सब एक साथ मिल जाते हैं, एवं भरपूर होकर उमड़ पड़ते हैं। इस अवस्था में आत्मा को सिद्धि प्राप्त होती है। उस समय अर्थात् ब्रह्माग्नि में कर्मबीजों के जल जाने से ज्ञान-भक्ति की पूर्णता सिद्ध होने पर महाशक्ति अवतीर्ण होती है। जब तक कर्मबीज नष्ट नहीं होते और सब कर्म साधना और ज्ञान के प्रभाव से शिथिल होकर छूट नहीं जाते, तब-तक महाशक्ति का अवतार नहीं होता। महाशक्ति का अवतार होने से आत्मा ब्रह्मत्व प्राप्त कर सिद्ध हो जाती है। तब सिद्ध आत्मा को परम-पद के दर्शन प्राप्त होते हैं और उसके वास्तव ज्ञानचक्षु का उन्मीलन होता है। ब्रह्म से लेकर परिपूर्ण-ब्रह्म तक जो ज्ञान प्राप्त होता है, माँ कहती हैं, वह भी आभास-रूप ज्ञान है। उसमें समूचे चराचर का सन्धान भले ही हो, पर है वह आभास। माँ कहती थीं, शिव, नारायण, ब्रह्ममयी, दुर्गा आदि इसी प्रस्तुत ज्ञान-चक्षु के उपासक हैं, पर इनकी उसमें स्थिति नहीं है। क्योंकि ये सब जगत् के शासन कार्य में विभिन्न अधिकार-पदों पर अधिष्ठित हैं। इसलिए ये पूर्ण स्थान में यातायात कर सकने पर भी, स्थिति-हीन हैं। साधारण देवताओं[१] को इस ज्ञान का पता भी नहीं लगता, उसमें स्थिति पाना तो दूर की बात है।

माँ कहती थीं, साधना का पथ अत्यन्त विशाल है। आत्मदर्शन, नित्यलीला, महामिलन, मिलन-मिश्रण तथा ब्रह्म-लाभ होने पर भी साधना का अन्त नहीं होता। महाशून्य का भेदन कर परिपूर्ण ब्रह्मतत्त्व में स्थिति प्राप्त हुए बिना आत्मा को सिद्धि प्राप्त

---

१. शिव, विष्णु आदि श्रेष्ठ देवताओं के अन्तर्गत हैं। निम्न-स्तर के देवता ब्रह्म में प्रवेश नहीं कर सकते। माँ कहती थीं, उच्च स्तरों के सब देवता एक बार ब्रह्म में प्रविष्ट होते हैं, फिर वहाँ से बाहर निकलते हैं। प्रविष्ट होने के बाद एकमात्र ब्रह्म ही रहते हैं, भिन्न-भिन्न देवताओं के चिह्न उस समय दिखाई नहीं देते। किन्तु बाहर निकलने के बाद भी वह ब्रह्म-ज्योति रहती है। वहीं पर उस ज्योति में भिन्न-भिन्न देवताओं के भिन्न-भिन्न आकार दिखाई देते हैं। ये आकार जागतिक होने से बाह्य हैं, और ज्योति-ब्रह्म है।

नहीं होती । साधना अवस्था में पेतन का भय अवश्य ही रहता है । परिपूर्ण ब्रह्मावस्था के पश्चात् पतन की आशंका नहीं रहती, इसलिए वही अभय-पद है ।

इस प्रसंग में गुरु-तत्त्व के सम्बन्ध में माँ की कई बातें विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं । माँ कहती थीं—"साधक की अवस्था के तारतम्य के अनुसार गुरु मूलतः एक होने पर भी, क्रिया-भेद से चार प्रकारों में प्रकट होते हैं ।" तदनुसार इन चार प्रकार के गुरुओं के नाम गुरु, विश्व-गुरु, गुरु-ब्रह्म और सद्-गुरु रखे जा सकते हैं । जो शिष्य की कुण्डलिनी जगाकर उसे चक्र-भेद करने में सहायता करते हैं, वे गुरु हैं । जिनमें कुण्डलिनी जगाने की शक्ति न हो, उन्हें वे वास्तविक गुरु के रूप में स्वीकार नहीं करती थीं । षट्चक-भेदन के उपरान्त जिनकी कृपा से विश्वभेद हो सकता हो, वे विश्वगुरु हैं । षट्-चक्र-भेदन के बाद तथा ब्रह्म-ज्ञान का उदय होने से पहले तक विश्व-गुरु का अधिकार जानना चाहिये । इसके अनन्तर ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, वह विश्व की अतीत अवस्था है । जिनके कृपा-कटाक्षपात से अशेष-विशेष सहायता द्वारा ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होता है, वे ब्रह्म-गुरु के नाम से वर्णित हैं । माँ कहती थीं, ये भी सद्‌गुरु नहीं हैं । जिनकी महाकृपा से जीव को आत्म-साक्षात्कार होता है, वे ही सद्‌गुरु हैं । सद्‌गुरु का स्थान ब्रह्मगुरु से भी ऊपर है । परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में स्थिति होने के अनन्तर यथार्थ आत्मसाक्षात्कार होता है, उससे पहले नहीं । पहले जो आत्म-दर्शन होता है, वह वस्तुत. आभासमात्र है ।

ज्ञान अथवा महाज्ञान के स्वरूप-निर्णय के सिलसिले में मैंने अक्सर माँ के साथ विचार किया है । वे कहती थीं, ज्ञान तब-तक पूर्ण रूप से उज्ज्वल नहीं होता जब-तक चैतन्य का विकास नहीं होता । ज्ञान और चैतन्य यद्यपि स्वरूपतः अभिन्न है, फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है । चेतना अत्यन्त गूढ़ वस्तु है । ब्रह्मज्ञान से लेकर महाशून्य के साक्षात्कार के पहले तक जो ज्ञान है, उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उस समय भी कर्मबीज अथवा मूल-अविद्या नष्ट नहीं होती । महाशून्य का भेदन करने के अनन्तर परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में जिस ज्ञान का आविर्भाव होता है, वह बहुत ऊँचे स्तर का ज्ञान है । वह ज्ञान अग्नि-स्वरुप होने के कारण मूल-अज्ञान को जला देता है । अविद्या-निवृत्ति के बाद ब्रह्माग्नि के शान्त होने पर चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है । उस समय का ज्ञान ज्ञानाग्नि से भी बढ़कर है । यही उज्ज्वल महाज्ञान है । चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर ज्ञान का वास्तविक रूप निखर उठता है एवं स्वरूपानन्द जाग जाता है । यद्यपि ज्ञान और चैतन्य एक ही वस्तु हैं, तथापि पूर्णता के अनुसार माँ कहती थीं—"ज्ञान भी चाहिये और चैतन्य भी चाहिये ।" चैतन्यहीन-ज्ञान की वे श्रेष्ठ ज्ञान के रूप में गणना नहीं करती थीं ।

ज्ञान और चैतन्य का भेद न होने पर भी जो कुछ भेद है, वह माँ की पूर्वोक्त बाणी से ही स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है । शिव और शक्ति जैसे अभिन्न वस्तु होने पर भी, शक्तिहीन-शिव शिव नहीं हैं, शव-रूप है; यही शास्त्रों का सिद्धान्त है । उसी तरह माँ कहती थीं—"ज्ञान और चैतन्य के अभिन्न होने पर भी, चेतनाहीन ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है ।" महाशक्ति के अवतरण के पहले जो ज्ञान उपलब्ध होता है,

वही चेतनाहीन-ज्ञान है। महाशक्ति के अवतरण के अनन्तर चैतन्य का उन्मेष होने से ज्ञान चैतन्य के साथ अभिन्न रूप से उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में ब्रह्माग्नि की ज्वाला शेष कर्मों को जलाकर भी, शान्त नहीं होती; बल्कि और अधिक चमक उठती है। यह जो विशेष चमकना है, यही महाशक्ति के अवतरण का चिह्न है। किन्तु इस अवतरण के साथ-साथ जो परिपूर्ण आनन्द का विकास होता है, उसमें कोई उल्लास नहीं होता। माँ कहती थीं—"मैंने सोचा कि इतने विराट् आनन्द को धारण कैसे करूँगी? किन्तु अब देखती हूँ कि उससे भी विचलित-भाव प्राप्त नहीं होता। आनन्द से होने वाली कोई चञ्चलता प्राप्त नहीं होती। एक उदासीनता और स्थिरता अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रहती है।"

वास्तविक निर्वाण परमपद में स्थिति का नामान्तर है। इसके बाद निराकार-स्थिति है। अनन्तर एक विकास की अवस्था है, उसे माँ परामुक्ति कहती थीं। निर्वाण निराकार है, उसकी पूर्वावस्था में सभी कुछ साकार रहता है। परन्तु परामुक्ति होने पर ज्ञात होता है कि निराकार और साकार में कोई विरोध नहीं है। जो निराकार है, वही अनन्त साकार रूपों में प्रकाशमान है; कोई भी विरोध नहीं है। पूर्वोक्त विकास के हस्तगत होने तक निराकार और साकार अलग-अलग रहते हैं। दोनों की समता प्रतीत नहीं होती। परमपद में स्थिति जब-तक नहीं होती, तब-तक विकास अवस्था प्राप्त नहीं होती, एवं जब-तक विकास प्राप्त नहीं होता; तब-तक परम-साम्य की प्राप्ति नहीं होती।

माँ ने एक दिन कहा था—"जगत् अब नहीं है, किसी ओर मुझे कुछ नहीं दीखता—उस एक के अतिरिक्त। जिधर ही ताकती हूँ, देखती हूँ—वही है। घर, द्वार, व्यक्ति कुछ भी नहीं देखती हूँ। जगत् सचमुच नहीं है—एक के सिवा और कुछ भासता नहीं, किन्तु वक्रदृष्टि करने पर सब दीख पड़ते हैं। असली बात यह है कि सभी हैं, जगत् है; मैं ही जगत् का त्याग कर उठी हूँ और तुम्हारे साथ बात भी कर रही हूँ। देह रहने पर यह आवश्यक है, इसीलिए होता है। इसलिए कहना पड़ता है "जगत् के अतीत होकर भी जगत् में रहना।"

प्रभात का वृत्तान्त पहले ही लिख चुका हूँ। उसने माता जी का विशेष अनुग्रह प्राप्त किया था। उसके फलस्वरूप साधना में उसने तेजी से उन्नति का मार्ग तय किया था। केवल माँ का अनुग्रह पाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ, कठोर परिश्रम के साथ उसने उस कृपा की योग्यता उपार्जन करने का प्रयत्न भी किया था, और उसका बहुत अंशों उपार्जन किया भी था, यह उसके जीवन की परवर्ती धारा से ज्ञात हो सकता है। काशीधाम में उत्तर-वाहिनी गंगा जी के तटपर पांडेघाट (नामक स्थान) में गुप्त कोठरी में वह किवाड़ बन्द कर रात्रिदिन बैठा रहता था। केवल आहार, निद्रा आदि अत्यन्त आवश्यक दैहिक कार्यों के लिए ही कुछ समय वह बाहर रहता था। दीर्घकाल की साधना से क्रमशः अनेक अनुभूतियाँ उसे प्राप्त हुई थीं। यहाँ तक कि उसके जीवन की सारी धारा परिवर्तित हो गई थी। वह

कभी कभी मेरे मकान में आकर मुझसे भेंट करता एवं कुछ-देर एकान्त में बैठकर अपनी व्यक्तिगत उपलब्धियों के विषय में चर्चा करता था। इस तरह उसकी क्रम-विकास की धारा को मैं जान सका था। उसका संक्षिप्त परिचय सर्वसाधारण की समझ में आने योग्य भाषा में यथासम्भव सरल करके नीचे दिया गया है—

मूलाधार-चक्र में ही कुण्डलिनी का जागरण आरम्भ होता है। आकाश-तत्त्व के केन्द्र विशुद्ध-चक्र में वह यथेष्ट पूर्ण होता है। कुण्डलिनी अपने दिव्य-स्वरूप में अपनी देह से ब्रह्ममार्ग को बन्द कर सोई हुई है। यदि वह मार्ग न छोड़ दे तो उस मार्ग में प्रवेश पाने का उपाय नहीं। किन्तु कुण्डलिनी को जगाये विना वह मा.. छोड़ दे, इसकी संभावना नहीं है। इस लिये सबसे पहले कुण्डलिनी को जगाने की चेष्टा करनी चाहिये। आकाश-तत्त्व में जैसे शक्ति का जागरण पर्याप्त होता है, वैसे ही वहीं पर आत्मा का जागरण आरम्भ होता है। आत्मा के सात भाव होते हैं। ये सब आत्मा की क्रमिक जागरणावस्था के सूचक हैं। इन सातों में जो अन्तिम भाव है, उसका नाम ज्ञान-आत्मा है। आत्मा जाग्रत् होने के साथ ही साथ शिवरूप में प्रकाशित होता है। सर्वप्रथम केवल शिव का ही दर्शन होता है, पूर्वोक्त जाग्रत्-शक्ति के दर्शन नहीं होते। किन्तु उसके बाद शिव-शक्ति युगलरूप के दर्शन होते हैं। तब ज्ञात होता है कि शिव के बिना शक्ति नहीं और शक्ति के बिना शिव नहीं। इस युगलरूपदर्शन के साथ-साथ ऊपर से ज्योति के तुल्य एक वस्तु उतर आती है, उक्त युगलरूप-दर्शन के साथ ही साथ उस ज्योति का भी दर्शन होता है। क्रमशः वह ज्योति उज्ज्वल हो उठती है। साथ ही साथ शिव और शक्ति भी प्रकाश में आते हैं। धीरे-धीरे वह ज्योति मानो घनीभूत होकर साकारता को प्राप्त होती है। अन्त में वह साधक का आकार धारण कर लेती है। उस समय फिर शिव और शक्ति का आकार नहीं रहता। एक-मात्र अपना आकार ही विद्यमान रहता है। इसी का नाम आत्म-दर्शन है। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर, अपने शरीर का हिलना-डुलना या संचालन होने पर आत्मा का हिलना-डुलना या संचालन हो रहा है, ऐसा दीख पड़ता है। क्रिया एक ही रहती है, किन्तु प्रतीत होता है कि वह दो स्थानों में एक ही समय दृष्टिगोचर हो रही है। आज्ञा-चक्र में इस मिलन का आभास प्राप्त होता है। इसी की पूर्णता महामिलन है, जो सहस्रार में प्राप्त होता है। क्रमशः उस देह में, और आत्मा में, नाना प्रकार की लीलाएँ प्रकट हो उठती हैं। पहले ये सब लीलाएँ क्षणिक रूप से आविर्भूत होती हैं, आगे चलकर स्थायी हो जाती हैं। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती है, इसलिए इसका नित्यलीला के नाम से वर्णन किया जाता है। नित्य-लीला का केन्द्र वैकुण्ठ से लेकर गोलोक तक है। यह ब्रह्ममय होने पर भी वास्तव में ब्रह्म नहीं है। नित्यलीला के बाद ब्रह्मावस्था है। मिलन-मिश्रण होने से ही इस अवस्था का आरम्भ होता है, यह कहा जा सकता है। इस समय साधक के अन्तःकरण में 'मैं-तुम' भाव की निवृत्ति हो जाने से 'मैं-मैं' भाव की स्थिति होती है। तब आनन्द सत्ता जो नित्यलीला में प्रतिष्ठित है, वह चित्सत्ता के साथ योगयुक्त रहती है। उस समय चित् ही प्रधान है, एवं आनन्द उसके अन्तर्गत है। कभी कभी आनन्द अथवा लीला बाहर प्रकट होती है, देह की स्थिति रहने तक यही

स्वाभाविक है; क्योंकि देह रहने से चिद्ब्रह्म में स्थिति नहीं बनती है। किन्तु यदि देह में रहते ही, चित् को सत् से युक्त करने की कुशलता प्राप्त की जाय, जिसके प्रभाव से चित् सत् के अन्तर्गत रह सकती है; ऐसी स्थिति में देहान्त होने पर सद्-ब्रह्म में स्थिति हो सकती है। अन्यथा चिद्-ब्रह्म में स्थिति होने में कोई रुकावट नहीं होती, क्योंकि देह छूटने पर फिर आगे बढ़ने का कोई उपाय नहीं रहता। यह चित् में स्थिति भी लीला के अन्तर्गत है। इसके बाद की अवस्था लीलातीत है। इस अवस्था में पृथक् ध्वनि नहीं होती, अपने मुख से ही ध्वनि होती है, एवं स्वयं ही सुनी जाती है।

अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—(क) लीला से नीचे, (ख) लीला के अन्तर्गत। इनके दो ही अवान्तर भेद हैं—एक आनन्दप्रधान और दूसरा चित्प्रधान। चित्प्रधान अवस्था आनन्दप्रधान अवस्था से ऊँची है। इसी का नाम अन्तर्द्रष्टा है। (ग) जो द्रष्टा की अतीत अवस्था है, उसका नाम लीलातीत है। (घ) जो उससे भी परे है, उसका नाम लीलातीतातीत है। ये चार ही अवस्थाएँ ब्रह्म में हैं। ये पूर्णता की ही भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। लीलातीतातीत अवस्था अतिदुर्लभ है। लीलातीत द्रष्टा चित् और सत् के बीच की अवस्था है। इस अवस्था में चित्-भाव कभी नहीं रहता, एकमात्र सद्भाव ही रहता है। मगर कभी-कभी वह फूट उठता है। जो लीलातीतातीत-अवस्था है, वही प्रशान्त-सत्ता है, वह तरंगहीन अवस्था है। लीला के अन्तर्गत जो आनन्द-प्रधान स्थिति है, उसमें लीला-रस का आस्वादन होता है। उस असीम आनन्द की तरंगों से छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है। अनेक बड़े-बड़े भक्तों को वहीं स्थिति मिली है।

प्रभात ने जिस अवस्था को आत्म-दर्शन कहा है, उसकी प्राप्ति होने के बाद यदि देहान्त हो जाय, तो शिवत्व प्राप्त होता है। यह अवस्था निम्न स्तर की है। शिवत्व के भी अनेक विभिन्न प्रकार हैं, क्योंकि आत्म-दर्शन की परिपक्वता सब क्षेत्रों में एक-सी नहीं होती। सबसे निम्न शिवत्व जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त है, किन्तु चैतन्यहीन है। यह भी कृपा-राज्य के भीतर है। साधारण लोगों के लिए इस अवस्था को लाँघना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि कोई देहधारी जीव उस पथ का भेद करके जाते समय ईश्वर की कृपा से उस अचेतन-शिव को जान सकता है और अचैतन्य-अवस्था से जाग उठता है। संग मिलने पर बोध होता है, उत्तीर्ण होकर जाने में समर्थ होता है। इससे ऊपर की अवस्था में चैतन्य रहता है। पर उसमें भी अवान्तर भेद हैं। महामिलन तक सीमा की परिधि रहती है; उसके बाद कोई परिधि नहीं है।

पहले जो कहा गया है जिससे विदित हो जायगा कि माँ की अनुभूति के क्रम से प्रभात के अनुभूतिक्रम में किसी-किसी अंश में अन्तर है। इसी तरह श्रीकृष्णा माँ के अनुभूति-क्रम का अनुशीलन करने पर प्रतीत होगा कि उसमें भी किसी-किसी अंश में अन्तर है। प्रभात तथा कृष्णा-माँ दोनों ही सिद्धिमाता जी के समीप शक्ति प्राप्त कर कुण्डलिनी के जागरण की अनुभूति-पूर्वक साधन-पथ पर अग्रसर हुए थे। गुरु द्वारा दी गई शक्ति सुप्त-कुण्डलिनी को जगा देती है, तदनन्तर जिसकी जैसी प्रकृति होती है, तदनुरूप मार्ग में ही उसका विकास हो जाता है। इसलिए गुरु और शिष्य को सर्वांशतः एक ही अनुभूति-क्रम प्राप्त नहीं होता।

श्रीकृष्णा माँ की अनुभूति का विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि उन्हें कुण्डलिनी का जागरण होते ही आध्यात्मिक उन्नति में विकास का अनुभव हुआ था। गुरु-कृपा और अनुराग से नाभि-गुहा में सुप्त कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर क्रमशः ऊपर की ओर उठी थी। उसी अवस्था में उन्हें नाना प्रकार के देवी-देवताओं, महात्माओं एवं अन्यान्य दृश्यों के दर्शन हुए थे। तदुपरान्त अन्तर्दृष्टि खुलने पर सूर्य के साथ अपने संमिलन का उन्हें अनुभव हुआ था। उसके बाद मस्तक पर शिव और शक्ति का अधिष्ठान हुआ, तब क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते सहस्रार का भेदन करने के बाद उन्हें साक्षात्कार हुआ। तब गुरु-शिष्य का सम्बन्ध नहीं रहा, आत्मा का ज्योति के रूप में अनुभव हुआ, एवं उस अनुभव के क्रम से नील-ज्योतिस्वरूप से ले कर व्यापक ज्योति-स्वरूप तक अनुभव में आये। इसके बाद ऐसी एक अवस्था का उदय हुआ, जिसमें किसी प्रकार का दृश्य नहीं रहता, यहाँ तक कि ज्योति भी नहीं रहती। उस समय प्रकाश और अन्धकार नहीं रहते, सुख और दुःख का बोध नहीं रहता एवं स्तुति और निन्दा एक-सी प्रतीत होती हैं। उस समय महाचैतन्य का उदय होने पर निद्रा और जागरण एक ही तरह के प्रतीत होते हैं एवं वासना-कामना नहीं रहतीं। उस समय किसी प्रकार का कम्पन नहीं रहता एवं शान्ति और निवृत्ति पूर्ण रूप से विराजमान रहती हैं। अत्यन्त श्रुतिमधुर ॐकार का झंकार दिव्य-धाम के यात्रियों को आकुल कर डालता है। यहाँ तक का साधन-पथ अत्यन्त दुर्गम है।

महाशून्य के अनन्तर सत्य-जगत् का आरम्भ होता है। सत्य-राज्य में चलने का मार्ग पहले के साधन-पथ की अपेक्षा सुगम है। परिपूर्ण परम-पद का पता इस सत्य-राज्य में ही मिलता है। महाशून्य में ज्योति नहीं रहती है, यह कहा गया है। महाशून्य से पहले ज्योति है एवं महाशून्य के बाद भी ज्योति है। किन्तु दोनों ज्योतियाँ परस्पर भिन्न हैं। यह ज्योति भगवान् के चिन्मय-स्वरूप से अभिन्न है। यह महाकारण तथा विश्राम का परम स्थान है। जीव स्वधाम की खोज करते-करते यहाँ पहुँच कर ही शान्ति पाता है, यह अद्वैत-सत्य है। देह रहते-रहते यदि यह अवस्था यथार्थ रूप में न भी मिले, तो इसका आभास मिल जाता है। इसी का नाम मिलन-मिश्रण है। इस अवस्था में एक अखण्ड-ज्योति ही रहती है, किन्तु देह रहने तक वह केवल आभास रूप में ही रहती है। इसीलिए भीतर अखंड-ज्योति रहती है और बाहर भगवान् की महिमा और गौरव भी प्रकट होता है।

भ्रमरगुहा-भेद, लिङ्गशरीर-त्याग, बिन्दुरूप में परिणत अलिंगशरीर में स्थिति, बिन्दुशरीर-त्याग तथा तदनन्तर कारण-शरीरत्याग; यही इनकी साधना का क्रम है। भ्रमरगुहा से ही बिन्दु-सुधा का टपकना आरम्भ होता है। शुद्ध-ज्योति से आगे परम ज्योति में पहुँचकर साधना की समाप्ति हो जाती है। पहले जो सामने की दृष्टि थी, परम ज्योति में स्थिति होने पर, वही चारों दिशाओं में व्यापक दृष्टि के रूप में बदल जाती है। और बुद्धि शान्त होती है एवं महा इच्छा प्रकट होती है। महा इच्छा निर्विचार है, उसमें असम्भव भी सम्भव हो जाता है। जहाँ पर चित्त न हो और कार्य हो, वहीं पर महा इच्छा जाननी चाहिये, वह आनन्द से परे परा-शान्ति की अवस्था है। तब परम

पुरुष का साक्षात्कार होता है और मन का परिवर्तन तथा परा-मुक्ति प्राप्त होने से आत्म-समर्पण सिद्ध हो जाता है। जगत् ब्रह्ममय प्रतीत होता है, ऐश्वर्य का त्याग तथा पराशक्ति और माधुर्य का विकास होता है। मिलन-मिश्रण की पूर्णता इसी समय प्रकट होती है। देहस्थिति की अवस्था में शुद्ध मन, बुद्धि और श्वास परम ज्योति के साथ एकीभूत होकर रहते हैं। कभी-कभी थोड़ी देर के लिए परम-पद का प्रकाश होता है। देहान्त होने पर परम-पद में स्थिति प्राप्त होती है।[१]

माँ का परम लक्ष्य परम-पद ही था, यह हमें उनकी अन्त समय की वाणी से ज्ञात हुआ। किन्तु इस परम-पद के सम्बन्ध में सबकी धारणा निश्चित एक ही तरह की नहीं है। वैदिक युग में ऋषियों की धारणा थी कि विष्णु के दिव्य-पद का सूरि-जन दिव्य-चक्षु के तुल्य सदा दर्शन करते हैं। इस धारणा से प्रतीत होता है कि दिव्य सूरि-जन परम पद को निरन्तर अनिमेष-दृष्टि से सामने प्रकाशमान देखते थे। उसमें वे प्रवेश पाते थे, ऐसा कोई इङ्गित वेद-मन्त्र से मालूम नहीं होता, क्योंकि "सदा पश्यन्ति" इस वाक्यांश से अनवच्छिन्न दर्शन प्रतीत होता है, प्रवेश की प्रतीति नहीं होती। इसका कारण यह हो सकता है कि उसमें प्रविष्ट होने पर अपनी सत्ता लुप्त हो जाने की आशंका रहती है। प्राचीन वैष्णव, विशेषतः श्रीवैष्णव, परमपद की महिमा का वर्णन कर गये हैं। वे परमपद का अर्थ परव्योम समझते थे। रामानुजीय वैष्णवों के तुल्य परवर्ती वैष्णवाचार्यों ने भी परव्योम की महिमा का बखान किया है। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड भगवान् की माया, प्रकृति अथवा अविद्यारूप अंश में विद्यमान रहते हैं। यहीं तक त्रिगुणों की लीला और जडभाव का प्रभाव दिखाई देता है। इसके बाद विरजा-नदी अथवा कारण जल विराजमान है। उसके ऊपर परव्योम या चिन्मय आकाश है, जिसके भीतर भगवान् का नित्य धाम विराजमान है।

वेद में बहुत जगह पर-व्योम अथवा परम-व्योम शब्द का उल्लेख दिखाई देता है। वैसे ही विष्णु का परम-पद, अथवा केवल परम-पद या परम-धाम ऐसा निर्देश भी वेदों में और परवर्ती आर्ष-साहित्य में बहुत जगह देखा गया है। वैष्णवों के वैकुण्ठ आदि भगवद्धाम परव्योम के ही अन्तर्गत हैं। उसमें प्रवेश न होता हो, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि गोलोक, वैकुण्ठ, साकेत आदि सर्वत्र ही अन्तरंग भक्तों के प्रवेश की चर्चा पाई जाती है। गीता में 'विशते तदनन्तरम्' यहाँ पर प्रवेश की बात स्पष्ट ही है। गीता में अन्यत्र भी उल्लेख आया है कि उस परमधाम में पहुँचने पर, फिर वहाँ से कोई लौटता नहीं है। यह भी प्रवेश का समर्थक ही वचन है। अतएव पूर्वोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि परमपद अथवा परमव्योम में प्रविष्ट होना और दूर से उसका निर्निमेष-दृष्टि से निरन्तर निरीक्षण करना दोनों की ही प्राचीन काल में प्रसिद्धि थी। अवश्य ही अधिकार के भेद तथा अपनी-अपनी विभिन्न रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न साधक भिन्न-भिन्न स्थिति को प्राप्त होते थे।

माँ ने बहुत बार परमपद का परमव्योम शब्द से निर्देश किया था, ऐसा मुझे

---

१. श्रीकृष्ण माँ का अनुभूतिक्रम उनकी रची हुई तथा प्रकाशित 'कणिका-माला' नाम की पुस्तक में दिखलाया गया है।

स्मरण है। पर उसमें प्रविष्ट होना अत्यन्त दुरूह है, ऐसा वह कहती थीं। देह रहते परमपद में यथार्थतः प्रवेश नहीं होता—परमपद का दर्शन होता है एवं परमपद का स्पर्श होता है, किन्तु उसमें यथार्थ प्रवेश होता नहीं, यही उनका मत था। एकमात्र शुकदेव के सिवा और किसी ने उसमें प्रवेश किया है, ऐसी चर्चा मैंने उसके निकट नहीं सुनी।

महाशून्य के भेदन के सम्बन्ध में माँ कहती थीं कि जब-तक महाशून्य-भेद नहीं होता, तब-तक वास्तविक सत्यस्वरूप में स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। इस सम्बन्ध में अन्यान्य महापुरुषों का मत भी लगभग ऐसा ही है। सन्तगणों ने शून्य और महाशून्य दोनों का ही भेदन आवश्यक है, ऐसा कहा है। शून्य का भेद किये बिना पिण्ड द्वारा ब्रह्माण्ड में भ्रमण नहीं किया जा सकता एवं महाशून्य-भेद किये बिना ब्रह्माण्ड से विशुद्ध चैतन्यमय सत्य-राज्य में प्रवेश नहीं किया जा सकता। महा-शून्य-भेद के बाद भ्रमर-गुहा को लाँघ कर सत्यलोक में स्थिति होती है। इसका सन्तों में प्रायः सभी ने अनुभव किया था। माँ के मुँह से मैंने भ्रमरगुहा की बात सुनी है, ऐसा मुझे स्मरण नहीं होता। किन्तु श्रीकृष्णा माँ को महाशून्य के बाद भ्रमर-गुहा का तथा तदुपरान्त सत्यस्वरूप आत्मा का अनुभव प्राप्त हुआ था। सन्त पुरुष कहते हैं—ब्रह्माण्ड की चरम सीमा तक मन और जड़ता का आभास दिखाई देता है। महाशून्य का अतिक्रमण करने पर दोनों से ही छुटकारा मिल जाता है। चैतन्यमय सत्य-राज्य में मन और जड नहीं रहते अथवा सदा के लिए निष्क्रिय हो जाते हैं। मन का अतिक्रम हुए बिना कल्पनाओं के जाल से छुटकारा पाने का और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि क्लिष्ट-मन की विकल्प-राशि ही इन्द्रजाल के रूप में शुद्ध आत्मा को घेर कर, पाशबद्ध कर रखती है।

माँ ने ब्रह्मावस्था-प्राप्ति के पूर्व और महामिलन के अनन्तर मिलन-मिश्रण अवस्था मे लीलादर्शन किया था। ब्रह्मावस्था के अनन्तर फिर लीला का आस्वादन उन्हें नहीं हुआ। उस समय एकमात्र ब्रह्मसत्ता के ही गम्भीर और गम्भीरतर स्तरों में वे क्रमशः प्रविष्ट हुई थीं। उसे एक प्रकार से लीलातीत-अवस्था कहना ही पड़ेगा। किन्तु वैष्णव आचार्य जिस नित्य-लीला का वर्णन करते हैं, उसके साथ माँ के द्वारा वर्णित लीला का किसी-किसी अंश में भेद है। लीला स्वरूपशक्ति का खेल है। उसमें सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी—इन तीन शक्तियों का ही व्यापार रहता है। ह्लादिनी-शक्ति का सारांश ही महाभाव है। भक्ति आदि इस ह्लादिनी-शक्ति की ही विभिन्न वृत्तियों के नाम हैं। भगवत्स्वरूप और उनकी स्वरूप-शक्ति में परस्पर क्रीड़ा चलती है, उससे शक्ति के आश्रय और विषय दोनों स्थानों में रसास्वादन होता है। स्वरूप-शक्ति के—विशेषतः ह्लादिनी शक्ति के आश्रय भगवान् हैं, एवं यदि वह शक्ति अंश रूप से निक्षिप्त होती है, तो उसके द्वारा अनुगृहीत जीव उसका आश्रय होता है। तब उसके विषय होते हैं—स्वयं भगवान्। इस प्रकार भक्त और भगवान् अनादि-काल से असंख्य प्रकार के रसास्वादनों की क्रीडा कर रहे है। इस लीला से भगवान् रस का आस्वादन करते हैं और भक्तों को कराते हैं एवं भक्त भी रसास्वादन करते हैं और भगवान् को कराते हैं। यह रसा-स्वादन-प्रवाह अनादि-काल से आरम्भ होकर अनन्त-काल तक चलता रहता है। इसके

आरम्भ और अन्त का कुछ भी निर्देश नहीं किया जा सकता। इससे ऊपर ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिसे इस लीला का अतिक्रमण कर जीव अपने पुरुषार्थ के रूप में पा सके। नित्य चक्कर काटनेवाली इस लीला का जो मध्यबिन्दु है, वह लीलातीत कहा जा सकता है; किन्तु वास्तव में वह भी नित्यलीला के ही अन्तर्गत है। इस तरह विचार करने पर समझ में आ सकेगा कि माँ के द्वारा वर्णित मिल-मिश्रण अवस्था इससे बहुत कुछ भिन्न है। मिलमिश्रण-अवस्था के अनन्तर बहुत कुछ आगे बढ़ने पर ब्रह्मस्वरूप में स्थिति होती है; किन्तु वैष्णव-लीलारसिक कहते हैं कि कूटस्थ अथवा अक्षर-ब्रह्म लीलामय पुरुषोत्तम का धाममात्र है। अर्थात् ब्रह्मावस्था के भीतर से स्वरूपशक्तिसम्पन्न भगवत् अवस्था में पहुँचे बिना नित्यलीला में प्रवेश नहीं किया जा सकता।

पूर्वोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि अनन्त जाग्रत्-शक्तिसमुदाय का आश्रय-तत्त्व और सुप्त अन्तर्लीन शक्तितत्त्व—ये दोनों ही यद्यपि एक ही महातत्त्व की केवल विभिन्न अवस्थाएँ हैं, तथापि इस अवस्थागत-भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। माँ के द्वारा अनुभूत साधनधारा में शक्तिक्रिया की परावस्था में ब्रह्मभाव का उदय दिखाई देता है, किन्तु वैष्णव आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट विशिष्ट साधनधारा में अव्यक्त-शक्ति ब्रह्मावस्था से अभिव्यक्त-शक्ति अनन्तलीलामय भगवदवस्था में वैशिष्ट्य है। इस सम्बन्ध में अधिक विचार अनावश्यक है। फिर भी यह ध्यान देना आवश्यक है कि माँ ब्रह्मावस्था को परम लक्ष्य के रूप में ग्रहण नहीं करती थीं। उनकी दृष्टि में परम लक्ष्य था—परम-पद, जो महाशून्य का अतिक्रमण करने के अनन्तर परिपूर्ण ब्रह्मावस्था में स्थित होकर साक्षात्कार करने से प्राप्त हुआ था।

और एक विषय मुझे विशेष ध्यान देने योग्य प्रतीत होता है, वह यह कि माँ ने ज्ञान और चैतन्य में अत्यन्त सूक्ष्म-भेद दरसाया है। यद्यपि उन्होंने कई बार दृढ़ता-पूर्वक कहा है कि दोनों के स्वरूप में कोई भेद नहीं है, अर्थात् स्वरूपतः ज्ञान और चैतन्य एक ही वस्तु हैं, तथापि अभिव्यक्ति की दृष्टि से दोनों में किञ्चित्-भेद भी उन्होंने स्वीकार किया है। यदि ऐसा न होता तो वे चैतन्यहीन-ज्ञान को हेय न समझतीं। यहाँ पर प्राचीन अद्वैत-आगम में शिव-शक्ति के युगल स्वरूप की बात का स्मरण होता है। शिव और शक्ति दोनों ही चित्स्वरूप हैं, तथापि दोनों में कुछ अन्तर न हो, सो बात भी नहीं है। क्योंकि शिव विशुद्ध प्रकाशमय हैं—उनमें स्वातन्त्र्य नहीं है, उल्लास नहीं है, अहंभाव की भावना नहीं है अर्थात् इस अनन्त प्रकाश में अहंभाव का उदय नहीं होता; यह शक्तिरहित शिवस्वरूप है। किन्तु वह एक तरह से शव की अवस्था है; क्योंकि वहाँ प्रकाश शक्तिहीन होने से स्वयंप्रकाश न होने के कारण अप्रकाशस्वरूप है। विमर्श अथवा शक्ति का संसर्ग हुए बिना प्रकाश अप्रकाश के तुल्य हो जाता है। माँ जिसको चैतन्य कहती थीं एवं ज्ञान के साथ जिसका स्फुरण होने पर आनन्द अथवा उल्लास व्यक्त हो उठता है, वही महाशक्ति या विमर्श की क्रिया है। इससे ज्ञात होता है कि माँ की चरम-अनुभूति बहुत अंशों में अद्वैत-शैवागम के सिद्धान्त के अनुरूप है। माँ कहती थीं कि चरम अवस्था में अहम्, ज्योति और अनियम; ये तीनों अभिन्न रूप से रहते हैं। यहाँ पर ज्योति से अखण्ड प्रकाश तथा 'अहम्' और 'अनियम' इन दो से

स्वातन्त्र्यमय अहन्त्व का उल्लास समझना चाहिये।

कायाभेदी वाणी मूल ग्रन्थ में पूर्णरूप से प्रकाशित की गई है। इसका प्रकाशन-समय दिनांक १४ सौर ज्येष्ठ संवत् १९९१ वि० से उसी वर्ष के दिनांक २२ सौर अगहन तक है। उस समय केवल वाणी ही माँ का कायाभेद कर उद्भूत हुई थी, ऐसी बात नहीं है; भिन्न-भिन्न मन्त्र और बीज भी अभिव्यक्त हुए थे। ये सभी सत्य और सजीव हैं। इसीलिए इनमें शक्ति अत्यन्त अधिक है। ग्रहण करने वाला उपयुक्त आधार यदि न मिले, तो ये हित-साधन न कर क्षति ही करते हैं। क्रिया, विश्वास और भक्ति इन तीन गुणों से ही आधार को योग्यता प्राप्त होती है। अर्थात् जिस आधार ने भगवान् में पूर्णरूप से आत्म-समर्पण किया हो, वही योग्य आधार है। इसलिए यदि भगवान् में मन और हृदय अर्पण न किया जा सके, तो पूर्ण सत्य-प्राप्ति की आशा दुराशामात्र है।

माँ के शरीर में विष्णु-पाद-पद्म भी प्रकाशित हुए थे। विष्णु का परम-पद अत्यन्त दुर्गम और सिद्ध महापुरुषों की भी दुराराध्य वस्तु है। दिव्य-ज्ञान प्राप्त महापुरुष भी उसमें प्रवेश करने में समर्थ न होकर दूर से ही उसका दर्शन करते हैं। माँ के शरीर में जो विष्णु का पाद-पद्म शोभित हुआ था, वह पूर्वोक्त पद का ही आभासमात्र था। वह स्वभावतः गोलोक में नित्य प्रकाशमान रहता है, किन्तु जगत् के मलिन जीवों का उद्धार करने के लिए वह माँ का शरीर-भेद कर प्रकाशित हुआ था। उसकी शक्ति इतनी असाधारण है कि यदि उसे धारण किया जा सके तो वह समग्र विश्व का उद्धार कर सकता है।

जो महासत्य कायाभेदी वाणी में प्रकाशित हुआ है। उसके अनुसार पूर्ण ब्रह्मज्ञान की अवस्था 'मिलमिश्रण' नाम से कही गई है, एवं जागतिक दृष्टि से वह आध्यात्मिक-साधना की एक प्रकार की चरम अवस्था कही जा सकती है। साधना के विविध मार्ग जगत् में प्रसिद्ध हैं, यह सत्य है; किन्तु वास्तविक सत्य-मार्ग कुण्डलिनी का जागरण हुए बिना खुलता नहीं। यहाँ तक कि उसका पतातक नहीं लगता। सत्य-मार्ग का अवलम्बन किये बिना कोई भी पूर्ण ब्रह्मज्ञान की अवस्था में पहुँच सकेंगे, ऐसी संभावना नहीं हैं। ब्रह्ममय गोलोक-धाम के अधिष्ठाता अद्वितीय भगवान् हैं। वहाँ जो देवता विराजमान रहते हैं, वे सभी संपूर्णतः ब्रह्मभाव में जागरूक हैं। ये सब अद्वैतभाव वाले देवता श्रीभगवान् की महती इच्छा के अनुगामी होकर जीवों को सत्यमार्ग का गुप्त पता कृपापूर्वक बतलाते रहते हैं। इससे जीवों की अनादि मोहनिद्रा टूट जाती है एवं वे जाग उठते हैं। अर्थात् कुण्डलिनी स्वयं जागकर अनादि-निद्रा से आत्मा को जगा देती है, क्योंकि कुण्डलिनी जागरण के सिवा आत्मा की निद्रा तोड़ने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिए कुण्डलिनी के जागरण का ही सत्य-साधन के पथ की पहली सीढ़ी के रूप में वर्णन किया गया है।

आत्मा के जाग उठने पर शिव का निद्रारूप महायोग भङ्ग हो जाता है। तब चित्त की मलिनता दूर हो जाती है। कुण्डलिनी के जागे बिना तथा आत्मा के उद्बुद्ध हुए बिना चित्तशुद्धि संभव नहीं है। कुण्डलिनी का जागरण शिव-शक्ति के रूप से सम्पन्न

होता है। इसके फलस्वरूप क्रमशः मूल प्रकृति का दर्शन, महामिलन और आत्मदर्शन होता है। मूल प्रकृति जब-तक प्रसन्न नहीं होती, तब-तक यथार्थ सत्य की साधना का आरम्भ नहीं होता। अशुद्ध चित्त में सत्य का दर्शन न होने के कारण आत्मा के जागने के बाद सत्य-दर्शन का आरम्भ होता है। कुण्डलिनी तथा आत्मा की सुप्तावस्था में जो नाना-दर्शन होते हैं, वे स्वप्न-दर्शन के तुल्य असत् हैं। सत्यदर्शन की जड़ में भगवान् की कृपादृष्टि और अखण्ड-सत्य का आकर्षण रहता है। सत्य के आकर्षण से सत्यदर्शन होता है। सत्यदर्शन और स्वप्नतुल्य अलीक-दर्शन एक से नहीं हैं। भीतर सत्य के प्रतिष्ठित न होने तक सत्य-दर्शन की क्रिया चलती रहती है। कुण्डलिनी के जागने के बाद महामिलन तक साधन-पथ अत्यन्त दुर्गम है। उस समय अहङ्कार, प्रलोभन तथा विविध प्रकार की विभीषिकाएँ इस पथ में विघ्नरूप में प्रकट होती हैं। ये सभी परीक्षाएँ हैं, ऐसा समझना चाहिये। महामिलन के उपरान्त ये सब परीक्षाएँ फिर नहीं होती हैं एवं कुण्डलिनी जागने के पहले भी नहीं होतीं। जब-तक हृदय में मिथ्या-भाव का लेशमात्र भी रहता है, तब-तक इस परीक्षा में उत्तीर्ण होना संभव नहीं है। इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि साधकों को साधारणतः जो विविध दर्शन दिखाई देते हैं, वे जीव को मोहित किये रहते हैं; जीव को भगवान् का स्वरूप देखने नहीं देते। किन्तु भगवान् की कृपा से कुण्डलिनी जागने के बाद आत्मा के जाग उठने पर जो दर्शन दिखाई देते हैं, वे बाहरी दर्शन नहीं हैं, वे ही सत्य दर्शन हैं। उनसे जो मोहित नहीं होते, वे भगवान् के सत्यस्वरूप-दर्शन से वञ्चित नहीं रहते। उसके बाद सत्य में प्रतिष्ठा होती है।

सत्य-साधन-पथ में दो ही क्रमिक स्थितियाँ दिखाई देती हैं। उनमें पहली स्थिति आत्मदर्शन और दूसरी पूर्ण ब्रह्मज्ञान है। आत्मदर्शन तक के मार्ग का वृत्तान्त कहा जा चुका है। किन्तु आत्मदर्शन होने पर भी पूर्ण ब्रह्म में स्थिति-प्राप्ति के लिए जगाये हुए ब्रह्म-मन्त्र की आवश्यकता होती है। आत्म-दर्शन के लिए जैसे शिव शक्ति के रूप में कुण्डलिनी के जाग्रत् होने से मूल-प्रकृति-दर्शन तथा महामिलन द्वारा अग्रसर होना पड़ता है, वैसे ही पूर्णब्रह्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के लिए आत्मदर्शन के अनन्तर जाग्रत् ब्रह्ममन्त्र की आवश्यकता होती है। यद्यपि भगवान् के पूर्वोक्त गोलोक-लीला के साथी सब देवता ब्रह्मरूप हैं, तो भी उनके साथ ब्रह्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। ब्रह्म जैसे नामहीन है, वैसे ही सब प्रकार के सम्बन्धों से रहित है। ब्रह्म का एकमात्र विकास ॐकार है। किन्तु ॐकार वास्तव में नाम नहीं है। ये ब्रह्मरूपी देवता असंख्य होने पर भी इन सब का आत्मा एक और अभिन्न है। एकमात्र पूर्ण ब्रह्म ही सब देवताओं की आत्मा है। विकास के द्वारा लीला के विचित्र रसास्वादन के लिए भेद दिखाई देता है। गोलोक के ये सब देवता एक ब्रह्म के ही अनन्तरूप होने से प्रचुर आनन्द में मग्न रहते हैं।

माँ के शरीर में कभी-कभी जो असंख्य पादकमल सुशोभित हुए थे, वे देवताओं के चरण थे।

यह तो जाग्रत्-मन्त्र की बात कही गई है, एकमात्र भगवत्कृपा के सिवा उसे

पाने का दूसरा उपाय नहीं है। आत्मदर्शन के साथ-साथ अनादि अन्धकार जब छिन्न-भिन्न हो जाता है, तब भी इस मन्त्र-जागरण के बिना ब्रह्म-भाव का पूर्ण रसास्वादन नहीं होता। अपनी सत्ता के क्रमशः भगवत्सत्ता में लीन होने के साथ-साथ ब्रह्मानन्द का आस्वादन शुरू होता है। इसका चरम विकास या परिणति मिलमिश्रण या पूर्णत्व है।

भिन्न-भिन्न देवताओं की सहायता से सत्य-पथ पर अग्रसर हुआ जाता है। इनमें गणपति, महाकाल और शक्ति मुख्य हैं। गणपति को यदि प्रसन्न न किया जा सके तो शिव-शक्ति को प्रसन्न नहीं किया जा सकता। इसलिए गणपति को सिद्धिदाता कहा जाता है। कुण्डलिनी-जागरण के अनन्तर मूल-प्रकृति के दर्शन होने पर महाकाल की उपासना करनी आवश्यक है। इसके उपरान्त महाशक्ति भक्त की नाना रूपों से सहायता करती है। महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी और सर्वोपरि महेश्वरी—जगन्माता के ये ही रूप भक्त के सहायक होते हैं। महाकाली के जागने पर हृदय में भजन का वेग उत्पन्न होता है एवं हृदय श्मशान के रूप में परिणत हो जाता है। महासरस्वती भक्त को मार्ग का पता बतलाती है। महालक्ष्मी और महेश्वरी का अधिकार और भी ऊँचा है। महेश्वरी सब के अन्त में काम करती है।

सत्य-ध्यान और सत्य-दर्शन किसे कहते हैं? जाग्रत् शिव और शक्ति के युगल के ध्यान को ही सत्य ध्यान कहा जाता है। इस ध्यान के प्रभाव से बाहर का आकर्षण हट जाता है और चित्त अन्तर्मुख होता है। देवता और मन्त्र दोनों ही यदि जाग्रत् रहें तो इसे श्रेष्ठ कहा जाता है। प्रत्येक देवता की पूजा में मानस-पूजा के समय इस उपाय का अवलम्बन यदि किया जा सके तो देवता प्रसन्न होते हैं और साधक के मार्ग में विघ्न नहीं डालते। यह ध्यान जब क्रमशः गाढ़ होता है तब देवता के सत्य-दर्शन प्राप्त होते हैं। उस समय बाहर की चेतना लुप्त हो जाती है और भीतर अपूर्व आनन्द और शान्ति का उदय होता है। तब समाधि-अवस्था का उदय होता है और भक्त के समीप भगवान् के सिवा और किसी की सत्ता नहीं रहती; इसी का नाम चैतन्य-समाधि है। भगवान् के लिए हृदय से सच्ची व्याकुलता हुए बिना यह समाधि नहीं होती। इस अवस्था में बाहर की चिन्ता और खिंचाव न रहने के कारण भगवान् भक्त के हृदय में ठीक-ठीक काम कर सकते हैं, जिससे भक्त निश्चिन्त अवस्था में पहुँचने में समर्थ होता है। चैतन्य समाधि पूर्ण आनन्द की अवस्था है, किन्तु है यह भी अपूर्ण ही; इसलिए यह टूट जाती है। इसके अनन्तर जिस अवस्था का उदय होता है, उसमें भीतर और बाहर पूर्ण चैतन्य के साथ पूर्ण अहम् (मैं) भाव विद्यमान रहता है। 'मैं और तुम' भाव सदा के लिए निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था का पूर्ण विकास देहावस्था में होना संभव नहीं है। वस्तुतः यही पूर्ण ब्रह्मावस्था का पूर्वाभास है।

यदि सत्य-पथ पर चलना हो तो कई विशेष गुणों का रहना आवश्यक है। इन सब गुणों में श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, वैराग्य और प्रेम प्रधान हैं। श्रद्धा सबकी मूलभुत है, इसलिए यदि अध्यात्म-मार्ग में प्रविष्ट होना हो तो सबसे पहले श्रद्धा की ही सहायता लेनी चाहिये। श्रद्धा के बाद दूसरा प्रधान गुण विश्वास है, विश्वास के बिना भगवान्

का पता पाना संभव नहीं। जीव का हृदय निरन्तर वासनाओं से आवृत है। अतः भगवान् यदि पृथिवी पर प्रकट हो जायँ, तो भी जगत् उनपर एक क्षण के लिए विश्वास नहीं कर सकता है; विश्वास करना अत्यन्त कठिन है। एक ओर भगवान् की कृपा और दूसरी ओर अपना प्राक्तन पुण्य, इन दोनों का योग हुए बिना विश्वास पैदा नहीं होता। हृदय में सच्चा विश्वास जब अङ्कुरित होता है, तब एकमात्र भगवान् के सिवा और सब कुछ असार प्रतीत होता है। विश्वास के साथ भक्ति का पुट होने पर हृदय में और भी ऊँची अवस्था प्रकाशित होती है। मन में विश्वास न रहने पर भक्ति से कोई काम सिद्ध नहीं होता। परमानन्द-स्वरूप भगवान् का सार-वस्तु के रूप में बोध रहना चाहिये। उनके अभाव (विरह) में जीवन असह्य प्रतीत होना चाहिये। साथ ही साथ उनपर पूरा भरोसा रहना चाहिये—इसी का नाम भक्ति है। भक्ति का उदय होने पर बाहरी कोई भी आकर्षण मन को चञ्चल नहीं कर सकता। इस तरह क्रमशः बाहरी आकर्षण हट जाने पर अर्थात् भक्ति का उदय होने के अनन्तर, हृदय में वैराग्य का उदय होता है। इस अवस्था में बाहरी आकर्षण तो बिलकुल ही नहीं रहता, एकमात्र भगवान् ही आत्मीय प्रतीत होते हैं, और कोई भी विषय अच्छा नहीं लगता। उस समय भक्त भगवान् के नाना रूपों के दर्शन करते रहते हैं। इस तरह भक्ति और वैराग्य के साथ प्रबल प्रेम होने पर सर्वदा ही चित्त में भगवान् के लिए उमंग दिखाई देती है, सदा चित्त में एक अव्यक्त व्यथा लगी रहती है। रात-दिन आँखों से प्रेमाश्रु बहते रहते हैं। इससे जीव के पूर्वसंचित दुष्कर्म, अपराध और प्रतिबन्धक सब निवृत्त हो जाते हैं। हृदय गहरी ज्वालाओं से जलता रहता है, नेत्रों से जल की धारा बहती रहती है और छाती फट जाती है। सत्य का यथार्थ पता पाने के लिए यही आवश्यक है। क्योंकि निर्मल हुए बिना सत्य का तीव्र तेज सहन नहीं किया जा सकता। मलिनता की निवृत्ति के लिए एकमात्र उपाय प्रेम का विकास है। मलिनता की निवृत्ति होने पर हृदय श्मशान के रूप में बदल जाता है।

यह हुई एक दृष्टिकोण की बात। दूसरे दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो सत्य की प्राप्ति के लिए मन को अपने वशीभूत करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अवशीभूत चित्त ही शत्रु है। पूर्वोक्त रीति से प्रेम का उदय एवं भाव गम्भीर होने पर मन शान्त होता है। उस समय यह स्थिर-मन ही सत्य-प्राप्ति के मार्ग में मित्र की तरह काम करता है। हृदय की व्याकुलता और मन की सरलता, ये ही सत्य-मार्ग के सहायक हैं। इन दोनों की ही जड़ भगवान् की कृपा है। मन के शान्त होने तक निरन्तर उसके साथ संघर्ष लगा रहता है। इसीका नाम साधन-समर है। इस समर में प्रतिद्वन्द्वी के रूप में असंख्य शत्रु आक्रमण करते रहते हैं। ये सब स्वेच्छाचारी मन के चर हैं। भगवान् का स्मरण करना, प्रेम के साथ नैसर्गिक रूप में भगवान् को अपना हृदय अर्पण करना और भाव के साथ आँसू बहाना; ये ही साधन-समर में विजय पाने के उपाय हैं। मन जब-तक अपने वशीभूत नहीं होता, तब-तक अतर्कित रूप से अन्यान्य-चिन्ताओं का उदय होता है और भजन में विघ्न पैदा होता है। भगवान् उस समय महाकाल का रूप धारण कर मन का नाश करते हैं।

पहले जिस जाग्रत् मन की चर्चा की गई है, वही सत्य-मार्ग में चलने में सहायता करता है, किन्तु भाव आवश्यक है। 'भगवान् ही परम प्रिय हैं, उनका त्याग कर देने पर सब शून्यमय है', इसी भाव का अवलम्बन करने पर जाग्रत् मन्त्र भीतर कार्य करने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं।

भगवान् का स्वरूप तीव्र-ज्योतिस्वरूप, अनन्त तेजोमय, परम सत्य और पवित्र है। वह सनातन और नित्य-नूतन है। वह निराकार परम-स्वरूप देह-सम्बन्ध रहने तक भलीभाँति प्राप्त नहीं होता। निराकार ब्रह्म प्रेमियों के निकट साकार होकर आत्म-परिचय देते हैं। यह परिचय सत्य होने पर भी परम सत्य नहीं है। देह में विद्यमान रहते समय इसीको पूर्ण परिचय समझना चाहिये। किन्तु वास्तव में यह भी प्रशान्त सत्ता का एक तरंगमात्र है। गोलोक, वैकुण्ठ आदि सब नित्य-धाम इस तरङ्ग में ही प्रकाशित होते हैं।

श्रीमाता की साधनधारा और सिद्धान्त के सम्बन्ध में दो चार ही बातें ऊपर लिखी गई हैं। यदि इस विषय में अधिक लिखा जाय तो निबन्ध का कलेवर अत्यधिक बढ़ जायगा। इसलिए प्रासंगिक होने पर भी मैंने विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया।

माँ जीवनकाल में अपने जीवन-चरित्र अथवा साधना के सम्बन्ध में ग्रन्थ प्रकाशित करने की पक्षपातिनी नहीं थीं। उन्होंने अत्यन्त एकान्त में सारा जीवन व्यतीत किया था तथा कोलाहल-पूर्ण बाह्य-जगत् में रहकर भी सदा ही अपने को भगवान् की ओर उन्मुख रखने का अभ्यास किया था। जगत् की स्तुति और निन्दा से दूर रहकर सदा निर्विकार-चित्त से भगवान् की उपासना में तन्मय होकर रहना ही उनके जीवन का आदर्श था। किन्तु उनके तिरोधान के बाद भक्तगण स्वभावतः ही उनका जीवन-चरित्र सुनने और सुनाने के लिए उत्कण्ठित हो पड़े। कुछ दिन पहले श्रीमती तरुबाला देवी ने माँ के सम्बन्ध में एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित की है। दूसरे ग्रन्थ की लेखिका श्रीमती राजबाला देवी हैं। इसमें माँ के पूर्व-जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ उल्लिखित हैं, जो श्रीमती तरुबाला के ग्रन्थ में नहीं हैं, यहाँ तक कि माँ के अनेक भक्त भी यथार्थ रूप में उन्हें नहीं जानते। इन सब वर्णनों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी प्रकार के सन्देह का कारण नहीं है, क्योंकि इनका अधिकांश ही ग्रन्थलेखिका का स्वयं अनुभूत अथवा श्रीमाँ से साक्षात् प्राप्त है।

साधुसन्तों की जीवनी का जितना अधिक अनुशीलन किया जाय, उतना ही मंगल होता है। श्रीमाँ जिस कारण अपने को प्रकाश में लाने में संकोच करती थीं, उनके तिरोभाव के अनन्तर अब वह कारण नहीं रहा। इसलिए इस समय ग्रन्थों के प्रकाशनादि में कोई प्रतिबन्ध प्रतीत नहीं होता है।

इस ग्रन्थ की रचयित्री ने हाथ जोड़कर माँ के निकट जो प्रार्थना की है, हम भी अपने अन्तःकरण से उनसे वे ही प्रार्थनाएँ करते हैं—माँ, समग्र जीव-जगत् के नित्य कल्याण के लिए आप सबके ऊपर शुभ दृष्टिपात करें। अधिकांश जीव दुःख-पङ्क में निमग्न होकर सुप्त-चेतना की सी अवस्था में पड़े हैं, चिदानन्द-स्वरूपा माँ उन्हें प्रबुद्ध कर, जगाकर, उनके अन्तःकरण में ज्ञान और भक्ति का उन्मेष करें, और उन्हें नित्य-चैतन्य के प्रति आकृष्ट करें।[१]

---

१. यह लेख श्री राजबालादेवी रचित श्री श्रीसिद्धिमाता प्रसङ्ग नामक पुस्तक की भूमिका के रूप में लिखा गया था।

जैनदर्शन[1]

इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के क्षेत्र में व्यापक तथा क्रमबद्ध अध्ययन का फल लिपिबद्ध हुआ है। इसमें दर्शन के कतिपय मौलिक दार्शनिक प्रश्नों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। ये सब प्रश्न ज्ञान, अज्ञान, कर्म तथा योग के विषय में हैं। ये विषय ऐसे हैं कि इनका विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों से भी सम्बन्ध है। यद्यपि इसमें प्रत्येक प्रश्न की समीक्षा युक्तिपूर्ण भाव से की गई है और किसी निर्दिष्ट दृष्टिकोण से उसका तात्पर्य निरूपण करने की चेष्टा की गई है, फिर भी यह भारतीय दर्शन के आलोचक पण्डितमात्र के लिए रोचक है, इसमें सन्देह नहीं। ग्रन्थलेखक जैन-दृष्टिकोण से दार्शनिक सिद्धान्त का विश्लेषण करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, इसलिए उसी दृष्टिकोण के ऊपर विशेष रूप से उनका ध्यान केन्द्रित हो, यह तो स्वाभाविक ही है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राचीन उपनिषदों में अभिव्यक्त ब्राह्मण्य-धर्म के साधारण दार्शनिक दृष्टिकोण का संक्षेप में निरूपण किया गया है। यह दृष्टिकोण प्रधानतः अद्वैत समझा गया है। इस निरूपण के अनन्तर बौद्धों तथा जैनों के दृष्टिकोण के साथ उसकी तुलना की गई है। यह भी प्रदर्शित किया गया है कि बौद्ध-दृष्टि विशेष रूपसे युक्ति-प्रधान है और जैन-दृष्टि अनेकान्त है।

यहाँ तक तो हुआ प्रारम्भिक समालोचन। इसके बाद मूल ग्रन्थ में पूर्वोक्त चार प्रश्नों पर अर्थात् ज्ञान, अज्ञान, कर्म तथा योग के विषय में विस्तार के साथ आलोचना की गई है। यह आलोचना प्रामाणिक प्राचीन जैन-आगमग्रन्थों के आधार पर की गई है। इसे देखने से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार का अध्ययन-क्षेत्र व्यापक तथा वैचित्र्यपूर्ण रहा है और साथ ही साथ यह भी प्रतीत होता है कि उनकी व्याख्या या प्रतिपादनशैली मूलानुगत तो है ही, इसके अलावा विषय पर प्रकाश डालने में भी विशेष सक्षम है। इस प्रकार के उभय गुणों का समावेश दुर्लभ है। उन्होंने इस पर और भी एक अतिरिक्त गुण का समावेश किया है, वह है भाव प्रकाशन की रीति की प्राञ्जलता।

उन्होंने जैनेतर साम्प्रदायिक प्रस्थानों के सिद्धान्तों पर दोष-दृष्टि से आलोचना की है। यह तत्-तत् सम्प्रदाय के मानने वालों की दृष्टि से सर्वथा उपादेय नहीं भी हो सकती है, यह बात सत्य है; परन्तु इस प्रकार की आलोचना का भी एक विशेष महत्त्व है। दार्शनिक आलोचना की परम्परा में यह एक रूढ़ि चली आई है कि किसी विशिष्ट दार्शनिक चिन्ताधारा का व्याख्यान करते समय व्याख्याता अपने व्याख्यान में केवल अपने सिद्धान्त का निरूपण तथा गुणदोषविवेचन से सन्तुष्ट न

---

१. डा० नथमल टाटिया निर्मित 'Studies in Jaina Philosophy' (1951) का प्राक्कथन।

रहकर विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के साथ तुलनात्मक आलोचना कर दोनों में साम्य या वैषम्य का प्रदर्शन करना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं। ऐसी स्थिति में एक सिद्धान्त का समर्थन करने पर स्वतः ही साधारणतः अन्यान्य सिद्धान्तों का निराकरण करना पड़ता है। परन्तु इस प्रकार मत-विशेष का निराकरण अथवा खण्डन वस्तुतः निराकरण नहीं है, यह बात समझ में आ जायगी; यदि यह ध्यान रहे कि यह किस दृष्टिकोण से प्रकाश में आया है।

ज्ञान-तत्त्व के विषय की आलोचना के प्रसङ्ग में जैनों के ज्ञानविषयक सिद्धान्त की जैन आगमों के आधारपर आलोचना की गई है। कर्म-तत्त्व के तुल्य ज्ञानतत्त्व का भी सिद्धान्त प्राचीन अपरोक्षदर्शी ज्ञानियों के वचनों के आधार पर प्रतिष्ठित है। ज्ञान के पाँच प्रकार के विभाग प्राचीन काल से ही चले आये हैं। ज्ञान आत्मा का अन्तरंग धर्म है। परन्तु उसका सम्यक्त्व या मिथ्यात्व भाव के ऊपर निर्भर है। जिसे अविद्या कहते हैं, वह वस्तुतः भाव का मिथ्यात्व या विकृतिमात्र है, जिसके प्रभाव से विशुद्ध ज्ञान मलिन हो जाता है। उपयोग साकार अवस्था में ज्ञानपद-वाच्य है, और निराकार-अवस्था में दर्शनपद-वाच्य है। वीर्य और आनन्द के तुल्य ज्ञान और दर्शन रूप ये दो धर्म मुक्त आत्मा में अनन्त तथा अनावृत रहते हैं। परन्तु आत्मा की बन्धनावस्था में ये कर्म-पुद्गलों से आच्छन्न रहते हैं। साधारण मनुष्य के लिए दो ज्ञानरूपा क्रियाएँ एक ही काल में नहीं हो सकतीं। यदि किसी समय यौगपद्य का भान हो, तो समझना चाहिये कि यह भ्रम है। भ्रम के विभिन्न कारण हो सकते हैं, जिनमें मुख्य है—करणों का अपाटव। परन्तु जब आत्मा के सर्वज्ञत्व को आवृत करनेवाले कर्म-पुद्गल हट जाते हैं, तब सर्वज्ञत्व की अभिव्यक्ति अवश्यम्भावी है। यह बात सत्य है, परन्तु प्रश्न यह है कि ज्ञान और दर्शन क्रम से उदित होते हैं, या एक ही समय में दोनों का उदय होता है? आगमों का यह पक्का सिद्धान्त है कि जबतक घाती कर्मों का नाश नहीं होता, तब-तक ज्ञान-दर्शन युगपत् उदित नहीं हो सकते। इस विषय में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय एक मत हैं। हाँ, केवलियों के विषय में दिगम्बरों का कथन है कि ज्ञान और दर्शन में क्रम नहीं रहता। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आचार्यों में भी किसी-किसी का यही मत है।

सर्वज्ञता की दशा में क्रम हो सकता है या नहीं, इस विषय में प्राचीन काल से ही विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न विकल्प हैं। ज्ञानविषयक विचार में इस प्रश्न के समाधान की प्रासंगिकता भी है। लौकिक-ज्ञान में क्रम रहता ही है, क्योंकि न्याय-वैशेषिक अथवा सांख्य-योग सभी का इस विषय में एक ही सिद्धान्त है। न्यायवैशेषिक के आचार्यों का सिद्धान्त यह है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान के उदय में एक ओर जैसे आत्मा और मन का संयोग अपेक्षित है, वैसे ही दूसरी ओर मन और इन्द्रियों का संयोग भी रहना आवश्यक है, इसलिए क्रम स्वाभाविक है। सांख्य तथा योग का सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक लौकिक वृत्ति-ज्ञान नियत-परिणाम-शील चित्त का एक पृथक् परिणाम है। परन्तु सर्वज्ञता लौकिक-ज्ञान नहीं है, अलौकिक-ज्ञान है। इसमें लौकिक ज्ञान का नियम लागू नहीं हो सकता। पतञ्जलि ने अपने सूत्र में विवेकज ज्ञान के विषय में कहा है—यह

ज्ञान क्षण और क्षण-क्रम के ऊपर संयम करने से उदित होता है, यह तारक ज्ञान है; यह अखण्ड ज्ञान है एवं यह सर्व-विषयक और अक्रम है। प्रत्येक विषय और प्रत्येक धर्म का भान इससे होता है। यह अक्रम ज्ञान किसी-किसी अंश में जैनों के केवल ज्ञान के तुल्य है। यह सामूहिक रूप से एक ही समय में अतीत, अनागत और वर्तमान तथा संनिकृष्ट और विप्रकृष्ट विषयों का ग्रहण करता है। यही अनौपदेशिक प्रातिभ ज्ञान अथवा प्रतिभा[१] है। इसको अक्रम कहने का तात्पर्य यह है कि यह काल-सापेक्ष नहीं है, किन्तु कालातीत क्षणभावी ज्ञान है।[२] प्रसिद्धि है कि बुद्धदेव जब सर्वज्ञान या सर्वज्ञत्व को प्राप्त हुए थे, तब समग्र विश्व को दर्पण में प्रतिफलित प्रतिबिम्ब के तुल्य अक्रम से अर्थात् एक ही क्षण में उन्होंने देखा था।[३] त्रिपुरा-रहस्य में प्रतिभा[४] के विषय में कहा गया है कि अवच्छेद-हीन होने के कारण वह परा कही जाती है। यही परमेश्वर की परम सत्ता है। उत्पलाचार्य ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में स्पष्ट ही कहा है कि प्रतिभा अथवा परा-संवित् क्रम से अतीत है, फिर भी उसमें विश्व के सब प्रकार के कालिक तथा दैशिक क्रमों का आभासन होता है। यह क्रम का आभासन भगवत्स्वातन्त्र्य की लीला है। प्रकारान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि आभासों में क्रम की प्रतीति होने पर भी अन्तः-स्थित चिद्-दर्पण में (जिसमें क्रम का स्फुरण होता है) क्रम नहीं है।[५] वैयाकरण लोग पश्यन्ती-वाक् के विषय में ठीक यही बात कहते हैं। उनका कथन है कि यह एक है और इसमें क्रम नहीं है, फिर भी अपने में सब प्रकार की क्रमशक्तियों को धारण करती है।[६] यही पर ब्रह्म है, अक्षर है, शब्दरूप है, परा वाक् है और आत्मा है। परम सर्वज्ञत्व क्रमहीन होने पर भी सब क्रमों को धारण करने वाला है। इस विषय के प्रतिपादनार्थ और अधिक विस्तार आवश्यक नहीं है।

पञ्चदश विभागों में विभक्त अविद्या-प्रकरण में लेखक ने अविद्या के विषय में सब प्रकार के शङ्का-समाधानों का प्रदर्शन किया है। इसके सिवा न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्धमत और शैवमत की आलोचना करते हुए तत्-तत् सिद्धान्तों का निराकरण किया है और अन्त में जैन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें अविद्या त्रिविध मिथ्यात्व की समानार्थक मानी जाती है अर्थात् जैन-मत में भी अविद्या केवल ज्ञानगत मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु दर्शनगत और चारित्र्यगत मिथ्यात्व भी है।

अविद्याविषयक प्रश्न के साथ कर्मविषयक प्रश्न मिला हुआ है। कर्म-तत्त्व का गुरुत्व जैसा भारतीय विभिन्न दर्शनों में माना गया है, वैसा ही जैन-दृष्टि में भी माना गया है। इस विषय का एक पृथक् अध्याय में, जो चार विभागों में विभक्त है,

---

१. द्रष्टव्य—'प्रातिभाद् वा सर्वम्' (यो० सू० ३।३३)
२. द्रष्टव्य—'एकक्षणोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णाति' (योगभाष्य ३।५४)
३. द्रष्टव्य—'ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले' (बुद्धचरित १४।८)
४. द्रष्टव्य—'त्रिपुरा रहस्य ज्ञान-खण्ड (३०।३६)' सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला सं० १५।
५. 'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता। अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥'
६. प्रतिसंहृतक्रमाप्यन्तः सत्यप्यभेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती—शिवदृष्टि पृ० ३९, काश्मीर सीरीज नं०—५४।

विशद रूप से विवेचन किया गया है। भावकर्म तथा द्रव्यकर्म रूप से द्विविध कर्म की कल्पना जैन दार्शनिक चिन्ता-धारा का एक वैशिष्ट्य है एवं यह वैशिष्ट्य जैन-साहित्य में सर्वत्र ही विशेष रूप से प्रकटित है। परन्तु इसकी सजातीय चिन्ता-धारा अन्यत्र कहीं नहीं है, सो बात नहीं है; लेकिन जैन-दर्शन के इतिहास में इसका प्राधान्य सर्वत्र स्वीकृत है। द्वैत शैवागम में आत्मा के अन्तर्निहित दिव्य भाव के आच्छादक द्रव्य के रूप में आणव मल की कल्पना दृष्टिगोचर होती है। यह मल आत्मा के स्वभावभूत शिवत्व को आवृत कर आत्मा को नाना प्रकार के नियन्त्रणों के अधीन पशु के रूप में परिणत करता है। सिद्धान्त शैवमत के अनुसार यह अणु-द्रव्यरूप मल किसी-किसी अं में कर्म-विषयक जैन-सिद्धान्त के अनुरूप है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेख-योग्य प्रतीत होता है कि तन्त्रानुमत बाकी दो मल या आवरण भी अंशतः जैन-सम्मत कर्मतत्त्व में ही परिगणित होने योग्य हैं। यह कहा जा सकता है कि जैसे आत्मा के सर्वज्ञत्व, सर्व-कर्तृत्व, विभुत्व, नित्यत्व और आनन्दमयत्व के आच्छादक माया-कंचुक हैं। वैसे जैन-दृष्टि में आत्मा की निर्मलता का आच्छादक कर्म ही है। ग्रन्थलेखक ने कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध, कर्म के प्रकार-भेद प्रभृति विषयों में विशदरूप से आलोचना की है।

इस प्रसङ्ग में और एक विषय विवेचन के योग्य है। वेदान्त में अविद्या की आवरण तथा विक्षेप नाम की दो वृत्तियाँ मानी जाती हैं। आत्मज्ञान का उदय होने पर आवरण की निवृत्ति हो जाती है और यह ज्ञान किसी विशेष स्थल में विशेष अधि-कारी को जीवन्मुक्ति की ओर ले जाता है। परन्तु अविद्या की द्वितीय वृत्ति, जो अविद्या-लेश के नाम से प्रसिद्ध है, अनुवृत्त रहने पर मुक्ति में बाधक नहीं होती। केवलमात्र कर्मफल-भोग से ही विक्षेप-शक्ति की निवृत्ति होती है। अवश्य यही साधारण नियम है। जैन-दर्शन में घाती और अघाती भेद से जो दो प्रकार के कर्मों के विषय में विवेचन मिलता है, उससे पूर्वोक्त सिद्धान्त का और भी परिस्फुट रूप से समर्थन होता है। यह घाती और अघाती कर्म क्रम से वेदान्त की आवरण और विक्षेप नाम की अविद्या-वृत्तियों के ठीक अनुरूप हैं। अघाती कर्मों के विद्यमान रहने पर केवल ज्ञान के उदय में तथा व्यापार में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, यह बात सभी लोग जानते है। साथ-ही-साथ यह भी सत्य है कि स्वरूपतः शुद्ध अघाती कर्म भी भौतिक शरीर का विनाश करते हुए सिद्धि या परममुक्ति के साधक होते हैं और स्वयं निवृत्त हो जाते हैं। पहले कषाय की निवृत्ति होती है, तदुपरान्त यथासमय योगकी निवृत्ति होकर सिद्धि का उदय होता है।

अविद्या के सदृश कर्मतत्त्व पर भी समुचित आलोचना की गई है, परन्तु यह विषय जैसा गम्भीर है, तदनुरूप सूक्ष्मता और अन्तः-प्रवेश के साथ विचार नहीं किया गया है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। इस विषय के सम्यक्-परिज्ञान के लिए जिन आनुषङ्गिक विषयों की अवतारणा और समीक्षण आवश्यक है, उनका भी विवेचन उतना नहीं हो सका। यह बात सत्य है कि जैन-सिद्धान्त पर लिखे जा रहे ग्रन्थमें लेखक के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह बौद्ध-दर्शन, तान्त्रिक-साहित्य, योगदर्शन

और पुराणों में जिन विषयों की चर्चा की गयी है, उनकी आलोचना करते। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि इन विषयों का आलोचन जैन-मत के ही स्पष्टीकरण तथा विशद रूप से प्रतिपादन की दृष्टि से उचित था। दृष्टान्त रूप में कहा जा सकता है कि लेखक ने कर्म-संक्रान्ति (एक के कर्म को दूसरे में संचार करना) और उसका नियम तथा जो तत्त्व किसी-किसी शास्त्र में कर्म-साम्य के नाम से कहा गया है, उस विषय पर भी कुछ प्रकाश नहीं डाला। विपाक का स्वरूप, उसका काल तथा नियत विपाक और अनियत विपाक के भेद से उसका विभाग तथा कर्म की फल-रूप में परिणति के विषय में प्राकृतिक नियम का और अधिक स्पष्ट रूप से वर्णन करना चाहिए था। घाती तथा अघाती कर्मों में जो सम्बन्ध है, उसका और भी अधिक विशद रूप से विश्लेषण यदि किया जाता, तो दार्शनिक दृष्टि से कर्म पर विचार और पूर्ण हो जाता।

ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में आध्यात्मिक क्रम-विकास के मौलिक नियम पर अति रोचक रूप से आलोचना की गई है। जैसे तीर्थंकर अथवा जगद्गुरु के नाम से आत्मा ही परमात्मा पद का वाच्य है, ऐसा किसी जैनाचार्य का सिद्धान्त है, वैसे ही सांख्य के कार्येश्वर की कल्पना तथा तन्त्र के मन्त्रेश्वर रूपी ईश्वर की कल्पना दीख पड़ती है, इसकी एक ही प्रसङ्ग में यदि समाचोलना की जाती तो अच्छा होता। तीनों स्थलों में मानवीय आत्मा ही अचित् या जड तत्त्व से पूर्णतया शुद्ध होकर ऐश्वरिक पूर्णत्व-लाभ करता है, ऐसा प्रतीत होता है। इस विषय में मुख्य प्रश्न यह है कि समरूप अधिकार सम्पन्न असंख्य जीवरूपी आत्माओं में किसी एक ही आत्मा को इस प्रकार का पूर्णत्व-लाभ होता है, औरों को नहीं; इसका कारण क्या है? कैवल्य का द्वार सबके लिए खुला है, चाहे कोई ईश्वर या विवेकज ज्ञान-सम्पन्न हो, अथवा न हो। इसी प्रकार सिद्धिका द्वार भी सभी के लिए खुला है, परन्तु ईश्वर-पद अथवा तीर्थंकर-पद किन्हीं चुने हुए जीवों के लिए ही निर्दिष्ट है। इन निर्दिष्ट कपितपय जीवों की विशेष योग्यता क्या है, और किस उपाय से उन्हें इसकी प्राप्ति हुई; इसका ज्ञान किसी को नहीं है। जैन-सिद्धान्त से यह प्रतीत होता है कि यह मौलिक भेद आत्मा में निहित रहता है, यद्यपि सभी आत्माओं में गुणगत उत्कर्ष समान ही है। यह भेद किसी किसी आत्मा में भव्यता-निमित्तक उत्कर्ष के रूप से विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त परस्पर भेदक धर्म और भी हैं, जिनके प्रभाव से प्रत्येक आत्मा और आत्माओं से विलक्षण है। खीष्टीय, माध्व और बौद्ध सम्प्रदाय में तथा अन्यान्य सम्प्रदायों में भी इस प्रकार का मत दृष्टिगोचर होता है। इसे देखने से विभिन्न सम्प्रदायों में भी एक प्रकार के तुल्य दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। सांख्य में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि पूर्व कल्प में जिन आत्माओं को अपर-वैराग्य का उत्कर्ष-लाभ हुआ था, फिर भी विवेक-ज्ञान का उदय नहीं हुआ था, वे प्रलय के अनन्तर अभिनव-कल्प के प्रारम्भ में अपनी योग्यता के अनुसार ईश्वर-पद को प्राप्त होते हैं। उसी ईश्वर को कार्येश्वर कहते हैं, वह नित्य-सिद्ध ईश्वर नहीं है, क्योंकि कपिल के दर्शन में अनादि-सिद्ध ईश्वरत्व-सम्पन्न किसी पुरुष का अङ्गीकार नहीं है। तन्त्रों में भी जिस आत्मा के कर्म तथा माया

के पाश स्खलित हो गये, परन्तु मलपाक के द्वारा मल की इतनी शिथिलता उत्पन्न नहीं हुई, जिससे भगवत्कृपा को आकृष्ट कर सके; उस आत्मा को योग्यतानुसार मन्त्रेश्वरत्व अथवा मन्त्रत्व प्राप्त होता है; शिवत्व प्राप्त नहीं होता। मलपाक हुए बिना अनुग्रह-रूपा भगवत्-शक्ति का संचार हो नहीं सकता। अवश्य यह वर्तमान कल्प की बात है। अपक्वमल-पुरुष भी कल्पान्तर में पक्वमल हो सकता है। लेखक ने ठीक ही कहा है कि प्रत्येक पुरुष में अन्तर्निहित स्वरूप-योग्यता है ही। परन्तु एक ही समय में प्रति-आत्मा में उसका जागरण नहीं होता। यह भी हो सकता है कि किसी में यह जागरण कभी भी न हो। इस विचार से यह स्पष्ट हो जायगा कि जिस आध्यात्मिक विकास का इस योग्यता के जागरण पर आरम्भ होता है और सिद्धि-प्राप्ति के साथ-साथ समाप्ति हो जाती है, उसका प्रारम्भ में भेद जिस कारण से होता है, उसका परिचय पूर्वोक्त विवरण से प्राप्त होगा।

उस विवरण से यह स्पष्टतया समझ में आ जायगा कि योग्यता के उद्रेक से जिस आध्यात्मिक विकास का आरम्भ होता है और सिद्धि-प्राप्ति के साथ समाप्ति हो जाती है, वह विभिन्न आत्माओं में विभिन्न प्रकार का क्यों होता है। इस प्रकार प्रबुद्ध आत्ममात्र के लिए सिद्धि का द्वार खुला हुआ है। परन्तु तीर्थंकर अथवा जगद्गुरु का पद चुने हुए कतिपय आत्माओं के लिए ही सुलभ होता है। ऐसे भी आत्मा हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकास कभी होता ही नहीं। केवल वर्तमान कल्प में ही नहीं होता है, सो बात नहीं, भविष्य कल्पों में भी नहीं होगा। लेखक ने प्राचीन आगमों के आधार पर जो यथा-प्रवृत्त-करण नाम की प्रक्रिया का विवेचन किया है, वह तात्त्विक-दृष्टि से अत्यन्त उपादेय वस्तु है। उसका तात्पर्य यह है कि अनादि-काल से ही एक अवचेतन अध्यवसायरूप क्रिया प्रति आत्मा में चलती रहती है, अथवा यह भी हो सकता है कि एक क्षण में आत्म-शुद्धि का व्यापार सम्पन्न होकर वह वैराग्यरूप में प्रकट होता है। किसी आत्मा के जीवन के इतिहास में मुख्यदृष्टि से चार क्रमिक अवस्थाएँ रहती हैं—१. निगोद में गर्भरूप से अथवा अव्यक्त-बीज रूप से, २. उसके अनन्तर ग्रन्थिभेद के साथ-साथ आभ्यन्तरीण रुचि या संस्कार के उद्दीपन रूप से, ३. उसके बाद स्पष्ट आध्यात्मिक विकास के रूप से, जिसकी अग्रगति विभिन्न गुण-स्थानों का क्रम अवलम्बन कर होती है, और ४. पूर्णता अथवा सिद्धि रूप से। यह है क्रम-विकास की धारा, परन्तु कोई-कोई आत्मा ऐसे भी हैं, जो इस धारा में आते ही नहीं। परन्तु जो आत्मा इस धारा में आते हैं, उनको पूर्णत्व-लाभ कभी-न-कभी (द्रुत या विलम्ब से) होगा ही। प्राचीन बौद्ध लोग जैसा कहते थे कि जो लोग स्रोत में पतित हो गये हैं या स्रोत-आपन्न हो गये हैं, वे कभी-न-कभी निर्वाण अवश्य प्राप्त करेंगे, वैसे ही जैन-मत में जो आत्मा विकास-धारा में प्रविष्ट हो गये, वे सिद्धि या कैवल्य अवश्य प्राप्त करेंगे।

गुण स्थानों का विवरण बहुत सुन्दर ढंग से लिखा गया है। उसमें मूल ग्रन्थों के आधार पर बहुत से अवश्य ज्ञातव्य विषय निरूपित किये गये हैं, जिनसे आध्यात्मिक उत्कर्ष का प्रारम्भ कैसे होता है और इसकी प्रक्रिया सिद्धि की ओर कैसे अग्रसर होती है, यह दिखलाया गया है। ऐसे बहुत से रोचक विवरण दिये गये हैं, जिनसे बहुत

परिशिष्ट

ईश्वर में विश्वास

(पृष्ठ ७५ का शेषांश)

वैसे ही ज्ञान से इच्छा का विकास किस प्रकार होता है, इसे न जानने से तथा इच्छा की शक्ति के रूप में उपलब्धि न होने से उससे क्रिया की उत्पत्ति होना युक्ति द्वारा नहीं समझाया जा सकता। जिस विराट् महाशक्ति के क्षुद्रतम अंश के प्रभाव से विशाल जगत् की अनन्त प्रकार की क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं उसके साथ इच्छाशक्ति का क्या सम्बन्ध है, यही सर्वप्रथम विचारणीय है।

साधारण दृष्टि से सांसारिक क्रिया-कलाप को इच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत, इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इच्छा से जो कार्य निष्पन्न होता है वह इच्छाकृत कार्य है तथा उससे भिन्न सभी कार्य अनिच्छाकृत एवं स्वाभाविक होते हैं। मनुष्य के देह में जो यान्त्रिक क्रियाएँ होती हैं उनमें से अधिकांश ही इच्छापूर्वक नहीं होतीं।

किन्तु इस बात को बहुत लोग जानते हैं कि ये सारी अनैच्छिक क्रियाएँ भी विशेष चेष्टा और कौशल के द्वारा दीर्घकाल में इच्छा के अधीन हो सकती हैं। अतएव दैहिक क्रियाओं में से जो साधारणतः इच्छाधीन नहीं होती, वह भी कालक्रम से इच्छाधीन हो सकती है। इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि मनुष्य की इच्छा-शक्ति यदि उस प्रकार से परिचालित एवं परिशोधित हो तो उससे देह की समस्त क्रियाओं को नियन्त्रित किया जा सकता है। जब इच्छा द्वारा किसी भी कार्य की प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा परिवर्तन सम्भव है तो फिर यह स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता कि इच्छा ही क्रिया अथवा कार्य का मूल है। अवश्य ही यह दैहिक क्रिया के विषय में कहा गया है। किन्तु यदि बाह्य क्रिया का भी इस प्रकार व्यक्ति-विशेष की इच्छा द्वारा नियन्त्रित किया जाना सम्भव हो, तो बाह्य क्रिया के मूल में भी इच्छा-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। इस इच्छा-शक्ति की मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। इसलिए इससे जितनी बाह्य क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, वे भी सब क्षेत्रोंमें एक सी नहीं होतीं। अर्थात् यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इच्छा-शक्ति की तीव्रता सर्वत्र एक सी ही होती है। अतएव जिस शक्ति से बाह्य-जगत् एवं अन्तर्जगत् में सब प्रकार की क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं वह इच्छास्वरूप ही है, यही हमारा प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। जिन जड़ शक्तियों से हम परिचित हैं वस्तुतः वे सभी केवल इच्छाशक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐसा न हो तो उन शक्तियों के विपरीत इच्छाशक्ति कार्य न कर सकती। मध्याकर्षणशक्ति, वैद्युतिक शक्ति, आणविक आकर्षण और विकर्षण ये समस्त शक्तियाँ विशुद्ध और संयत इच्छा के द्वारा अधीन हो सकती हैं। कहने की आव-

श्यकता नहीं कि आविर्भूत इच्छा की मात्रा की अपेक्षा जिन शक्तियों की मात्रा कम होती है, वे इच्छा के द्वारा अभिभूत होती हैं एवं जिनकी मात्रा अधिक होती है वे प्रबल होने के कारण इच्छा को अभिभूत कर रखती हैं। प्राक्तन-इच्छा ही वर्तमान काल में जड़ शक्ति के रूप में प्रगट होती है। वर्तमान इच्छा प्राक्तन-इच्छा की विरोधी होने के कारण जब प्रबल होती है तो प्राक्तन-इच्छा स्वयमेव अभिभूत हो जाती है। जड़ शक्ति का दूसरा नाम अदृष्ट है एवं इच्छा-शक्ति का दूसरा नाम पुरुषार्थ है। वस्तुतः इन दोनों शक्तियों में कोई भेद नहीं है। बोध-क्षेत्र में शक्ति का प्रकाश होने से यही इच्छा अथवा पुरुषार्थ के रूप में अभिव्यक्त होती है। दूसरी ओर अबोध-भूमि में अर्थात् बोध-राज्य के तलदेश से यदि शक्ति का विकास होता है तो उसी को अदृष्ट या जड़शक्ति समझना चाहिये। वस्तुतः दोनों शक्तियाँ एक ही हैं।

जब हमारे परिचित ज्ञान का आलोक क्रमशः अधिकतर विशुद्ध होकर निर्मल प्रकाश के रूप में परिणत होता है तब जान पड़ता है कि बोध-राज्य के तलदेश में भी बोध रहता है अर्थात् तब ज्ञान के विस्तार की सीमा अनन्त हो जाने के कारण अज्ञान की सत्ता कहीं ढूँढ़े नहीं मिलती। तब जान पड़ता है कि सभी शक्तियाँ शुद्ध बोधमय क्षेत्र से उठती हैं। अतएव अभिव्यक्त शक्तिमात्र ही इच्छास्वरूपा है। यही विराट् महाशक्ति, जिसका इच्छाशक्ति या ऐश्वरिक शक्ति के रूप से वर्णन किया गया है, आगमशास्त्रों में जगदम्बा अथवा जगत्प्रसूति के नाम से वर्णित हुई है। शिवसूत्रकार कहते हैं—

"इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।"

संसार का मूल कारण अभी तक वैज्ञानिकों के दृष्टिपथ में यथार्थरूप से नहीं आया है। आया होता तो इस कारणरूपा शक्ति को वे इच्छा के रूप में पहचान सकते एवं अपनी इच्छा के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध का आविष्कार कर चिन्मयधाम अथवा बोध-राज्य में जाने का यथार्थ मार्ग प्राप्त करते। शक्ति को इच्छास्वरूपा न जानने के कारण वे जगत्-कार्य के मूल में चैतन्य की सत्ता का आविष्कार नहीं कर पाते हैं। शक्ति इच्छामयी है या नहीं, इसके जानने का एकमात्र उपाय यही है कि जिसे हम इच्छा कहते हैं, उसे विशुद्ध और संयत करके उसके द्वारा सांसारिक शक्ति के ऊपर प्रभाव विस्तार किया जा सकता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना। इच्छा के स्फुरण से यदि बाह्य शक्ति स्तम्भित होती है अथवा निरुद्ध शक्ति उद्रिक्त होती है तो इससे सिद्ध होता है कि एक ओर जैसे बाह्य शक्ति इच्छामयी है वैसे ही दूसरी ओर इच्छा भी शक्तिरूपा है। इच्छा के द्वारा अन्ततः आंशिक रूप में जो बाह्य शक्ति के ऊपर क्रिया की जाती है वह वर्तमान काल के वैज्ञानिकों को अज्ञात नहीं है। जो योगी अथवा उच्चकोटि के साधक हैं वे तो इच्छामात्र से ही किसी भी शक्ति का चाहे जिस प्रकार उपयोग करने में समर्थ हैं। जगत् में इसके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं।

पूर्वोक्त आलोचना से समझ में आ गया होगा कि इच्छा और शक्ति मूलतः अभिन्न पदार्थ हैं एवं इनके मूल में चैतन्यमय प्रकाश नित्यसिद्ध सत्ता अथवा परा-शक्ति के रूप में जाग्रत् है। जिस चैतन्यरूपा अखण्ड सत्ता से वात-विक्षुब्ध समुद्र के

वक्षस्थल पर तरंगों के उद्गम की भाँति स्वभाव की प्रेरणा से इच्छामयी-शक्ति का आविर्भाव होता है तथा इच्छा के द्वारा क्रमसृष्टि के नियमानुसार क्रिया का विकास होता है वही 'ईश्वर' पदवाच्य वस्तु है। इच्छारूपा शक्ति कभी उसमें अन्तर्लीन होकर वर्तमान रहती है और कभी उन्मेष को प्राप्त होकर बाह्य गति का सम्पादन करते हुए प्रपञ्च-सृष्टि की सूचना करती है। जड़ जगत् से चिन्मय ईश्वर-सत्ता को प्राप्त होने के लिए मध्यवर्ती शक्ति अथवा इच्छा-भूमि से होकर ही जाना होगा। विज्ञान-जगत् में जब इस शक्ति का स्वरूप कुछ यथार्थरूप में प्रकाशित होगा तब उससे मौलिक चित्-सत्ता के सम्बन्ध में उन्हें (वैज्ञानिकों को) अनुमान करने का अवसर मिलेगा। अप्रतिहत इच्छा अथवा शक्ति का चैतन्यमय आधार ही ईश्वर है।

सूक्ष्म दृष्टि से जगत् के कार्य-कारणप्रवाह की पर्यालोचना करने पर ज्ञात हो जाता है कि बिना कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। केवल यही बात नहीं, बल्कि कार्य और कारण की मात्रा का समान होना भी अवश्यम्भावी है। किसी भी प्रकार के कार्य का तत्त्व समझते समय इस नीति को स्मरण रखना आवश्यक है। प्राच्य दार्शनिकों ने इस नीति का अवलम्बन कर कर्मवाद की स्थापना की है। कर्मवाद का तात्पर्य स्थूलरूपेण यही है कि कर्म की प्रकृति और मात्रा के अनुसार तज्जनित फल का आविर्भाव होता है। अतएव कर्म द्वारा जिस प्रकार फलका अनुमान किया जाता है उसी प्रकार फल के द्वारा भी कर्म का अनुमान किया जा सकता है। प्राणि-जगत् में सुख-दुःख की विचित्र लीला को देखकर उसके कारण का अन्वेषण करने पर कर्म की इस विशेषता को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। सुख-दुःखरूप फल जिस असाधारण कारण से उत्पन्न होता है उसे ही कर्म अथवा अदृष्ट संस्कार कहते हैं। इससे कोई यह न समझे कि बाह्य-जगत् की कोई सत्ता सुख-दुःख का कारण नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से उत्पन्न होता है। उनमें से अधिकांश ही साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण होते हैं। साधारण कारणों के समभाव से उपस्थित रहने पर भी असाधारण कारण के बिना निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि यही इस कार्य का मुख्य कारण है। यह सच है कि सुख-दुःख के अनेकों लौकिक कारण होते हैं, किन्तु उनसे सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकते। इसके लिए किसी असाधारण कारण की सहकारिता आवश्यक है। इसी का दार्शनिक लोग कर्म नाम से निर्देश करते हैं। जो सुख-दुःख भोगता है, सुख-दुःख के असाधारण कारण अथवा कर्म का उसीमें रहना युक्तिसंगत है। नहीं तो कार्य और कारण का वैयधिकरण्य-दोष आ पड़ेगा। एक आदमी कर्म करे और दूसरा उसका फल-भोग करे, यह कार्य-कारणशृङ्खला से नियन्त्रित मौलिक जगत् में सम्भव नहीं हो सकता। जो अग्नि में हाथ डालता है, उसी का हाथ जलता है दूसरे का नहीं। इस प्रकार जो कर्त्ता होकर सत्-असत् कर्म का अनुष्ठान करता है, उसी को भोक्ता बनकर अपने सुख-दुःखरूप फल का अनुभव करना होता है, दूसरे को नहीं। इसलिए भोग की सामग्री उपस्थित रहने पर भोग-साधक कर्म के अभाव में बहुतों के भाग्य में इच्छानुरूप भोग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। फिर बहुधा देखा जाता है कि बिना चेष्टा

के, बिना प्रयास के, यहाँ तक कि इच्छा और ज्ञान के अभाव में भी, बहुतों को आशातीत भोग्य वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। बीज के बोये बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता उसी प्रकार पूर्वकर्म न होने से सुख-दुःख की उत्पत्ति नहीं होती। ये जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड असंख्य प्रकार के जीवों को वक्ष-स्थल पर धारण करके काल-स्रोत में बहते चले जा रहे हैं तथा उनके सामने अनेक प्रकार के सुख-दुःख उपस्थित करते हैं, इनके पीछे एक विशाल कर्म-शक्ति अनन्त प्रकार की विचित्रता को साथ लिये हुए वर्त्तमान है।

कर्म से ही फल होता है, यह ठीक है, किन्तु अचेतन कर्म केवल जड़शक्ति है, वह किसी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, चैतन्य-सत्ता के सान्निध्य और प्रेरणा के बिना कभी परिचालित नहीं हो सकती। लौकिक जगत् में भी जड़-शक्ति का स्वातन्त्र्य कहीं उपलब्ध नहीं होता। पीछे कर्त्ता न हो तो कारण या यन्त्र स्वयमेव किसी कार्य में प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हो सकते। जड़ शक्ति केवल करण या यन्त्रमात्र है, इसे सभी जानते हैं। यह सत्य है कि अग्नि में दाहिका शक्ति होती है और यह भी सत्य है कि वह स्वधर्म से ही दाह्य-वस्तु को दग्ध करती है, किन्तु किसी निर्दिष्ट वस्तु को दग्ध करने में अग्नि के प्रयोग के लिए एक चेतन पुरुष की आवश्यकता होती है। अग्नि अपने आप स्वतः प्रेरित होकर किसी निर्दिष्ट वस्तु को नहीं जला सकती। कर्मशक्ति भी इस प्रकार अग्नि के समान जड़-शक्ति है; इसी से स्वाभाविक नियमानुसार सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। अवश्य ही, जिस आधार पर कर्म संचित होते हैं, सुख-दुःख के भोग भी उसी आधार से होते हैं, इसके बताने की आवश्यकता नहीं। किन्तु स्वभाव के नियमानुसार फल के उत्पन्न होने पर भी उसका भोग्यरूप में आविर्भाव होना किसी प्रबलतर शक्ति द्वारा नियमित होता है। अर्थात् कर्म से ही फल होने पर भी उसको व्यवहार-क्षेत्र में लाने के लिए किसी इच्छाशक्तिसम्पन्न प्रबल सत्ता की प्रेरणा आवश्यक है। जगत् के अन्तर्यामीरूप में जिन व्यापक आत्मा अथवा चैतन्य इच्छाशक्ति का एकमात्र अधिष्ठान है उनके संकल्प से ही जीव कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। वही कर्म के साक्षी और भोग के साक्षी हैं एवं उन्हीं के ईक्षण के वश कर्म भोगरूप में परिणत हो भोक्ता के निकट उपस्थित होता है। इसलिए उनको भोक्ता का कर्मफलदाता कहा जाता है। कर्मशक्ति के पीछे जो उसको प्रेरित करनेवाली यह चैतन्य-सत्ता कार्य करती है, यही ईश्वर हैं।

जीव जो कर्म करता है उसके मूल में भी ईश्वर-सत्ता है। एवं वह जो फल-भोग ‐ता है उसके भी मूल में वही ईश्वर-सत्ता है। मूल में इस विशुद्ध चैतन्यभाव के न रहने से एक ओर जहाँ कर्म-सम्भव नहीं होता, दूसरी ओर उसी प्रकार फल भी नहीं हो सकता।

इस सत्ता की प्रेरणा किस प्रकार की है, इसे दृष्टान्त द्वारा दिखाया जाता है। जिस प्रकार सूर्य के आलोक में आँख वाला पुरुष नाना प्रकार के रंगों को देखता है, इस देखने के मूल में कारणरूप में दृश्य वस्तुओं का वैचित्र्य रहता है एवं द्रष्टा की दृक्शक्ति भी रहती है। परन्तु इनके होने पर भी इस प्रकार विचित्र रंग न दीख पड़ते, यदि दृश्य वस्तु उज्ज्वल आलोक से आलोकित न होती। इस प्रकार जीव जो कर्म करते हैं उसका फल भी वे ही भोगते हैं, तथापि ईश्वर की चैतन्य-सत्ता में प्रतिष्ठित न

होने से कर्म और भोग दोनों ही असम्भव होते। जो ईश्वर को न मानकर केवल कर्म से ही फल की उत्पत्ति मानते हैं, उनके लिए भोग के वैचित्र्य को सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है।

जगत् में अलङ्घ्य कार्य-कारणभाव अथवा नियति को देखकर उसके अधिष्ठाता के रूप में जिस सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य होता है, वही ईश्वर है। जिन्होंने जगत् के तत्त्व का जितना ही सूक्ष्मभाव से विश्लेषण किया है वे उतना ही स्पष्टरूप से समझ सके हैं कि जगत् के प्रत्येक विभाग में नियम वर्तमान रहता है। यह नियम अत्यन्त जटिल और दुर्बोध है। तथापि एक विभाग के नियम के साथ दूसरे विभाग के नियमों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है जिससे जान पड़ता है कि मूल में एक ही नियम क्षेत्र-भेद से भिन्न-भिन्न नियमों के रूप में परिणत हो गया है। समस्त जगत् में तथा ज्ञानराज्य में इस नियमगत ऐक्य का आविष्कार ही विज्ञान की चरम कीर्ति है। विशाल और वैचित्र्यपूर्ण भिन्न-भिन्न ज्ञान-राज्य में एक ही मूल नियम की सत्ता एवं प्रभाव को देखकर प्रत्येक विचारशील व्यक्ति की धारणा होती है कि अनन्त प्रकार के सांसारिक वैचित्र्यों के पीछे एक अखण्ड सत्ता विद्यमान है। उसी सत्ता से जब नियमों का उद्भव होता है तब यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि वह चेतन है, तथा वही जगत् की एकमात्र नियामक है। अतएव जो नियमवादी हैं, उन्हें भी नामान्तर से ईश्वर की सत्ता को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। हाँ, तर्क-स्थल में यह कहा जा सकता है कि नियम के साथ नियामक का होना आवश्यक है, ऐसी कोई बात नहीं। क्योंकि यदि नियम को अनादि रूप से स्वीकार करें तथा वह यदि सच-मुच ही अलङ्घ्यरूप में प्रमाणित हो जाय तो नियम के कर्त्ता या प्रवर्तयिता के रूप में नियामक के मानने की आवश्यकता नहीं रहती। यह शंका निराधार भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि जिसे अनादि और अपरिवर्तनीय समझा जाता है, वास्तव में नियम वैसा नहीं है। साधारण-ज्ञान से नियम का आदि अथवा व्यतिक्रम चाहे अनुभव में न आवे, किन्तु ज्ञान की निर्मलता के साथ-साथ क्रमशः समझ में आने लगता है कि नियम का आदि है तथा उसका रूपान्तर भी सम्भव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस अवस्था में नियम का नियमत्व ही खण्डित हो जाता है। जो इसकी उपलब्धि कर सकते हैं उनकी समझ में आ सकता है कि बद्ध जीव के लिए जो नियम है, वह अधिकारी पुरुष के लिए स्वाधीन इच्छा की स्फूर्तिमात्र है। जिस अधिकारी पुरुष की इच्छा सांसारिक नियम के रूप में आत्मप्रकाश करती है वही जगत् का ईश्वर है। जड़ विज्ञान केवल नियम की सत्ता को ही उपलब्ध कर सकता है, किन्तु जिनकी इच्छा इस नियम के रूप में प्रकाशित होती है उनका पता उसे नहीं रहता। नियम को अनादिरूप में स्वीकार करने का कारण यही है कि इच्छाविशेष के प्रभाव से नियम के आदि और अन्त दोनों स्थलविशेष में उपलब्ध हो सकते हैं। अनादि एवं अखण्डनीय भाव के ऊपर इच्छाशक्ति अथवा अन्य कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। हाँ, लौकिक दृष्टि से नियम के अनादित्व और अलंघनीयत्व दोनों का स्वीकार किया जा सकता है।

जो लोग जिज्ञासुभाव से जगत् के इतिहास का अनुसंधान करते हैं वे जानते

है कि सांसारिक दृष्टि से ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति किसी के भी क्रमिक उत्कर्ष की अवधि दृष्टिगत नहीं होती। शक्ति वस्तुतः अव्यक्त होने पर भी आधारविशेष के अवलम्बन से अभिव्यक्त होती है तथा निर्दिष्ट कार्य करती है। आधार सर्वत्र एक प्रकार का नहीं होता, अतः शक्ति का विकास भी सर्वत्र समानरूप से नहीं हो सकता। जो आधार जितना निर्मल होता है, जिसकी धारणाशक्ति जितनी अधिक होती है, उसमें उसी हिसाब से शक्ति का विकास होता है। अवश्य ही हम किसी निर्दिष्ट शक्ति के सम्बन्ध में यह बात नहीं कहते। ज्ञान और क्रिया, दोनों क्षेत्रों में एक ही नियम है, किन्तु दोनों के आधार में विशेषता होती है, यही इनमें भेद है। अव्यक्त ज्ञानशक्ति जैसे अनन्त है वैसे ही अव्यक्त क्रियाशक्ति भी अनन्त है। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं उसका प्रतिबन्धक भी नहीं होता और उससे कोई कार्य भी निष्पन्न नहीं होता। अतएव क्रिया-सम्पादन में समर्थ अभिव्यक्त ज्ञान अथवा क्रियाशक्ति का उत्कर्ष आधार के उत्कर्ष के ऊपर ही निर्भर करता है। आधार यदि मलिन और आवरण से आच्छन्न हो तो शक्ति का विकास भी अच्छी तरह नहीं हो सकेगा। आवरण के दूर होने पर शक्ति की अभिव्यक्ति में विघ्न हट जाते हैं। अतः आवरणशून्य और बाह्य सत्ता के सम्बन्ध से शून्य विशुद्ध उपादान में जो ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का प्रकाश होता है वह अपरिच्छिन्न, अप्रतिहत और अनन्त होता है। वस्तुतः यह ईश्वरका ही नामान्तर है। जीवमात्र के भीतर ज्ञान और क्रिया कुछ न कुछ अवश्य ही प्रकाशित रहती है, ऐसा न होता तो चेतन जीव जड़ से पृथक् नहीं हो सकता। यही ज्ञानक्रिया क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आधारविशेष में पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठती है। शास्त्र में शुद्ध आधार में अभिव्यक्त इस पूर्ण ज्ञान-क्रिया अथवा चैतन्य का ही ईश्वर नाम से वर्णन किया जाता है।

अलौकिक पर प्राकृतिक घटनाओं का अनुसन्धानपूर्वक संग्रह करके जो तत्त्व निर्णय करने का प्रयास करते हैं, उन्हें मालूम है कि बहुधा सुदूर अतीत काल की अथवा देशान्तर में हुई घटना और दृश्य के समान कभी कभी अनागत घटना तथा दृश्य किसी-किसी को प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इस प्रकार की घटनाएँ विरली नहीं होतीं। इस प्रसंग में ऐसी घटनाओं का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु सचमुच ऐसी बातें होती हैं, इसका समर्थन अनेकों प्रकारसे किया गया है। इसके तत्त्व की आलोचना करने में हृदय विह्वल हो उठता है। जो दृश्य अबतक सृष्टि के राज्य में आविर्भूत नहीं हुए, जो घटनाएँ अब तक कहीं नहीं घटीं, यदि इस प्रकार के दृश्य अथवा घटनाएँ—जो सांसारिक दृष्टि से बहुत समय पीछे आविर्भूत होनेवाली हैं अभी स्पष्टरूप से तथा यथार्थरूप से प्रत्यक्ष हो जायँ तो कोई भी विचारशील व्यक्ति इनके तत्त्व की मीमांसा नहीं कर सकेगा और मोहित हो जायगा। यथार्थतः जिसकी सत्ता ही नहीं है—व्यावहारिकभाव से ही नहीं, बल्कि प्रतिभासरूप में भी जो नहीं है, वह वर्तमान ज्ञान में किस प्रकार आ सकता है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। अतीत ज्ञान के सम्बन्ध में व्यक्तिगतभाव से यह बात इतनी जटिल नहीं है, क्योंकि चित्तमें अनुभूत ज्ञान और क्रिया के संस्कार को स्वीकार करने

तथा निमित्त-कारण की सहकारिता से उसके उद्बोधन को मान लेने पर अतीत का साक्षात्कार तो बहुत कुछ बोधगम्य हो सकता है। अवश्य ही विश्वव्यापक-रूप में अतीत का ज्ञान व्यापक आधार—जिसमें समस्त संस्कार निहित हैं—के स्वीकार किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे एक विराट् एवं आपेक्षिक नित्यताविशिष्ट आधार के अस्तित्वको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जो जीवात्मा के 'एकत्ववाद' के सिद्धान्त को मानते हैं, उनकी दृष्टि से यही वह व्यापक जीव है। सब देशों के और सब युगों के नाना जीव इसी के विभिन्न अंशमात्र हैं। किन्तु अतीत ज्ञान के द्वारा समष्टि जीव का अस्तित्व सिद्ध होने पर भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। भविष्यत्-दृश्य अथवा घटना-विषयक प्रत्यक्ष से ईश्वर का अस्तित्व स्वभावतः प्रमाणित होता है। क्योंकि काल के प्रभाव से जो सत्ता अभी उदित नहीं हुई है, उसका दर्शन अतीत दर्शन के समान संस्कार के उद्बोधन द्वारा नहीं हो सकता। संस्कार चित्त अथवा लिंग-शरीररूप आधार में वर्तमान रहता है तथा उद्बोधक कारणों के सन्निधान से जाग्रत् होकर स्मृतिरूप में परिणत होता है। अवश्य ही आविर्भाव की विशदता से आभास ज्ञान स्पष्टता को प्राप्त होता है—इतना ही नहीं, सृष्टि अपरोक्ष-अनुभूतिरूप में दिखलायी दे सकती है। किन्तु अनागत प्रत्यक्ष में चित्त अथवा लिंग-शरीर की कोई भी उपयोगिता नहीं है। असल बात यह है कि नित्य-कारण भूमि से आंशिकभाव में स्रोत निकलता है और वह कार्यरूप में परिणत हो जाता है। अनागत से वर्तमान की ओर जो शक्ति का प्रवाह है यही कारण की कार्यावस्था के प्रति उन्मुखता है। भाव अथवा क्रिया जब अनागत अवस्था में रहती है तब वह कारण के ही अन्तर्गत है। अतएव चित्त अथवा लिंग-शरीर का अन्वेषण करने से कारणस्थ भाव का पता लगने की कोई सम्भावना ही नहीं है। वह अभी न तो काल-स्रोत में पड़ा है और न वर्तमान अवस्था में ही उपनीत हुआ है, इसलिए वस्तुतः उसका कोई संस्कार भी नहीं है, इसी कारण चित्त-क्षेत्र में उसका कोई प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। अतएव अनागत-दर्शन में चित्त अथवा संस्कार किसी की जरा सी भी अपेक्षा नहीं होती। अब प्रश्न यह होता है कि तब अनागत दर्शन किस प्रकार सम्भव हो सकता है? महर्षि पतञ्जलि इसके उत्तर में कहते हैं कि अनागत भी वस्तुतः वर्तमान से भिन्न नहीं है। हमारे लिए जो अनागत है, व्यापक ज्ञानविशिष्ट पुरुष के लिए वह अनागत न होकर वर्तमान ही हो सकता है। इस युक्ति के अनुसार समझा जा सकता है कि जहाँ ज्ञान व्यापकतम है अर्थात् जिस ज्ञान में किसी प्रकार का आवरण नहीं है, वहाँ कोई भी पदार्थ या घटना अनागत नहीं रह सकती। वस्तुतः जो हमारे सामने अनागत है वही वहाँ वर्तमान है, यही बात अतीत के विषय में है। जिस भूमि में अतीत और अनागत नित्य वर्तमानरूप में प्रकाशित होते हैं, वही पूर्ण ज्ञान-भूमि है। वहाँ काल का भेद नहीं है, घटना की पृथक्ता नहीं है, भाव की विशिष्टता नहीं है, और क्रिया का तारतम्य नहीं है, यही कारण जगत् है। इसका जो अधिष्ठाता है वही ईश्वर है। अतएव किसी अचिन्त्य कारण से क्षणमात्र के लिए ईश्वरीय सत्ता के साथ जीव सत्ता की अभिन्नता सिद्ध

होने पर जीव को उपर्युक्त भविष्यत्-दर्शन होना कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। क्योंकि जीवभूमि में जो भविष्यत् है, इस प्रकार की युक्त अवस्था में ईश्वरीय-भूमि से वही वर्तमानरूप में प्रकाशित होता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान के पहले एक निर्मल अवस्था होती है, जहाँ उपर्युक्त भविष्यत् भी नित्य वर्तमानरूप में सदा प्रकाशमान रहता है। इस प्रकार की एक नित्य वर्तमान अवस्था न रहती तो व्यक्तिविशेष के लिए कभी भी भविष्यत्-दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव प्रामाणिक भविष्यत् दर्शन द्वारा ईश्वरीय-सत्ता का युक्ति-पूर्वक अनुमान किया जा सकता है। ईश्वर का अस्तित्व मानने के लिए यह एक अभ्रान्त प्रमाण है।

किसी कार्य की उत्पत्ति में प्रधानतया उपादान और निमित्त यही दो प्रकार के सामर्थ्य देखे जाते हैं। जगत्‌रूपी कार्यका विश्लेषण करते समय ठीक इसी प्रकार दो कारणों को स्वीकार करना आवश्यक होता है। जिस उपादान से जगत् निर्मित हुआ है उसे परमाणु, त्रिगुण, माया या कला किसी भी नाम से पुकारा जाय, उसे जड़ ही मानना होगा, किन्तु चेतन के सन्निधान के बिना केवल जड़ उपादान अपने आप कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। यह चेतनसत्ता ही जगत्-सृष्टि का निमित्त कारण है—इसी के प्रभाव से जगत् का मूल उपादान विक्षोभ को प्राप्त होकर भिन्न भिन्न कार्यों के रूप में परिणत होता है। इस अखिल जगत् का व्यापक निमित्त-कारण ही ईश्वर है। जो लोग निमित्त के बिना ही उपादान के विक्षोभ एवं परिणाम को स्वीकार करते हैं वे विपर्यस्त स्वभाववादी हैं, क्योंकि अनुसन्धान किये बिना ही स्वभाव की शरण लेना विचारशास्त्र की नीति के विरुद्ध है। अतएव सृष्टि-प्रवाह में निमित्त रूप से ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है। अवश्य ही सृष्टि का और भी उत्कर्ष होने पर यह समझ में आता है कि निमित्त और उपादान में वस्तुगत कोई पार्थक्य नहीं है। तब यह भी समझा जाता है कि एक ही चैतन्यसत्ता अपनी इच्छा से नाना रूप धारण कर विचित्ररूप के जगत् में प्रकाशित होती है।

जगत् की ओर देखने से सर्वत्र एवं प्रतिक्षण एक घोर परिवर्तन होता हुआ दिखाई देता है; यह सर्ववादिसम्मत है। अपरिवर्तनीय द्रष्टा के सामने परिवर्तन की सार्थकता है। जगद्‌व्यापी इस शाश्वत परिणाम का कोई नित्य द्रष्टा अवश्य है। न होने से परिवर्तन का कोई अर्थ ही न रहता। विशुद्ध व्यापक द्रष्टा जो समग्र जगत् के अखिल अभिनयों को निर्विकाररूपेण प्रत्यक्ष कर रहा है, वही चिन्मय ईश्वर है। कहना नहीं होगा कि इस रूप में दृक्‌शक्ति ही अभिव्यक्त है एवं अन्यान्य शक्तियाँ विलीन अवस्था में स्थित हैं।

ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में विचारशील साधारण व्यक्ति के बोधगम्य होने योग्य ऊपर जो कुछ बातें कही गई हैं वे सभी युक्ति-मात्र हैं। इस प्रकार की बहुतेरी युक्तियाँ शास्त्र में दिखलायी गयी हैं एवं प्रतीच्य ईश्वर-विश्वासी पण्डितों ने भी अपने अपने ग्रन्थों में भी दिखलाई हैं, वस्तुतः प्रयोजन होने पर और भी बहुतेरी युक्तियें दिखलायी जा सकती हैं। किन्तु इन युक्तियों के द्वारा कोई कभी ईश्वर में विश्वास करेगा, इसकी बहुत ही कम आशा है। शास्त्र-वाक्य अथवा अनुभूतिसम्पन्न महापुरुषों

के वाक्यों से ईश्वर की सत्ता के विषय में उपदेश सुनकर निर्मल और अन्तः-प्रवेशोन्मुख हृदय में जो अस्फुट श्रद्धा का उदय होता है, विचार के द्वारा उसका समर्थन करना ही युक्ति का उद्देश्य है। किन्तु जो आगम-प्रमाण की प्रमाणता को नहीं मानते; उनके चित्त में शुष्क युक्ति के द्वारा किसी विषय में विश्वास उत्पादन करना असम्भव है। युक्ति और विचार का प्रधान कार्य असम्भावना-बोध को दूर करना है, अर्थात् हृदय आप्त-वचन सुनकर स्वभावतः ही जिस विषय में श्रद्धाशील होता है, वह अयौक्तिक नहीं बल्कि सम्भवनीय है, यह दिखला देने पर ही युक्ति का कार्य समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् साधन-प्रणाली द्वारा उसी श्रद्धा के विषयीभूत, महापुरुषों के दिष्ट एवं युक्ति द्वारा समर्थित सत्य को प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इस साधन-प्रणाली में मूलतः योग ही सर्व-प्रधान है। कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति इसीके ही एक-एक पर्व-मात्र हैं। योग के अवलम्बन से जब साध्य-तत्त्व को सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष का विषयीभूत किया जाता है तब सभी संशय अपने आप ही दूर हो जाते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का मायिक भेद दूर होने पर विशुद्ध ज्ञान के आलोक में विशुद्ध चैतन्य-ज्योति अपने आप ही प्रतिष्ठित होकर अखण्ड स्वप्रकाश सत्तारूप में स्थित होती है।

जो साधनपथ के पथिक हैं, उनके सम्मुख ईश्वर का अस्तित्व शुष्क युक्ति द्वारा प्रकाशित नहीं होता। ज्ञान की जिस भूमि से हम वर्तमान की अवस्था में जगत् को देखते हैं, जब तक उस भूमि का अतिक्रम नहीं कर पाते, तब तक जगत् का अथवा अपना या तदतीत किसी सत्ता का बोध जैसा अब होता है, तब भी वैसा ही होगा। किन्तु एक बार यदि किसी अचिन्त्य कारण-वश चित्त में क्षणमात्र के लिए भी चित्-शक्ति सञ्चारित होकर साथ ही ज्ञान की भूमिका का परिवर्तन कर दे तो एक ही मुहूर्त में हमारा दर्शन एवं सत्ताबोध अचानक अदृष्टपूर्व नवीन स्वरूप धारण कर लेगा। इस समय हम नास्तिक और घोर अविश्वासी क्यों न हों, लोकोत्तर शक्ति के प्रभाव से एकाएक नवीन मनुष्य के रूप में परिणत हो सकते हैं। जगत् में जहाँ ईश्वरदर्शन या सत्य-ज्ञान का उदय हुआ है, वहाँ इसी प्रकार ही हुआ है, युक्ति-तर्क द्वारा स्वपक्ष और परपक्ष के विचार से कहीं नहीं हुआ। वस्तुतः मनुष्य के जीवन में ऐसी बहुतेरी अनुभूतियाँ होती हैं, जिनसे मनुष्य के दृष्टिकोण का परिवर्तन होते कुछ भी देर नहीं लगती।

प्रश्न-कर्त्ता चौथे प्रश्न में पूछते हैं कि आपके व्यक्तिगत जीवन में ऐसी कौन-सी घटना घटी है, जिससे ईश्वर की सत्ता अथवा उसकी करुणा के प्रति विश्वास सुदृढ़ हो सकता है। मैंने पहले ही कह दिया कि मैं व्यक्तिगत अनुभूति को लोगों में प्रकाशित करने में असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि भलीभाँति उनको पुकारने पर उनका उत्तर मिलता है, यह निश्चित है। ऐसी ऐसी विपत्तियों से बहुत बार उन्होंने अलौकिक उपायों से मेरी रक्षा की है, जिसका प्रतीकार लौकिक उपायों से हो ही नहीं सकता था; और जिनका स्मरण आते ही उनकी करुणा और प्रेम का भाव हृदयको अभिभूत कर डालता है। ज्ञानके राज्य में, कर्मभूमि में तथा भाव के मन्दिर में उन्हीं की मंगलमयी सत्ता एवं शक्ति का प्रतिनियत मैं कितने रूपों में अनुभव करता रहता हूँ, उसके वर्णनका परिशेष कभी नहीं हो सकता।

ये विषय इतने गुह्य और गोपनीय हैं कि इनके सम्बन्ध में साधारणतः किसी के साथ आलोचना करने की प्रवृत्ति नहीं होती। मेरी व्यक्तिगत प्रकृति एक ओर जिस प्रकार विश्वासशील है दूसरी ओर उसी प्रकार संशयप्रवण है। अतएव मैंने अपने जीवन में जो कुछ उपलब्ध किया है या कर रहा हूँ, उसको बड़ी कठोरता के साथ सब प्रकार प्रमाण की कसौटी पर जाँचे बिना स्वयं कभी सत्यरूप में ग्रहण नहीं किया या नहीं करता हूँ। मेरे विश्वास में जो सत्य है, वह सदा ही सत्य है, अतएव परीक्षा करने से उसकी उज्ज्वलता बढ़ती ही है, घटती नहीं। प्रातिभासिक सत्ता से व्यावहारिक सत्ता को ज्ञानालोक में पृथक् करके पहचाने बिना पारमार्थिक सत्यकी ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। श्री भगवान् की कृपा और सद्‌गुरु के अनुग्रह से इस क्षुद्र हृदय में प्रतिभास से व्यवहार तथा व्यवहार से परमार्थ की ओर जाने का मार्ग कुछ मालूम हुआ है, कुछ-कुछ खुल गया है। परन्तु अपने पुरुषार्थरूप उद्यम की सहायता से जब उनकी नित्य प्रकृति अन्तर में जाग उठेगी, तब स्वभाव के स्रोत में चलते-चलते, प्रत्येक स्तर में उनकी उपलब्धि करता रहूँगा। एवं सोपान-परम्परा से कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रेमरूप में नित्य योग के विकास से उनके अखण्ड, सत्यमय, ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर अन्त में लीला-अवसान में उनके सर्वभावमय किन्तु सर्वभावातीत परमरूप में स्थित हो सकूँगा। "गुरोः कृपैव केवलम्"।

शब्दानुक्रमणी

"भारतीय संस्कृति और साधना" में उद्धृत मुख्य ग्रन्थ-ग्रन्थकार-नाम तथा विशिष्ट शब्दों की सूची।